श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकका मूलाधार

प्रथम खण्ड

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं ॥ २ ॥ तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥ जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वं ॥ ४ ॥ नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥ प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥ निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥ सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

तृतीय खण्ड

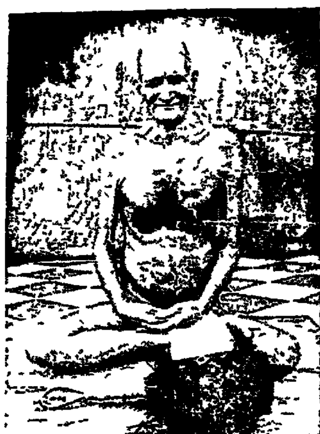
मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥ तत्प्रमाणे ॥ १० ॥ आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥ प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥ मतिः स्मृतिः संज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥ १३ ॥ तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥ अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥ बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां ॥ १६ ॥ अर्थस्य ॥ १७ ॥ व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥ न चक्षुरनिंद्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥ श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

चतुर्थ खण्ड

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥ २१ ॥ क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २२ ॥ ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥ विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥ विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥ २५ ॥ मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥ रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥ तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥ सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥ एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥ मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥ सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥ नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥ ३३ ॥

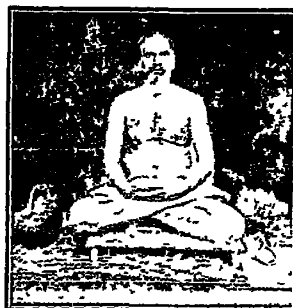
इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः

—o—



श्री तपोनिधि आचार्य वीरसागरजी





श्री तपोनिधि आचार्य
स्व. कुंथुसागरजी महाराज.

श्री परमपूज्य स्वामिन् !

आपने विश्ववंद्य दैगंबरी दीक्षाको लेकर असंख्य आत्मावोंका कल्याण किया है। आपकी साधना, तपश्चर्या, विद्वत्ता, योग्यता, लोकसंग्रहवृत्ति और सबसे अधिक निर्मल चारित्रसे समाधान पकर श्री परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ति सिद्धांत-पारंगत, योगींद्र चूडामणि आचार्य शांतिसागर महाराजने अंतिम सल्लेखनाके समय आपको अपने उत्तराधिकार-आचार्य पट्टपर आरूढ किया है। अतः आपके आचार्य पदालंकृत होनेके पश्चात् प्रथम भेट रूपमें यह तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार ग्रंथराजके प्रस्तुत चतुर्थखंडका आपके पुनीत करकमलोंमें परमादरपूर्वक समर्पण किया जाता है।

अध्यक्ष आ. कुंथुसागर ग्रंथमाला





इस ग्रंथके सफल टीकाकार

तर्करत्न, सिद्धांतमहोदधि, स्याद्वादवारिधि,

दार्शनिकशिरोमणि, न्यायदिवाकर,

श्री पं. माणिकचंदजी कौंदेय न्यायाचार्य

फिरोजाबाद (आगरा)

संपादकीय वक्तव्य



आज हम हमारे स्वाध्याय प्रेमी पाठकोंके करकमलोंमें श्लोकवार्तिकके चौथे खंडको दे रहे हैं, इसका हमे हर्ष है। यद्यपि इस खंडके प्रकाशनमे अपेक्षासे अधिक विलंब हो गया है। परन्तु हमारे धर्मप्रेमी सदस्य हमारी विवशताके लिए क्षमा करेंगे ऐसी आशा है।

हमें इस बातका हर्ष है कि ग्रंथमालाने इस महान् कार्यको संपादन करनेमें भारी धैर्यका कार्य किया है। उसमें हमारे स्वाध्यायप्रेमी सदस्योंके उत्साहकी प्रेरणा है। हमारी इस योजनाका सर्वत्र स्वागत हो रहा है। हमारे सदस्योंको तो हमारे इस बहुमूल्य प्रकाशनका लाभ हो ही रहा है। परन्तु जो इतर जिज्ञासु हैं, जैनदर्शनके तत्वोंके अंतस्तलस्पर्शी सूक्ष्म विवेचनका अध्ययन करना चाहते हैं उनके लिए आज यह प्रकाशन बहुत महत्वका स्थान रखता है। इस ग्रंथके स्वाध्यायसे बडे २ सिद्धान्तवेत्ता विद्वान् प्रभावित हुए हैं। निम्नलिखित जैन समाजके कतिपय प्रसिद्ध विद्वानोंकी सम्मतिसे हमारे पाठक समझ सकेंगे कि इस ग्रंथसे स्वाध्यायप्रेमियोंका कितना हित हुआ है। वे सम्मतियां इस प्रकार हैं।

सिद्धान्तवाचस्पति स्याद्वादवारिधि श्री पं. वंशीधरजी न्यायालंकार इन्दौर

श्री तत्वार्थश्लोकवार्तिक हिन्दी भाष्यके छपे हुए तीनों खण्डोंको मैं श्रीमान् सर सेठ हुकुमचंदजी के सान्निध्यमें रह पढ चुका हूं। इसपरसे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दार्शनिक एवं सैद्धांतिक तत्त्वार्थोंका विशद विस्तृत वर्णन करनेवाले संस्कृत तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैसे महान् ग्रंथका हिंदी भाषामें अनुवाद करनेका कार्य बडी विद्वत्ता एवं दृढसाहस एवं धैर्यका काम था।

इसको श्रीमान् पंडित माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्यने अपने अनुपम तथोक्त गुणोंके कारण पूर्ण कर डाला है। इससे पंडितजी अवश्य वर्त्तमान युगीन जैन समाजमें एक महान् दार्शनिक विद्वान् कहे जानेके पूर्ण अधिकारी हैं। दर्शनशास्त्र, सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, साहित्यकी निसृतविद्वत्तासे ही न्यायाचार्यजीने यह कार्य संपन्न किया है।

युक्ति और उदाहरणों द्वारा कठिन प्रमेयोंको सरल सुबोध्य, बना दिया है। प्रतिभाशाली विद्वानजीका यह कार्य बडा प्रशंसनीय हुआ है। इसके लिए हिन्दी टीकाकार मान्य पंडितजीको अनेक हार्दिक धन्यवाद समर्पित हैं।

श्री लालबहादुरजी शास्त्री न्यायतीर्थ इन्दौर

अनेकपदालंकृत श्रीमान सर सेठ हुकमचंद साहबकी स्वाध्यायगोष्ठीमें अनेकोपाधिविभूषित न्यायाचार्य पं. माणिकचंदजी द्वारा रचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककी हिंदी टीकाके कुछ प्रकरण देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। टीका वस्तुतः अपने आपमें बडी विशद और विद्वत्तापूर्ण है।

श्रद्धेय पंडितजी न्यायशास्त्रके निष्णात विद्वान् हैं। अतः श्लोकवार्तिक जैसे दुरूह और गंभीर ग्रंथकी टीकाके अधिकारी आप जैसे नैयायिक विद्वान् ही हो सकते थे। ग्रन्थकी मूल पङ्क्तियां पढते समय प्रथम क्षण जो कठिनाई प्रतीत होती है, टीका पढनेके बाद दूसरे ही क्षणमें वह कठिनाई सरलतामें परिणत हो जाती है, यही इस टीकाकी विशेषता है।

अनेक स्थलोंको पढकर तो हमें ऐसा लगा जैसे पंडितजीने साक्षात् महर्षि विद्यानंदिके पादमूलमें ही बैठकर इस ग्रंथका अध्ययन किया होय।

जैन साहित्य जगत्में यदि इस युगकी किन्हीं रचनाओंको महत्त्व दिया जा सकता है तो वे दो ही हैं। एक धवलादि ग्रंथोंकी टीका, दूसरे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककी हिंदी टीका। पहिलीको जहां अनेक विद्वानोंने मिलकर सम्पादन किया है, वहां दूसरीको न्यायाचार्य पण्डित माणिकचंदजीने स्वतः अकेलेने ही किया है। बीसवीं सदीके जैन इतिहासको गतिशील बनानेमें निःसंदेह पंडितजीने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

आजके संपादन जगत्को जितनी साहित्यिक सुविधायें प्राप्त हैं, उतनी सम्भवतः तब नहीं थी, जब कि पंडितजीने इस टीकाको प्रारम्भ किया था। फिर भी पंडितजीने अपनी बौद्धिक महात्ताके आधारपर इतने विशाल गहन और उत्तम ग्रंथको सरल बनाकर जो सर्व साधारणके लिये उपयोगी बना दिया है, वह विद्वानोंके लिये ईर्षाकी चीज है। पंडितजीकी इस साहित्य सेवाके लिये भावी पीढी सदा उनका उपकार मानती रहेगी। श्री श्लोकवार्तिककी टीकाके लिये जैनदर्शन, न्याय, सिद्धांत, में निष्णात स्नातक विद्वान् की अपेक्षा थी, साथ ही अन्य दर्शनों या व्याकरण साहित्यकी तलस्पर्शिनी विद्वत्ता भी आकांक्षणीय थी। तभी पंडितजीने असीममनीषित्वसे भृत निरवद्य हिंदी टीकाकी रचना की है। विद्वद्वर्यजी और हिंदी भाष्यकी जितनी भी प्रशंसा की जाय स्वल्प ही होगी।

हिन्दी भाष्यमें शतशः नितान्त कठिन स्थलोंपर भावार्थ, युक्तियां, उदाहरण, देकर तो लोहको मोम बना दिया गया है। रूक्ष विषय न्यायको इतना स्पष्ट, रुचिकर, सुबोध्य, बनानेमें भारी विद्वत्ता, तपस्या, परिश्रमशीलता, अन्वेषणपूर्वक कार्य संपन्न किया गया है।

ऐसे प्रकरणोंका अध्ययन कर विद्वानका तीक्ष्ण अन्तःप्रवेशिनी विद्वत्तापर विस्मय करते हुये चित्त आनन्दगद्गद हो जाता है। पंडितजीने इस ग्रंथमें अपने गंभीर अध्ययन, असाधारण ज्ञान, अथक परिश्रम, तथा अपूर्वप्रतिभाका जो उपयोग किया है, उसके लिए हम पंडितजीका अभिनन्दन करते हैं। मैं टीकाका अध्ययन कर अत्यन्त प्रभावित हुआ हूं। जैन समाजसे निवेदन है कि धीरसम, परिपक्वविद्वत्से भरपूर इस अनुपम ग्रन्थका परिशीलन करें और महान् नैयायिक आचार्य श्री विद्यानन्द स्वामीकी सर्वपूज्य सिद्धान्तप्रतिपादनपद्धतिका आनन्दानुभव करते हुए स्वकीय सम्यग्ज्ञानको परिष्कृत करें।

श्री विद्वद्वर पं. कैलासचन्द्जी सिद्धान्तशास्त्री बनारस

गुरुवर्य पं. माणिकचन्द्जीकी अमूल्य कृति श्री श्लोकवार्तिकलंकारकी हिन्दी टीका इस शतीके विद्वद्वर्गके लिए स्पर्धाकी वस्तु है। गुरुकी कृतिकी आलोचना करना शिष्यका कार्य नहीं होता। वह केवल उसकी अभिवन्दना कर सकता है। अतः मैं भी उसकी अभिवन्दना करता हूं। वह एक ऐसी कृति है, जिससे भावी पीढीका मार्ग प्रशस्त हुआ है। वह सचमुचमें श्लोकवार्तिकालंकारके जिज्ञासुओंके लिये दीपिकाका ही कार्य करेगी।

इससे इस ग्रंथकी महानता एवं उपयोगिताका दर्शन हमारे पाठकोंको भली भांति होगा। अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं।

प्रस्तुत खंडका प्रमेय

इससे पहिले प्रकृतग्रंथके तीन खंड प्रकाशित हो चुके हैं। यह निश्चित है कि तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार तत्वार्थसूत्रके सर्व गहन गंभीर तत्वोंका विविध दृष्टिकोणसे दर्शन करानेवाला विशाल दर्पण है, तत्वार्थसूत्रके प्रमेयोंका इतना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन करनेवाला आजतक कोई दूसरा ग्रंथ नहीं निकला, यह हम निस्संकोच लिख सकते हैं।

प्रथम खंड:—प्रकृत ग्रंथके प्रथम खंडमें मोक्षोपायके संबंधमें अत्यंत गवेषणाके साथ विचार किया गया है। उक्त विषयका स्पष्टीकरण आबाल वृद्धोंको समझमें आवे, इस ढंगसे अत्यंत विशद रीतिसे किया गया है। जीवका अंतिम ध्येय मोक्ष है। बंधनबद्ध आत्माको मुक्तिके अलावा और क्या चाहिये। मुक्तिके लिए साधनीभूत सफलमार्गका दर्शन महर्षि विद्यानंदस्वामीने इस प्रकरणमें कराया है। रत्नत्रयके बिना मुक्तिश्री वशमें नहीं हो सकती है। रत्नत्रयकी प्राप्तिसे ही मोक्ष-साम्राज्यके वैभवको यह आत्मा अमित—अनंत—आनंदके साथ अनुभव कर सकता है, इस तत्वका दर्शन हम आचार्य विद्यानंदीके विवेचनमें देखकर गद्गद हो जाते हैं। ६५० पृष्ठोंमें केवल एक प्रथम सूत्रका विवेचन ही आसका है। इसीसे प्रकृत ग्रंथकी महत्ताका ज्ञान हो सकता है। इस खंडमें प्रथम अध्यायका प्रथम आन्हिक तक प्रकरण आ गया है।

द्वितीयखंड—द्वितीय खंडमें पुनश्च ग्रंथकारने सम्यग्दर्शनका स्वरूप, भेद, अधिगमोपाय, तत्वोंका स्वरूप और भेद, तत्वज्ञानके साधक निक्षेपादिकोंका विवेचन, निर्देशादि पदार्थ विज्ञानोंका विस्तार, और सत्संख्याक्षेत्रादिक तत्वज्ञानके साधनोंपर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस खंडमें प्रथम अध्यायका द्वितीय आन्हिकतकका विवेचन आ चुका है। ग्रंथकारने इस प्रकरणमें सम्यग्दर्शनके संबंधमें सर्वांगीण विशद विचारको व्यक्त किया है। इतना ही लिखना पर्याप्त है कि सम्यग्दर्शनके विषयमें इतना विस्तृत व सुस्पष्ट विवेचन अन्यत्र मिलना असंभव है। इस खंडमें केवल सात सूत्रोंका विवेचन है। प्रथम खंडमें ' सम्यग्दर्शनचारित्राणि मोक्ष मार्गः ' इस सूत्रके द्वारा मोक्षमार्गका सामान्य विवेचन कर आचार्य प्रवरने दूसरे खंडमें ' तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं ' से लेकर ' सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शन

कालांतरभावाल्पबहुत्वैश्च' सूत्रपर्यंत सम्यग्दर्शनका स्वरूप, उत्पत्ति व भेद, तत्वोंका विशदरूप और तत्वज्ञानके उपायोंका विशद दर्शन कराया है । इस तरह द्वितीय खंडमें केवल सात सूत्रोंका और द्वितीय आह्निकतक आठ सूत्रोंका विवेचन आ गया है ।

तृतीयखंड—तीसरे खंडमें सम्यग्ज्ञानका प्रकरण चालू हो गया है । नौवें सूत्रसे लेकर २० वें सूत्रतकका विवेचन तीसरे खंडमें आ चुका है । सम्यग्ज्ञानका स्वरूप, सम्यग्ज्ञानके भेद, मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विवेचन उक्त खंडमें किया गया है । ज्ञान सामान्य प्रत्येक जीवको होनेपर भी सम्यग्दर्शन जबतक नहीं होता है, तबतक वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है । सम्यग्ज्ञान हुए विना इस आत्माको आत्मसिद्धि नहीं हो सकती है । सम्यग्ज्ञानरहित चारित्र भी सम्यक्चारित्र नहीं कहला सकता । अतः सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होना अत्यंत आवश्यक है । इस प्रकरणमें ज्ञानको मतिश्रुत अवधिः मनःपर्यय और केवलज्ञानके रूपमें विभक्त कर उनको प्रत्यक्ष और परोक्षप्रमाणके रूपमें विवेचन किया है । इन ज्ञानोंके प्रामाण्यके संबंधमें तार्किकचूडामणि विद्यानंदस्वामीने अकाट्य युक्तियों द्वारा जो विवेचन किया है, उसे देखकर विद्वत्संसार दंग रह जायगा । विषयके विवेचनमें विविधमतोंका परामर्श किया है । और उन्हींके ग्रंथोक्त प्रमाणोंसे विषयको उनके गले उतारनेका चातुर्य दिखाया गया है । इस तरह तृतीय खंडमें २० सूत्रतकके प्रमेयोंका प्रतिपादन किया गया है ।

चतुर्थखंड—प्रस्तुत चतुर्थ खंड 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' इस अवधिज्ञानविषयक सूत्रसे प्रारंभ हो जाता है । ग्रंथकारने अवधि और मनःपर्यय ज्ञान, उनका स्वरूप, भेद, एवं केवलज्ञानके संबंधमें प्रतिभापूर्ण विवेचन किया है । साथ ही कुमति, कुश्रुत और विभंगज्ञानका विवेचन कर नयोंके संबंधमें विस्तृत विवेचन किया है । इस प्रकरणमें आचार्यने अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें अन्तरंग और बहिरंग कारणोंका सुन्दर विचार कर निमित्त और उपादानपर यथेष्ट प्रकाश डाला है । उसी प्रकार अनंतर अवधिज्ञानके भेदोंका विस्तारपूर्वक निरूपण कर अन्यत्र उल्लिखित सर्वभेद इन्हीं भेदोंमें अंतर्भूत होते हैं, इस बातका सयुक्तिक निरूपण किया है । तदनन्तर मनःपर्यय ज्ञानका, स्वरूप, भेद और उनमें जो विशेषता है, उसका विशद प्रतिपादन किया है । इसके बाद मतिश्रुतादि ज्ञानोंका विषयनियम बतलाते हुए आचार्य महाराजने उनको आगमके प्रकाशमें तर्क और युक्तिसे प्रतिष्ठित किया है । केवलज्ञानके विषयनिबंधको 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' सूत्रके द्वारा प्रतिपादन करते हुए ग्रंथकारने सर्वज्ञकी सुसंगत व्याख्या की है । केवलज्ञानमें सर्व द्रव्यपर्याय झलकती हैं । एक भी पर्याय या पदार्थके छूटनेपर सर्वज्ञता नहीं बन सकती है । यहां मीमांसक मतका सूक्ष्म परामर्श कर साफल्यरूपसे सर्वज्ञसिद्धि की है । नास्तिक और मीमांसकोंके द्वारा उठाई गई अनेक शंकायें एवं उनके द्वारा प्रयुक्त हेतुओंको सदोष सिद्ध कर महर्षिने अल्पज्ञके ज्ञानको सावरण और सर्वज्ञके ज्ञानको निरावरण सिद्ध किया है । आवरणोंकी सर्वथा हानि होनेपर विशद, स्पष्ट, और युगपत् प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त होता है । यही केवलज्ञान है । यहींपर सर्वज्ञता है । इस प्रकरणके बाद एक जीवमें एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं, इसका विवेचन किया गया है । छद्मस्थ जीवोंके एक

समयमें दो उपयोग नहीं हो सकते हैं, क्षायोपशमिकज्ञान क्रमसे ही होते हैं, यह बतलाकर एक साथ कितने ज्ञान कैसे संभवते हैं, इसका सयुक्तिक विवेचन किया गया है। केवलज्ञान क्षायिक है, असहाय है, वह अकेला है, अतः एक ही है। पंच ज्ञानोंकी विशद व्याख्या करनेके बाद मिथ्यात्वके साहचर्यसे मतिश्रुत अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यारूप भी होते हैं, मनःपर्यय और केवल मिथ्यारूप नहीं हो सकते हैं, इसका समर्थन किया गया है। अंतमें तत्वार्थाधिगम भेदके नामसे ग्रंथकारने जो प्रकरण निबद्ध किया है, वह विद्वानोंके लिए अत्यंत उपयोगी चीज है। वीतराग कथा और विजिगीषुकथाके द्वारा जो विद्वान् तत्वसिद्धि करना चाहते हैं, उनको इस प्रकरणका यथेष्ट उपयोग होगा। आचार्य विद्यानंदस्वामीने इस प्रकरणमें अपने ज्ञानकौशलके सारे वैभवको ओत दिया है। इस तरह यह खंड भी करीब ६०० पृष्ठोंमें पूर्ण हुआ है।

हमारा अनुमान था कि कुल ७ खंड इस ग्रंथराजके होंगे। पांच खंडोंमें पहिला अध्याय और शेष दो खंडोंमें नौ अध्याय पूर्ण होंगे। परंतु प्रथमाध्याय इस चौथे खंडमें ही समाप्त हो गया है। आगेके नौ अध्याय तीन खंडोंमें समाप्त हो जायेंगे। हम समग्र ग्रंथको शीघ्र हमारे विद्वान् पाठकोंके हाथमें देनेके प्रयत्नमें हैं।

यह कार्य सामान्य नहीं है, यह हम निवेदन कर चुके हैं। इस कार्यमें कठिनाइयां भी अधिक हैं। संस्थाको भारी आर्थिक हानि हो रही है। परंतु संकल्पित कार्यको पूर्ण करना हमारा निश्चय है। यह तो हमारे विज्ञ पाठकोंको ज्ञात है कि आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालाके सदस्योंको यह ग्रंथ अन्य प्रकाशनोंके साथ बिनामूल्य ही दिया जा रहा है। करीब ५०० सदस्योंको बिनामूल्य भेंट जानेके बाद, और प्रायः वे ही स्वाध्यायाभिरुचि रखनेवाले होनेके कारण शेष प्रतियोंको खरीदनेवाले बहुत सीमित संख्यामें हैं। इसलिए हम अपने सदस्योंसे ही निवेदन करेंगे कि वे या तो कुछ सदस्य संख्या बढानेका प्रयत्न करें या अपनी ओरसे कुछ प्रतियोंको खरीद कर जैनेतर विद्वान्, विश्वविद्यालय, परदेशके विद्वान् आदिको भेटमें देनेकी व्यवस्था करें। आज ऐसे गंभीर दार्शनिक ग्रंथोंका परदेशमें यथेष्ट प्रचार होनेकी आवश्यकता है। आज पाश्चात्य देशके जिज्ञासु विद्वान् दर्शन शास्त्रोंको अध्ययन करनेके लिए लालायित हैं। परन्तु उनके सामने रखनेकी आवश्यकता है। हमारे स्वाध्यायप्रेमी जिनवाणीभक्त इस ओर ध्यान देवें। इस प्रकार यह कार्य सुकर हो सकता है। आशा है कि समाजके श्रुतभक्त सज्जन इस कार्यमें हाथ बटायेंगे।

टीकाकारके प्रति कृतज्ञता

विद्यानंद स्वामीकी विषय प्रतिपादनशैली जिस प्रकार अनुपम है, उसी प्रकार न्यायाचार्यजीकी विषयको विशद करनेकी पद्धति अनूठी है। इस गहन ग्रंथके गूढ प्रमेय अध्ययन करनेवालोंके चित्तमें आल्हाद करते हुए शीघ्र उतर जाते हैं। यह उनकी अगाधविद्वत्ता और दीर्घतरपरिश्रमका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

—: प्रकृत ग्रंथका समर्पण :—

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय विश्ववंद्य चारित्रचक्रवर्ति आचार्य शांतिसागर महाराज इस वर्ष समस्त विश्वको दुःखसागरमें मग्नकर स्वयं आत्मलीन हुए। आचार्यश्रीने अपनी अंतिम यमसल्लेखनाके समय समाजको भावी मार्गदर्शनके लिए अपना आचार्यपद अपने सुयोग्य प्रथमशिष्य घोर तपस्वी विद्वान् मुनिराज वीरसागर महाराजको प्रदान किया। एवं उनके आदेशानुसार चलनेके लिए समाजको आज्ञा दी।

श्री आचार्य वीरसागर महाराज.

श्रीपरमपूज्य प्रातःस्मरणीय आचार्य वीरसागरजी महाराज वर्तमान युगके महान् संत हैं। वे आचार्य महाराजके प्रथम शिष्य हैं। उनके द्वारा आजपर्यंत असंख्य जीवोंका उद्धार हुआ है, हो रहा है। वे वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, संयमवृद्ध, और अनुभववृद्ध हैं। उनके द्वारा समाजको वस्तुतः सही मार्गदर्शन होगा। आचार्यश्रीने योग्य व्यक्तिको अधिकारसूत्र दिया है। आज आप समाजके लिए महान् संतके द्वारा नियुक्त अधिकृत आध्यात्मिक पट्टके आचार्य हुए हैं। आचार्य पदालंकृत प्रसंगकी चिरस्मृतिके लिए एवं इस प्रसंगमें प्रथमभेटके रूपमें प्रस्तुत खंडको परमपूज्य आचार्य वीरसागर महाराजके करकमलोंमें समर्पित किया गया है। हमें इस बातका अभिमान है कि संस्थाको इस प्रवृत्तिने एक शुभशकुनका कार्य किया है। आचार्यश्रीका युग चिरंतनमार्गप्रभावक एवं लोककल्याणात्मक होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

अपनी बात.

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय विद्वद्वर स्व. आचार्य श्री कुंथुसागर महाराजकी पुण्यस्मृतिमें यह ग्रंथमाला चल रही है। आचार्यश्रीने अपने जीवनकालमें धर्मकी बडी प्रभावना की। जैनधर्मको विश्वधर्मके रूपमें रखनेका अनवरत उद्योग किया। तेजोपुंज प्रतिभा, विद्वत्ता, आकर्षणशक्ति, कोमलता, गंभीरता, आदि गुणोंके द्वारा आपने विश्वको अपनी ओर खींच लिया था। विश्वकल्याणकी तीव्रतर भावना उनके हृदयमें घर कर गई थी। समाजका दुर्भाग्य है कि अल्पवयमें ही उन्होंने इह लोकसे प्रयाण किया। पूज्यश्रीकी ही स्मृतिमें यह संस्था आपकी सेवा कर रही है। यदि आप संस्थाके महत्व और कार्यगौरवको लक्ष्यमें रखकर इसमें सहयोग प्रदान करें तो यह आपकी इससे भी अधिक प्रमाणमें सेवा करनेमें दक्ष होगी एवं विश्वमें इस प्रभावक तत्वका विपुलप्रचार होकर लोककल्याण होगा।

विनीत—

सोलापुर
वीरनिर्वाण सं. २४८१

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
(विद्यावाचस्पति न्याय-काव्यतीर्थ)
ऑ. मंत्री-श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापूर.



श्रीविद्यानंद-स्वामिविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारः

तत्त्वार्थचिंतामणिटीकासहितः

(चतुर्थखंडः)

परोक्षमति, श्रुतज्ञानोंका परिभाषण कर श्री उमास्वामी महाराज अब क्रमप्राप्त अवधिज्ञानका व्याख्यान करनेके लिए सूत्रका उच्चारण करते हैं।

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥ २१ ॥

अवधिज्ञानका लक्षण तो " मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् " इस सूत्रमें पढे हुये अवधि शब्दकी निरुक्ति करके ही कह दिया गया है। अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे और अन्तरंग बहिरंग कारणोंके संनिधान होनेपर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादाको लिये हुये जो रूपी पुद्गल और बद्ध जीवद्रव्योंके विवर्तोको प्रत्यक्षरूपसे विषय करनेवाला ज्ञान है, वह अवधिज्ञान है। उस अवधिज्ञानके भवप्रत्यय अवधि और क्षयोपशमनिमित्त अवधि ये दो भेद हैं। पक्षियोंको जिस प्रकार शिक्षा विना ही आकाशमें उडना आ जाता है, मछलियोंको सीखे विना ही अपने जन्म अनुसार जलमें तैरना आ जाता है, उसी प्रकार चार निकायके सभी देव और संपूर्ण नारकियोंके भवको ही कारण मानकर भवप्रत्यय अवधिज्ञान हो जाता है। सम्यग्दर्शनका सन्निधान हो जानेपर वह अवधिज्ञान है, अन्यथा विभङ्गज्ञान कहा जायगा।

किं पुनः कुर्वन्निदमावेदयतीत्याह।

फिर किस फलकी सिद्धिको करते हुए श्री उमास्वामी महाराज इस " भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां " सूत्रका प्रज्ञापन कराते हैं ? इस प्रकार प्रश्नकर्ताकी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज यों स्पष्ट उत्तर देते हैं, सो सुनो।

भवप्रत्यय इत्यादिसूत्रमाहावधेर्बहिः ।
कारणं कथयन्नेकं स्वामिभेदव्यपेक्षया ॥ १ ॥

अवधिज्ञानके देव और नारकी इन दो अधिपतियोंके भेदोंकी विशेष अपेक्षा नहीं करके अवधिज्ञानके केवल बहिरंग एक कारणका कथन करते हुए श्री उमास्वामी महाराज " भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां " इस सूत्रको कह रहे हैं । अर्थात् भिन्न दो स्वामियोंके सामान्यरूपसे एक बहिरंग कारण द्वारा हुये अवधिज्ञानका प्रतिपादक यह सूत्र है । अथवा देव और नारकी इन दो स्वामियोंके भेदकी विशेष अपेक्षा करके भी बहिरंग कारण एक भव मात्र हो जानेसे भवप्रत्यय अवधिज्ञानको स्वामीजी यह रहे हैं ।

देवनारकाणां भवभेदात्कथं भवस्तदवधेरेकं कारणमिति न चोद्यं भवसामान्यस्यैकत्वाविरोधात् ।

कोई कटाक्ष करता है कि देवोंकी उत्पत्ति, स्थिति, सुख भोगना आदि भवकी प्रक्रिया भिन्न है, और नारकियोंकी उत्पत्ति, दुःख भोगना, नरक आयुका उदय आदि भवकी पद्धति न्यारी है । जब कि देव और नारकियोंके भवोंमें भेद हो रहा है तो सूत्रकार महाराजने उन दोनोंके अवधिज्ञानका एक कारण भला भव ही कैसे कह दिया है ? बताओ । अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार आक्षेपपूर्ण प्रश्न उठाना ठीक नहीं है । क्योंकि सामान्यरूपसे भवके एकपनका कोई विरोध नहीं है । महारानी और पिसनहारीके पुत्र प्रसव होनेपर सुत उत्पत्ति एकसी है । वीतराग विद्वानोंकी दृष्टिमें देवोंका जन्म और नारकियोंका जन्म एकसा है । गमन सामान्यकी अपेक्षासे ऊंटकी गति और हाथीकी गतिमें कोई अन्तर नहीं है । अतः देव और नारकियोंकी मध्यम देशावधिका बहिरंग कारण तिस अवधियोग्य शरीर आदिसे युक्त जन्म लेनारूप भव है ।

कथं बहिरंगकारणं भवस्तस्यात्मपर्यायत्वादिति चेत् ।

पुनः किसीका प्रश्न है कि भव भला अवधिज्ञानका बहिरंग कारण कैसे हो सकता है ? क्योंकि यह भव तो जीवद्रव्यकी अन्तरंग पर्याय है । जीवके भवविपाकी आयुष्यकर्मका उदय होनेपर जीवको उपादान कारण मानकर जीवकी भवपर्याय होती है । अतः भव तो अन्तरंग कारण होना चाहिये । इस प्रकार आशंका करनेपर तो यों समाधान करना कि—

नामायुरुदयापेक्षो नुः पर्यायो भवः स्मृतः ।
स बाह्यः प्रत्ययो यस्य स भवप्रत्ययोऽवधिः ॥ २ ॥

गति नामक नामकर्म और आयु कर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाली जीवकी पर्याय भव कही गयी है । यह भवका लक्षण पूर्व आचार्योंकी आम्नायसे स्मरण हुआ चला आरहा है । जिस

अवधिज्ञानका बहिरंग कारण वह भव है वह ज्ञान भवप्रत्यय अवधि कहा जाता है। जीवकी पर्यायें अन्तरंग कारण ही होंय ऐसा कोई नियम नहीं है। अत्यन्तपरोक्ष आकाश और कालद्रव्यके परिणाम बहुतसे कार्योंमें बहिरंगनिमित्त बन रहे हैं। पांच सेर दहीका उपादान पांच सेर दूध है। उसमें तोला भर डाला गया दही जामन तो निमित्तमात्र है। यानी बहिरंग कारण है। अन्तरंग कारण या उपादान कारण नहीं है। स्वयं जीवके क्रोधपर्यायकी उत्पत्ति करनेमें क्रोध नामका पौद्गलिक कर्म तो अन्तरंग कारण है, और जीवकी पूर्ववर्ती क्रोधपर्याय या चारित्रगुणकी अन्य कोई विभावपर्याय बहिरंगकारण है। चारित्र गुण उपादानकारण है। तथा जीवके सम्यक्त्वगुण उपजनेमें न्यारे चारित्रगुणकी परिणति हो रही करणलब्धि तो अन्तरंग कारण है। और क्षयोपशमलब्धि या उपादानरूप हो रही पूर्वसमयकी मिथ्यात्वपरिणति बहिरंग कारण है। लम्बे चौडे वट वृक्ष, आम वृक्ष आदिकी उत्पत्तिके उपादानकारण खेत, मिट्टी, जल, आतप, वायु, आदिक हैं। और वटबीज या आमकी गुठिली निमित्तकारण है। चना, उर्द, गुठिली आदि बीजोंमें दो पल्लोंके भीतर जो तिल या पोस्त बराबर पदार्थ छिपा हुआ है वह केवल आदिके स्वल्प अंकुरका उपादानकारण माना जाय। खाये पीये हुये दूध, अन्न, जल, वायु आदिमें प्रविष्ट हो रहीं या अतिरिक्त स्थलोंसे भी आई हुयीं आहारवर्गणायें तो बालकके बढे हुये मोटे शरीरकी उपादानकारण हैं। और मातापिताके रजोवीर्य निमित्तकारण हैं। चौले या पीले प्रकाशके उपादानकारण तो गृहमें भरे हुये पुद्गल हैं। दीपक या सूर्यके निमित्तसे वे ही चमकदार परिणत हो गये हैं। जैसे कि जीवके रागद्वेष आदिको निमित्त पाकर कार्मणवर्गणायें ज्ञानावरण आदि कर्म बन जाती हैं। जो कार्य रूप परिणमता है, वह उपादानकारण है। आम्रबीजको निमित्त पाकर इधर उधरके अक मृत्तिका आदिक पुद्गल ही डालीं, छाल, बौर, आम गुठिली आदि अवस्थाओंको धार लेते हैं। वे ही मिट्टी आदिक यदि अमरूद बीजका निमित्त पाते हैं, तो अमरूदके वृक्षके उपादानकारण बन-जाते हैं। सकोरामें थोडी मिट्टी और बीज अधिक डालकर बोदेनेसे कुछ कालमें सभी मिट्टी अंकुररूप परिणमजाती है। समीचीन मित्रकी शिक्षाके अनुसार प्रशंसनीय कार्योंको करनेवाले धनिक पुरुषकी प्रवृत्तिका अन्तरंग कारण तो सच्चा मित्र है, जो कि सर्वथा अलग है। और धनिककी मोंडी बुद्धि तो उस प्रवृत्तिका बहिरंग कारण है। यह कार्यकारणका विषय गंभीर है। स्याद्वादसिद्धान्तके अनुसार ही हृदयंगत होता है। प्रकरणमें देवनारकियोंके अवधिज्ञानका बहिरंग कारण उनका भव है, ऐसा समझो।

बहिरंगस्य देवगतिनामकर्मणो देवायुषश्चोदयाद्देवभवः। तथा नरकगतिनामकर्मणो नरकायुषश्चोदयान्नरकभव इति। तस्य बहिरंगतात्मपर्यायत्वेऽपि न विरुद्धा।

देखिये, गति नामक पिण्डप्रकृतिके भेद हो रहे देवगति नामक नामकर्म और आयुष्यकर्मके भेद हो रहे देवायुकर्म इन बहिरंग कारणोंके उदयसे आत्माकी देवभव परिणति होती है, तथा

नरक गति नामक नामकर्म और नरकायुः इन दो वहिरंग कारणोंके उदयसे आत्माकी नरकभव पर्याय होती है। इस प्रकार उस भवको आत्माका पर्यायपना होते हुये भी वहिरंग कारणपना विरुद्ध नहीं है। द्रव्योंकी परिणतिओंमें उनके कोई तदात्मक परिणाम तो वहिरंगकारण बन जाते हैं, और दूरवर्ती, द्रव्यान्तरवर्ती भी कोई कोई पदार्थ अन्तरंगकारणपनेके पारितोषिकको लूटते जाते हैं। स्त्री या धन अथवा प्रियपुत्र आदिके सर्वथा अधीन हो रहे पुरुषकी प्रवृत्तिओंका अन्तरंगकारण स्त्री धन आदिक हैं और उस पुरुषकी रति, मोह, क्षोभ आदि निज आत्मपरिणतियां वहिरंगकारण हैं। किसी कार्यमें तो वे कैसी भी यानी उदासीनकारण भी नहीं हैं, प्रेरकपना तो दूर रहा।

कथमत्रावधारणं, देवनारकाणामेव भवप्रत्ययोऽवधिरिति वा भवप्रत्यय एव देवनारकाणामिति ? उभयथाप्यदोष इत्याह।

यहां किसीकी शंका है कि सभी वाक्य अवधारणसहित होते हैं। चाहे एवकार कण्ठोक्त कहा जाय अथवा नहीं कहा जाय। तदनुसार इस सूत्रमें क्या उद्देश्यदलके साथ एवकार लगाकर अवधारण किया गया है ? अथवा विधेयदलके साथ एव लगाकर नियम किया गया है ? बताओ। अर्थात्–देव और नारकी जीवोंके ही भवप्रत्यय अवधि होती है, इस प्रकार अवधारण अभीष्ट है ? अथवा भवप्रत्यय अवधि ही देव और नारकियोंके होती है ? यों अभिमत है। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर आचार्य कहते हैं कि दोनों भी प्रकारोंसे अवधारण करनेपर कोई दोष नहीं आता है। हमें उद्देश्य और विधेय दोनोंमें एवकार लगाकर अवधारण करना अभीष्ट है। इसी बातको आचार्य महाराज दो कारिकाओंद्वारा स्पष्ट कर देते हैं।

येऽग्रतोऽत्र प्रवक्ष्यन्ते प्राणिनो देवनारकाः।
तेषामेवायमित्यर्थान्नान्येषां भवकारणः ॥ ३ ॥

इस तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथमें आगे चौथे, तीसरे अध्याय करके जो प्राणी देव और नारकी बढिया ढंगसे कहे जायेंगे, उन प्राणियोंके ही यह भवको कारण मानकर उत्पन्न होनेवाला अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। अन्य मनुष्य या तिर्यंच प्राणियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान नहीं होता है। ऐसा उद्देश्यमें अवधारणको अभिलक्ष्य कर अर्थ करदेनेसे देव नारकियोंके अतिरिक्त अन्य प्राणियोंमें भव प्रत्यय अवधिज्ञानका निराकरण कर दिया जाता है। यद्यपि तीर्थकरोंके भी जन्म लेते ही भवप्रत्यय अवधि हो जाती है। फिर भी सूत्रअनुसार सामान्यरूपसे चार गतियोंके प्राणियोंकी अपेक्षासे अवधिज्ञानका नियम इस प्रकार करदेनेपर कोई दोष नहीं आता है।

भवप्रत्यय एवेतिनियमान्न गुणोद्भवः।
संयमादिगुणाभावाद्देवनारकदेहिनाम् ॥ ४ ॥

भवप्रत्यय ही अवधिज्ञान देवनारकियोंके होता है । इस प्रकार दूसरा पूर्वदलमें नियम कर देनेसे देव और नारकियोंके गुणसे उत्पन्न हुए क्षयोपशमनिमित्त अवधिज्ञानका निषेध हो जाता है । क्योंकि देव और नारकियोंके सदा अप्रत्याख्यानावरण कर्मका उदय बना रहनेके कारण संयम, देश-संयम और श्रेणी आदिके भावस्वरूप गुणोंका अभाव है । अतः उन शरीरधारी देवनारकियोंके गुणप्रत्यय अवधिज्ञान नहीं उपजाता है ।

नन्वेवमवधारणेऽवधौ ज्ञानावरणक्षयोपशमहेतुरपि न भवेदित्याशंकामपनुदति ।

यहां किसीका प्रश्न है कि इस प्रकार देवनारकियोंके अवधिज्ञानमें भवप्रत्ययका ही यदि अवधारण किया जायगा, तब तो ज्ञानावरणका क्षयोपशम भी उस अवधिज्ञानका हेतु नहीं हो सकेगा? किंतु सम्पूर्ण ज्ञानोंमें क्षयोपशम या क्षयको तो अनिवार्य कारण माना गया है । अवधारण करनेपर तो उस क्षयोपशमकी कारणता पृथग्भूत हो जाती है । इस प्रकार आशंकाका श्री विद्यानंदस्वामी वार्तिकोंद्वारा स्वयं निराकरण करते हैं ।

नावधिज्ञानवृत्कर्मक्षयोपशमहेतुता ।
व्यवच्छेद्या प्रसज्येताप्रतियोगित्वनिर्णयात् ॥ ५ ॥
बाह्यौ हि प्रत्ययावत्राख्यातौ भवगुणौ तयोः ।
प्रतियोगित्वमित्येकनियमादन्यविच्छिदे ॥ ६ ॥

" भवप्रत्यय एव " ऐसा कहदेनेसे अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमको अवधिज्ञानकी हेतुताका व्यवच्छेद हो जाना यह प्रसंग कथमपि प्रस्तुत नहीं होगा । क्योंकि क्षयोपशमको अप्रतियोगीपनका निर्णय हो चुका है । अवधारण द्वारा विपक्षभूत प्रतियोगियोंका निवारण हुआ करता है । भावार्थ—भवप्रत्ययका प्रतियोगी भवप्रत्ययाभाव या संयम आदि गुण हैं । अतः भवप्रत्यय ही ऐसा अवधारण करनेपर भवप्रत्ययाभावका ही निवारण होगा । क्षयोपशमकी कारणताका बालाग्र मात्र भी व्यवच्छेद नहीं हो सकता है । कारण कि उन दो प्रकारवाले अवधिज्ञानोंके बहिरंगकारण यहां प्रकरणमें भव और गुण ये दो बखाने गये हैं । अतः भव और गुण परस्परमें एक दूसरेके प्रतियोगी हैं । इस कारण शेष अन्यका व्यवच्छेद करनेके लिये एकका नियम कर दिया जाता है । अर्थात्—जिस देव या नारकीके भवको कारण मानकर अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, भले ही उनके अवधिज्ञानमें संयम आदि गुण कारण नहीं है, किन्तु क्षयोपशम तो कारण अवश्य है । गुण तो बहिरंगकारण है, और क्षयोपशम अन्तरंगकारण है । अतः भवके प्रतियोगी हो रहे बहिरंगकारण गुणका तो देव नारकियोंके अवधिज्ञानमें निषेध है । किन्तु अप्रतियोगी बन रहे क्षयोपशमका निषेध नहीं किया गया है ।

यथैव हि चैत्रो धनुर्द्धर एवेत्यत्रायोगव्यवच्छेदेऽप्यधानुर्द्धर्यस्य व्यवच्छेदो नापाण्डित्यादेस्तस्य तदप्रतियोगित्वात्। किं चैत्रो धनुर्द्धरः किं वायमधनुर्द्धर इति आशंकायां धानुर्द्धर्येतरयोरेव प्रतियोगित्वाद्धानुर्द्धर्यनियतेनाधानुर्द्धर्यं व्यवच्छिद्यते। तथा किमवधिर्भवप्रत्ययः किं वा गुणप्रत्यय इति बहिरंगकारणयोर्भवगुणयोः परस्परं प्रतियोगिनोः शंकायामेकतरस्य भवस्य कारणत्वेन नियमे गुणकारणत्वं व्यवच्छिद्यते। न पुनरवधिज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः क्षेत्रकालादिवत्तस्य तदप्रतियोगित्वात्।

एवकार तीन प्रकारका होता है। १ अयोगव्यवच्छेद २ अन्ययोगव्यवच्छेद ३ अत्यन्तायोगव्यवच्छेद। इन तीन भेदोंमें प्रथमभेदका उदाहरण यों है कि " पार्थो धनुर्धर एव " अर्जुन योद्धा धनुषधारी ही है। यहां विशेषणके साथ लगे हुये अयोगव्यवच्छेदक एवकार द्वारा धनुष अस्त्रके अतिरिक्त अन्य अस्त्रशस्त्रोंके धारण करनेका अर्जुनमें निषेध नियम किया गया है। तथा " पार्थ एव धनुर्धरः " यहां विशेष्यके साथ लगे हुये अन्ययोगव्यवच्छेदक एवकार द्वारा अर्जुनसे अतिरिक्त योद्धाओंमें धनुर्धरपनेका निषेधनियम किया गया है। तीसरे " नीलं सरोजं भवत्येव " यहां क्रियाके साथ लगे हुये अत्यन्तायोगव्यवच्छेदक एवकार द्वारा नीलकमलके निषेधका निराकरण कर दिया जाता है। यहां प्रकरणमें यह कहना है कि चैत्र विद्यार्थी धनुषधारी ही है। इस प्रयोगमें जिस ही प्रकार अयोगका व्यवच्छेद होनेपर भी चैत्रके धनुर्धारी रहितपनेका ही प्रतिषेध हो जाता है। किंतु बलवान् चैत्रके अपण्डितपन; धनीपन, युवापन आदिका व्यवच्छेद नहीं हो जाता है। क्योंकि उस धनुषधारी चैत्रके वे अपण्डितपन आदिक प्रतियोगी नहीं हैं। यहां प्रतियोगी तो धनुषधारी रहितपना ही है। देखो, चैत्र क्या धनुषधारी है? अथवा क्या यह चित्रा स्त्रीका युवा लडका धनुषधारी नहीं है? इस प्रकार आशंका होनेपर धनुषधारीपन और धनुषरहितपन इन दोनोंका ही प्रतियोगीपना नियत हो रहा है। जब चैत्र धनुषधारी है, इस प्रकार नियम कर दिया गया है, तो उस नियमकरके चैत्रके धनुषधारण नहीं करनेपनका व्यवच्छेद कर दिया जाता है। अर्थात् प्रसिद्ध शस्त्रधारी या मल्ल प्रायः मूर्ख होते हैं, उद्भट विद्वान् नहीं। इस युगमें प्रकाण्ड विद्वत्ताको सम्पादन करनेवालोंके शरीर दुर्बल पड जाते हैं। शास्त्रचिन्तनायें भी एक प्रकारकी चिन्तायें ही हैं। इसी प्रकार प्रशस्त विद्वान् धनाढ्य भी नहीं होते हैं। अच्छा तो उसी प्रकार यहां अवधिज्ञानमें समझलो कि अवधिज्ञान क्या भवको कारण मानकर उत्पन्न होता है अथवा क्या गुणको निमित्तकारण लेकर उपजता है? इस प्रकार बहिरंगकारण हो रहे तथा परस्परमें एक दूसरेके प्रतियोगी हो रहे भव और गुणकी शंका होनेपर पुनः दोनोंमेंसे एक भवका कारणपन करके नियम करनेपर देव नारकोंके अवधिज्ञानमें गुणको कारणपना व्यवच्छिन्न कर दिया जाता है। किन्तु फिर अवधिज्ञानावरणके विशेष क्षयोपशमको कारणपना नहीं निषिद्ध किया जाता है। क्योंकि क्षेत्र, काल, आत्मा, आदिके समान वह क्षयोपशम तो उस भवस्वरूप बहिरंग कारणका प्रतियोगी नहीं है। मत्स्यको पानीमें

आम्रफल ही खानेका नियम कर देनेपर अमरूद, केला आदिके खानेका निषेध कर दिया जाता है। किंतु रुपयेमेंसे बचे हुये पैसे या भृत्यके शरीरपर पहिने हुये वस्त्र आदिके ले आनेका निषेध नहीं कर दिया जाता है। क्योंकि आम्रके प्रतियोगी अमरूद, खरबूजा आदि हैं। पैसे आदिक तो उसके प्रतियोगी नहीं है। अतः शेष पैसोंके लौटा लानेका निषेध नियम नहीं किया जाता है।

तद्व्यवच्छेदे भवस्य साधारणत्वात्सर्वेषां साधारणोऽवधिः प्रसज्येत। तच्चानिष्टमेव।

भवका नियम करदेनेपर यदि गुणके समान उस क्षयोपशमका भी एवकार द्वारा व्यवच्छेद कर दिया जायगा, तब तो भवको साधारणकारणपना हो जानेसे सम्पूर्ण भवधारी प्राणियोंके साधारण-रूप करके अवधिज्ञान होनेका प्रसंग हो जायगा। किंतु वह सब जीवोंका अवधिज्ञानीपना तो अनिष्ट ही है। अर्थात्—अवधिज्ञानमें भव ही को कारण मानकर यदि क्षयोपशमको अन्तरंगकारण नहीं माना जायगा तो सभी संसारी जीवोंके अवधिज्ञान हो जानेका प्रसंग होगा। क्योंकि क्षयोपशम तो कारण माना ही नहीं गया है और सभी अवधिज्ञानोंमें क्षयोपशमको अन्तरंगकारण मान लेनेपर तो जिन जीवोंके क्षयोपशम नहीं है, उनको अवधिज्ञानी हो जानेका प्रसंग नहीं आता है। देवनार-कियोंके भी अन्तरंग कारण क्षयोपशम विद्यमान है। तभी बहिरंगकारण भवको मानकर सभी देवनारकियोंके कमती बढती पाया जा रहा अवधिज्ञान या विभंग हो जाता है। किन्तु चतुर्गतिके सभी जीवोंके अवधिज्ञान हो जाय यह नियम नहीं है।

परिहृतं च भवतीत्याह।

दूसरी बात यह है कि सभी जीवोंके अवधिज्ञान होनेका परिहार भी कर दिया गया है। क्षयोपशमनामक अन्तरंगकारण नहीं होनेसे सभी मनुष्य तिर्यंचोंके अवधिज्ञान नहीं हो पाता है। किन्तु कारणोंकी योग्यता मिलनेपर किन्हीं किन्हीं मनुष्य तिर्यंचोंके होता है। देव और नारकियोंके भी अन्तरंग कारणोंकी विशेषता हो जानेसे भिन्न भिन्न प्रकारकी देशावधि होती है। इसको स्वयं ग्रन्थकार वार्तिकद्वारा स्पष्ट कह रहे हैं।

प्रत्ययस्यान्तरस्यातस्तत्क्षयोपशमात्मनः।
प्रत्यग्भेदोऽवधेर्युक्तो भवाभेदेऽपि चाङ्गिनाम् ॥ ७ ॥

अन्तरंगमें होनेवाले उस अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमस्वरूप कारणका देव और नारकियोंमें न्यारा न्यारा भेद है। इस कारण देव और नारकी प्राणियोंके साधारण बहिरंगकारण भवका अभेद होनेपर भी भिन्न भिन्न प्रकारका अवधिज्ञान है। अर्थात्—बहिरंग कारणके एकसा होनेपर भी अन्तरंग क्षयोपशमकी जातिका विशेष भेद होनेसे भिन्न भिन्न देवोंमें और न्यारे न्यारे नारकियोंमें अनेक प्रकारका देशावधिज्ञान हो जाता है।

कुतः पुनर्भवाभेदेऽपि देवनारकाणामवधिज्ञानावरणक्षयोपशमभेदः सिध्येत् इति चेत्, स्वशुद्धिभेदात् । सोऽपि जन्मान्तरोपपत्तिविशुद्धिभावात्, नाभेदात् । सोऽपि स्वकारणभेदात् । इति न पर्यनुयोगो विधेयः कारणविशेषपरम्परायाः सर्वत्रापर्यनुयोगार्हत्वात् ।

यहां प्रश्न है कि भवका अभेद होनेपर भी फिर क्या कारण है कि जिससे देव और नारकियोंके अवधिज्ञानावरणकर्म सम्बन्धी क्षयोपशमका भेद सिद्ध हो जावेगा ? इस प्रकार कहनेपर तो हम जैनसिद्धान्तियोंका यह उत्तर है कि अपनी अपनी आत्माओंकी शुद्धिया भिन्न भिन्न प्रकारकी हैं । अतः उन शुद्धियोंके निमित्तसे क्षयोपशमका भेद हो जाना सध जाता है । फिर कोई पूछे कि यह शुद्धियोंका भेद भी जीवोंके कैसे हो जाता है ? इसका समाधान यों समझना कि पूर्ववर्ती अनेक जन्मान्तरोंमें बनी हुयी विशुद्धियोंके सद्भाव रहनेसे संस्कारद्वारा अथवा अन्य बहिर्भूत कारणोंकी सामग्री जुटजानेसे तथा आत्माके पुरुषार्थसे जीवोंके भिन्न भिन्न शुद्धियां हो जाती हैं । अभिन्न कारणसे भिन्न भिन्न कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । कार्यभेद है, तो कारणभेद अवश्य होगा । जैनसिद्धान्तमें कार्यकारणभावकी पोल नहीं चल पाती है । वह विशुद्धि या पुरुषार्थ आदिके भेद भी अपने अपने कारणोंके भेदसे हो गये हैं । इस प्रकार पुनरपि प्रश्न उठानेपर उसके भी कारणभेदोंसे ही हुये कार्यभेदोंका ढकासा उत्तर दे दिया जायगा । अतः चारों ओरसे व्यर्थ प्रश्नपरम्परा उठाना कर्तव्य नहीं है । क्योंकि कारणविशेषोंकी परम्परा अनादिसे चली आ रही है । सम्पूर्ण वादियोंके यहां कारणोंकी विशेषतायें पर्यनुयोग चलानेके योग्य नहीं मानी गयी हैं । प्रत्येक पदार्थमें अनन्त स्वभाव हैं । एक ही अग्नि स्वकीय अनेक स्वभावोंके वश होकर दाह, पाक, शोषण, आदि कार्योंको कर देती है । एक आत्मा भिन्न भिन्न इच्छा, प्रयत्न आदि द्वारा एक समयमें अनेक कार्योंका सम्पादन कर रहा है । कुछ आत्माकी पर्यायें अपने पूर्ववर्ती कारणोंसे उन उन कार्योंको करने योग्य पहिलेसे ही उत्पन्न हुई है । नित्य शक्तियोंकी पर्यायधारायें प्रवाहरूपसे वैसी उपजती हुई चली आ रही हैं । " स्वभावोऽतर्कगोचरः " । किसी जीवके पण्डित बनानेमें उपयोगी विशेष क्षयोपशम पहिले जन्मोंसे चला आ रहा है और किसीके आत्मपुरुषार्थ द्वारा आवरणोंका विघटन हो जानेपर उस ही जन्ममें पाण्डित्य प्राप्त करनेका क्षयोपशम मिला लिया जाता है । फिर भी स्वभावभेदोंकी प्राप्तिमें जन्मान्तरके कुछ परिणाम भी उपयोगी हो जांय, इसका हम निषेध नहीं करते हैं । " यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकं स्वभावभेदाः परस्परं व्यावृत्ताः " अष्टसहस्री ग्रन्थमें विवरण कर दिया है कि जितने भी छोटे बडे कार्य जगत्में होते हैं, उन सबके कारण एक दूसरेसे अलग हो रहे भिन्न पदार्थ या भिन्न भिन्न स्वभाव हैं । अन्यथा सर्वत्र सर्वदा अकस्मात् कार्य हो जानेके प्रसंगका निवारण कथमपि नहीं हो सकेगा । अतः यहां भी भिन्न भिन्न क्षयोपशमके न्यारे न्यारे कारणोंको कार्यभेदोंकी उपपत्ति अनुसार स्वीकार कर लेना चाहिये । स्वर्ग या भोगभूमिमें भी गुठलीके बिना

आम्रवृक्ष नहीं उपज सकता है। बीजसे ही सर्वत्र अंकुर और अंकुरसे ही बीज बनेगा। यह त्रिलोक त्रिकालोंमें अखण्ड सिद्धान्त है। कार्यकारण भावके अनुसार ही चमत्कार, अतिशय, बाजीगरी, ऋद्धि, सिद्धि, मंत्र, तंत्र, पिशाच क्रियायें, देवउपनीतपना, आदि सम्भवते हैं। कार्यकारणभावका भंग कर चमत्कार आदिक तीनों कालोंमें नहीं हो सकते हैं। यही जैन न्यायसिद्धान्त है।

इस-सूत्रका सारांश।

इस सूत्रके लघु प्रकरणोंका सूचन यों है कि प्रथम ही देवनारकियोंके अवधिज्ञानका बहिरंग कारण कथन करनेके लिए सूत्रका प्रतिपादन करना आवश्यक बताया है। आत्माका पर्याय होते हुये भी भव बहिरंग कारण है। जीवके पञ्च परावर्तनरूप संसार होनेमें सम्यक्त्व और चारित्र गुणकी विभावपरिणतियां अन्तरंग कारण हैं। शेष गुणोंके परिणाम तो बहिरंगकारण या अकारण ही हैं। तथैव जीवको मोक्षप्राप्ति होनेमें सम्यक्त्व और चारित्र गुणके स्वभाव परिणाम अन्तरंगनिमित्त कारण हैं। शेष आत्मपिण्ड बहिरंग उपादानमात्र हैं। ज्ञान भी इतना प्रेरक निमित्त नहीं है। अस्तित्व, वस्तुत्व, आदिक अनन्तगुणोंके परिणाम तो मोक्ष होनेमें कैसे भी कारण नहीं हैं। उनके जाने भले ही आत्मा नरक निगोदमें पड़ा सड़ता रहो। गौकी भूख मेटनेमें घास कारण है। घासको डालनेवाली युवतीके भूषण, शृंगार, वस्त्र, यौवन आदि तो उदासीन भी कारण नहीं। भवके बहिरंगपनेका विचार कर उद्देश्य, विधेय दोनों दलोंमें क्रमसे एवकार लगाना अभीष्ट किया है। " चैत्रो धनुर्धरः " इस दृष्टान्तसे दोनों एवकारोंको भले प्रकार समझाकर उनसे व्यवच्छेद करने योग्य पदार्थोंको बता दिया है। सभी अवधिज्ञानोंमें अन्तरंगकारण क्षयोपशमविशेष है। देवनारकियोंके अवधिज्ञानमें साधारणरूपसे भवके एक होनेपर भी अन्तरंगकारणवश ज्ञानोंका भेद सिद्ध हो जाता है। कारणोंके भेदसे ही कार्योंमें भेद आता है। अन्यथा नहीं। मिट्टीस्वरूप पुद्गलपरिणामसे घट बनता है, और पौद्गलिक तंतुओंसे पट बनता है। पुद्गलद्रव्यकी मृत्तिका और कपास पर्याय हो जानेमें भी खानि या बनोला बीज आदिक निमित्त हैं। पुद्गलद्रव्यके उन निमित्तरूप उपादेयोंके बनानेमें भी उपादान पुद्गलकी सहायता करनेवाले द्रव्य, क्षेत्र आदिक निमित्त हैं। यों किसी किसी कारणमें अनेक और अनन्तकोटीतक कारणमाला जुटानी पड़ती है। उस जुटानेमें भी निमित्तकारण क्वचित् कार्योंमें तो कोई कोई ज्ञानवान् आत्मा अथवा बहुतसे कार्योंमें व्यवहार काल ऋतु परिवर्तन, बीज, योनिस्थान, सूर्य, भूमि आदिक ही कारण बन बैठते हैं। किंतु जगत्के बहुतसे कार्योंकी कारणमालाका छोर अनादिकाल नहीं है। मध्यमें ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंके अनुसार कारणके बन गये अनेक स्वभावोंद्वारा ही पांच, दस, दो, या एक कोटिपर ही कारणभेद हो जानेसे कार्यभेद हो जाता है। दो चार सगे भाइयोंका एक भी पिता हो सकता है। सभी कार्योंके पिता, पितामह, प्रपितामह, आदि असंख्य पीढिओंतक कारणमालाका चीर बढाते जाना अनिवार्य

नहीं है। ऐसा ही श्री जैनन्याय ग्रन्थोंमें साध दिया गया है। आत्माके पुरुषार्थ या कारणोंसे तब ही (तदानीमेव) बना लिये गये विशुद्धिके भेदसे शुद्धिका भेद होते हुये क्षयोपशमका भेद हो जाने पर ज्ञानभेद हो जाता है। प्रमाणप्रसिद्ध कार्यकारण भावोंमें कुचोद्य नहीं उठा करते हैं।

अदृष्टातिरेकोदयासीत्यसौख्यातिदुःखाः स्मृतस्वाः सुरानारकाश्च।
स्वदेशावधेः प्राप्य सम्यक्त्वमेके भवप्रत्ययान्मुक्तिमार्गं प्रपन्नाः ॥ १ ॥

देवनारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञानका स्वामित्वनिरूपण किया जा चुका है। अतः अवसर संगति और क्रम अनुसार स्वयं जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि दूसरे प्रकारका अवधिज्ञान भला किसको कारण मानकर किन जीवोंके होता है ? इस प्रकार विनम्र शिष्योंकी बलवती जिज्ञासा हो जानेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रकेसरका मुखपद्मसे प्रसारण करते हैं, जिसकी कि सुगन्धमें भव्यमधुकरोंको विशेष उल्लास प्राप्त होवे।

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २२ ॥

अवधिज्ञानावरणकर्मके सर्वघातिस्पर्धकोंका उदयाभाव या फल नहीं देकर खिर जानास्वरूप क्षय और भविष्यमें उदय आनेवाले सर्वघातिस्पर्धकोंका उदीरणा होकर उदयावलीमें नहीं आना होते हुये वहांका वहीं बना रहनास्वरूप उपशम तथा देशघातिस्पर्धकोंका उदय होनेपर क्षयोपशम अवस्था होती है। उस क्षयोपशमको निमित्त पाकर शेष कतिपय मनुष्य, तिर्यंचोंके गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। उस अवधिज्ञानके अनुगामी, अननुगामी, हीयमान, वर्धमान, अवस्थित और अनवस्थित ये छह प्रकारके विकल्प हैं।

किमर्थमिदमित्याह।

यहां कोई पूंछता है कि किस प्रयोजनको साधनेके लिये यह सूत्र श्री उमास्वामी महाराजने कहा है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

गुणहेतुः स केषां स्यात् कियद्भेद इतीरितुम्।
प्राह सूत्रं क्षयेत्यादि संक्षेपादिष्टसंविदे ॥ १ ॥

वह गुणको कारण मानकर उत्पन्न होनेवाला दूसरा अवधिज्ञान भला किन जीवोंके होगा ? और उसके भेद कितने हैं ? इस बातका प्रदर्शन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज "क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्" इस प्रकार सूत्रको संक्षेपसे अभिप्रेत अर्थकी सम्वित्ति करानेके लिये बहुत अच्छा कहते हैं।

कः पुनरत्र क्षयः कश्चोपशमः कश्च क्षयोपशम इत्याह ।

इस प्रकरणमें फिर क्षय क्या पदार्थ है ? और उपशम क्या है ? तथा दोनोंसे मिला हुआ क्षयोपशम भला क्या स्वभाव पडता है ? इस प्रकार शिष्यकी आकांक्षा होनेपर आचार्य महाराज वार्त्तिक द्वारा समाधान कहते हैं ।

क्षयहेतुरित्याख्यातः क्षयः क्षायिकसंयमः ।
संयतस्य गुणः पूर्वं समभ्यर्हितविग्रहः ॥ २ ॥

पहिले प्रश्नका उत्तर यों है कि प्रतिपक्षी कर्मोंका क्षय जिस संयमका हेतु है, वह चारित्र-मोहनीयकर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला क्षायिकसंयम यहां क्षय शद्बसे कहा गया है । व्रतोंका धारण, समितियोंका पालन, कषायोंका निग्रह, मनवचनकायकी उद्दण्ड प्रवृत्तियोंका त्याग, इन्द्रियोंका जय ऐसे संयमको धारनेवाले साधुओंका यह क्षायिक संयमगुण है । गुणको कारण मानकर किसी किसी मुनिके अवधिज्ञान हो जाता है । द्वन्द्व समास किये जा चुके क्षयोपशम शद्बमें अच्छा चारों ओरसे पूजित शरीरवाला और अल्पस्वर होनेके कारण क्षयपद पहिले प्रयुक्त किया गया है । क्षयको निमित्त पाकर आठमेंसे बारहवें गुणस्थानतक अवधिज्ञान होना सम्भवता है ।

तथा चारित्रमोहस्योपशमादुद्भवन्नयम् ।
कथ्यतोपशमो हेतोरुपचारस्त्वयं फले ॥ ३ ॥

तथा दूसरे प्रश्नका उत्तर यह है कि चारित्रमोहिनीयकर्मके उपशमसे उत्पन्न हो रहा, यह भाव उपशम कहा जाता है । जो कि उपशम चारित्र किन्हीं संयमी पुरुषोंका गुण है । इस उपशम भावको निमित्त मानकर आठवें गुणस्थानसे ग्यारहवें तक किन्हीं मुनियोंके अवधिज्ञान हो जाता है । यहां प्रकरणमें उपशम और क्षय शब्दोंसे तज्जन्यभाव पकडे गये हैं । अतः यह हेतुका फलमें उपचार है । अर्थात्—कारणोंमें क्षयपना या उपशमपना है, किंतु क्षय और उपशमसे जन्य हुये क्षायिक संयम और औपशमिक संयमस्वरूप साधुगुणोंको क्षय और उपशम कह दिया गया है ।

क्षयोपशमतो जातः क्षयोपशम उच्यते ।
संयमासंयमोऽपीति वाक्यभेदाद्विविच्यते ॥ ४ ॥

प्रतिपक्षी कर्मोंकी सर्वघाति प्रकृतियोंका क्षय और आगे उदय आनेवाली सर्वघातिप्रकृतियोंका वर्तमानमें उपशम तथा देशघाति प्रकृतियोंका उदय इस प्रकारके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ, भाव क्षयोपशम कहा जाता है । यहां भी कारणका कार्यमें उपचार है । छठवें सातवें गुणस्थानवर्ती

मुनियोंका गुण क्षयोपशमिक संयम है। यहां चारित्रकी सर्वघातिप्रकृति अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यावरण इनका क्षय और उपशम है, तथा देशघाति संज्वलन और यथायोग्य नोकषाय कर्मप्रकृतियोंका उदय है। पांचवें गुणस्थानमें चारित्रगुणका परिणाम हो रहा, संयमासंयम भी देशव्रतीका गुण है, यहां अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण प्रकृतियां तो संयमासंयम गुणकी सर्वघाती हैं। प्रत्याख्यानावरण देशघाती हैं। फिर भी प्रत्याख्यानावरणके तीव्र शक्तिवाले स्पर्धकोंका पांचवें गुणस्थानमें उदय नहीं है। किन्हीं किन्हीं उत्कट शक्तिवाले प्रत्याख्यानावरण स्पर्धकोंका तो चौथे गुणस्थानमें भी उदय नहीं है, जो कि अनन्तानुबन्धीके सहचारी हैं। इस सूत्रके आदि वाक्यका योगविभागपूर्वक भेद करदेनेसे उक्त प्रकारका विवेचन कर दिया गया है। यह तीसरे प्रश्नका उत्तर हुआ। भावार्थ–चारित्रमोहनीयकर्मके क्षय, उपशम और क्षयोपशमसे उत्पन्न हुये महाव्रती और अणुव्रतियोंके क्षायिकचारित्र, उपशमचारित्र, और क्षयोपशम चारित्र इन तीन गुणोंको बहिरंगनिमित्तकारण अपनाता हुआ अवधिज्ञान अपने अवधिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमस्वरूप एक अन्तरंगकारणसे उपज जाता है। चौथे गुणस्थानवाले मनुष्य या तिर्यंचके भी प्रशम, संवेग आदिक गुणोंके विद्यमान रहनेके कारण चारित्रमोहनीयका क्षयोपशम यहांके लिये कल्पित कर लिया जाता है। तभी तो व्रत नहीं होते हुए भी पाक्षिक श्रावकके पांचवां गुणस्थान मान लिया गया है। चौथे गुणस्थानमें हो रहा, अप्रत्याख्यानावरणका मन्द उदय तो अवधिज्ञानके उपयोगी क्षयोपशमको बनाये रहने देता है। जैसे कि सर्वघाती भी प्रत्याख्यानावरणके उदयने संयमासंयमको अक्षुण्ण बनाये रक्खा है। बिगाड़ा नहीं है।

क्षयनिमित्तोऽवधिः शेषाणामुपशमनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इति वाक्यभेदात्क्षायिकौपशमिकक्षायोपशमिकसंयमगुणनिमित्तस्यावधिरवगम्यते। कार्ये कारणोपचारात् क्षयादीनां क्षायिकसंयमादिषूपचारः तथाभिधानोपपत्तेः।

देव और नारकियोंसे अवशिष्ट हो रहे किन्हीं मनुष्योंके क्षयको बाह्य निमित्त मानकर अवधि होती है, और किन्हीं मनुष्योंके उपशमको बहिरंगनिमित्त कारण मानकर अवधिज्ञान हो जाता है। तथा कतिपय मनुष्य तिर्यंचोंके क्षयोपशमस्वरूप बहिरंगकारणसे अवधिज्ञान हो जाता है। इस प्रकार सूत्रस्थ क्षयोपशम इस वाक्यके तीन भेद कर देनेसे क्षायिकसंयम, औपशमिकसंयम और क्षायोपशमिकसंयम इन तीन गुणोंको बहिरंगनिमित्त रख रहे जीवोंके अवधिज्ञान होना समझ लिया जाता है। कार्यमें कारणका उपचार हो जानेसे क्षय, उपशम आदि कर्मसम्बन्धी भावोंका क्षायिकसंयम, उपशमसंयम और क्षायोपशमिकसंयम इन तीन संयमी आत्माके गुणोंमें उपचार कर लिया गया है। तिस प्रकार कथन करना युक्तियोंसे सिद्ध है। "आत्मा वै पुत्रः" "आप्तोच्चारितः शब्दः प्रमाणम्" आदि स्थलोंपर कार्यमें कारणके धर्मोंका या कारणमें कार्यके धर्मोंका अभिधान किया गया है। कोई नवीन बात नहीं है। बम्बईमें कलकत्ताकी रेल गाडी आ जानेपर कलकत्ता

आ गया, या कलकत्तेमें सिकरनेवाली हुंडीको कलकत्ता बेचोगे ? यों कहा जाता है। तद्वत् यहां भी उपचार है।

किमर्थं मुख्यशब्दानभिधानमित्याह।

यहां किसीका प्रश्न है कि शिष्योंके हितैषी और अविप्रलम्भज्ञान करानेवाले श्री उमास्वामी महाराजने उपचरितशब्दोंका प्रयोग क्यों किया ? मुख्यशब्दोंका उच्चारण क्यों नहीं किया ? सूत्रकार महाराजजीको चारित्रमोहनीयके क्षय, उपशम और क्षयोपशमस्वरूप निमित्तोंसे अवधि होती है, ऐसा स्पष्ट निरूपण कर देना चाहिये था, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं। सो सुनो, और ध्यान लगाकर समझो।

क्षायोपशम इत्यन्तरंगो हेतुर्निगद्यते।
यदि वेति प्रतीत्यर्थं मुख्यशब्दाप्रकीर्तनम् ॥ ५ ॥
तेनेह प्राच्यविज्ञाने वक्ष्यमाणे च भेदिनि।
क्षयोपशम हेतुत्वात्सूत्रितं संप्रतीयते ॥ ६ ॥

अथवा सूत्रकार महाराजको यदि अन्तरंग और बहिरंगकारण दोनोंका निरूपण करना अभीष्ट होय तो इसलिये भी " क्षयोपशम " ऐसा गम्भीरशब्द कह दिया है। इस सूत्र करके अवधिज्ञानका अन्तरंगकारण ज्ञानावरणका क्षयोपशम है, यह भी कह दिया जाता है। इस तत्त्वकी प्रतिपत्ति करानेके लिये ही मुख्यशब्दका स्पष्टरूपसे उच्चारण नहीं किया है। तिस कारणसे यहां शेष जीवोंके छह भेदवाले अवधिज्ञानमें और पूर्वमें कहे गये देवनारकियोंके भव प्रत्यय अवधिज्ञानमें तथा उससे भी पूर्वमें कहे गये भेदयुक्त मतिज्ञान, श्रुतज्ञानोंमें और भविष्यमें कहे जानेवाले भेदसहित मनःपर्यय ज्ञानमें ज्ञानावरणोंके क्षयोपशमको अंतरंग हेतु मानकर जन्यपना है। इस प्रकार सूत्रद्वारा सूचन कर दिया गया, भले प्रकार निर्णीत कर दिया जाता है। उदात्त महामना सूत्रकार गम्भीर शब्दोंका ही उच्चारण किया करते हैं, तभी शिष्योंको व्युत्पत्ति बढती है। जहां उपचार शब्दोंके बोलनेका नियम है, वहां वैसे ही शब्दोंका उच्चारण करना ठीक समझा जाता है। अपनी माताको जन्मसे ही भाभी शब्दद्वारा पुकारनेवाला बेटा यदि कदाचित् माको अम्मा कह दे तो अशोभन और थोडा झूंठ जचता है। " अन्नं वै प्राणः " कहना ठीक है। "अन्नकारणं प्राणाः" इस प्रकार स्पष्ट कहना पण्डिताईका कार्य नहीं है। शब्दशक्तिकी हानि (तोहीन) करनी है। पांचगज कपडा है, यह कहना ठीक है। किन्तु लोहेके गजसे पाच वार नापकर परिमित कर दिया गया कपडा है, यह कहना तुच्छता है। मेरठसे गाडी आ जानेपर मेरठ आगया कहना या बंबईमें सिकरनेवाली हुंडीको बेचनेके लिए बम्बईका बेचना कहना ही प्रशस्त है। अत्यन्त पूज्य और

जैसे जनोंके लिये युष्मद् शब्दका प्रयोग श्रेष्ठ है। कहांतक कहा जाय वाचक शब्दोंकी शक्तियां विलक्षण हैं। अतः सूत्रकार महाराजका उक्त प्रकार गंभीर शब्दका उच्चारण करना साभिप्राय है।

क्षयोपशम इत्यन्तरंगो हेतुः सामान्येनाभिधीयमानस्तदावरणापेक्षया व्यवतिष्ठते स च सकलक्षायोपशमिकज्ञानभेदानां साधारण इति । यथेह षड्विधस्यावधेर्निमित्तं तथा पूर्वत्र भवप्रत्ययेऽवधौ श्रुते मतौ चावसीयते। वक्ष्यमाणे च मनःपर्यये स एव तदावरणापेक्षयेति सूत्रितं भवति ।

" क्षयोपशम " इस वाक्यके स्वतंत्र तीन भेद नहीं करनेपर ही ज्ञानावरणोंका क्षयोपशम इस प्रकार एक अंतरंगहेतु ही सामान्यरूप करके कहा गया होता संता उन उन ज्ञानोंके आवरणोंकी अपेक्षासे व्यवस्थित हो जाता है और वह क्षयोपशम तो सम्पूर्ण चारों क्षायोपशमिक ज्ञानके भेदोंका साधारण कारण है। इस प्रकार भेद, प्रभेदसहित चार ज्ञानोंके सामान्यरूपसे एक अंतरंग कारणको कहनेका भी सूत्रकारका अभिप्राय है। जिस प्रकार प्रकृत सूत्रमें अनुगामी आदिक छह प्रकारके अवधिज्ञानका साधारण अन्तरंगनिमित्त क्षयोपशम विशेष कहा गया है, उसी प्रकार पूर्वमें कहे गये भवहेतुक अवधिज्ञानमें और उसके पहिले कहे गये श्रुतज्ञानमें तथा उसके भी पहिले कहे गये मतिज्ञानमें भी अंतरंगकारण क्षयोपशमका निर्णय कर लिया गया है। तथा भविष्य ग्रन्थमें कहे जानेवाले मनःपर्यय ज्ञानमें भी उस मनःपर्ययावरण कर्मकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ वह क्षयोपशम ही अन्तरंग कारण है। यह सब लम्बा चौडा पुराना इस छोटेसे सूत्रमें ही उमास्वामी महाराजने भर दिया है। छोटेसे सूत्रसे सभी अभिप्राय सूचित हो जाता है।

मुख्यस्य शब्दस्याश्रयणात्सर्वत्र बहिरंगकारणप्रतिपादनाच्च मुख्यगौणशब्दप्रयोगो युक्तोऽन्यथा गुणप्रत्ययस्यावधेरप्रतिपत्तेः ।

यहां उपचारित नहीं किन्तु मुख्य हो रहे क्षयोपशम शब्दका आश्रय करलेने और सभी ज्ञानोंमें बहिरंगकारणोंका प्रतिपादन करनेसे यहां मुख्यशब्दका प्रयोग और गौण शब्दका प्रयोग करना युक्तिपूर्ण होता हुआ समुचित है। अर्थात्—मुख्यशब्दका आश्रय करनेसे सब ज्ञानोंके अंतरंगकारणोंका निर्णय हो जाता है, और उपचरित क्षयोपशम शब्दके प्रयोग कर देनेसे मनुष्य तिर्यचोंकी अवधिका बहिरंगकारण प्रतीत हो जाता है। अन्यथा यानी उपचरित शब्दका प्रयोग किये विना क्षायिक-संयम आदि गुणस्वरूप बहिरंग कारणोंसे उपजनेवाले अवधिज्ञानकी प्रतीति नहीं हो सकती थी। इस प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यने इस श्री उमास्वामी महाराजके सूत्रका बहिरंग कारणोंको प्रतिपादन करनेवाला अच्छा भाष्य-अर्थ कर दिया है। यह सूत्र गुणप्रत्यय अवधिके बहिरंगकारण और चारों ज्ञानोंके अन्तरङ्गकारणका भी प्रतिपादक है।

के पुनः शेषा इत्याह ।

इस सूत्रमें कहे गये वे शेषजीव फिर कौन हैं ? जिनके कि गुणप्रत्यय अवधि होती है । इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं ।

शेषा मनुष्यतिर्यञ्चो वक्ष्यमाणाः प्रपंचतः ।
ते यतः प्रतिपत्तव्या गतिनामाभिधाश्रयाः ॥ ७ ॥

पूर्व सूत्रमें कण्ठोक्त कहे गये देव और नारकियोंसे अवशेष बच रहे मनुष्य और तिर्यंच यहां शेषपदसे लिये गये हैं । अग्रिम अध्यायोंमें विस्तारके साथ मनुष्य और तिर्यंचोंकी परिभाषा कर दी जायगी, जिस कारण कि वे मनुष्य और तिर्यंच अपने योग्य मनुष्यगति और तिर्यग्गतिनामक नामकर्मके उदयसे भिन्न भिन्न संज्ञाओंका आश्रय ले रहे हैं । गतिनामक प्रकृतिके उत्तर भेद अनेक हैं । अतः उस उस गतिकर्मके अनुसार जीव मनुष्य और तिर्यंच समझ लेने चाहिये ।

स्यात्तेषामवधिर्बाह्यगुणहेतुरितीरणात् ।
भवहेतुर्न सोस्तीति सामर्थ्यादवधार्यते ॥ ८ ॥

उन कतिपय मनुष्य तिर्यंचोंके हो रहे अवधिज्ञानके बहिरंग कारण संयम आदि गुण हैं । इस प्रकार नियमकर कथन कर देनेसे उनके वह भवप्रत्यय अवधि नहीं है,. यह मन्तव्य विना कहे ही निरूपित वचनकी सामर्थ्यसे अवधारण कर लिया जाता है । क्योंकि " क्षयोपशमनिमित्त एव शेषाणाम् " इस प्रकार पहिला एवकार अवधारण कर देनेसे शेषोंके अवधिज्ञानमें भवका बहिरंग-कारणपना निषिद्ध हो जाता है ।

तेषामेवेति निर्णीतेर्देवनारकविच्छिदा ।
क्षयोपशमहेतुः सन्नित्युक्ते नाविशेषतः ॥ ९ ॥

" शेषाणामेव क्षयोपशमनिमित्तः " उन शेषोंके ही गुणप्रत्यय अवधि होती है । इस प्रकार एवकार द्वारा उत्तरवर्ती निर्णय (नियम) कर देनेसे देव और नारक जीवोंका व्यवच्छेद कर दिया जाता है । अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमस्वरूप अंतरंगकारणको हेतु मान कर अवधिज्ञान वर्त रहा है । इस प्रकार कहनेपर तो सामान्यरूपसे यानी विशेषताओंसे रहित होकर सभी मनुष्य तिर्यंचोंके सम्भावित हो रहे अवधिज्ञानके सद्भावका निषेध सिद्ध हो जाता है । हां, जिन जीवोंके अंतरंगकारण क्षयोपशम होगा, उन्हींके अवधिज्ञानका सद्भाव पाया जायगा, अन्योंके नहीं ।

क्षयोपशमनिमित्त एव शेषाणामित्यवधारणाद्भवप्रत्ययत्वव्युदासः । शेषाणामेव क्षयोपशमनिमित्त इति देवनारकाणां नियमाच्चतो नोभयथाप्यवधारणे दोषोऽस्ति ।

शेष बचे हुये मनुष्य तिर्यंचोंके तो बहिरंगकारण क्षयोपशमको ही निमित्त मानकर अवधिज्ञान होता है। इस प्रकार अवधारण करनेसे शेष जीवोंके अवधिज्ञानमें भवप्रत्ययपनेकी व्यावृत्ति हो जाती है। और शेष जीवोंके ही क्षयोपशमनिमित्त अवधि होती है, इस प्रकार नियम करनेसे देव नारकियोंके अवधिज्ञानमें गुणप्रत्ययपनेका व्यवच्छेद हो जाता है। तिस कारण दोनों भी उद्देश्य, विधेयदलोंमें उक्त प्रकारसे अवधारण करनेपर कोई दोष नहीं आता है, प्रत्युत गुण ही है।

क्षयोपशमनिमित्तोऽवधिः शेषाणामित्युभयत्रानवधारणाच्च नाविशेषतोऽवधिरितर्यङ्मनुष्याणामन्तरङ्गस्य तस्य कारणस्य विशेषात्। तथा पूर्वत्रानवधारणाद्बहिरंगकारणाव्यवच्छेदः। परत्रानवधारणाद्देवनारकाव्यवच्छेदः प्रसिद्धो भवति।

तथा शेष जीवोंके अवधिज्ञान तो क्षयोपशमको निमित्त पाकर हो जाता है, इस प्रकार दोनों ही दलोंमें अवधारण नहीं करनेसे सभी अवधिज्ञानी तिर्यंच और मनुष्योंके विशेषताओंसे रहित एकसी अवधि नहीं हो पाती है। क्योंकि उस अवधिज्ञानके अन्तरंगकारण हो रहे ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमकी प्रत्येक जीवोंमें विशेषतायें हैं। दूसरी बात यह भी है कि पहिले दलमें अवधारण नहीं करनेसे बहिरंगकारण हो रहे गुणोंका भी व्यवच्छेद नहीं हो पाता है। क्योंकि क्षयोपशमके प्रसिद्ध हो रहे एक ही अर्थके अनुसार अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमको ही पकडा जायगा, ऐसी दशामें एवकार यदि लगा दिया जाता तो बहिरंगकारण गुणका भी व्यवच्छेद हो जाता। किन्तु गुणको बहिरंगकारण इस सूत्र द्वारा अवश्य कहना है। अतः पहिले दलमें अवधारण मत डालो। तथा उत्तरदलमें अवधारण नहीं करनेसे देव और नारकियोंका व्यवच्छेद नहीं होना प्रसिद्ध हो जाता है। भावार्थ—शेष रहे मनुष्य, तिर्यंचोंके समान देव, नारकियोंके भी अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम अन्तरंगकारण है। अतः दोनों ओर अवधारण नहीं करनेसे भी प्रमेयका लाभ रहा। " विविधभङ्गगहनं जिनशासनम् "।

षड्विकल्पः समस्तानां भेदानामुपसंग्रहात्।
परमागमसिद्धाना युक्त्या सम्भावितात्मनाम्॥ १०॥

सर्वज्ञधाराप्राप्त परमागममें प्रसिद्ध हो रहे और पूर्व कही गई युक्तियों करके सम्भावितस्वरूप हो रहे, देशावधि आदि सम्पूर्ण भेदोंका निकट संग्रह हो जानेसे अवधिज्ञानके अनुगामी आदिक छह विकल्प हैं। अवधिज्ञानके अन्य भेदप्रभेदोंका इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है।

अनुगाम्यननुगामी वर्द्धमानो हीयमानोऽवस्थितोऽनवस्थितः इति षड्विकल्पोऽवधिः संप्रतिपाताप्रतिपातयोरत्रैवान्तर्भावात्।

अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित, इस प्रकार अवधि-

ज्ञान छह प्रकारका है। कोई अवधिज्ञान सूर्यप्रकाशके समान अवधिज्ञानीके यहां वहां जानेपर भी पीछे पीछे चला जाता है। जैसे कि अधिक व्युत्पन्न विद्वान्का ज्ञान सर्वत्र उसके पीछे चला जाता है, वह अनुगामी है। दूसरा अननुगामी अवधिज्ञान तो अवधिज्ञानीके पीछे पीछे यहां वहां सर्वत्र नहीं जाता है, वहां ही पडा रहता है, जैसे कि सन्मुख हो रहे पुरुषके प्रश्नोंका उत्तर देनेवाले पुरुषके वचन वहां ही क्षेत्रमें रहे आते हैं। प्रश्नकर्ता सन्मुख आवे, तब तो उत्तर सूझ जाता है। दूसरे प्रकारसे बुद्धि कार्य नहीं करती है। अनिष्णात विद्वान्की व्युत्पत्ति स्वाध्यायकालमें विद्यालयमें बनी रहती है। विद्यालयसे बाहिर बाजार, श्वसुरालय, मेला आदिमें उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। तीसरी वर्द्धमान अवधि तो वनमें फैल रहे अधिक सूखे तिनके, पत्तोंमें लगी हुयी अग्निके समान बढती चली जाती है। पहिली जितनी अवधि उत्पन्न हुयी थी, उसकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन, चारित्र, आदि गुणोंकी विशुद्धिके योगसे वह बढती हुयी चली जाती है, जैसे कि सदाचारी, व्यवसायी प्रतिभाशाली, विद्यार्थीकी व्युत्पत्ति अनुदिन बढती चली जाती है। चौथी हीयमान अवधि तो तृण आदिके दग्ध हो चुकनेपर घट रही अग्निशिखाके समान जितनी उत्पन्न हुयी थी, उससे घटती ही चली जाती है, जैसे कि मन्दव्यवसायी, झगडालु, कृतघ्न, असदाचारी छात्रकी व्युत्पत्ति प्रतिदिन हीन होती जाती है। पांचवीं अवस्थित अवधि जितनी उत्पन्न हुयी थी, उतनी ही बहुत दिनोंतक बनी रहती है। श्रीअकलंकदेवने अवस्थित अवधिका दृष्टान्त लिङ्ग यानी पुरुष चिह्नका दिया है। सो, ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे अधिक मोटा शरीर हो जानेपर अथवा अधिक पतला शरीर हो जानेपर भी पुरुष चिह्नमें मासकृत वृद्धि या हानि नहीं हो जाती है। अथवा धूम आदि ज्ञापकहेतुमें अग्नि आदि साध्योंके प्रतिज्ञान करानेमें कोई न्यूनता या अधिकता नहीं हो जाती है। जैसे कि कोई मनमौजी, निश्चिन्त, विद्यार्थी बहुत दिनोंतक भी पढते पढाते हुये अपने ज्ञानको घटा बढा नहीं पाता है। छट्टा अनवस्थित अवधिज्ञान तो सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी हानि और वृद्धिके योगसे घटता बढता रहता है। अव्यवस्थित बुद्धिवाले, सदाचारी, परिश्रमी, किन्तु क्षणिक उद्देश्यवाले, छात्रकी व्युत्पत्ति अनवस्थित रहती है। इस प्रकार छह भेदवाला ही अवधिज्ञान माना गया है। समीचीन प्रतिपात और अप्रतिपात इन दो भेदोंका इन्हीं छह भेदोंमें अन्तर्भाव कर दिया जाता है। बिजुलीके प्रकाश समान प्रतिपात होनेवाला प्रतिपाती है। और गुणश्रेणीसे नहीं गिरनेवाला ज्ञान अप्रतिपाती है। कठिन रोग, मद्यपान, तीव्र असदाचार, बडा भारी कुकर्म, आदिसे किसी छात्रकी व्युत्पत्ति एकदम गिर जाती है। शास्त्रीय कक्षामें उत्तीर्ण हो चुके छात्रको प्रवेशिकाकी पुस्तकें भी विस्मृत हो जाती हैं। तथा कोई कोई तीव्र क्षयोपशमवाला विद्यार्थी पहिलेसे ही किसी भी श्रेणीमें कभी नहीं गिरता है। उत्तरोत्तर चढता ही चला जाता है। उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणीके प्रतिपाती और अप्रतिपाती संयमोंके साथ एकार्थसमवायसम्बन्ध हो जानेसे अवधिज्ञान भी वैसा हो जाता है। अथवा अवधिज्ञानका भी साक्षात् प्रतिपात अप्रतिपात लगा सकते हो।

देशावधिः परमावधिः सर्वावधिरिति च परमागमप्रसिद्धानां पूर्वोक्तयुक्त्या सम्भावितानामत्रोपसंग्रहात् ।

देशावधि, परमावधि, और सर्वावधि इस प्रकार परमदेवाधिदेव अर्हंतसर्वज्ञकी आम्नायसे चले आरहे आगममें प्रसिद्ध हो रहे भेदोंका भी इन्हीं भेदोंमें यथायोग्य (करीब करीब) संग्रह हो जाता है। अतीन्द्रिय पदार्थोंको साधनेवाली पूर्वमें कहीं गयीं युक्तियोंकरके देशावधि आदि भेदोंकी सम्भावना की जा चुकी है। उनके सद्भावका कोई बाधक प्रमाण निश्चित नहीं है। असम्भवद्बाधकत्वादस्तित्वसिद्धिः। देशावधिका जघन्य अंश मनुष्य तिर्यंचोंमें पाया जाता है। अन्य मनुष्य, तिर्यंच, अथवा नारकी, सामान्य देव, ये देशावधिके मध्यम अंशोंके स्वामी हैं। देशावधिका उत्कृष्ट अंश तो मुनियोंके पाया जाता है। देशावधि द्वारा एक समय कम पल्यकालके आगे पीछेकी बातोंका और तीन लोकमें स्थित हो रहे रूपीद्रव्योंका देश प्रत्यक्ष हो जाता है। देशावधिका जघन्य क्षेत्र या काल तो उत्सेधाङ्गुलके असंख्यातवें भाग और आवलीके असंख्यातवें भाग भूतभविष्य हैं। मध्यम योगसे उपार्जित किये गये औदारिकके विस्रसोपचयसहित संचित नोकर्मद्रव्यमें लोक प्रदेशोंका भाग देनेपर जो मोटा स्कन्धपिण्ड लब्ध आता है, उतने द्रव्यको जघन्य देशावधि ज्ञान जान लेता है। और उत्कृष्ट देशावधि तो कार्मण वर्गणामें एक बार ध्रुवहारका भाग देनेपर जो छोटा टुकडा लब्ध आता है, उसको जानती है। इससे छोटे टुकडेको देशावधि नहीं जान पाती है। जघन्यदेशावधि कालके असंख्यातवें भाग पर्यायोंको भावकी अपेक्षा जानती है। और उत्कृष्ट देशावधिज्ञान द्रव्यके असंख्यात लोकप्रमाण पर्यायोंका प्रत्यक्ष कर लेता है। इसके आगेके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंको परमावधि जानता है। सर्वावधिका विषय और भी बढा हुआ है। चरमशरीरी मुनिमहाराजके परमावधि और सर्वावधिज्ञान होते हैं।

कुतः पुनरवधिः कश्चिदनुगामी कश्चिदन्यथा सम्भवतीत्याह ।

क्या कारण है कि फिर कोई तो अवधिज्ञान अनुगामी होता है ? और कोई उसके भेद अन्य प्रकारसे यानी अवस्थित, अनवस्थित, आदि रूपकरके सम्भव रहे हैं ? बताओ। देशावधिके अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, ये छह भेद हैं। और परमावधिके अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, अवस्थित, ये चार भेद हैं। तथा सर्वावधिके अनुगामी, अननुगामी अवस्थित ये तीन भेद हैं ! प्रतिपाती और अप्रतिपाती ये भेद भी यथायोग्य जोडे जा सकते हैं। इस प्रकार शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

विशुद्ध्यनुपमात्पुंसोऽनुगामी देशतोऽवधिः ।
परमावधिरप्युक्तः सर्वावधिरपीदृशः ॥ ११ ॥

आत्माके अवधिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशम करके उत्पन्न हुयी विशुद्धिका अनुगम करनेसे एक देशसे हुयी देशावधि भी अनुगामी हो जाती है। और परमावधि भी सूर्यप्रकाश समान आत्माका अनुगम करनेवाली अनुगामी मानी गयी है। तथा इसी प्रकार सर्वावधि भी अनुगामी हो रही है। अर्थात्—तीनों प्रकारकी अवधियोंका भेद अनुगामी है। यों हेतुपूर्वक सिद्धि कर दी गयी है।

विशुद्ध्यनन्वयादेषोऽननुगामी च कस्यचित्।
तद्भवापेक्षया प्राच्यः शेषोऽन्यभववीक्षया ॥ १२ ॥

क्षयोपशमजन्य आत्मप्रसादस्वरूप विशुद्धिका अन्वयरूप करके गमन नहीं करनेसे यह अवधि किसी किसी जीवके अननुगामी होती है। तिन तीन प्रकारके अवधि ज्ञानोंमें पहिला देशावधिज्ञान तो उसी भवकी अपेक्षासे अननुगामी कहा जाता है। अर्थात्—किसी किसी जीवके हुआ देशावधिज्ञान उस स्थानसे अन्य स्थानपर साथ नहीं पहुंचता है। या उस जन्मसे दूसरे जन्ममें नहीं पहुंच पाता है। तथा चरमशरीरी संयमीके पाये जानेवाले शेष बचे हुये परमावधि और सर्वावधि तो अन्य भवकी अपेक्षा करके अननुगामी हैं। अर्थात्—सर्वावधि परमावधि ज्ञानियोंकी उसी भवमें मोक्ष हो जानेके कारण अन्य भवोंका धारण नहीं होनेसे वे दो अवधिज्ञान अननुगामी हैं। यों तो वे उसी जन्ममें संयमीके उत्पन्न होकर बारहवें गुणस्थानतक पाये जा सकते हैं।

वर्द्धमानोऽवधिः कश्चिद्विशुद्धेर्वृद्धितः स तु।
देशावधिरिहाम्नातः परमावधिरेव च ॥ १३ ॥

विशुद्धि और सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी वृद्धि हो जानेसे कोई कोई वह अवधि तो वर्द्धमान कही जाती है। तिनमें देशावधि और परमावधि ही यहां वर्द्धमान मानी गयीं हैं। क्योंकि देशावधिके जघन्य अंशसे लेकर उत्कृष्ट अंशोंतक वृद्धियां होती हैं। तथैव तैजस्कायिक जीवोंकी अवगाहनाओंके भेदोंके साथ तैजसकायिक जीवराशिका परस्पर गुणा करनेसे जितना लब्ध आता है, उतने असंख्यात लोकप्रमाण परमावधिके द्रव्य अपेक्षा भेद हैं और क्षेत्रकालकी अपेक्षासे भी असंख्यात भेद हैं। अतः परमावधि भी बढरही सन्ती वर्द्धमान है, किन्तु सर्वावधिका भेद वर्द्धमान नहीं है। वह अवस्थित है।

हीयमानोऽवधिः शुद्धेर्हीयमानत्वतो मतः।
स देशावधिरेवात्र हानेः सद्भावसिद्धितः ॥ १४ ॥

सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी हानि और संक्लेश परिणामोंकी वृद्धि तथा क्षयोपशमविशेषजन्य विशुद्धिकी न्यूनता हो जानेसे अवधिज्ञान हीयमान माना गया है। इन तीनों अवधिज्ञानोंमें विशुद्धि हानिके सद्भावकी सिद्धि हो जानेसे वह देशावधि ही एक हीयमान हो रही आम्नायसे चली आ रही है। बढते हुये चारित्र गुणवाले मुनि महाराजोंके परमावधि और सर्वावधि होती हैं। अतः ये हीयमान नहीं हैं।

अवस्थितोऽवधिः शुद्धेरवस्थानान्नियम्यते ।
सर्वोऽङ्गिनां विरोधस्याप्यभावान्नानवस्थितेः ॥ १५ ॥

कोई अवधि तो सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके और क्षयोपशमजन्य विशुद्धिके उतनाका उतना ही अवस्थान बना रहनेसे अवस्थित हो रही नियत की जाती है। यह अवस्थित भेद जीवोंके हो रहे सभी तीनों अवधिज्ञानोंमें घटित हो जाता है। विरोध दोष होनेका भी यहां अभाव है। सर्वावधिमें तो अनवस्थितिका सर्वथा निषेध है। तथा अवस्थित हो रही देशावधि, परमावधिमें भी अनवस्थितिका निषेध है। अतः तीनों ही अवस्थितभेदवाली हैं।

विशुद्धेरनवस्थानात्सम्भवेदनवस्थितः ।
स देशावधिरेवैकोऽन्यत्र तत् प्रतिघाततः ॥ १६ ॥

चित्रको उपयोगी भीतिकी विशुद्धिके समान क्षयोपशमजन्य आत्माकी विशुद्धिका अनवस्थान हो जानेसे अवधिका अनवस्थित भेद सम्भवता है। उनमें यह देशावधि ही एक अनवस्थित है। अन्य दो अवधियोंमें उस अनवस्थितिका प्रतिघात है। विशेष यह कहना है कि किन्हीं किन्हीं आचार्योंने परमावधिका भी भेद अनवस्थित मान लिया है।

प्रोक्तः सप्रतिपातो वाऽप्रतिपातस्तथाऽवधेः ।
सोऽन्तर्भावममीष्वेव प्रयातीति न सूत्रितः ॥ १७ ॥

उक्त छह भेदोंके अतिरिक्त किसी प्रकार प्रतिपात सहितपना और प्रतिपातरहितपना ये दो भेद भी अवधिज्ञानके श्री अकलंकदेवने बढ़िया कहे हैं। किन्तु ये भेद इन छह भेदोंमें ही भले प्रकार अन्तर्भावको प्राप्त हो जाते हैं। इस ही कारण सूत्रकारने अवधिके आठ भेदोंका सूत्र द्वारा सूचन नहीं किया है।

विशुद्धेः प्रतिपाताप्रतिपाताभ्यां सप्रतिपाताप्रतिपातौ ह्यवधीपदस्तैवान्नभेवतः । अनु-गाम्यादयो हि केचित् प्रतिपाताः केचिदप्रतिपाता इति ।

आत्माकी निर्मलताके प्रतिपात और अप्रतिपात करके प्रतिपातसहित और प्रतिपातरहित हो रहे दो अवधिज्ञानके भेद तो इन छह भेदोंमें ही गर्भित हो जाते हैं। कारण कि अनुगामी आदिक छहों भेद कोई तो प्रतिपाती है, और कोई अनुगामी आदिक भेद प्रतिपातरहित है। यहांतक अवधिज्ञानको कहनेवाला प्रकरण समाप्त हुआ।

इस सूत्रका सारांश।

इस " क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् " सूत्रमें प्रकरण इस प्रकार हैं कि प्रथम ही दूसरे अवधिज्ञानके बहिरंगकारण और स्वामी तथा भेदोंका निरूपण करनेके लिये सूत्रका कहना आवश्यक बताकर संयम, देशसंयमको मनुष्य तिर्यंचोंके होनेवाले अवधिज्ञानका बहिरंगकारण सिद्ध किया है। चौथे गुणस्थानसे अवधिज्ञानका प्रारम्भ है। अतः कषायोंका उपशमभाव चौथेमें भी थोडा मिल जाता है। पहिले दूसरे गुणस्थानमें हो रहे विभंगज्ञानमें भी नारकियोंकी अपेक्षा कुछ मन्दकषाय है। संज्ञीके पर्याप्त अवस्थामें ही विभंग होता है। तीसरे मिश्रगुणस्थानमें अवधि और विभंगसे मिला हुआ मिश्रज्ञान है। वहां भी बहिरंगकारण सम्भवजाता है। सूत्रकारने श्लेषयुक्त " क्षयोपशम " शद्ब दिया है। अतः सभी भेदप्रभेदसहित चार ज्ञानोंके अन्तरंगकारण स्वकीय ज्ञानावरणके क्षयोपशमका निरूपण कर दिया है। इस सूत्रमें दोनों ओर " एवकार " लगा सकते हो और दोनों ओर एवकार नहीं लगानेपर भी विशेष प्रयोजन सध जाता है। अवधिज्ञानोंके यथायोग्य छह भेदोंका लक्षण बनाकर प्रतिपात और अप्रतिपातको इन छहोंमें अन्तर्भाव कर सूत्रकारकी विद्वत्ताकी परममहत्ताको श्रीविद्यानन्द स्वामीने प्रकाश दिया है। जब कि प्रतिपात और अप्रतिपात ये दो भेद छहों भेदोंमें सम्भव रहे हैं तो छहसे अतिरिक्त दो भेद बढाकर अवधिके आठ भेद करना तो उचित नहीं है। जैसे कि संसारी जीवोंके कायकी अपेक्षा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति, और त्रस ये छह भेदकर पुनः पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद बढाकर आठ भेद करना अयुक्त है। जब कि छहों कायोंमें पर्याप्त और अपर्याप्त भेद सम्भव रहे हैं। अतः पर्याप्त, अपर्याप्तको जिस प्रकार छहों भेदोंमें गर्भित कर लिया जाता है, या छह पर्याप्त और छह अपर्याप्त इस प्रकार बारह भेद कर व्युत्पत्ति लाभ कराया जाता है, उसी प्रकार यहां भी छह ही भेदकर प्रतिपात और अप्रतिपातको इनमें ही गर्भित कर लेना चाहिये। देशावधि, परमावधि सर्वावधिके छह, चार और तीन भेद हैं। श्री राजवार्तिककारने अनवस्थित भेदको परमावधिमें भी स्वीकार किया है। जघन्य, मध्यम, उत्कृष्टरूपसे विषयोंका ग्रहण करना विवक्षित होनेपर अनवस्थित भेद वहां सम्भवता होगा। यहांतक अवधिज्ञानका प्रकरण समाप्त कर दिया है।

स्वविशुद्धिविवृद्धिहानितो ह्यनुगाम्यादिविकल्पमाश्रितः ॥
प्रतिपक्षविनाशतो भवेत् नृतिरश्चां गुणहेतुकावधिः ॥ १ ॥

अवधिज्ञानका प्ररूपण कर अब अवसर संगति अनुसार क्रमप्राप्त मनःपर्ययज्ञानका प्रतिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रस्वरूप मुक्ताफलको स्वकीय मुख सम्पुटसे निकालकर प्रकाशित करते हैं।

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥

ऋजुमति और विपुलमति इस प्रकार दो भेदवाला मनःपर्ययज्ञान होता है। सरलतापूर्वक अथवा मन, वचन, कायके द्वारा किये गये चिंतित अर्थोंका प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान ऋजुमति है। तथा सरल और वक्र अथवा सब प्रकारके त्रियोग द्वारा किये गये या नहीं किये गये चिंतित, अचिंतित अर्धचिंतित अर्थोंका प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान विपुलमति मनःपर्यय है।

नन्विह बहिरंगकारणस्य भेदस्य च ज्ञानानां प्रस्तुतत्वात्नेदं वक्तव्यं ज्ञानभेदकारणा प्रतिपादकत्वादित्यारेकायामाह।

शिष्यकी शंका है कि यहां प्रकरणमें ज्ञानोंके बहिरंग कारण और भेदोंके निरूपण करनेका प्रस्ताव चला आ रहा है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानमें इसी प्रकारके प्रस्ताव अनुसार निरूपण हो भी चुका है। अतः मनःपर्यय ज्ञानके स्वरूपका प्रतिपादक यह सूत्र भला क्यों कहा जा रहा है? ज्ञानके भेद और बहिरंग कारणोंका प्रतिपादक तो यह सूत्र नहीं है। अतः यहां प्रकरणमें यह सूत्र नहीं कहना चाहिये, इस प्रकार आशंका होनेपर श्री विद्यानन्दस्वामी स्पष्ट समाधान कहते हैं। सो अनन्यमनस्क होकर सुनो।

मनःपर्ययविज्ञानभेदकारणसिद्धये ।
प्राहर्ज्वित्यादिकं सूत्रं स्वरूपस्य विनिश्चयात् ॥ १ ॥

सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने यह " ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः " सूत्र यहां ज्ञानके स्वरूपका निश्चय करनेके लिए नहीं कहा है। मनःपर्यय ज्ञानके स्वरूपका विशेष निश्चय तो " मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् " इस सूत्रमें कहे गये मनःपर्यय शब्दकी निरुक्तिसे भले प्रकार करा दिया गया है। किंतु यहां मनःपर्ययज्ञानके भेद और बहिरंगकारणोंकी प्रसिद्धि करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज " ऋजुविपुल " इत्यादिक सूत्रको बहुत अच्छा कह रहे हैं।

न हि मनःपर्ययज्ञानस्वरूपस्य निश्चयार्थमिदं सूत्रमुच्यते यतोऽप्रस्तुतार्थं स्यात्। तस्य मत्यादिसूत्रे निरुक्त्यैव निश्चयात्। किं तर्हि। प्रकृतस्य बहिरंगकारणस्य भेदस्य प्रसिद्धये समारभते।

इसकी टीका यों है कि मनःपर्ययज्ञानके स्वरूपका निश्चय करानेके लिए यह सूत्र नहीं कहा जा रहा है, जिससे कि प्रकरणके प्रस्तावमें प्राप्त हो रहे अर्थको प्रतिपादन करनेवाला यह सूत्र नहीं हो सके। अर्थात्—यह सूत्र प्रस्तावप्राप्त प्रकरणके अनुसार ही है। उस मनःपर्ययके स्वरूपका निश्चय तो " मतिः स्मृतिः " आदि सूत्रमें निरुक्ति करके ही कह दिया जा चुका है। मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम आदिक अन्तरंग, बहिरंगोंको निमित्तकारण पाकर परकीय मनोगत अर्थको चारों ओरसे आलम्बनकर आत्माके जो ज्ञान होता है, वह मनःपर्ययका स्वरूप है। तो फिर यहां कोई पूछे कि सूत्रकारने यह सूत्र किस लिये बनाया ? इसका उत्तर यह है कि प्रकरणमें निरूपण किये जा रहे बहिरंगकारण और भेदकी प्रसिद्धि करानेके लिये यह सूत्र अच्छे ढंगसे आरम्भा जा रहा है।

ऋज्वी मतिर्यस्य स ऋजुमतिः। विपुला मतिर्यस्य स विपुलमतिः। ऋजुमतिश्च विपुलमतिश्च ऋजुविपुलमती। एकस्य मतिशब्दस्य गम्यमानत्वाल्लोप इति व्याख्याने का सा ऋज्वी विपुला च मतिः किंप्रकारा च मतिशब्देन चान्यपदार्थानां वृत्तौ कोऽन्यपदार्थ इत्याह।

जिसकी बुद्धि ऋजु सरल बनायी गयी है वह मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति है, और जिसकी बुद्धि कुटिल भी बहुतसे अर्थोंको जाननेवाली है, वह विपुलमति है। ऋजुमति शब्द और विपुलमतिशब्द दो का इतर इतर योग करनेपर " ऋजुविपुलमति " इस प्रकार द्वन्द्व समासमें पद बन जाता है। दो मति शब्दोंमेंसे एक मति शब्दका अर्थ विना बोले ही जान लिया जाता है। अतः समास नियम अनुसार एक मति शब्दका लोप हो जाता है। इस प्रकार सूत्रके उद्देश्यदलका व्याख्यान करनेपर प्रश्न हो सकता है कि वे ऋजु और विपुल नामकी बुद्धियां कौनसी है ? और कितने भेदवाली हैं ? तथा मति शब्दके साथ ऋजु विपुलमति शब्दोंकी अन्य पदार्थोंको प्रधान करने वाली बहुव्रीहि नामक समास वृत्ति हो जानेपर बताओ कि वह अन्य पदार्थ कौन हैं ? जो कि ऋजुमति और विपुलमतिका वाच्य पडेगा। इस प्रकार कई जिज्ञासायें खडी करनेपर श्रीविद्यानंद आचार्य यथार्थ उत्तर कहते हैं।

निर्वर्तितशरीरादिकृतस्यार्थस्य वेदनात्।
ऋज्वी निर्वर्तिता त्रेधा प्रगुणा च प्रकीर्तिता ॥ २ ॥

ऋजु शब्दका अर्थ बनाया गया और सरल यों दोनों प्रकार अच्छा कहा गया है। सरलता पूर्वक काय, वचन, मन, द्वारा किये गये परकीय मनोगत अर्थका सम्वेदन करनेसे ऋजुमति तीन प्रकारकी कही गई है। अर्थात्—अपने या दूसरेके द्वारा सरलतापूर्वक शरीरसे किये गये, वचन

से बोले गये, और मनसे चींते गये अर्थको यदि कोई जीव मनमें विचार ले तो ऋजुमति मनःपर्यय उस मनमें चिंते गये पदार्थका ईहामतिज्ञानपूर्वक विकलप्रत्यक्ष कर लेता है। सरल और क्रिया गयापन, इन दोनों अर्थोंको घटितकर मन, वचन, काय, की अपेक्षासे ऋजुमतिके तीन भेद हो जाते हैं। जो कि मनमें चींते गये, ऋजुकायकृत अर्थको जाननेवाला, मनमें चींते गये ऋजुवाक्कृत अर्थको जाननेवाला और मनमें चींते गये ऋजुमनस्कृत अर्थको जाननेवाला ये तीन भेद हैं।

अनिर्वर्तितकायादिकृतार्थस्य च वेदिका।
विपुला कुटिला षोढा वक्रर्जुत्रयगोचरा ॥ ३ ॥

तथा काय, वचन, मन, इनसे किये गये परकीय मनोगत विज्ञानसे नहीं बनाई गई होकर सरल या कुटिल अथवा बहुतसे शरीर आदि कृत अर्थोंको जाननेवाली मति तो विपुला है। यह वक्र और सरलस्वरूपसे मन, वचन, काय, इन तीनोंके द्वारा किये गये मनोगत विषयोंको जानती हुयी वह छह प्रकारकी है।

एतयोर्मतिशब्देन वृत्तिरन्यपदार्थिका।
कैश्चिदुक्ता स चान्योऽर्थो मनःपर्यय इत्यसत् ॥ ४ ॥
द्वित्वप्रसंगतस्तत्र प्रवक्तुं धीधनो जनः।
न मनःपर्ययो युक्तो मनःपर्यय इत्यलम् ॥ ५ ॥

इन ऋजु और विपुल शब्दोंकी मति शब्दके साथ की गई अन्य पदार्थको प्रधान कहनेवाली बहुव्रीहि समास नामक वृत्ति किन्हीं विद्वानोंने कही है। और वह अन्यपदार्थ तो मनःपर्यय ज्ञान पडता है। अर्थात्—जिस मनःपर्यय ज्ञानकी मति ऋजु है और जिस मनःपर्यय ज्ञानकी मति विपुला है, वह ऋजुमति विपुलमति मनःपर्यय है, यों विग्रह किया गया है। आचार्य सिद्धान्त करते हैं कि इस प्रकार उन विद्वानोंका कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि यों वृत्ति करनेपर वहां मनःपर्यय शब्द में द्विवचन हो जानेका प्रसंग होगा। जैसे कि जिस पुरुषका धन बुद्धि है, वह "बुद्धिधनो जनः" या "धीधनः" है। यहां उद्देश्य दलके अनुसार जन शब्द एकवचन है। अतः अन्य पदार्थ हो रहे, मनःपर्यय ज्ञानके साथ वृत्ति करनेपर विधेयदलमें "मनःपर्ययः" इस प्रकार एकवचन कहना युक्त नहीं पडेगा। किन्तु "मनःपर्ययौ" यह कहना उस वृत्तिद्वारा अर्थ करनेमें समर्थ होगा। क्योंकि दो मनःपर्यय ज्ञानोंकी ऋजुमति और विपुलमति दो मतियां हैं।

यदात्वन्यौ पदार्थौ स्तस्तद्विशेषौ बलाद्गतौ।
सामान्यतस्तदेकोऽयमिति युक्तं तथा वचः ॥ ६ ॥

हां जब वे दो विशेष अन्य पदार्थ उस सामान्य एक मनःपर्ययकी शक्तिसे ही जान लिये गये मानलोगे तब तो तिस कारण यह मनःपर्यय शब्द तिस प्रकार एकवचन भी सामान्यरूपसे प्रयुक्त करना युक्त है। अतः बहुव्रीहि समास करनेपर भी एकवचन इस ढंगसे रक्षित रह सकता है, कोई क्षति नहीं है।

सामानाधिकरण्यं च न सामान्यविशेषयोः।
प्रबाध्यते तदात्मत्वात्कथंचित्संप्रतीतितः॥ ७॥

यहां कोई यदि यों शंका करे कि "ऋजुविपुलमती" तो द्विवचन पद है और "मनःपर्ययः" शब्द एकवचन है। अतः इनका समान अधिकरणपना नहीं बनेगा। किन्तु उद्देश्य विधेयदलमें समान विभक्तिवाले, समान लिंगवाले, समान वचनवाले, शब्दोंका ही सामानाधिकरण्य बन सकता है। अब आचार्य कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि सामान्य और विशेषमें हो रहा समानाधिकरणपना किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं होता है। क्योंकि सामान्य और विशेषोंका कथंचित् तदात्मकपना होनेके कारण समान अधिकरणपना भले प्रकार प्रतीत हो रहा है। "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" अथवा "साधोः कार्यं तपःश्रुते" "आद्ये परोक्षम्" "यूयम् प्रमाणम्" आदि प्रयोगोंमें बाधारहित होकर समानाधिकरणपना है। सामान्य प्रायः एकवचन और विशेष प्रायः द्विवचन, बहुवचन हुआ करते हैं।

येऽप्याहुः। ऋजुश्च विपुला च ऋजुविपुले ते च ते मतीति च स्वपदार्थवृत्तिस्तेन ऋजुविपुलमती विशिष्टे परिच्छिन्ने मनःपर्यय उक्तो भवतीति तन्नेदकथनं प्रतीयत इति तेषामप्यविरोधमुपदर्शयति।

जो भी कोई विद्वान् यों समास वृत्ति कर कह रहे हैं कि ऋजु और विपुला इस प्रकार इतर इतर योग करनेपर ऋजुविपुले बनता है। और वे ऋजुविपुलास्वरूप जो मति हैं, इस प्रकार अपने ही पदके अर्थोंको प्रधान रखनेवाली द्वन्द्वगर्भित कर्मधारय वृत्ति की गयी है। और तिस प्रकार करनेसे विशिष्ट हो रहे ऋजुमति और विपुलमतिज्ञान जाने जा रहे संते मनःपर्यय कथन कर दिये गये हो जाते हैं। यों उद्देश्यदलमें उस द्विवचन द्वारा भेदकथन करना प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार कह रहे उन विद्वानोंके यहां भी जैनसिद्धान्त अनुसार कोई विरोध नहीं आता है। इस बातको स्वयं ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी कुछ दिखला रहे हैं।

स्वपदार्था च वृत्तिः स्यादविरुद्धा तथा सति।
विशिष्टे हि मतिज्ञाने मनःपर्यय इष्यते॥ ८॥

तिस प्रकार उक्त कथन अनुसार समास वृत्ति करते संते भी स्वपदार्थप्रधाना कर्मधारयवृत्ति अविरुद्ध हो जावेगी। और तैसा होनेपर विशिष्ट हो रहे दो मनःपर्ययस्वरूप ऋजुमति और विपुलमतिनामक मतिज्ञान तो एक मनःपर्यय इस विधेयदलके साथ अन्वित इष्ट कर लिये हैं।

यथर्जुविपुलमती मनःपर्ययविशेषौ मनःपर्ययसामान्येनेति सामानाधिकरण्यमविरुद्धं सामान्यविशेषयोः कथंचित्तादात्म्यात्तथा संप्रतीतेश्च तद्वदृजुविपुलमती ज्ञानविशेषौ मनःपर्ययज्ञानमित्यपि न विरुध्यते मनःपर्ययज्ञानभेदाप्रतिपत्तेः प्रकृतयोः सद्भावाविशेषात्।

जिस प्रकार ऋजुमति और विपुलमति ये मनःपर्ययज्ञानके दो विशेष उस प्रकरणप्राप्त मनःपर्यय सामान्यके साथ इस प्रकार समान अधिकरणपनेको प्राप्त हो रहे विरुद्ध नहीं हैं। क्योंकि एक सामान्य और कतिपय विशेषोंको कथंचित् तदात्मकपना हो जानेसे तिस प्रकार दो एकमें या तीन एकमें अथवा एक तीनमें, एक दो आदिमें सामानाधिकरण्य भले प्रकार निर्णीत हो रहा है। उसीके समान ऋजुमति और विपुलमति ये जो दो ज्ञानविशेष हैं, वे एक मनःपर्यय ज्ञान है। इस प्रकार भी कथन करनेपर कोई विरोध प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि मनःपर्ययज्ञान सामान्य करके भेदकी प्रतिपत्ति नहीं होनेका सद्भाव इन प्रकरणप्राप्त ऋजुमति, विपुलमति दोनोंमें विद्यमान है। कोई अन्तर नहीं है। मनुष्यत्वकी अपेक्षासे ब्राह्मण, शूद्र, मात्रोंमें कोई अन्तर नहीं है। शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षमें चन्द्रिका बरोबर है। आगे, पीछे मात्र होनेसे जब शुक्ल, काला पक्ष कह देते हैं।

कथं बाह्यकारणप्रतिपत्तिरत्रेत्याह।

यहां कितने ही सूत्रोंमें ज्ञानके बाह्यकारणोंका विचार चला आ रहा है। तदनुसार आपने मनःपर्यय ज्ञानके बहिरंगकारणोंकी इस सूत्रद्वारा प्रसिद्ध होना कहा था, सो आप बतलाइये कि यहां बहिरंगकारणोंकी प्रतिपत्ति किस प्रकार हुयी ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर विद्यानंदस्वामी उत्तर कहते हैं।

परतोऽयमपेक्षस्यात्मनः स्वस्य परस्य वा।
मनःपर्यय इत्यस्मिन्पक्षे बाह्यनिमित्तवित् ॥ ९ ॥

अपने अथवा दूसरेके मनकी अपेक्षा रखता हुआ यह मनःपर्यय ज्ञान अन्य बहिरंगकारण मनसे उत्पन्न होता है। इस प्रकार इस व्युत्पत्तिके पक्षमें (होनेपर) बहिरंग निमित्तकारणकी ज्ञप्ति हो जाती है।

मनःपरीत्यानुसंधाय वायनं मनःपर्यय इति व्युत्पत्तौ बहिरंगनिमित्तकोऽयं मनःपर्यय इति बाह्यनिमित्तप्रतिपत्तिरस्य कृता भवति।

मनः+परि+इण+घञ्+सु मनः (मनःस्थित) का अनुसंधानकर जो प्रत्यक्ष जानता है, वह मनःपर्यय है। इस प्रकार व्युत्पत्ति करनेपर जिसका बहिरंग निमित्तकारण मन है, ऐसा यह मनःपर्ययज्ञान है। इस ढंगसे इस मनःपर्यय ज्ञानके बहिरंग निमित्तकी प्रतिपत्ति कर ली गयी है।

न मतिज्ञानतापत्तिस्तस्यैवं मनसः स्वयं।
निर्वर्तकत्ववैधुर्यादपेक्षामात्रतास्थितेः ॥ १० ॥

इस प्रकार मनस्वरूपनिमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण उस मनःपर्यय ज्ञानको मतिज्ञानपनेका प्रसंग हो जायगा, यह आपत्ति देना ठीक नहीं है। क्योंकि मानस मतिज्ञानको मन स्वयं बनाता है। किन्तु मनःपर्ययज्ञानका सम्पादन करनापना मनको प्राप्त नहीं है। केवल मनकी अपेक्षा है। अपेक्षामात्रसे स्थित हो रहे मनको मानसमतिज्ञानके समान मनःपर्ययका सम्पादकपना नहीं है। शुक्लपक्षकी प्रतिपदा या द्वितीयाका पतला चन्द्रमा जब स्थूल दृष्टिवालेको नहीं दीखता है तो चतुर पुरुषकरके शाखा या दो बादलोंके बीचमेंसे वह चन्द्रमा दिखा दिया जाता है। यहां शाखा या बादल अपेक्षणीय मात्र हैं। प्रेरककारण नहीं हैं। इसी प्रकार स्वकीय या परकीय मनका अवलंब लेकर प्रत्यक्ष ज्ञान कर लिया जाता है। जैसे कि किसी फूल, फल आदिका तुच्छ सहारा लेकर फलित ज्योतिषवाले विद्वान् भूत, भविष्यकी अनेक बातोंको आगमद्वारा बता देते हैं। अतः जिस ज्ञानमें मन प्रेरक होकर अंतरंग कारण है, वह मानसमतिज्ञान है। मनकी केवल अपेक्षा हो जानेसे ही मनःपर्ययमें मन कारण नहीं हो सकता है। बाह्यकारण भले ही मानलो। अध्ययनमें पुस्तक-कारण है। चौकी कारण नहीं है, भले ही पुस्तक रखनेके लिए चौकीकी अपेक्षा होय तो इससे क्या होता है।

क्षयोपशममाबिभ्रदात्मा मुख्यं हि कारणं।
तत्प्रत्यक्षस्य निर्वृत्तौ परहेतुपराङ्मुखः ॥ ११ ॥

उस मनःपर्यय प्रत्यक्षज्ञानकी उत्पत्ति करनेमें मुख्य कारण तो मनःपर्ययज्ञानावरणके क्षयो-पशमको सब ओरसे धार रहा आत्मा ही है। जो कि आत्मा अन्य इन्द्रिय, मन, ज्ञापक लिंग, व्याप्ति, संकेतस्मरण आदि दूसरे कारणोंसे पराङ्मुख हो रहा है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रतिबंधकोंसे रहित होता हुआ, केवल आत्मा ही कारण माना गया अनुभूत है। " अक्षं अक्षं प्रति " इति प्रत्यक्षं, केवल आत्माको ही कारण मानकर जो ज्ञान उपजता है, वह प्रत्यक्ष है।

मनोलिङ्गजतापत्तेर्न च तस्यानुमानता।
प्रत्यक्षलक्षणस्यैव निर्बाधस्य व्यवस्थितेः ॥ १२ ॥

व्याप्तिसहित हो रहे धूमसे उत्पन्न हुआ वह्निका ज्ञान जैसे अनुमान है, उसी प्रकार दूसरेके मनरूपी व्याप्त लिंगसे अन्यपनेका प्रसंग हो जानेसे उस मनःपर्ययज्ञानको अनुमानपना प्राप्त हो जाय, यह भी नहीं समझना। क्योंकि लिंगदर्शन, व्याप्तिस्मरणपूर्वक मनःपर्ययज्ञान नहीं हुआ है। किन्तु बाधाओंसे रहित होते हुये प्रत्यक्ष प्रमाणके लक्षणकी ही मनःपर्ययमें समीचीन व्यवस्था हो रही है। " इन्द्रियानिंद्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षं " अथवा " प्रतीत्यंतराव्यवधानेन विशेषतया वा प्रतिभासनं वैशद्यं प्रत्यक्षम् " तथा "अक्षमात्मानमेव प्रतिनियतं प्रत्यक्षं" ये प्रत्यक्षके लक्षण बाधारहित होते हुए मनःपर्ययमें घटित हो जाते हैं। परोक्ष हो रहे मानसमतिज्ञानमें उक्त लक्षण नहीं सम्भवते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्षका लक्षण एक भले ही किसी किसी तीव्र सुख, दुःख, उत्कट अभिलाषा प्रकृष्टज्ञान, आदि व्यावहारिकका प्रत्यक्ष करनेमें घट जाय, किन्तु अनेक अर्थपर्यायों और धर्म अधर्म द्रव्योंके हो रहे परोक्ष मानसमतिज्ञानोंमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्षका लक्षण नहीं वर्तता है। दूसरी बात यह है कि मुख्य प्रत्यक्षोंमें व्यवहार प्रत्यक्षके लक्षण घटानेकी हमें कोई आवश्यकता नहीं दीखती है। प्रत्यक्षके दो सिद्धांत लक्षण यहां मनःपर्ययमें पुष्ट घटित हो जाते हैं।

नन्वेवं मनःपर्ययशब्दनिर्वचनसामर्थ्याद्वाह्यप्रतिपत्तिः कथमतः स्यादित्याह ।

पुनः किसीकी शंका है कि इस प्रकार मनःपर्यय शद्बकी इस निरुक्तिके बलसे ही उस मनःपर्ययके बाह्य कारणोंकी प्रतिपत्ति भला कैसे हो जायगी ? बताओ। क्या व्याघ्र या कुशलशद्बका निर्वचन कर देनेसे ही उनके बहिरंगकारणोंकी ज्ञप्ति हो जाती है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज वार्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं।

यदा परमनः प्राप्तः पदार्थो मन उच्यते ।
तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यसंसिद्धेर्मंचक्रोशनवत्तदा ॥ १३ ॥
तस्य पर्ययणं यस्मात्तद्वा येन परीयते ।
स मनःपर्ययो ज्ञेय इत्युक्तेस्तत्स्वरूपवित् ॥ १४ ॥

जिस समय पराये मनमें प्राप्त हो रहा पदार्थ " मन " ऐसा कहा जाता है। क्योंकि तद्में स्थित हो रहे होनेके कारण तत् शद्बपना भले प्रकार सिद्ध हो रहा है। जैसे कि " मञ्चाः क्रोशन्ति " मचान गा रहे हैं, या चिल्ला रहे हैं, यहां खेतोंमें या वगीचोंमें पशु, पक्षियोंके भगाने, उडानेके लिये बांध लिये गये मंचोंपर बैठे हुये मनुष्योंके शद्ब करनेपर मचानोंका शद्ब करना व्यवहृत हो रहा है। आखेट करनेवाले पुरुष वनमें भी वृक्षोंपर मचान बांधकर शद्ब मचाते हैं। यहां मंचस्थमें मंचका व्यपदेश है। बम्बईमें होनेवाले केलाको बम्बई केला कह देते हैं। चावडीके रहनेवाले यात्रियोंके डेरेको चावडीका डेरा कह देते हैं। तदनुसार यहां भी मनमें स्थित

हो रहे पदार्थको मन कहकर उस मनका जिस ज्ञानसे विशदरूप करके प्रत्यक्ष कर लेना जब मनःपर्यय कहा जा रहा है, तब वह मन बाह्यकारण जान लिया जाता है। अथवा जिस ज्ञान करके वह मन (मनः स्थित अर्थ) चारो ओरसे जान लिया गया है, वह मनःपर्ययज्ञान समझने योग्य है। इस प्रकार कथन करनेसे उस बहिरंगकारण मनके स्वरूपकी समीचीन विज्ञप्ति हो जाती है। अतः मनःपर्यय शब्दकी षष्ठी तत्पुरुष अथवा बहुव्रीहि वृत्ति द्वारा निरुक्ति करनेपर मनको बहिरंगकारणपना जान लिया जाता है। सभी शब्दोंकी निरुक्तिसे ही उनके वाच्यार्थोंका बहिरंग कारण ज्ञात नहीं हो जाता है। फिर भी काययोग, वातातप, औपशमिक, आदि शब्दोंकी निरुक्तिसे अन्तरंग, बहिरंग, कारण कुछ कुछ ध्वनित हो जाते हैं। सूत्रकार द्वारा कहे शब्दोंकी अकलंक-वृत्तियां तो अनेक अर्थोंको वहींसे निकाल लेती हैं।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रके प्रकरण यों हैं कि प्रथम ही क्रमप्राप्त मनःपर्ययके भेद और बहिरंगकारणोंका निरूपण करनेके लिये सूत्रका परिभाषण आवश्यक बताकर ऋजुमति, विपुलमति शब्दोंका विग्रह किया है। तथा अन्वयार्थको बताकर निर्वर्तित अनिर्वर्तित अथवा ऋजु, वक्र, अर्थकर ऋजुमति, विपुलमति शब्दद्वारा ही मनःपर्ययके भेदोंका लक्षण कर दिया गया है। भिन्न वचन होते हुये भी सामानाधिकरण्य बन सकता है। सामान्यका विशेषोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि और स्वपदार्थप्रधान तत्पुरुष समास यहां ये दोनों वृत्तियां इष्ट हैं। मनःपर्ययका प्रधानकारण क्षयोपशमविशिष्ट आत्मा है, दूसरेका या अपना मन तो अवलंब मात्र है। बहिरंगनिमित्त भले ही कहलो, नैयायिकोंके समान हम जैन यावद् ज्ञानोंमें आत्ममनः-संयोगको असमवायिकारण नहीं मानते हैं। मनःपर्ययज्ञानके मतिज्ञानपन और अनुमानपनके प्रसंगका निवारणकर मुख्य प्रत्यक्षपना घटित कर दिया है। उसमें ठहरनेवाला पदार्थ भी उपचारसे वह कह दिया जाता है। तदनुसार मनमें स्थित हो रहे अर्थको विषय करनेवाला ज्ञान मनःपर्यय भले प्रकार साध दिया गया है। ऋजुमति मनःपर्यय सात आठ योजन दूरतकके पदार्थोंका विशद प्रत्यक्ष कर लेता है और विपुलमति तो चतुरस्र मनुष्यलोकमें स्थित हो रहे पदार्थोंको प्रत्यक्ष जान लेता है। कोई जीव यदि मनमें नंदीश्वर द्वीप या पांचवें स्वर्गके पदार्थोंका चिन्तवन कर ले-तो उनको मनः-पर्ययज्ञानी प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है। द्रव्यकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञानी कार्मण द्रव्यके अनन्तमें भाग को जानता है। सर्वावधिके द्वारा कार्माणद्रव्यका अनन्तवां भाग जाना गया था उसका भी अनन्तवां भाग विपुलमति करके जाना जाता है। यह पिण्डस्कन्ध है। किन्तु गोम्मटसारकारने सर्वावधिका द्रव्य अपेक्षा विषय एक परमाणु मान लिया है। इस सूक्ष्म चर्चाका निर्णय करनेमें अस्मादृश मन्द

बुद्धियोंको अधिकार प्राप्त नहीं है । इसका विशेष वर्णन अन्य ग्रंथोंमें किया है । इस प्रकार मनःपर्ययके स्वरूप, भेद, बहिरंगकारणोंका निर्णय कर उसका श्रद्धान कर लेना चाहिये ।

द्रव्यक्षेत्रसुकालभावनियतो बाह्यं निमित्तं मनो–
पेक्षामात्रमितस्तदाश्रितसतस्ताच्छब्ध्यनीत्या विदन् ।
निर्वृत्तप्रगुणर्जुबुद्धिकुटिलानिर्वृत्तवैपुल्यभृ–
द्बुद्धीदर्शनऋद्धिसंयमवतो जीयान्मनःपर्ययः ॥ १ ॥

अग्रिम सूत्रका अवतरण यों समझलिया जाय कि इन ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानोंमें परस्पर कोई विशेषता नहीं है ? इस प्रकार शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराजके अमृतमय मुखकुम्भसे रसायनसमान सूत्रबिन्दुका संतप्त हृदय भव्यजीवोंके संसाररोग निवारणार्थ निष्कासन होता है ।

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

आत्माके साथ पहिलेसे बंधे हुये मनःपर्ययज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर जो आत्माकी प्रसन्नता होती है, वह विशुद्धि है तथा मोहनीयकर्मका उद्रेक नहीं होनेके कारण संयमशिखरसे प्रतिपात नहीं हो जाना अप्रतिपात है । विशुद्धि और अप्रतिपात इन दो धर्मों करके उन ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानोंका विशेष है । ज्ञानावरणकर्मकी उत्तर उत्तर प्रकृतियां असंख्यात हैं । अतः अन्तरंगकारणके अधीन हो रही ऋजुमतिकी विशुद्धतासे विपुलमतिकी विशुद्धि बढी हुयी है । विपुलमति गुणश्रेणियोंमें उत्तरोत्तर चढता ही चला जाता है । किन्तु ऋजुमतिका गुणश्रेणीसे अधोगुणस्थानमें पतन हो जाता है, उपशमश्रेणीसे गिरना अनिवार्य है ।

ननु ऋजुविपुलमत्योः स्ववचनसामर्थ्यादेव विशेषप्रतिपत्तेस्तदर्थमिदं किमारभ्यत इत्याशंकायामाह ।

किसीकी शंका है कि ऋजुमति और विपुलमति ज्ञानोंके अपने अपने न्यारे न्यारे अर्थोंके अभिधायक वचनोंकी सामर्थ्यसे ही दोनोंके विशेषोंकी प्रतिपत्ति हो चुकी थी । निरुक्ति द्वारा लभ्य अर्थ ही जब अन्तर डाल रहा है तो फिर उस विशेषकी ज्ञप्ति करानेके लिये यह सूत्र क्यों बनाया जा रहा है ? पुनरुक्तदोषके साथ व्यर्थपना भी प्रसंग प्राप्त होता है । इस प्रकार आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी उत्तर कहते हैं ।

मनःपर्यययोरुक्तभेदयोः स्ववचोबलात् ।
विशेषहेतुसंवित्तौ विशुद्धीत्यादिसूत्रितम् ॥ १ ॥

यद्यपि सरल या सम्पादित और सरल, कुटिल, सम्पादित, असम्पादित, मनोगत विषयोंको जाननेकी अपेक्षा अपने वाचक ऋजु और विपुल शब्दोंकी सामर्थ्यसे निरुक्तिद्वारा ही दोनों मनः-पर्ययोंके परस्पर भेद कहे जा चुके हैं, फिर भी उन दोनोंकी अन्य विशेषताओंके कारणोंका सम्वेदन करानेके निमित्त " विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः " यह सूत्र श्री उमास्वामी महाराजने आरब्ध किया है।

नर्जुमतित्वविपुलमतित्वाभ्यामेवर्जुविपुलमत्योर्विशेषोऽत्र प्रतिपाद्यते। यतोनर्थकमिदं स्यात्। किं तर्हि विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तयोः परस्परं विशेषान्तरमिहोच्यते ततोऽस्य साफल्यमेव।

इस वार्त्तिकका विवरण यों है कि ऋजुमतिपन और विपुलमतिपन करके ही ऋजुमति और विपुलमतिका विशेष (अन्तर) यहां सूत्र द्वारा नहीं समझाया जा रहा है, जिससे कि यह सूत्र व्यर्थ पड जाय। तो फिर क्यों कहा जाता है ? इसका उत्तर यों है कि विशुद्धि और अप्रतिपात करके भी उन ऋजुमति और विपुलमति ज्ञानोंका परस्परमें नवीन प्रकारका दूसरा विशेष है, जो कि यहां इस सूत्रद्वारा कहा जा रहा है। तिस कारण श्री उमास्वामी महाराज द्वारा कहे गये इस सूत्रकी सफलता ही समझो अर्थात्—दोनोंके पूर्व उक्त विशेषोंसे भिन्न दूसरे प्रकारके विशेषोंको यह सूत्र कह रहा है।

का पुनर्विशुद्धिः कश्चाप्रतिपातः को वानयोर्विशेष इत्याह।

फिर किसीका प्रश्न है कि विशुद्धि तो क्या पदार्थ है ? और अप्रतिपात क्या है ? तथा इनका विशेष क्या है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्दस्वामी उत्तर कहते हैं।

आत्मप्रसत्तिरत्रोक्ता विशुद्धिर्निजरूपतः।
प्रच्युत्य संभवश्चास्याप्रतिपातः प्रतीयते ॥ २ ॥
ताभ्यां विशेष्यमाणत्वं विशेषः कर्मसाधनः।
तच्छब्देन परामर्शो मनःपर्ययभेदयोः ॥ ३ ॥

इस प्रकरणमें प्रतिपक्षी कर्मोंके विगमसे उत्पन्न हुयी आत्माकी प्रसन्नता (स्वच्छता) तो विशुद्धि मानी गयी है। और इस आत्माका अपने स्वरूपसे प्रच्युत नहीं हो जाना यहां अप्रतिपात धर्म प्रतीत हो रहा है। उन धर्मोंके द्वारा विशेषताओंको प्राप्त हो रहापन यहां विशेष कहा गया है। क्योंकि यहां वि उपसर्गपूर्वक शिषधातुसे कर्ममें घञ्प्रत्यय कर विशेष शब्द साधा गया है। तद्विशेषःमें कहे गये पूर्वपरामर्शक तत् शब्द करके मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति इन दो भेदोंका परामर्श किया गया है। इस प्रकार सूत्रका वाक्यार्थ बोध अच्छा बन गया।

तयोरेवर्जुविपुलमत्योर्विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां विशेषोऽवसेय इत्यर्थः।

ऋजुमति और विपुलमति नामक उन मनःपर्ययके भेदोंका ही विशुद्धि और अप्रतिपात करके विशेष किया जाना निर्णीत कर लेना चाहिये। " तयोरेव विशेषः " इस प्रकार अवधारण लगाकर अर्थ किया गया समझो।

ननूत्तरत्र तद्भेदास्थिताभ्यां स विशिष्यते।
विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां पूर्वस्तु न कथंचन ॥ ४ ॥
इत्ययुक्तं विशेषस्य द्विष्ठत्वेन प्रसिद्धितः।
विशिष्यते यतो यस्य विशेषः सोऽत्र हीक्षते ॥ ५ ॥

सूत्रके प्रसिद्ध हो रहे अर्थपर किसीकी शंका है कि पूर्वसूत्रमें " ऋजुविपुलमती " शब्द द्वारा कहा गया वह विपुलमति ही उत्तर सूत्रमें उनके भेद करनेमें स्थित हो रहे विशुद्धि और अप्रतिपातकरके विशेषित किया जा सकता है। किंतु पहिला ऋजुमति तो किसी भी प्रकारसे विशुद्धि और अप्रतिपात करके विशेषित नहीं किया जा सकता है। जैसे कि सत्स्वरूप करके घटसे पटको भिन्न माना जायगा तो एक पटको ही असत्पना प्राप्त होता है। घट तो अक्षुण्ण सत् बना रहता है। इसी प्रकार विशुद्धि और अप्रतिपात ये सूत्र पाठकी अपेक्षा और वैसे भी स्वभावसे विपुलमतिके तदात्मक धर्म हैं। ऋजुमतिके नहीं। अतः विपुलमति तो विशेष युक्त हो जायगा। किन्तु ऋजुमति विशेषताओंसे रहित पड़ा रहेगा। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार शंका करना अयुक्त है। क्योंकि संयोग विभाग द्वित्व त्रित्व संख्याके समान विशेष पदार्थ भी दो आदि अधिकरणोंमें स्थित हो रहेपन करके प्रसिद्ध हो रहा है। आम और अमरूदकी विशेषता दोमें रहती है। विभाग किया जाय, जिससे अथवा जिसका विभाग किया जाय, इस निरुक्तिकरके विभाग विचारा ग्राम और देवदत्त दोनोंमें रह जाता है। इसी प्रकार जिससे जो विशेषित किया जाय वह अथवा जिस पदार्थका विशेष होय वह विशेष है, यह ढंग यहां अच्छा दीख रहा है। अतः विपुलमति और ऋजुमति दोनों परस्परमें विशुद्धि, अप्रतिपात द्वारा विशेषसे आक्रान्त हो जावेंगे। भले ही एक ऋजुमतिमें वे धर्म नहीं पाये जावें, तभी तो विशेषताकी पुष्टि भी होगी। यदि वे धर्म दोनोंमें पाये जाते तो फिर विशेषता क्या होती ! कुछ भी नहीं। वैशेषिक मतानुसार द्वित्व या त्रित्वसंख्या एक होकर भी पर्याप्ति संबंधसे दो तीन द्रव्योंमें ठहर जाती है। किन्तु संयोग, द्वित्व, त्रित्व आदि गुण विचारे न्यारे न्यारे होकर सत्र न्यायसम्बन्धसे भिन्न भिन्न द्रव्योंमें ठहरते हैं। शाखापर बन्दरका संयोग हो जानेपर अनुयोगितासम्बन्धसे संयोग शाखामें रहता है। और प्रतियोगितासम्बन्धसे संयोग कपिमें ठहरता है।

पाठापेक्षयोत्तरो मनःपर्ययस्य भेदो विपुलमतिस्तद्गताभ्यां विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां स एव पूर्वस्मात्तद्भेदादृजुमतेर्विशिष्यते न पुनः पूर्वउत्तरस्मात्कथमपीत्ययुक्तं विशेषस्योभयत्वेन प्रसिद्धेः। यतो विशिष्यते स विशेषो यश्च विशिष्यते स विशेष इति व्युत्पत्तेः। विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां चोत्तरतद्भेदगताभ्यां पूर्वो यथोत्तरस्माद्विशिष्यते तथा पूर्वतद्भेदगाभ्यामुत्तर इति सर्वं निरवद्यं।

सूत्रके पाठकी अपेक्षासे उत्तरमें वर्त रहा मनःपर्ययका भेद विपुलमति है। उस विपुलमतिमें प्राप्त हो रहे विशुद्धि और अप्रतिपातकरके वह विपुलमति ही पूर्ववर्ती उस मनःपर्ययके भेद ऋजुमतिसे विशेषताको प्राप्त हो सकेगा। किन्तु फिर पूर्ववर्ती ऋजुमति तो उत्तरवर्त्ती विपुलमतिसे कैसे भी विशेषताको प्राप्त नहीं हो सकता है। इस प्रकार किसीका कहना युक्तियोंसे रीता है। कारण कि विशेषकी दोनोंमें ठहरनेवालेपन करके प्रसिद्धि हो रही है। जिससे विशेषताको प्राप्त होता है, वह पंचमी विभक्तिवाला भी विशेष है, और जो पदार्थ विशिष्ट हो रहा है, वह प्रथमा विभक्तिवाला पद भी विशेष है। इस प्रकार विशेष पदकी व्युत्पत्ति करनेसे प्रतियोगी, अनुयोगी दोनोंमें रहनेवाले दोनों विशेष पकडे जाते हैं। जिसकी ओरसे विशेषता आती है, वह और जिस पदार्थमें विशेषता आकर बैठ जाती है, वे दोनों पदार्थ परस्परमें किसी विवक्षित धर्मद्वारा विशेषसे घिरे हुये माने जाते हैं। उस मनःपर्ययके उत्तरवर्ती भेदस्वरूप विपुलमतिमें प्राप्त हो रहे विशुद्धि और अप्रतिपात करके जिस प्रकार पूर्ववर्ती ऋजुमति विशेषित कर दिया जाता है, उसी प्रकार उस मनःपर्ययके पूर्ववर्ती-भेद ऋजुमतिमें प्राप्त हो रहे, प्रतियोगितावच्छिन्न विशुद्धि और अप्रतिपातके उन अल्पविशुद्धि और प्रतिपात करके उत्तरवर्ती विपुलमति भी विशेषित हो जाता है। इस प्रकार सभी सिद्धान्त निर्दोष होकर सध जाता है। चेतनपनेकरके जीव जडसे भिन्न है। यहां जड और जीव दोनोंमें भेद ठहर जाता है। क्योंकि अचेतनपने करके जड भी जीवसे भिन्न है। यह अर्थात्-आपन्न हो जाता है।

ननु चर्जुमतेर्विपुलमतिर्विशुद्ध्या विशिष्यते तस्य ततो विशुद्धतरत्वान्मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षादुत्पन्नत्वात्। अप्रतिपातेन च तत्स्वामिनामप्रतिपातिसंयमत्वेन तत्संयमगुणैकार्थसमवायित्वेन विपुलमतेरप्रतिपाताद्विपुलमतेस्तु कथमृजुमतिर्विशिष्यते ? ताभ्यामिति चेदस्त्वविशुद्ध्याल्पया प्रतिपातेन चेति गम्यताम्। विपुलमत्यपेक्षयर्जुमतेरल्पविशुद्धित्वात्तत्स्वामिनामुपशान्तकषायाणामपि सम्भवत्प्रतिपतत्संयमगुणैकार्थसमवायिनः प्रतिपातसम्भवादिति प्रपंचितमस्माभिरन्यत्र।

उक्त सिद्धान्तोंमें किसीकी शंका है कि ऋजुमतिसे विपुलमति तो विशुद्धिद्वारा विशेषित किया जा सकता है। क्योंकि उस विपुलमतिको उस ऋजुमतिसे अधिक विशुद्धपना है। कारण कि मनःपर्यय ज्ञानावरणका प्रकर्ष क्षयोपशम हो जानेसे विपुलमति उत्पन्न होता है। सूत्रमें पडी हुयी

विशुद्धिका अर्थ विपुलमतिमें प्राप्त हो रही प्रकृष्ट विशुद्धि ली गयी है। तथा अप्रतिपात करके भी विपुलमतिज्ञान उस ऋजुमतिसे विशेषताग्रस्त है। क्योंकि उस विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानके स्वामियोंका बढ रहा संयम पतनशील नहीं है। अतः उस वर्द्धमान संयमगुणके साथ एकार्थसमवाय संबंधवाला होनेके कारण विपुलमतिका प्रतिपात नहीं होता है। अर्थात्—जिसी आत्मामें चारित्र गुणका परिणाम संयम वृद्धिगत हो रहा है, उसी ऋद्धिप्राप्त आत्मामें चेतनागुणका मनःपर्यय परिणाम हो रहा है। अतः भाईयोंके सहोदरत्व संबंधके समान संयम और मनःपर्ययका परस्परमें एकार्थसमवाय संबंध है। इस संबंधसे मनःपर्ययज्ञान संयममें रह जाता है। और संयमगुण इस मनःपर्ययज्ञानमें वर्तजाता है। ये सब बातें विपुलमतिमें ऋजुमतिकी अपेक्षासे विशेषताओंको करनेके लिये उपयोगी हो रही हैं। किन्तु विपुलमतिसे ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान तो उन विशुद्धि और अप्रतिपात करके भला कैसे विशेषताओंसे परिपूर्ण हो सकता है ! क्योंकि ऋजुमतिमें तो अधिक विशुद्धि और अप्रतिपात नहीं पाये जाते हैं। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार प्रविष्ट होकर शंका करनेपर तो सिद्धान्त उत्तर (वरदान) यह है कि अपनी अल्प विशुद्धि और प्रतिपात करके ऋजुमति ज्ञान विपुलमतिसे विशेषताग्रस्त है। इस प्रकार प्रकार अपने चित्तमें अवधारण कर लो। उक्त शंकाका जगत्में इसके अतिरिक्त अन्य कोई उत्तर नहीं है। मीठेपन करके आम्रफल करेलासे विशिष्ट है। ऐसा प्रयोग करनेपर आपाततः दूसरा वाक्य उपस्थित हो जाता है कि करेला कडुवेपन करके आम्रफलसे विशिष्ट है। अपादानतावच्छेदक धर्म और प्रतियोगितावच्छेदक धर्म न्यारे न्यारे मानना अनिवार्य हैं। विपुलमतिकी अपेक्षासे ऋजुमतिज्ञान अल्प विशुद्धिवाला है। क्योंकि उस ऋजुमतिके अधिकारी स्वामी भले ही छठेसे आरम्भकर उपशान्त कषायवाले ग्यारहवें गुणस्थानतकमें यथायोग्य ठहरनेवाले हैं। तो भी वहां सम्भव रहे प्रतिपतनशील संयमगुणके साथ एकार्थसमवाय सम्बन्धको धारनेवाले ऋजुमतिका प्रतिपात होना सम्भव रहा है। इस कारण ऋजुमति भी अपनी अल्पविशुद्धि और प्रतिपात करके विपुलमतिसे विशेषताओंको धारकर उच्चग्रीव होकर खडा हुआ है। बडोंसे छोटे पुरुष भी विशिष्ट हो जाते हैं। स्निग्ध पेडोंसे रूक्षचणक विलक्षण है। यह सिद्धान्त हमने अन्य विद्यानन्द महोदय आदि ग्रन्थोंमें विस्तारके साथ साध दिया है। विशेष व्युत्पत्ति चाहनेवालोंको वहांसे देखकर सन्तोष कर लेना चाहिये।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रके भाष्यमें प्रकरण यों है कि ऋजुमति और विपुलमति शब्दोंकी निरुक्तिसे जितने विशेष प्रकट हो सकते हैं, उनसे अतिरिक्त भी विशेषोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रका आरम्भ करना आवश्यक बताकर विशुद्धि और अप्रतिपातका लक्षण किया है। तत् शब्दसे मनःपर्ययके

दो भेदोंका परामर्श किया गया है। विशेषका रहना दोमें बताकर भी यह शंका खडी रहती है कि ऋजुमतिकी अपेक्षासे विपुलमति तो विशुद्धि और अप्रतिपात करके विशेषाक्रान्त हो जायगा। क्योंकि सूत्रकारने स्वयं विपुलमतिके विशेष धर्मोका कण्ठोक्त प्रतिपादन कर दिया है। वक्रता अवगाही महान् विपुलबुद्धिके गुणोंकी विशेषताओंको बडे बडे पुरुष भी बखान देते हैं। किन्तु ऋजुविषयी सरल ऋजुमतिकी विशेषताओंका कंठोक्त उच्चारण नहीं किया गया है। अतः ऋजुमतिसे विपुलमतिकी विशेषताऐं तो जान ली जायगी, किन्तु विपुलमतिसे ऋजुमतिकी विशेषताऐं जानना अशक्य है। इस शंकाका उत्तर श्रीविद्यानन्द आचार्यने बहुत अच्छा दे दिया है। गम्यमान अनेक विषयोंका उच्चारण नहीं करना ही महान् पुरुषोंकी गम्भीरताका प्रद्योतक है। साहित्यवालोंने " वक्रोक्तिः काव्यजीवितं " स्वीकार किया है। सिद्धान्त यह है कि सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजके वचनोंमें इतना प्रमेय भरा हुआ है कि राजवार्तिक, श्लोकवार्तिकसारिखी अनेक टीकायें भी बना ली जांय तो भी बहुतसा प्रमेय बच रहेगा। अल्पविशुद्धि और प्रतिपात इन दो धर्मोकरके ऋजुमतिज्ञान भी विपुलमतिसे विशेष विशिष्ट है। ये दोनों मनःपर्ययज्ञान सम्यग्दृष्टी, संयमी तथा ऋद्धियोंको प्राप्त हो चुके किन्हीं किन्हीं वर्द्धमानचारित्रवाले मुनियोंके होते हैं। श्रेणिओंमें उपयोग आत्मक तो श्रुतज्ञान वर्त रहा है। एकाग्र किये गये अनेक श्रुतज्ञानोंका समुदाय ध्यान पडता है। अतः मोक्ष उपयोगी तो श्रुतज्ञान है। परमावधि, सर्वावधि, ऋजुमति, विपुलमति, इनमेंसे कोई भी ज्ञान आत्मध्यानमें विशेष उपयोगी नहीं है। रूपी पदार्थका पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेनेपर भी हमें क्या लाभ हुआ ? यानी कुछ भी नहीं। किसी किसी केवलज्ञानीको तो पूर्वमें अवधि, मनःपर्यय कोई भी प्राप्त नहीं हुये, मात्र श्रुतज्ञानसे सीधा केवलज्ञान हो गया फिर भी इन ज्ञानोंके सद्भावोंका निषेध नहीं किया जा सकता है। ऋजुमतिका प्रतिपात होना सम्भवित है। विपुलमतिका नहीं। अधिक विस्तारको आकर ग्रन्थोंमें देखो।

विशुद्ध्यप्रतिपाताल्पविशुद्धिप्रतिपातनैः।
ऋजोर्विपुलश्चैतस्माद्दृष्टिर्विशेषितः ॥ १ ॥

—*—

मनःपर्ययके विशेष भेदोंका ज्ञान कर अब अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानकी विशेषताओंकी जिज्ञासा रखनेवाले शिष्योंके प्रति श्री उमास्वामी महाराजके हृदय मंदिरसे शब्दमयी सूत्रमूर्तिका अभ्युदय होता है।

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥ २५ ॥

आत्मप्रसाद, ज्ञेयाधिकरण, प्रभु और विषयोंकी अपेक्षासे अवधिज्ञान तथा मनःपर्यय ज्ञानमें विशेष (अन्तर) है।

विशेष इत्यनुवर्तते । किमर्थमिदमुच्यते इत्याह ।

ऊपरके " विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः " इस सूत्रमेंसे विशेष इस शब्दकी अनुवृत्ति कर ली जाती है ।

श्री उमास्वामी महाराजकरके यह सूत्र किस प्रयोजनको साधनेके लिये कहा जा रहा है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान कहते हैं ।

कुतोऽवधेर्विशेषः स्यान्मनःपर्ययसंविदः ।
इत्याख्यातुं विशुद्ध्यादिसूत्रमाह यथागमं ॥ १ ॥

मनःपर्ययज्ञानका अवधिज्ञानसे अथवा अवधिज्ञानका मनःपर्ययज्ञानसे विशेष किन किन विशेषकोंसे हो सकेगा ? इस बातको बखाननेके लिये सूत्रकार " विशुद्धिक्षेत्रस्वामि " आदि सूत्रको आर्ष आगमका अतिक्रमण नहीं कर स्पष्ट कह रहे हैं ।

विशुद्धिरुक्ता क्षेत्रं परिच्छेद्याद्यधिकरणं स्वामीश्वरो विषयः परिच्छेद्यस्तैर्विशेषोऽवधिमनःपर्ययोर्विशेषः ।

" विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः " इसमें विशुद्धिका लक्षण कह दिया गया है । जानने योग्य अथवा छद्मस्थोंके अवक्तव्य, अज्ञेय आदि पदार्थोंके अधिकरणको क्षेत्र कहते हैं । अधिकारी प्रभु स्वामी कहा जाता है । ज्ञानद्वारा जानने योग्य पदार्थ विषय है । यों उन विशुद्धि आदिकों करके अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इनका परस्परमें विशेष है ।

कथमित्याह ।

वह दोनोंका विशेष किस प्रकार है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकोंद्वारा विवेचन करते हैं ।

भूयःसूक्ष्मार्थपर्यायविन्मनःपर्ययोऽवधेः ।
प्रभूतद्रव्यविषयादपि शुद्ध्या विशेष्यते ॥ २ ॥

बहुतसे द्रव्योंको विषय करनेवाले भी अवधिज्ञानसे बहुतसी सूक्ष्म अर्थपर्यायोंको जाननेवाला मनःपर्ययज्ञान विशुद्धि करके विशेषित कर दिया जाता है । अर्थात्—अवधिज्ञान भले ही बहुतसे द्रव्योंको जान ले, किन्तु द्रव्यकी सूक्ष्म अर्थपर्यायोंको मनःपर्ययज्ञान अधिक जानता है । अवधिज्ञानसे जाने हुये रूपीद्रव्यके अनन्तवें भागको मनःपर्यय जान लेता है । जैसे कि कोई चंचुप्रवेशी विद्वान् थोडा थोडा न्याय, व्याकरण, धर्मशास्त्र, कोष, काव्य, साहित्य, उपदेशकला, लेखनकला, वैद्यक, ज्योतिष आदिको जान लेता है । किन्तु कोई प्रौढ विद्वान् व्याकरण, न्याय आदिमेंसे किसी एक ही

शास्त्रका पूर्णरूपसे अध्ययन कर व्याख्यान करता है। इसी प्रकार सर्वावधिका द्रव्य अपेक्षा विषय बहुत है। श्री नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने तो सर्वावधिका द्रव्य एक परमाणु नियत किया है। फिर भी भावकी अपेक्षा बहुतसी अर्थपर्यायोंको विपुलमति जितना जानता है, उतना सर्वावधि नहीं जानता है। अतः अधिक विशुद्धिवाला मनःपर्ययज्ञान अल्पविशुद्धिवाले अवधिज्ञानसे विशिष्ट है। और न्यून विशुद्धिवाला अवधिज्ञान उस विपुलविशुद्धिवाले मनःपर्ययसे विशेष आक्रान्त है। द्रव्यक्षेत्र अपेक्षा अधिक भी द्रव्योंको जाननेवाले क्षयोपशमसे भावापेक्ष सूक्ष्मपर्यायोंको जाननेवाला क्षयोपशम प्रकृष्ट विशुद्ध है।

क्षेत्रतोऽवधिरेवातः परमक्षेत्रतामितः।
स्वामिना त्ववधेः सः स्याद्विशिष्टः संयतः प्रभुः ॥ ३ ॥

क्षेत्रकी अपेक्षासे तो अवधिज्ञान ही इस मनःपर्ययसे परम उत्कृष्ट क्षेत्रवालेपनको प्राप्त हो रहा है। अर्थात्—सम्भावनीय असंख्यात लोकस्थरूपी पदार्थोंको जाननेकी शक्तिवाला अवधिज्ञान ही केवल मनुष्य लोकस्थ पदार्थोंको विषय करनेवाले मनःपर्ययसे विशेषित है। इस तीन सौ तेतालीस घन रज्जु प्रमाण लोकके समान यदि अन्य भी असंख्याते लोक होते तो वहांके रूपी पदार्थोंको भी अवधिज्ञान जान सकता था। किन्तु मनःपर्यय ज्ञान तो केवल चौकोर मनुष्य लोकमें ही स्थित हो रहे पदार्थोंको विषय कर सकता है। अतः क्षेत्रकी अपेक्षा अवधिज्ञान ही मनःपर्ययसे प्रकृष्ट है। तथा स्वामीकरके तो वह मनःपर्ययज्ञान ही अवधिज्ञानसे उत्कृष्ट है। क्योंकि अवधिज्ञान तो चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ हो जाता है। चारों गतियोंमें पाया जाता है। किन्तु मनःपर्यय छठेसे ही आरम्भ होकर किसी किसी ऋद्धिधारी मुनिके उत्पन्न होता है। अतः जिसका स्वामी संयमी है, ऐसा मनःपर्ययज्ञान उस असंयमीके भी पायी जानेवाली अवधिसे विशिष्ट है। सर्वावधिके ईश्वरसे भी विपुलमतिका संयमी स्वामी प्रकृष्ट है।

विषयेण च निःशेषरूप्यरूप्यर्थगोचरः।
रूप्यर्थगोचरादेव तस्मादेतच्च वक्ष्यते ॥ ४ ॥

सम्पूर्ण रूपी और पुद्गलसे बंधे हुये सम्पूर्ण अरूपी अर्थोंको विषय करनेवाला यह मनःपर्ययज्ञान उस रूपी अर्थको ही विषय करनेवाले अवधिज्ञानसे विषयकी अपेक्षा करके विशिष्ट है। अर्थात्—रूपी पुद्गलकी पर्यायें और अशुद्धजीवकी अरूपी सूक्ष्म अर्थपर्यायोंको मनःपर्यय जितना जानता है, अवधिज्ञान उतना नहीं। इस मन्तव्यको हम भविष्य ग्रन्थमें "रूपिष्ववधेः" "तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य" इन सूत्रोंके विवरण करते समय स्पष्ट कर कह देवेंगे। पूर्वके समान यहां भी दोनोंमें विषयकी अपेक्षा विशेषसहितपना लगा लेना। क्योंकि विशेष द्विष्ठधर्म है। तथा च विषयकी अपेक्षा उस मनःपर्ययसे यह अवधिज्ञान भी विशिष्ट है।

एवं मत्यादिबोधानां सभेदानां निरूपणम् ।
कृतं न केवलस्यात्र भेदस्याप्रस्तुतत्वतः ॥ ५ ॥
वक्ष्यमाणत्वतश्चास्य घातिक्षयजमात्मनः ।
स्वरूपस्य निरुक्त्यैव ज्ञानं सूत्रे प्ररूपणात् ॥ ६ ॥

इस प्रकार यहांतक भेदोंसहित मति आदिक चार क्षायोपशमिक ज्ञानोंका सूत्रकारने निरूपण कर दिया है। केवलज्ञानका यहां ज्ञानप्रकरणमें प्ररूपण नहीं किया गया है। क्योंकि यहां ज्ञानके भेदोंके व्याख्यान करनेका प्रस्ताव चल रहा था। केवलज्ञानके कोई भेद नहीं हैं। वह तो तेरहवें गुणस्थानकी आदिमें जैसा उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अनन्तकालतक एकसा बना रहता है। अतः भेद कथनके प्रकरणमें केवलज्ञान प्रस्तावप्राप्त नहीं है। रही कारणोंके निरूपण करनेकी बात, सो भविष्य दशमें अध्यायमें आत्माके घातिकर्मोंके क्षयसे इस केवलज्ञानका उत्पन्न होना कह दिया जायगा। इस केवलज्ञानके स्वरूप (लक्षण) का ज्ञान तो " मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् " इस सूत्रमें केवलशद्वकी निरुक्ति करके ही प्ररूपित कर दिया गया है। अतः केवलज्ञानके लक्षण या कारणके कथनका उल्लंघन कर अब दूसरा विषय छेडेंगे ऐसा ध्वनित हो रहा है।

इस सूत्रका सारांश ।

इस सूत्रमें प्रकरण यों है कि पहिले साधारणबुद्धिवालोंके लिये अतीन्द्रिय हो रहे अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानके विलक्षण विशेषोंको प्रदर्शन करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराजका सूत्र कहना सफल बताकर विशुद्धि आदिका लक्षण किया है। तथा विशुद्धिमें मनःपर्ययको अवधिसे अधिक विशुद्धिवाला कहा गया है। क्षेत्रकी अपेक्षा अवधि ही मनःपर्ययसे प्रधान है। देशावधिका ही क्षेत्र लोक हो जाता है। परमावधि और सर्वावधि तो असंख्यात लोकोंमें यदि रूपी पदार्थ ठहर जांय तो उनको भी जान सकती थी। श्री धनंजय कविकी उक्ति है कि " त्रिकालतत्त्वं त्वमवैस्त्रिलोकी स्वामीति संख्यानियतेरमीषां । बोधाधिपत्यं प्रति नाभविष्यत् तेन्येपि चेद्व्याप्स्यदमूनपीदम् ॥ " हे जिनेंद्रदेव! तुम तीनों कालके तत्त्वोंको जान चुके हो, तुम तीनों लोकके स्वामी हो, यह उन काल और लोकोंकी त्रित्वसंख्याके नियत हो जानेसे कह दिया जाता है। ज्ञानका अधिपतिपना इतनेसे ही पर्याप्त नहीं हो जाता है। यदि काल और लोक अन्य भी सैकडों, करोडों, असंख्याते, होते तो तुम्हारा ज्ञान उनको भी झट् विषय कर लेता। किन्तु क्या किया जाय, वे हैं ही नहीं। इस लोकत्रयमें ज्ञेय अल्प है। ज्ञान उत्कृष्ट अनन्तानन्त है। इस प्रकरणमें शक्तिकी अपेक्षा अवधिज्ञान भी असंख्यात लोकस्वरूपी पदार्थोंको विषय कर सकता था, कह दिया है। किन्तु असंख्यात लोक हैं ही

नहीं, हम क्या करें। स्वामीकी अपेक्षा मनःपर्ययका स्वामी अभ्यर्हित हो रहा विशेषोंसे युक्त है। मनःपर्ययके विषय सूक्ष्म हैं। अवधिज्ञानके संख्यामें अत्यधिक विषय हैं। चार ज्ञानोंके निरूपण अनंतर केवलज्ञानका प्रतिपादन करना प्राप्तकाल है। किन्तु कारणवश उसका उल्लंघन किया जाता है। केवलज्ञानका लक्षण दशमें अध्यायमें किया जायगा। यह बताकर भविष्यमें दूसरा प्रकरण उठानेकी सूचना दी है।

क्षेत्रविशुद्धिस्वामिविषयेभ्योवधिमनोज्ञयोर्भेदः।
अधिकरणात्मप्रसाधिप्रसुमयेभ्य आम्नातः ॥ १ ॥

अब ज्ञानोंका विषय निर्धारण करनेके लिये प्रकरण प्रारम्भकर आदिमें कहे गये मति और श्रुतज्ञानोंकी विषय मर्यादाको कहनेवाला सूत्ररत्न श्री उमास्वामी महाराजके मुख आकरसे उद्योतित होता है।

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल, इन संपूर्ण छहों द्रव्योंमें तथा इन द्रव्योंकी कतिपय पर्यायोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय नियत हो रहा है।

मत्यादिज्ञानेषु सभेदानि चत्वारि ज्ञानानि भेदतो व्याख्याय बहिरंगकारणतश्च केवलमभेदं वक्ष्यमाणकारणस्वरूपमिहाप्रस्तुतत्वात् तथानुक्त्वा किमर्थमिदमुच्यत इत्याह।

सामान्यरूपसे मति, श्रुत, आदि ज्ञानोंमें भेदसहित वर्तनेवाले मति, श्रुत, अवधि, और मनःपर्यय, ये चार ज्ञान हैं। इन चारों ज्ञानोंको भेदकी अपेक्षासे तथा बहिरंगकारणरूपसे व्याख्यान कर तथा भेदरहित हो रहे एक ही प्रकार केवलज्ञानके कारण और स्वरूप दोनों भविष्य ग्रन्थमें कहे जायेंगे। अतः यहां प्रस्ताव प्राप्त नहीं होनेके कारण तिस प्रकार नहीं कहकर फिर श्री उमास्वामी महाराज द्वारा यह " मतिश्रुतयोः " इत्यादि सूत्र किस प्रयोजनके लिये कहा जा रहा है ? ऐसी तर्कगर्भी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी उत्तर कहते हैं।

अथाद्यज्ञानयोरर्थविवादविनिवृत्तये।
मतीत्यादि वचः सम्यक् सूत्रयन्सूत्रमाह सः ॥ १ ॥

अब विषय प्रकरणके प्रारम्भमें ज्ञानोंकी आदिमें कहे गये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दो ज्ञानोंके विषयोंकी विप्रतिपत्तिका विशेषरूपसे निवारण करनेके लिये सूचना करा रहे वे प्रसिद्ध श्री उमास्वामी महाराज इस " मतिश्रुतयोर्निबन्धो " इत्यादि सूत्रस्वरूप समीचीन वचनको स्पष्ट कह रहे हैं।

संप्रति के मतिश्रुते कथ निबन्धः कानि द्रव्याणि के वा पर्याया इत्याह ।

अब इस समय सूत्रमें उपात्त किये गये पदोंके अनुसार प्रश्न खडे होते हैं कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कौन हैं ? और निबन्धका अर्थ क्या है ? तथा द्रव्य कौन है ? अथवा पर्यायोंका लक्षण क्या है ? इस प्रकार प्रश्नमाला होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी एक ही वार्तिक द्वारा उत्तर कहें देते हैं । अधिक झगडेमें कौन पडे ।

मतिश्रुते समाख्याते निबन्धो नियमः स्थितः ।
द्रव्याणि वक्ष्यमाणानि पर्यायाश्च प्रपंचतः ॥ २ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो पूर्वप्रकरणोंमें भले प्रकार व्याख्यान किये गये हो चुके हैं । और निबन्धका अर्थ यहां नियम ऐसा व्यवस्थित किया है । द्रव्योंका परिभाषण भविष्य पांचवें अध्यायमें कर दिया जावेगा । तथा पर्यायें भी विस्तारके साथ भविष्य ग्रन्थमें वखान दी जावेंगी । अर्थात्—मतिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशम होनेपर इन्द्रिय और मनःस्वरूप निमित्तोंसे हो रहा अभिमुख नियमित पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञान मतिज्ञान है । श्रुतज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर जो सुना जाय यानी अर्थसे अर्थान्तरको जाननेवाला, मतिपूर्वक, परोक्षज्ञान, श्रुतज्ञान है । इस प्रकार मति, श्रुतका विवरण कहा जा चुका है । निबन्धका अर्थ नियत करना या मर्यादामें बांध देना है । जीव आदि छह द्रव्य और उनकी ज्ञान, सुख, रूप, रस, काला, पीला, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व आदि सहभावी क्रमभावी पर्यायोंको मूल ग्रन्थमें आगे कह दिया जावेगा । सन्तुष्यताम् तावत् ।

ततो मतिश्रुतयोः प्रपंचेन व्याख्यातयोर्वक्ष्यमाणेषु द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु निबन्धो नियमः प्रत्येतव्य इति सूत्रार्थो व्यवतिष्ठते ।

तिस कारण इस सूत्रका अर्थ यों व्यवस्थित हो जाता है कि विस्तारके साथ व्याख्यान किये जा चुके मतिज्ञान श्रुतज्ञानोंका भविष्य ग्रन्थमें कहे जानेवाले विषयभूत सम्पूर्ण द्रव्योंमें और असंपूर्ण माने कतिपय पर्यायोंमें निबन्ध यानी नियम समझ लेना चाहिये ।

विषयेष्वित्यनुक्तं कथमत्रावगम्यत इत्याह ।

इस सूत्रमें " विषयेषु " यह शब्द नहीं कहा है तो फिर अनुक्त वह शब्द भला किस प्रकार समझ लिया जाता है ? यह बताओ, ऐसा प्रश्न हो उठनेपर श्री विद्यानन्दस्वामी उत्तर कहते हैं ।

पूर्वसूत्रोदितश्चात्र वर्तते विषयध्वनिः ।
केवलोऽर्थाद्विशुद्ध्यादिसहयोगं श्रयन्नपि ॥ ३ ॥

इस सूत्रके पूर्ववर्ती " विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्ययोः " सूत्रमें कण्ठद्वारा कहा गया विषय शब्द यहां अनुवर्तन कर लिया जाता है। यद्यपि वह विषय शब्द " विशुद्धि, क्षेत्र " आदिके साथ सम्बन्धको प्राप्त हो रहा है, तो भी प्रयोजन होनेसे विशुद्धि आदिक और पंचमी विभक्तिसे रहित होकर केवल विषय शब्दकी ही अनुवृत्ति कर ली जाती है। अर्थात्—एकयोग-निर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः", एक संबंधद्वारा जुडे हुये पदार्थोंकी एक साथ प्रवृत्ति होती है, अथवा सबकी एक साथ ही निवृत्ति होती है। इस नियमके अनुसार विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामि, इन तीन पदोंके साथ इतरेतरयोग-भावको प्राप्त हो रहा विषय शब्द अकेला नहीं खींचा जा सकता है। फिर भी प्रयोजनवश " क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते " इस ढंगसे अकेला विषय शब्द ही अनुवृत्त किया जा सकता है। " देवदत्तस्य गुरुकुलं " यहां गुरुकुलमें सहयोगी हो रहे, अकेले गुरुपदको आकर्षितकर देवदत्तको वहां अन्वित कर दिया जाता है।

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्ययोरित्यस्मात्सूत्राद्विषयशब्दोऽत्रानुवर्तते। कथं स विशुध्यादिभिः सहयोगमाश्रयन्नपि केवलः शक्योऽनुवर्तयितुं ? सामर्थ्यात्। तथाहि—न तावद्विशुद्धेरनुवर्तनसामर्थ्यं प्रयोजनाभावात्, तत एव न क्षेत्रस्य स्वामिनो वा सूत्रसामर्थ्याभावात्।

" विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्ययोः " इस प्रकार इस सूत्रसे वह विषय शब्द यहां अनुवृत्ति करने योग्य हो रहा है। इसपर कोई प्रश्न करे कि विशुद्धि, क्षेत्र, आदिके साथ संबंधका आश्रयकर रहा भी विषय शब्द केवल अकेला ही कैसे अनुवर्तित किया जा सकता है ? बताओ, तो इसका उत्तर यों है कि पहिले पीछेके पदों और वाच्य अर्थकी सामर्थ्यसे केवल विषय शब्द अनुवर्तनीय हो जाता है। इसी बातको विशदकर दिखलाते हैं कि सबसे पहिले कही गयी विशुद्धिकी अनुवृत्ति करनेकी तो यहां सामर्थ्य प्राप्त नहीं है। क्योंकि प्रकरणमें विशुद्धिका कोई प्रयोजन नहीं है और तिस ही कारण यानी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होनेसे क्षेत्रकी अथवा स्वामी शब्दकी भी अनुवृत्ति नहीं हो पाती है। सूत्रकी सामर्थ्यके अनुसार ही पदोंकी अनुवृत्ति हुआ करती है। किन्तु यहां विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी, इन पदोंकी अनुवृत्ति करनेके लिए सूत्रकी सामर्थ्य नहीं है। " समर्थः पदविधिः " अतः केवल विषय शब्द ही यहां सूत्रकी सामर्थ्यसे अनुवृत्त किया गया है।

नन्वेवं द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु निबन्धन इति वचनसामर्थ्याद्विषयशब्दस्यानुवर्तने विषये-ष्विति कथं विषयेभ्य इति पूर्वं निर्देशात्तथैवानुवृत्तिप्रसंगादित्याशंकायामाह।

यहां शंका उपजती है कि इस प्रकार तो द्रव्योंमें और असर्वपर्यायोंमें मतिश्रुतोंका निबन्ध हो रहा है। इस प्रकार वचनकी सामर्थ्यसे विषयशब्दकी अनुवृत्ति करनेपर " विषयेषु " ऐसा सप्तमी विभक्तिका बहुवचनान्तपद कैसे खींचकर बनाया जा सकता है ? क्योंकि पूर्वसूत्रमें तो

" विषयेभ्यः " ऐसा पंचमी विभक्तिका बहुवचनान्तपद कहा गया है। उसकी तिस ही प्रकार पंचम्यन्त विषय शब्दकी अनुवृत्ति हो जानेका प्रसंग प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार आशंका होनेपर आचार्यमहाराज उत्तर कहते हैं।

द्रव्येष्विति पदेनास्य सामानाधिकरण्यतः ।
तद्विभक्त्यन्ततापत्तेर्विषयेष्विति बुध्यते ॥ ४ ॥

इस विषय शब्दका " द्रव्येषु " इस प्रकार सप्तमी विभक्तिवाले पदके साथ समान अधिकरणपना हो जानेसे उस सप्तमी विभक्तिके बहुवचनान्तपनेकी प्राप्ति हो जाती है। इस कारण "विषयेषु" इस प्रकार विषयोंमें यह अर्थ समझ लिया जाता है।

किं पुनः फलं विषयेष्विति सम्बन्धस्येत्याह ।

पुनः किसीका प्रश्न है कि " विषयेषु " इस प्रकार खींचतानकर सप्तम्यन्त बनाये गये पदके सम्बन्धका यहां फल क्या है ? इस प्रकार प्रश्न होनेपर आचार्य महाराज समाधिवचन कहते हैं।

विषयेषु निबन्धोऽस्तीत्युक्ते निर्विषये न ते ।
मतिश्रुते इति ज्ञेयं न चाऽनियतगोचरे ॥ ५ ॥

मतिज्ञान श्रुतज्ञानोंका द्रव्य और कतिपयपर्यायस्वरूप विषयोंमें नियम हो रहा है। इस प्रकार कथन करचुकनेपर ये मतिज्ञान, श्रुतज्ञान दोनों विषयरहित नहीं हैं, यह समझ लिया जाता है। अथवा दूसरा प्रयोजन यह भी है कि नियत नहीं हो रहे, चाहे जिस किसी भी पदार्थको विषय करनेवाले दोनों ज्ञान नहीं हैं। किन्तु उन दोनों ज्ञानोंका विषय नियत हो रहा है। भावार्थ— तत्त्वोपप्लववादी या योगाचार बौद्ध अथवा शून्यवादी विद्वान् ज्ञानोंको निर्विषय मानते हैं। घट, पट, नीला, घटा, अग्नि, व्याप्ति, वाच्यार्थ आदिके ज्ञानोंमें कोई बहिरंग पदार्थ विषय नहीं हो रहा है। स्वप्नज्ञान समान उक्त ज्ञान भी निर्विषय हैं। अथवा कोई कोई विद्वान् मतिश्रुतज्ञानोंके विषयोंको नियत हो रहे नहीं स्वीकार करते हैं। उन दोनों प्रकारके प्रतिवादियोंका निराकरण करनेके लिये उक्त सूत्र कहा गया है। जिसमें कि विषयपदकी पूर्वसूत्रसे अनुवृत्तिकर सामर्थ्यसे विषयेषु ऐसा सम्बन्ध कर लिया गया है।

तर्हि द्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्विति विशेषणफलं किमित्याह ।

तो फिर अब यह बताओ ! कि विषयेषु इस विशेष्यके द्रव्येषु और असर्वपर्यायेषु इन दो विशेषणोंका फल क्या है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज समाधान कहते हैं।

पर्यायमात्रगे नैते द्रव्येष्विति विशेषणात् ।
द्रव्यगे एव तेऽसर्वपर्यायद्रव्यगोचरे ॥ ६ ॥

विषयोंका द्रव्येषु इस प्रकार पहिला विशेषण लगा देनेसे ये मतिज्ञान श्रुतज्ञान दोनों केवल पर्यायोंको ही जाननेवाले नहीं हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है। अर्थात्—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ये द्रव्योंको भी जानते हैं। बौद्धोंका केवल पर्यायोंको ही मानने या जाननेका मन्तव्य ठीक नहीं है। विना द्रव्यके निराधार हो रहीं पर्यायें ठहर नहीं सकती हैं। जैसे कि भीत या कागजके विना चित्र नहीं ठहरता है। तथा वे मति श्रुतज्ञान द्रव्योंमें ही प्राप्त हो रहे हैं, यानी द्रव्योंको ही जानते हैं, पर्यायोंको नहीं, यह एकान्त भी प्रशस्त नहीं है। क्योंकि असर्वपर्यायेषु ऐसा दूसरा विशेषण भी लगा हुआ है। अतः कतिपय पर्याय और संपूर्ण द्रव्य इन विषयोंमें नियत हो रहे मतिज्ञान श्रुतज्ञान हैं, यह सिद्धान्त निकल आता है।

एतेष्वसर्वपर्यायेष्वित्युक्तेरिष्टनिर्णयात् ।
तथानिष्टौ तु सर्वस्य प्रतीतिव्याहतीरणात् ॥ ७ ॥

इन कतिपय पर्यायस्वरूप विषयोंमें मतिश्रुतज्ञान नियत हैं। इस प्रकार कह देनेसे इष्ट पदार्थका निर्णय हो जाता है। अर्थात्—इन्द्रियजन्यज्ञान, अनिन्द्रियजन्यज्ञान, मतिपूर्वक श्रुतज्ञान ये ज्ञान कतिपय पर्यायोंको विषय कर रहे हैं, यह सिद्धान्त सभी विचारशाली विद्वानोंके यहां अभीष्ट किया है। यदि तिस प्रकार इन दो ज्ञानों द्वारा कतिपय पर्यायोंका विषय करना इष्ट नहीं किया जायगा, तो सभी वादी-प्रतिवादियोंके यहां प्रतीतियोंसे व्याघात प्राप्त होगा, इस बातको हम कहे देते हैं।

मतिश्रुतयोर्ये तावद्बाह्यार्थानालम्बनत्वमिच्छन्ति तेषां प्रतीतिव्याहतिं दर्शयन्नाह ।

जो वादी सबसे आगे खडे होकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका बहिरंग अर्थोंको आलम्बन नहीं करनेवालापन इच्छते हैं, उनके यहां प्रतीतियोंसे आ रहे समतव्याघात दोषको दिखलाते हुये आचार्य महाराज कहते हैं सो सुनो।

मत्यादिप्रत्ययो नैव बाह्यार्थालम्बनं सदा ।
प्रत्ययत्वाद्यथा स्वप्नज्ञानमित्यपरे विदुः ॥ ८ ॥
तदसत्सर्वशून्यत्वापत्तेर्बाह्यार्थवित्तिवत् ।
स्वान्यसंतानसंवित्तेरभावात्तदभेदतः ॥ ९ ॥

मति आदिक ज्ञान (पक्ष) सदा ही बहिरंग अर्थोको विषय करनेवाले नहीं हैं (साध्य)। ज्ञानपना होनेसे (हेतु), जैसे कि स्वप्नज्ञान (अन्वयदृष्टान्त) । इस प्रकार अनुमान बनाकर दूसरे विद्वान् बौद्ध कह रहे हैं, या ज्ञातकर बैठे हैं, सो, उनका वह कहना सर्वथा असत्य है । क्योंकि यों तो सम्पूर्ण पदार्थोके शून्यपनेका प्रसंग आ जावेगा । घट, पट आदि बहिरंग अर्थोके ज्ञान समान अन्तस्तत्त्व माने जा रहे अपना और अन्य संतानोंका सम्यग्ज्ञान भी निरालम्बन हो जायगा । घट, पट, आदिके ज्ञानोंमें और स्वसंतान परसंतानोंको जाननेवाले ज्ञानोंमें ज्ञानपना भेदरहित होकर विद्यमान है । देखिये, घट, पट, आदिकके समान स्व, पर, सन्तान भी बहिरंग हैं, कोई भेद नहीं है । चालिनी न्याय अनुसार देवदत्तकी स्वसन्तान तो जिनदत्तके ज्ञानकी अपेक्षा बहिरंग है । और जिनदत्तकी स्वसन्तान देवदत्तके ज्ञानकी अपेक्षा बाह्य अर्थ है । तथा ज्ञानकी अपेक्षा कोई भी ज्ञेय बाह्य अर्थ हो जाता है । अतः स्वसन्तान और परसन्तानके ज्ञानोंका भी निरालम्बन होनेके कारण अभाव हो जानेसे बौद्धोंके यहां सर्वशून्यपनेका प्रसंग प्राप्त होगा । ऐसी दशामें अनेक आत्माओंके सन्तानस्वरूप विज्ञानाद्वैतकी यानी अन्तस्तत्त्वकी अक्षुण्ण प्रतिष्ठा कैसे रह सकती है ! सो तुम ही जानों ।

मतिश्रुतप्रत्ययाः न बाह्यार्थालंबनाः सर्वदा प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययवदिति योगाचारस्तदयुक्तं, सर्वशून्यत्वानुषंगात् । बाह्यार्थसंवेदनवत्स्वपरसंतानसंवेदनासम्भवाद्ग्राहकज्ञानापेक्षया स्वसन्तानस्य परसन्तानस्य च बाह्यत्वाविशेषात् ।

सम्पूर्ण मतिज्ञान और श्रुतज्ञान (पक्ष) बहिरंग घट, पट आदि अर्थोको सदा ही विषय करनेवाले नहीं हैं (साध्य) ज्ञानपना होनेसे (हेतु) जैसे कि स्वप्नका ज्ञान विचारा बहिर्भूत नदी पर्वत, आदिको ठीक ठीक आलम्बन करनेवाला नहीं है, इस प्रकार योगाचार बौद्ध कह रहे हैं । सो उनका कहना अयुक्त हैं । क्योंकि यों तो सभी अन्तरंग तत्व, ज्ञान या स्वसंतान, परसन्तान इन सबके शून्यपनका प्रसंग हो जावेगा । बहिरंग अर्थोके सम्वेदनसमान अपनी ज्ञानसन्तान और दूसरेकी ज्ञानसन्तानके सम्वेदनोंका भी असम्भव हो जायगा । क्योंकि स्वसन्तान और परसन्तानके ग्राहक ज्ञानोंकी अपेक्षा करके स्वसन्तान और परसन्तानको बाह्यपना विशेषतारहित है । अर्थात्— ज्ञानोंको क्षणिक माननेवाले बौद्ध पूर्वापर क्षणवर्ती ज्ञानोंकी पंक्तिको ज्ञानसंतान कहते हैं । भले ही सन्तान अवस्तु है । यों घटज्ञानकी अपेक्षा जैसे घट बाह्य अर्थ है, उसी प्रकार स्वकीय ज्ञानसन्तान और परकीय ज्ञानसन्तानको जाननेवाले ज्ञानकी अपेक्षा स्वज्ञानसन्तान और परविज्ञानसन्तान भी बहिरंग अर्थ हैं । जब कि ज्ञान बहिरंग अर्थोको विषय नहीं करते हैं, तो अपने ज्ञानोंकी सन्तान अथवा अन्य देवदत्त, जिनदत्त, स्वरूप ज्ञानसन्तान ये अन्तरंग पदार्थ भी उड गये । क्योंकि ये भी बहिरंग बन बैठे । ऐसी दशामें सर्वशून्यवाद छा गया, यही तो हमने दोष दिया था ।

संवेदनं हि यदि किंचित् स्वस्मादर्थान्तरं परसन्तानं स्वसन्तानं वा पूर्वापरक्षणप्रवाहरूपमालम्बते । तदा घटाद्यर्थेन तस्य कोऽपराधः कृतः यतस्तमपि नालम्बते ।

यदि बौद्ध यों कहें कि कोई कोई समीचीन ज्ञान तो किसी अपने ज्ञानशरीरसे निराले पदार्थ और पहिले पीछेके क्षणोंमें परिणमें परकीय ज्ञानोंका प्रवाहस्वरूप परसन्तानको अथवा आगे, पीछे तीनों कालोंमें प्रवाहित हो रहे, क्षणिक विज्ञानस्वरूप स्वसन्तानको आलम्बन कर लेता है, तब तो हम जैन कहेंगे कि घट, पट आदि अर्थोंकरके उस ज्ञानका कौन अपराध कर दिया गया है ? जिससे कि वह ज्ञान इन घट आदिकोंको भी आलम्बन नहीं करे । अर्थात्—घट आदिकको जाननेवाले भी ज्ञानसालम्बन हैं । वस्तुभूत घटादि अर्थोंको विषय करनेवाले हैं ।

अथ घटादिवत्स्वपरसन्तानमपि नालम्बत एव तस्य स्वसमानसमयस्य भिन्नसमयस्य वालंबनासम्भवात् । न चैवं स्वरूपसन्तानाभावः स्वरूपस्य स्वतो गतेः । नीलादेस्तु यदि स्वतो गतिस्तदा संवेदनत्वमेवेति स्वरूपमात्रपर्यवसिताः सर्वे प्रत्यया निरालम्बनाः सिद्धास्तत्कुतः सर्वशून्यत्वापत्तिरिति मतं तदसत्, वर्तमानसंवेदनात्स्वयमनुभूयमानादन्यानि स्वपरसंतानसंवेदनानि स्वरूपमात्रे पर्यवसितानीति निश्चेतुमशक्यत्वात् ।

यदि अब तुम योगाचार बौद्धोंका यह मन्तव्य होय कि घट, पट आदिके समान स्वसन्तान, परसन्तानको भी कोई ज्ञान विषय नहीं ही करता है । क्योंकि स्वकीय ज्ञानके समान समयमें होनेवाले अथवा भिन्नसमयमें हो रहे स्व, पर सन्तानोंका आलम्बन करना असम्भव है । अर्थात्—बौद्धोंके यहां विषयको ज्ञानका कारण माना गया है । " नाकारणं विषयः " । अतः समानसमयके ज्ञान ज्ञेयोंमें कार्यकारणभाव नहीं घटता है । कार्यसे एक क्षण पूर्वमें कारण रहना चाहिये । अतः पहिला समान समयवालोंके कार्यकारणभाव बनजानेका पक्ष तिरस्कृत हो गया और भिन्नसमयवाले ज्ञान ज्ञेयोंमें यदि ग्राह्यग्राहकभाव माना जायगा, तब तो चिरभूत और चिरभविष्य पदार्थोंके साथ भी कार्यकारणभाव बन बैठेगा, जो कि इष्ट नहीं है । दूसरी बात यह है कि एकसमय पूर्ववर्त्ती भिन्नकालके पदार्थोंको भी यदि ज्ञानका ज्ञेय माना जायगा, तो भी ज्ञानकालमें जब विषय रहा ही नहीं, ऐसी दशामें ज्ञान भला किसको जानेगा । सांप निकल गया लकीर पीटते रहो, यह " गतसर्पघृष्टिअभिहनन " न्याय हुआ । अतः ज्ञान निरालम्ब ही है । इस प्रकार हो जानेपर हम बौद्धोंके यहां विज्ञानस्वरूप सन्तानका अभाव नहीं हो जायगा । क्योंकि शुद्ध क्षणिकज्ञान स्वरूपकी अपने आपसे ही ज्ञप्ति हो जाती है । यदि नील स्वलक्षण, पीत स्वलक्षण, आदिकी भी स्वतः ज्ञप्ति होना मान लिया जायगा, तब तो वे नील आदिक पदार्थ ज्ञान स्वरूप ही हो जायंगे । इस प्रकार केवल अपने स्वरूपको जाननेमें लवलीन हो रहे सम्पूर्ण ज्ञान अपनेसे भिन्न विषयोंकी अपेक्षा निरालम्बन ही सिद्ध हुये तो बताओ, हम योगाचारोंके यहां किस ढंगसे सर्वशून्यपनेका प्रसंग आवेगा ? जब कि अपने अपने शुद्धस्वरूपको ही प्रकाशनेवाले अनेक

क्षणिक विज्ञान विद्यमान हैं। अब आचार्य कहते हैं कि उक्त प्रकार जो योगाचारोंका मन्तव्य है, वह असत् है। क्योंकि भिन्न भिन्न स्वसंतानके ज्ञान और परसन्तानोंके क्षणिकज्ञान ये अपने अपने केवल स्वरूपको प्रकाशनेमें चरितार्थ हो रहे हैं। इस बातको स्वयं अनुभवे जा रहे वर्तमानकालके सम्वेदनसे तो निश्चय करनेके लिये अशक्यता है। अर्थात्—वर्तमानकालका ज्ञान इतने मन्तव्यको नहीं जान सकता है कि " तीन कालवर्ती स्वसन्तान परसन्तानके सभी क्षणिकज्ञान अपने अपने केवल स्वकीय शरीरको ही प्रकाशनेमें निमग्न हैं। ज्ञेय अर्थोंको विषय नहीं करते हैं " तीन लोक तीन कालोंमें असंख्यज्ञान पडे हुये हैं। सम्भव है वे विषयोंको जानते होंगे। भला प्राप्त विषयके बिना क्षणिक विज्ञान उक्त विषयको कैसे जान सकता है! क्या कन्याके बिना ही वर अपना विवाह अपने आप कर सकता है? अर्थात्—नहीं। यदि आप बौद्धोंका कोई भी ज्ञान उक्त सिद्धान्तको विषय कर लेगा तब तो वही ज्ञान बहिरंग विषयकी अपेक्षा सालम्बन हो गया। यदि नहीं जानेगा तो सम्पूर्ण ज्ञानोंका स्वरूप मात्रको प्रकाशना सिद्ध नहीं हो पायगा।

विवादाध्यासितानि स्वपरसन्तानज्ञानानि स्वरूपमात्रपर्यवसितानि ज्ञानत्वात्स्वसंवेदनवदित्यनुमानात्तथा निश्चय इति चेत्, तस्यानुमानज्ञानस्य प्रकृतसालम्बनत्वेऽनेनैव हेतोर्व्यभिचारात्स्वरूपमात्रपर्यवसितत्वे प्रकृतसाध्यस्यास्मादसिद्धेः।

योगाचार बौद्ध अपने मन्तव्यको पुष्ट करनेके लिये अनुमान बनाते हैं कि विवादमें प्राप्त हो रहे स्वसन्तान और परसन्तानके त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण क्षणिक विज्ञान (पक्ष) केवल स्वकीयरूपके प्रकाश करनेमें लवलीन हो रहे हैं (साध्य) ज्ञानपना होनेसे (हेतु) जैसे कि स्वसम्वेदन ज्ञान (दृष्टान्त) अर्थात्—ज्ञान ही को जाननेवाला जैसे स्वसम्वेदन ज्ञान किसी बहिरंग तत्त्वको नहीं जानता है, उसी प्रकार घटज्ञान, स्वसन्तानज्ञान, दूसरे जिनदत्त आदिकी सन्तानोंका ज्ञान, ये सब स्वकीय ज्ञानशरीरको ही विषय करते हैं। अन्य ज्ञेयोंको नहीं छूते हैं। इस प्रकार बौद्धोंके कहने पर तो हम जैन पूंछते हैं कि उस अनुमान ज्ञानको यदि प्रकरणप्राप्त साध्य हो रहे स्वरूपमात्र निमग्नपन करके सालम्बनपना माना जायगा, तब तो इस अनुमानज्ञानकरके ही ज्ञानत्व हेतुका व्यभिचार होता है। देखिये, इस अनुमानमें ज्ञानपन हेतु तो रह गया और केवल अपने स्वरूपमें लवलीनपना साध्य नहीं रहा। क्योंकि इसने अपने स्वरूपके अतिरिक्त साध्यका ज्ञान भी करा दिया है। यदि इस व्यभिचारके निवारणार्थ इस अनुमान ज्ञानको भी स्वरूपमात्रके प्रकाशनेमें ही लगा हुआ निर्विषय मानोगे, अपने विषयभूत साध्यका ज्ञापन करनेवाला नहीं मानोगे तो इस अनुमानसे प्रकरणप्राप्त साध्य हो रहे स्वरूपमात्र प्रकाशनकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसको आप बौद्ध स्वयं विचार सकते हैं।

संवेदनाद्वैतस्यैवं प्रसिद्धेस्तथापि न सर्वशून्यत्वापत्तिरिति मन्यमानं प्रत्याह।

फिर भी बौद्ध यदि यों मानते रहें कि क्या हुआ द्वितीयपक्ष अनुसार भले साध्यकी सिद्धि मत हो किन्तु फिर भी इस प्रकार शुद्ध सम्वेदनाद्वैतकी बढिया सिद्धि हो ही जाती है। तिस प्रकार होनेपर भी जैनोंकी ओरसे दिया गया सर्वशून्यपनेका प्रसंग तो नहीं आया। शुद्ध क्षणिक ज्ञानपरमाणुओंका अद्वैत प्रसिद्ध हो रहा है। इस प्रकार मान रहे बौद्धोंके प्रति श्रीविद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

न चैवं सम्भवेदिष्टमद्वयं ज्ञानमुत्तमम्।
ततोऽन्यस्य निराकर्तुमशक्तेस्तेन सर्वथा ॥ १० ॥

इस प्रकार ज्ञानोंका अद्वैत उत्तमरूपसे इष्ट हो रहा भी नहीं सम्भवता है। क्योंकि तिस शुद्ध ज्ञान करके उस ज्ञानसे भिन्न हो रहे घट, पट, स्वसन्तान, परसन्तान आदि विषयोंका सर्वथा निराकरण नहीं किया जा सकता है। अर्थात्—जो केवल स्वको ही प्रकाशनेमें निमग्न हो रहा सन्ता अन्य कार्योंके लिये क्षीणशक्तिक हो गया है, वह ज्ञान बहिरंग और अन्तरंग ग्राह्य पदार्थोंका किसी भी प्रकारसे निराकरण नहीं कर सकता है।

यथैव हि सन्तानान्तराणि स्वसन्तानवेदनानि चानुभूयमानेन संवेदनेन सर्वथा विधातुं न शक्यन्ते तथा प्रतिषिद्धुमपि।

जिस ही प्रकार वर्तमान कालमें अनुभवे जा रहे सम्वेदन करके अन्य सन्तानोंके ज्ञानो और अपनी ज्ञानमालारूप सन्तानके विज्ञानोंकी विधि करानेके लिये शक्ति सर्वथा नहीं है। क्योंकि आप बौद्धोंने वर्तमान ज्ञानको केवल स्वशरीरको ही प्रकाशनेमें ध्यानारूढ माना है। जो मोटा सेठ केवल अपने शरीरको ही ढोनेमें पूरी शक्तियां लगा रहा है, वह भला दो चार कोसतक अन्य भाडे, वस्त्र आदिकोंको कैसे लादकर चल सकेगा ? अर्थात्—नहीं। अतः कोई भी वर्तमानमें अनुभवा जा रहा ज्ञान किसी भी अन्य सन्तान और स्वसन्तानके ज्ञानोंका विधान नहीं कर सकता है। उसी प्रकार वह ज्ञान अन्तरंग बहिरंग ज्ञेयोंके निषेध करनेके लिये भी समर्थ नहीं हो सकता है। जो जिसका विधान नहीं कर सकता है, वह उसका क्वचित् निषेध भी नहीं कर सकता है। " येन यद्गृह्यते तद्भावस्तेनैव परिगृह्यते "।

तद्धि तानि निराकुर्वदात्ममात्रविधानमुखेन वा तत्प्रतिषेधमुखेन वा निराकुर्यात्। प्रथमकल्पनायां दूषणमाह।

भला आप बौद्ध विचारो तो सही कि वह अनुभवा जा रहा ज्ञान यदि उन न्यारा स्वपर सन्तानोंका निराकरण भी करेगा तो क्या केवल अपनी विधिके मुख करके उनका निषेध करेगा ? अथवा उन अन्य पदार्थोंके निषेधकी मुख्यता करके निषेधेगा ? बताओ ! प्रथम कल्पना ग्रहण करने पर तो जो दूषण आते हैं, उनको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकद्वारा कहते हैं सो सुनो।

स्वतो न तस्य संवित्तिरन्यस्य स्यान्निराकृतिः ।
किमन्यस्य स्वसंवित्तिरन्यस्य स्यान्निराकृतिः ॥ ११ ॥

उस अनुभूयमान सम्वेदनकी स्वोन्मुख स्वयं अपने आपसे केवल अपनी ही सम्वित्ति होना तो अन्य पदार्थोंका निराकरण करना नहीं हो सकेगा । भला विचारनेकी बात है कि क्या अन्य पदार्थोंकी स्वसम्वित्ति उससे दूसरे पदार्थोंका निषेधस्वरूप हो सकती है ? कभी नहीं, अपने कानोंसे अपनी आंखोंको ढक लेनेवाले भयभीत शश (खरगोश) की अपेक्षा कोई अन्य मनुष्य पण्डओंका निषेध नहीं हो जाता है । पुस्तकके सद्भावको जान लेना चौकीका निषेधक नहीं है । निर्विकल्पक समाधिको धारनेवाले साधु शुद्ध आत्माको ही जाननेमें एकाग्र हो रहे हैं । एतावता जगत्के अन्य पदार्थोंका निषेध नहीं हो सकता है ।

स्वयं संवेद्यमानस्य कथमन्यैर्निराकृतिः ।
परैः संवेद्यमानस्य भवतां सा कथं मता ॥ १२ ॥

स्वकीय ज्ञानसन्तान अथवा परकीय ज्ञानसन्तान जो स्वयं भले प्रकार जाने जा रहे हैं, उनका अन्य ज्ञानोंकरके भला निराकरण कैसे हो सकता है ? देवदत्तके ज्ञान, इच्छा, दुःख, सुख आदिक जो स्वयं देवदत्तद्वारा जाने जा रहे हैं, उनका यज्ञदत्तद्वारा निषेध नहीं किया जा सकता है । हम नहीं समझते हैं कि आप बौद्धोंके यहां दूसरोंके द्वारा सम्वेदन किये जा रहे पदार्थका अन्योंकरके निराकरण कर देना कैसे मान लिया गया है ? बात यह है जो तुच्छदीपक स्वयं अपने शरीरमें ही थोडासा टिमटिमा रहा है, वह अन्य पदार्थोंकी निराकृति नहीं कर सकता है । अन्योंका निषेध करनेके लिये बडी भारी सामग्रीकी आवश्यकता है ।

परैः संवेद्यमानं वेदनमस्तीति ज्ञातुमशक्तेस्तस्य निराकृतिरस्माकं मतेति चेत्, तर्हि तन्नास्तीति ज्ञातुमशक्तेस्तद्व्यवस्थितिः किन्न मता । ननु तदस्तीति ज्ञातुमशक्यत्वमेव तन्नास्तीति ज्ञातुं शक्तिरिति चेत् तन्नास्तीति ज्ञातुमशक्यत्वमेव तदस्तीति ज्ञातुं शक्तिरस्तु विशेषाभावात् ।

यदि बौद्ध यों कहें कि दूसरोंके द्वारा सम्वेदन किये जा रहे ज्ञान हैं, इस बातको हम नहीं जान सकते हैं, अतः उन अन्य वेद्यज्ञानोंका निराकरण हो जाना हमारे यहां मान लिया गया है । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि दूसरोंसे सम्वेदे जा रहे वे ज्ञान "नहीं हैं" इसको भी तो हम नहीं जान सकते हैं । अतः उन ज्ञानोंके सद्भावकी व्यवस्था क्यों नहीं मान ली जाय ? हम छद्मस्थ जीव यदि परमाणु, पुण्य, पाप, परकीय सुख, दुःख, आदिकोंकी विधि नहीं करा सकते हैं तो उनका निषेध भी नहीं करा सकते हैं । यदि बौद्ध अपने मन्तव्यका फिर

अवधारण यों करें कि दूसरोंसे जानने योग्य कहे जा रहे वे ज्ञान " हैं " इस बातको नहीं जान सकना ही " वे नहीं हैं " इस बातको जाननेकी शक्ति है। जैसे कि खरविषाणका नहीं जान सकना ही खरविषाणके नास्तित्वको जाननेके लिये शक्यता मानी गयी है। इस प्रकार बौद्धोंके हठ करनेपर तो हम जैन भी कह देंगे कि उन अन्योंकरके जाने जा रहे ज्ञान " नहीं हैं " इस बातको जाननेके लिये अशक्यता ही " वे ज्ञान हैं " इस बातको जाननेके लिये शक्ति हो जाओ, कोई अन्तर नहीं है। भावार्थ—किसी कृपण धनीके धनाभावको जाननेकी अशक्यता ही धनके सद्भावको जाननेकी शक्ति है। किसी पदार्थकी विधिको जाननेके लिये अशक्यता जैसे उसके निषेधको जाननेकी शक्यता है, उसी प्रकार निषेधको जाननेकी अशक्यता भी विधिकी निर्णायक शक्ति है। दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है।

यदि पुनस्तदस्तिनास्तीति वा ज्ञातुमशक्तेः संदिग्धमिति मतिस्तदापि कथं संवेदनाद्वैतं सिध्येदसंशयमिति चिन्त्यताम्।

यदि फिर तुम योगाचार बौद्धोंका यह विचार हो कि वे सन्तानान्तरोंके ज्ञान एवं अपने ज्ञान " हैं अथवा नहीं हैं " इस बातको निर्णीतरूपसे नहीं जाननेके कारण उन ज्ञानोंके सद्भाव का संदेह प्राप्त हो जाओ " एकान्तनिर्णयाद्वरं संशयः "। कोई पुरुष किसी पदार्थका यदि निषेध करना चाहता है, युक्तियोंसे उस पदार्थका निषेध उससे नहीं सध सके तो वह पुरुष उस तत्त्वका संशय बने रहनेमें ही पूरा उद्योग लगा देता है। शास्त्रार्थ करनेवाले या भित्ती (कुश्ती) लडनेवाले धूर्त पुरुषोंमें ऐसा विचार बहुभाग हो जाता है। उसी प्रकार बौद्धोंका यों मन्तव्य होनेपर तो हम कहेंगे कि तो भी तुम्हारा माना गया सम्वेदनाद्वैत भला संशय रहित होता हुआ कैसे सिद्ध होगा ? इस बातको कुछ कालतक चिन्तवन करो। भावार्थ—कुछ काल विचार लेने पश्चात् अनेक भूले भटके मानव सुमार्गपर आ जाते हैं। जब अन्य ज्ञानों और ज्ञेयोंके सद्भावकी सम्भावना बनी हुयी है, ऐसी दशामें शुद्ध ज्ञानाद्वैतका ही निर्णय कथमपि नहीं हो सकता है। प्रायश्चित्तके योग्य विषयोंमें उस पाप अनुष्ठानकी शंका उत्पन्न हो जानेपर भी विधिकी ओर बल लगाकर प्रायश्चित्त करना आवश्यक बताया है। अतः प्रथम पक्षके अनुसार अनुभूयमान ज्ञान, इन अन्य सन्तानों या स्वसन्तान ज्ञानोंका निराकरण अपने विधानकी मुख्यताकरके नहीं कर सकता है। यों पहिला पक्ष गया। अब द्वितीय पक्षका विचार चलाते हैं।

संवेदनान्तरं प्रतिषेधमुखेन निराकरोतीति द्वितीयकल्पनायां पुनरद्वैतवेदनसिद्धिर्दूरोत्सारितैव तत्प्रतिषेधज्ञानस्य द्वितीयस्य भावात्।

अनुभूयमान न्यारा सम्वेदन यदि प्रतिषेधकी ओर मुख करके अन्य ज्ञेयोंका निराकरण करता है, इस प्रकार द्वितीय कल्पनाको आप बौद्ध इष्ट करोगे तब तो फिर अद्वैत सम्वेदनकी सिद्धि होना दूर ही फेंक दिया जायगा। क्योंकि स्वकीय विधिको ही करनेवाले ज्ञानके अतिरिक्त दूसरा उन

अन्य ज्ञेयोंके प्रतिषेधको जाननेवाला ज्ञान विद्यमान हो रहा है। दो ज्ञानोंके होनेपर अद्वैत भला कहां रहा? द्वैत होगया।

स्वयं तत्प्रतिषेधकरणाददोष इति चेत्, तर्हि स्वपरविधिप्रतिषेधविषयमेकसंवेदनमित्यायातं। तथा चैकमेव वस्तुसाध्यं साधनं वापेक्षातः कार्यं कारणं च, बाध्यं बाधकं चेत्यादि किन्न सिध्येत्।

यदि बौद्ध यों कहें कि स्वकी विधिको करनेवाला वह सम्वेदन स्वयं अकेला अन्य ज्ञान या ज्ञेयोंका प्रतिषेध कर देता है। अतः हमारे ज्ञान अद्वैत सिद्धातमें कोई दोष नहीं है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो स्वरूपकी विधिको और पररूपके निषेधको विषय करनेवाला एक ही सम्वेदन हुआ। इस प्रकार अनेक धर्मवाले एकधर्मी पदार्थके माननेका प्रसंग प्राप्त हुआ, जो कि जैनसिद्धान्त है। और तैसा होनेपर स्याद्वाद सिद्धांत अनुसार एक ही वस्तु साध्य अथवा साधन भी अपेक्षाओंसे क्यों नहीं सध जायगी? एक ही ज्ञान साध्य और साधन हो सकता है। धूमहेतु अकेला ही कंठाक्षविक्षेपकारित्व हेतुका साध्य और वह्निका साधन हो जाता है। अथवा कारक पक्ष अनुसार धूम वह्निका साध्य है। और ज्ञापक पक्ष अनुसार अग्निका धूम साधन है। तथा एक ही पदार्थ अपने कारणोंका कार्य और अपने कार्योंका कारण बन जाता है। इसी प्रकार मक्खियोंकी बाधक मकडी है। साथमें वह मकडी चिरैयाओंसे बाध्य भी है। सज्जनोंको दुष्ट पुरुष बाधा पहुंचाते हैं। साथ ही में योग्य राजवर्गद्वारा वे दुष्टपुरुष भी बाधित किये जाते हैं। ऐसे ही आधारआधेय, गुरुशिष्य विषयविषयी आदिक भी अपेक्षाओंसे एक एक ही पदार्थ हो जाते हैं। यह अनेकान्त शासन क्यों नहीं सिद्ध हो जाय? कोई बाधा नहीं दीखती है। अपनी रक्षाके लिये अनेकान्तकी शरण ले ली जाय, और अन्य अवसरोंपर तोताकीसी आखे फेर ली जाय, यह न्यायमार्ग नहीं दीखता है।

विरुद्धधर्माध्यासादिति चेत्, तत एव संवेदनमेकं स्वपररूपविधिप्रतिषेधविषयं माभूत्स्वापेक्षाविधायकं परापेक्षया प्रतिषेधकमित्यविरोधे स्वकार्यापेक्षया कारणं स्वकारणापेक्षया कार्यमित्यविरोधोऽस्तु।

यदि बौद्ध यों कहें कि विरुद्ध धर्मोसे आरोढ हो जानेके कारण एक ही पदार्थ साध्य और साधन भी अथवा कार्य और कारण भी आदि नहीं हो सकता है। जिससे कि जिनशासन सिद्ध हो जाय। अनेकान्तमें विरोध दोष लागू होता है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम कहेंगे कि तिस ही कारण एक सम्वेदन भी स्वरूपकी विधि और पररूपके निषेधको विषय करनेवाला नहीं होओ। यहां भी तो सम्वेदनमें विधायकपन और निषेधकपन दो विरुद्ध धर्मोका अध्यास है। यदि आप बौद्ध यों कहें कि अपने रूपकी अपेक्षा विधायकपना और पररूपकी अपेक्षा निषेधकपना इन दो धर्मोको इस प्रकार माननेपर कोई विरोध नहीं है। तब तो हम अनेकान्तवादी भी कह देंगे

कि अपने कार्योंकी अपेक्षाकरके कारणपना और अपने कारणोंकी अपेक्षा करके कार्यपना भी एक पदार्थमें विरोधरहित हो जाओ। अपने गुरुकी अपेक्षासे जिनदत्त शिष्य है, और साथ ही अपने पढाये हुये शिष्योंकी अपेक्षासे वही जिनदत्त गुरु भी है।

अथ स्वतोऽन्यस्य कार्यस्य कारणस्य वा साध्यस्य साधकस्य वा सद्भावासिद्धेः कथं तदपेक्षा यतस्तत्कार्यं कारणं बाध्यं बाधकं च साध्यं साधनं च स्यादिति ब्रूते तर्हि परस्य सद्भावासिद्धेः कथं तदपेक्षा यतस्तत्परस्य प्रतिषेधकं स्वविधायकं वा स्यादित्युपहासास्पदं तत्त्वं सुगतेन भावितमित्याह।

अब आप यदि यों कहो कि स्वयं ज्ञानाद्वैतकी अपेक्षासे तो अन्य हो रहे कार्यकी और कारणकी अथवा साध्य और साधककी सत्ता ही असिद्ध है। अतः उन अन्य पदार्थोंकी भला अपेक्षा कैसे हो सकती है ? जिससे कि एक पदार्थ ही अपेक्षाकृत कार्य और कारण अथवा बाध्य और बाधक तथा साध्य और साधन हो सके, यों बौद्ध कह रहा है। इस प्रकार बौद्धोंकी स्पष्ट युक्ति होनेपर तो हम कहते हैं कि तब तो परके सद्भावकी असिद्धि हो जानेके कारण किस प्रकार उस परकी अपेक्षा हो सकेगी ? जिससे कि यह एक ही सम्वेदन परका निषेध करनेवाला और स्व का विधान करानेवाला हो सके, इस प्रकार हंसी करानेका स्थान ऐसा तत्त्व बुद्धकरके भावना किया गया है, इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज वार्तिकद्वारा स्पष्ट कहते हैं।

न साध्यसाधनत्वादिर्न च सत्येतरस्थितिः।
ते स्वसिद्धिरपीत्येतत्तत्त्वं सुगतभावितम् ॥ १३ ॥

तुम ज्ञानाद्वैतवादियोंके यहां साध्यपन, साधनपन, कार्यपन, कारणपन, बाध्यपन, बाधकपन आदिकी व्यवस्था नहीं है। और सत्य असत्यकी भी कोई व्यवस्था नहीं है। ऐसी दशामें तुम्हारे इष्ट स्वतत्त्व सम्वेदनकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इस कारण यह क्षणिक शुद्ध विज्ञानाद्वैत स्वरूप तत्त्व को सुगतने श्रुतमयी, चिन्तामयी, भावनाओंद्वारा अच्छा विचारा है। यह उपहासपूर्वक कथन है। अर्थात्—मसजिदको ढाकर एक सडी हुयी खेडीको निकालनेके समान लम्बी, चौडी, दीर्घकालिक, भावनाओंद्वारा यह निःसार विज्ञानाद्वैतका सिद्धान्त निकाला गया है। इसपर विद्वानोंको हंसी आती है। जो साध्य और साधनोंको अथवा बाध्य और बाधकोंको नहीं स्वीकार करता है, वह अद्वैत सम्वेदनकी सिद्धि कथमपि नहीं कर सकता है।

ततः स्वरूपसिद्धिमिच्छता सत्येतरस्थितिरङ्गीकर्तव्या साध्यसाधनत्वादिरपि स्वीकरणीय इति बाह्यार्थालम्बनाः प्रत्ययाः केचित्सन्त्येव, सर्वथा तेषां निरालम्बनत्वस्य व्यवस्थानायोगात्।

तिस कारण सम्वेदनके स्वरूपकी सिद्धिको चाहनेवाले बौद्धों करके सत्यपन और असत्यपनकी व्यवस्था स्वीकार करना चाहिये । तभी सम्वेदनाद्वैतका सत्यपन और अन्य अन्तरंग बहिरंग पदार्थोंका असत्यपन स्थिर रह सकेगा । तथा सम्वेदनको साध्यपना और प्रतिभासमानत्वको साधनपना भी मानना चाहिये । इसी प्रकार पूर्वपर्यायको कारणपना और उत्तरपर्यायको कार्यपना या अद्वैतको बाध्यपना और अद्वैतको बाधकपना आदि भी स्वीकार करने चाहिये । इस प्रकार माननेपर कोई कोई ज्ञान बहिरंग अर्थोंको भी विषय करनेवाले हैं ही । उन घटज्ञान, देवदत्तज्ञान आदिक प्रत्ययोंका सर्वथा निरालम्बपनेकी व्यवस्था करनेका तुम्हारे पास कोई समीचीन योग नहीं है । खाने, पीने, पढने पढने, रूप, रस, आदिके समीचीन ज्ञान अपने अपने विषय हो रहे बहिरंग पदार्थोंसे आलम्बन सहित हैं । नंगे हाथपर अग्निके धरदेनेपर हुआ उष्णताका प्रत्यक्ष या दुःखसंवेदन कोरा निर्विषय नहीं है । कीट, पतंग, बालक व बालिका भी इन ज्ञानोंको सविषय स्वीकार करते हैं ।

अक्षज्ञानं बहिर्वस्तु वेत्ति न स्मरणादिकं ।
इत्ययुक्तं प्रमाणेन बाह्यार्थस्यास्य साधनात् ॥ १४ ॥

अब कोई दूसरे विद्वान् कह रहे हैं कि मतिज्ञानोंमें इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए ज्ञान तो बहिरंग पदार्थोंको जानते हैं किन्तु स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदिक तो बहिरंग पदार्थोंको नहीं जानते हैं । और श्रुतज्ञान भी बहिर्भूत पदार्थोंको विषय नहीं करता है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार किसीका कहना युक्तियोंसे रीता है । क्योंकि प्रमाणोंकरके इस बहिर्भूत अर्थकी सिद्धि की जा चुकी है । उन वास्तविक बाह्य अर्थोंको विषय करनेवाले सभी समीचीन मतिज्ञान और श्रुतज्ञान हैं । हां, जो ज्ञान विषयोंको नहीं स्पर्शते हैं, वे मतिज्ञानाभास और श्रुतज्ञानाभास हैं ।

श्रुतं तु बाह्यार्थालम्बनं कथमित्युच्यते ।

कोई पूंछता है कि श्रुतज्ञान तो बाह्यअर्थोंको विषय करनेवाला कैसे है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा स्पष्ट उत्तर यों वक्ष्यमाणरूपसे कहा जाता है सो सुनो ।

श्रुतेनार्थं परिच्छिद्य वर्त्तमानो न बाध्यते ।
अक्षजेनेव तत्तस्य बाह्यार्थालंबना स्थितिः ॥ १५ ॥

श्रुतज्ञान करके अर्थकी परिच्छित्ति कर प्रवृत्ति करनेवाला पुरुष अर्थक्रिया करनेमें उसी प्रकार बाधाको नहीं प्राप्त होता है जैसे कि इन्द्रियजन्य मतिज्ञान करके अर्थको जानकर प्रवर्त रहा पुरुष बाधाको प्राप्त नहीं होता है । भावार्थ—चक्षुसे आम्रफलको देखकर प्रवृत्ति करनेसे आम ही पकडा जाता है । चखा जाता है, सूंघा जाता है, उसी प्रकार श्रुतज्ञानसे जान लिया गया पदार्थ

भी सन्दूक, खेत, अंधेरे कोठेमेंसे पकड लिया जाता है । तिस कारण उस श्रुतज्ञानको बहिरंग अर्थोके आलम्बन करनेकी व्यवस्था बन जाती है ।

सामान्यमेव श्रुतं प्रकाशयति विशेषमेव परस्परनिरपेक्षमुभयमेवेति वा शंकामपाकरोति ।

अब दूसरे प्रकारकी शंका है कि " जातिः पदस्यार्थः " श्रुतज्ञान अकेले सामान्यका ही प्रकाश कराता है । श्रुतज्ञानसे अग्निको जानकर उसके विशेष हो रहे एक विळस्तकी, तृणकी, पत्तेकी, अग्नि आदिको नहीं जान सकते हैं । दूर देश अथवा दूर कालकी बातोंको सुनकर सामान्य रूप ही पदार्थोंका ज्ञान होता है, इस प्रकार मीमांसक कह रहे हैं। तथा बौद्धोंका यह एकान्त है कि " विशेषा एव तत्त्वं " सभी पदार्थ विशेषस्वरूप हैं, सामान्य कोई वस्तुभूत नहीं है, अतः श्रुतज्ञान द्वारा यदि कोई पदार्थ ठीक जाना जायगा तो वह विशेष ही होगा। तीसरे वैशेषिकों नैयायिकोंका यह कहना है कि परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं करते हुये सामान्य और विशेष दोनोंका भी श्रुतज्ञान प्रकाश करा देता है । " जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः " । सामान्य चौथा स्वतंत्र पदार्थ है और विशेष पांचवां स्वतंत्र पदार्थ है । किसी श्रुतज्ञानसे सामान्य जाना जाता है और अन्य किसी श्रुतसे अकेला विशेष ही जाना जाता है अथवा कोई श्रुतज्ञान घट, पटके समान स्वतंत्र हो रहे दोनोंको भी भले ही जान लेता है । किन्तु जैनोंके समान वैशेषिकोंके यहां परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले सामान्य और विशेष पदार्थ नहीं माने गये हैं । इस प्रकार एकान्तवादियोंकी आशंकाओंका निराकरण श्री विद्यानन्द स्वामी करते हैं ।

अनेकान्तात्मकं वस्तु संप्रकाशयति श्रुतं ।
सद्बोधत्वाद्यथाक्षोत्थबोध इत्युपपत्तिमत् ॥ १६ ॥

सामान्य और विशेषस्वरूप अनेक धर्मोंके साथ तदात्मक हो रही वस्तुको श्रुतज्ञान भले प्रकार प्रकाशित करता है (प्रतिज्ञा) समीचीन बोधपना होनेसे (हेतु) जिस प्रकार कि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ सांव्यवहारिक प्रत्यक्षज्ञान अनेकान्तात्मक अर्थका प्रकाश करता है । इस प्रकार वह श्रुतज्ञान सामान्य विशेषात्मक वस्तुको प्रकाशनेमें युक्तियोंसे युक्त है, यानी युक्तियोंको धार रहा है ।

नयेन व्यभिचारश्चेन्न तस्य गुणभावतः ।
स्वगोचरार्थधर्मान्यधर्मार्थप्रकाशनात् ॥ १७ ॥

ऊपर कहे गये अनुमानमें दिये गये समीचीन ज्ञानपन हेतुका नय करके व्यभिचार हो जाय कि नयज्ञान समीचीन बोध तो है । किन्तु वह अनेकान्त वस्तुको नहीं प्रकाशता है । अनेकान्तको जाननेवाला ज्ञान जैनोंने प्रमाणज्ञान माना है । नय तो एकान्त यानी एक एक धर्मको

प्रकाश करती है । सो यह व्यभिचार दोष तो नहीं समझना । क्योंकि उस नयज्ञानको अपने विषयभूत अर्थ धर्मसे अतिरिक्त धर्मोंरूप अर्थका प्रकाश कराना मात्र गौणरूपसे मान लिया गया है । भावार्थ—प्रमाणज्ञान मुख्यरूपसे अनेक धर्मों और धर्मी अर्थको जानता है । किन्तु नयज्ञान मुख्यरूपसे एक धर्मको जानता है और गौणरूपसे वस्तुके अन्य धर्मों या धर्मीका भी प्रकाश करा देता है । सुनयज्ञान अन्य धर्मोंका निषेधक नहीं है । अथवा एक बात यह भी है कि सद्बोधपना हेतु प्रमाणज्ञानोंमें ही वर्तता है । नय तो सद्बोधका एक देश है । वस्तुके अंशको प्रकाशनेवाली नय धर्मी वस्तुका अच्छा मुख्य प्रकाश नहीं कराती है । अतः हेतुके नहीं रहनेपर साध्यके नहीं ठहरनेसे व्यभिचार दोष नहीं आ पाता है ।

श्रुतस्यावस्तुवेदित्वे परप्रत्यायनं कुतः ।
संवृतेश्चेद्वृथैवैषा परमार्थस्य निश्चितेः ॥ १८ ॥

बौद्धलोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं । अवस्तुभूत सामान्यको विषय करने वाला श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं है । इसपर आचार्य कहते हैं कि श्रुतज्ञानको यदि वस्तुभूत पदार्थका ज्ञापक नहीं माना जावेगा तो भला दूसरे प्रतिवादी या शिष्योंको स्वकीय तत्त्वोंका किस उपायसे ज्ञान कराया जावेगा । अप्रमाणभूत न्यायबिन्दु, पिटकत्रय आदि ग्रन्थोंकरके तो दूसरोंका समझाना नहीं हो सकेगा । अतः अतीन्द्रिय पदार्थोंको समझानेके लिये बौद्धोंके पास कोई उपाय नहीं । यदि वस्तुतः नहीं किन्तु सम्वृत्ति यानी लौकिक व्यवहारकी अपेक्षासे श्रुतज्ञानद्वारा दूसरोंका समझाना मान लिया जायगा, तब तो हम कहेंगे कि यह सम्वृत्ति तो वृथा ही है । जो सम्वृत्ति झूंठी है, अनिश्चित है, वृथा है, कल्पना रूप है, उससे परमार्थ वस्तुका निश्चय भला कैसे हो सकता है ? किन्तु शास्त्रोंद्वारा परमार्थका निश्चय हो रहा है । दूसरोंका ठीक समझना भी हो रहा है । अतः ठीक वस्तुको जान रहा श्रुतज्ञान प्रमाण है ।

ननु स्वत एव परमार्थव्यवस्थितेः कुतश्चिदविद्याप्रक्षयाच्च पुनः श्रुतविकल्पात् तदुक्तं “ शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते । अनागमविकल्पा हि स्वयं विद्योपवर्तते” इति तद-युक्तं, परेष्टतत्त्वस्याप्रत्यक्षविषयत्वात्तद्विपरीतस्यानेकान्तात्मनो वस्तुनः सर्वदा परस्याप्य-वभासनात् । लिङ्गस्य स्वरूपाङ्गीकरणीयत्वात् । न च तत्र लिंगं वास्तवमस्ति तस्य साध्याविनाभावित्वेन प्रत्यक्षत एव प्रतिपत्तुमशक्तेरनुमानान्तरात् प्रतिपत्तावनवस्था प्रसंगात्, प्रवचनादपि नेष्टतत्त्वव्यवस्थितिः तस्य तद्विषयत्वायोगादिति कथमपि तद्वेतरमात्रात् स्वतस्तत्त्वावभासनासम्भवात् । तथा चोक्तं । “ प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र तल्लिङ्गगम्यं न तदर्थलिङ्गं । वाचो न वा तद्विषये न योगः का तद्गतिः कष्टमश्रृण्वतस्ते ॥ ” इति ।

बौद्ध विद्वान् अपने मतका अवधारण करते हैं कि परमार्थभूत पदार्थकी व्यवस्था तो किसी भी अनिर्वचनीय कारण द्वारा अविद्याका प्रकृष्टक्षय हो जानेसे स्वतः ही हो जाती है। किन्तु फिर विकल्पस्वरूप मिथ्या श्रुतज्ञानसे वस्तुभूत अर्थकी व्यवस्था नहीं हो पाती है। वही हम बौद्धोंके यहां ग्रन्थोंमें कहा गया है कि शास्त्रोंमें भिन्न भिन्न प्रक्रिया द्वारा अविद्या ही कही जा रही है। क्योंकि शब्द विचारे वस्तुभूत अर्थको नहीं छूते हैं। स्वयं सम्यग्ज्ञानरूप विद्या तो आगमस्वरूप निर्विषय विकल्पज्ञानोंके नहीं गोचर हो रही सन्ती स्वयं यों ही वर्त जाती है। जैनोंके यहां भी तत्त्वको निर्विकल्पक माना है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका वह कहना अयुक्त है। क्योंकि आप दूसरे बौद्धोंके यहां इष्ट किये गये तत्त्वोंका प्रत्यक्षज्ञान द्वारा गोचर हो जाना नहीं बन सकता है। प्रत्युत उन बौद्धोंके इष्ट क्षणिक विज्ञान आदि तत्त्वोंसे विपरीत हो रहे अनेकान्तात्मक वस्तुका ही सर्वदा प्रत्यक्ष द्वारा दूसरे विद्वानोंको भी प्रतिभास हो रहा है। अतः प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति नहीं होनेपर अपने इस अभीष्ट तत्त्वकी लिंगद्वारा ज्ञप्ति कराना तुमको अवश्य अंगीकर्त्तव्य होगा। किन्तु उस इष्ट तत्त्वको साधनेमें तुम्हारे पास कोई वस्तुभूत ज्ञापक लिंग नहीं है। क्योंकि उस हेतुकी अपने साध्यके साथ अविनाभावीपन करके प्रत्यक्षप्रमाणसे ही तो प्रतिपत्ति नहीं की जा सकती है। क्योंकि व्याप्तिज्ञान तो विचारक है उसको आप प्रमाण नहीं मानते हैं। जो जो धूमवान् प्रदेश हैं वे वे अग्निमान् हैं, इतने विचारोंको विचारा अविचारक प्रत्यक्ष कैसे भी नहीं कर सकता है। यदि साध्यके साथ अविनाभावीपनकी प्रतिपत्ति दूसरे अनुमानसे की जायगी तो उस अनुमानके उदयमें भी व्याप्तिकी आवश्यकता पड़ेगी। फिर भी व्याप्ति जाननेके लिये अन्य अन्य अनुमानोंकी शरण पकड़नेसे अनवस्था दोष आ जानेका प्रसंग होता है, तुम्हारे बौद्धोंके इष्टतत्त्वोंकी व्यवस्था प्रवचन (आगम) से भी नहीं हो सकती है। क्योंकि उस आपके आगमको उन इष्ट पदार्थोंके विषय करनेपनका अयोग है। इस प्रकार तुम्हारे उस इष्टतत्त्वका ज्ञान कैसे भी नहीं हो सकता है। विचारे तत्त्वोंका स्वतः प्रकाश होना तो असम्भव है। अन्यथा यों तो सभी जीवोंको स्वतः वास्तविक तत्त्वोंका ज्ञान हो जावेगा। फिर शास्त्राभ्यास, अध्ययन, अध्यापन, योगाभ्यास, व्यर्थ पड़ेगा। जगत्के कोई भी नवीन कार्य स्वतः नहीं हो जाते हैं। ऐसी दशामें आपके परमार्थ तत्त्वकी व्यवस्था असम्भव हो गयी। तिस ही प्रकार ग्रन्थोंमें कहा है कि जिस बौद्धोंके माने हुये तत्त्वमें प्रत्यक्षज्ञान चलता नहीं है, और जो तत्त्व ज्ञापक हेतुओं करके भी जानने योग्य नहीं हैं, तथा बौद्धोंने स्वयं उसके जाननेके लिये कोई ज्ञापक हेतु अभीष्ट किया भी नहीं है, क्योंकि बौद्धोंके यहां हेतु केवल समारोपका व्यवच्छेद कर देते हैं, वस्तुभूत अज्ञात तत्त्वका ज्ञापन नहीं करते हैं, तथा बौद्धोंने उन अपने इष्ट विषयोंमें वाचक शब्दोंका वाच्यवाचक संबंध नहीं माना है। यानी आगमद्वारा भी इष्ट तत्त्व नहीं जाना जाता है, इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, इन प्रमाणोंका गोचर नहीं होनेसे अब तुम्हारे उन इष्ट तत्त्वोंकी क्या गति होगी ? अतीन्द्रिय अर्थोंका

शास्त्रद्वारा नहीं श्रवण होना माननेवाले तुम्हारी दयनीय दशापर कष्ट उत्पन्न होता है। यों तुम्हारे ऊपर बडे कष्टका अवसर आ पडा है। यहांतक बौद्धोंके घरके कच्चे चिह्नका वर्णन कर दिया है।

तत एव वेद्यवेदकभावः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावो वा न परमार्थतः किन्तु संवृत्यैवेति चेत्, तदिह महाधाष्टर्यं येनायं त्रिपिटकमपि जयेत्। तथोक्तं। "संवृत्या साधयंस्तत्त्वं जयेद्धाष्टर्येन डिंडिकं। मत्या मत्तविलासिन्या राजविप्रोपदेशिनं॥" इति।

बौद्ध कहते हैं कि अच्छा हुआ सच पूछो तो वास्तविक पदार्थोंमें ज्ञानोंकी प्रवृत्ति ही नहीं है। तथा परमार्थभूत पदार्थोंका गुरुशिष्यद्वारा या शास्त्रद्वारा समझना, समझाना, भी नहीं हो पाता है। तिस ही कारण तो हमारे यहां वेद्यवेदक भाव अथवा प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव वस्तुतः नहीं माना गया है। किन्तु लौकिक व्यवहारसे ही ज्ञेयज्ञायक भाव और प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव जगत् में कल्पित कर लिया गया है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हमें कहना पडता है कि इस प्रकरणमें यह बौद्धोंका कहना बडी भारी धीठता है, जिस धीठता करके यह बौद्ध महा निर्लज्ज हंसी करनेवाले भांडोंको भी जीत लेगा। उसी प्रकार ग्रन्थोंमें लिखा हुआ है कि झूंठे व्यवहारसे तत्त्वोंको साध रहा यह बौद्ध अपनी धीठता करके विदूषक या भांड अथवा डोंडीवाले (वाद्यविशेष) को भी जीत लेगा। जो डिंडिक मदमत्तपनेसे विलास करनेवाली बुद्धि करके बडे भारी विद्वान् राज पुरोहितको भी उपदेश सुनाता रहता है। इस प्रकार उपहास और भर्त्सनासे बौद्धोंके निःसार मतका यहांतक दिग्दर्शन कराया है।

कथं वा संवृत्यसंवृत्योः विभागं बुध्येत्? संवृत्येति चेत्, सा चानिश्चिता तयैव किञ्चिन्निश्चिनोतीति कथमनुन्मत्तः, सुदूरमपि गत्वा स्वयं किञ्चिन्निश्चिन्वन् परं च निश्चाययन्वेद्यवेदकभावं प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावं च परमार्थतः स्वीकर्त्तुमर्हत्येव, अन्यथो-पेक्षणीयत्वप्रसंगात्।

और यह विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध विचारा संवृत्ति यानी व्यवहार सत्य और असम्वृत्ति यानी मुख्य सत्य पदार्थोंके विभागको भला कैसे समझ सकेगा? अद्वैतवादमें तो बुद्धियोंका न्यारा विभाग होना बन नहीं सकता है। यदि बौद्ध यों कहें कि झूंठे व्यवहारसे ही सम्वृत्ति और अस-म्वृत्तिका विभाग मान लिया जायगा, तब तो हम कहेंगे कि वह सम्वृत्ति तो स्वयं अनिश्चित है। उस ही करके यह बौद्ध पण्डित किसी पदार्थका निश्चय कर रहा है, ऐसी दशामें तो बौद्ध कैसे उन्मत्त नहीं माना जा सकेगा? अर्थात्-अनिश्चित पदार्थसे किसी वस्तुका निश्चय करनेवाला पुरुष उन्मत्त ही कहा जाना चाहिये। बहुत दूर भी जाकर यह बौद्ध स्वयं किसीका निश्चय करता हुआ और दूसरे प्रतिपाद्यको यदि अन्य पदार्थका निश्चय कराना मानेगा तब तो वेद्यवेदकभाव और प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावको वास्तविकरूपसे स्वीकार करनेके लिये योग्य हो जाता ही है। स्वयं निश्चय

करनेसे वेद्यवेदकभाव बन गया और परपुरुषको निश्चय करानेसे प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव बन गया। अन्यथा यानी किसी निश्चित प्रमाण या वाक्यसे अनिश्चितका निश्चय कराना नहीं मानोगे अथवा निश्चित किये गये तत्त्वसे अन्यका निश्चय करना मानते हुए भी वेद्यवेदकभाव और प्रतिपाद्यप्रतिपादक भावको नहीं मानोगे तो विद्वानोंके मध्यमें बौद्धोंको उपेक्षणीयपना प्राप्त हो जानेका प्रसंग होगा। भावार्थ—ऐसे अप्रमाणीक कहनेवाले बौद्धकी अन्य विद्वान् कोई अपेक्षा नहीं रखेंगे। मूर्ख समझकर टाल दिया करेंगे। जैसे कि भिन्नदेशीय राज्य करनेवाले अधिकारी वर्ग भोंदू स्वदेशीयप्रजाकी पुकारको टाल देते हैं।

तथा च वस्तुविषयमध्यक्षमिव श्रुतं सिद्धं सद्बोधत्वान्यथानुपपत्तेः।

तिस कारण प्रत्यक्षके समान श्रुतज्ञान भी वस्तुभूत अर्थको विषय करनेवाला सिद्ध हो जाता है। क्योंकि सद्बोधपना अन्यथा यानी पारमार्थिक पदार्थको विषय करना माने विना नहीं बन सकता है। अतः सोलहवीं वार्त्तिकद्वारा किया गया अनुमान युक्तिपूर्ण है। श्रुतज्ञानके विषय वस्तुभूत बहिरंग अर्थ है। अन्तरंग अर्थ और स्वको भी श्रुतज्ञान जानता है।

तर्हि द्रव्येष्वेव मतिश्रुतयोर्निबंधोस्तु तेषामेव वस्तुत्वात् पर्यायाणां परिकल्पितत्वात् पर्यायेष्वेव वा द्रव्यस्यावस्तुत्वादिति च मन्यमानं प्रत्याह।

कोई एकान्तवादी मान रहे हैं कि तब तो यानी श्रुतज्ञानका सालम्बनपना सिद्ध हो चुकने पर अकेले द्रव्योंमें ही मतिज्ञान और श्रुतज्ञानोंका विषय नियत रहो। क्योंकि उन द्रव्योंको ही वस्तुभूतपना है। पर्यायें तो चारों ओर कल्पनाओंसे यों ही कोरी गढली गयी हैं। यथार्थ नहीं हैं, अथवा पर्यायोंमें ही मति श्रुतज्ञानोंकी विषयनियति मानलो द्रव्य तो वस्तुभूत पदार्थ नहीं है। इस प्रकार साभिमान स्वीकार कर रहे, प्रतिवादियोंके प्रति आचार्य महाराज स्पष्ट समाधि-वचन कहते हैं।

सर्वपर्यायमुक्तानि न स्युर्द्रव्याणि जातुचित्।
सद्वियुक्ताश्च पर्यायाः शशशृंगोच्चतादिवत्॥ १९॥

वस्तुभूत द्रव्यें विचारी सम्पूर्ण पर्यायोंसे रहित कदापि नहीं हो सकती हैं और पर्यायें भी सत् द्रव्यसे कदाचित् भी वियोग प्राप्त नहीं हो सकती हैं। जैसे कि शश (खरगोश) के सींगकी ऊंचाई, चिकनाई, टेढापन आदिक कोई नहीं है। भावार्थ—किसी भी समय द्रव्यको देखो, वह किसी न किसी पर्यायको धारे हुये हैं। पहिले जन्ममें जिनदत्त देवदत्त था, अब बालक है, कुमार युवा आदि अवस्थाओंको धारेगा। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्यके सदा ही घट, पट आदि अनेक परिणाम हो रहे हैं। तथा द्रव्यके बिना केवल पर्यायें स्थिर नहीं रहती हैं। आम्र फलका मीठापन, सुगंध, पीलापन

आदि पर्यायें पुद्गलद्रव्यके अधीन हैं। ज्ञान, सुख, बन्ध, मोक्ष, पण्डिताई आदिक परिणाम जीव द्रव्यके अधीन हैं। वस्तुतः अनेक पर्यायोंसे गुम्फित द्रव्य हो रहा है। पर्याय और द्रव्योंका तदात्मक पिण्ड वस्तुभूत है।

न सन्ति सर्वपर्यायमुक्तानि द्रव्याणि सर्वपर्यायनिर्मुक्तत्वाच्छशशृंगवत्। न सन्त्येकान्तपर्यायाः सर्वथा द्रव्यमुक्तत्वाच्छशशृंगोच्चत्वादिवत्। ततो न तद्विषयत्वं मतिश्रुतयोः शङ्कनीयं प्रतीतिविरोधात्।

सम्पूर्ण पर्यायोंसे छूटे हुये जीव आदिक द्रव्य (पक्ष) नहीं हैं (साध्य) (प्रतिज्ञा) सम्पूर्ण पर्यायोंसे सर्वथा रहितपना होनेसे (हेतु) जैसे कि शशका सींग कोई वस्तु नहीं है (दृष्टान्त) इस अनुमान द्वारा पर्यायोंसे रहित हो रहे केवल द्रव्यका प्रत्याख्यान कर दिया गया है। तथा एकान्तरूपसे केवल पर्यायें ही (पक्ष) नहीं हैं (साध्य)। सभी प्रकार द्रव्योंसे छोड दिया जाना होनेसे (हेतु) शशाके सींगकी उच्चता आदिकी पर्यायें जैसे नहीं हैं (दृष्टान्त)। इस अनुमान द्वारा बौद्धोंकी मानी हुयीं द्रव्यरहित अकेली पर्यायोंका खण्डन कर दिया गया है। तिस कारणसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें उन केवल द्रव्यों या केवल पर्यायोंका विषय करलेनापन शंका करने योग्य नहीं है। क्योंकि प्रमाणप्रसिद्ध प्रतीतिओंसे विरोध आता है।

नाशेषपर्ययाक्रान्ततनूनि च चकासति।
द्रव्याणि प्रकृतज्ञाने तथा योग्यत्वहानितः ॥ २० ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानद्वारा द्रव्य और पर्यायोंका विषय हो जाना जब सिद्ध हो चुका तो द्रव्यकी सम्पूर्ण पर्यायोंको दोनों ज्ञान क्यों नहीं जान लेते हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य कहते हैं कि जिन द्रव्योंका शरीर सम्पूर्ण पर्यायोंकरके चारों ओरसे घिरा हुआ है, उन सम्पूर्ण पर्यायवाली द्रव्यें तो प्रकरणप्राप्त ज्ञानमें नहीं प्रकाशित होती हैं। अर्थात्–मतिज्ञान श्रुतज्ञान सम्पूर्ण पर्यायों सहित द्रव्योंका नहीं प्रतिभास कराते हैं। क्योंकि तिस प्रकारके योग्यतारूप क्षयोपशम या क्षयकी हानि हो रही है। आवरणोंके विगम अनुसार ज्ञान अपने ज्ञेयोंका प्रतिभास करा सकते हैं। यों ही अंट संट चाहे जिसको नहीं प्रकाश देते हैं।

ननु च यदि द्रव्याण्यनंतपर्यायाणि वस्तुत्वं बिभ्रति तदा मतिश्रुताभ्यां तद्विषयाभ्यां भवितव्यमन्यथा तयोरवस्तुविषयत्वापत्तेरिति न चोद्यं, तथा योग्यतापायात्। न हि वस्तुसत्तामात्रेण ज्ञानविषयत्वमुपयाति। सर्वस्य सर्वदा सर्वपुरुषज्ञानविषयत्वमसंगात्।

कारिकाका विवरण यों है यहां कोई शंका करता है कि अनन्त पर्यायवाले द्रव्य यदि वस्तुपनको धार रहे हैं, तब तो मतिज्ञान श्रुतज्ञानों करके उन संपूर्ण अनन्तपर्यायोंको विषय कर लेना

हो जाना चाहिये । यानी मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उन संपूर्ण पर्यायोंको विषय करनेवाले हो जायंगे। अन्यथा उन ज्ञानोंको अवस्तुके विषय कर लेनेपनका प्रसंग आवेगा। अर्थात्-द्रव्यकी तदात्मक हो रहीं बहुतसी पर्यायें जब ज्ञानोंसे छूट जायंगी तो ज्ञान ठीक ठीक वस्तुको विषय करनेवाले नहीं होकर किसी थोडी पर्यायवाली वस्तु (वस्तुतः अवस्तु) को विषय करते रहेंगे। जो कतिपय अंगोंसे रहित देवदत्तको केवल हाथपगवाला ही देख रहा है, सच पूछो तो वह देवदत्तको ही नहीं देख रहा है। पीलापन, हरापन, खट्टामीठापन, उष्णता, गंध आदि पर्यायोंसे रहित आमको जाननेवाला क्या आम्रफलका ज्ञाता कहा जा रहा है ? कभी नहीं। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारका कुचोद्य उठाना अच्छा नहीं है। क्योंकि तिस प्रकार अनन्तपर्यायों अथवा सम्पूर्णपर्यायोंके जाननेकी योग्यता मति श्रुत दो ज्ञानोंमें नहीं है। केवल जगत्में सद्भाव हो जानेसे ही कोई वस्तुज्ञानके विषयपनको प्राप्त नहीं हो जाती है। यदि जगत्में पदार्थ विद्यमान हैं, एतावता ही जीवोंके ज्ञानमें विषय हो जांय तब तो सम्पूर्ण पदार्थोंका सदा ही सम्पूर्ण जीवोंके ज्ञानमें विषय हो जानेका प्रसंग आवेगा। आम्रफल, कचौडी, मोदक, आदिमें असंख्यगुण अनेक पर्यायोंस्वरूप परिणाम हो रहे हैं। किन्तु पांच इन्द्रियोंद्वारा हमको उनके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्दों या आकृति का तो ज्ञान हो जाता है। शेष परिणामोंका ज्ञान नहीं हो पाता है। तिस प्रकारके पुण्य विना जगत्में अनन्त पदार्थ विद्यमान हो रहे भी प्राप्त नहीं होते हैं। जीव अपने घरमें रक्खे हुये पदार्थोंका भी भोग विना पुण्यके नहीं कर सकते है। खेत, या बागोंका सेवक उन धान्य फलोंका आनन्द नहीं ले पाता है। प्रभु ही भोगता है, जरीगोटा या सुवर्ण रत्नोंके भूषण बनानेवाले कारीगर उनके परिभोगसे वंचित रहते हैं। मेवा, सेव अनार दूध आदिको बेचनेवाले या पैदा करनेवाले प्राणिजन लोभवश उनका भोग नहीं कर पाते हैं। देशान्तरवर्ती पुण्यवान् उनको भोगते हैं। यहांतक कि बहुभाग पदार्थोंका तो साधारण जीवोंको ज्ञान भी नहीं हो पाता है। ज्ञप्तिके कारणोंको योग्यता जैसी मिलेगी, उतने ही पदार्थोंका ज्ञान हो सकेगा, अधिकका नहीं। हां, एक अंशका भी ज्ञान हो जानेसे तदात्मक, वस्तुका ज्ञान कहा जा सकता है। एक रस या रूपके द्वारा भी हुआ आम्रका ज्ञान वस्तुका ज्ञान कहा जा सकता है। वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंपर तो सर्वज्ञका ही अधिकार है।

किं तर्हि वस्तुनः परिच्छित्तौ कारणमित्याह ।

तो फिर आचार्य महाराज तुम ही बतलाओ कि वस्तुकी यथार्थ ज्ञप्ति करनेमें क्या कारण है ? इस प्रकार सरलतापूर्वक जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानंद आचार्य समाधान कहते हैं।

ज्ञानस्यार्थपरिच्छित्तौ कारणं नान्यदीक्ष्यते ।
योग्यतायास्तदुत्पत्तिः सारूप्यादिषु सत्स्वपि ॥ २१ ॥

बौद्धोंद्वारा माने गये ज्ञानका विषयके प्रति नियम करनेमें तदुद्भूतपना (तदुत्पत्ति) तदाकारता, तदध्यवसाय आदिके होते सन्ते भी योग्यताके अतिरिक्त अन्य कोई कारण ज्ञानके द्वारा अर्थकी परिच्छित्ति करनेमें नहीं दीख रहा है। अर्थात्—जिस कारणसे ज्ञान उत्पन्न होय, उसी कारणस्वरूप अर्थको वह कार्यस्वरूप ज्ञान जान रहा है। अन्य-पदार्थोंको नहीं जानता है। इस प्रकार नियम करनेपर इन्द्रिय, अदृष्ट आदिकरके व्यभिचार आता है। अतीन्द्रिय इन्द्रियोंसे ज्ञान उत्पन्न तो हुआ है। किन्तु वे रूपज्ञान, रसज्ञान आदिक तो चक्षु, रसना, आदिक इन्द्रियोंको नहीं जान पाते हैं। इसी प्रकार ज्ञान अपने कारण हो रहे पुण्यपापको भी नहीं जान पाता है। यह तदुत्पत्तिका व्यभिचार है। तथा तदाकारता माननेपर सदृश अर्थ करके व्यभिचार होता है। एक ईंटका चक्षुद्वारा प्रत्यक्ष कर लेनेपर उसके समान सभी देशान्तर कालान्तरवर्ती ईंटोंका चाक्षुष ज्ञान हो जाना चाहिये। क्योंकि ज्ञानमें ईंटका प्रतिबिम्ब पड चुका है। एक ईंटका जैसा प्रतिबिम्ब है, वही प्रतिबिम्ब सदृश अन्य ईंटोंका भी पड चुका है। फिर सम्पूर्ण एक सांचे की ईंटोंका प्रत्यक्ष हो जाना चाहिये। एक सन या टकसालके ढले हुए सभी समान रूपयोंका भी दीख जाना मात्र एक रुपयाके देखलेनेपर हो जाना चाहिये। यह तदाकारताका समान अर्थोंकरके व्यभिचार हुआ। यदि तदाकारता और तदुत्पत्ति दोनोंको मिलाकर नियामक मानोगे तो उक्त दोनों व्यभिचार टल जायंगे। किन्तु सामान्य अर्थके अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञानकरके व्यभिचार हो जायगा। तदध्यवसाय पद देकर उक्त व्यभिचारका निवारण हो सकता है। फिर भी तद्रूप, तदुत्पत्ति और तदध्यवसायका शुक्ल शंखमें उत्पन्न हुये पीले आकारको जाननेवाले ज्ञानसे जन्य विज्ञानको अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञानको जाननेमें प्रमाणपनेका प्रसंग प्राप्त हो जायगा। यों ज्ञानका विषयके प्रति नियम करानेमें और भी कोई नियामक नहीं है। अतः योग्यताको ही व्यभिचाररहित नियामकपना समझना चाहिये।

यस्मादुत्पद्यते ज्ञानं येन च सरूपं तस्य ग्राहकमित्ययुक्तं समानार्थसमनन्तरप्रत्ययस्य तेनाग्रहणात्। तद्ग्रहणयोग्यतापायात्तस्याग्रहणे योग्यतैव विषयग्रहणनिमित्तं वेदनस्येत्यायातम्। योग्यता पुनर्वेदनस्य स्वावरणविच्छेदविशेष एवेत्युक्तप्रायम्।

जिस कारणसे ज्ञान उत्पन्न होता है और जिसके समानरूप प्रतिबिम्बको ले लेता है, वह ज्ञान उसका ग्राहक है, इस प्रकार बौद्धोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि दोनों कारणोंके रहते हुए भी समान अर्थके समनन्तर प्रत्ययका उस दूसरे उत्तरवर्ती ज्ञानकरके ग्रहण नहीं होता है। जब कि पूर्ववर्ती ज्ञानसे दूसरा ज्ञान उत्पन्न हुआ है। और पूर्वज्ञानका उत्तर ज्ञानमें आकार भी पड़ा हुआ है, फिर वह उत्तरवर्ती ज्ञान भला पूर्वज्ञानको विषय क्यों नहीं करता है? उस पूर्वज्ञानके ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं होनेसे उत्तरज्ञानद्वारा उसका नहीं ग्रहण होना मानोगे, तब तो सर्वत्र ज्ञानके द्वारा विषयके ग्रहण होनेमें निमित्तकारण या नियमकर्त्री योग्यता ही है, यह सिद्धांत आया।

इसी बातको हम जैन बहुत देरसे कह रहे हैं। फिर ज्ञानकी योग्यता तो अपने आवरण करनेवाले कर्मोंका क्षयोपशमविशेष ही है। इस बातको हम बहुत करके पूर्व प्रकरणोंमें कह चुके हैं। यहां इतना ही कहना है कि ज्ञानावरण कर्मोंका विशेषरूपसे विराम हो जानास्वरूप योग्यताके नहीं होनेसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अनन्तपर्यायोंको नहीं जाना पाते हैं।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रके प्रकरण यों हैं कि ज्ञानके विषयोंमें अनेक प्रवादियोंकी विप्रतिपत्तियां हैं। अतः पहिले दो ज्ञानोंके विषयमें पडे हुये विवादकी निवृत्तिके लिये सूत्र कहना आवश्यक बताकर सूत्रोक्त पदोंका लक्षण किया है। पूर्व सूत्रसे केवल विषय शब्दकी अनुवृत्ति की गई है। अनुवृत्ति की गयी शब्दावली विचारी भिन्न भिन्न परिस्थितीके अनुसार अनेक विभक्ति या वचनोंको धार लेती हैं। जैसे कि विभिन्न व्यवहारवाले कुलोंमें जाकर वधूटी अपने स्वभावोंको तदनुसार कर लेती है। केवल पर्यायों अथवा केवल द्रव्यकों ही विषय करनेवाले दोनों ज्ञान नहीं हैं। ये दोनों ज्ञान अन्तरंग और बहिरंग अर्थोंको जानते हैं। यहांपर बौद्धोंके साथ अच्छा विचार किया गया है। विशेष युक्तियोंकरके विज्ञानाद्वैतका प्रत्याख्यान कर अनेकान्तको साधा है। स्मरण आदिक ज्ञान भी बहिरंग अर्थोंको विषय करते हैं। निरालम्बन नहीं हैं। श्रुतज्ञान अनेकान्तस्वरूप वस्तुका अच्छा प्रकाश करता है। श्रुतज्ञानको प्रमाण मानना चाहिये, अन्यथा अपने सिद्धान्तका दूसरेके लिये प्रतिपादन करना अशक्य है। अविद्यास्वरूप शास्त्रोंसे वस्तुभूत तत्त्वोंकी सिद्धि नहीं हो सकती है। द्रव्य और पर्याय दोनों वास्तविक पदार्थ हैं। विशिष्टरूपसे ज्ञानावरणका विनाश नहीं होनेके कारण अनन्तपर्यायोंको मतिज्ञान और श्रुतज्ञान नहीं जान सकते हैं। प्रतिपक्षी कर्मोंका क्षयोपशम या क्षयस्वरूप योग्यता ही ज्ञानद्वारा विषय ग्रहणमें नियमकारिणी है। अन्य तद्रूप्य आदिका व्यभिचार देखा जाता है। वर्तमानकालके जीवोंमें छोटे कीटसे लेकर उद्भट विद्वानोंतकमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानोंका परिवार फैला हुआ है। मेस्मेरेजम, मुद्राविज्ञान, ज्योतिषशास्त्र आदिक ज्ञान उक्त ज्ञानोंकी ही शाखायें हैं। इस प्रकार मतिज्ञान श्रुतज्ञानकी विषय व्यवस्था निर्णीत कर लेनी चाहिये।

द्रव्येषु जीवादिषु पर्ययेषु त्वल्पेषु नानन्तविकल्पितेषु।
साळम्बने सद्विषये निबद्धे मतिश्रुते स्तां निजरूपलब्ध्यै ॥ १ ॥



मतिज्ञान श्रुतज्ञानोंके विषयोंका नियम कर अब क्रमप्राप्त अवधिज्ञानके विषयोंकी नियतिको दिखलानेके लिए श्री उमास्वामी महाराज अपने कलानिधि आत्माचन्द्रसे सूत्रस्वरूप कलाका प्रसार कर भव्यचकोरोंको संतृप्त करते हैं।

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

रूपवान् पदार्थोंमें अवधिज्ञानका विषय नियमित हो रहा है । अर्थात्–धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन अमूर्त्त द्रव्योंको छोडकर पुद्गलके साथ बन्धको प्राप्त हो रहे मूर्त्त जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य तथा इन दो द्रव्योंकी कतिपय (असंख्याती) पर्यायोंमें अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति नियत हो रही समझनी चाहिये ।

किमर्थमिदं सूत्रमित्याह ।

इस सूत्रको श्री उमास्वामी महाराज किस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये कह रहे हैं, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज वार्तिकद्वारा समाधान कहते हैं ।

प्रत्यक्षस्यावधेः केषु विषयेषु निबन्धनम् ।
इति निर्णीतये प्राह रूपिष्वित्यादिकं वचः ॥ १ ॥

आदिके दो मति और श्रुत इन परोक्ष ज्ञानोंके विषयका नियम कर तीसरे प्रत्यक्षज्ञान स्वरूप हो रहे अवधिका किन विषयोंमें नियम हो रहा है ? इसका निर्णय करनेके लिये " रूपिष्ववधेः " इस प्रकार सूत्रवचनको श्री उमास्वामी महाराज बहुत अच्छा कह रहे हैं । इस सूत्रके कहे विना अवधिज्ञानके विषयका नियम करना कथमपि नहीं हो सकता है ।

रूपं पुद्गलसामान्यगुणस्तेनोपलक्ष्यते ।
स्पर्शादिरिति तद्योगात् रूपिणीति विनिश्चयः ॥ २ ॥

रूपी शद्बमें मत्वर्थीय इन प्रत्यय नित्ययोगको कहनेवाली हैं, पुद्गलद्रव्यका सम्पूर्ण ही पुद्गल द्रव्योंमें पाया जाय ऐसा सामान्यगुणरूप है । उस रूपकरके अविनाभाव रखनेवाले स्पर्श, रस, गन्ध, आदि गुण भी उपलक्षण कर पकड लिये जाते हैं । जैसे कि " कौआसे दहीकी रक्षा करना " यहां उपलक्षण हो रहे काक पदसे दहीके उपघातक सभी पशुपक्षियोंका ग्रहण हो जाता है । इस प्रकार उस रूपका योग हो जानेसे रूपवाले पदार्थमें ऐसा कहनेसे रूपवाले, रसवाले, गन्धवाले पदार्थोंमें अवधिज्ञान प्रवर्तता है ऐसा विशेष निश्चय कर लिया जाता है ।

तेष्वेव नियमोऽसर्वपर्यायेष्ववधेः स्फुटम् ।
द्रव्येषु विषयेष्वेवमनुवृत्तिर्विधीयते ॥ ३ ॥

उन रूपवाले द्रव्योंमें ही और उनकी अल्प पर्यायोंमें ही अवधिज्ञानका विषय नियम स्पष्ट रूपसे विशद हो रहा है । यों उद्देश्य दलमें " एवकार " लगा दिया जाय, इस सूत्रमें पूर्व सूत्रसे

द्रव्येषु और असर्वपर्यायेषु तथा पूर्व पूर्व सूत्रसे " विषयेषु " इस प्रकार तीन पदोंकी अनुवृत्ति कर ली जाती है, " निबन्धः " यह पद भी चला आ रहा है। अतः अवधिज्ञानका विषयनिबन्ध रूपी द्रव्योंमें और उनकी असर्वपर्यायोंमें है, यह वाक्यार्थ बन जाता है।

रूपं मूर्तिरित्येके, तेषामसर्वगतद्रव्यपरिमाणं मूर्तिः स्पर्शादिर्वा मूर्तिरिति मतं स्यात्। प्रथमपक्षे जीवस्य रूपित्वप्रसक्तिरसर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणाया मूर्तेस्तत्र भावात्। सर्वगतत्वादात्मनस्तदभाव इति चेन्न शरीरपरिमाणानुविधायिनस्तस्य प्रसाधनात्।

रूप शब्दका अर्थ मूर्ति है, इस प्रकार कोई एक विद्वान् कह रहे हैं। इसपर हम जैन पूंछते हैं कि उन विद्वानोंके यहां क्या अव्यापक द्रव्योंके परिमाणको मूर्ति माना गया है ? अथवा स्पर्श आदिक गुण ही मूर्ति हैं ? यह मन्तव्य होगा ? बताओ। पहिला पक्ष ग्रहण करनेपर तो जीवद्रव्यको रूपीपनेका प्रसंग होगा। क्योंकि अव्यापक द्रव्यका परिमाणस्वरूप मूर्तिका उस जीव द्रव्यमें सद्भाव पाया जाता है। यदि वैशेषिक या नैयायिक यहां यों कहें कि सर्वत्र व्यापक होनेके कारण आत्मा द्रव्यके उस अव्यापक द्रव्यपरिमाणस्वरूप मूर्तिका अभाव है। अर्थात्-सर्वगत आत्मा तो अमूर्त है। आचार्य कहते हैं कि सो यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस आत्माकी शरीरके परिमाणको अनुविधान करनेवालेपनकी प्रमाणोंसे सिद्धि की जा चुकी है। अर्थात्-प्रत्येक जीवका आत्मा उसके शरीर बराबर होता हुआ अव्यापक द्रव्य है। अतः पहिले मूर्तिके लक्षणकी आत्मद्रव्यमें अतिव्याप्ति हो जाती है।

स्पर्शादिमूर्तिरित्यस्मिंस्तु पक्षे रूपं पुद्गलसामान्यगुणस्तेन स्पर्शादिरुपलक्ष्यते इति तद्योगाद्द्रव्याणि रूपीणि मूर्तिमन्ति कथितानि भवन्त्येव तथेह द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु इति निबन्ध इति चानुवर्तते। तेनेदमुक्तं भवति मूर्तिमत्सु द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु विषयेषु अवधेर्निबन्ध इति।

हां, द्वितीय कल्पना अनुसार स्पर्श आदिक गुण मूर्ति हैं। इस प्रकारके पक्षका ग्रहण करनेपर तो अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो जाता है। पुद्गल द्रव्यका सामान्य गुणरूप है। उस रूप करके स्पर्श, रस आदि गुणोंका उपलक्षण कर लिया जाता है। इस कारण उस रूपके योगसे रूपवाली द्रव्यें मत्वर्थीय प्रत्ययद्वारा मूर्तिवाली कह दी जाती हैं। तिसी प्रकार यहां पूर्व सूत्रोंसे द्रव्येषु, असर्वपर्यायेषु, विषयेषु, ये शब्द और निबन्ध इस प्रकार चार शब्दोंकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। तिस कारण इन शब्दोंद्वारा यह वाक्यार्थ बोध कह दिया गया हो जाता है कि मूर्तिमान् द्रव्य और कतिपय पर्याय स्वरूप विषयोंमें अवधिज्ञानका नियम हो रहा है। अर्थात्-मूर्तिमान् द्रव्यों और उनकी थोडीसी पर्यायोंमें अवधिज्ञानका विषय नियत हो रहा है। इस प्रकार सूत्रका अर्थ समाप्त हुआ।

कुत एवं नान्यथेत्याह।

कोई शिष्य जिज्ञासा करता है कि इस ही प्रकार आपने नियम किस कारणसे किया ? दूसरे प्रकारोंसे नियम क्यों नहीं कर दिया ? अर्थात्—अमूर्त द्रव्यों और सम्पूर्ण पर्यायोंको भी अवधिज्ञान जान लेवें, क्या क्षति है ? उद्देश्यदलमें " एवकार " क्यों लगाया जाता है ? इस प्रकार साहससहित जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान कहते हैं ।

स्वशक्तिवशतोऽसर्वपर्यायेष्वेव वर्त्तनम् ।
तस्य नानागतातीतानन्तपर्याययोगिषु ॥ ४ ॥
पुद्गलेषु तथाकाशादिष्वमूर्तेषु जातुचित् ।
इति युक्तं सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकत्वतः ॥ ५ ॥

अपनी शक्तीके वशसे अवधिज्ञानकी प्रवृत्तिरूपी द्रव्य और उनकी कतिपय पर्यायोंमें ही है । भविष्यत्, और भूतकालकी अनन्त पर्यायोंके सम्बन्धवाले पुद्गलद्रव्योंमें उस अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं है । तथा आकाश, धर्मद्रव्य, कालाणु, सिद्धपरमेष्ठी, आदिक अमूर्त द्रव्योंमें कदाचित् भी अवधिज्ञान नहीं प्रवर्तता है । अमूर्त द्रव्योंकी पर्यायोंमें तो अवधिज्ञानका वर्तना असम्भव है । यह सिद्धान्त युक्तिपूर्ण है । क्योंकि बाधक प्रमाणोंके नहीं सम्भवनेका भले प्रकार निर्णय किया जा चुका है ।

अत्रासर्वपर्यायरूपिद्रव्यज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषोवधेः स्वशक्तिस्तद्वशात्तस्यासर्वपर्यायेष्वेव पुद्गलेषु वृत्तिर्नातीताद्यनन्तपर्यायेषु नाप्यमूर्तेष्वाकाशादिषु इति युक्तमुत्पश्यामः । सुनिर्णीतासम्भवद्बाधकत्वान्मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्वित्यादिवत् ।

यहां प्रकरणमें असर्व पर्यायवाले रूपीद्रव्योंके ज्ञानका आवरण करनेवाले अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमविशेषको ही अवधिज्ञानकी निजशक्ति माना गया है उस शक्तिके वशसे उस अवधिज्ञानकी असम्पूर्ण पर्यायवाले ही पुद्गलोंमें प्रवृत्ति है । भूत, भविष्य और वर्तमानकालकी अनन्तपर्यायोंवाले पुद्गलोंमें अवधिज्ञान नहीं प्रवर्तता है । तथा आकाश आदिक अमूर्त द्रव्योंमें भी अवधिज्ञान नहीं चलता है । क्योंकि उनको जाननेवाले ज्ञानके घातक सर्वघाति स्पर्धकोंका उदय बना रहता है, इस बातको हम समुचित समझ रहे हैं । क्योंकि इस सिद्धान्तमें आनेवाली बाधाओंके असम्भवका अच्छा निर्णय हो चुका है, जिस प्रकार कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषयनिबन्ध सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी कतिपय पर्यायोंमें सुनिश्चित हो गया है, इत्यादिक निर्णीत सिद्धान्तोंके समान " रूपिष्ववधेः " इस सूत्रका चार पदोंकी अनुवृत्ति करते हुये अर्थ ठीक बैठ जाता है । कोई शंका नहीं रहती है ।

इस सूत्रका सारांश ।

इस सूत्रके विवरणोंमें प्रथम ही क्रमप्राप्त प्रत्यक्ष अवधिज्ञानके विषयका नियम करनेके लिये सूत्रका प्रतिपादन करना आवश्यक बताकर रूपशब्द करके स्पर्श आदिका उपलक्षण किया है। " रूपिष्ववधेः " यहां ही रूप, रस, आदिवाले द्रव्योंमें ही अवधिका विषय नियत है। इस प्रकार पहिला अवधारण इष्ट किया है। पूर्व सूत्रसे चार पदोंकी अनुवृत्ति करनेपर आर्ष आम्नाय अनुसार अर्थ लब्ध हो जाता है। मूर्तिका सिद्धान्तलक्षण स्पर्श आदिक हैं। अव्यापकद्रव्यका परिमाण नहीं है। अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम अनुसार रूपीद्रव्य और उनकी कतिपय पर्यायोंको ही अवधिज्ञान जान सकता है। अमूर्तद्रव्य और अनन्तपर्यायोंको नहीं जान पाता है। अवधिज्ञान उत्कृष्ट रूपेण असंख्यातलोकप्रमाण पर्यायोंको जानता है। हां, श्रुतज्ञान भले ही अमूर्त द्रव्यों और उनकी भूत, भविष्यत्कालसम्बन्धी अनन्तपर्यायोंको जानलेवें। बात यह है कि अन्तरंग शक्तिके अनुसार ही पदार्थ कार्योंको कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस सिद्धान्तका भले प्रकार बाधाओंसे रहित निर्णय हो रहा है। बाधकोंका असम्भव किसी भी वस्तुके सद्भावको पुष्ट करदेता है।

कर्मोपशान्त्युदयमिश्रदशाढ्यपूर्तंजीवस्य रूपरसनित्यगपुद्गलस्य ।
भावांश्च वेत्ति नियतो निजशक्तियोगाद् दीपोपमोयमवधिः स्वपरप्रकाशः ॥ १ ॥

अवधिज्ञानके विषयको नियत कर अब क्रमप्राप्त दूसरे मनःपर्यय नामक प्रत्यक्षका विषय नियम प्रकट करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज स्वकीय ज्ञानसमुद्रसे चिन्तामणि स्वरूप सूत्रका जन्म करते हैं।

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

सर्वावधिज्ञान द्वारा विषय हो रहे उसी रूपीद्रव्यके अनन्तवें एक भागमें मनःपर्ययका विषय नियत हो रहा है। अर्थात्–अनन्त परमाणुवाले कार्माण द्रव्यके अनन्तवें भागको सर्वावधि ज्ञान करके जाना गया था, उसके भी अनन्तवें भाग स्वरूप छोटे पुद्गलस्कन्धको द्रव्यकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान जानलेता है।

किमर्थमिदमित्याह ।

यह " तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य " सूत्र किस प्रयोजनको साधनेके लिये कहा गया है ? इस प्रकारकी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्दस्वामी समाधान कहते हैं।

क्व मनःपर्ययस्यार्थे निबन्ध इति दर्शयन् ।
तदित्याद्याह सत्सूत्रमिष्टसंग्रहसिद्धये ॥ १ ॥

मनःपर्ययज्ञानका विषय कौनसे अर्थमें नियमित हो रहा है, इस बातको दिखलाते हुये श्री उमास्वामी महाराज अभीष्ट अर्थके संग्रहकी सिद्धिके लिये " तदनन्तभागे " इत्यादिक श्रेष्ठ सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

कस्य पुनस्तच्छब्देन परामर्शो यदनन्तभागेऽसर्वपर्यायेषु निबन्धो मनःपर्ययस्येत्याह।

फिर आप यह बताओ ? कि इस सूत्रमें दिये गये तत् शब्द करके किस पूर्व निर्दिष्टपदका परामर्श किया जायगा ? जिसके कि अनन्तवें भागमें और उसकी असर्वपर्यायोंमें मनःपर्यय ज्ञानका विषय नियत हो रहा है, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान कहते हैं।

परमावधिनिर्णीते विषयेऽनन्तभागताम्।
नीते सर्वावधेर्ज्ञेयो भागः सूक्ष्मोऽपि सर्वतः ॥ २ ॥
एतस्यानन्तभागे स्याद्विषयेऽसर्वपर्यये।
व्यवस्थर्जुमतेरन्यमनःस्थे प्रगुणे ध्रुवम् ॥ ३ ॥
अमुष्यानन्तभागेषु परमं सौक्ष्म्यमागते।
स्यान्मनःपर्ययस्यैवं निबन्धो विषयेखिले ॥ ४ ॥

परमावधि द्वारा निर्णीत किये गये विषयमें जिनदृष्ट अनन्तका भाग देनेपर अनन्तवें भागपनेको प्राप्त हुये छोटे स्कन्धमें सर्वावधिका विषय समझना चाहिये, यद्यपि ये सबसे सूक्ष्म भाग है। फिर भी इस सूक्ष्म स्कन्धके अनन्तवें भागस्वरूप और कतिपय पर्यायवाले विषयमें ऋजुमतिज्ञानकी द्रव्य अपेक्षा विषय व्यवस्था नियत है। आवश्यकता इस बातकी है कि वह छोटा स्कन्ध सरलरूपसे अथवा त्रियोग द्वारा किया गया होकर दूसरेके मनमें स्थित हो रहा होना चाहिये। उस अनन्तवें भाग छोटे स्कन्धको निश्चितरूपसे ऋजुमति मनःपर्यय जान लेता है। पुनः ऋजुमतिके विषय हो रहे उस सूक्ष्म स्कन्धके अनन्त भागोंके करनेपर जो परमसूक्ष्मपनेको प्राप्त हो गया अत्यल्प छोटा स्कन्ध होगा उस अणीमान् स्कन्धको विपुलमति विषय कर लेता है। इस प्रकार पूर्वोक्त अनुसार सम्पूर्ण विषयमें मनःपर्यय ज्ञानका नियम हो रहा है। अर्थात्—अपने या दूसरेके मनमें विचार लिये गये सभी रूपीद्रव्य और उनकी कतिपय पर्यायोंको मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष जान लेता है। ज्ञानके ज्ञेयको विषय कहते हैं। सप्तमी विभक्तिका अर्थ विषयत्व है।

तच्छब्दोऽत्रावधिविषयं परामृशति न पुनरवधिं विषयप्रकरणात्। स च मुख्यस्य परामृश्यते गौणस्य परामर्शे प्रयोजनाभावात्। मुख्यस्य परमावधिविषयस्य सर्वतो देशावधिविषयात्सूक्ष्मस्यानंतभागीकृतस्यानन्तो भागः सर्वावधिविषयस्तस्य सम्पूर्णेन

मुख्येन सर्वावधिपरिच्छेद्यत्वात् । तत्रर्जुमतेर्निबन्धो बोद्धव्यस्तस्य मनःपर्ययप्रथमव्यक्तित्वात्सामर्थ्यादृजुमतिविषयस्यानन्तभागे विषये विपुलमतेर्निबन्धोऽवसीयते तस्य परमनःपर्ययत्वात् ।

तत् शब्द करके पूर्वनिर्दिष्ट अर्थका विचार किया जाता है, इस सूत्रमें कहा गया तत् शब्द अवधिज्ञानके विषयका परामर्श कर लेता है । किन्तु फिर अवधिज्ञानका तो परामर्श नहीं करता है । क्योंकि विषयका प्रकरण होनेसे, विषयभूत पदार्थोंका आकर्षण होगा, विषयी ज्ञानोंका नहीं । और वह विषय भी मुख्य हो रहे अवधिज्ञानका नियत हो चुका परामर्शित किया जाता है । अवधिज्ञानोंमें गौण हो रहे देशावधिके विषयका पूर्व परामर्श करनेमें प्रयोजनका अभाव है । देशावधिके सम्पूर्ण विषयोंसे सूक्ष्म हो रहा परमावधिका विषय है । उसके भी अनन्तभाग किये जांय उन सबमेंसे एक अनन्तवां भाग सर्वावधिज्ञानका विषय है । उस सूक्ष्मभागका सम्पूर्ण अवधियोंके मुख्य सर्वावधिज्ञान द्वारा परिच्छेद किया जाता है । उस सर्वावधिके विषयमें या उसके अनन्तवें भाग द्रव्यमें ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानका नियम जघन्यरूपसे समझना चाहिये । क्योंकि मनःपर्ययज्ञानका वह ऋजुमति पहिला व्यक्तिरूप भेद है । आर्ष आगम अनुसार सूत्र व्याख्यानकी सामर्थ्यसे यह अर्थ भी यहां निर्णीत हो जाता है कि ऋजुमति द्वारा जाने गये विषयके अनन्तवें भागरूप विषयमें विपुलमतिका नियम हो रहा है । क्योंकि वह विपुलमति मनःपर्ययज्ञानका दूसरा भेद है । जो कि मनःपर्ययज्ञानोंमें उत्कृष्ट है । अर्थात्—देशावधिका उत्कृष्ट द्रव्य कार्मण वर्गणा है । उसमें असंख्यात बार अनन्त संख्यावाले ध्रुवहारों का भाग देनेपर परमावधिका द्रव्य निकल आता है । और परमावधिके द्रव्यमें अनेक बार अनन्तका भाग देनेपर सर्वावधिका सूक्ष्म द्रव्य प्राप्त होता है । ये सब कार्मणद्रव्यमें अनन्तानन्त भाग दिये जा रहे हैं । सर्वावधिसे जान किये गये द्रव्यमें पुनः अनन्तका भाग देनेपर ऋजुमतिका द्रव्य निकलता है । ऋजुमतिके द्रव्यमें अनन्तका भाग देनेपर विपुलमतिका द्रव्य निकलता है । अभीतक स्कन्ध ही विषय किया गया है । परमाणुतक नहीं पहुंचे हैं । क्षेत्र काल और भावोंको आगम अनुसार लगा लेना । गोम्मटसार अनुसार कुछ अन्तर लिये हुये व्यवस्था है । उसका वहांसे परिज्ञान करो । क्वचिदाचार्यसम्प्रदायानां भेदोस्ति ।

असर्वपर्यायग्रहणानुवृत्तेर्नानाद्यनन्तपर्यायाक्रान्ते द्रव्ये मनःपर्ययस्य प्रवृत्तिस्तदज्ञानावरणक्षयोपशमासम्भवात् । अतीतानागतवर्तमानानन्तपर्यायात्मकवस्तुनः सकलज्ञानावरणक्षयविजृंभितकेवलज्ञानपरिच्छेद्यत्वात् ।

" मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु " इस सूत्रमें से असर्वपर्याय शब्दके ग्रहणकी अनुवृत्ति कर लेनेसे अनादि अनन्तपर्यायोंकरके घिरे हुये द्रव्यमें मनःपर्ययज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं है,

यह ध्वनित हो जाता है। क्योंकि उन अनादि अनन्त पर्यायोंके ज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मोंका क्षयोपशम होना असम्भव है। ज्ञानावरणका उदय होते रहने पर छद्मस्थ जीवोंके अनादि अनन्तपर्यायोंका ज्ञान नहीं हो पाता है। अतीतकाल, भविष्यत्काल और वर्तमान कालकी अनन्तानन्तपर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहे वस्तुका तो सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्मोंके क्षयसे वृद्धिको प्राप्त हुये केवलज्ञानद्वारा परिच्छेद किया जाता है। अतः वस्तुकी कतिपयपर्यायोंको ही मनःपर्ययज्ञान जान सकता है। अनन्तपर्यायोंको नहीं।

कथं पुनस्तदेवंविधविषयं मनःपर्ययज्ञानं परीक्ष्यते इत्याह।

किसीका प्रश्न है कि फिर वह इस प्रकारकी वस्तुओंको विषय कर रहा मनःपर्ययज्ञान भला कैसे परीक्षित किया जा सकता है? बताओ! इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रकर्षं परमं व्रजेत्।
सूक्ष्मे प्रकर्षमाणत्वादर्थे तदिदमीरितम् ॥ ५ ॥

सो यह प्रसिद्ध हो रहा कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ क्षायोपशमिक ज्ञान (पक्ष) अपने विषय सूक्ष्म अर्थमें परम प्रकर्षको प्राप्त हो जावेगा (साध्य), सूक्ष्म अर्थोंको जाननेमें उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त हो रहा होनेसे (हेतु)। तिस कारण इस प्रकार क्षायोपशमिक चार ज्ञानोंमें यह मनःपर्ययज्ञान अनन्तवें भाग सूक्ष्म द्रव्यको विषय करनेवाला कह दिया गया है। यही परीक्षा करनेकी प्रधान युक्ति है।

न हि क्षायोपशमिकस्य ज्ञानस्य सूक्ष्मेऽर्थे प्रकृष्यमाणत्वमसिद्धं तज्ज्ञानावरणहानेः प्रकृष्यमाणत्वसिद्धेः। प्रकृष्यमाणा तज्ज्ञानावरणहानिर्हानित्वान्माणिक्याद्यावरणहानिवत्।

क्षायोपशमिक ज्ञानका सूक्ष्म अर्थोमें तारतम्यरूपसे प्रकर्ष प्राप्त हो रहापन असिद्ध नहीं है। क्योंकि उन ज्ञानोंके प्रतिपक्षी ज्ञानावरण कर्मोंकी हानिका उत्तरोत्तर अधिकरूपसे प्रकर्ष हो रहापन सिद्ध है। जैसी जैसी ज्ञानावरण कर्मोंकी हानि बढती चली जायगी, वैसे वैसे ज्ञानोंकी सूक्ष्म अर्थोंको जाननेमें प्रवृत्ति भी अधिक अधिक होती जायगी। कर्मोंकी हानिका प्रकर्षमाणपना भी असिद्ध नहीं है। क्योंकि द्वितीय अनुमान इस प्रकार प्रसिद्ध हो रहा है कि उन ज्ञानावरण कर्मोंकी हानि (पक्ष) चरमसीमातक उत्तरोत्तर बढती चली जा रही है (साध्य), हानिपना होनेसे (हेतु)। माणिक, मोती, सुवर्ण, आदिके आवरणोंकी हानिके समान (अन्वय दृष्टांत)। भावार्थ— प्रयोगद्वारा शाण आदि पर रगडनेपर जैसे माणिकके या मोतीके पर्तोंमें घुसे हुए आवरणकी हानि हो जाती है, अथवा अग्नितापमें या तेजाबमें पकानेपर सुवर्णके मलोंकी हानि उत्तरोत्तर बढती जाती

है, उसी प्रकार विशुद्धिके कारण उपस्थित हो जानेपर ज्ञानावरणोंकी हानि भी बढती जा रही है। उससे ज्ञानोंकी गति सूक्ष्म, सूक्ष्मतर विषयोंमें होती चली जाती है।

कथमावरणहानेः प्रकृष्यमाणत्वे सिद्धेऽपि क्वचिद्विज्ञानस्य प्रकृष्यमाणत्वं सिध्यतीति चेत् प्रकाशात्मकत्वात्। यद्धि प्रकाशात्मकं तत्स्वावरणहानिप्रकर्षे प्रकृष्यमाणं दृष्टं यथा चक्षुः प्रकाशात्मकं च विवादाध्यासितं ज्ञानमिति स्वविषये प्रकृष्यमाणं सिध्यत्, तस्य परमप्रकर्षगमनं साधयति। यत्तत्परमप्रकर्षप्राप्तं क्षायोपशमिकज्ञानं स्पष्टं तन्मनःपर्यय इत्युक्तं।

किसीका प्रश्न है आवरणोंकी हानिका उत्तरोत्तर प्रकर्ष हो जानापन सिद्ध होते हुये भी किसी सूक्ष्म अर्थमें विज्ञानका प्रकृष्यमाणपना भला कैसे सिद्ध हो सकता है ? बताओ। इस प्रकार कहनेपर तो हमारा यही उत्तर है वह ज्ञान प्रकाश आत्मक है। जो निश्चयसे प्रकाश आत्मक होता है, वह अपने अन्धकार, छाया, आदि आवरणोंकी हानिके बढते रहनेपर बढता चला जाता है। यों व्याप्ति बनी हुयी हैं कि जो जो प्रकाश आत्मक पदार्थ हैं (हेतु), वे वे अपने अपने आवरणोंकी हानिका प्रकर्ष होते सन्ते प्रकर्षको प्राप्त हो रहे देखे गये हैं (साध्य), जैसे कि चक्षु इन्द्रिय प्रकाशस्वरूप है, अतः स्वकीय आवरणोंके तारतम्य भावसे दूर हो जानेपर रूपको देखनेमें उत्तरोत्तर बढती रही है (दृष्टान्त)। विवादमें अध्यासीन हो रहा क्षायोपशमिकज्ञान भी प्रकाश आत्मक है (उपनय) इस कारण अपने विषयमें प्रकृष्यमाण सिद्ध हो रहा सन्ता उस ज्ञानके परमप्रकर्ष तक गमन करनेको साध देता है (निगमन)। जो वह क्षायोपशमिकज्ञान विशद प्रतिभासी होता हुआ उस सूक्ष्म अर्थको जाननेमें परमप्रकर्षको प्राप्त हो चुका है वह मनःपर्ययज्ञान है यह कह दिया गया समझ लो।

यथा चापि मतिश्रुतानि परमप्रकर्षभाञ्जि क्षायोपशमिकानीति दर्शयन्नाह।

जिस प्रकार क्षयोपशमजन्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी अपने अपने विषयमें परमप्रकर्षको प्राप्त हो रहे हैं, इस बातको दिखलाते हुये ग्रन्थकार कह रहे हैं। अर्थात्—जिस प्रकार इन्द्रियजन्य अनेकानेक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान स्वविषयमें चरम सीमातकके प्रकर्षको प्राप्त हो गये हैं, उसी प्रकार मनःपर्ययज्ञान भी स्वांशमें परमप्रकर्षको धारण करता है।

क्षेत्रद्रव्येषु भूयेषु यथा च विविधस्थितिः।
स्पष्टा या परमा तद्वदस्य स्वार्थे यथोदिते॥ ६॥

जिस ही प्रकार इस मतिज्ञान या मनःपर्ययकी बहुतसे क्षेत्र और द्रव्योंमें नाना प्रकारकी स्थिति स्पष्ट (सांव्यवहारिक स्पष्टता) और उत्कृष्ट हो रही है। उसी प्रकार इस मनःपर्ययकी विविध व्यवस्था पूर्वमें यथायोग्य कहे गये अनन्तवें भागरूप स्वार्थमें परमप्रकर्षको प्राप्त हो जाती है।

यथा चेन्द्रियजज्ञानं विषयेष्वतिशायनात् ।
स्वेषु प्रकर्षमापन्नं तद्विद्भिर्विनिवेदितम् ॥ ७ ॥

और जिस प्रकार इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान (पक्ष) अपने नियत विषयोंमें अतिशयको उत्तरोत्तर अधिक प्राप्त हो रहा होनेसे (हेतु) परमप्रकर्षको प्राप्त हो रहा (साध्य) उस इन्द्रियज्ञानको जाननेवाले विद्वानों करके विशेषस्वरूपसे कहा गया है, उसी प्रकार मनःपर्ययज्ञान समझ लिया जाय । अर्थात्—एक इन्द्रिय जीव अपनी स्पर्शन इन्द्रियसे चार सौ धनुष दूरतकके पदार्थको छू लेता है । द्वि इन्द्रियजीव आठ सौ धनुषके दूरतक वर्त रहे पदार्थको छू लेता है, इत्यादि असंज्ञी तक दूना जानना । संज्ञी जीव नौ योजन दूरवर्तीतक पदार्थको छू लेता है । द्वि इन्द्रिय जीव रसना इन्द्रियसे चौसठि धनुष दूरतकके रसको चख लेता है । त्रि इन्द्रियजीव एक सौ अट्ठाईस धनुष तकके दूरवर्ती पदार्थका रस जान लेता है । चौ इन्द्रिय जीव दो सौ छप्पन धनुषतक अन्तरालपर रखे हुये पदार्थका रस चाट लेता है । असंज्ञी जीव पांच सौ बारह धनुषतकके स्थानान्तरपर स्थित हो रहे पदार्थके रसको रसना इन्द्रियसे जान लेता है । संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव नौ योजनतक दूरपर स्थित हो रहे खटाई, कुटकी, आदिके रसको जिह्वा इन्द्रियसे जान लेता है । त्रि इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रियजीव, घ्राण इन्द्रिय द्वारा क्रमसे सौ, दो सौ, चार सौ, धनुषतक दूर वर्त रहे पदार्थोंकी गन्धको सूंघ लेते हैं । संज्ञीजीव घ्राण द्वारा नौ योजनतकके पदार्थको सूंघ लेता है । तथा चौ इन्द्रिय और असंज्ञीजीव चक्षु इन्द्रिय द्वारा दो हजार नौ सौ चौअन और पांच हजार नौ सौ आठ योजन तकके पदार्थको देख लेते हैं । संज्ञी जीव सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठि योजन तकके पदार्थको देख लेता है । श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव आठ हजार धनुष दूर तकके शद्बको सुन लेता है । संज्ञी जीव बारह योजन दूरतकके शद्बको सुन लेता है । इस प्रकार इन्द्रियोंका विषय नियत है । प्राप्यकारी स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन चार इन्द्रियों द्वारा भी दूरवर्ती पदार्थोंका तिस प्रकार एक अवयवी रूप इन्द्रियदेशपर्यन्त उस दूरवर्ती पदार्थका नैमित्तिक परिणमन हो जानेसे प्रत्यक्ष कर लिया जाता है । यों चार इन्द्रियोंका प्राप्यकारित्व अक्षुण्ण प्रतिष्ठित है । यद्यपि चतुर (चार) इन्द्रिय जीव मक्खी, पतंग, आदिक भी आषाढमें प्रातःकाल सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजन दूरवर्ती सूर्यको अप्राप्यकारी चक्षु द्वारा देख लेते हैं । असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव भी उन दूरवर्ती सूर्य, चन्द्रमाको देख सकता है । सूर्यसे चन्द्रमा अस्सी योजन अधिक ऊंचा है । किन्तु विशेष ज्ञानकी अपेक्षा संज्ञीजीवका ही वह चक्षुर्विषय नियत किया है । चक्रवर्ती सूर्य विमानमें स्थित हो रही जिन प्रतिमाका दर्शन कर लेता है । किन्तु मक्खी या साधारण मनुष्योंको वहांकी छोटी छोटी वस्तुओंका स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता है । अतः सामान्यरूपसे देखना यहां विवक्षित नहीं है । इसी प्रकार टेलीफोन

द्वारा या विना तारके विशेष यंत्र द्वारा अधिक दूरवर्ती शब्दोंको भी सुन लिया जाता है। यहां भी विद्युत् शक्तिसे फेंके गये शब्दोंको नहीं अपेक्षा कर श्रोत्रका विषय नियत किया गया है। वस्तुतः प्राप्यकारी श्रोत्र इन्द्रियके निकट प्रयोगों द्वारा आये हुये शब्दोंका ही इन्द्रियजन्य ज्ञान हुआ है। श्री गोम्मटसारमें लिखा हुआ जैनसिद्धान्त अकाट्य है। प्रयोगों द्वारा यहां आनेतक अन्य सदृश शब्द बन गये हैं। यों तो सूक्ष्मरूपसे शब्दोंकी परिणति लाखों करोडों योजनोंतक हो जाती है। किन्तु योग्यता या दूरतक फेंके जाने अनुसार नियत हो रहे शब्दोंको ही श्रोत्र इन्द्रिय जान सकती है। ऋद्धिप्राप्त मुनियोंके इन्द्रियविषय की व्यवस्था ही न्यारी है। यह विषय सूक्ष्म है। त्रिलोक त्रिकालमें अवधित हो रहे और सर्वज्ञकी आम्नायसे चले आ रहे आगमके अनुकूल युक्तियोंद्वारा उक्त सिद्धान्तको आर्षोक्त अनुसार पुष्ट कर लेना चाहिये। इस प्रकार मतिज्ञानका दृष्टान्त देकर मनःपर्ययकी प्रकर्ष प्राप्तिको साध दिया है। परोक्षपन और प्रत्यक्षपनका अन्तर है। इस कारिकामें पडे हुये यथा शब्दका अन्वय तो सूत्रकी नौमी वार्तिकमें उच्चारे गये तथा शब्दके साथ जुडा हुआ है।

मतिपूर्वं श्रुतं यद्वदस्पष्टं सर्ववस्तुषु।
स्थितं प्रकृष्यमाणत्वात्पर्यंतं प्राप्य तत्त्वतः ॥ ८ ॥
मनःपर्ययविज्ञानं तथा प्रस्पष्टभासनं।
विकलाध्यक्षपर्यन्तं तथा सम्यक्परीक्षितं ॥ ९ ॥

और जिस प्रकार मतिज्ञानपूर्वक हुआ श्रुतज्ञान (पक्ष) सम्पूर्ण वस्तुओंमें अविशद हो रहा सन्ता अन्तिम सीमाको प्राप्त होकर यथार्थ रूपसे स्थित हो रहा है (साध्य) अपने विषयोंमें प्रकर्षको प्राप्त हो रहा होनेसे (हेतु) तिसी प्रकार मनःपर्यय विज्ञान भी अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञानस्वरूप विकल प्रत्यक्षोंकी सीमापर्यन्त अधिक स्पष्ट होकर प्रकाश रहा है। तिस प्रकार हम पूर्व प्रकरणोंमें इसकी समीचीन परीक्षा कर चुके हैं। क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें विकलप्रत्यक्ष बढे हुये हैं और विकलप्रत्यक्षोंमें मनःपर्ययज्ञान प्रकृष्ट है। इससे अधिक सूक्ष्म विषयको जाननेवाला कोई क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं हैं। हां, क्षायिक केवलज्ञान तो सर्वत्र अप्रतिहतवृत्ति है।

प्रकृष्यमाणता त्वक्षज्ञानादेः संप्रतीयते।
इति नासिद्धता हेतोर्न चास्य व्यभिचारिता ॥ १० ॥
साध्ये सत्येव सद्भावादन्यथानुपपत्तितः।
स्वेष्टहेतुवदित्यस्तु ततः साध्यविनिश्चयः ॥ ११ ॥

इन्द्रियजन्य ज्ञान और श्रुतज्ञान आदि ज्ञानोंकी स्वके प्रकर्षपर्यन्त प्रकर्षता हो रही भले प्रकार प्रतीत हो रही है। इस कारण पक्षमें ठहर जानेसे हेतु असिद्ध नहीं है। तथा इस प्रकृष्यमाणत्व

हेतुकी विपक्षमें वृत्ति नहीं होनेसे उसका व्यभिचारीपना भी नहीं है। प्रकर्षपर्यन्त गमनरूप साध्यके होनेपर ही प्रकृष्यमाणत्व हेतुका सद्भाव अन्यथानुपपत्ति बन जानेसे अपने इष्ट धूम आदि हेतुओंके समान यह हेतु निर्दोष होओ। उस निर्दोष हेतुसे साध्यका विशेषरूप करके निश्चय हो जाता ही है। इस प्रकार पाचवीं वार्त्तिकके प्रमेयको साध दिया है।

दृष्टेष्टबाधनं तस्यापह्नवे सर्ववादिनां।
सर्वथैकान्तवादेषु तद्वादेऽपीति निर्णयः॥ १२॥

उन अभीष्ट ज्ञानोंकी प्रकर्षपर्यन्त प्राप्तिका अपलाप कर देनेपर सम्पूर्णवादियोंके यहां प्रत्यक्ष प्रमाणों और इष्ट किये गये अनुमान आदि प्रमाणोंकरके बाधायें उपस्थित हो जावेंगी। इस कारण सभी प्रकार एकान्तोंको कहनेवाले वादोंमें और उस प्रसिद्ध हो रहे अनेकान्त वादमें भी उक्त प्रकार मनःपर्यय ज्ञानका निर्णय कर दिया गया है। अर्थात्—ज्ञानके नियत विषयोंकी परीक्षा करनेपर सभी विद्वानोंके यहां प्रकृष्यमाणपन अविनाभावी हेतुसे ज्ञानोंका अपने विषयोंमें प्रकर्षगमन निर्णीत हो रहा है। सीमापर्यंत ज्ञानका नाम कोई कुछ भी रक्खें।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रमें इस प्रकार प्रकरण आये हैं कि प्रथम ही क्रमप्राप्त मनःपर्ययज्ञानके विषय नियमार्थ सूत्र कहना आवश्यक बताया है। तत् शब्दसे सर्वावधिके द्वारा जानेगये विषयका ग्रहण है। इसके अनन्तानन्तवें भाग छोटे टुकडेको मनःपर्ययज्ञानका विषय बताकर अनन्तपर्याय और अमूर्त द्रव्योंका मनःपर्ययज्ञान द्वारा जानना निषिद्ध ठहराया है। पश्चात् मनःपर्ययज्ञानके सद्भावकी और उसके सूक्ष्म विषयोंकी गहरी परीक्षा की है। समीचीन व्याप्तियोंको बनाकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका दृष्टान्त देकर मनःपर्ययज्ञानकी स्वविषयको जाननेमें प्रकर्षप्राप्ति साध दी गयी है। उक्त प्रकार नहीं माननेवाले प्रवादियोंके यहां पर बाधायें उपस्थित होना बताया है। योग्य कारणोंके मिलनेपर इन्द्रियजन्यज्ञान भी नियत विषयतक वृद्धिंगत हो जाते हैं। उसी प्रकार विकल प्रत्यक्ष मनःपर्ययज्ञान भी द्रव्य, क्षेत्र, काल भावोंकी मर्यादाको लिये हुये स्वनियत विषयोंतक बढ जाता है। इससे उत्कृष्ट विषयको आवरणका उदय हो रहा होनेसे नहीं जान पाता है। सम्पूर्ण विषयोंमें तो केवलज्ञानकी ही प्रवृत्ति कही जावेगी। इस प्रकार स्वपर मनमें स्थित हो रहे नृलोकस्थ सूक्ष्म स्कन्धतक छोटे बडे रूपी पदार्थोंको और उनकी कतिपय पर्यायोंको मनःपर्ययज्ञान हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कर लेता है। अन्य मतावलम्बी विद्वान् भी इन विकल प्रत्यक्षोंको दूसरे ढंगोंसे स्वीकार अवश्य करते हैं, किन्तु निर्दोष मार्ग स्वामिकथित सिद्धान्त अनुसार ही सर्वमान्य होगा।

सर्वावधिज्ञातपदार्थसूक्ष्मानन्तैकभागं विशदीकरोति।
छद्मस्थबोधाग्रमणिः प्रसर्प्यै मुक्तेर्मनःपर्यय एष भूयात्॥ १॥

चार क्षायोपशमिक ज्ञानोंके विषयका नियम कर अब क्रमप्राप्त केवलज्ञानके विषयका नियम करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराजके मुखचंद्रमासे सूत्ररूपी अमृत झरता है। उसका श्रवणेंद्रियद्वारा पानकर परितृप्त हूजिये।

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥

जीव आदिक सम्पूर्ण द्रव्यों और उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंमें केवलज्ञानका विषय नियत हो रहा है।

ननु असिद्धत्वात्केवलस्य विषयनिबन्धकथनं न युक्तमित्याशंकायामिदमाह।

किसी मीमांसा करनेवालेकी शंका है कि जब केवलज्ञानकी प्रमाणद्वारा सिद्धि नहीं हो चुकी है तो फिर असिद्ध केवलज्ञानके विषयनियमका कथन करना युक्त नहीं है। इस प्रकार आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य यह समाधान कहते हैं।

केवलं सकलज्ञेयव्यापि स्पष्टं प्रसाधितम्।
प्रत्यक्षमक्रमं तस्य निबन्धो विषयेष्विह ॥ १ ॥

अतीव विशद होकर सम्पूर्ण ज्ञेयोंमें ज्ञानमुद्रासे व्याप रहे केवलज्ञानकी हम पूर्व प्रकरणोंमें बढिया सिद्धि करचुके हैं। अन्य चार ज्ञान तो पदार्थोंमें क्रमसे वर्तते हैं। किन्तु केवलज्ञान क्रम क्रमसे पदार्थोंको जाननेके लिये नहीं प्रवर्तता है। वह तो युगपत् सम्पूर्ण पदार्थोंका विशद प्रत्यक्ष कर लेता है। अतः उस केवलज्ञानका विषयोंमें नियम करना इस प्रकरणमें समुचित ही है।

बोध्यो द्रव्येषु सर्वेषु पर्यायेषु च तत्त्वतः।
प्रक्षीणावरणस्यैव तदाविर्भावनिश्चयात् ॥ २ ॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सम्पूर्ण द्रव्योंमें तथा उक्त द्रव्योंकी सम्पूर्ण ही भूत, वर्तमान, भविष्यत्कालकी अर्थपर्यायों तथा व्यंजनपर्यायोंमें परमार्थ रूपसे केवलज्ञानका विषय समझ लेना चाहिये। जिस मनुष्यके सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्मोंका प्रकृष्टरूपसे क्षय होगया है, उस आत्माके ही उस सबको जाननेवाले केवलज्ञानका प्रादुर्भाव होता है। यह सिद्धांत निश्चित है। आवरणोंके क्षयमें प्रकर्ष यही है कि वर्तमानमें एक भी ज्ञानावरण पुद्गलका सद्भाव नहीं पाया जाय, और भविष्यमें भी ज्ञानावरके स्कन्धके आजानेका अवसर प्राप्त नहीं होय। आत्मामें केवलज्ञान शक्तिरूपसे विद्यमान है। प्रतिबन्ध कर्मोंका क्षय हो जानेपर आत्माके चेतनागुणका अनन्तकालतकके लिये केवलज्ञानरूप परिणाम होता रहता है। तभी तो आचार्य महाराजने केवलज्ञानका आविर्भाव (प्रकट) होना बताया है। रत्न पाषाणमें पहिलेसे विद्यमान हो रही चमक तो कारणोंसे व्यक्त हो जाती है। किन्तु मट्टीकी ईंटमें अन्तरंग शक्ति नहीं होनेके कारण वैसी चमक नहीं आपाती है।

आत्मद्रव्यं ज्ञ एवेष्टः सर्वज्ञः परमः पुमान् ।
केश्चित्तद्व्यतिरिक्तार्थाभावादित्यपसारितं ॥ ३ ॥
द्रव्येष्विति बहुत्वस्य निर्देशात्तत्प्रसिद्धितः ।
वर्त्तमानेऽस्तु पर्याये ज्ञानी सर्वज्ञ इत्यपि ॥ ४ ॥
पर्यायेष्विति निर्देशादन्वयस्य प्रतीतितः ।
सर्वथा भेदतत्वस्य यथेति प्रतिपादनात् ॥ ५ ॥

किन्हीं ब्रह्माद्वैतवादियोंने परमपुरुष और सबको जाननेवाला ज्ञातास्वरूप अकेला आत्मा द्रव्य ही अभीष्ट किया है । उस आत्मासे अतिरिक्त दूसरे घट पट आदिक अर्थोंका अभाव है । अतः अद्वैत आत्मा ही एक तत्त्व है । इस प्रकार अद्वैतवादियोंके मतका सूत्रमें कहे गये "द्रव्येषु" इस प्रकार बहुवचनके निर्देशसे निराकरण कर दिया गया है । अर्थात्–अकेला आत्मा ही तत्त्व नहीं है । किन्तु अनन्तानन्त आत्मायें हैं, तथा आत्माओंके अतिरिक्त पुद्गल, कालाणु आदिक भी अनेक द्रव्य जगत्में विद्यमान हैं । प्रमाणोंसे उन द्रव्योंकी सिद्धि कर दी गयी है । तथा कोई बौद्ध विद्वान् यों कहते हैं कि सबको जाननेवाला सर्वज्ञ भी वर्तमानकालकी विद्यमान पर्यायोंमें ही ज्ञानवान् होवो, किन्तु नहीं विद्यमान हो रहीं भूत, भविष्यत् कालकी पर्यायोंको अथवा अनादि, अनन्त, अन्वित द्रव्योंको वह सर्वज्ञ नहीं जान पाता है । क्योंकि द्रव्यतत्त्व तो मूलमें ही नहीं हैं । और भूत, भविष्यत् कालकी पर्यायें ज्ञानके अव्यवहित पूर्वकालमें विद्यमान नहीं हैं, जिससे कि वे ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण बन सकें । जो ज्ञानका कारण नहीं है, वह ज्ञानका विषय भी नहीं होता है । अतः वर्तमान काल या अव्यवहित पूर्व समयकी पर्यायोंको ही सर्वज्ञ जान पाता है । अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना भी निराकृत हो जाता है । क्योंकि उमास्वामी महाराजने सूत्रमें " पर्यायेषु " इस प्रकार बहुवचनान्तपदका प्रयोग किया है । अतः तीनों काल सम्बन्धी पर्यायोंमें केवलज्ञानकी प्रवृत्ति है । पूर्वकालवर्त्ती पर्यायोंका समूल चूल नाश नहीं हो जाता है । किन्तु एक द्रव्यकी कालत्रयवर्त्ती पर्यायोंमें गंगाकी धाराओंके समान अन्वय जुड रहा प्रतीत होता है । तथा अनादिसे अनन्तकालतक वर्त रहा नित्यद्रव्य भी वस्तुभूत पदार्थ है । पर्यायें कथंचित् भिन्न हैं, और द्रव्य कथंचित् अभिन्न है । जिस प्रकार सर्वथा भेदरूप अथवा अभेदरूप तत्त्व वास्तविक नहीं बन सकता है । इसको हम पहिले प्रकरणोंमें कह चुके हैं । मालास्वरूप वस्तुमें मणिका (दाने) तो पर्यायोंके समान हैं । और पिरोये हुये डोरेके समान द्रव्य अंश है । पर्याय और द्रव्य इन दोनों अंशोंका समुदाय अंशी वस्तु है । केवलज्ञान सम्पूर्ण पदार्थोंको जानता है ।

तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यतां ।
कीटसंज्ञापरिज्ञानं तस्य नात्रोपयुज्यते ॥ ६ ॥
इत्येतच्च व्यवच्छिन्नं सर्वशब्दप्रयोगतः ।
तदेकस्याप्यविज्ञाने कात्स्र्न्यं शिष्यशासनं ॥ ७ ॥

बहु वचनान्त द्रव्य और पर्याय इन दो पदोंकी सफलताको दिखाकर अब सर्व शद्बकी पदकीर्तिको समझाते हैं। किसीका हठ है कि मोक्षके उपयोगी अनुष्ठान करने योग्य कुछ जीव और पुद्गल अथवा बन्ध, बन्धकारण, मोक्ष, मोक्षकारण आदि पदार्थोंमें ही इस सर्वज्ञका ज्ञान प्राप्त हो रहा है। तिस कारण यही विचार लो कि कतिपय उपयोगी पदार्थोंका ही ज्ञान सर्वज्ञको है। इस प्रकरणमें सम्पूर्ण कीट, पतंग या कूडे, करकट आदिके नाम निर्देश और उन कीडे कूडे आदि निस्सार पदार्थोंका परिज्ञान करना उस सर्वज्ञको उपयोगी नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार यह किसीका कहना सूत्रोक्त सर्व शद्बके प्रयोगसे खण्डित हो जाता है। क्योंकि उन सम्पूर्ण पदार्थोंमेंसे किसी एक भी कीडे, कचडेका, विशेषज्ञान न होनेपर भला परिपूर्ण रूपसे शिष्योंके प्रति निर्दोष शिक्षा देना कहां बन सकेगा? अर्थात्—प्रायः प्रत्येक जीव पूर्वजन्मोंमें कीट, पतंग, पर्यायोंको धारण कर चुके हैं। कोई कोई जीव भविष्यमें भी अनेक वार कीडे पतंगे होवेंगे। अतः भूत, भविष्य, वर्तमानकालके भवोंको जाननेवाले सर्वज्ञको कीडोंका ज्ञान करना भी आवश्यक है। तथैव भूत, भविष्यमें शरीररूप होनेकी योग्यता रखनेवाले या नाना पौद्गलिक पदार्थ स्वरूप हो चुके, होनेवाले कचरेका ज्ञान भी अनिवार्य है। दूसरी बात यह है कि वस्तुके स्वभावमें आवश्यकता अपेक्षणीय नहीं है। दर्पण अपने सन्मुख आये हुये छोटे, बडे मूर्ख, पण्डित, मल, मूत्र, आदि सबका प्रतिबिम्ब ले लेता है। जो छोटी मूर्त वस्तु हमें बाहर नहीं दीखती है। उसका प्रतिबिम्ब भी नहीं दीखता है। किन्तु छोटे पदार्थका भी प्रतिबिम्ब दर्पणमें पड गया है। सूर्य सम्पूर्ण रूपवान् पदार्थोंका प्रकाश कर देता है। यहां उपयोगी अनुपयोगीका प्रश्न उठाना उचित नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानका स्वभाव भी त्रिलोक, त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रकाश करनेका है। अतः सर्वज्ञ (आत्मायें) इच्छाके विना ही यावत् विशद प्रत्यक्ष कर लेते हैं। वस्तुतः विचारा जाय तो संसारके सभी पदार्थ अपेक्षाकृत उपयोगी और अनुपयोगी हो जाते हैं। टोडीके बाल डाढी रखाने वाले मनुष्य या सिक्खोंके उपयोगी हैं। किन्तु डाढीको नहीं चाहनेवाले पुरुषके लिए वे ही बाल भारभूत अनुपयोगी बन रहे हैं। कूडा, कचडा भी खातके लिये बडा उपयोगी है। घरमें पडा हुआ कूडा तो रोगका उत्पादक है। बात यह है कि ज्ञानका स्वभाव जानना है। चक्षुद्वारा हम मेध्य, अमेध्य, शत्रु, मित्र, आवश्यक, अनावश्यक, चींटी, मक्खी, आदि सभी पदार्थोंको योग्यता मिल जानेपर देख लेते हैं। नहीं चाहे हुए या अनुपयोगी पदार्थोंको भी देख लेना पडता है। कभी

कभी तो मनोभिलाषासे नहीं स्मरण करने योग्य घृणित या भयंकर अथवा इष्ट हो रहे मृत या वियुक्त पदार्थोंका पुनः पुनः स्मरण आता रहता है। क्या करें, अग्नि सभी दाह्य पदार्थोंको जला देती है। अभ्रक (भोडल) को भी भस्म हो जाती है। द्रव होने योग्य पदार्थोंको जल आर्द्र कर देता है। वह हानि, लाभ, पर आवश्यक, अनावश्यकका विचार नहीं करता है। इसी प्रकार केवलज्ञान भी विचार करनेवाला ज्ञान नहीं है। स्वपरप्रकाश स्वभावद्वारा सम्पूर्ण अनन्तानन्त पदार्थोंको युगपत् जानता रहता है।

हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकं।
सर्वज्ञतामितं नेष्टं तज्ज्ञानं सर्वगोचरम् ॥ ८ ॥
उपेक्षणीयतत्त्वस्य हेयादिभिरसंग्रहात्।
न ज्ञानं न पुनस्तेषां न ज्ञानेऽपीति केचन ॥ ९ ॥

कोई लौकिक विद्वान् कह रहे हैं कि सर्वज्ञपनको प्राप्त हो चुका भी विज्ञान केवल उपायोंसे सहित हेय और उपादेय तत्त्वोंका ही ज्ञान करनेवाला माना गया है। वह ज्ञान सम्पूर्ण अनन्तानन्त पदार्थोंको विषय करनेवाला इष्ट नहीं किया गया है। अर्थात्—हेय तत्त्व संसार और उसके उपाय आस्रवतत्त्व, बन्धतत्त्व तथा उपादान करने योग्य मोक्ष और उसके उपाय संवर, निर्जरा तत्त्वोंका अथवा इसी प्रकारके अन्य कतिपय अर्थोंको ही सर्वज्ञ जानता है। शेष बहुभाग पदार्थोंको नहीं जान पाता है। प्रमाणका फल कहते हुये आप जैनोंने हेयका हान, उपादेय अर्थोंका उपादान और उपेक्षणीय पदार्थोंकी उपेक्षा कर लेना माना है। तदनुसार उपेक्षा करने योग्य कीडा, कूडा आदि, जीव, पुद्गल, आदि तत्त्वोंका हेय आदिकोंकरके संग्रह नहीं हो सकता है। अतः उन उपेक्षा करने योग्य पदार्थोंका फिर सर्वज्ञको ज्ञान नहीं होना है। उन बहुभाग अनन्तानन्त उदासीन पदार्थोंका ज्ञान नहीं होनेपर भी ज्ञान नहीं हुआ ऐसा नहीं समझा जाता है। अतः आवश्यक हो रहे सम्पूर्ण हेय उपादेय तत्त्वोंको जान लेनेसे अतिशय उक्ति अनुसार उसको सर्वज्ञ कह देते हैं। जैसे कि राजनीतिके गूढ विषयोंको ही जाननेवाले विद्वान्को स्तुति करता हुआ पुरुष " सर्वज्ञ " ऐसा बखान देता है। इस प्रकार कूपमण्डूकके समान अल्पबुद्धिको धारनेवाले आधुनिक जडवादी विद्वानोंके समान कोई विद्वान् कह रहे हैं।

तदसद्वीतरागाणामुपेक्षत्वेन निश्चयात्।
सर्वार्थानां कृतार्थत्वात्तेषां क्वचिदवृत्तितः ॥ १० ॥

अब आचार्य कहते हैं कि मीमांसकोंका यह कहना सत्यार्थ नहीं है। क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ आत्माओंकी दृष्टिमें सम्पूर्ण पदार्थोंका उपेक्षाके विषयपने करके निश्चय हो रहा है। अर्थात्—

त्रिकाल, त्रिलोकवर्त्ती पदार्थोंको युगपत् जाननेवाले सर्वज्ञ वीतराग देव किसी पदार्थमें रागी नहीं होनेके कारण उनका उपादान नहीं करते हैं। और किसी भी पदार्थमें द्वेष नहीं रखनेके कारण उनका त्याग नहीं करते हैं। किन्तु सर्वज्ञ आत्माओंके सम्पूर्ण पदार्थोंमें उपेक्षाभाव है। तभी तो स्वामी श्री समन्तभद्राचार्यने " आप्तमीमांसा " में लिखा है कि " उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादा-नहानधीः। पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे " केवलज्ञानका फल उपेक्षा करना है। शेष चारज्ञान और तीन कुज्ञानोंका फल अपने विषयोंमें उपादान बुद्धि और त्याग बुद्धि करा देना है। उपेक्षा भी फल है। हां, अज्ञानोंका नाश तो सभी ज्ञानोंसे हो जाता है। पदार्थोंकी जिहासा और उपादित्सा होनेपर द्वेषी, रागी, जीवोंकी पदार्थोंमें त्याग और ग्रहणके लिये निवृत्ति, प्रवृत्तियां होती हैं। किन्तु वे केवलज्ञानी सर्वज्ञ तो कृतकृत्य हो चुके हैं। अतः उनकी किसी भी पदार्थमें हान, उपादान करनेके लिये निवृत्ति या प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः उपायसहित कतिपय हेय और उपादेय तत्त्वोंको ही जाननेवाला सर्वज्ञ है। यह मीमांसकोंका कथन करना प्रशंसनीय नहीं है। उनकी दृष्टिसे सभी पदार्थ उपेक्षणीय हैं, वे सबको एकसा समान रूपसे जानते रहते हैं।

विनेयापेक्षया हेयमुपादेयं च किंचन।
सोपायं यदितेऽप्याहुस्तदोपेक्ष्यं न विद्यते ॥ ११ ॥
निःश्रेयसं परं तावदुपेयं सम्मतं सताम्।
हेयं जन्मजरामृत्युकीर्णं संसरणं सदा ॥ १२ ॥
अनयोः कारणं तस्याद्यदन्यत्तन्न विद्यते।
पारंपर्येण साक्षाच्च वस्तूपेक्ष्यं ततः किमु ॥ १३ ॥

यदि वे मीमांसक लोग यों कहें कि सर्वज्ञकी दृष्टिमें भले ही कोई पदार्थ हेय और उपादेय नहीं होवे, किन्तु उपदेश प्राप्त करने योग्य विनयशाली शिष्योंकी अपेक्षासे कोई त्यागने योग्य पदार्थ तो हेय हो जावेगा और शिष्योंकी दृष्टिसे ग्रहण करने योग्य कोई कोई पदार्थ उपादेय बन जायगा। उन हेय, उपादेय पदार्थोंके उपाय भी जगत्में प्रसिद्ध हो रहे हैं। इस प्रकार उपाय सहित हेय, उपादेय, तत्त्वोंका ज्ञान लेना ही सर्वज्ञताके लिये पर्याप्त है। इस प्रकार भी जो वे मीमांसक कह रहे हैं, अब हम जैन कहते हैं कि तब तो यानी रागी, द्वेषी, शिष्योंकी अपेक्षा करके ही यदि हेय, उपादेय, तत्त्वोंका जानना सर्वज्ञके लिये आवश्यक बताया जायगा तो जगत्में कोई उपेक्षा (रागद्वेष नहीं करने योग्य) का विषय कोई पदार्थ नहीं ठहरता है। देखिये, परमात्म अवस्थास्वरूप उत्कृष्ट मोक्ष तो सज्जन पुरुषोंके यहां उपादान करने योग्य भले प्रकार मानी गयी है। और सर्वदा ही जन्म, बुढापा, मृत्यु, रोग आदिक बाधाओंसे घिरा हुआ यह संसार तो

विद्वानोंकी सम्मतिमें हेय भास रहा है। तथा मोक्ष और संसार इन दोनोंके कारण भी प्रसिद्ध हो रहे वे संवर, निर्जरा, या मिथ्याज्ञान, कषाय, योग, स्त्री, पुत्र, धन, गृह, आदिक पदार्थ हैं, मोक्ष, संसार, और उनके कारण इन तीन जातिके पदार्थोंसे भिन्न कोई भी पदार्थ वहां विद्यमान नहीं है, जो कि उपेक्षा करने योग्य कहा जाय ? जगत्के सम्पूर्ण भी पदार्थ परम्पराकरके अथवा साक्षात् रूपसे हेय और उपादेय तत्त्वोंमें गर्भित हो जाते हैं। तिस कारणसे तुम मीमांसक बताओ कि भला कौन वस्तु उपेक्षणीय कही जाय ? संसारमें अनन्त विनययुक्त जीव हैं, जो कि आपकी परिभाषासे " विनेय " कहे जा सकते हैं। साक्षात् या परम्परासे सभी पदार्थ उनकी अपेक्षासे त्याज्य या उपादेय हो रहे हैं। अतः कीडा, कूडा, आदि पदार्थ भी डाक्टरों या किसानों और सेठोंको ग्राह्य या त्याज्य पदार्थ बन रहे हैं। अतः मीमांसकके सर्वज्ञको भी उक्त पदार्थोंका ज्ञान करना आवश्यक पड गया। जगत्के सम्पूर्ण पदार्थोंको जान चुकनेपर ही सर्वज्ञपना निरवद्य ठहर सकता है। अन्यथा नहीं।

द्वेषो हानमुपादानं रागस्तद्द्वयवर्जनं।
ख्यातोपेक्षेति हेयाद्या भावास्तद्विषयादिमे ॥ १४ ॥
इति मोहाभिभूतानां व्यवस्था परिकल्प्यते।
हेयत्वादिव्यवस्थानासम्भवात्कुत्रचित्तव ॥ १५ ॥

पदार्थोंमें द्वेष करना ही उनका हानि (त्याग) करना है और पदार्थोंमें राग करना ही उनका उपादान है। तथा उन राग, द्वेष दोनोंको वर्जना उपेक्षा कही जाती है। इस प्रकार हेय, उपादेय, उपेक्षणीय, प्रकारके भाव जगत्में प्रसिद्ध हैं। उन आत्मीय परिणाम हो रहे राग, द्वेष, उपेक्षाओंके विषय पड जानेसे ये पदार्थ भी हेय आदिक बखाने जाते हैं। इस प्रकार मोहग्रस्त जीवोंकी व्यवस्था चारों ओरसे कल्पित कर ली गयी है। तदनुसार तुम मीमांसकोंके यहां किसी भी एक विवक्षित पदार्थमें हेयपन आदिकी व्यवस्था करना असम्भव है।

हातुं योग्यं मुमुक्षूणां हेयतत्त्वं व्यवस्थितं।
उपादातुं पुनर्योग्यमुपादेयमितीयते ॥ १६ ॥
उपेक्ष्यन्तु पुनः सर्वमुपादेयस्य कारणम्।
सर्वोपेक्षास्वभावत्वाच्चारित्रस्य महात्मनः ॥ १७ ॥

वस्तुतः सिद्धान्त इस प्रकार है कि मोक्षको चाहनेवाले भव्य जीवोंके त्याग करने योग्य पदार्थ तो हेयतत्त्व है और मुमुक्षुओंके ग्रहण करने योग्य पदार्थ फिर उपादेयपनकरके व्यवस्थित हो रहे हैं। इस प्रकार प्रतीति की जा रही है। किन्तु फिर जीवन्मुक्त हो जानेपर सम्पूर्ण भी पदार्थ

उपेक्षा करने योग्य हो जाते हैं। उपादेय और हेयके कारण भी उपेक्षा करने योग्य हैं। क्योंकि महान् आत्मावाले सर्वज्ञके तदात्मक हो रहा चारित्र गुण तो सम्पूर्ण पदार्थोंमें उपेक्षा करना स्वभावको लिये हुये हैं। भावार्थ—महात्मा सर्वज्ञदेवका चारित्र गुण सम्पूर्ण पदार्थोंमें उपेक्षित हो रहा है। चारित्रमोहनीयकर्मका नाश हो जानेसे राग, द्वेष, रति, अरति भाव नहीं उत्पन्न हो पाते हैं। महात्मा हो रहा चारित्र गुण सबकी उपेक्षा स्वरूप हैं। यदि मीमांसकोंके कथन अनुसार सर्वज्ञमें उपेक्षणीय तत्त्वोंका ज्ञान नहीं माना जायगा तो वह अज्ञ ही रहेगा। एक भी अर्थ नहीं जान पावेगा। यथार्थमें विचारा जाय तो उपेक्षणीय पदार्थका ही परिपूर्ण ज्ञान हो सक्ता है। हेय और उपादेयके ज्ञान करनेमें तो त्रुटियां रह जाती हैं। माता अपने काले बांके छोकरेको बहुत सुंदर जान लेती है। शत्रुके पदार्थ अच्छे भी भले ढंगसे नहीं जाने जाते हैं। कूंजडी अपने खट्टे बेरोंको भी अच्छा बताती है। किन्तु बडे विद्वान् अपनेको छोटा ही कहते हैं। रागद्वेष पूर्ण हो रहे लौकिक गुणदोषोंकी व्यवस्थाके अधीन सम्यग्ज्ञान नहीं है।

तत्त्वश्रद्धानसंज्ञानगोचरत्वं यथा दधत्।
तद्भाव्यमानमाम्नातममोघमघघातिभिः॥ १८॥

तत्त्वार्थोंका श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विषयपनेको धारण कर रहे वे पदार्थ यदि यथायोग्य वस्तु अनुसार भावना (चारित्र) द्वारा भावे जांय तो ज्ञानावरण आदि पापकर्मोंका नाश करनेवाले ज्ञानी जीवोंद्वारा अव्यर्थ माने गये हैं। अर्थात्—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विषय हो जांय तो सभी पदार्थ उपादेय होते हुये मुक्तिके कारण हो जाते हैं। इस अपेक्षासे हेय पदार्थोंके लिये कोई स्थान नहीं रहता है। सम्यग्ज्ञानद्वारा जाने गये उपाय या हेयतत्त्व भी उपादेय हैं। तभी तो तत्त्वार्थसूत्रकी स्तुति या पूजा करनेवालोंके लिये एकेंद्रिय, नपुंसक, नारकी, बन्धहेतु, आर्तरौद्रध्यान, आदि निकृष्ट विषयोंके प्रतिपादक " पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः, नारकसमूर्छिनो नपुंसकानि, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः, आर्तममनोज्ञस्य, इत्यादि अनेक सूत्र भी उपादेय होकर अर्घ्य चढाने योग्य हो रहे हैं।

मिथ्यादृग्बोधचारित्रगोचरत्वेन भावितम्।
सर्वं हेयस्य तत्त्वस्य संसारस्यैव कारणं॥ १९॥

तथा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रके विषयपने करके भावना किये गये सभी पदार्थ हेय हैं और हेयतत्त्व संसारके ही कारण हैं। अर्थात्—इस अपेक्षासे सभी पदार्थ हेय होगये। उपादेयोंके लिये स्थान अवशिष्ट नहीं रहता है। मिथ्याज्ञानसे जाने हुये उपायतत्त्व भी हेय हैं। यहांतक कि सम्यग्ज्ञानके विषय हो रहे भी देवदर्शन, जिनपूजन, बारह भावनायें, छेदोपस्थापना,

धर्म्यध्यान, क्षपकश्रेणी, आदि कतिपय पदार्थ ऊपर २ के गुणस्थानोंमें हेय होते जाते हैं। मुक्त अवस्थामें सामायिक शुक्लध्यान, संवर और निर्जरा भी सर्वथा छोड दिये जाते हैं।

तदवश्यं परिज्ञेयं तत्त्वार्थमनुशासता।
विनेयानिति बोद्धव्यं धर्म्मवत्सकलं जगत् ॥ २० ॥

तिस कारण विनीत शिष्योंके प्रति तत्त्वार्थोंकी शिक्षा देनेवाले सर्वज्ञ करके सम्पूर्ण पदार्थ अवश्य ही चारों ओरसे जान लेने योग्य हैं। इस प्रकार धर्मके प्रधान उपदेष्टाको उचित है कि वह धर्म, अधर्मके समान सम्पूर्ण जगत्को साक्षात् जान लेवें। अर्थात्—धर्मको जानें और सर्व पदार्थोंको जाने। तभी शिष्योंके प्रति निर्दोष शिक्षण हो सकेगा अन्यथा नहीं। सर्वज्ञद्वारा तो पीछे भी आम्नाय चल सकती है। अन्य आम्नाय अनुसार तत्त्वोंका निःसंशय निर्णय नहीं हो पाता है।

धर्मादन्यत्परिज्ञातं विप्रकृष्टमशेषतः।
येन तस्य कथं नाम धर्मज्ञत्वनिषेधनम् ॥ २१ ॥

जिस महात्माने धर्मके अतिरिक्त अन्य स्वभावव्यवहित परमाणु आदिक और देशव्यवहित सुमेरु आदिक, तथा कालव्यवहित रामचन्द्र आदिक विप्रकृष्ट पदार्थोंको शेषरहितपनेसे परिपूर्ण जान लिया है, उस पुरुषके धर्मके ज्ञातापनका निषेध करना भला कैसे सम्भवता है ? भावार्थ— धर्मके सिवाय अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंको जो जानता है, वह धर्मको भी अवश्य जान लेगा। धर्मसे भी सूक्ष्म पदार्थोंतकको जाननेवाले विद्वान् करके धर्म जाननेसे बच नहीं सकता है। अतः सर्वज्ञके लिये धर्मज्ञपनेका निषेध करना मीमांसकोंको उचित नहीं है।

सर्वानतींद्रियान् वेत्ति साक्षाद्धर्ममतीन्द्रियम्।
प्रमातेति (प्रमाता न) वदन्न्यायमतिक्रामति केवलं ॥ २२ ॥

प्रमाणज्ञान करनेवाला आत्मा सम्पूर्ण अतीन्द्रिय पदार्थोंको प्रत्यक्षरूपसे जानता है। केवल अतीन्द्रिय पुण्य, पापरूप धर्म, अधर्मको साक्षात् नहीं जानता है। " धर्मे चोदनैव प्रमाणं " धर्मका निर्णयज्ञान करनेमें वेदवाक्य ही प्रमाण हैं। इस प्रकार कह रहा मीमांसक न्यायमार्गका केवल अतिक्रमण कर रहा है। जब कि न्यायकी सामर्थ्यसे उत्कृष्ट ज्ञानका स्वभाव सम्पूर्ण पदार्थोंका जानना सिद्ध हो चुका है, तो फिर वह ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थोंमेंसे केवल धर्मको क्यों छोड देगा ! जल और स्थल सभी स्थानोंमें मेघ वर्षते हैं। कंगाल, धनपति, सबके यहां सूर्य प्रकाश करता है। वस्तुका वैसा स्वभाव सिद्ध हो जानेपर पुनः पक्षपात नहीं चलता है।

यथैव हि हेयोपादेयतत्त्वं साभ्युपायं स वेत्ति न पुनः सर्वकीटसंख्यादिकमिति वदन्न्यायमतिक्रामति केवलं तत्संवेदने सर्वसंवेदनस्य न्यायप्राप्तत्वात्। तथा धर्मादन्यान-

तीन्द्रियान्सर्वानर्थान्विजानन्नपि धर्मं साक्षान्न स वेत्तीति वदन्नपि तत्साक्षात्करणे धर्मस्य साक्षात्करणसिद्धेरतीन्द्रियत्वेन जात्यन्तरत्वाभावात्। यस्य यज्जातीयाः पदार्थाः प्रत्यक्षास्तस्यासत्यावरणे तेऽपि प्रत्यक्षा यथा घटसमानजातीयभूतलप्रत्यक्षत्वे घटः। प्रत्यक्षाश्च कस्यचिद्विवादापन्नस्य धर्मसजातीयाः परमाण्वादयो देशकालस्वभावविप्रकृष्टा इति न्यायस्य सुव्यवस्थितत्वात्।

जिस ही प्रकार यों कह रहा मीमांसक केवल न्यायमार्गका उल्लंघन कर देता है कि उपाय सहित केवल हेय और उपादेयको ही वह सर्वज्ञ जानता है। किन्तु फिर सम्पूर्ण कीडे, कूडे, और उनकी गिनती नाप, तोल आदिकोंको वह सर्वज्ञ नहीं जानता है। आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकोंका सर्वथा (सरासर) अन्याय है। क्योंकि उन उपादेयसहित हेय उपादेय तत्त्वोंके भले प्रकार जान लेनेपर सम्पूर्ण पदार्थोंका अच्छा जान लेना अपने आप न्यायसे प्राप्त हो जाता है। तिसी प्रकार यों कह रहा मीमांसक भी न्यायमार्गको उल्लंघता है कि धर्मसे अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण अतींद्रिय पदार्थोंको विशेषरूपसे जानता हुआ भी वह सर्वज्ञ धर्मको साक्षात् रूपसे नहीं जान पाता है। यह मीमांसकोंका अन्याय क्यों है ? इसका प्रकार उत्तर यही है कि उन सम्पूर्ण अतीन्द्रिय पदार्थोंके प्रत्यक्ष कर लेनेपर धर्मका प्रत्यक्ष कर लेना तो स्वतः सिद्ध हो जाता है। बहिरंग इन्द्रियोंके विषय नहीं हो सकनेकी अपेक्षासे धर्म और अन्य अतीन्द्रिय पदार्थोंमें कोई भिन्नजातीयपना नहीं है। पुण्य, पाप, परमाणु, आकाश आदिक पदार्थ समान जातिके हैं। जिस ज्ञानी जीवको जिस जातिवाले पदार्थोंका प्रत्यक्ष होगया है, उस ज्ञानीको प्रतिबंध आवरणोंके दूर हो जानेपर उस जातिवाले अन्य पदार्थोंका भी प्रत्यक्ष हो जाता है। जैसे कि पौद्गलिक घटके समान जातिवाले होरहे भूतलके चक्षुरिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष हो जानेपर वहां विद्यमान हो रहे घटका भी चक्षुइन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी प्रकार विवादमें पडे हुये किसी सर्वज्ञके ज्ञान द्वारा धर्मके सजातीय परमाणु सुमेरु, रामचंद्र आदिक स्वभावविप्रकृष्ट, देशविप्रकृष्ट, कालविप्रकृष्ट पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इन्द्रिय अन्य-ज्ञानग्राह्य अन्य पदार्थोंका प्रत्यक्ष तो अभीष्ट ही है। इस प्रकार प्रतिज्ञा, हेतु, आदि पांच अवयववाले अनुमान स्वरूप न्यायकी भले प्रकार व्यवस्था हो चुकी है।

ततो नेदं सूक्तं मीमांसकस्य। "धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते" इति। न स्ववचीरणानादरः। तत्सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यत इति। तत्र नो नातितरामादरः।

तिस कारण मीमांसकोंका यह कहना समीचीन नहीं है कि सर्वज्ञका निषेध करते समय केवल धर्मके ज्ञातापनका निषेध करना ही तो यहां उपयोगी हो रहा है। अन्य सभी पदार्थोंको भले ही वह सर्वज्ञ जाने ऐसे सर्वज्ञका किस विद्वान्करके निवारण किया जा रहा है ? अर्थात्— मीमांसकोंका कहना है कि अतीन्द्रिय धर्मका ज्ञान तो वेदवाक्योंद्वारा ही होता है। धर्मसे अतिरिक्त

अतीन्द्रिय पदार्थोंको भले ही वह सर्वज्ञ जान ले, हमारी कोई क्षति नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मीमांसकोंने सर्वज्ञके निषेधके लिये वक्र उक्ति द्वारा निंद्य प्रयत्न किया है। दूसरोंके अपशकुनके लिये अपनी आंखको फोड लेनेके समान यह मीमांसकोंका घृणास्पद व्यवहार है। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार मीमांसकोंके उक्त कथनसे यह भी प्रतीत होता है कि सर्वज्ञको न माननेमें मीमांसक जब निन्दा या तिरस्कार नहीं समझते हैं, और सर्वज्ञका अनादर भी नहीं करते हैं। क्योंकि वे स्वयं कहते हैं कि अन्य सभी पदार्थोंको विशेषरूपसे जान रहा वह पुरुष विशेष सर्वज्ञ तो किसीकरके भी नहीं निषेधा जा रहा है, इस कारण हम जैनसिद्धान्तियोंका उस मीमांसकके प्रति अति अधिक आदर नहीं है। अर्थात्—धर्मके अतिरिक्त सभी पदार्थोंका प्रत्यक्ष तो मीमांसक मानता नहीं है। अवशेष बचे धर्मके प्रत्यक्ष करलेनेकी सिद्धि सुलभतासे करायी जा सकती है।

परमार्थतस्तु न कथमपि पुरुषस्यातींद्रियार्थदर्शनातिशयः सम्भाव्यते सातिशयानामपि प्रज्ञामेधाभिः स्तोकस्तोकान्तरत्वेनैव दर्शनात्। तदुक्तं " येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः। स्तोकस्तोकान्तरत्वेन नत्वतींद्रिय(ज्ञान)दर्शनात् ॥१॥" इति कश्चित्तं प्रति विज्ञानस्य परमप्रकर्षगमनसाधनमाह।

सर्वज्ञको नहीं माननेवाला कोई विद्वान् कह रहा है कि परमार्थरूपसे देखा जाय तब तो इस अल्पज्ञ पुरुषके अतींद्रिय पदार्थोंके विशद प्रत्यक्ष कर लेनेका अतिशय (चमत्कार) कैसे भी नहीं सम्भवता है। जो भी कोई पुरुष विचारशालिनी बुद्धि या धारणायुक्त बुद्धि अथवा नयनव उन्मेषशालिनी प्रतिभा बुद्धिकरके अतिशय सहित हो रहे हैं, उनके भी छोटे या उससे भी छोटे पदार्थोंका ज्ञान कर लेनेसे ही विशेष चमत्कार दीखता है। वे इन्द्रियोंके अविषयको नहीं जान सकते हैं। सो ही हमारे यहां "मीमांसाश्लोकवार्तिक" में कहा जा चुका है कि जो भी कोई विद्वान् प्रज्ञा, मेधा, प्रेक्षा, आदि विशेषज्ञानों करके चमत्कारसहित देखे गये हैं, वे भी छोटा और सबसे छोटा आदिक इन्द्रिय गोचर पदार्थोंके जाननेसे ही पैसे अन्य विद्वानोंमें बढे चढे हुये समझे जाते हैं। किन्तु अतीन्द्रिय पदार्थोंके दर्शनसे वे चमत्कारयुक्त नहीं हैं। असम्भव पदार्थोंको कर देनेमें चक्रवर्ती, अहमिन्द्र, जिनेन्द्र किसीको भी प्रशंसापत्र आजतक नहीं मिला है, जब कि वे अघटितघटनाके समान किये ही नहीं जासकते हैं। बडा भारी भी विद्वान् पुरुष सजातियोंका अतिक्रमण नहीं करता हुआ ही अन्य मनुष्योंसे चमत्कार धार सकता है। उपनेत्र (चश्मा) या दुरबीनकी सहायतासे चक्षुद्वारा छोटे या दूरवर्ती पदार्थोंको ही देखा जा सकता है। परमाणुको नहीं देखा जा सकता है। तथा अच्छी आंखोंवाला पुरुष दूरवर्ती पदार्थोंको गन्ध या स्पर्शको आंखोंसे नहीं जान सकता है। बडा भारी वैयाकरण भी विद्वान् ज्योतिष शास्त्रके सूक्ष्म रहस्योंको नहीं जान सकता है। इसी प्रकार सर्वज्ञ भी इन्द्रियोंके अगोचर पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है। हां, अपौरुषेय आगमसे अतीन्द्रिय पदार्थोंको

मले ही जानलेवे, इस प्रकार कोई मीमांसक कह रहा है। उसके प्रति आचार्य महाराज श्री विद्यानन्द स्वामी विज्ञानके परम प्रकर्षपर्यन्तगमनके साधन (हेतु) को स्पष्ट कहते हैं, सो सुनो।

ज्ञानं प्रकर्षमायाति परमं क्वचिदात्मनि।
तारतम्याधिरूढत्वादाकाशे परिमाणवत् ॥ २३ ॥

किसी एक आत्मामें निर्दोष उत्पन्न हो रहा ज्ञान (पक्ष) सबसे बडे उत्कर्षको प्राप्त हो जाता है, (साध्य)। ज्ञानका बढना और उससे अधिक बढना तथा उससे भी अधिक बढना, इस प्रकार तरतमपने करके आरूढ होनेसे (हेतु) जैसे कि आकाशमें परिमाण (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्–घट, पट, गृह, ग्राम, नगर, पर्वत, समुद्र, आदिमें परिमाणकी तारतम्यसे वृद्धि होते होते अनन्त आकाशमें परम महापरिमाण परमप्रकर्षको प्राप्त हो रहा माना जाता है, इसी प्रकार गमार, किसान, छात्र, पण्डित, शास्त्री, आचार्य, गणधर, आदि विद्वानोंमें ज्ञानवृद्धिका तारतम्य देखा जाता है। अन्तमें जाकर लोक अलोकको जाननेवाले सर्वज्ञदेवमें वह सबसे बडा ज्ञान परिपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार सर्वज्ञके ज्ञानकी सिद्धि हो जाती है।

तारतम्याधिरूढत्वमसंशयमाप्तत्वं तद्विज्ञानस्य सिध्यत् क्वचिदात्मनि परमप्रकर्षमाप्तिं साधयति, तथा तस्य व्याप्तत्वात्परिमाणवदाकाशे।

उस किसी विवक्षित आत्माके विज्ञानका तरतमरूपसे आरूढपना संशयरहित प्राप्त होता हुआ सिद्ध हो रहा है। यह पक्षमें वर्त रहा सिद्ध हेतु किसी आत्मारूप पक्षमें परम प्रकर्षको प्राप्त हो जाना रूप साध्यको साध देता ही है। क्योंकि उस वृद्धिके तरतमपनेको प्राप्त हो रहे हेतुकी उस परमप्रकर्ष प्राप्तिके साथ व्याप्ति बन चुकी है। जैसे कि आकाशमें परम प्रकर्षको प्राप्त हुआ परिमाण यह दृष्टान्त प्रसिद्ध हो रहा है। मीमांसकोंने भी परिमाणकी उत्कृष्ट वृद्धि आकाशमें मानी है। उसी सदृश ज्ञानकी वृद्धि सर्वज्ञमें मान लेनी चाहिये।

अत्र यद्यक्षविज्ञानं तस्य साध्यं प्रभाष्यते।
सिद्धसाधनमेतत्स्यात्परस्याप्येवमिष्टितः ॥ २४ ॥

यहां कोई मीमांसक जैनोंके उक्त हेतुपर कटाक्ष करते हैं कि पूर्वोक्त अनुमानमें जैनोंने ज्ञानको पक्ष बनाया है। उसपर हम मीमांसकोंका यह कहना है कि ज्ञानपदसे यदि इन्द्रियोंसे जन्य विज्ञान लिया जायगा और उस इन्द्रियजन्य ज्ञानकी परमप्रकर्ष प्राप्तिको साध्य बनाकर अच्छे प्रकार बखाना जायगा तब तो यह जैनोंके ऊपर सिद्धसाधनदोष होगा। क्योंकि दूसरोंके यहां यानी हम मीमांसकोंके यहां भी इस प्रकार इष्ट किया गया है कि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, और मन इन्द्रियोंकी विषय ग्रहण करनेमें यथायोग्य उत्कर्षता बढते बढते परम अवस्थाको

पहुंच जाती है। चींटी, सूअर, गीध आदिके प्रत्यक्षोंसे भी अधिक अतिशयधारी जीवोंके प्रत्यक्ष प्रसिद्ध हो रहे हैं। यंत्र द्वारा हजारों कोस दूरके शब्द सुने जा सकते हैं। अभ्यास अनुसार मानसज्ञान भी बढता जाता है।

लिङ्गागमादिविज्ञानं ज्ञानसामन्यमेव वा।
तथा साध्यं वदंस्तेन दोषं परिहरेत्कथम् ॥ २५ ॥

मीमांसक ही कह रहे हैं कि यदि ज्ञानपदसे ज्ञापकलिंगजन्य अनुमानज्ञान या आगमज्ञान, अर्थापत्ति आदि विज्ञान पकडे जायेंगे अथवा जैनोंद्वारा सामान्यरूपसे चाहे कोई भी विज्ञान लिया जायगा, तो भी इन अनुमान आदि ज्ञानरूप पक्षमें तिस प्रकार परमप्रकर्ष प्राप्तिरूप साध्यको कह रहा जैन विद्वान् भी तिस सिद्ध साधनकरके हो रहे दोषको भला कैसे निवारण कर सकेगा? अर्थात्—अनुमान ज्ञान बढते बढते भी कात्यायन आदिकोंका सबसे बढा हुआ अनुमान हम मीमांसक स्वीकार करते हैं। मनु, जैमिनिको बढा हुआ आगमका प्रकृष्ट ज्ञान भी हम अभीष्ट करते हैं। अतः गीध, गरुड, सूअर, चींटी आदिक जीव चक्षु, कर्ण, घ्राण इन्द्रियोंद्वारा जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञानोंकी ही प्रकर्षताको प्राप्त कर रहे हैं, उसी प्रकार कात्यायन, जैमिनि आदिक विद्वान् भी स्वविषयका अतिक्रमण नहीं करते हुए अनुमान, आगम दोनोंकी प्रकर्षताको प्राप्त कर रहे हैं। अन्य सामान्य ज्ञानोंकी भी लोकमें यथायोग्य प्रकर्षतायें देखी जा रही हैं। अतः फिर भी जैनोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष तैसाका तैसा ही अवस्थित रहा।

अक्रमं करणातीतं यदि ज्ञानं परिस्फुटम्।
धर्मीष्येत तदा पक्षस्याप्रसिद्धविशेष्यता ॥ २६ ॥
स्वरूपासिद्धता हेतोराश्रयासिद्धतापि च।
तन्नैतत्साधनं सम्यगिति केचित्प्रवादिनः ॥ २७ ॥

मीमांसक ही कहे जा रहे हैं कि पक्ष किये गये ज्ञानपदसे यदि क्रमरहित यानी युगपत् ही सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेवाला और इन्द्रियोंकी कारणतासे अतिक्रान्त हो रहा ऐसा परिपूर्ण विशदज्ञान धर्मी इष्ट किया जायगा, तब तो पक्षका अप्रसिद्धविशेष्यता नामका दोष होगा। भावार्थ—अक्रम और करणातीत परिपूर्ण विशद इन तीन विशेषणोंसे सहित हो रहा कोई विशेष्यभूतज्ञान आजतक भी प्रसिद्ध नहीं है। अतः हेतु विशेष्यासिद्ध है। और उक्त प्रकार माननेपर आप जैनोंद्वारा कहा गया तरतमभावसे आक्रान्तपना हेतु तो स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि वह हेतु ऐसे पक्षमें वर्त रहा नहीं देखा जा रहा है। तथा तारतम्यसे आरूढपना हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास भी है। क्योंकि इन्द्रियोंकी सहायता बिना ही हो रहा और युगपत् सबको

परिस्फुट जाननेवाला कोई ज्ञान ही जगत्में प्रसिद्ध नहीं है। तिस कारण आर्हतोंका तारतम्यसे अभिरूढपना यह ज्ञापकहेतु समीचीन नहीं है। इस प्रकार कोई मीमांसक विद्वान् अपने मनमें बडे बनते हुये कह रहे हैं।

अत्र प्रचक्ष्महे ज्ञानसामान्यं धर्मि नापरम्।
सर्वार्थगोचरत्वेन प्रकर्षं परमं व्रजेत्॥ २८॥
इति साध्यमनिच्छन्तं भूतादिविषयं परं।
चोदनाज्ञानमन्यद्वा वादिनं प्रति नास्तिकम्॥ २९॥

उक्त चार वार्तिकों द्वारा कह दिये गये दोषोंके निराकरणार्थ श्री विद्यानन्द स्वामी उत्तर देते हैं कि अब इस प्रकरणमें हम जैन सामान्यज्ञानको पक्ष भले प्रकार कहते हैं। कोई दूसरा इन्द्रियज्ञान, अनुमानज्ञान, आगम या परिपूर्णज्ञान, पूर्वोक्त अनुमानमें पक्ष नहीं कहा गया है। वह सामान्यज्ञान बढते बढते सम्पूर्ण अर्थोंको विषय कर लेनेपने करके उत्कृष्टताके पर्यन्त प्रकर्षको प्राप्त हो जावेगा। इस प्रकार साध्य बनाया जा रहा है। जो चार्वाक नास्तिकवादी विद्वान् वेदवाक्योंसे उत्पन्न हुये ज्ञानको भूत, भविष्यत् कालवर्ती, दूरवर्ती, या स्वभावविप्रकृष्ट पदार्थोंको विषय करनेवाला नहीं मानता है, तथा अन्य भी दूसरे ज्ञानोंको भूत आदि पदार्थोंको विषय करनेवाला नहीं चाहता है, उस नास्तिकवादीके प्रति हम जैनोंने तेईसवीं वार्त्तिक द्वारा पूर्ण ज्ञानको सिद्ध करनेवाला अनुमानप्रमाण कहा था। अतः हमारा हेतु समीचीन निर्दोष है।

न सिद्धसाध्यतैवं स्यान्नाप्रसिद्धविशेष्यता।
पक्षस्य नापि दोषोयं क्वचित् सत्यं प्रसिद्धता॥ ३०॥

इस प्रकार ज्ञानसामान्यको पक्ष बनाकर और सम्पूर्ण अर्थोंको विषय कर लेनेपनके परम प्रकर्ष प्राप्त हो जानेको साध्य बनाकर अनुमान कर लेनेपर सिद्धसाध्यता दोष नहीं आता है। क्योंकि मीमांसकोंके यहां हमारा कहा गया साध्य प्रसिद्ध नहीं है। अतः सिद्धसाधन दोष नहीं आता है। हम इन्द्रियजन्य ज्ञानको पक्ष नहीं बना रहे हैं। एवं पक्षका अप्रसिद्ध विशेष्यता नामका यह दोष भी यहां नहीं आता है। क्योंकि परिमाणके समान ज्ञान भी उत्तरोत्तर बढता हुआ दीख रहा है। समूहालम्बनज्ञानमें या चक्षुःद्वारा किये गये घट, पट, पुस्तक, आदि अनेक पदार्थोंके एक ज्ञानमें क्रमरहित युगपत् अनेक पदार्थोंका प्रतिभास हो जाता है। उत्कर्ष बढते बढते कोई एक ज्ञान सम्पूर्ण लोक अलोकके पदार्थोंको भी युगपत् विशद जान सकता है, कोई बाधा नहीं आती है। योगीजनोंको इन्द्रियोंसे अतिक्रान्त विषयका भी ज्ञान हो जाना प्रसिद्ध है। जीवोंमें

अनेक भावनाज्ञान, प्रतिभाज्ञान (प्रातिभ) हो रहे हैं । हम जैनोंके द्वारा कहा गया हेतु स्वरूपासिद्ध और आश्रयासिद्ध भी नहीं है । क्योंकि आत्मामें सत्यार्थरूपसे तिस प्रकारका ज्ञान प्रसिद्ध है । अतः पक्ष विचारा सिद्ध होता हुआ प्रकृत हेतुका आधार हो जाता है ।

पक्षेपि मवादिनः स हेतुः कचित्प्रदर्शितः । न ह्यत्राक्षविज्ञानं परमं प्रकर्षं यातीति साध्यते नापि लिङ्गागमादिविज्ञानं येन सिद्धसाध्यता नाम पक्षस्य दोषो दुःपरिहारः स्यात् । परस्यापीन्द्रियज्ञाने लिङ्गादिज्ञाने च परमप्रकर्षगमनस्येष्टत्वात् । नाप्यक्रमं करणातीतं परिस्फुटं ज्ञानं तथा साध्यते यतस्तस्यैव धर्मिणोसिद्धेरप्रसिद्धविशेष्यता स्वरूपासिद्धश्च हेतुर्धर्मिणोसिद्धौ तद्धर्मस्य साधनस्यासम्भवादाश्रयासिद्धश्च भवेत् ।

अपनी मण्डलीमें बढियावादी पण्डित बन रहे मीमांसकके यहां वह हेतु पक्षमें भी कहीं अच्छा दिखला दिया गया है । वेदशास्त्रद्वारा या व्याप्तिज्ञानसे सम्पूर्ण पदार्थोंको विषय कर लेना मीमांसकोंने भी माना है । केवल विशदपनेका विवाद रह गया है । हम जैनोंद्वारा यहां प्रकरणमें इन्द्रियजन्यज्ञान परमप्रकर्षको प्राप्त हो जाता है, ऐसी प्रतिज्ञा नहीं साधी जा रही है । और हेतुजन्य ज्ञान या आगम, व्याप्तिज्ञान, आदि विज्ञानोंकी परमप्रकर्षता भी नहीं साधी जा रही है, जिससे कि सिद्धसाधन नामका दोष कठिनतासे दूर किया जा सके, या पक्षका सिद्धसाधन दोष कठिनतासे हटाया जाय । भावार्थ—अक्षविज्ञानको पक्ष बना लेनेपर सिद्धसाधन दोष अवश्य लागू रहेगा । क्योंकि दूसरे मीमांसक या नास्तिक विद्वानोंके यहां भी इन्द्रियज्ञानमें और अनुमान आदि ज्ञानोंमें परम प्रकर्षतक प्राप्त हो जाना इष्ट किया गया है । पिसेको पीसनेके समान उन ज्ञानोंकी प्रकर्ष प्राप्तिको साधना सिद्धका ही साधन करना है । तथा हम जैन क्रमरहित, अतीन्द्रिय, परिपूर्ण, विशदज्ञान भी तिस प्रकार परमप्रकर्ष गमनको कण्ठोक्त नहीं साध रहे हैं, जिससे कि उस धर्मी (पक्ष) की ही असिद्धि हो जानेसे पक्षका अप्रसिद्ध विशेष्यपना दोष लग बैठे । अर्थात्—उक्त तीन उपाधियोंसे युक्त हो रहा ज्ञानस्वरूप विशेष्य अभीतक प्रसिद्ध नहीं हुआ है । ऐसी दशामें ज्ञान सामान्यको पक्ष कर लेनेपर मीमांसकजन अप्रसिद्धविशेष्यता दोषको हमारे ऊपर नहीं उठा सकते हैं । तथा तैसे परिपूर्ण ज्ञानकी पुनः परमप्रकर्षपनेकी प्राप्ति तो फिर होती नहीं है, जिससे कि पक्षमें हेतुके न रहनेपर हमारा तारतम्यसे अधिरूढपना हेतु स्वरूपासिद्ध हो जावे । जब कि हम जैन परिपूर्ण ज्ञानको पक्ष कोटिमें ही नहीं डाल रहे हैं, तो फिर हेतु स्वरूपासिद्ध कैसे हो सकता है ? और तैसे धर्मी ज्ञानकी सिद्धि नहीं हो चुकनेपर उस असम्भूत पक्षमें वर्त रहे हेतुस्वरूप धर्मका असम्भव हो जानेसे हमारा हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास हो जाता, यानी तैसे अतीन्द्रिय पूर्ण ज्ञानको हम पक्ष नहीं बना रहे हैं । अतः हमारा हेतु आश्रयासिद्ध नहीं है । ज्ञानसामान्य तो सिद्ध ही है ।

किं तर्हि ज्ञानसामान्यं धर्मि ? न च तस्य सर्वार्थगोचरत्वेन परमप्रकर्षमात्रे साध्ये सिद्धसाध्यता भूतादिविषयं चोदनाज्ञानमनुमानादिज्ञानं वा प्रकृष्टमिच्छन्तं वादिनं नास्तिकं प्रति प्रयोगात् ।

तो तुमने पक्षकोटिमें कौनसा ज्ञान ग्रहण किया है ? इस प्रकार जिज्ञासा करनेपर हम जैन यह उत्तर कहेंगे कि ज्ञानसामान्यको हम यहां पक्ष बनाते हैं । उस सामान्य ज्ञानको सम्पूर्ण अर्थोंका विषयीपने करके परमप्रकर्षकी प्राप्तिको सामान्यरूपसे साध्य करनेपर सिद्ध साध्यता दोष नहीं आता है । क्योंकि विधि लिङन्त वेदवाक्यों द्वारा हुये आगमज्ञान अथवा अनुमान, तर्क आदि ज्ञानोंके प्रकर्षपर्यन्त गमन हो जानेपर भी भूत, भविष्यत् आदि पदार्थोंको विषय कर लेना नहीं चाहनेवाले नास्तिकवादीके प्रति हम जैनोंने पूर्वोक्त अनुमानका प्रयोग किया था । यानी नास्तिकोंके यहां सम्पूर्ण अर्थोंको विषय करनेवाला ज्ञान सिद्ध नहीं था । जैनोंने तेईसवीं वार्तिकके अनुमान द्वारा असिद्ध साध्यको सिद्ध कर दिया है । सिद्धसाध्यता दोष तो तब उठाया जा सकता था, जब कि नास्तिकोंके यहां सिद्ध हो रहे साध्यको ही हम जैन हेतु द्वारा साधते होते । प्रतिवादीके यहां असिद्ध हो रहे पदार्थको हम साध्यकोटिमें लाते हैं । अतः सिद्धसाधन दोष हमारे ऊपर नहीं लगता है ।

मीमांसकं प्रति तत्प्रयोगे सिद्धसाधनमेव भूताद्यशेषार्थगोचरस्य चोदनाज्ञानस्य परमप्रकर्षप्राप्तस्य तेनाभ्युपगतत्वादिति चेन्न, तं प्रति प्रत्यक्षसामान्यस्य धर्मित्वात्तस्य तेन सर्वार्थविषयत्वेनात्यन्तप्रकृष्टस्यानभ्युपगमात् ।

सम्मुख बैठे हुये पण्डित कह रहे हैं कि हम मीमांसकोंके प्रति उस अनुमानका प्रयोग करने पर तो सिद्धसाधन दोष है ही । यानी हम मीमांसक तुम जैनोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष उठा सकते हैं । क्योंकि " चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थमवगमयितुमलं पुरुषविशेषान् " वेदवाक्योंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अभ्यास बढाते बढाते परमप्रकर्षको प्राप्त होकर भूत, भविष्यत् आदि सम्पूर्ण पदार्थोंको विषय कर लेता है । इस प्रकार हम मीमांसकोंने स्वीकृत किया है । अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो न कहना । क्योंकि उस मीमांसकके प्रति ज्ञानपदसे प्रत्यक्ष सामान्यको हमने पक्ष कोटिमें ग्रहण किया है । मीमांसक जन आगमज्ञानसे भले ही सम्पूर्ण या कतिपय अतींद्रिय पदार्थोंका ज्ञान लेना अभीष्ट कर लें, किन्तु मीमांसकोंने प्रत्यक्ष ज्ञानद्वारा सभी पदार्थोंको विषय कर लेना नहीं माना है । अतः जैन लोग " हमारे यहां सिद्ध हो रहे पदार्थको ही साध रहे हैं ", इस प्रकारका सिद्ध साधन दोष मीमांसक हमारे ऊपर नहीं उठा सकते हैं । हम जैनोंने मीमांसकोंके यहां असिद्ध हो रहे पदार्थको ही साधा है । क्योंकि उस मीमांसकने उसी प्रत्यक्ष ज्ञानकी सम्पूर्ण अर्थोंके विषय कर लेनेपन करके अत्यन्त प्रकृष्टपनकी प्राप्तिको स्वीकार नहीं किया है ।

न चैवमप्रसिद्धविशेष्यादिदोषः पक्षादेः सम्भवति केवलं मीमांसकान्प्रति यदैतत्साधनं तदा प्रत्यक्षं विशदं सूक्ष्माद्यर्थविषयं साधयत्येवानवद्यत्वात् ।

इस प्रकार सामान्यज्ञान या सामान्य प्रत्यक्षको पक्ष करलेनेपर पक्ष, साध्य, प्रतिज्ञा, आदिके अप्रसिद्धविशेष्यता, अप्रसिद्धविशेषणता, स्वरूपासिद्धि, आश्रयासिद्धि, आदिक दोष नहीं सम्भवते हैं। केवल मीमांसक विद्वानोंके सन्मुख ही जब यह हेतु प्रयुक्त किया जायगा तब तो कोई प्रत्यक्षज्ञान (पक्ष) अतीव विशद होता हुआ सूक्ष्म, व्यवहित, आदि पदार्थोंको विषय कर रहा (साध्य) साधा जारहा ही है। क्योंकि हेतुदोषोंसे रहित होनेके कारण हमारा हेतु निर्दोष है। अथवा निर्दोष होनेके कारण (हेतु) किसी आत्मामें हो रहा विशिष्टप्रत्यक्ष (पक्ष) सभी सूक्ष्म आदिक अर्थोंको युगपत् विषय करलेता है (साध्य)। यह हमने पूर्व अनुमानसे साध्य किया है।

यदा तु नास्तिकं प्रति सर्वार्थगोचरं ज्ञानसामान्यं साध्यते तदा तस्य करणक्रमव्यवधानातिवर्तित्वं स्पष्टत्वं च कथं सिध्यति इत्याह ।

कोई पूंछता है कि आप जैनोंका अनुमान मीमांसकोंके प्रति तो ठीक बैठ गया और नास्तिकोंके प्रति भी ज्ञान सामान्यको पक्ष बनाकर सम्पूर्ण अर्थोंका विशद जानना साधा जा सकता है। किन्तु आप जैन जब नास्तिकवादियोंके प्रति ज्ञान सामान्यको सम्पूर्ण अर्थोंका विषय करनेवाला साधते हैं, तब उस सम्पूर्ण अर्थोंके ज्ञानको इन्द्रियोंके क्रमपूर्वक वर्त्तनेसे हुये व्यवधानका उल्लंघन (युगपत्) करलेनापन और स्पष्टपना भला कैसे सिद्ध हो जाता है ? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य यों समाधान कहते हैं, सो सुनिये।

तच्च सर्वार्थविज्ञानं पुनः सावरणं मतं ।
अदृष्टत्वाद्यथा चक्षुस्तिमिरादिभिरावृतं ॥ ३१ ॥
ज्ञानस्यावरणं याति प्रक्षयं परमं क्वचित् ।
प्रकृष्यमाणहानित्वाद्धेमादौ श्यामिकादिवत् ॥ ३२ ॥
ततोऽनावरणं स्पष्टं विप्रकृष्टार्थगोचरं ।
सिद्धमक्रमविज्ञानमकलंकं महीयसाम् ॥ ३३ ॥

स्वभावसे ही सम्पूर्ण अर्थोंको जाननेवाला वह विज्ञान फिर (पक्ष) आवरणोंसे सहित हो रहा (साध्य) माना जा चुका है। दृष्टव्य सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष कर लेना नहीं होनेसे (हेतु) जैसे कि तमारा, रतोंध, कामल आदि दोषोंसे ढका हुआ नेत्र (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-संसारी जीवोंकी चेतना शक्तिके ऊपर आवरण और दोष आ गये हैं। अतः यह ज्ञान इन्द्रियोंके क्रमसे वर्तनेपर व्यवधान युक्त हो जाता है। अविशद हो जाता है। हां, आवरणोंके सर्वथा दूर हो जानेपर

वह सर्वज्ञ ज्ञान किन्हीं इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं रखता हुआ युगपत् सम्पूर्ण अर्थोंको स्पष्ट जान लेता है। आवरणोंका क्षय पूर्णरूपसे किसी आत्मामें हो जाता है। इसके लिये अनुमान बनाते हैं कि किसी न किसी आत्मामें ज्ञानका आवरण (पक्ष) उत्कृष्ट रूपसे प्रकृष्ट क्षयको प्राप्त हो जाता है। जैसे कि स्वर्ण आदिमें कालिम, किट्ट, आदिकी बढ रही हानि किसी सौ टंचके सोनेमें प्रकृष्टपनको प्राप्त हो जाती है। भावार्थ-तेजाव या अग्निमें तपानेपर स्वर्णके किट्ट, कालिमा आदि आवरणोंकी हानि कुन्दनकी अवस्थामें परम प्रकर्षताको प्राप्त हो जाती है। उसीके समान प्रवेशीविद्वान्, विशारद, विचक्षण, मेधावी, आचार्य आदि पुरुषोंमें ज्ञानके आवरणोंकी हानि बढ रही है। बढते बढते वह हानि सर्वज्ञदेवमें परमप्रकर्षको प्राप्त हो जाती है। वस्तुतः विचारा जाय तो ज्ञान उपाधियोंसे रहित वस्तु है। ज्ञानका शुद्ध कार्य जान लेना है। घटका ज्ञान पटका ज्ञान ये ज्ञानके विशेषण औपाधिक हैं। जैसे कि देवदत्तके स्वामित्वमें वर्त रहा रुपया देवदत्तका कहा जाता है। यदि देवदत्त जिनदत्तसे रुपया देकर वस्त्र मोल ले लेवें तो वह रुपया जिनदत्तका हो जाता है। जिनदत्त यदि इन्द्रदत्तसे उस रुपयेका अन्न मोल ले ले तो वह रुपया इन्द्रदत्तका हो जाता है । यथार्थ रूपमें विचारा जाय तो वह रुपया अपने स्वरूपमें सोने चांदी या तांबेका होता हुआ अपने ही निज स्वरूपमें अवस्थित हो रहा है। वह किसी व्यक्तिविशेषका नियत नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानका अर्थ केवल जान लेना है। ज्ञान स्वच्छ पदार्थ हैं। अतः आवरणके दूर होने अनुसार वह पदार्थोंका प्रतिभास कर लेता है। ज्ञान जाति सम्पूर्ण जीवोंके ज्ञानकी एकसी है। लुहार, सुनार, व्यापारी, किसान, मंत्रज्ञ, वैयाकरण, सिद्धान्तज्ञ, नैयायिक, रसोईया, मल्ल, वैज्ञानिक, वैद्य, ज्योतिषी, रसायनवेत्ता, मिस्री, अश्वपरीक्षक, आचार शास्त्रको जाननेवाला, राजनीतिज्ञ, युद्धविद्याविशारद, आदि विद्वानोंके अनेक प्रकारका ज्ञान प्रकट हो रहा है। कोई कोई मनुष्य तो चार चार, दशदश कलाओं और अनेक विद्याओंमें कुशल हो रहा देखा जाता है। अतः सिद्ध होता है कि जैसे अग्नि सम्पूर्ण दाह्य पदार्थोंको जला सकती है, वैसे ही ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञेयोंको जान सकता है। वर्तमानमें संसारी जीवोंका ज्ञान आवरणसहित होनेके कारण ही सबको नहीं जान सका है। वस्तुतः उस ज्ञानमें सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेकी शक्ति विद्यमान है। उपजाऊ खेतकी मिट्टी बीज, जल आदिके निमित्त मिलानेपर गेंहू, चना, इक्षुदण्ड, फूल, फल, पत्ते, आदिक अनेक पर्यायोंको धार सकती है। इसी प्रकार प्रतिबन्धकोंके दूर हो जानेपर ज्ञान अखिल पदार्थोंको जान लेता है। तिस कारणसे सिद्ध हुआ कि स्वभाव विप्रकृष्ट परमाणु, कार्मणवर्गणाएं आदि तथा देश विप्रकृष्ट कालविप्रकृष्ट सुमेरु रामचन्द्र आदिक और भी सम्पूर्ण पदार्थोंको विषय करनेवाला जो महान् पुरुषोंका ज्ञान है, वह ज्ञानावरणकर्मके पटलोंसे रहित है, अतीव विशद है, क्रमसे नहीं होता हुआ सबको युगपत् जान रहा है। तथा अज्ञान, राग, द्वेष, आदि कलंकोंसे रहित है। इस

कारण सम्पूर्ण अर्थोंको जाननेवाला ज्ञान इन्द्रियोंके क्रमसे हुये व्यवधानको उल्लंघन करनेवाला और विशद सिद्ध कर दिया जा चुका है ।

यत एवमतीन्द्रियार्थपरिच्छेदनसमर्थं प्रत्यक्षमसर्वज्ञवादिनं प्रति सिद्धम् ।

जिस ही कारणसे सर्वज्ञको नहीं माननेवाले मीमांसक, नास्तिक, आदिक वादियोंके प्रति अतीन्द्रिय अर्थोंको साक्षात् युगपत् जाननेकी सामर्थ्यसे युक्त हो रहा प्रत्यक्षज्ञान सिद्ध करा दिया गया है । इस पंक्तिके " यतः " का अन्वय अग्रिम वार्तिकमें पडे हुये " ततः " शब्दके साथ लगा लेना चाहिये ।

ततः सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः ।
भूताद्यशेषविज्ञानभाजश्चेचोदनाबलात् ॥ ३४ ॥
किन्न क्षीणावृतिः सूक्ष्मानर्थान्द्रष्टुं क्षमः स्फुटं ।
मन्दज्ञानानतिक्रामन्नातिशेते परान्नरान् ॥ ३५ ॥

तिस ही कारणसे आगामी कालके परिणामको विचारनेवाली बुद्धि प्रज्ञा और धारणा नामक संस्कारको धारनेवाली बुद्धि मेधा तथा प्रतिभा प्रेक्षा आदिकोंकरके चमत्कार सहित देखे जा रहे मनुष्य इस ज्ञानका प्रकर्ष बढाते हुये भूत, भविष्यत् विप्रकृष्ट आदिक सम्पूर्ण पदार्थोंके विज्ञानको धारनेवाले बन सकते हैं, कोई बाधक नहीं है । जब कि आप मीमांसक वेदवाक्योंकी सामर्थ्यसे भूत आदि पदार्थोंका ज्ञान हो जाना इष्ट करते हो तो जिस मनुष्यके ज्ञानावरण कर्मोंका क्षय हो चुका है, वह पुरुष सूक्ष्म, व्यवहित आदि अर्थोंको विशदरूपसे देखनेके लिये क्यों नहीं समर्थ हो जावेगा और मन्दज्ञानवाले दूसरे मनुष्योंका अतिक्रमण करता हुआ उन मनुष्योंसे अधिक चमत्कारको धारण करनेवाला क्यों नहीं हो जावेगा ? अर्थात्—ज्ञानावरणोंका क्षय करनेवाला मनुष्य सूक्ष्म आदिक अर्थोंको अवश्य विशद जान लेता है और अन्य अल्प ज्ञानियोंसे अधिक चमत्कारक हो जाता है । भावार्थ—जो मीमांसकोंने यह कहा था कि " येपि सातिशया दृष्टा प्रज्ञा मेधादिभिर्नराः । स्तोकस्तोकान्तरत्वेन नत्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥ प्राज्ञोपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोपि सन् स्वजातीरनतिक्रामन्नतिशेते परान्नरान् " उसके अनुसार ही सर्वज्ञकी सिद्धि हो जाती है । वेदके द्वारा भूत, भविष्यत् आदि पदार्थोंका ज्ञान मीमांसकोंने जब मान लिया है, तो प्रतिबन्धक कर्मोंके दूर हो जानेपर भूत आदिका विशद ज्ञान भी हो सकता है । अविशदज्ञानियोंसे विशदज्ञानी चमत्कृतिको लिये हुये हैं ।

यदि परैरभ्यधायि । "दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । न योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि " इत्यादि । तदपि न युक्तमित्याह ।

दूसरे विद्वान् मीमांसकोंने अपने आगममें यदि यों कहा था कि जो जीव आकाशमें उछल कर दश हाथका अन्तर लेकर चला जा सकता है, वह सैकडों अभ्यास करके भी एक योजनतक जानेके लिये समर्थ नहीं है, इत्यादिक मीमांसकोंका वह कथन भी युक्तिपूर्ण नहीं, इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य स्पष्टकर कहते हैं, सो सुनिये।

लंघनादिकदृष्टान्तः स्वभावान्न विलंघने।
नाविर्भावे स्वभावस्य प्रतिषेधः कुतश्चन ॥ ३६ ॥
स्वाभाविकी गतिर्न स्यात्प्रक्षीणाशेषकर्मणः।
क्षणादूर्ध्वं जगच्चूडामणौ व्योम्नि महीयसि ॥ ३७ ॥
वीर्यान्तरायविच्छेदविशेषवशतोपरा।
बहुधा केन वार्येत नियतं व्योमलंघना ॥ ३८ ॥

उछलना, कूदना, उल्लंघना, आदिक दृष्टान्त तो स्वभावसे ही बहुत दूर तक उल्लंघन करनेवाले पदार्थमें उपयोगी नहीं है। दूरतक ऊपर चले जाना आदि स्वभावके प्रकट हो जानेपर किसी भी प्रकारसे असंख्यों योजनतक उछल जाने तकका निषेध नहीं होता है। जैसे कि पक्षरहित भी विशिष्ट जातिका सर्प बहुत दूर ऊंचा उछल जाता है। अग्निकी ज्वाला या धुआं कोशों तक ऊपर चला जाता है। भारी पाषाण लाखों कोस नीचे तक गिर जाता है। वायु लाखों कोस तक तिरछी चली जाती है। इसी प्रकार जीव या पुद्गलका ऊर्ध्वगति स्वभाव प्रकट हो जानेपर एक योजन तो क्या असंख्य योजनोंतक उछल जाना प्रतीत हो जाता है। यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो बडे भारी लोकाकाशमें ऊपर जगत्के चूडामणि स्वरूप तनुवातवलयमें सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय करचुके सिद्ध भगवान्की एक समय करके स्वभावसे होनेवाली गति नहीं हो सकती थी। भावार्थ–सम्पूर्ण आठ कर्मोंका क्षय कर मुक्तात्मा यहां कर्मभूमिसे सात राजू ऊपर सिद्ध लोकमें एक ही समयमें उछल कर जा पहुंचते हैं। एक राजूमें असंख्याते योजन होते हैं। विक्रिया ऋद्धिवाले मनुष्य एक दो योजन तो क्या संख्यात योजनोंतक और वैमानिक देव शरीरसहित भी असंख्य योजनोंतक उछल जाते हैं। अतः एक योजनतक उछलनेका असम्भव दिखलाना मीमांसकोंका प्रशस्त नहीं है। आत्माके वीर्यगुणका प्रतिबन्ध करनेवाले वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशमविशेष या क्षयके वशसे और भी बहुत प्रकार की गतियां होना भला किसके द्वारा निषेधा जा सकता है ? अर्थात्–नहीं। एक कोस, सौ कोस, कोटि योजन, एक राजू, सात राजू इस प्रकारकी नियतरूपसे आकाशको उल्लंघनेवाली गतियां प्रमाणसिद्ध हैं। अतः मीमांसकोंका दृष्टान्त

विषम होता हुआ अपने ही पक्षका घातक है। असन्त मूर्ख पुरुष भी गुरुकृपासे या विशिष्ट क्षयोपशम हो जानेसे व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, साहित्य, मंत्रशास्त्र आदि विषयोंमें एक ही पारदृश्वा बन जाता है। ज्ञानकी सीमा सम्पूर्ण त्रिलोक, त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जान लेने तक है। केवलज्ञान तो अनन्त भी लोक अलोक या काल होते तो उनको भी जान सकता था। कार्यकारण भावका भंग कर अतिशय होते हुये हम जैनोंको इष्ट नहीं हैं। कूससे मनुष्यकी उत्पत्ति या चक्षु इन्द्रिय द्वारा शब्दका सुन लेना इत्यादि प्रकारके अतिशयोंको हम जैन नहीं मानते हैं। चक्रवर्ती, इन्द्र, ऋद्धिधारी मुनि, श्रीअर्हन्तदेव भी असम्भव कार्योंको नहीं कर सकते हैं। किन्तु अनन्तसुख, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, क्षायिक चारित्र ये सब आत्माके स्वाभाविक गुण हैं। प्रतिबन्धकोंके लग जानेपर अपना कार्य नहीं कर सकते थे, और प्रतिबन्धकोंके सर्वथा क्षय हो जानेपर इच्छा और प्रयत्नके बिना ही सूर्यके समान विकाशको प्राप्त हुये अपने स्वाभाविक कार्यमें संलग्न हो जाते हैं।

ततो यदुपहसनमकारि भट्टेन। "यैरुक्तं केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। सूक्ष्मातीतादिविषयं सूक्तं जीवस्य तैरदः" इति, तदपि परिहृतमित्याह।

तिस कारण मीमांसक कुमारिल भट्टने जो हम जैनोंका उपहास किया था कि जिन जैनोंने इन्द्रिय, मन, हेतु, सादृश्य, पद आदिकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले जीवके सूक्ष्म, भूत, भविष्यत् आदि पदार्थोंको विषय करनेवाला केवलज्ञान कहा है, इन जैनोंने यह तत्त्व बहुत बढिया कहा। अर्थात्—सूक्ष्म आदिक पदार्थोंके जाननेका बोझ जीवोंपर धर दिया है। कहीं जलका बिन्दु भी समुद्र हो सकता है? इस प्रकार भट्ट महाशयका वह उपहास वचन भी खण्डित कर दिया गया है। इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिमवार्त्तिक द्वारा कहते हैं। जीवके स्वभावका प्रकट हो जाना कोई बोझ नहीं है, प्रत्युत यही आत्मलाभ है। एक जलकी बूंदके स्कन्ध बिखर जांय तो कई समुद्र बन सकते हैं, सरसोंके दाने बराबर पुद्गल स्कन्ध मचल जाय तो लाखों कोसोंतक फैलकर उपद्रव मचा देता है। एक इंच लम्बे चौडे आकाशमें सैकडों महलोंके बनानेमें उपयोगी होय इतनी मिट्टी समासकती है। विज्ञान भी इस बातको स्वीकार करता है। जैन सिद्धान्त तो "सुहुमाणुठ्ठगदागहिदं" इस सिद्धान्तको कहता चला आरहा है। आकाशके परमाणु बराबर एक प्रदेशमें अनन्त अणु और अनन्त स्कन्ध आ सकते हैं। पानीसे भरे हुये पात्रमें भी थोडे बूरेको स्थान मिल जाता है। ऊटनीके दूधसे भरे हुये पात्रमें मधु मिलादेनेपर भी फटता नहीं है। रहस्य यह है कि सर्वज्ञके ज्ञानका उपहास करना अपना ही उपहास कराना है। अनुमान, व्याप्तिज्ञान, आगम, इनसे सर्वका अविशद ज्ञान तो माना ही जारहा है। फिर क्षीणकर्मा सर्वज्ञके सर्वका विशद-ज्ञान हो जाय इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? कुछ भी नहीं।

ततः समन्ततश्चक्षुरिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः ।
निःशेषद्रव्यपर्यायविषयं केवलं स्थितं ॥ ३९ ॥

तिस कारणसे यह व्यवस्थित होगया कि चारों ओरसे चक्षु इन्द्रिय, मन, ज्ञापकहेतु, अर्थापत्ति, उत्थापक अर्थ, वेदवाक्य आदिककी नहीं अपेक्षा रखनेवाले आवरणरहित जीवके सम्पूर्ण द्रव्य और सम्पूर्ण पर्यायोंको विषय करनेवाला केवलज्ञान प्रकट हो जाता है । केवलज्ञानके सद्भावमें बाधा देनेवाले प्रमाणोंका असम्भव है ।

तदेवं प्रमाणतः सिद्धे केवलज्ञाने सकलकुचोद्यविषये युक्तं तस्य विषयप्ररूपणं मतिज्ञानादिवत् ।

तिस कारण सम्पूर्ण कुचोद्य करनेवाले वादियोंकी समझमें नहीं आरहे केवलज्ञानकी प्रमाणोंसे इस प्रकार सिद्धि हो चुकनेपर उस केवलज्ञानके मतिज्ञान आदिके समान विषयका क्रमप्राप्त निरूपण करना श्री उमास्वामी महाराजको युक्त ही है । यहांतक प्रकृत सूत्रकी उपपत्ति करदी गयी है ।

इस सूत्रका सारांश ।

इस सूत्रके प्रकरणोंकी संक्षेपसे सूची इस प्रकार है कि प्रथम ही चार ज्ञानोंके विषयका निरूपण कर चुकनेपर क्रमप्राप्त केवलज्ञानके विषयको नियत करनेके लिये सूत्रका निरूपण करना आवश्यक प्रतीत हुआ है, सकल ज्ञेयोंमें वहीं बैठे बैठे ज्ञप्तिक्रिया करानेकी अपेक्षा व्यापनेवाले केवलज्ञानको पूर्व प्रकरणोंमें साधा जा चुका कहकर अनेक द्रव्य और अनेक पर्यायोंके सद्भावका स्मरण कराया है । तभी तो श्री उमास्वामी महाराजने द्रव्य और पर्यायोंमें बहुवचनान्त प्रयोग किया है । केवल उपयोगमें आ रहे या संसार और मोक्षतत्त्वके ज्ञानमें उपयोगी बन रहे थोडेसे पदार्थोंको ही जान लेने मात्रसे सर्वज्ञ नहीं हो सकता है । इस तत्त्वका अच्छा विचार किया है । हेय और उपादेय कतिपय तत्त्वोंको जान लेनेसे भी सर्वज्ञपना इष्ट नहीं है । इस प्रकरणमें अपेक्षाओंसे सभी पदार्थोंका हेयपना या उपादेयपना अथवा उपेक्षा करने योग्यपना भले प्रकार साधा है । सिद्धान्त यह है कि जगत्के सम्पूर्ण पदार्थोंको जान लेनेपर ही सर्वज्ञता बन सकती है । एक भी पदार्थके छूट जानेपर अल्पज्ञता समझी जावेगी । धर्मसे अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेवाला धर्मको अवश्य जान जावेगा । ज्ञानका स्वभाव सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेका है । ऐसी दशामें धर्म शेष नहीं रह सकता है । विचारशाली पुरुषोंको नीतिमार्गका उल्लंघन नहीं करना चाहिये । यहां मीमांसकोंके साथ बहुत अच्छा विचार कर सर्वज्ञसिद्धि की है । अनुमान बनाकर ज्ञानके परमप्रकर्ष पर्यन्त गमनको समीचीन हेतुसे साध दिया है । मीमांसकोंके द्वारा उठाये गये कुचोद्योंका अच्छे ढंगसे निवारण कर दिया है । नास्तिक और मीमांसकके प्रति न्यारी न्यारी प्रतिज्ञा कर सिद्ध

साधन आदि दोषोंको हटाते हुये ग्रन्थकारने अल्पज्ञ जीवोंके ज्ञानका आवरणसे ढका हुआ बताया है। आवरणोंकी सर्वथा हानि हो जानेपर ज्ञान अपने स्वभाव अनुसार युगपत् सम्पूर्ण पदार्थोंका विशदप्रत्यक्ष कर लेता है। विप्रकृष्ट अर्थोंको जाननेवाला ज्ञान इन्द्रियोंकी सहायताको नहीं चाहता है। क्रमसे होनेवाला भी नहीं है। यही अकलंक मार्ग है। मीमांसकोंके कटाक्षोंका उन्हींकी युक्तियोंसे निवारण हो जाता है। इस प्रकरणमें मीमांसकोंकी युक्तियोंको कुयुक्ति बताकर आचार्योंने अपने पक्षको पुष्ट किया है। कूपमण्डूकताको उडाकर समुद्र राजहंस समान आचार्योंने मीमांसकोंके द्वारा किये गये उपहासका गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया है। परिशेषमें सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको विषय करनेवाले केवलज्ञानको साध कर प्रकृत सूत्रद्वारा उसके विषयका निरूपण करना उपयोगी बताकर सूत्रार्थका उपसंहार कर दिया है। ऐसा केवलज्ञान जयवन्त रहे।

श्रीमन्तोऽर्हन्तआप्तास्त्रिदशपतिनुता वीक्ष्य निर्दोषवृत्तात्।
यस्माद्धस्तस्थमुक्ताफलमिव युगपद्द्रव्यपर्यायसार्थान् ॥
ज्ञानोपादत्युपेक्षा फलमभिलपतो मुक्तिमार्गं शशासुः।
स्तत्त्वज्ञानेप्सु भव्यान्स किल विजयते केवलज्ञानभानुः ॥ १ ॥

—※—

ज्ञानके प्रकरणमें लब्धिस्वरूप ज्ञानोंके सद्भावको निरूपण करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराजके मुखस्वरूप उदयाचलसे सूर्यसूत्रका उदय होता है।

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥

एक आत्मामें एक ही समयमें एकको आदि लेकर भाज्यस्वरूप ज्ञान चारतक हो सकते हैं। किसी भी आत्माकी एकसे भी कम ज्ञान पाये जानेकी यानी कुछ भी ज्ञान नहीं रहनेकी कोई अवस्था नहीं है। अर्थात्—चाहे विग्रह गतिमें आत्मा होय, अथवा सूक्ष्म निगोदियाके शरीरमें होय, उसके कोई न कोई एक ज्ञान तो अवश्य होगा। तथा एक समयमें चार ज्ञानोंसे अधिक लब्धिस्वरूप ज्ञान नहीं हो सकते हैं। यथायोग्य विभाग कर चार ज्ञानोंतककी सम्भावना है।

कान्प्रतीदं सूत्रमित्यावेदयति।

श्री उमास्वामी महाराज किन प्रवादियोंके प्रति इस "एकादीनि आदि सूत्रको कह रहे हैं? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तरस्वरूप निवेदन करते हैं, सो सुनिये।

एकत्रात्मनि विज्ञानमेकमेवैकदेति ये।
मन्यन्ते तान्प्रति प्राह युगपज्ज्ञानसम्भवम् ॥ १ ॥

जो नैयायिक आदिक विद्वान् एक समय एक आत्मामें एक ही विज्ञान होता है, इस प्रकार मान रहे हैं, उन विद्वानोंके प्रति एक समयमें संभवनेवाले ज्ञानोंको समझानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज बढिया सूत्र कह रहे हैं। अर्थात्—एक समयमें एक आत्माके एक ही ज्ञान नहीं होता है। किंतु योग्यतास्वरूप चार ज्ञानतक पाये जा सकते हैं। जैनदर्शनके अतिरिक्त लब्धिस्वरूप ज्ञानोंकी अन्य मतोंमें चर्चा ही नहीं है। वे तो उपयोग आत्मक ज्ञानपर ही तुले हुये हैं।

अत्रैकशब्दस्य प्राथम्यवचनत्वात्प्राधान्यवचनत्वाद्वा क्वचिदात्मनि ज्ञानं एकं प्रथमं प्रधानं वा संख्यावचनत्वादेकसंख्यं वा वक्तव्यं।

" एक " इस शब्दके संख्या, असहाय, प्रधान, प्रथम, भिन्न आदिक कई अर्थ हैं। किन्तु इस सूत्रमें एक शब्दका अर्थ प्रथम अथवा प्रधान विवक्षित है। संख्येयमें प्रवर्त रहे एक शब्दके द्वारा प्रथमपनेका कथन करना अर्थ होनेसे अथवा प्रधानपन अर्थका कथन करना होनेसे किसी एक आत्मामें एक यानी प्रथमज्ञान मतिज्ञान अथवा एक यानी प्रधान ज्ञान केवलज्ञान हो सकता है। अथवा एक शब्दद्वारा संख्याका कथन हो जानेसे एक संख्यावाला ज्ञान कह सकते हो। एक शब्दका अर्थ संख्या हो जानेपर उस एक ज्ञानका निर्णय नहीं हो सकता है। अतः व्याख्यान से विशेष अर्थका निर्णय करना होगा।

तत्र किं द्वे च ज्ञाने किं युगपदेकत्र त्रीणि चत्वारि वा ज्ञानानि कानीत्याह।

शिष्य कहता है कि एकसे लेकर चारतक ज्ञान हो जाते हैं, यह हम समझे। किन्तु वह एक ज्ञान कौनसा है ? और युगपत् होनेवाले दो ज्ञान कौनसे हैं ? तथा एक ही समय एक आत्मामें होनेवाले तीन ज्ञान कौनसे हैं ? अथवा एक ही समयमें एक आत्माके होनेवाले वे चार ज्ञान कौनसे हैं ? इस प्रकार प्रश्न होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

प्राच्यमेकं मतिज्ञानं श्रुतभेदानपेक्षया।
प्रधानं केवलं वा स्यादेकत्र युगपन्नरि ॥ २ ॥

" प्रथम " इस अर्थको कहनेवाले एक शब्दकी विवक्षा करनेपर एक आत्मामें युगपत् पहिला मतिज्ञान एक होगा। यहां सम्भव रहे, श्रुतज्ञानके भेदोंकी अपेक्षा नहीं की गयी है। भावार्थ—यद्यपि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों अविनाभावी हैं। एक इन्द्रियवाले जीवके भी दोनों ज्ञान विद्यमान हैं। किन्तु एक शब्दका प्रथम अर्थ विवक्षित होनेपर विद्यमान हो रहे श्रुतविशेषोंकी अपेक्षा नहीं करके एक ही मतिज्ञानका सद्भाव कह दिया गया है। श्रुतज्ञानका विशेष संज्ञी पंचेंद्रिय जीवके शब्दजन्य वाच्य अर्थका ज्ञान होनेपर माना गया है। अतः खाते, पीते, छूते, सूंघते, देखते हुए जीवके एक मतिज्ञान ही हो रहा विवक्षित किया है। अथवा कुछ अवसर हो

जानेके कारण एक शब्दका अर्थ " प्रधान " ऐसा करना अच्छा दीखता है। अतः युगपत् एक जीवमें प्रधान ज्ञान केवलज्ञान हो सकेगा।

द्वेधा मतिश्रुते स्यातां ते चावधियुते क्वचित्।
मनःपर्ययज्ञाने वा त्रीणि येन युते तथा ॥ २ ॥

एक आत्मामें एक समय दो प्रकारके ज्ञान मति और श्रुत हो सकेंगे और अवधिसे युक्त हो रहे, वे दोनों ज्ञान किसी आत्मामें युगपत् हो जाते हैं। तथा किसी आत्मामें मनःपर्यय ज्ञानके हो जानेपर उन दोनोंको मिलाकर तीन ज्ञान युगपत् हो जाते हैं। अर्थात्—मति, श्रुत, अवधि, या मति, श्रुत, मनःपर्यय, ये तीन ज्ञान युगपत् सम्भव जाते हैं। तथा जिस अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके द्वय करके सहित वे मति, श्रुत हो जाते हैं। अथवा वे तीन ज्ञान यदि मनःपर्ययज्ञानसे युक्त हो जाय तो मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, इस प्रकार चार ज्ञान एक ही समयमें किसी एक जीवके सम्भव जाते हैं। पांचों ज्ञान युगपत् नहीं हो सकते हैं, असम्भव है।

प्रथमं मतिज्ञानं क्वचिदात्मनि श्रुतभेदस्य तत्र सतोऽप्यपरिपूर्णत्वेनानपेक्षणात् प्रधानं केवलमेतेनैकसंख्यावाच्यप्येकशब्दो व्याख्यातः स्वयमिष्टस्यैकस्य परिग्रहात्। पंचानामन्यतमस्यानिष्टस्यासम्भवात्।

उक्त दोनों वार्तिकोंका विपरीत अर्थ निवारणार्थ विवरण करते हैं कि किसी एक आत्मामें पहिला एक मतिज्ञान होगा, यद्यपि उस मतिज्ञानी आत्मामें श्रुतज्ञानका भेद भी विद्यमान हो रहा है। फिर भी श्रुतज्ञानके परिपूर्ण नहीं होनेके कारण उस श्रुतज्ञानकी अपेक्षा नहीं की गयी है। अर्थात्—जिस एक इन्द्रियवाले या विकलत्रय जीवोंके अकेले मतिज्ञानकी सम्भावना है। उन जीवोंके थोडा मन्द श्रुतज्ञान भी है। किन्तु अनिन्द्रिय (मन) की सहायतासे होनेवाले विशिष्ट श्रुतज्ञानकी सम्भावना नहीं होनेसे वह श्रुत (छोटा श्रुतज्ञान) विद्यमान हो रहा भी अविद्यमान सदृश है। किसी विशेष विद्वान् या अङ्गज्ञानीके श्रुतज्ञान कहना विशेष शोभता है। तथा एक आत्मामें एक प्रधान ज्ञान केवलज्ञान हो सकता है। इस उक्त कथनसे एकत्व संख्याको कहनेवाले भी " एक " इस शब्दका व्याख्यान कर दिया समझ लेना चाहिये। क्योंकि श्री उमास्वामी महाराजको स्वयं इष्ट हो रहे एकज्ञानका भी संख्यावाची एक शब्दसे पूरा ग्रहण हो जाता है। और पांच ज्ञानोंमेंसे चाहे कोई भी एक ज्ञानके सद्भावका हो जाना इस अनिष्ट अर्थकी सम्भावना नहीं है। व्यापक अर्थ होनेपर व्याप्य अर्थ आ ही जाता है। अतः संख्यावाची एक शब्दका अभिप्राय करनेपर एक मतिज्ञानका ही सद्भाव रखना चाहिये। अकेले श्रुतज्ञान या अकेले अवधिज्ञान अथवा

अकेले मनःपर्ययज्ञानका सद्भाव असम्भव होनेके कारण इष्ट नहीं किया गया है। " व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणं "—व्याख्यान कर देनेसे शिष्योंकी विशेष व्युत्पत्ति हो जाती है। केवल सन्देह उठा देनेसे लक्षण खोटा नहीं हो जाता है।

क्वचित्पुनर्द्वे मतिश्रुते क्वचित्ते वावधियुते मनःपर्ययुते चेति त्रीणि ज्ञानानि संभवन्ति। क्वचित्ते एवावधिमनःपर्ययद्वयेन युते चत्वारि ज्ञानानि भवन्ति। पंचैकस्मिन्न भवन्तीत्याह।

किसी एक आत्मामें यदि दो ज्ञान होंय तो फिर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो हो सकते हैं। मतिज्ञानके साथ अवधि या मनःपर्ययको मिलाकर अथवा श्रुतज्ञानके साथ अवधि या मनःपर्ययको मिलाकर दो ज्ञान नहीं हो सकते हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान केवल ये दो ज्ञान भी नहीं सम्भवते हैं। क्योंकि मतिज्ञानके साथ दूसरा ज्ञान श्रुतज्ञान ही हो सकता है। और श्रुतज्ञानके साथ दूसरा ज्ञान मतिज्ञान ही हो सकता है। तथा अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञानके साथमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अवश्य होंगे, जैसे कि चक्षु इन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमके साथ रसना इन्द्रियावरणका क्षयोपशम अवश्यंभावी है। भले ही उसका कार्य नहीं होवे। किसी एक विवक्षित आत्मामें वे मति, श्रुत, दोनों ज्ञान यदि अवधिसे युक्त होजावे या मनःपर्ययसे सहित होजावें तो युगपत् एक आत्मामें तीन ज्ञान सम्भव जाते हैं तथा किसी एक आत्मामें वे मति और श्रुत दोनों ही ज्ञान यदि अवधि और मनःपर्यय इन दोनोंसे युक्त हो जावें तो युगपत् चारों ज्ञान एक आत्मामें सम्भव जाते हैं। एक आत्मामें युगपत् पांचों ज्ञान नहीं हो पाते हैं। इस रहस्यको श्रीविद्यानन्द आचार्य स्पष्टकर कहते हैं।

आचतुर्भ्य इति व्याप्तवाचाङ्वचनतः पुनः।
पंचैकत्र न विद्यन्ते ज्ञानान्येतानि जातुचित् ॥ ४ ॥

" आङ् " इस निपातका अर्थ मर्यादा, अभिविधि आदि कई हैं। आचतुर्भ्यः यहां आङ्का अर्थ अभिविधि है। मर्यादामें तो उस कण्ठोक्तको छोड दिया जाता है। और अभिविधिमें उस कथित पदार्थका भी ग्रहण कर लिया जाता है। जैसे कि यहां सूत्रमें चारका भी ग्रहण कर लिया गया है। आचतुर्भ्यः यहां व्याप्त अर्थको कहनेवाले आङ् शब्दका कथन कर देनेसे फिर यह सिद्धान्त प्राप्त हो जाता है कि एक आत्मामें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान ये पांचों ज्ञानों युगपत् कभी भी नहीं विद्यमान रहते हैं। क्योंकि ज्ञानावरणका क्षय हो जानेपर आत्मामें सर्वदा केवलज्ञान ही प्रकाशता रहता है। अतः देशघाती प्रकृतियोंके उदय होनेपर सम्भव रहे चार ज्ञानोंका क्षायिक ज्ञानके समयमें सद्भाव नहीं है।

क्षायोपशमिकज्ञानैः सहभावविरोधात्क्षायिकस्येत्युक्तं पंचानामेकत्रासहभवनमन्यत्र ।

आवरणोंकी क्षयोपशम अवस्था हो जानेपर सम्भवनेवाले चार ज्ञानोंके साथ आवरणोंके क्षय होनेपर उत्पन्न होनेवाले केवलज्ञानका साथ साथ विद्यमान रहना विरुद्ध है । इस प्रकार एक आत्मामें पांचों ज्ञानोंका साथ सम्भवना नहीं, इस बातको हम अन्य पहिले प्रकरणोंमें स्पष्टरूपसे कह चुके हैं । अथवा अन्य सिद्धान्तग्रन्थोंमें यों उक्त है ।

भाज्यानि प्रविभागेन स्थाप्यानीति निबुद्ध्यतां ।
एकादीन्येकदैकत्रानुपयोगानि नान्यथा ॥ ५ ॥

इस सूत्रमें कहे गये " भाज्यानि " शब्दका अर्थ " प्रकरणप्राप्त विभाग करके स्थापन करने योग्य हैं " इस प्रकार समझ लेना चाहिये । एक समयमें एक आत्मामें एकको आदि लेकरके चार ज्ञानतक जो सम्भवते हुये बताये गये हैं, वे अनुपयोग आत्मक हैं । अन्य प्रकारसे यानी उपयोगस्वरूप पूरी पर्यायको धार रहे नहीं हैं । अर्थात्–लब्धिस्वरूप ज्ञान तो दो, तीन, चार, तक हो सकते हैं । अभाव या विशुद्धियां कितनी ही लाद ली जाय तो बोझ नहीं बढता है । किन्तु उपयोगस्वरूप ज्ञान तो एक समयमें एक ही होगा, क्योंकि उपयोग पर्याय है । चेतना गुणकी एक समयमें एक ही पर्याय हो सकती है । हां, क्षयोपशम तो स्वच्छताविशेष हैं । वे एक समयमें कई हो सकते हैं । जैसे कि स्वच्छ भीतमें मिट्टी, स्याही, धूआं, कूडा, आदिके पृथक् कर देनेपर कई प्रकारकी स्वच्छताएं रह सकती हैं । किन्तु भीतमें चित्र एक ही प्रकार लिखा जा सकता है । " एकस्मिन् द्वावुपयोगौ " एक समय एक आत्मामें दो उपयोग नहीं सम्भव हो सकते हैं ।

सोपयोगस्यानेकस्य ज्ञानस्यैकत्र यौगपद्यवचने हि सिद्धान्तविरोधः सूत्रकारस्य न पुनरनुपयोगस्य सह द्वावुपयोगौ न स्त इति वचनात् ।

एक आत्मामें उपयोगसहित अनेक ज्ञानोंका युगपत् हो जाना यदि कथन करते तो सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजको स्याद्वादसिद्धान्तसे विरोध होता । किन्तु फिर अनुपयोग (लब्धि) स्वरूप अनेक ज्ञानोंका एक ही कालमें एक आत्माके कथन करनेपर तो कोई सिद्धान्तसे विरोध नहीं आता है । क्योंकि एक साथ दो उपयोग नहीं होते हैं, ऐसा आकर ग्रन्थोंमें वचन कहा हुआ है । " दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दोण्हि उपयोगा जुगवं " छद्मस्थ जीवोंके बारह उपयोगोंमेंसे या इनके उत्तरभेद सैकडों उपयोगोंमेंसे एक समयमें एक ही उपयोग हो सकता है । यद्यपि केवली भगवान्‌के एक समयमें केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग मान लिये हैं । " जम्हा केवलिणाहे जुगवं तदो दोवि " यह केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण कर्मोंके क्षय हो जानेके कारण कथन कर दिया जाता है । केवलज्ञान अधिक प्रकाशमान पदार्थ है । अतः केवली भगवान्‌के

चेतना गुणकी केवलज्ञानस्वरूप पर्याय सर्वदा होती रहती है। सम्पूर्ण पदार्थोंकी सत्ताका आलोचन करनेवाला अनन्तदर्शन उसी ज्ञानमें अन्तर्भावित हो जाता है। एक गुण एक समयमें दो पर्यायोंको नहीं धार सकता है। अतः क्षयोपशमजन्य लब्धिस्वरूप ज्ञान एकसे लेकर चार तक हो सकते हैं। किन्तु उपयोगस्वरूप पर्यायसे परिणत हो रहा ज्ञान एक समयमें एक ही होगा, न्यून अधिक नहीं।

सोपयोगयोर्ज्ञानयोः सह प्रतिषेधादिति निवेदयन्ति।

उपयोगसहित हो रहे दो ज्ञानोंके साथ साथ हो जानेका निषेध है। इस रहस्यको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकद्वारा सबके सन्मुख निवेदन करते हैं।

क्षायोपशमिकं ज्ञानं सोपयोगं क्रमादिति।
नार्थस्य व्याहतिः काचित्क्रमज्ञानाभिधायिनः॥ ६॥

ज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुये ज्ञान यदि उपयोगसहित उपजेंगे तो क्रमसे ही उपजेंगे। ऐसा कहनेमें क्रमसे ज्ञानोंकी उत्पत्तिका कथन करनेवाले स्याद्वादी विद्वान्के यहां कोई अर्थका व्याघात नहीं होता है। अर्थात्—बद्ध आत्मामें देशघाती प्रकृतियोंके उदयकी अवस्था उपयोगस्वरूप ज्ञान या दर्शनकी एक ही पर्याय एक समयमें हो सकती है। हां, ज्ञानावरण, दर्शनावरणके क्षय हो जानेपर अबद्ध आत्मामें भले ही दो पर्याय हो जानेका व्यपदेश हो जाय तो कोई क्षति नहीं है। संसारी जीव क्रमसे द्रष्टा, ज्ञाता, हैं। और केवली भगवान् युगपत् द्रष्टा, ज्ञाता हैं।

निरुपयोगस्यानेकस्य ज्ञानस्य सहभाववचनसामर्थ्यात् सोपयोगस्य क्रमभावः क्षायोपशमिकस्येत्युक्तं भवति। तथा च नार्थस्य हानिः क्रमभाविज्ञानावबोधकस्य सम्भाव्यते।

उपयोग आत्मक नहीं ऐसे अनेक ज्ञानोंके एक साथ हो जानेके कथनकी सामर्थ्यसे यह बात अर्थापत्तिद्वारा कह दी जाती है कि उपयोगसहित हो रहे क्षायोपशमिक ज्ञानोंका क्रम क्रमसे ही उत्पाद होता है। और तिस प्रकार होनेपर क्रमसे होनेवाले ज्ञानोंको समझानेवाले स्याद्वादवादीके यहां किसी प्रयोजनकी हानि नहीं सम्भवती है। अर्थात् अल्पज्ञानी ज्ञाताओंके क्षायोपशमिक ज्ञानोंके क्रमसे उत्पन्न हो जानेमें किसी अर्थकी हानि नहीं हो पाती है। प्रत्युत चेतना गुणकी वर्तना अनुसार ठीक पर्याय होनेका सिद्धान्त अक्षुण्ण बना रहता है।

अत्रापराकूतमनूद्य निराकुर्वन्नाह।

यहां प्रकरणमें दूसरे वादियोंके चेष्टित करनेका अनुवाद कर पुनः उसको निराकरण करते हुये श्री विद्यानन्द स्वामी स्पष्ट भाषण कहते हैं ।

नोपयोगौ सह स्यातामित्यार्थाः ख्यापयन्ति ये ।
दर्शनज्ञानरूपौ तौ न तु ज्ञानात्मकाविति ॥ ७ ॥
ज्ञानानां सहभावाय तेषामेतद्विरुद्ध्यते ।
क्रमभावि च यज्ज्ञानमिति युक्तं ततो न तत् ॥ ८ ॥

श्री समन्तभद्र आचार्य दो उपयोगोंका साथ साथ होना नहीं मानते हैं । यहां कहे गये कि एक साथ दो उपयोग नहीं होते हैं, इस सिद्धान्तवाक्यका जो आर्य विद्वान् यह अर्थ बखानते हैं कि दर्शन और ज्ञानस्वरूप वे दो उपयोग साथ नहीं होते हैं, किंतु ज्ञानस्वरूप दो उपयोगोंके साथ हो जानेका निषेध नहीं है । अर्थात्—एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग ये दो उपयोग साथ नहीं हो सकते हैं । किन्तु मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अथवा चाक्षुषप्रत्यक्ष और रसना इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ऐसे दो आदिक कई ज्ञान तो एक कालमें हो सकते हैं । इस प्रकार उनके कहनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि उन आर्योंके यहां कई उपयोग आत्मक ज्ञानोंका सहभाव कथन करनेके लिये इस सिद्धान्तवाक्यसे विरोध पडता है कि " क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् " श्री समन्तभद्र स्वामीने आप्तमीमांसामें कहा है कि क्षयोपशमसे जन्य जो ज्ञान स्याद्वादन्यायसे संस्कारयुक्त हो रहे क्रम क्रमसे होते हैं, वे भी प्रमाण हैं । तिस कारण इस प्रकार यह कई ज्ञानोंका सहभाव कथन करना युक्तिपूर्ण नहीं है । तत्त्व यही है कि रूप, रस आदि गुणोंका एक समयमें नीला, पीला, खट्टा, मीठा, आदिकमेंसे जैसे कोई एक ही परिणाम होता है, उसी प्रकार चैतन्यगुणका एक समयमें उपयोगस्वरूप एक ही परिणाम होगा ।

यदापि " क्रमभावि च यज्ज्ञानमिति " समन्तभद्रस्वामिवचनमन्यथा व्याचक्षते विरोधपरिहारार्थं तदापि दोषमुद्भावयति ।

विरोध दोषका परिहार करनेके लिये जब कभी वे विद्वान् क्रमसे होनेवाले जो ज्ञान हैं, वे प्रमाण हैं, इस प्रकार श्री समन्तभद्र स्वामीके वचनोंका दूसरे प्रकारोंसे यों वक्ष्यमाण व्याख्यान करते हैं, तब भी उनके ऊपर श्रीविद्यानन्दी आचार्य दोषोंको उठाते हैं ।

शब्दसंसृष्टविज्ञानापेक्षया वचनं तथा ।
यस्मादुक्तं तदेवार्यैः स्याद्वादनयसंस्थितम् ॥ ९ ॥

इति व्याचक्षते ये तु तेषां मत्यादिवेदनं । 21 Book No
प्रमाणं तत्र नेष्टं स्यात्ततः सूत्रस्य बाधनम् ॥ १० ॥

वे विद्वान् आप्तमीमांसाके वाक्यका अर्थ यों बखानते हैं कि जिस कारणसे श्री समन्तभद्राचार्यने शद्बके साथ संसर्गको प्राप्त हो रहे विज्ञानकी अपेक्षासे तिस प्रकारका वचन कहा है, तभी तो उन आचार्योंको ज्ञानका स्याद्वादनीतिसे भले प्रकार स्थित हो जाना कहना पड़ा। अर्थात्—जिन ज्ञानोंमें शद्बकी योजना हो जाती है, जैसे कि किसी आप्तके कहनेसे किसी देशमें धान्यकी उत्पत्तिका ज्ञान किया तथा उसके शद्बों द्वारा वहांके पुरुषोंमें सदाचारमें प्रवृत्ति ज्ञात कर ली, विद्वानोंका सद्भाव समझ लिया, इत्यादिक ऐसे शद्बसंसर्गीज्ञान तो श्रोताको क्रमसे ही होवेंगे। ऐसा अर्थ करनेपर ही " स्याद्वादनयसंस्कृतम् " यह पद भी ठीक संगत हो जाता है। जैनोंने शद्बसंसर्गीज्ञानको स्याद्वादनीतिसे संस्कृत कर श्रुतज्ञान मान लिया है। स्याद्वाद नीति श्रुतज्ञानमें ही तो लगती है। किंतु शब्दकी योजनासे रहित हो रहे बहुभाग श्रुतज्ञान और सभी मति, अवधि और मनःपर्यय ये ज्ञान तो कई एक साथ हो सकते हैं। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार आप्तमीमांसाके वाक्यका जो विद्वान् व्याख्यान कर रहे हैं, उनके यहां मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और शब्दका संसर्ग नहीं रखनेवाला बहुभाग श्रुतज्ञान, ये ज्ञान तो प्रमाण नहीं अभीष्ट हो सकेंगे और तैसा हो जानेसे सूत्रकारके पांचों ज्ञानोंको प्रमाण कहनेवाले सूत्रकी बाधा उपस्थित हो जायगी। अर्थात्—सम्पूर्ण प्रमाणोंका नियम करनेवाली श्री समन्तभद्र महोदयकी कारिकाके पूर्वार्धका अर्थ केवलज्ञानका प्रमाणपना किया जा रहा है। सो तो ठीक है। किन्तु कारिकाके उत्तरार्द्धसे यदि शब्दसंसर्गी श्रुतज्ञानका ही प्रमाणपना कह दिया जायगा तो शेष मति आदिक ज्ञानोंका प्रमाणपना व्यवस्थित नहीं हो सकेगा और ऐसी दशामें " मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं " इस श्री उमास्वामी महाराजके प्रमाणप्रतिपादक सूत्रसे श्री समन्तभद्र स्वामीकी कारिकाका विरोध ठन जायगा। ऐसे परस्पर विरोधको तो कोई भी भला मानुष इष्ट नहीं करेगा।

21

" तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनं " मित्यनेन केवलस्य " क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतं " मित्यनेन च श्रुतस्यागमस्य प्रमाणान्तरवचनमिति व्याख्याने मतिज्ञानस्यावधिमनःपर्यययोश्च नात्र प्रमाणत्वमुक्तं स्यात्। तथा च " मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं " " तत्प्रमाणे " इति ज्ञानपंचकस्य प्रमाणद्वयरूपत्वप्रतिपादकसूत्रेण बाधनं प्रसज्येत।

" तत्त्वज्ञानं प्रमाणंते " यह देवागम स्तोत्रकी कारिका है। इसका अर्थ यों है कि हे जिनेंद्र! तुम्हारे यहां तत्त्वोंका यथार्थज्ञान ही प्रमाण माना गया है। तिन प्रमाण ज्ञानोंमें प्रधान ज्ञान

केवलज्ञान है, जो सम्पूर्ण पदार्थोंका युगपत् साक्षात् प्रतिभास कर देता है। और जो ज्ञान क्रम से होनेवाले हैं, वे भी तत्त्वज्ञानस्वरूप होते हुये प्रमाण हैं। स्याद्वादनीतिसे संस्कृत होता हुआ श्रुतज्ञान भी प्रमाण है। अथवा " स्याद्वादनयसंस्कृतं " यह विशेषण सभी तत्त्वज्ञानोंमें लगा लेना चाहिये। सप्तभंगी प्रक्रिया सर्वत्र सुलभ है। यहां उक्त कारिकाके पूर्वार्द्धसे केवलज्ञानका प्रमाणपना बखानते हुये वे विद्वान् कारिकाके " क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतं " इस उत्तरार्द्धकरके केवल आगमस्वरूप श्रुतज्ञानको दूसरे प्रमाणपनेका वचन है, ऐसा कहते हैं। किन्तु ऐसा व्याख्यान करनेपर इस कारिकामें मतिज्ञान और देशप्रत्यक्षस्वरूप अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञानोंका प्रमाणपना यहां नहीं कहा गया समझा जायगा और तिस प्रकार केवलज्ञान और श्रुतज्ञान इन दो ज्ञानोंका ही प्रमाणपना श्री समन्तभद्रस्वामीकी कारिकाद्वारा व्यवस्थित हो जानेपर तत्त्वार्थसूत्रकारद्वारा कहे गये मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पांच ज्ञान प्रमाण हैं। तथा वे ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाण स्वरूप हैं। इस प्रकार पांचों ज्ञानोंको दो प्रमाणस्वरूपपना प्रतिपादन करनेवाले सूत्रोंकरके बाधा हो जानेका प्रसंग प्राप्त हो जावेगा।

यदा तु मत्यादिज्ञानचतुष्टयं क्रमभावि केवलं च युगपत्सर्वभासि प्रमाणं स्याद्वादेन प्रमाणेन सकलादेशिना नयैश्च विकलादेशिभिः संस्कृतं सकलविप्रतिपत्तिनिराकरणद्वारेणागतमिति व्याख्यायते तदा सूत्रबाधा परिहृता भवत्येव।

किन्तु जब श्री समन्तभद्रस्वामीकी कारिकाका अर्थ यों किया जायगा कि " क्रमक्रमसे होने वाले मति, श्रुत आदिक चारों ज्ञान और एक ही समयमें सब पदार्थोंको प्रकाशनेवाला केवलज्ञान प्रमाण हैं। वस्तुके सकल अंशोंका कथन करनेवाले स्याद्वाद प्रमाणकरके और वस्तुके विकल अंशोंका कथन करनेवाले नयोंकरके वह तत्त्वज्ञान संस्कृत हो रहा है। अथवा प्रमाण तो सकलादेशी वाक्यसे संस्कृत है और द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक दो नयें विचारी विकलादेशी वाक्योंकरके संस्कार प्राप्त हैं। बौद्ध मीमांसक आदि करके उठाये गये सम्पूर्ण विवादोंका निराकरण करते करते उक्त द्वार या प्रकारसे यह सिद्धान्त प्राप्त होगया। इस प्रकार कारिकाका व्याख्यान किया जायगा, तब तो सूत्रसे आयी हुयी बाधाका परिहार हो ही जाता है।

ननु परव्याख्यानेऽपि न सूत्रबाधा क्रमभावि चेति च शब्दान्मतिज्ञानस्यावधिमनःपर्ययोश्च संग्रहादित्यत्र दोषमाह।

फिर भी दूसरे विद्वान् अपने गिरगये पक्षका पुनः अवधारण करते हैं कि दूसरे विद्वान्के द्वारा व्याख्यान करनेपर भी कारिकाकी सूत्रसे बाधा यों नहीं आती है कि " क्रमभावि च " यों कारिकामें पड़े हुये च शब्द करके मतिज्ञानका और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञानका संग्रह हो जाता है। ऐसी दशामें श्री समन्तभद्रस्वामीकी कारिकाद्वारा भी पांचों ज्ञानोंको प्रमाणपना प्राप्त हो जाता

है। इस प्रकार उनके कहनेपर भी श्री विद्यानन्दी आचार्य यहां आ रहे दोषोंको स्पष्ट कर कहते हैं, सो सुनिये।

चशब्दात्संग्रहात्तस्य तद्विरोधो न चेत्कथम्।
तस्याक्रमेण जन्मेति लभ्यते वचनाद्विना ॥ ११ ॥

च शब्द करके मति आदि ज्ञानोंका संग्रह हो जानेसे उस कारिकाके वाक्यका उस सूत्रसे विरोध नहीं होता है, यदि यों कहोगे ! तो बताओ कि उन मति आदि ज्ञानोंकी अक्रमसे उत्पत्ति हो जाती है, यह तुम्हारा सिद्धान्त कण्ठोक्त वचनके विना भला कैसे प्राप्त हो सकता है ? अर्थात्—च शब्दसे मति आदिकका संग्रह तो हो जायगा, किन्तु तुमको अभीष्ट हो रहा ज्ञानोंका एक साथ होना भला कैसे विना कहे ही कारिकासे निकल सकता है ? श्री समन्तभद्र आचार्यने " क्रमभावि " शब्द तो कहा है। किन्तु अक्रमभावि शब्द नहीं कहा है, अतः तुम्हारा व्याख्यान ठीक नहीं है।

क्रमभावि स्याद्वादनयसंस्कृतं च शब्दान्मत्यादिज्ञानं क्रमभावीति न व्याख्यायते यतस्तस्याक्रमभावित्वं वचनाद्विना न लभ्येत। किं तर्हि स्याद्वादनयसंस्कृतं। यत्तु श्रुतज्ञानं क्रमभावि चशब्दादक्रमभावि च मत्यादिज्ञानमिति व्याख्यानं क्रियते सूत्रबाधापरिहारस्यैवं प्रसिद्धेरिति चेत्, नैवमिति वचनात् सूत्रान्मत्यादिज्ञानमक्रमभाविप्रकाशनाद्विना लब्धुमशक्तेः।

परवादी कहता है कि हम क्रमसे होनेवाले तथा स्याद्वादनयसे संस्कृत हो रहे श्रुतज्ञान और च शब्दसे संगृहीत क्रमपूर्वक होनेवाले मति आदि ज्ञान प्रमाण हैं, ऐसा व्याख्यान नहीं करते हैं, जिससे कि जैनोंका क्षायोपशमिक ज्ञानोंके क्रमभावीपनका मन्तव्य तो सिद्ध हो जाय और इसपर वादियोंद्वारा माना गया उन मति आदिक ज्ञानोंका अक्रमसे हो जानापन विचारा वचनके विना प्राप्त नहीं हो सके। तो हम कारिकाका कैसा व्याख्यान करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि जो ज्ञान स्याद्वादवाक्य और नय वाक्योंसे संस्कार प्राप्त हो रहा श्रुतज्ञान है, वह तो क्रमसे ही होनेवाला है। क्योंकि शब्दोंकी योजना क्रमसे ही होती है। अतः शब्दसंयुक्त श्रुतज्ञान तो क्रमभावि है। और च शब्दकरके लिये गये अक्रमसे होनेवाले मति आदि ज्ञान भी प्रमाण हैं। इस प्रकार स्वामीजीकी कारिकाका व्याख्यान किया जाता है। ऐसा ढंग बनानेपर श्री उमास्वामी महाराजके सूत्रसे आनेवाली बाधाके परिहारकी प्रसिद्धि हो जाती है। इस प्रकार परवादियोंके कहनेपर आचार्य महाराज कहते हैं कि यों तो नहीं कहना। क्योंकि मति आदिक ज्ञान अक्रमसे यानी एक साथ भी कई हो जाते हैं। इस तत्त्वको प्रकाशनेवाले सूत्रवचन या कारिका वचनके

बिना ही वह तुम्हारा अर्थ प्राप्त नहीं हो सकता है । हां, इसके विपरीत " एकदा न द्वावुपयोगौ " यह वचन जागरूक हो रहा है । दर्शन, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क ये उपयोग क्रमसे ही होते हैं । मुरमुरी कचौडी खाने पर भी पांचों इन्द्रियोंसे जन्य ज्ञान क्रमसे ही होते हैं । मति आदिक कई ज्ञानोंका एक साथ उपजना विरुद्ध है ।

ननु बह्वादिसूत्रं मतिज्ञानयौगपद्यप्रतिपादकं तावदस्तीति शंकामुपदर्श्य प्रत्याचष्टे ।

परवादी विद्वान् अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिये आमंत्रण देता है कि कई मति ज्ञानोंके युगपत् हो जानेपनका प्रतिपादन करनेवाला " बहुबहुविधक्षिप्रा " इत्यादि सूत्र तो विद्यमान है ही । इस प्रकारकी आशंकाको दिखला कर श्री विद्यानन्द आचार्य उस शंकाका प्रत्याख्यान करते हैं ।

बह्वाद्यवग्रहादीनामुपदेशात्सहोद्भवः ।
ज्ञानानामिति चेन्नैवं सूत्रार्थानवबोधतः ॥ १२ ॥
बहुष्वर्थेषु तत्रैकोवग्रहादिरितीष्यते ।
तथा च न बहूनि स्युः सहज्ञानानि जातुचित् ॥ १३ ॥

बहु, बहुविध आदि पदार्थोंके अवग्रह, ईहा आदि ज्ञानोंका सूत्रकारने उपदेश दिया है । अतः कई ज्ञानोंका साथ उपजना सिद्ध हो जाता है । अर्थात्-एक साथ हुये बहुतसे ज्ञान ही तो विषयभूत बहुत अर्थोंको जान सकेंगे । एक ज्ञान तो एक ही अर्थको जान पावेगा। जब कि सूत्रकारने बहुत पदार्थोंका एक समयमें जान लेना उपदिष्ट किया है, अतः सिद्ध होता है कि एक समयमें अनेक ज्ञान हो जाते हैं । इस प्रकार शंकाकारके कहनेपर आचार्य कहते हैं यों तो नहीं कहना । क्योंकि सूत्रके वास्तविक अर्थका तुमको ज्ञान नहीं हुआ है । श्री उमास्वामी महाराजको बहुतसे अर्थोंमें या बहुत जातिके अनेक अर्थोंमें एक अवग्रह, एक ईहा ज्ञान, आदि हो जाते हैं । इस प्रकार उस सूत्रमें अर्थ अभीष्ट हो रहा है । और तिस प्रकार होनेपर कदाचित् भी एक साथ बहुत ज्ञान नहीं हो पावेंगे । अर्थात्-एक समयमें एक ही ज्ञान होगा । वह एक ज्ञान ही भले ही लाखों, करोडों, असंख्यों पदार्थोंको युगपत् जान लेवे ऐसा सूत्रकारका मन्तव्य है । प्रत्येक अर्थके लिए एक एक ज्ञान मान लेना निर्दोष सिद्धान्त नहीं है । एक ज्ञानसे अनेकों अर्थ जाने जा सकते हैं । और एक धारामें बह रहे अनेक ज्ञानोंसे भी एक अर्थ जाना जा सकता है । कोई एकान्त नहीं है । " प्रतिकरणकअणोपक्रम " या प्रत्यर्थं ज्ञानाभिनिवेशः, इसमें अनेक दोष आते हैं ।

कथमेवमिदं सूत्रमनेकस्य ज्ञानस्यैकत्र सहभावं प्रकाशयत्र विरुध्यते इति चेदुच्यते ।

शंकाकार कहता है कि यों कहनेपर तो यानी एक समयमें एक ही ज्ञानका सद्भाव माननेपर तो एक आत्मामें एक समय अनेकज्ञानोंके साथ साथ हो जानेको प्रकाश रहा यह " एकादीनि भाज्यानि " इत्यादि सूत्र भला क्यों नहीं विरुद्ध हो जावेगा ? अर्थात्-एक समयमें एक ही ज्ञान मान चुकनेपर पुनः इस सूत्र द्वारा एक साथ चार ज्ञानोंतकका उपदेश देना विरुद्ध पडेगा। जैनोंके मतका इस सूत्रसे विरोध ठन जायगा। इस प्रकार कटाक्ष करनेपर तो श्रीविद्यानन्द आचार्यको यों समाधान कहना पडता है, सो सुनिये।

शक्त्यर्पणात्तु तद्भावः सहेति न विरुध्यते ।
कथंचिदक्रमोद्भूतिः स्याद्वादन्यायवेदिनाम् ॥ १४ ॥

ज्ञानकी लब्धिस्वरूप शक्तियोंकी विवक्षा करनेसे तो इस सूत्र द्वारा दो, तीन, चार ज्ञानोंका सहभाव कथन कर देना विरुद्ध नहीं पडता है। क्योंकि स्याद्वादसिद्धान्तकी नीतिको जाननेवाले विद्वानोंके यहां कथंचित् यानी किसी क्षयोपशमकी अपेक्षासे कई ज्ञानोंका अक्रमसे उपजना अविरुद्ध है। जैसे कि सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, साहित्यको जाननेवाला विद्वान् सोते समय या खाते, पीते, खेलते समय भी उक्त विषयोंकी व्युत्पत्तिसे सहित है। किन्तु पढाते समय या व्याख्यान करते समय एक ही विषयके ज्ञानसे उपयुक्त हो रहा है। अतः मति आदिक ज्ञानोंमें १ स्यात् क्रमः २ स्यात् अक्रमः ३ स्यात् उभयं ४ स्यात् अवक्तव्यं ५ स्यात् क्रम-अवक्तव्यं ६ स्यात् अक्रम-अवक्तव्यं ७ स्यात् क्रमअक्रम-अवक्तव्यं यह सप्तभंगी प्रक्रिया लगा लेना। खेतकी विवक्षित मट्टी भले ही सैकडों हजारों प्रकार वनस्पतिस्वरूप परिणमन कर सकती है, किन्तु वर्तमान समयमें गेहूं, ज्वार, बाजरी आदिमेंसे किसी एकरूप ही परिणत हो रही है।

क्षायोपशमिकज्ञानानां हि स्वावरणक्षयोपशमयौगपद्यशक्तेः सहभावोऽस्त्येकत्रात्मनि योग इति कथञ्चिदक्रमोत्पत्तिर्न विरुध्यते सूत्रोक्ता स्याद्वादन्यायविदां। सर्वथा सहभावासहभावयोरनभ्युपगमाच्च न प्रतीतिविरोधः शक्त्यात्मनैव हि सहभावो नोपयुक्तात्मना उपयुक्तात्मना वाऽसहभावो न शक्त्यात्मनापीति प्रतीतिसिद्धं।

कारण कि क्षायोपशमिक चार ज्ञानोंकी अपने अपने आवरण करनेवाले ज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशमका युगपत्पने करके हुयी शक्तिका सहभाव एक आत्मामें विद्यमान है। किन्तु उपयोग आत्मक कई ज्ञानोंका सहभाव नहीं है। इस प्रकार उन ज्ञानोंकी इस सूत्रमें कही गयी अक्रमसे उत्पत्ति तो स्याद्वाद न्यायको जाननेवाले विद्वानोंके यहां विरुद्ध नहीं होती है। शक्ति और उपयोगकी अपेक्षा इस सूत्रका और " एकदा न द्वावुपयोगौ " इस आकर वाक्यका कोई विरोध नहीं पडता है। हम जैनोंने सभी प्रकार ज्ञानोंके सहभाव और सभी प्रकारोंसे ज्ञानोंके असहभावको स्वीकार नहीं

किया है । अतः प्रमाणप्रसिद्ध प्रतीतिओंसे विरोध नहीं आता है । हम शक्तिस्वरूपकरके ही ज्ञानोंका सहभाव मानते हैं । उपयुक्तस्वरूप करके कई ज्ञानोंका सहभाव एक समयमें नहीं मानते हैं अथवा उपयुक्तस्वरूप करके ही ज्ञानोंका असहभाव (क्रमभाव) है । शक्ति स्वरूपकरके भी असहभाव होय यों नहीं है । यह सिद्धान्त प्रतीतियोंसे सिद्ध हो रहा है ।

सहोपयुक्तात्मनापि रूपादिज्ञानपंचकमादुर्भावमुपयन्तं प्रत्याह ।

जो वादी विद्वान् उपयुक्तपन स्वरूपकरके भी रूप, रस आदिके पांच ज्ञानोंकी एक साथ उत्पत्तिको स्वीकार कर रहा है, उसके प्रति अनुवाद करते हुये आचार्य महाराज सिद्धान्त वचनको कहते हैं ।

शष्कुलीभक्षणादौ तु रसादिज्ञानपंचकम् ।
सकृदेव तथा तत्र प्रतीतेरिति यो वदेत् ॥ १५ ॥
तस्य तत्स्मृतयः किन्न सह स्युरविशेषतः ।
तत्र तादृक्षसंवित्तेः कदाचित्कस्यचित्क्वचित् ॥ १६ ॥
सर्वस्य सर्वदात्वे तद्रसादिज्ञानपंचकम् ।
सहोपजायते नैव स्मृतिवत्तत्क्रमेक्षणात् ॥ १७ ॥

भुरीभुरी (खस्ता) कचौडी, पापड, महोवेका पान आदिके भक्षण, सूंघने, छूने आदिमें हुये उस गन्ध आदिके पाचों ज्ञानोंका एक ही समयमें तिस प्रकार वहां होना प्रतीत हो रहा है । अतः उपयोगस्वरूप भी अनेक ज्ञान एक समयमें हो सकते हैं । अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो कोई विद्वान् कहेगा, उस विद्वान्के यहां उन पाचों ज्ञानोंकी स्मृतियां विशेषता रहित होनेसे एक साथ क्यों नहीं हो जाती हैं । अर्थात्—जब कि अनुभव एक साथ पांच हो गये हैं, तो स्मृतियां भी एक साथ पांच हो जानी चाहिये । अनुभवके अनुसार स्मृतियां हुआ करती हैं । स्याद्वादसिद्धान्ती हम एक साथ कई ज्ञान हो जानेको माननेवाले तुमसे पूंछते हैं कि किसी कालमें किसी एक व्यक्तिको कहीं भी हो गयी तिस प्रकार एक समयमें हुये अनेक ज्ञानोंकी सम्वित्तिसे वहां कचौडी भक्षण आदिमें उस रसादिके पांच ज्ञानोंके एक साथ उपजनेकी व्यवस्था करते हो ? अथवा सदा सम्पूर्ण व्यक्तियोंके सभी ऐसे स्थलोंपर हो रहीं तिस प्रकार सम्वित्तिओंसे पांचों ज्ञानोंका साथ हो जाना स्वीकार करते हो ? बताओ । प्रथमपक्ष अनुसार किसीको कहीं कभी ऐसा ज्ञान कर लेनेसे तो यथार्थ व्यवस्था नहीं बनती है । मिथ्याज्ञान द्वारा भ्रमवश कहीं कभी किसी उद्भ्रान्त पुरुषको प्रायः ऐसी सम्वित्तियां होजाया करती हैं, जो कि उत्तरकालमें बाधित हो जाती हैं । हां,

द्वितीय पक्षका ग्रहण करना प्रशस्त है। किन्तु सभी व्यक्तियोंको सदा ऐसे सभी स्थलोंपर रस आदिकोंके वे पांच ज्ञान एक साथ उपज रहे नहीं जाने जाते हैं। जैसे कचौडी भक्षण कर चुकने-पर पीछे रूप, रस आदिकी स्मृतियां क्रमसे ही होती हैं। इस प्रकार उन रूप आदिके पांच ज्ञानोंका भी क्रमसे उपजना देखा जाता है। अर्थात्—उत्तम कचौडी सम्बन्धी रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, रस, इनके पांच ज्ञान क्रमसे होते हैं। शीघ्र शीघ्र प्रवृत्ति हो जानेसे संस्कारवश आतुर प्राणी युगपत्पनेका कोरा अभिमान करलेता है।

क्रमजन्म क्वचिद् दृष्ट्वा स्मृतीनामनुमीयते।
सर्वत्र क्रमभावित्वं यद्यन्यत्रापि तत्समं ॥ १८ ॥

पूर्वपक्षी कहता है कि हम रूप आदिके ज्ञानोंकी तो एक साथ उत्पत्तिको मान लेते हैं। किन्तु उनकी स्मृतियां क्रमसे ही होती हुयी मान ली जाती हैं। क्योंकि- किसी भी दृष्टान्तमें स्मृतियोंका क्रमसे हो रहे जन्मको देख करके सभी स्थलोंपर स्मृतिओंके क्रमसे होनेपनका अनुमान कर लिया जाता है। इसपर आचार्य महाराज कहते हैं कि यदि इस प्रकार स्मृतिओंका क्रमभावी माना जायगा तब तो सभी रूप आदिक पांच अन्य ज्ञानोंमें भी वह क्रमसे उत्पन्न होनापन समान है। स्मृति और अनुभवोंके क्रमसे उत्पाद होनेमें कोई अन्तर नहीं है।

पंचभिर्व्यवधानं तु शष्कुलीभक्षणादिषु।
रसादिवेदनेषु स्याद्यथा तद्वत्स्मृतिष्वपि ॥ १९ ॥

जिस प्रकार पापड भक्षण, पान चवाना आदिके पीछे कालमें हुयी उनकी स्मृतिओंमें पांच या बीचके चार व्यवधायकोंकरके व्यवधान पड जाता है, उन्हींके समान कचौडीभक्षण, पानक (ठंडाई) पान आदिकमें हुये रस, गन्ध आदिके ज्ञानोंमें भी तो पांचों करके व्यवधान पड जायगा। पांच अंगुलिओंमें देशोंके पांच या चार व्यवधान होनेपर भी जैसे पांचपना है, ज्ञानोंमें भी काल कृत पांच व्यवधान पड जानेसे ही पांचज्ञानपना व्यवस्थित है। विषयोंकी अपेक्षा ज्ञानोंकी संख्या वैसी नियत नहीं है, जैसी कि भिन्न समयोंमें हो रहीं न्यारी परिणतियों द्वारा ज्ञानोंकी संख्या नियत हो जाती है।

लघुवृत्तेर्न विच्छेदः स्मृतीनामुपलक्ष्यते।
यथा तथैव रूपादिज्ञानानामिति मन्यताम् ॥ २० ॥

वेगपूर्वक घूमते हुये चक्रके समान शीघ्र शीघ्र लाघवसे प्रवृत्ति हो जानेके कारण स्मृतियोंका मध्यवर्ती अन्तराल जिस प्रकार नहीं दीख पाता है, तिस ही प्रकार कचौडी भक्षण आदिमें रूप,

रस आदिके पांच ज्ञानोंका व्यवधान नहीं दीख रहा है, इस बातको मान लो। अर्थात्— स्मृतियोंके समान ज्ञानोंमें भी मध्यवर्ती अन्तराल पड रहा है। पांचो ज्ञान एक साथ नहीं हुये हैं, क्रमसे ही उपजते हैं।

असंख्यातैः क्षणैः पद्मपत्रद्वितयभेदनम् ।
विच्छिन्नं सकृदाभाति येषां भ्रान्तेः कुतश्चन ॥ २१ ॥
* पंचषैः समयैस्तेषां किन्न रूपादिवेदनम् ।
विच्छिन्नमपि भातीहाविच्छिन्नमिव विभ्रमात् ॥ २२ ॥

जो कोई विद्वान् पांचसौ कमलके पत्तोंकी दो दो पत्तोंसे जडी हुयी गड्डीके सूची द्वारा भेद करनेको असंख्यात समयों करके व्यवहित हो रहा स्वीकार करते हैं, किन्तु किसी कारणसे भ्रान्तिवश उन्हीं जिन वादियोंके यहां पद्म पत्रोंका भिदना एक समयमें हो रहा दीख रहा है, उन विद्वानोंके यहां रूप, रस आदिका ज्ञान पाच समयों करके व्यवहित हो रहा भी क्यों नहीं विशेष भ्रमसे अव्यवहित सरीखा हो रहा दीख जाता माना जायगा ? भावार्थ—सौ कमलके पत्रोंको छेदनेमें तो जो विद्वान् निन्यानवे समयोंका व्यवधान मानते हैं, उनको रूप आदिके ज्ञानोंमें बीचका व्यवधान मानना अनिवार्य होगा। वस्तुतः जैनसिद्धांत अनुसार विचारा जाय तो सौ पत्र क्या करोडो तर ऊपर रक्खे हुये पत्रोंको एक ही समयमें सूई या बन्दूक की गोली आदिसे छेदा जा सकता है। एक समयमें सैकडों योजनतक पदार्थोंकी गति मानी गयी है। हां, पूर्व अपरपना अवश्य है। एक ही समयमें पहिले ऊपरके पत्तेका भेदना है। पश्चात् नीचेके पत्तेका छिदना हो जाता है। किन्तु रूप आदिके ज्ञान तो पूरा एक एक समय घेर लेंगे। तब कहीं पांच ज्ञान न्यूनसे न्यून पांच समयोंमें होंगे। स्थूल दृष्टिवाले जीवोंके तो कचौडी खाते समय भी हुआ एक एक ज्ञान असंख्यात समयोंको घेर लेता है। अतः प्रतिवादियोंद्वारा स्वीकार किये गये " कमलपत्रशतछेद " दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे रूप आदि ज्ञानोंका विच्छेद, साध दिया गया है। कतिपय आग्रहियोंकी विपरीत बुद्धिको तो देखो कि एक एक समयमें भी भिदनेवाले कमलपत्रोंमें तो कई समय लगते मानते हैं। किन्तु रूप आदिके ज्ञानोंमें नहीं, आश्चर्य है।

\+ व्यवसायात्मकं चक्षुर्ज्ञानं गवि यदा तदा ।
मतङ्गजविकल्पोऽपीत्यनयोः सकृदुद्भवः ॥ २३ ॥

---

* पंचशः इति पाठान्तरं वर्तते. + निर्विकल्पात्मकं इति पाठांतरं विद्यते.

ज्ञानद्वयसकृज्जन्मनिषेधं हन्ति चेन्न वै ।
तयोरपि सहैवोपयुक्तयोरस्ति वेदनम् ॥ २४ ॥
यदोपयुज्यते ह्यात्मा मतङ्गजविकल्पने ।
तदा लोचनविज्ञानं गवि मन्दोपयोगहृत् ॥ २५ ॥

यहांपर बौद्ध कहते हैं कि जिस ही समय सन्मुख हो रही गौमें चक्षु इन्द्रियजन्य निर्विकल्पक स्वरूप प्रत्यक्षज्ञान हो रहा है, उसी समय हाथीका विकल्पज्ञान भी हो रहा है। इस प्रकार इन दो ज्ञानोंका साथ उत्पन्न हो जाना तो जैनद्वारा माने गये दो ज्ञानोंकी एक समयमें उत्पत्तिके निषेधको नष्ट कर देता है। इस प्रकार प्रतिवादियोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि उपयोगको प्राप्त हो रहे उन गोदर्शन और गजविकल्प दोनों भी ज्ञानोंका एक साथ ही अनुभव कथमपि नहीं हो रहा है। जिस समय आत्मा हाथीका विकल्पज्ञान करनेमें उपयुक्त हो रही है, उस समय गौमें हुआ नेत्रजन्य ज्ञान तो मन्द उपयोगी होता हुआ नष्ट हो चुका है। अतः निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों ज्ञान क्रमसे ही उपजते हैं, ऐसा निश्चयसे समझलो।

तथा तत्रोपयुक्तस्य मतङ्गजविकल्पने ।
प्रतीयन्ति स्वयं सन्तो भावयन्तो विशेषतः ॥ २६ ॥
समोपयुक्तता तत्र कस्यचित्प्रतिभाति या ।
साशुसंचरणाद्भ्रान्तेर्गोकुञ्जरविकल्पवत् ॥ २७ ॥

और जिस समय आत्मा गौके चाक्षुषप्रत्यक्ष करनेमें उपयोगी हो रहा है, उस समय हाथीका विकल्पज्ञान करनेमें मन्द करते हुए अपने उपयोगका उपसंहार कर रहा है। विशेषरूपोंसे भावना कर रहे सज्जन विद्वान् इस तत्त्वकी स्वयं प्रतीति कर रहे हैं। किसी किसी स्थूल बुद्धिवाले पुरुषको उन दोनों ज्ञानोंमें समान काल ही उपयुक्तपना जो प्रतिभास रहा है, वह तो शीघ्र शीघ्र ज्ञानोंका संचार हो जानेके वश होगयी भ्रान्तिसे देखा गया है। जैसे कि गौका विकल्पज्ञान और हाथीका विकल्पज्ञान। यद्यपि ये दो विकल्पज्ञान क्रमसे हो रहे हैं, फिर भी शीघ्र शीघ्र आगे पीछे हो जानेसे भ्रमवश एक कालमें हो रहे समझ लिए जाते हैं। जब कि दो विकल्प ज्ञानोंका क्रमसे होना आप बौद्ध स्वीकार करते हैं, तो उसी प्रकार दो निर्विकल्प सविकल्प ज्ञानोंका अथवा कई निर्विकल्पकज्ञानोंका उत्पाद भी क्रमसे ही होगा, एक साथ नहीं।

नन्वश्वकल्पनाकाले गोदृष्टेः सविकल्पताम् ।
कथमेवं प्रसाध्येत काचित्स्याद्वादवेदिभिः ॥ २८ ॥

संस्कारस्मृतिहेतुर्या गोदृष्टिः सविकल्पिका।
सान्यथा क्षणभंगादिदृष्टिवन्न तथा भवेत्॥ २९॥

बौद्धजन अपने पक्षका अवधारण करते हुये कुचोद्य उठाते हैं कि उक्त प्रकारसे एक समयमें एक ही ज्ञान मान लेनेपर जैनोंके प्रति हम बौद्ध पूंछते हैं कि इस प्रकार घोडेका विकल्पक ज्ञान करते समय गौके दर्शनकी सविकल्पकताको स्याद्वादसिद्धान्तको जाननेवाले विद्वानों करके भला कहीं किस प्रकार साधा जावेगा ? बताओ। अन्यथा यानी गोदर्शनको उसी समय यदि सविकल्पक नहीं माना जायगा तो क्षणिकत्व, स्वर्गप्रापणशक्ति, आदिके दर्शनों समान वह गोदर्शन भी सविकल्पक हो रहा, तिस प्रकार संस्कारोंद्वारा स्मृतिका कारण नहीं हो सकेगा। अर्थात्—वस्तुभूत क्षणिकत्वका ज्ञान तो निर्विकल्पक दर्शनसे ही हो चुका था। फिर भी नित्यत्वके समारोहको दूर करनेके लिये सत्त्वहेतुद्वारा पदार्थोंके क्षणिकपनेको अनुमानसे साध दिया जाता है। बौद्धोंके यहां वास्तविक पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान ही होना माना गया है। इसी प्रकार दानकर्ता पुरुषकी स्वर्गप्रापणशक्तिका निर्विकल्पक दर्शन हो जाता है। क्षणिकत्व आदिके दर्शनोंका सविकल्पकपना नहीं होनेके कारण पीछे उनकी स्मृतियां नहीं हो पाती हैं। यदि जैन जन गोदर्शनके समय अश्वका सविकल्पक ज्ञान नहीं मानेंगे तो पश्चात् गौका स्मरण नहीं हो सकेगा। हां, दोनोंके एक साथ माननेपर तो गोदर्शनमें अश्वविकल्पसे सविकल्पपना आ जाता है। और वह संस्कार जमाता हुआ पीछे कालमें होनेवाली स्मृतिका कारण हो जाता। अतः हम बौद्धोंके मन्तव्य अनुसार दर्शन, ज्ञान और विकल्प ज्ञान दोनोंका यौगपद्य बन सकता है।

इत्याश्रयोपयोगायाः सविकल्पत्वसाधनं।
नेत्रालोचनमात्रस्य नाप्रमाणात्मनः सदा॥ ३०॥
गोदर्शनोपयोगेन सहभावः कथं न तु।
तद्विज्ञानोपयोगस्य नार्थव्याघातकृत्तदा॥ ३१॥

अभी बौद्ध ही कहे जा रहे हैं कि इस प्रकार अश्वविकल्पके आश्रय हो रही उपयोगस्वरूप गोदृष्टि (निर्विकल्पज्ञान) को सविकल्पकपना साधना ठीक है। अप्रमाणस्वरूप हो रहे नेत्रजन्य केवल आलोचन मात्र (दर्शन) को सर्वदा सविकल्पकपना नहीं साधा जाता है। अतः उस उपयोग आत्मक सविकल्पक विज्ञानका गोदर्शनस्वरूप उपयोगके साथ तो एक कालमें सद्भाव क्यों नहीं होगा ? यानी दोनों ज्ञान एक साथ रह सकते हैं, उस समय अर्थके व्याघातको करनेवाला कोई दोष नहीं आता है।

इत्यचोद्यं दृशस्तत्रानुपयुक्तत्वसिद्धितः ।
पुंसो विकल्पविज्ञानं प्रत्येवं प्रणिधानतः ॥ ३२ ॥
सोपयोगं पुनश्चक्षुर्दर्शनं प्रथमं ततः ।
चक्षुर्ज्ञानं श्रुतं तस्मात्तत्रार्थेऽन्यत्र च क्रमात् ॥ ३३ ॥

अब आचार्य कहते हैं कि उक्त चार वार्तिकोंद्वारा किया गया बौद्धोंका चोद्य समीचीन नहीं है। क्योंकि अश्वका विकल्पज्ञान करते समय वहां गोदर्शनके अनुपयुक्तपनेकी सिद्धि हो रही है। ज्ञाता-पुरुषका विकल्पज्ञान करनेके प्रति ही एकाग्र मनोव्यापार लग रहा है। आत्माके उपयोग क्रमसे ही होते हैं। पहिले उपयोगसहित चक्षुःइन्द्रियजन्य दर्शन होता है। वह पदार्थोंकी सत्ताका सामान्य आलोकन कर लेता है। उसके पीछे चक्षुइन्द्रियजन्य मतिज्ञान होता है जो कि रूप, आकृति और घट आदिकी विकल्पना (व्यवसाय) करता हुआ उनको विशेषरूपसे जान लेता है। उसके भी पीछे उस अर्थमें या उससे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य पदार्थोंमें क्रमसे श्रुतज्ञान होता है। कचित् चक्षुर्दर्शन, चाक्षुष अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, और अनुमान ये उपयोग क्रमसे अनेक क्षणोंमें उपजते हैं, आत्माका एक समयमें एक ही ओर उपयोग लग सकता है।

प्रादुर्भवत्करोत्याशुवृत्त्या सह जनौ धियं ।
यथादृग्ज्ञानयोर्नृणामिति सिद्धान्तनिश्चयः ॥ ३४ ॥

जीवोंके जिस प्रकार निराकार दर्शन और साकारज्ञान ये उपयोग क्रमसे ही होते हैं, किन्तु शीघ्र ही दोनोंकी वृत्ति हो जानेसे स्थूलबुद्धि पुरुषोंके यहां एक साथ उत्पन्न हो जानेमें बुद्धिको प्रकट कर देते हैं, उसी प्रकार गोदर्शन और अश्वविकल्प या चाक्षुष मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये भी उपयोग क्रमसे ही होते हैं। किन्तु शीघ्र पीछे वर्त जानेसे एक साथ दोनोंकी उत्पत्ति हो जानेमें बुद्धिको प्रकट कर देते हैं। यह निर्णीत सिद्धान्त है। भावार्थ—छद्मस्थ जीवोंके उपयोग क्रमसे ही होवेंगे, लब्धिस्वरूप भले ही एक साथ चार ज्ञान, तीन दर्शनतक हो जांय, प्रभेदोंकी अपेक्षा सैकडों क्षयोपशमरूप विशुद्धियां एक साथ हो सकती हैं।

जननं जनिरिति नायमिगन्तो यतो जिरिति प्रसज्यते किं तर्हि, औणादिकइकारोऽत्र क्रियते बहुलवचनात्। उणादयो बहुलं च सन्तीति वचनात् इकारादयोऽप्यनुक्ताः कर्त्तव्या एवेति सिद्धं जनिरिति।

उक्त कारिकामें कहा गया जनि शब्द तो " जनी प्रादुर्भावे " धातुसे भावमें इ प्रत्यय कर बनाया गया है। उपज जाना जनि कहलाता है। यह जनि " शब्द इक् प्रत्यय अन्तमें कर नहीं बनाया गया है। जिससे कि इन् भाग "टि" का लोप होकर "जि" इस प्रकार रूप बन जानेका प्रसंग प्राप्त होता। तो "जनि " यहां कौन प्रत्यय किया गया है ? इसका उत्तर यह है कि यहां उणादि प्रत्ययोंमें कहा गया इकार प्रत्यय किया जाता है। " उणादयो बहुलं " यहां बहुल शब्द के कथनसे शब्दसिद्धिके उपयोगी अनेक प्रत्यय कर किये जाते हैं। उण्, किरच्, उ, ई, रु, इत्यादिक बहुतसे प्रत्यय हैं, ऐसा वैयाकरणने कहा है। अतः सूत्रोंमें कण्ठोक्त नहीं कहे गये भी इकार आदिक प्रत्यय धातुओंसे कर लेने ही चाहिये। इस प्रकार " जनिः " यह शब्द सिद्ध हो जाता है।

तत्र जनौ सहधियं करोत्याशुवृत्त्या चक्षुर्ज्ञानं तच्छ्रुतज्ञानं च क्रमात्प्रादुर्भवदपि कथंचिदिति हि सिद्धान्तविनिश्चयो न पुनः सह क्षायोपशमिकदर्शनज्ञाने सोपयोगे मतिश्रुतज्ञाने वा येन सूत्राविरोधो न भवेत्। न चैतावता परमतसिद्धिस्तत्र सर्वथा क्रमभाविज्ञानव्यवस्थितेरिह कथंचित्तथाभिधानात्।

उस उत्पत्तिमें कथंचित् क्रमसे प्रकट हो रहे भी चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों ज्ञान चक्रभ्रमण समान शीघ्रवृत्ति हो जानेसे साथ उत्पन्न हुये की बुद्धिको करदेते हैं। इस प्रकार जैनसिद्धान्तका विशेष रूपसे निश्चय हो रहा है। किन्तु फिर आवरणोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुये उपयोगात्मक दर्शन और ज्ञान अथवा उपयोगसहित मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक साथ नहीं होते हैं, जिससे कि श्री समन्तभद्र स्वामीकी कारिकाका श्री उमास्वामीके द्वारा कहे गये सूत्रके साथ अविरोध नहीं होता। अर्थात्—दोनों आचार्योंके वाक्य अविरुद्ध हैं। और भी एक बात है कि इतना कह देनेसे बौद्ध, नैयायिक, आदि दूसरे मतोंकी सिद्धि नहीं हो जाती है। क्योंकि उन्होंने सभी प्रकार क्रमसे होनेवाले ज्ञानोंकी व्यवस्था की है। और यहां स्याद्वाद सिद्धान्तमें किसी किसी अपेक्षासे तिस प्रकार क्रमसे और अक्रमसे उपयोगोंका उपजना कहा गया है। अतः अनुपयोगात्मकज्ञान एक आत्मामें एकको आदि लेकर चार तक होजाते हैं। यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रमें प्रकरण इस प्रकार हैं कि एक समयमें एक आत्मामें एक ही विज्ञानको माननेवाले पण्डितोंके प्रति सम्भवने योग्य ज्ञानोंकी संख्याके निर्णयार्थ सूत्र कहना आवश्य बताकर एक शब्दका अर्थ करते हुये उन उद्देश्य दलके ज्ञानोंका नाम उल्लेख किया है। एक साथ पांच ज्ञान कैसे भी नहीं हो सकते हैं। भाज्य शब्दका अर्थ कर उपयोगसहित ज्ञानोंके सहभावका एकान्त निषेध

किया है। छद्मस्थ जीवोंके एक समयमें दो उपयोग नहीं हो पाते हैं। इसपर बहुत अच्छा विचार चलाया है। श्रीसमन्तभद्र आचार्यकी कारिका श्री उमास्वामी महाराजके सूत्रोंके अनुसार है। क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमसे ही होते हैं। ज्ञानोंकी शक्तियां एक साथ चार अथवा उत्तर भेदोंकी अपेक्षा इससे भी अधिक संख्यातक ठहर जाती हैं। कुरकुरी, कचौडी, पापर आदि खानेमें क्रमसे ही पांच ज्ञान होते हैं। अन्यथा उनकी स्मृतियां क्रमसे नहीं हो पाती। आगे पीछे शीघ्र शीघ्र हो जानेसे व्यवधान नहीं दीख पाता है। किन्तु व्यवधान अवश्य है। यहां बौद्धोंके साथ अच्छा परामर्श कर बौद्धोंकी युक्तियोंसे ही जैनसिद्धान्त पुष्ट कर दिया है। चाहे दर्शन उपयोग या ज्ञान उपयोग होय अथवा मतिज्ञान या श्रुतज्ञान होय एवं चाक्षुष प्रत्यक्ष या रासन प्रत्यक्ष होय तथा अवग्रह, ईहा, अवाय होंय किन्तु ये उपयोग क्रमसे ही होवेंगे। आंखके पलक गिरानेमें असंख्यात समय हो जाते हैं। मोटी दृष्टिवालोंको अतीव छोटे कालका व्यवधान प्रतीत नहीं होता है। हां, जिनकी प्रतिभा परिशुद्ध है, उन जीवोंको बालकके अनुदिन शरीरवृद्धिके समान ज्ञानोंकी क्रमसे उत्पत्ति अनुभूत हो जाती है। अतः स्याद्वादसिद्धान्त अनुसार उपयोग आत्मक ज्ञानोंकी क्रमसे उत्पत्ति और अनुपयोग आत्मक ज्ञानोंकी अक्रमसे भी उत्पत्ति मानते हुये स्याद्वादप्रक्रियाकी योजना कर लेना चाहिये। अतः दूसरे वादियोंका क्रमसे ही ज्ञानोंकी उत्पत्ति माननेका सिद्धान्त ठीक नहीं है। इस प्रकार प्रकृत सूत्रके व्याख्यानका उपसंहार कर दिया है।

एकादीन्याचत्वारि स्युः शक्त्यात्मानि व्यक्त्या(त्वे)त्वेकं।
भक्तव्यानि ज्ञानान्यद्वैकस्मिञ्जीवे विशेषेयं ॥ १ ॥

समीचीन पांचों ज्ञानोंका वर्णन करते समय सम्भवने योग्य मिथ्या ज्ञानोंके निरूपण करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराजके मुखनिषधसे सूत्रसूर्यका उदय होता है।

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान ये विपरीत भी हो जाते हैं। अर्थात्—व्यक्त मिथ्यात्व या अव्यक्त मिथ्यात्वके साथ एकार्थसमवाय हो जानेसे अथवा दूषित कारणोंसे उत्पत्ति हो जानेपर उक्त तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान बन जाते हैं।

कस्याः पुनराशंकाया निवृत्त्यर्थं कस्यचिद्वा सिध्यर्थमिदं सूत्रमित्याह।

प्रश्न कर्ता पूंछता है कि फिर कौनसी आशंकाकी निवृत्तिके लिये अथवा किस नव्य, भव्य अर्थकी सिद्धिके लिये यह " मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च " सूत्र रचा गया है? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

अथ ज्ञानानि पंचापि व्याख्यातानि प्रपंचतः ।
किं सम्यगेव मिथ्या वा सर्वाण्यपि कदाचन ॥ १ ॥
कानिचिद्वा तथा पुंसो मिथ्याशंकानिवृत्तये ।
स्वेष्टपक्षप्रसिद्ध्यर्थं मतीत्याद्याह संप्रति ॥ २ ॥

अब नवीन प्रकरणके अनुसार यह कहा जाता है कि विस्तारसे पांचों भी ज्ञानोंका व्याख्यान किया जा चुका है । उसमें किसीका इस प्रकार शंकारूप विचार है कि क्या सभी ज्ञान कभी कभी समीचीन ही अथवा मिथ्या भी हो जाते हैं ? या आत्माके पांचोंमेंसे कितने ही ज्ञान तिस प्रकार समीचीन और मिथ्याज्ञान हो जाते हैं ? इस प्रकार मिथ्या आशंकाओंकी निवृत्तिके लिये और अपने इष्ट सिद्धान्तपक्षकी सिद्धिके लिये श्रीउमास्वामी महाराज अवसर अनुसार इस समय "मतिश्रुतावधयो" इत्यादि सूत्रको स्पष्ट कहते हैं ।

पूर्वपदावधारणेन सूत्रं व्याचष्टे ।

मति, श्रुत, अवधिज्ञान ही विपरीत हो जाते हैं, यों पहिले उद्देश्य वाक्यके साथ "एवकार" लगाकर अवधारण किया गया है । किन्तु मति, श्रुत, और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान ही हैं, इस प्रकार विधेयदलके साथ एवकार लगानेसे हम जैनोंका इष्ट सिद्धान्त बिगड जाता है । क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवोंमें हो रहे मति, श्रुत, अवधि, ये तीन ज्ञान सम्यग्ज्ञान भी हैं । अतः उत्तरवर्ती अवधारणको छोडकर पूर्वपदके साथ एवकार लगाकर अवधारण करके श्रीविद्यानन्दस्वामी इस सूत्रका व्याख्यान करते हैं ।

मत्यादयः समाख्यातास्त एवेत्यवधारणात् ।
संगृह्यते कदाचिन्न मनःपर्ययकेवले ॥ ३ ॥
नियमेन तयोः सम्यग्भावनिर्णयतः सदा ।
मिथ्यात्वकारणाभावाद्विशुद्धात्मनि सम्भवात् ॥ ४ ॥

वे मति आदिक ज्ञान ही मिथ्याज्ञानरूप करके भले प्रकार आम्नाय अनुसार कहे गये हैं । इस प्रकार पूर्व अवधारण करनेसे मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान कभी भी विपर्यय ज्ञान करके संगृहीत नहीं हो पाते हैं । क्योंकि उन मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानमें सदा ही नियमकरके समीचीन भावका निर्णय हो रहा है । ये दो ज्ञान विशेषरूपसे शुद्ध हो रहे आत्मामें उपजते हैं । अतः इनको मिथ्यापनके सम्पादनका कोई कारण नहीं है । अतः आदिके तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान भी हो जाते हैं । और अन्तके दो ज्ञान समीचीन ही हैं ।

दृष्टिचारित्रमोहस्य क्षये वोपशमेऽपि वा ।
मनःपर्ययविज्ञानं भवन्मिथ्या न युज्यते ॥ ५ ॥

दर्शनमोहनीयकर्म और चारित्रमोहनीय कर्मके क्षय या उपशम अथवा क्षयोपशमके भी होनेपर हो रहा मनःपर्यय ज्ञान कैसे भी मिथ्या नहीं हो सकता है। भावार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्रके सहभावी मनःपर्यय ज्ञानको मिथ्यापना युक्त नहीं है। छठवेंसे लेकर बारहवें गुणस्थानतक मनःपर्यय ज्ञान होना सम्भवता है। जिस समय मुनिमहाराजके मनःपर्ययज्ञान है, उस समय प्रथमोपशम या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, इन तीन सम्यक्त्वोंमेंसे कोई एक सम्यक्त्व अवश्य है। तथा छठवें, सातवें गुणस्थानोंमें क्षायोपशमिक चारित्र पाया जाता है। इसके आगे उपशमचारित्र तथा क्षायिक चारित्र है। अतः ज्ञानोंको मिथ्या करनेवाले कारणोंका सहवास नहीं होनेसे मनःपर्ययज्ञान समीचीन ही है, मिथ्या नहीं, यह युक्तिपूर्ण सिद्धान्त है।

सर्वघातिक्षयेऽत्यन्तं केवलं प्रभवत्कथम् ।
मिथ्या सम्भाव्यते जातु विशुद्धिं परमां दधत् ॥ ६ ॥

ज्ञानावरण कर्मोंकी सर्वघातिप्रकृतियोंके अत्यन्त क्षय हो जानेपर उत्पन्न हो रहा केवलज्ञान तो कदाचित् भी भला कैसे मिथ्यारूप सम्भव सकता है ? जब कि वह केवलज्ञान उत्कृष्ट विशुद्धिको धारण कर रहा है। दर्शन और चारित्रमें दोष लग जानेपर ही ज्ञानोंमें मिथ्यापन प्राप्त हो जाता है किन्तु दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय और ज्ञानावरण प्रकृतियोंके सर्वथा क्षय हो जानेपर उत्पन्न हो रहा केवलज्ञान तो कालत्रयमें भी विपर्यय नहीं हो सकता है। अत्यन्त क्षयमें अत्यन्तका अर्थ तो वर्तमानमें एक वर्गणाका भी नहीं रहना और भविष्यमें उन कर्मोंका किंचित् भी नहीं बन्धना है।

मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयं तु स्यात्कदाचन ।
मिथ्येति ते च निर्दिष्टा विपर्यय इहाङ्गिनाम् ॥ ७ ॥

जीवोंके मति, श्रुत, अवधि, ये तीन ज्ञान तो कभी कभी मिथ्या हो जाते हैं। इस कारण वे मति, श्रुत, अवधि, ज्ञान इस प्रकरणमें विपर्यय इस प्रकार कह दिये हैं।

स च सामान्यतो मिथ्याज्ञानमत्रोपवर्ण्यते ।
संशयादिविकल्पानां त्रयाणां संगृहीतये ॥ ८ ॥

यह विपर्यय तो यहां सामान्यरूपसे सभी मिथ्याज्ञानों स्वरूप होता हुआ मिथ्याज्ञानके संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय इन तीन भेदोंके संग्रह करनेके लिये श्रीउमास्वामी महाराज द्वारा निरूपा गया है। अर्थात् " विपर्ययः " यह जातिमें एक वचन है। अतः मिथ्याज्ञानके तीनों विशेषोंका संग्रह हो जाता है।

समुचिनोति चस्तेषां सम्यक्त्वं व्यावहारिकम्।
मुख्यं च तदनुक्तौ तु तेषां मिथ्यात्वमेव हि ॥ ९ ॥

च अव्ययके समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग, समाहार, ये कतिपय अर्थ हैं। यहां " च " निपातका अर्थ समुच्चय है। जैसे कि ब्रह्मचर्य व्रतको पालो और सत्यव्रतको पालो " ब्रह्मचर्यं सत्यञ्च धारय "। अतः वह च शद्ब उन मति, श्रुत, अवधिज्ञानोंके व्यवहारमें प्रतीत हो रहे सम्यक्पनेका और मुख्य समीचीनपनेका समुच्चय (एकत्रीकरण) कर लेता है। परस्परमें नहीं अपेक्षा रख रहे अनेकोंका एकमें अन्वय कर देना समुच्चय है। किन्तु सूत्रमें च शद्बके नहीं कथन करनेपर तो उन तीनों ज्ञानोंका नियमसे मिथ्यापना ही विधान किया जाता, जो कि इष्ट नहीं है। अर्थात्—सम्यग्दृष्टि जीवोंके हो रहे ज्ञान सभी सम्यग्ज्ञान कहे जाते हैं। ज्ञानकी समीचीनताका सम्पादक अन्तरंगकारण सम्यग्दर्शन है। अतः चौथे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तकके जीवोंमें कामल, चाकचक्य, तिमिर, आदि दोषोंके वशसे हुये मिथ्याज्ञान भी सम्यग्ज्ञान माने जाते हैं। तथा पहिले और दूसरे गुणस्थानवाले जीवोंके निर्दोष चक्षु आदिसे हुये समीचीनज्ञान भी अन्तरंगकारण मिथ्यात्वके साहचर्यसे मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं। यह अन्तरंगकारण सम्यग्दर्शनके अनुसार ज्ञानोंके सम्यक्पनकी व्यवस्था हुयी तभी तो मनःपर्यय और केवलज्ञान कालत्रयमें भी मिथ्या नहीं हो पाते है। हां, इन्द्रियोंकी निर्दोषता मनकी निराकुलता और निद्रा, स्वप्न, शोक, भय, काम, आदि दोषोंसे रहित आत्मा इत्यादि कारणोंसे लोकप्रसिद्ध समीचीन व्यवहारमें ज्ञानका सम्यक्पना जो निर्णीत हो रहा है, तदनुसार पहिले गुणस्थानके ज्ञानमें समीचीनता पायी जाती है। और चौथे, छठे गुणस्थानवर्ती विद्वान् या मुनियोंके भी कामल वात, तिमिर, स्त्यानगृद्धि, अज्ञान, आदि कारणोंसे व्यावहारिक मिथ्याज्ञान सम्भवते हैं। इस सूत्रमें उपात्त किये गये च शद्ब करके व्यवहारसम्बन्धी और मुख्य सम्यक्पना भी तीनों ज्ञानोंमें कह दिया जाता है।

ते विपर्यय एवेति सूत्रे चेन्नावधार्यते।
चशद्बमन्तरेणापि सदा सम्यक्त्वमस्त्वतः ॥ १० ॥

" वे तीनों ज्ञान विपर्यय ही हैं " इस प्रकार विधेयदलमें एवकार लगाकर अवधारण नहीं किया जाय, जो कि हम जैनोंको इष्ट है। तब तो सूत्रमें कहे हुये " च " शद्बके विना भी

सर्वदा उन तीनों ज्ञानोंको सम्यक्त्व सहितपना सुलभतासे प्राप्त हो जाता है। भावार्थ—उत्तर दलमें यदि एवकार नहीं लगाया जाय तब तो " च " के विना भी तीनों ज्ञानोंका समीचीनपना ज्ञात हो जाता है। क्योंकि पूर्व अवधारणसे तो मनःपर्यय और केवलज्ञानका मिथ्यापन निषेधा गया था। मति, श्रुत, अवधि, ज्ञानोंका समीचीनपना तो नहीं निषिद्ध किया गया है।

मिथ्याज्ञानविशेषः स्यादस्मिन्पक्षे विपर्ययः ।
संशयाज्ञानभेदस्य चशब्देन समुच्चयः ॥ ११ ॥

तो इस पक्षमें सूत्रका च शब्द व्यर्थ पडा। क्योंकि "च" शब्दद्वारा किये गये कार्यको उत्तर अवधारणके निषेधसे ही साध लिया गया है। अतः सूत्रोक्त विपर्यय शब्दका अर्थ सामान्य मिथ्याज्ञान नहीं करना, किन्तु विपर्ययका अर्थ मिथ्याज्ञानोंका विशेष भेद भ्रान्तिस्वरूप विपर्यय लेना, जिसका कि लक्षण " विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः " वहां वर्त रहे पदार्थसे सर्वथा विपरीत ही पदार्थकी एक कोटिका निश्चय करना है। अब च शब्द करके मिथ्याज्ञानके अन्य शेष बचे हुये संशय और अज्ञान इन दो भेदोंका समुच्चय कर लेना चाहिये। इस ढंगसे च शब्द सार्थक है।

अत्र मतिश्रुतावधीनामविशेषेण संशयविपर्यासानध्यवसायरूपत्वसक्तौ यथाप्रतीति तद्दर्शनार्थमाह।

यहां प्रकरणमें सूत्रके सामान्य अर्थ अनुसार मति, श्रुत, अवधि इन तीनों ज्ञानोंको विशेषता रहित होकरके संशय, विपर्यय, अनध्यवसायरूप विपर्ययपनेका प्रसंग आता है। अर्थात्–तीनोंमें से प्रत्येकज्ञानमें मिथ्याज्ञानके तीनों भेद सम्भवनेका प्रसंग आवेगा। किन्तु वह तो सिद्धान्तियोंको अभीष्ट नहीं है। अतः प्रतीति अनुसार जिस जिस ज्ञानमें विपर्ययज्ञानके जो दो, तीन आदि भेद सम्भवते हैं, उनको दिखलानेके लिये श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकद्वारा कथन करते हैं।

तत्र त्रिधापि मिथ्यात्वं मतिज्ञाने प्रतीयते ।
श्रुते च द्विविधं बोध्यमवधौ संशयाद्विना ॥ १२ ॥
तस्येन्द्रियमनोहेतुसमुद्भूतिनियामतः ।
इन्द्रियानिन्द्रियाजन्यस्वभावश्चावधिः स्मृतः ॥ १३ ॥

तिन तीनों ज्ञानोंमेंसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें तो तीनों भी प्रकारका मिथ्यापना प्रतीत हो रहा है। तथा अवधिज्ञानमें संशयके विना विपर्यय और अनध्यवसायस्वरूप दो प्रकार मिथ्यापना जाना जा रहा है। कारण कि वह मतिज्ञान तो नियमसे इन्द्रिय और मन इन कारणोंसे भले प्रकार उत्पन्न हो

रहा है। और श्रुतज्ञान मनको निमित्त मानकर उपजता है। अतः इनकी परतंत्रतासे हुये दोनों ज्ञानों में तीनों प्रकारके मिथ्यापन हो जाते हैं। संशयका कारण तो इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे उपजनेपर ही घटित होता है। किन्तु अवधिज्ञानका स्वभाव इन्द्रिय और अनिन्द्रियोंसे नहीं उत्पन्न होना होकर केवल क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले आत्मासे ही उपज जाना है। ऐसा प्रमेय आर्ष आम्नाय अनुसार स्मरण हो रहा चला आ रहा है।

मतौ श्रुते च त्रिविधं मिथ्यात्वं बोद्धव्यं मतेरिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तकत्वनियमात्। श्रुतस्यानिन्द्रियनिमित्तकत्वनियमात् द्विविधमवधौ संशयाद्विना विपर्ययानध्यवसायावित्यर्थः।

उक्त दो कारिकाओंका विवरण इस प्रकार है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें तीनों प्रकारका मिथ्यात्व समझ लेना चाहिये। क्योंकि मतिज्ञानके निमित्तकारण इन्द्रिय और अनिन्द्रिय हैं, ऐसा नियम है। तथा श्रुतज्ञानका निमित्तकारण नियमसे मन माना गया है। किन्तु अवधिज्ञानमें संशयके विना दो प्रकारका मिथ्यापन जान लेना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि अवधिज्ञानमें विपर्यय और अनध्यवसाय ये दो मिथ्यापन सम्भवते हैं।

कुतः संशयादिन्द्रियानिन्द्रियाजन्यस्वभावः प्रोक्तः। संशयो हि चलितापतिपत्तिः, किमयं स्थाणु किं वा पुरुष इति। स च सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षादुभयविशेषस्मरणात् प्रजायते। दूरस्थे च वस्तुनि इन्द्रियेण सामान्यतश्च सन्निकृष्टे सामान्यप्रत्यक्षत्वं विशेषाप्रत्यक्षत्वं च दृष्टं मनसा च पूर्वानुभूततदुभयविशेषस्मरणेन, न चावध्युत्पत्तौ क्वचिदिन्द्रियव्यापारोऽस्ति मनोव्यापारो वा स्वावरणक्षयोपशमविशेषात्मना सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनः स्वविषयस्य तेन ग्रहणात्। ततो न संशयात्मावधिः।

अवधिज्ञानमें संशयके विना दो ही मिथ्यापन क्यों होते हैं? इसका उत्तर इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे नहीं उत्पन्न होना स्वभाव ही बढिया कहा गया है। कारण कि चलायमान प्रतिपत्तिका होना संशय है। जैसे कि कुछ अंधेरा होनापर दूरवर्ती ऊंचे कुछ मोटे पदार्थमें क्या यह ठूंठ है? अथवा क्या यह मनुष्य है? इस प्रकार एक वस्तुमें विरुद्ध अनेक कोटियोंको स्पर्शनेवाला ज्ञान संशय कहा जाता है। तथा वह संशय ज्ञान विचारा सामान्य धर्मोंका प्रत्यक्ष हो जानेसे और विशेष धर्मोंका प्रत्यक्ष नहीं होनेसे, किन्तु उन दोनों विशेष धर्मोंका स्मरण हो जानेसे अच्छा उत्पन्न हुआ करता है। अन्य दर्शनकारोंने भी संशयज्ञानकी उत्पत्ति इसी ढंगसे बतायी है। "सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षादुभयविशेषस्मृतेश्च संशयः"। दूर देशमें स्थित हो रहे वस्तुके इन्द्रियोंकरके सामान्यरूपसे यथायोग्य संनिकर्षयुक्त (योग्यदेश अवस्थिति) हो जानेपर सामान्य धर्मोंका प्रत्यक्ष कर लेना और विशेषधर्मोंका प्रत्यक्ष नहीं होना देखा गया है। पहिले अनुभवमें आ चुके उन दोनों तीनों आदि वस्तुओंके विशेष धर्मोंका मन इन्द्रियद्वारा स्मरण करके स्मरणज्ञान उपज जाता है,

तब संशय होता है। अतः संशयके कारण मिल जानेपर मति और श्रुतमें तो संशय नामके मिथ्याज्ञानका भेद सम्भव हो जाता है। किन्तु अवधिज्ञानकी उत्पत्ति होनेमें (किसी भी विषयमें) इन्द्रियोंका व्यापार अथवा मनका व्यापार नहीं देखा गया है, जिससे कि सामान्यका प्रत्यक्ष होता हुआ और विशेषका प्रत्यक्ष नहीं होता हुआ, किन्तु विशेषके स्मरण करके संशयज्ञान होना यहां अवधि विषयमें बन बैठता। वस्तुतः अपनेको ढकनेवाले अवधिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमविशेष स्वरूप उस अवधिज्ञान करके अपने विषयभूत सामान्य विशेष धर्मआत्मक वस्तुका ग्रहण होता है। यानी अवधिज्ञान अपने विषयके विशेष अंशोंको भी साथ साथ अवश्य जान लेता है। तिस कारणसे अवधिज्ञान संशयस्वरूप नहीं माना गया है। अवधिज्ञान या विभङ्गज्ञान अतीव स्पष्ट है। अतः उसके विषयमें संशय होना असम्भव है।

विपर्ययात्मा तु मिथ्यात्वोदयाद्विपरीतवस्तुस्वभावश्रद्धानसहभावात्सम्बोध्यते।

किन्तु मिथ्यात्वकर्मके उदयसे वस्तुस्वभावके विपरीत श्रद्धान स्वरूप हुये मिथ्यादर्शनके साथ रहना हो जानेसे अवधिज्ञान विपर्ययस्वरूप तो सम्बोधा जाता है। अर्थात् लोकमें प्रसिद्ध है कि मद्यविक्रेताकी दूकानपर दूधको पीनेवाला भी पुरुष हीनदृष्टिसे देखा जाता है। जिस आत्मामें मिथ्यादर्शन हो रहा है उसमें हुआ अवधिज्ञान भी विभंग होकर विपरीत ज्ञान कहा जाता है।

तथानध्यवसायात्माप्याशु उपयोगसंहरणाद्विज्ञानान्तरोपयोगाद्गच्छत्तृणस्पर्शवदुत्पाद्यते। दृढोपयोगावस्थायां तु नावधिरनध्यवसायात्मापि।

तिसी प्रकार शीघ्र अपने उपयोगका संकोच करनेसे या दूसरे विज्ञानमें उपयोगके चले जानेसे चलते हुये पुरुषके तृण छू जानेपर हुये अनध्यवसाय ज्ञानके समान अवधिज्ञान भी अनध्यवसायस्वरूप उपजा लिया जाता है। हां, ज्ञेय विषयमें दृढरूपसे लगे हुये उपयोगकी अवस्थामें तो अवधिज्ञान अनध्यवसायस्वरूप भी नहीं होता है। उस दशामें केवल एक विपर्यय भेद ही घटेगा।

कथमेवावस्थितोऽवधिरिति चेत्, कदाचिदनुगमनात्कदाचिदननुगमनात्कदाचिद्वर्धमानत्वात्कदाचिद्धीयमानत्वात्तथा विशुद्धिविपरिवर्तमानादवस्थितोवधिरेकेन रूपेणावस्थानान्न पुनरदृढोपयोगत्वात्स्वभावपरावर्तनेऽपि, तस्य तथा तथा दृढोपयोगत्वाविरोधात्।

कोई पूंछता है कि इस प्रकार अनध्यवसायदशामें दृढ उपयोग नहीं होनेके कारण भला अवधिज्ञान कैसे अवस्थित समझा जायगा ? यानी उक्त दशामें अवधिज्ञानके छह भेदोंमेंसे पांचवा भेद अवस्थित तो नहीं अवस्थित हो पाता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार प्रश्न होनेपर उत्तर यह समझना कि कभी कभी दूसरे देश या दूसरे भवमें अनुगमन करनेसे और कभी नहीं अनुगमन करनेसे और कदाचित् वर्धमान होनेसे, कभी कभी हीयमान हो जानेसे, तिस प्रकार

विशुद्धियोंके विभिन्न परिवर्तन हो जानेसे अवधिज्ञान अनवस्थित हो रहा भी एकरूप करके अव-स्थान हो जानेसे अवस्थित माना जाता है। हां, फिर दृढ उपयोगपना न होनेके कारण स्वभावका परिवर्तन होते हुये भी अवस्थितपना नहीं है। उस अवधिज्ञानको तिस तिस प्रकार अनुगामी होना, अननुगामी होना, बढना, घटना, होनेपर भी दृढ उपयोगपनेका कोई विरोध नहीं है। अतः विपर्यय या अनध्यवसायकी अवस्थामें भी अवस्थित नामका पांचवां भेद अवधिज्ञानमें घटित हो जाता है।

कुतः पुनस्त्रिष्वेव बोधेषु मिथ्यात्वमित्याह।

कोई शिष्य जिज्ञासा करता है कि फिर यह बताओ कि तीनों ही ज्ञानोंमें मिथ्यापना किस कारणसे हो जाता है ? ऐसी जाननेकी इच्छा होनेपर श्री विद्यानन्दस्वामी वार्तिक द्वारा परिभाषित अर्थको कहते हैं।

मिथ्यात्वं त्रिषु बोधेषु दृष्टिमोहोदयाद्भवेत्।
तेषां सामान्यतस्तेन सहभावाविरोधतः॥ १४॥

मति, श्रुत, अवधि, इन तीनों ज्ञानोंमें मिथ्यापना दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे सम्भव जाता है। क्योंकि सामान्यरूपसे उन तीनों ज्ञानोंका उस मिथ्यात्वके साथ सद्भाव पाये जानेका कोई विरोध नहीं है। भावार्थ—पण्डितका कारणवश मूर्ख होजाना, धनीका निर्धन बन जाना, नीरोग जीवका रोगी हो जाना, इत्यादि प्रयोग लोकमें प्रसिद्ध हैं। यह कथन सामान्य अपेक्षा सत्य है। यानी जिस मनुष्यको हम आजन्म सामान्यरूपसे पण्डित मान चुके थे, वह मध्यमें ही किसी तीव्र असदाचार, उन्मत्तता, शोक, महतीचिन्ता, कुप्रभाव, मन्त्र अनुष्ठान आदि कारणोंसे मूर्ख बन गया। ऐसी दशामें पण्डितको मूर्खपनका विधान कर दिया जाता है। विशेषरूपसे विचारनेपर तो जब मूर्ख है, तब पण्डित नहीं है, और जब पण्डित था तब मूर्ख नहीं था। अतः उक्त प्रयोग नहीं बनता है। ऐसे ही सेठ निर्धन होगया, नीरोगी रोगी होगया, कुलीन अकुलीन होगया, सबल निर्बल होगया, अथवा रागी वीतराग हो जाता है, बद्ध मुक्त हो जाता है इत्यादि स्थलोंपर भी लगा लेना। बात यह है कि प्रकृत सूत्र अनुसार सामान्यरूपसे उद्दिष्ट किये गये तीन ज्ञानोंमें विपर्ययपनेका विधान करना चाहिये, विशेषरूपसे नहीं।

यदा मत्यादयः पुंसस्तदा न स्याद्विपर्ययः।
स यदा ते तदा न स्युरित्येतेन निराकृतम्॥ १५॥

कोई एकान्तवादी विद्वान् निश्चयनयकी कथनोंके समान यों कथन करता है कि जिस समय आत्माओंके मति, श्रुत, अवधि, ज्ञान हैं (जो कि समीचीन होते हुए सम्यग्दृष्टियोंके ही

पाये जाते हैं) उस समय कोई भी विपर्ययज्ञान नहीं होगा। और जिस समय आत्मामें वह विपर्यय ज्ञान है, उस समय वे मति, श्रुत, अवधि, ज्ञान कोई न होंगे। इस प्रकार एकान्तवादियोंका कथन भी इस उक्त कथनसे खण्डित कर दिया गया है, ऐसा समझो। भावार्थ–मिथ्या और समीचीन सभी भेदोंमें सामान्यरूपसे सम्भवनेवाले मति, श्रुत, और अवधि, यहां उद्देश्यदलमें रक्खे गये हैं। उनमें विपर्ययपनका विधान सानन्द किया जा सकता है।

विशेषापेक्षया ह्येषा न विपर्ययरूपता।
मत्यज्ञानादिसंज्ञेषु तेषु तस्याः प्रसिद्धितः ॥ १६ ॥

विशेषकी अपेक्षा करके विचारा जाय तब तो इन मति, श्रुत, अवधिज्ञानों, का विपर्ययस्वरूपपना नहीं है। क्योंकि मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंग ज्ञान, इस प्रकारकी विशेष संज्ञावाले उन ज्ञानोंमें उस विपर्यय स्वरूपताकी प्रसिद्धि हो रही है। अर्थात्–जैसे कि एवंभूतनयसे विचारनेपर रोगी ही रोगी हुआ है। नीरोग पुरुष रोगी नहीं है। उसीके समान कुमतिज्ञान ही विपर्ययस्वरूप है। सम्यग्दृष्टिके हो रहा मतिज्ञान तो विपरीत नहीं है। इस प्रकार सूत्रके अर्थका सामान्य और विशेषरूपसे व्याख्यान कर लेना चाहिये।

सम्यक्त्वावस्थायामेव मतिश्रुतावधयो व्यपदिश्यन्ते मिथ्यात्वावस्थायां तेषां मत्यज्ञानव्यपदेशात्। ततो न विशेषरूपतया ते विपर्यय इति व्याख्यायते येन सहानवस्थालक्षणो विरोधः स्यात्। किं तर्हि सम्यग्मिथ्यामत्यादिव्यक्तिगतमत्यादिसामान्यापेक्षया ते विपर्यय इति निश्चीयते मिथ्यात्वेन सहभावाविरोधात्तथा मत्यादीनां।

सम्यग्दर्शन गुणके प्रकट हो जानेपर सम्यक्त्व अवस्थामें ही हो रहे वे ज्ञान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञानस्वरूप कहे जा रहे हैं। मिथ्यात्वकर्मके उदय होनेपर मिथ्यात्व अवस्थामें तो उन ज्ञानोंका कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, और विभंगज्ञानरूपसे व्यवहार किया जाता है। तिस कारणसे विशेषरूपपने करके वे मति आदिक ज्ञान विपर्ययस्वरूप हैं। इस प्रकार व्याख्यान नहीं किया जाता है, जिससे कि शीत, उष्णके समान " साथ नहीं ठहरना " इस लक्षणवाला विरोध हो जाता। अर्थात्–" मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च " इस सूत्रमें पडे हुये मति, श्रुत, अवधि, ये शब्द सम्यग्ज्ञानोंमें ही व्यवहृत हो रहे हैं। उन सम्यग्ज्ञानोंका उद्देश्य कर विपर्ययपनेका विधान करना विरुद्ध पडता है। अतः विशेषरूप करके उन मति आदिक ज्ञानोंको नहीं पकडना तो फिर किस प्रकार व्याख्यान करना ? इसका उत्तर यों है कि समीचीन मतिज्ञान और मिथ्या मतिज्ञान या समीचीन श्रुतज्ञान और मिथ्या श्रुतज्ञान आदिक अनेक व्यक्तियोंमें प्राप्त हो रहे मतिपन, श्रुतपन, आदि सामान्यकी अपेक्षा करके ग्रहण किये गये वे ज्ञान विपर्ययस्वरूप

हैं, इस प्रकार निश्चय किया जा रहा है। हां, जिस प्रकार व्याख्यान कर देनेपर मति आदिकोंका मिथ्यापनके साथ सद्भाव पाये जानेका कोई विरोध नहीं है। जैसे कि शीतका उष्णके साथ भले ही विरोध होवे, किन्तु सामान्य स्पर्शके साथ शीत स्पर्शका कोई विरोध नहीं है। सामान्यरूपसे स्पर्श ही तो शीत या उष्ण होकर परिणमन करेगा। अन्य कोई नहीं।

ननु च तेषां तेन सहभावेऽपि कथं मिथ्यात्वमित्याशंक्योत्तरमाह।

यहां प्रश्न है कि उन मति आदिक ज्ञानोंको उस मिथ्यात्वके साथ सहभाव होनेपर भी मिथ्यापन कैसे प्राप्त हो जाता है ? झूंठ बोलनेवाले पुरुषके घरमें आ रहा सूर्य प्रकाश या चन्द्र उद्योत तो झूंठा नहीं हो जाता है। इस प्रकार श्री विद्यानंदस्वामी वार्तिकद्वारा किसीकी आशंकाका अनुवादकर उसके उत्तरको स्पष्ट कहते हैं।

मिथ्यात्वोदयसद्भावे तद्विपर्ययरूपता।
न युक्ताग्न्यादिसंपाते जात्यहेम्नो यथेति चेत्॥ १७॥
नाश्रयस्यान्यथाभावसम्यक्परिदृढे सति।
परिणामे तदाधेयस्यान्यथाभावदर्शनात्॥ १८॥

शंका यों है कि आत्मामें मिथ्याकर्मके उदयका सद्भाव होनेपर उन सर्वथा न्यारे हो रहे ज्ञानोंका विपर्ययस्वरूपपना उचित नहीं है। जिस प्रकार कि अग्नि, कीच, धूली आदिका सन्निकर्ष, हो जानेपर या अग्नि, पानी आदिमें गिर जानेपर शुद्ध सौ टंच सोनेका विपरीतपना नहीं हो जाता है। यानी अच्छे सोनेको आग, पानी या कहीं भी डाल दिया जाय वह लोहा या मट्टी, कीचड नहीं बन जाता है। "कानेको चोट कडामरेको भेंट" यह नीति प्रशस्त नहीं है। जब कि आत्मामें सम्यक्त्वगुणसे पृथग् भूतज्ञान गुण या चेतनागुण प्रकाश रहा है तो सम्यक्त्वका विपरीत परिणमन हो जानेपर भला ज्ञानगुणमें विपरीतता कैसे आ सकती है ? देवदत्तके चौर्य दोषसे इन्द्रदत्तको कारागृह नहीं मिलना चाहिये। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो शंका नहीं करना। क्योंकि आश्रयके अन्य प्रकारसे परिवर्तनरूप परिणामके अच्छे ढंगसे परिपुष्ट हो जानेपर उस आश्रयके आधेयभूत हो रहे पदार्थका अन्य प्रकारसे परिणाम होना देखा जाता है। जब कि सम्पूर्ण गुणोंके शिरोमणि होकर भास रहे सम्यग्दर्शनगुणका अखिल कर्मोंमें प्रधान हो रहे मिथ्यात्व कर्मने विपरीत भावकर आत्माको मिथ्यादृष्टि बना दिया है, ऐसी दशामें आत्माके अन्य गुणोंपर भी विपरीतपन आये विना नहीं रह सकता है। पडोसीके घरमें आग लगनेपर निकटवर्तीके छप्परोंवाले घरमें कुशल नहीं रह सकता है। दुष्ट पुरुषोंके घरमें रहनेके आनेपर प्रभाव पडे विना नहीं रहा सका है। आग, कीचड, आदिमें पडा हुआ स्वर्ण ही, पषाण,

वर्षोंमें भले ही नहीं बिगडे, किन्तु हजारों, लाखों, वर्षोंमें सोना या भुड भुड (भोडल अभ्रक) भी मट्टी, कीचड, हो सकता है। नोंनकी झीलमें सभी पुद्गल स्कन्ध नोंन हो जाते हैं। कोई भी पुद्गलकी पर्याय निमित्त मिल जानेपर कुछ कालमें अन्य पुद्गल पर्यायोंरूप परिवर्तन कर जाती है। शुद्ध सौ टंचका सोना भी औषधियोंके प्रयोगसे अग्नि द्वारा भस्म कर दिया जाता है। वैद्य पुरुष अभ्रकको भी भस्म बनाते हैं। अतः अधिकरणके दोष क्वचित् आधेयमें आ जाते हैं। " पेटमें पीडा और आंखमें औषधि " यह लौकिक परिभाषा कुछ रहस्य रखती है।

यथा सरजसालाम्बूफलस्य कटु किन्न तत्।
क्षिप्तस्य पयसो दृष्टः कटुभावस्तथाविधः ॥ १९ ॥
तथात्मनोऽपि मिथ्यात्वपरिणामे सतीष्यते।
मत्यादिसंविदां तादृङ्मिथ्यात्वं कस्यचित्सदा ॥ २० ॥

जिस प्रकार कडवे गूदकी धूलसे सहित हो रहे तुम्बी फलके कटुपनेसे क्या उस पात्रमें डाल दिये गये दूधका तिस प्रकार कडवा हो जाना नहीं देखा गया है ? अर्थात्—कडवी तूम्बरीमें रखा हुवा दूध भी कडवा हो जाता है। निमित्त द्वारा विभाव परिणामको प्राप्त हो जानेवाले आधेयमें विभावक अधिकरणके दोष आ जाते हैं। स्वर्ग और नरकके आकाशमें यद्यपि कोई अन्तर नहीं है। फिर भी वहांकी वायु, भूमि, आदिमें महान् अन्तर है। यही बात सिद्धक्षेत्र और युद्धक्षेत्रमें लगा लेना। अतः जिस प्रकार कडवी तूम्बीमें रखा हुवा दूध कटु हो जाता है, तिसी प्रकार किसी आत्माके भी मिथ्यात्व परिणाम हो जानेपर मति आदिक ज्ञानोंका तिस प्रकार मिथ्या हो जानापन सदा इष्ट कर लिया जाता है। असदाचारी पुरुषकी पण्डिताईमें भी वह दूषण घुस रहा है। सुदर्शन, सीता आदि महान् आत्माओंके ब्रह्मचर्य गुणकी निर्दोषता अन्य सत्य, अचौर्य, अहिंसा, नवकोटिविशुद्धि, साहस, धैर्य, आदि करके परिपूर्ण हो जानेसे गरिष्ठ मानी गयी है, जिसको कि केवल कृत या कारितसे ही अकेले ब्रह्मचर्यको धारनेवाले असंख्य स्त्रीपुरुष नहीं प्राप्त कर सके हैं।

जात्यहेम्नो माणिक्यस्य चाग्न्यादिर्वा गृहादिर्वा नाहेमत्वममाणिक्यत्वं वा कर्तुं समर्थस्तस्यापरिणामकत्वात्। मिथ्यात्वपरिणतस्तु आत्मा स्वाश्रयीणि मत्यादिज्ञानानि विपर्ययरूपतामापादयति। तस्य तथा परिणामकत्वात्सरजसकटुकालाम्बूवत्स्वाश्रयि पय इति न मिथ्यात्वसहभावेऽपि मत्यादीनां सम्यक्त्वपरित्यागः शङ्कनीयः।

किट्ट, (कीट) कालिमा, चांदी, तांबा, आदि टंटोंसे रहित होरहे स्वच्छ सोनेका अग्नि, कीचड, वायु अथवा पानी आदिक पदार्थ असुवर्णपना करनेके लिये समर्थ नहीं हैं। अथवा माणिक

रत्नके अमाणिक्यपनेको करनेके लिये शूद्रगृह, मूर्ख, मोल्लनीकी कुटी, डिब्बी, वस्त्र, आदिक पदार्थ समर्थ नहीं हैं। क्योंकि उन अग्नि आदिक या गृह आदिकको सुवर्ण या माणिक्यके विपरिणाम करानेके निमित्त शक्ति प्राप्त नहीं है। इससे आचार्य महाराजका यह अभिप्राय ध्वनित होता है कि जो पदार्थ सोने या माणिक्यको अन्यथा कर सकते हैं, उनके द्वारा सोना या माणिक भी राख या चूना हो जाता है। हां, आकाश आदि शुद्धद्रव्योंका अन्यथाभाव किसीके बल, बूते, नहीं हो पाता है। किन्तु मिथ्यादर्शन परिणामसे युक्त हो रहा आत्मा तो अपने आश्रयमें वर्त रहे मति, श्रुत, आदि ज्ञानोंको विपर्यय स्वरूपपनेको प्राप्त करा देता है। क्योंकि उस मिथ्यादृष्टि आत्माको तीन ज्ञानोंकी तिस प्रकार कुज्ञानरूप परिणति करानेमें प्रेरक निमित्तपना प्राप्त है। जैसे कि कडवे गूदेकी धूलसहित हो रही कडवी तुम्बी अपने आश्रय प्राप्त हो रहे दूधको कडवे रस सहितपनेसे परिणति करादेती है। इस कारण मिथ्यादर्शनका सहभाव होजानेपर भी मति आदिक ज्ञानोंके समीचीनपनेका परित्याग हो जाना शंका करने योग्य नहीं है। तुच्छ पुरुषके अन्य गुण भी तुच्छ हो जाते हैं। गम्भीर नहीं रहते हैं। एक गुण या दोष दूसरे गुण या दोषोंपर अवश्य प्रभाव डालता है। प्रकाण्ड विद्वान् यदि पूर्ण सदाचारी भी है तो वह परमपूज्य है।

परिणामित्वमात्मनोऽसिद्धमिति चेदत्रोच्यते।

कोई एकान्ती कहता है कि आत्मामें यदि कुमतिज्ञान है, तो सुमतिज्ञान फिर नहीं हो सकेगा और यदि आत्मामें सुमतिज्ञान है तो फिर आत्मा कुमतिज्ञानरूप विपरिणति नहीं कर सकता है। क्योंकि आत्मा कूटस्थ नित्य है। परिवर्तन करनेवाले परिणामोंसे सहितपना तो आत्माके असिद्ध है। इस प्रकार किसी प्रतिवादीके कहनेपर इस प्रकरणमें श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा समाधान कहा जाता है। उसको सावधान होकर सुनिये।

न चेदं परिणामित्वमात्मनो न प्रसाधितम्।
सर्वस्यापरिणामित्वे सत्त्वस्यैव विरोधतः॥ २१॥
यतो विपर्ययो न स्यात्परिणामः कदाचन।
मत्यादिवेदनाकारपरिणामनिवृत्तितः॥ २२॥

आत्माका यह परिणामीपना हमने पूर्व प्रकरणोंमें भले प्रकार साधा नहीं है, यह नहीं समझना। यानी आत्मा परिणामी है, इसको हम अच्छी युक्तियोंसे साध चुके हैं। जैनसिद्धान्त अनुसार सभी पदार्थ परिणामी हैं। सम्पूर्ण पदार्थोंको या सबमें एक भी वस्तुको यदि अपरिणामीपना माना जायगा, तो उसकी जगत्में सदा रहनेका ही विरोध हो जायगा। क्योंकि परिणामीपनसे सत्त्व व्याप्त हो रहा है। व्यापक परिणामीपनके रहने

पर ही व्याप्य सत्त्व ठहर सकता है। सम्पूर्ण पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे शोभायमान हैं। पूर्व आकारोंका त्याग, उत्तर आकारोंका ग्रहण और ध्रुवस्थितिरूप परिणाम सर्वत्र सर्वदा देखे जाते हैं। अतः आत्मा कूटस्थ नहीं है। जिससे कि कदाचित् भी मति आदिक ज्ञानोंके आकारवाले परिणामोंकी निवृत्ति हो जानेसे आत्माके विपर्ययरूप पर्यायें नहीं हो पाती। अर्थात् परिणामी आत्माके मिथ्यात्वका उदय हो जानेपर मति, श्रुत, आदिक ज्ञानोंके आकारस्वरूप परिणामोंकी निवृत्ति हो जानेसे कुमति आदिक विपर्यय ज्ञान प्रवर्त जाते हैं। ज्ञानपना या चेतनपना स्थित रहता है। अतः परिणामी आत्माके विपर्यय ज्ञानोंका हो जाना सम्भव जाता है।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रमें कथन किये गये प्रकरणोंका क्रम इस प्रकार है कि प्रथम ही पांच ज्ञानोपयोग और चार दर्शनोपयोग इनमेंसे कतिपय ज्ञानोपयोगोंका विपर्ययपना बतलानेके लिये सूत्रका प्रारम्भ करना आवश्यक समझकर तीन ही ज्ञानोंको विपर्ययपना साधकर मिथ्या शंकाओंकी निवृत्ति कर दी है। सूत्रमें पूर्वपदके साथ अवधारण लगाना अच्छा बताया है। मनःपर्यय और केवलज्ञान समीचीन ही होते हैं। क्योंकि पहिले और दूसरे ही गुणस्थानोंमें सम्भवनेवाले दर्शनमोहनीय और पांचवें गुणस्थानतक पाये जा रहे चारित्रमोहनीय कर्मोंके विशेष शक्तिशाली स्पर्धकोंके उदयका उनके साथ सहभाव नहीं है। इसके आगे " च " शब्दकी सार्थकता दो ढंगोंसे बताई गयी है। किस ज्ञानमें कितने मिथ्यापन सम्भव जाते हैं इसका प्रबोध कराया है। अवधिज्ञानमें विपर्यय और अनध्यवसायको योग्यतासे साध दिया है। मति कहनेसे सुमतिज्ञानका ग्रहण होता है। ऐसी दशामें वह सुमति तो कालत्रयमें भी विपर्यय नहीं हो सकता है। इस कटाक्षका विद्वत्तापूर्वक निराकरण कर दिया है। दर्शनमोहनीय या चारित्रमोहनीयकर्म आत्माके अन्य कतिपय गुणोंपर अपना प्रभाव डाल देते हैं। कोई अस्तित्व, वस्तुत्व आदि गुणोंकी हानि वे कर्म कुछ नहीं कर सकते हैं। कडवी तूम्बी दूधके रसका विपरिणाम कर देती हैं। किन्तु दूधकी शुक्लता या पतलापनको बाधा नहीं पहुंचाती है। हां, पीला रंग या दही इनको भी ठेस पहुंचा देता है। आत्माके सम्यग्दर्शन गुणका विभाव परिणाम हो जानेपर मति, श्रुत, अवधि ज्ञानोंका विपर्ययपना प्रसिद्ध हो जाता है, इस रहस्यको दृष्टान्तोंसे पुष्ट किया है। कूटस्थ आत्माका निराकरण कर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे आत्माका परिणामीपन पूर्व प्रकरणोंमें साधा जा चुका कह दिया है। संसारमें रहनेवाले अनन्तानन्त जीव तो मिथ्यादृष्टि अवस्थामें मिथ्याज्ञानोंसे घिरे हुये हैं ही। हां, वर्तमानकालकी अपेक्षा असंख्यात जीवोंके भी सम्यग्दर्शन हो चुकनेपर पुनः मिथ्यात्व या अनन्तानुबन्धीके उदय हो जानेसे यथायोग्य तीन ज्ञान विपर्ययस्वरूप हो जाते हैं। अर्धपुद्गलपरिवर्तन

काल सम्बन्धी ऐसे अनेकानेक जीव हैं। इस प्रकार मति आदिक तीन ज्ञानोंका कदाचित् कारणवश विपर्ययपना युक्तियोंसे साधदिया है।

सुदृष्टिमोहाद्यकषायपाकान् मतिश्रुतावध्युपलब्धयः स्युः।
सदोषहेतोश्च विपर्ययश्च पयो यथेक्ष्वाकुगतं कटूत्वं ॥ १ ॥

—*—

लोकव्यवहारकी प्रसिद्धि अनुसार मिथ्यादृष्टियोंके और सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञानोंमें जब कोई विशेष अन्तर नहीं दीखता है तो फिर क्या कारण है कि मिथ्यादर्शनके साहचर्यमात्रसे मिथ्यादृष्टियोंका घटज्ञान विपर्ययज्ञान कहा जाय और सम्यग्दृष्टियोंका उतना ही घटज्ञान समीचीन कहा जाय ? इस प्रकार कटाक्ष उपस्थित होनेपर श्री उमास्वामी महाराज हेतु और दृष्टान्त द्वारा प्रकृत अर्थको पुष्ट करनेके लिये स्वकीय मुखाभ्रसे सूत्र—आसार वर्षाते हैं।

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

विद्यमान हो रहे और अविद्यमान हो रहे अर्थोंकी अथवा प्रशंसनीय और अप्रशंसनीय अर्थोंकी अविशेषता करके यदृच्छापूर्वक उपलब्धि हो जानेसे उन्मत्त पुरुषके समान जाननेवाले मिथ्यादृष्टिके विपर्ययज्ञान हो जाते हैं। अर्थात्—उन्मत्त पुरुष जैसे गौमें गाय है, ऐसा निर्णय करलेता है और कदाचित् गौको घोडा भी जानलेता है, माताको कभी स्त्री और कदाचित् माता भी कह देता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव सत् और असत् पदार्थमें कोई विशेषता नहीं रखता हुआ चाहे जैसा मनमानी ज्ञान उठाता रहता है। अतः उसका घटमें घटको जाननेवाला भी ज्ञान विपर्यय ज्ञान ही है।

किं कुर्वन्निदं सूत्रं ब्रवीतीति शंकायामाह।

कोई गौरव दोषसे डरनेवाला शंकाकार कहता है कि किस नवीन अर्थका विधान करते हुये श्री उमास्वामी महाराज " सदसतोः " इत्यादि सूत्रको प्रस्पष्ट कह रहे हैं। ऐसी शंका होनेपर तार्किकशिरोमणि श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

समानोर्थपरिच्छेदः सदृष्ट्यर्थपरिच्छिदा।
कुतो विज्ञायते त्रेधा मिथ्यादृष्टेर्विपर्ययः ॥ १ ॥
इत्यत्र ज्ञापकं हेतुं सदृष्टान्तं प्रदर्शयन्।
सदित्याद्याह संक्षेपाद्विशेषप्रतिपत्तये ॥ २ ॥

जब कि सम्यग्दृष्टि आत्माके अर्थोंकी परिच्छित्तिके समान ही मिथ्यादृष्टि आत्माके भी अर्थोंका परिच्छेद होता है, तो फिर कैसे विशेषरूपसे जाना जाय कि मिथ्यादृष्टिके तीन प्रकारका विपर्ययज्ञान हो रहा है। इस प्रकार यहां प्रकरणमें जिज्ञासा होनेपर दृष्टान्तसहित ज्ञापक हेतुको बढिया दिखलाते हुये श्री उमास्वामी महाराज संक्षेपसे मिथ्याज्ञानोंकी विशेषताको समझानेके लिये " सदसतोरविशेषाद् " इत्यादि सूत्रको कहते हैं।

मिथ्यादृष्टेरप्यर्थपरिच्छेदः सद्दृष्ट्यर्थपरिच्छेदेन समानोनुभूयते तत्कुतोऽसौ त्रेधा विपर्यय इत्यारेकायां सत्यां सनिदर्शनं ज्ञापकं हेतुमनेनोपदर्शयति ।

मिथ्यादृष्टिका भी अर्थपरिज्ञान करना जब सम्यग्दृष्टिके हुई अर्थपरिच्छित्तिके समान होता हुआ अनुभवा जा रहा है, तो फिर कैसे निर्णीत किया जाय कि वह विपर्ययस्वरूप मिथ्याज्ञान तीन प्रकारका होता है। इस प्रकार किसी भद्रपुरुषकी आशंका होनेपर उदाहरणसहित ज्ञापक हेतुको श्री उमास्वामी महाराज इस सूत्रकरके दिखलाते हैं। व्याप्य हेतुसे साध्यकी सिद्धि सुकमतासे हो जाती है। यदि दृष्टान्त मिल जाय तब तो बालक भी समझ जाते हैं। परीक्षकोंका तो कहना ही क्या है।

के पुनरत्र सदसती कश्च तयोरविशेषः का च यदृच्छोपलब्धिरित्याह ।

कोई पूंछता है कि यहां सूत्रमें कहे गये फिर सत् और असत् क्या पदार्थ हैं ? और उन दोनोंका विशेषतारहितपना क्या है ? तथा यदृच्छा उपलब्धि भला क्या पदार्थ है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिकोंद्वारा उत्तर कहते हैं।

अत्रोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति वक्ष्यति ।
ततोऽन्यदसदित्येतत्सामर्थ्यादवसीयते ॥ ३ ॥
अविशेषस्तयोः सद्भिरविवेको विधीयते ।
सांकर्यतो हि तद्भित्तिस्तथा वैयतिकर्यतः ॥ ४ ॥

इस सूत्रमें कहे गये सत् इस शब्दका अर्थ तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त हो रहापन है। इस बातको स्वयं मूल ग्रन्थकार पांचवें अध्यायमें स्पष्टरूपसे कह देवेंगे। उस सत्से अन्य पदार्थ यहां असत् कहा जाता है। बिना कहे ही यह तत्त्व इस व्याप्यात सत्की सामर्थ्यसे निर्णीत कर लिया जाता है। उन सत्, असत्, दोनोंका जो पृथक् भाव नहीं करना है, वह सज्जन पुरुषों करके अविशेष किया गया कहा जाता है। अथवा विद्यमान हो रहे पदार्थोंके साथ सत् और असत्का पृथग्भाव नहीं करना अविशेष कहा जाता है। तिस प्रकार उस पदार्थकी सत्, असत्-

पनेके संकरपनेसे अथवा व्यतिकरपनेसे ज्ञप्ति कर लेना मिथ्या ज्ञानोंसे साध्य कार्य है। सत्‌में सत् और असत् दोनोंके धर्मोका एक साथ आरोप देना संकरदोष है। परस्परमें एक दूसरेके अत्यन्ताभावका समानाधिकरण धारनेवाले पदार्थोंका एक अर्थमें समावेश हो जाना सांकर्य है। तथा सत्‌के धर्मोका असत्‌में चला जाना और असत्‌के धर्मोका सत्‌में चला जाना इस प्रकार परस्परमें विषयोंका गमन हो जाना व्यतिकर है। विपर्ययज्ञानी जीव संकरपन और व्यतिकरपन दोषोंसे युक्त सत् असत् पदार्थोंको जान बैठते हैं। उनका ठीक, ठीक, विवेक नहीं कर पाते हैं।

प्रतिपत्तिरभिप्रायमात्रं यदनिबन्धनं।
सा यदृच्छा तया वित्तिरुपलब्धिः कथंचन॥ ५॥

तीसरा प्रश्न " यदृच्छा उपलब्धि " के विषयमें है, उसका उत्तर यह है कि सामान्यरूपसे अभीष्ट अभिप्रायको कारण मानकर जो ज्ञान होता है, वह प्रतिपत्ति है। और जिस कारण उस अभिप्राय (समीचीन इच्छा) को कारण नहीं मानकर मनमानी वह परणति तो यदृच्छा है। उस यदृच्छाकरके किसी भी प्रकार ज्ञप्ति हो जाना उपलब्धि कही गयी है।

किमत्र साध्यमित्याह।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि इस सूत्रमें श्री उमास्वामी महाराजने " सदसतोः अविशेषात् यदृच्छोपलब्धेः " ऐसा हेतु बनाकर और उन्मत्तको दृष्टान्त बनाकर अनुमान प्रयोग बनाया है किन्तु यह बताओ कि इस प्रयोगमें साध्य या प्रतिज्ञावाक्य क्या है ? इस प्रकार आकांक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी उत्तर कहते हैं।

मत्यादयोऽत्र वर्त्तन्ते ते विपर्यय इत्यपि।
हेतोर्यथोदितादत्र साध्यते सदसत्त्वयोः॥ ६॥

यहां सूत्रका अर्थ करनेपर पूर्वसूत्रमें कहे गये वे मति आदिक तीन ज्ञान अनुवर्त्तन कर लिये जाते हैं। और " वे विपर्यय हैं। " यह भी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये। अतः यथायोग्य कहे गये " सत् और असत्‌की अविशेषतासे यदृच्छा उपलब्धि " इस हेतु द्वारा यहां मति आदिकमें सत्‌पने और असत्‌पनेका विपर्यय साधकर जान लिया जाता है। प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरण ठीक ठीक बन जानेसे पूर्वसूत्रमें कहे गये साध्यकी अच्छे ढंगसे सिद्धि हो जाती है।

तेनैतदुक्तं भवति मिथ्यादृष्टेर्मतिश्रुतावधयो विपर्ययः सदसतोरविशेषेण यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तस्येवेति।

तिस कारण इस संदर्भमें कहे गये वाक्योंद्वारा यों कह दिया गया समझा जाता है कि मिथ्यादृष्टिके हो रहे मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान (पक्ष) विपर्यय हैं (साध्य)। सत् और असत् की विशेषता रहित करके यों ही चाहे जैसी उपलब्धि हो जानेसे (हेतु) मदसे उन्मत्त हो रहे पुरुषके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार अनुमानवाक्य बना लिया गया है।

समानेऽप्यर्थपरिच्छेदे कस्यचिद्विपर्ययसिद्धिं दृष्टान्ते साध्यसाधनयोर्व्याप्तिं प्रदर्शयन्नाह।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवोंके उत्पन्न हुयी अर्थपरिच्छित्तिके समान होनेपर भी दोनोंमेंसे किसी ही एक मिथ्यादृष्टिके ही विपर्यय ज्ञानकी सिद्धि है। किन्तु सम्यग्दृष्टिका ज्ञान मिथ्याज्ञान नहीं है। इस तत्त्वकी सिद्धिको दृष्टान्तमें साध्य और साधनकी व्याप्तिका प्रदर्शन करा रहे श्री विद्यानन्द आचार्य विशदरूपसे कहते हैं।

स्वर्णे स्वर्णमिति ज्ञानमस्वर्णे स्वर्णमित्यपि।
स्वर्णे वा स्वर्णमित्येवमुन्मत्तस्य कदाचन ॥ ७ ॥
विपर्ययो यथा लोके तद्यदृच्छोपलब्धितः।
विशेषाभावतस्तद्वन्मिथ्यादृष्टेर्घटादिषु ॥ ८ ॥

उन्मत्त पुरुषको कभी कभी सुवर्ण पदार्थमें " सुवर्ण है " इस प्रकार ज्ञान हो जाता है। और कभी सुवर्णरहित (शून्य) मट्टी, पीतल आदिमें यह सोना है, भी ज्ञान हो जाता है। अथवा कभी सुवर्णमें ढेल, लोहा, आदि असुवर्णरूप इस प्रकार ज्ञान हो जाता है। तिस कारण जिस प्रकार लोकमें यदृच्छा उपलब्धि हो जानेसे विपर्ययज्ञान हो रहा प्रसिद्ध है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवके घट, पट, आदि पदार्थोंमें विशेषतारहित करके यदृच्छा उपलब्धिसे मिथ्याज्ञान हो जाता है।

सर्वत्राहार्य एव विपर्ययः सहज एवेत्येकान्तव्यवच्छेदेन तदुभयं स्वीकुर्वन्नाह।

सभी स्थलोंपर आहार्य्य ही विपर्ययज्ञान होता है, ऐसा कोई एकान्तवादी कह रहे हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाधा उपस्थित हो जानेपर भी भक्तिवश या आग्रहवश विपरीत (उलटा) ही समझते रहना आहार्य्य मिथ्याज्ञान है। जैसे कि गृहीत मिथ्यादृष्टि जीव असत्य उपदेशोंद्वारा विपरीत अभिनिवेश कर लेता है। तथा कोई एकान्तवादी यों कहते हैं कि सभी स्थलोंपर सहज ही विपर्ययज्ञान होता है। उपदेशके विना ही अन्तरंग कारणोंसे मिथ्यावासनावश जो विपर्यय ज्ञान अज्ञानी जीवोंके हो रहा है, वह सहज है। इस प्रकार एकान्तोंका व्यवच्छेद करके उन दोनों प्रकारके विपर्यय ज्ञानोंको स्वीकार करते हुए श्री विद्यानन्द आचार्य समझाकर कहते हैं।

स चाहार्यो विनिर्दिष्टः सहजश्च विपर्ययः ।
प्राच्यस्तत्र श्रुताज्ञानं मिथ्यासमयसाधितम् ॥ ९ ॥
मत्यज्ञानं विभङ्गश्च सहजः संप्रतीयते ।
परोपदेशनिर्मुक्तेः श्रुताज्ञानं च किंचन ॥ १० ॥

यह विपर्यय ज्ञान आहार्य्य और सहज दोनों प्रकारका विशेषरूपसे कथन किया गया हमें इष्ट है । अभिप्राय वही होय और शब्द न्यारे न्यारे होय, ऐसे विषयमें शास्त्रार्थ करना व्यर्थ है । उन दोमें पहिला कहा गया आहार्य विपर्यय तो मिथ्याशास्त्रोंकरके साध्य किया गया, कुश्रुत ज्ञान स्वरूप है । तथा कुमतिज्ञान और विभंग ज्ञान तो सहज विपर्यय हो रहे भले प्रकार जाने जा रहे हैं । हां, परोपदेशका रहितपना हो जानेसे कोई कोई कुश्रुतज्ञान भी सहजविपर्यय हो जाता है । भावार्थ—सम्यग्दर्शन जिस प्रकार निसर्ग और अधिगमसे जन्य हुआ दो प्रकारका माना है, उसी प्रकार विपर्ययज्ञान भी दो प्रकारका है । आहार्य्य नामका भेद तो परोपदेशजन्य कुश्रुत ज्ञानमें ही घटित होता है । और सहजविपर्यय नामका भेद मति, श्रुत, अवधि इन तीनों ज्ञानोंमें सम्भव जाता है ।

चक्षुरादिमतिपूर्वकं श्रुताज्ञानमपरोपदेशत्वात्सहजं मत्यज्ञानविभङ्गज्ञानवत् । श्रोत्रम-तिपूर्वकं तु परोपदेशापेक्षत्वादाहार्यं प्रत्येयं ।

चक्षु आदिक यानी नेत्र, स्पर्शन, रसना, घ्राण इन चार इन्द्रियोंसे जन्य मतिज्ञानको पूर्ववर्ती कारण मानकर उपजा हुवा कुश्रुत ज्ञान तो परोपदेशपूर्वकपना नहीं होनेके कारण सहजविपर्यय है । जैसे कि कुमतिज्ञान और विभंगज्ञान सहज मिथ्याज्ञान है । किन्तु श्रोत्र इन्द्रियजन्य मतिज्ञानको पूर्ववर्त्तीकारण मानकर उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान तो परोपदेशकी अपेक्षा हो जानेसे आहार्य्य विपर्ययज्ञान समझ लेना चाहिये । मानस मतिज्ञानपूर्वक हुवा कुश्रुतज्ञान भी सहजविपर्ययमें परिगणित होगा ।

तत्र सति विषये श्रुताज्ञानमाहार्यविपर्ययमादर्शयति ।

तिन विपर्ययज्ञानोंमें विषयके विद्यमान होनेपर हुये कुश्रुतज्ञानस्वरूप आहार्य्य विपर्ययको दर्पणके समान ग्रन्थकार वार्त्तिकोंद्वारा दिखलाते हैं ।

सति स्वरूपतोऽशेषे शून्यवादो विपर्ययः ।
ग्राह्यग्राहकभावादौ संविदद्वैतवर्णनम् ॥ ११ ॥

चित्राद्वैतप्रवादश्च पुंशब्दाद्वैतवर्णनम् ।
बाह्यार्थेषु च भिन्नेषु विज्ञानाण्ड (नांश) प्रकल्पनं ॥ १२ ॥

अपने अपने स्वरूपसे सद्भूत पदार्थोंके विद्यमान रहनेपर अथवा स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंसे पदार्थोंके विद्यमान होनेपर शून्यवादी विद्वान् द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंका निषेध कर देना यह शून्यवाद नामका विपर्यय है । क्योंकि पदार्थोंके विद्यमान होनेपर भी उनका निषेध कर रहा है । तथा ज्ञेय पदार्थ और ज्ञापकज्ञान पदार्थ इनमें ग्राह्यग्राहकभाव होते हुए या आश्रय-आश्रयीभूत पदार्थोंमें आधार आधेय भाव होते हुए अथवा अनेक पदार्थोंमें कार्यकारणभाव आदि सम्बन्ध होनेपर भी ज्ञानका ही अद्वैत कहते जाना यह विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंका विपर्यय है । क्योंकि ग्राह्यग्राहकभाव आदि द्वैत पदार्थोंके होते हुए भी उनका निषेध कर दिया है । तथा नाना प्रकार बहिरंग पदार्थोंके विद्यमान होनेपर भी चित्र आकारवाले ज्ञानके अद्वैत माननेका प्रवाद भी बौद्धोंका एक विपर्यय है । इसी प्रकार द्वैतके होनेपर भी ब्रह्मवादियों द्वारा ब्रह्माद्वैतका वर्णन करना अथवा वैयाकरणों द्वारा शब्दाद्वैत स्वीकार करना भी आहार्य कुश्रुतज्ञान है । तथा भिन्न भिन्न स्थूल, कालान्तरस्थायी, बहिरंग अवयवी पदार्थोंके होते सन्ते भी क्षणिक, अवयव, अणुस्वरूप, विज्ञानके अंशोंकी कल्पना करते चले जाना विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंका विपर्यय है । ये सब सत् पदार्थोंमें असत्को कल्प रहे हैं । सम्पूर्ण चराचर जगत्को ब्रह्माण्ड या विज्ञानाण्डमें तदात्मक रखना उचित नहीं है ।

बहिरन्तश्च वस्तूना सादृश्ये वैसदृश्यवाक् ।
वैसदृश्ये च सादृश्यैकान्तवादावलम्बनम् ॥ १३ ॥

तथा घट, पट, वस्त्र, पुस्तक, आदि बहिरंग पदार्थ और आत्मा, ज्ञान, सुख, दुःख इच्छा आदि अन्तरंग वस्तुओंके कथंचित् सादृश्य होनेपर भी सर्वथा विलक्षणपनेका कथन करना यह विशेषके ही एकान्तको कहनेवाले बौद्धोंका विपर्ययज्ञान है । एवं दूसरा बहिरंग और अन्तरंग पदार्थोंका कथंचित् वैलक्षण्य होनेपर भी " वे सर्वथा सदृश ही हैं " इस प्रकार सामान्य एकान्तवादका अवलम्ब लेकर पक्ष पकडे रहना सदृश एकान्तवादी विद्वान्का विपर्यय है ।

द्रव्ये पर्यायमात्रस्य पर्याये द्रव्यकल्पना ।
तद्द्वयात्मनि तद्भेदवादो वाच्यत्ववागपि ॥ १४ ॥

अतीत, अनागत, वर्तमान, पर्यायोंमें आन्वित होकर व्यापनेवाले नित्यद्रव्योंके होते हुए भी केवल पर्यायोंकी ही कल्पना करना अथवा पर्यायोंके होते सन्ते केवल द्रव्योंको ही कल्पना करना

बौद्ध और सांख्योंकी विपर्यय कल्पना है। तथा उन द्रव्य और पर्याय दोनोंसे तदात्मक हो रहे वस्तुके होनेपर फिर आग्रहवश उन द्रव्यपर्यायोंके भेदको ही बकते रहना वैशेषिकोंका विपर्यय ज्ञान है। पदार्थोंका शब्दोंद्वारा निरूपण नहीं हो पाता है। अतः सम्पूर्ण तत्त्व अवाच्य हैं। यह अवक्तव्य एकान्तका विपर्यय भी किन्हीं बौद्धोंमें छा रहा है। ये सब आहार्य कुश्रुतज्ञान हैं।

उत्पादव्ययवादश्च ध्रौव्ये तदवलम्बनम् ।
जन्मप्रध्वंसयोरेवं प्रतिवस्तु प्रबुद्ध्यताम् ॥ १५ ॥

द्रव्यकी अपेक्षा या कालान्तरस्थायी स्थूल पर्यायकी अपेक्षा पदार्थोंका ध्रुवपना होते सन्ते भी केवल उत्पाद और व्ययके एकान्तका ही पक्ष पकडे रहना क्षणिक एकान्तरूप विपर्यय है। तथा इसके विपरीत दूसरा एकान्त यों है कि पदार्थोंके उत्पाद और व्ययकी प्रत्यक्षद्वारा सिद्ध होते सन्ते भी उस ध्रौव्यका सहारा लेकर सर्वथा पदार्थोंको नित्य ही समझते रहना विपर्यय ज्ञान है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तुओंमें विपर्यय ज्ञानकी व्यवस्था समझ लेनी चाहिए। एकान्तवादी विद्वान् अपने अपने सिद्धान्त अनुसार सम्पूर्ण पदार्थोंमें विपरीत अभिनिवेश किये हुए आहार्य विपर्ययसे ग्रहग्रस्त हो रहे हैं।

सति तावत्कार्त्स्न्येनैकदेशेन च विपर्ययोऽस्ति तत्र कार्त्स्न्येन शून्यवादः स्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालतः, सर्वस्य सत्त्वेन प्रमाणसिद्धत्वात्। विशेषतस्तु सति ग्राह्यग्राहकभावे कार्यकारणभावे च वाच्यवाचकभावादौ च तदसत्त्ववचनम्। तत्र संविदद्वैतस्य वावलम्बनेन सौगतस्य, पुरुषाद्वैतस्यालम्बनेन ब्रह्मवादिनः, शब्दाद्वैतस्याश्रयेण वैयाकरणस्येति मतमेयं। विपर्ययत्वं तु तस्य ग्राह्यग्राहकभावादीनां प्रतीतिसिद्धं तद्वचनात्।

प्रथम ही हम यह समझाते हैं कि अनेक वादियोंके यहां नाना प्रकारके विपर्ययज्ञान माने जा रहे हैं। विद्यमान हो रहे पदार्थोंमें कोई तो परिपूर्ण रूपसे विपर्ययज्ञान मानते हैं और कोई विद्यमान हो रहे पदार्थोंमें एकदेश करके विपर्यय ज्ञान मान बैठे हैं। उनमें परिपूर्ण रूपसे विपर्यय मानना तो शून्यवाद है। क्योंकि अपने स्वरूप हो रहे भाव, द्रव्य, क्षेत्र, कालसे अस्तित्वपने करके सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्रमाणोंसे सिद्धि हो रही है। अतः सभी पदार्थोंको स्वीकार नहीं करना यह तत्त्व उपप्लववादी या शून्यवादी प्राज्ञोंका पूर्णरूपसे होनेवाला विपर्यय है। एक देशसे या विशेषरूपसे तो विपर्यय यों है कि पदार्थोंमें ग्राह्यग्राहक भाव और कार्यकारण भाव तथा वाच्यवाचकभाव आधारआधेयभाव, वध्यघातक भाव, आदि सम्बन्धोंके होनेपर भी उन ग्राह्यग्राहकभाव आदिका असत्त्व कहना विपर्यय है। उनमें संवेदनाद्वैतका आलम्बन करनेसे बौद्धको विपर्ययज्ञान हो रहा है। और पुरुषाद्वैतका सहारा लेनेसे ब्रह्मवादीके विपर्यय हो गया है। तथा शब्दाद्वैतका आश्रय पकड लेनेसे वैयाकरणके पक्षा विपर्यय हो गया है, जिससे कि ये

विद्यमान हो रहे ग्राह्यग्राहकभाव आदिका निषेध कर रहे हैं, यह समझ लेना चाहिये। उनके उस ज्ञानको विपर्ययपना तो ग्राह्यग्राहकभाव आदिकोंकी प्रतीतियोंसे सिद्धि हो जानेके कारण निर्णीत हो रहा है। किन्तु वे पण्डित अपने शास्त्रों और उपदेष्टाओंके वचनसे तिस प्रकार विपरीत (उल्टा) समझ बैठे हैं। इसकी चिकित्सा कष्टसाध्य है। अथवा उनके वचनसे ही उनका विपरीतपना भास जाता है। अपनेको वन्ध्यापुत्र कहनेके समान उनके वचनोंमें ही वदतो व्याघात दोष है।

तथा बहिरर्थे भिन्ने सति स(द्व)दसत्त्ववचनं विज्ञानांशमात्रकल्पनाद्विपर्ययः। परमार्थतो बहिरन्तश्च वस्तूनां सादृश्ये सति तदसत्त्ववचनं सर्ववैसादृश्यावलम्बनेन तथागतस्यैव विपर्ययः। सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्याबाधितस्य प्रमाणत्वसाधनेन सादृश्यस्य साधनात्। सत्यपि च कथंचिद्विशिष्टसादृश्ये तदसत्त्ववचनं सर्वथा सादृश्यावलम्बनात् सादृश्यैकान्तवादिनो विपर्ययः।

तथा भिन्न भिन्न बहिरंग अर्थोंके विद्यमान होनेपर भी उन एकान्तवादियोंके समान बौद्धोंके यहां भी विज्ञानके परमाणुस्वरूप क्षणिक अंशोंकी ही कल्पना कर लेनेसे उन बहिरंग अर्थोंके असत्त्वका कथन करना विपर्ययज्ञान है। और परमार्थरूपसे बहिरंग अन्तरंग वस्तुओंका सादृश्य होते हुए भी सबके विसदृशपनेका सहारा लेकर उस सादृश्यका असत्त्व कहना बुद्धके यहां ही विपर्यय प्रसिद्ध हो रहा है। क्योंकि बाधारहित हो रहे सादृश्य प्रत्यभिज्ञानका प्रमाणपना साधन करके वस्तुभूत सादृश्यकी सिद्धि हो चुकी है। इस एकान्तके विपरीत दूसरा एकान्त यों है कि सम्पूर्ण वस्तुओंमें कथंचित् विशिष्ट पदार्थोंकी ही अपेक्षासे हो रहे सादृश्यके होनेपर अथवा पदार्थोंमें कथंचित् वैसादृश्य होनेपर सर्वथा सादृश्य पक्षका सहारा ले लेनेसे उस वैसादृश्यका असत्त्व कहना यह सादृश्यको ही एकान्तसे कहनेकी टेव रखनेवाले पण्डितका विपर्यय है। तथा द्रव्यकी पहिले पीछे समयोंमें होनेवाली क्रमभावी पर्याय अथवा द्रव्यके सहभावी गुणोंमें द्रव्यकी अपेक्षा एकपना होते हुए भी सदृशपनेका अभिमान करना विपर्यय है। क्योंकि बाधाओंसे रहित हो रहे एकत्व प्रत्यभिज्ञान कर उनका एकपना साध दिया गया है। अतः एक द्रव्यमें या उसकी गुण और पर्यायोंमें उस एकपनेकी सत्ता प्रमाणसिद्ध है।

तथा सति द्रव्ये तदसत्त्ववचनं पर्यायमात्रावस्थानात्कस्यचिद्विपर्ययः। एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्याबाधितस्य प्रमाणत्वसाधनात्तत्सत्त्वसिद्धेः। पर्याये च सति तदसत्त्ववचनं द्रव्यमात्रास्थानादपरस्य विपर्ययः। भेदज्ञानादबाधितात्तत्सत्त्वसाधनात्।

तथा अनादिसे अनन्तकालतक ठहरनेवाली नित्यद्रव्यके सद्भूत होते सन्ते भी केवल पर्यायोंके अवस्थानका ही आसरा ले लेनेसे किसी बौद्ध विद्वान्के यहां उस द्रव्यका असत्त्व कहते रहना विपर्ययज्ञान है। क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे नहीं बाधे गये एकत्व प्रत्यभिज्ञानका प्रमाणपना

साथ देनेसे उस अन्वयी द्रव्यकी सत्ता सिद्ध हो चुकी है। तथा इसके प्रतिपक्षमें दूसरा विपर्यय यों है कि पर्यायोंके वास्तविक होनेपर भी केवल द्रव्यमात्रकी स्थिति बखाननेसे उन पर्यायोंका असत्व कहना किसी दूसरे एकान्तवादीका विपर्यय (मिथ्याटेक) है। क्योंकि स्थासले कोश भिन्न है। कोशसे कुशूल भिन्न है। पहिले ज्ञानसे दुसरा ज्ञान न्यारा है, इत्यादिक अबाधित हो रहे भेद-ज्ञानसे उन पर्यायोंके सद्भावको साध दिया गया है।

द्रव्यपर्यायात्मनि वस्तुनि सति तदसत्त्वाभिधानं परस्परभिन्नद्रव्यपर्यायवादाश्रयणादन्येषां तस्य प्रमाणतो व्यवस्थापनात्।

द्रव्य और पर्यायोंसे तदात्मक हो रही वस्तुके सद्भाव होनेपर भी फिर परस्परमें भिन्न हो रहे द्रव्य और पर्यायके पक्षपरिग्रहका आसरा लेनेसे उस द्रव्यपर्यायोंके साथ वस्तुके तदात्मक हो रहे-पनका असत्व कहना तो वादी अन्य नैयायिक या वैशेषिकोंका विपर्ययज्ञान है। क्योंकि उस द्रव्य और पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रही वस्तुकी प्रमाणोंसे व्यवस्था कराई जा चुकी है।

तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्यत्ववादालम्बनाद्वा तत्र विपर्ययः। सति ध्रौव्ये तदसत्त्वकथनमुत्पादव्ययमात्रांगीकरणात्केषांचिद्विपर्ययः कथंचित्सर्वस्य नित्यत्वसाधनात्। उत्पादव्ययोश्च सतोस्तदसत्त्वाभिनिवेशः शाश्वतैकान्ताश्रयणादन्येषां विपर्ययः। सर्वस्य कथंचिदुत्पादव्ययात्मनः साधनादेवं प्रतिवस्तुसत्त्वेऽसत्त्ववचनं विपर्ययः प्रपंचतो बुध्यतां।

अथवा बौद्धजनोंका ऐसा विचार है कि सम्पूर्ण पदार्थ अवक्तव्य हैं। सन्तान और सन्तानियोंका तत्पना और अन्यपना धर्म अवाच्य है। जैसे कि सत्व, एकत्व, आदिक सम्पूर्ण धर्म सत्, असत्, उभय, अनुभय इन चार कोटियोंद्वारा विचार करनेपर अनभिलाप्य हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि उस वस्तुका कथंचित् शब्दद्वारा वाच्यपना सिद्ध हो चुकनेपर भी वहां तत्त्व, अन्यत्व करके अवाच्यपनेके सिद्धान्तवादका आलम्बन कर लेनेसे अवक्तव्यका कथन करना सौगतोंका विपर्यय ज्ञान है। तथा संपूर्णपदार्थोंका कथंचित् ध्रुवपना होते सन्ते भी केवल उत्पाद और व्ययके स्वीकार कर लेनेसे उस ध्रुवपनका असत्व कहते रहना किन्हीं बौद्धोंके यहां मिथ्याज्ञान हो रहा है। क्योंकि कथंचित् यानी द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे सम्पूर्ण पदार्थोंका नित्यपना साध दिया गया है। पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाशके होते सन्ते भी इसके विपरीत अन्य सांख्योंके यहां भी यह मिथ्याज्ञान फैल रहा है, जो कि सर्वथा नित्य एकान्तका आश्रय कर लेनेसे उन उत्पाद और व्ययके असद्भावका आग्रह कर लेना यह सांख्योंका मिथ्याज्ञान है। कारण कि सम्पूर्ण पदार्थोंके पर्यायोंकी अपेक्षासे कथंचित् उत्पाद, व्यय, आत्मक स्वभावकी सिद्धि कर दी गयी है। इसी प्रकार अन्य भी प्रत्येक वस्तुके या उनके प्रतीत सिद्ध धर्मोंके सद्भाव होनेपर भी असत्व कह देना मिथ्याज्ञान है।

इस प्रकार कुश्रुतज्ञानरूप विपर्ययको विस्तारसे समझ लेना चाहिये। ग्रन्थका विस्तार हो जानेसे अनेक विपर्ययोंको यहां नहीं लिखा गया है।

जीवे सति तदसत्त्ववचनं चार्वाकस्य विपर्ययस्तत्सत्त्वस्य प्रमाणतः साधनात्। अजीवे तदसत्त्ववचनं ब्रह्मवादिनो विपर्ययः। आस्रवे तदसत्त्ववचनं च बौद्धचार्वाकस्यैवं संवरे, निर्जरायां, मोक्षे च तदसत्त्ववचनं याज्ञिकस्य विपर्ययः। पूर्वमेव जीववदजीवादीनां प्रमाणतः प्ररूपणात्।

ज्ञान, सुख आदि गुणोंके साथ तन्मय हो रहे जीव पदार्थके सत्त्व होनेपर फिर उस जीवका असद्भाव कहना चार्वाकके यहां हो रहा विपर्ययज्ञान है। क्योंकि उस जीवकी सत्ताको प्रमाणोंसे साधा जा चुका है। तथा घट, पट, पुस्तक आदि अजीव पदार्थोंके सद्भाव होनेपर उन अजीव पदार्थोंका असत्त्व कहते जाना ब्रह्माद्वैतवादीका विपर्यय ज्ञान है और आस्रवतत्त्वके होनेपर उस आस्रवका असत्त्व कहते चले जाना बौद्ध और चार्वाकोंकी बुद्धिमें विपर्यय हो रहा है। इसी प्रकार संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वके होनेपर भी उनका असत्त्व निरूपण करना यज्ञको चाहनेवाले मीमांसकोंका विपर्यय ज्ञान है। क्योंकि पूर्व प्रकरणोंमें ही जीवतत्त्वके समान अजीव, आस्रव, आदिकोंका प्रमाणोंसे निरूपण किया जा चुका है।

विशेषतः संसारिणि मुक्ते च जीवे सति तदसत्त्ववचनं विपर्ययः। जीवे पुद्गले धर्मेऽधर्मे नभसि काले च सति तदसत्त्ववचनं।

सामान्यरूपसे जीवतत्त्वको नहीं माननेपर चार्वाकके हो रहा विपर्ययज्ञान है। किन्तु जीवके भेद, प्रभेदरूपसे संसारी जीवों या मुक्त जीवोंके विद्यमान होनेपर भी उन संसारी जीवोंका या मुक्त जीवोंका असत्त्व कहना एकान्तवादियोंका विपर्यय है। मस्करी मतवादी मुक्त जीवका मोक्षसे पुनः आगमन मानते हैं। कोई वादी मुक्तजीवोंको संसारी जीवोंसे न्यारा नहीं मानते हैं। अद्वैतवादी तो नाना संसारी जीवोंको ही स्वीकार नहीं करते हैं। " ब्रह्मैव सत्यमखिलं न हि किंचिदस्ति "। इसी प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल, इन विशेष द्रव्योंके होनेपर पुनः उनका असत्त्व कहना विपर्ययज्ञान है। अथवा सामान्यरूपसे अजीवको मान लेनेपर भी विशेषरूपसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालके होते हुये भी उन विशेष अजीव तत्त्वोंका असत्त्व कहना किन्हीं वादियोंके विपर्ययज्ञान हो रहा है।

तत्र पुण्यास्रवे पापास्रवे च पुण्यबन्धे पापबन्धे च देशसंवरे सर्वसंवरे च यथाकालं निर्जरायामौपक्रमिकनिर्जरायां च आर्हन्त्यमोक्षे सिद्धत्वमोक्षे च सति तदसत्त्ववचनं कस्यचिद्विपर्ययस्तत्सत्त्वस्य पुरस्तात् प्रमाणतः साधनात्।

उन अजीव आदि पदार्थोंमें विशेषरूपसे पुण्यास्रव और पापास्रवके होते सन्ते तथा पुण्य बन्ध और पापबन्धके होते हुये एवं एकदेश संवर और सर्वदेशतः संवरके होते सन्ते भी तथा यथायोग्य अपने नियत कालमें हो रही निर्जरा और भविष्यमें उदय आनेवाले कर्मोंको बलात्कारसे वर्तमान उदकममें लाकर की गयी निर्जरा, इन तत्त्वोंके होनेपर भी एवं तेरहवें, चौदहवेंमें गुणस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिकी उदय अवस्थामें जीवन्मुक्तनामक अर्हन्तपनास्वरूप मोक्षतत्त्व और अष्टकर्मोंसे सर्वथा रहित सिद्धपनास्वरूप परममोक्ष तत्त्वके प्रमाणोंसे सिद्ध होनेपर भी उन पुण्यास्रव आदिकोंका असत्त्व कथन करते रहना किसी एक चार्वाकवादीको विपर्ययज्ञान हो रहा है। मिथ्याज्ञानके अनुसार ही ऐसे तत्त्व विपरीत रूपसे कथन किये जा सकते हैं। हां, यह विपर्ययज्ञान क्यों है ? इसका उत्तर इतना ही पर्याप्त है कि उन पुण्यास्रव आदि तत्त्वोंकी सत्ताका पहिले प्रकरणोंमें प्रमाणों द्वारा साधन किया जा चुका है।

एवं तद्भेदेषु प्रमाणसिद्धेषु सत्सु तदसत्त्ववचनं विपर्ययो बहुधावबोद्धव्यः परीक्षाक्षमधिषणैरित्यलं विचारेण ।

इसी प्रकार उन जीव आदिकोंके भेदप्रभेदरूप अनेक तत्त्वोंके प्रमाणोंसे सिद्ध हो चुकनेपर उनका सद्भाव होते सन्ते भी पुनः मिथ्यात्ववश उनका असत्त्व कथन करना, इस ढंगके बहुत प्रकारके विपर्ययज्ञान उन पुरुषोंके द्वारा समझ लेना चाहिये, जिनकी बुद्धि तत्त्व और तत्त्वाभासोंकी परीक्षा करनेमें समर्थ है। संक्षेपसे कहनेवाले इस प्रकरणमें मिथ्यापनके अवान्तर असंख्य भेदोंको कहांतक गिनाया जाय। इस कारण विपर्ययपनके विचारसे इतने ही करके पूरा पड़ो। बुद्धिमानोंके प्रति आहार्य कुश्रुतके कतिपय भेदोंका उपलक्षणसे निदर्शन कर दिया गया है।

पररूपादितोशेषे वस्तुन्यसति सर्वथा ।
सत्त्ववादः समाम्नातः पराहार्यो विपर्ययः ॥ १६ ॥

स्वरूपचतुष्टयसे पदार्थोंका सद्भाव होनेपर उनका असत्त्व कहना ऐसा " तद्वति तदभावप्रकारकज्ञानं विपर्ययः " तो कह दिया है। अब " तदभाववति तत्प्रकारकज्ञानं विपर्ययः " इसको कहते हैं। पररूप यानी परकीय भाव, द्रव्य, क्षेत्र आदिसे संपूर्ण पदार्थोंके असद्भाव होनेपर उनका सर्वथा सद्भाव मानते जाना दूसरा आहार्य विपर्यय भले प्रकार ऋषि आम्नायसे माना हुआ चला आ रहा है। भावार्थ—जैसे कि जलपर्याय हो जानेपर उस पुद्गलकी अग्निपर्याय उस समय नहीं है, फिर भी " सर्वं सर्वत्र विद्यते " इस आग्रहको पकड़कर सरोवरमें अग्निकी सत्ता कहना सांख्योंका विपर्ययज्ञान है। इस विपर्यय अनुसार किसीको चोरी या व्यभिचारका दोष नहीं लगना चाहिये। जब कि सभी स्त्रियां या वस्तुयें पूर्वजन्मोंमें सब जीवोंकी हो चुकी हैं। भोजन या पेय

पदार्थमें रक्त, मांस, मल, मूत्र, आदि भावी पर्यायें यदि विद्यमान हैं तो किसी भी पदार्थका खाना पीना नहीं हो सकेगा। बडी अव्यवस्था मच जायगी एवं संसारी जीवोंकी वर्तमानमें मुक्त अवस्था नहीं होते हुए भी जीवको सर्वदा मुक्त मानते हुए प्रकृतिको ही संसार होना कहना कापिलोंका विपर्यय है।

पररूपद्रव्यक्षेत्रकालतः सर्ववस्त्वसत्तत्र कात्स्न्र्यतः सत्त्ववचनमाहार्यो विपर्ययः। सत्त्वैकान्तावलम्बनात्कस्यचिदित्यवसेयः। प्रमाणतस्तथा सर्वस्यासत्त्वसिद्धेः।

सबसे न्यारे अन्य पदार्थोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल भावोंकी अपेक्षासे सम्पूर्ण वस्तुएं असत् हैं। घटके देश, देशांश, गुण, और गुणांशोंकी अपेक्षा पट विद्यमान नहीं है। आत्माके स्वचतुष्टयकी अपेक्षासे घट पदार्थ असत् है। फिर भी वहां परिपूर्णरूपसे विद्यमानपनेका कथन करना दूसरा आहार्य विपर्ययज्ञान है। " सर्वं सत् " सम्पूर्ण पदार्थोंकी सर्वत्र सत्ताके एकान्त पक्षका अवलम्ब लेनेसे किसी एक ब्रह्माद्वैतवादी या सदेकान्तवादी पण्डितके यहां हो रहा उक्त विपर्ययज्ञान समझ लेना चाहिये। क्योंकि प्रमाण ज्ञानोंसे तिस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंका सर्वत्र नहीं विद्यमानपना सिद्ध है। अर्थात्-आत्मा घटस्वरूपकरके विद्यमान नहीं है। और आकाश आत्मपनेकरके कहीं भी नहीं वर्त रहा है। परकीय रूपोंकरके किसी भी पदार्थकी कहीं भी सत्ता नहीं है।

देशतोऽसतोऽसति सत्त्वविपर्ययमुपदर्शयति।

परकीय चतुष्टयसे सम्पूर्ण वस्तुओंके असत् होनेपर परिपूर्णरूपसे सत्त्व कथन करनेवाले आहार्य ज्ञानको अभी कह चुके हैं। अब एक देशसे असत् पदार्थका अविद्यमान पदार्थमें विद्यमानपनका कथन करनेवाले विपर्यय ज्ञानको ग्रन्थकार दिखलाते हैं।

सत्यसत्त्वविपर्यासाद् वैपरीत्येन कीर्तितात्।
प्रतीयमानकः सर्वोऽसति सत्त्वविपर्ययः॥ १७॥

पहिले ग्यारहवीं कारिका द्वारा सत् पदार्थमें असत्पनेका विपर्ययज्ञान बताया जा चुका है। उस कहे गये विपर्ययज्ञानसे विपरीतपनेकरके प्रतीत किया जारहा यह असत् पदार्थमें सत्पनेको कहनेवाला सभी विपर्ययज्ञान है। भावार्थ—ग्यारहवीं वार्तिकसे पन्द्रहवीं वार्तिकतक पहिले सत्में असत्को कहनेवाला विपर्ययज्ञान कहा जा चुका है। किन्तु असत्में पूर्णरूपसे या एक देशसे सत्पनेको जाननेवाला यह विपर्ययज्ञान पूर्वोक्तसे विपरीत (विभिन्न) है। सत्को असत् कहनेवाली पहिली प्रक्रियाको विपरीत (उलटा) कर यहां असत्को सत् कहनेवाली प्रक्रियामें सभी घटित कर सकते हो।

सति ग्राह्यग्राहकभावादौ संविदद्वैताद्यालम्बनेन तदसत्त्ववचनलक्षणाद्विपर्ययात्पूर्वोक्ताद्विपरीतत्वेनासति प्रतीत्यारूढे ग्राह्यग्राहकभावादौ सौत्रान्तिकाद्युपवर्णिते सत्त्ववचनं विपर्ययः प्रपंचतोऽववोद्धव्यः ।

ग्राह्यग्राहकभाव, कार्यकारणभाव, व्याप्यव्यापकभाव, सूक्ष्मस्थूलभाव, सामान्यविशेषभाव, आदिक धर्मोंके होनेपर भी सम्वेदन अद्वैत, ब्रह्म अद्वैत, शब्द अद्वैत, आदिका पक्ष ग्रहण कर लेनेसे उन ग्राह्यग्राहकभाव आदिकी असत्ताको कथन करना इस प्रकार लक्षणवाले पूर्वमें कहे गये विपर्यय ज्ञानसे यह निम्नलिखित आहार्य ज्ञान विपरीत हो करके प्रसिद्ध है । सौत्रान्तिक, बौद्ध, नैयायिक, मीमांसक, जैन आदि विद्वानोंकरके कथन किये गये ग्राह्यग्राहकभाव, कार्यकारणभाव, वाच्यवाचक भाव, आदि धर्मोंके प्रतीतिमें आरूढ नहीं होते सन्ते भी पुनः उनकी सत्ताका कथन करना विपर्ययज्ञान है । यह परमतकी अपेक्षा कथन है । अद्वैतवादियोंके शास्त्रोंमें असत्को सत् कहनेवाले ज्ञान विपर्ययरूपसे माने गये हैं । अन्य भी दृष्टान्त देकर विस्तारसे असत्में सत्को जाननेवाले ज्ञान विपर्यय समझ लेने चाहिये । यहां भी पूर्वोक्त रचनाके समान असत् पदार्थमें पूर्णसे और एकदेशसे सत्त्ववाद लगाकर दृष्टान्त बना लेने चाहिये । सम्पूर्ण पदार्थ सर्वथा नित्य नहीं हैं । उनको अपने शास्त्रों द्वारा सर्वथा नित्य कहे जाना तथा आत्माका आकाशके समान परम महापरिमाण नहीं होते हुये भी इनको सर्वत्र व्यापक कहनेवाले शास्त्रोंपर श्रद्धान कर वैसा जानना आदि विपर्ययज्ञान हैं । सुदेव सुगुरुके नहीं होते हुये भी कुदेव और कुगुरुमें सुदेव सुगुरुपनेका निश्चय कर बैठना श्रुतविपर्यय है ।

एवमाहार्यं श्रुतविपर्ययमुपदर्श्य श्रुतसंशयं श्रुतानध्यवसायं चाहार्यं दर्शयति ।

इस प्रकार उक्त ग्रन्थद्वारा श्रुतज्ञानके आहार्य हो रहे विपर्ययस्वरूप मिथ्याज्ञानको दिखलाकर अब श्रुतज्ञानके आहार्यसंशयको और श्रुतज्ञानके यों ही मन चले होनेवाले आहार्य अनध्यवसायको श्री विद्यानन्द आचार्य दिखलाते हैं, सो सुनिये । "बाधकालीनोत्पन्नेच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यं" ।

> सति त्रिविप्रकृष्टार्थे संशयः श्रुतिगोचरे ।
> केषांचिद्दृश्यमानेऽपि तत्त्वोपप्लववादिनाम् ॥ १८ ॥
> तथानध्यवसायोऽपि केषांचित्सर्ववेदिनि ।
> तत्त्वे सर्वत्र वाग्गोचराहार्यो ह्यवगम्यताम् ॥ १९ ॥

देश, काल, स्वभाव इन तीनसे व्यवहित हो रहे अर्थके शास्त्रद्वारा विषय किये जानेपर अथवा किन्हीं अतीन्द्रियदर्शी विद्वानोंकी आत्मामें प्रत्यक्षज्ञानके विषय किये जानेपर त्रिविप्रकृष्ट पदा-

र्थोंका सद्भाव होते हुए भी बौद्धवादियोंके यहां उन त्रिविप्रकृष्ट अर्थोंमें जो संशय ज्ञान हो रहा है, वह आहार्य संशयज्ञानरूप श्रुतज्ञान है। तथा किन्हीं तत्त्वोपप्लववादी विद्वानोंके यहां प्रत्यक्ष ज्ञानद्वारा देखे जा रहे पृथ्वी, जल, आदि पदार्थोंमें भी तत्त्वोंके उपप्लव (अव्यवस्थित) वादका आग्रह जम जानेसे शास्त्रोंद्वारा संशयज्ञान करा दिया जाता है। अर्थात्–बौद्ध विद्वान् त्रिविप्रकृष्ट पदार्थोंके सद्भाव का निर्णय नहीं करते हैं। तथा अपने शास्त्रोंद्वारा सुमेरु, स्वयम्भूरमण, राम, रावण, परमाणु, आकाश, आदि पदार्थोंका सर्वथा निषेध भी नहीं करते हैं। अदृष्ट पदार्थोंमें एकान्तरूपसे संशय ज्ञानको करा रहे हैं, " एकांतनिर्णयात् वरं संशयः "। हार जाना, अपमान हो जाना, अनुत्तीर्ण होना, इत्यादिक कार्योंमें एकांतनिर्णयसे संशय बना रहना कहीं अच्छा है ", इस नीतिके अनुसार संशयवादी-बौद्धोंने त्रिविप्रकृष्ट अर्थमें अपने शास्त्रोंके अनुसार संशय ज्ञान कर लिया है। और तत्त्वोपप्लववादियोंने स्वकीयशास्त्रजन्य मिथ्यावासनाद्वारा प्रत्यक्ष योग्य पदार्थोंमें भी संशयज्ञान ठान लिया है। तिसी प्रकार किन्हीं विद्वानोंके यहां सर्वज्ञ तत्त्वके विषयमें संशयज्ञान और अनध्यवसाय ज्ञान भी हो रहा है। " सर्वज्ञ है या नहीं " इस विषयका अभीतक उनको शास्त्रोंमें संशय रखना ही उपदिष्ट किया है। कोई कोई तो सर्वज्ञका अज्ञानसरीखा अनध्यवसायज्ञान होना अपने शास्त्रोंमें मान बैठे हैं। नास्तिकवादी या विभ्रमैकान्तवादी तो सभी तत्त्वोंमें अनध्यवसाय नामका मिथ्याज्ञान किये बैठे हैं। उक्त कहे गये सभी श्रुतज्ञानके संशय, विपर्यय, अनध्यवसायोंमें वचनके द्वारा विषय हो रहा। आहार्यज्ञान कहा गया है, यह समझ लेना चाहिये। क्योंकि वक्ता या शास्त्र ही शब्दों द्वारा कहे जाने योग्य श्रुतज्ञानको मिथ्याज्ञानियोंके प्रति जताकर उपदिष्ट कर सकता है। लिखित या उक्त वचनोंके विना बाबाकालमें हुई इच्छासे उत्पन्न होनेवाला आहार्यज्ञान बन नहीं सकता है।

श्रुतविषये देशकालस्वभावविप्रकृष्टेऽर्थे संशयः सौगतानामदृश्यसंशयैकान्तवादावलम्बनादाहार्योऽवसेयः। पृथिव्यादौ दृश्यमानेऽपि संशयः केषांचित्तत्त्वोपप्लववादावष्टंभात्। सर्ववेदिनि पुनः संशयोऽनध्यवसायश्च केषांचिद्विपर्ययवादाहार्योऽवगम्यतास् सर्वज्ञाभाववादावलेपात्सर्वत्र वा प्रत्ये केषांचिदन्योऽनध्यवसायः। संशयविपर्ययवत् "तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नासौ मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं। धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः" इति प्रलापमात्राश्रयणात्। तथा प्रलापिनां स्वोक्तानवस्थानात् तत्प्रतिष्ठाने वा तथा वचनविरोधादित्युक्तप्रायं।

सर्वज्ञोक्त श्रुतद्वारा विषय किये गये देशव्यवहित, कालव्यवहित, और स्वभावव्यवहित अर्थोंमें बौद्ध जनोंको अदृश्य हो रहे पदार्थमें संशय होनेके एकान्तवादका पक्ष ग्रहण कर लेनेसे आहार्य श्रुतसंशय हो रहा समझ लेना चाहिये। तथा परिदृश्यमान भी पृथ्वी आदि तत्त्वोंमें किन्हीं किन्हीं विद्वानोंके यहां तत्त्वोपप्लववादका कदाग्रह हो जानेसे संशयज्ञान बन बैठता है। फिर प्रमाण सिद्ध सर्वज्ञमें किन्हीं मीमांसकोंके एकदेशी पण्डितोंके यहां सर्वज्ञाभावको कहनेवाले पक्षका गाढ लेप

हो जानेसे विपर्यय ज्ञानके समान संशय और अनध्यवसाय अज्ञान भी आहार्य हो रहे जान लेने चाहिये। अथवा " सर्वत्रैदिनि तत्त्वे " का अर्थ सर्वज्ञ नहीं कर ज्ञानके द्वारा जाने जा रहे सम्पूर्ण तत्त्व इस प्रकार अर्थ करनेपर यों व्याख्यान कर लेना कि सम्पूर्ण जीव, पुद्गल आदि तत्त्वोंके प्रमाणसिद्ध होनेपर किन्हीं लौकायतिक या तीव्र मिथ्यादृष्टिके यहां इस वक्ष्यमाण कोरे प्रलाप (बकवाद) का मात्र आसरा ले लेनेसे संशय और विपर्ययके समान अन्य अनध्यवसाय ज्ञान भी सम्पूर्ण तत्त्वोंके विषयमें उपज जाता है। यह मूर्ख अधार्मिक, नास्तिक, जनोंका निरर्थक वचन इस प्रकार है कि तर्कशास्त्र या अनुमान कोई सुव्यवस्थित नहीं है, जिससे कि तत्त्वोंका निर्णय किया जाय। नित्यपन अनित्यपन आदिके समर्थन करनेके लिये दिये गये कापिल, बौद्ध आदिके अनुमानोंका परस्परमें विरोध है। वेदकी श्रुतियां भी परस्परविरुद्ध हिंसा, अहिंसा, सर्वज्ञ, सर्वज्ञाभाव, विधि, नियोग, भावना आदि विभिन्न अर्थोंको कह रहीं हैं। कोई बौद्ध (बुद्ध) कणाद, कपिल, अथवा जिनेन्द्र आदिक ऐसा मुनि नहीं हुआ, जिसके कि वचन प्रमाण मान लिये जांय। धर्मका तत्त्व अंधेरी गुफामें छिपा हुआ रखा है। अतः बडे बडे महान् पुरुष जिस मार्गसे जा चुके हैं वही मार्ग है। महाभारत ग्रन्थमें वेदव्यासजीने " कः पन्थाः " इस प्रकार राक्षसके जल पी लेनेकी शर्तमें प्रश्न करनेपर युधिष्ठिरके द्वारा " तर्कोऽप्रतिष्ठः " यह श्लोक कहलाया है। चार्वाक सिद्धान्त अनुसार तिस प्रकार प्रलाप करनेवालोंके यहां अपने द्वारा कहे गये तत्त्वकी भी प्रतिष्ठा नहीं हो पाती है। अथवा फिर भी अपने अभीष्ट हो रहे उन पृथ्वी, आदिक दृश्य तत्त्वोंको ही मानना परलोक, आत्मा, पुण्य, पाप, आदिको नहीं मानना इस सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा करोगे जो कि तर्क,-शास्त्र (बृहस्पति सूत्र) बृहस्पति, लौकिक धर्म, लोकप्रसिद्धव्याप्तिके मान लेनेपर ही पुष्ट होता है। तब तो तिस प्रकारके तर्कनिषेध, शास्त्रनिषेध, आप्तमुनिनिषेध, और धर्मकी प्रच्छन्नता, इस अपने वचनका विरोध हो जायगा, इस बातको हम प्रायः अनेक बार कह चुके हैं। यहां यह कहना है कि नास्तिकवादकी ओर झुकानेवाले उक्त प्रलापमात्रका अवलम्ब लेकर कोई कोई पुरुष जीव, अजीव, स्वर्ग, पुण्य, पाप, तपस्या, मोक्ष, आदि तत्त्वोंमें आहार्य श्रुत अनध्यवसाय नामक कुज्ञानको चलाकर उत्पन्न कर लेते हैं, जैसे कि आहार्यसंशय और विपर्ययस्वरूप कुश्रुतज्ञान प्रसिद्ध हैं।

सम्प्रति मतिज्ञानविपर्ययसहजमावेदयति।

श्रुत अज्ञानके बलात्कारसे चलाकर इच्छापूर्वक होनेवाले विपर्यय, संशय, और अनध्यवसायको उदाहरणपूर्वक दिखाकर अब वर्तमानमें मतिज्ञानके परोपदेश बिना ही स्वतः होनेवाले सहज विपर्ययका स्पष्टज्ञान आचार्य महाराज कराते हैं, सो समझियेगा।

बह्वाद्यवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशत्सु वित्तिषु।
कुतश्चिन्मतिभेदेषु सहजः स्याद्विपर्ययः॥ २०॥

बहु, अबहु आदि बारह विषयभेदोंको जाननेवाले अवग्रह, ईहा, आदि चार ज्ञानोंकी अपेक्षासे हुयीं अडतालीस मतिज्ञानकी भेदस्वरूप बुद्धियोंमें किसी भी कारणसे निसर्गजन्य विपर्यय ज्ञान हो जाता है। जैसे कि आंखके पलकमें थोडी अंगुली गाढकर देखनेसे एक चन्द्रमाके दो चन्द्रमा दीखने लग-जाते हैं। टेरी हथेलीपर चनाके बराबर गोलीको रखकर सीधे हाथकी तर्जनीपर मध्यमा अंगुलीको चढाकर दोनों अंगुलियोंके पोटुओंके अग्रभागसे गोलीको घुमानेपर स्पार्शन प्रत्यक्षद्वारा एक गोलीकी दो गोलियां जानी जाती हैं। चाकचक्य, कामल, ऊर्मीके वश होकर नेत्रों द्वारा सीपमें चांदीका ज्ञान, शुक्ल पदार्थको पीला समझना, स्थिर पदार्थोंका घूमते हुये दर्शन होना आदिक सहज कुमतिज्ञान हैं। परोपदेशके अतिरिक्त अन्य कारणोंसे उपज जाना "निसर्गज" कहलाता है। यों कारणके विना तो कोई भी कार्य नहीं हो पाता है। सहज और आहार्य शब्द अन्य दर्शनोंमें प्रसिद्ध हैं।

स्मृतावननुभूतार्थे स्मृतिसाधर्म्यसाधनः ।
संज्ञायामेकताज्ञानं सादृश्ये स्थूलदर्शिनः ॥ २१ ॥

सूत्रकारने स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता (व्याप्तिज्ञान) और स्वार्थानुमान भी मतिज्ञानके प्रकार बतलाये हैं। अतः स्मृति आदिकोंका भी सहज विपर्ययज्ञान इस प्रकार समझ लेना कि पहिले कालोंमें नहीं अनुभव किये जा चुके अर्थमें स्मरण किये गये पदार्थके समानधर्मपनेको कारण मानकर स्मृति हो जाना, स्मरणज्ञानका सहजविपर्यय है। जैसे कि अनुभव किये गये देवदत्तके समान धर्मवाले होनेके कारण जिनदत्तमें देवदत्तकी स्मृति कर बैठना सहज कुस्मृतिज्ञान है। और संज्ञास्वरूप प्रत्यभिज्ञानमें यों समझिये कि स्थूलदृष्टिवाले पुरुषको सदृशता होनेपर एकताका ज्ञान हो जाना प्रत्यभिज्ञानका सहजविपर्यय है। जैसे कि समान आकृतिवाले दो भाइयोंमेंसे इन्द्रदत्तके सदृश जिनचन्द्रमें " यह वही इन्द्रदत्त है " इस प्रकार एकत्व प्रत्यभिज्ञान हो जाता है, यह एकत्वप्रत्यभिज्ञानका सहजविपर्यय है।

तथैकत्वेऽपि सादृश्यविज्ञानं कस्यचिद्भवेत् ।
स विसंवादतः सिद्धश्चिंतायां लिङ्गलिङ्गिनोः ॥ २२ ॥

तथा एकपना होते हुये भी किसी मिथ्याज्ञानी जीवके सदृशपनेको जाननेवाला प्रत्यभिज्ञान हो जाय वह सादृश्यप्रत्यभिज्ञानका विपर्यय है। जैसे कि उसी इन्द्रदत्तको इन्द्रदत्तके सदृश जिनचन्द्र समझ लेना। यों भ्रान्तिज्ञान हो जानेके अनेक कारण हैं। उनके द्वारा उक्त विपर्ययज्ञान उपज जाते हैं। तथा साधन और साध्यके सम्बन्धमें बाधासहितपन या निष्फलप्रवृत्तिका जनकपन रूप विसम्वाद हो जानेसे तर्कज्ञानमें वह विपर्ययज्ञान हो जाना प्रसिद्ध है। जैसे कि गर्भमें स्थित हो

रहे पांचवें पुत्रका गौरवर्ण (गोरा रंग) होते हुये भी " जितने कुछ मित्रा स्त्रीके पुत्र हैं वे सब श्याम हैं " इस प्रकार दृश्यमान चार पुत्रोंके अनुसार व्याप्ति बना लेना कुत्सितज्ञान है। जहां जहां अग्नि होती है, वहां वहां धूम होता है, यह भी अयोगोलक या अंगारमें विसम्वाद हो जानेसे व्याप्तिज्ञानका विपर्यय है।

हेत्वाभासबलाज्ज्ञानं लिङ्गिनि ज्ञानमुच्यते।
स्वार्थानुमाविपर्यासो बहुधा तद्धियां मतः॥ २३॥

हेतु नहीं किन्तु हेतुसमान दीखरहे हेत्वाभासोंकी सामर्थ्यसे जो साध्यविषयक ज्ञान हो रहा कहा जाता है, वह बहुत प्रकारका उस अनुमानको जाननेवाले विद्वानोंके यहां स्वार्थानुमानका विपर्यय माना गया है। जब कि भेदप्रभेद रूपसे बहुत प्रकारके हेत्वाभास हैं, तो तज्जन्य अनुमानाभास बहुत प्रकारके होंय यह समुचित ही है। जैसे कि वक्तापन इस असद्धेतुसे श्री अर्हत देवमें सर्वज्ञपनके अभावको जान लेना अनुमानस्वरूप मतिज्ञानका विपर्यास है। अर्हन् (पक्ष) सर्वज्ञो नास्ति (साध्यदल) वक्तृत्वात्, पुरुषत्वाद्वा (हेतु) रथ्यापुरुषवत् (दृष्टान्त) इत्यादिक।

कः पुनरसौ हेत्वाभासो यतो जायमानं लिङ्गिनि ज्ञानं स्वार्थानुमानविपर्ययः सहजो। मतिः स्मृतिसंज्ञाचिन्तानामिव स्वविषये तिमिरादिकारणवशादुपगम्यते, इति पर्यनुयोगे समासव्यासतो हेत्वाभासमुपदर्शयति।

यहां शिष्यका श्री विद्यानन्दगुरुजी महाराजके प्रति सविनय प्रश्न है कि महाराज बतलाओ वह हेत्वाभास फिर क्या पदार्थ है? जिससे कि साध्यको जाननेमें उत्पन्न हो रहा ज्ञान स्वार्थानुमानका सहज विपर्यय कहा जाय? और जो मतिज्ञान, स्मरणज्ञान, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान, इनके समान यह स्वार्थानुमानका विपर्यय भी अपने विषयमें तमारा, कामल आदि कारणोंके वशमें हो रहा स्वीकार करलिया जाय। इस प्रकार प्रतिपाद्यका समीचीन प्रश्न होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य संक्षेप और विस्तारसे हेत्वाभासका प्रदर्शन कराते हैं।

हेत्वाभासस्तु सामान्यादेकः साध्याप्रसाधनः।
यथा हेतुः स्वसाध्येनाविनाभावी निवेदितः॥ २४॥

सामान्यस्वरूपसे विचारा जाय तब तो " साध्यको बढिया रीतिसे नहीं साधनेवाला हेतु " यह एक ही हेत्वाभास कहा गया है। जैसे कि अपने साध्यके साथ अविनाभाव रखनेवाला सद्धेतु एक ही प्रकारका निवेदन किया गया है। अर्थात्—साध्यके साथ अविनाभावीपन करके निर्णीत किया गया जैसे सामान्य रूपसे सद्धेतु एक प्रकार है, उसी प्रकार अपने साध्यको अच्छे ढंगसे नहीं साधनेवाला हेत्वाभास भी एक प्रकारका है। यही हमारा ग्रन्थकारका सिद्धान्त है।

त्रिविधोऽसावसिद्धादिभेदात्कैश्चिद्विनिश्चितः ।
स्वरूपाश्रयसंदिग्धाज्ञातासिद्धश्चतुर्विधः ॥ २५ ॥

हां, किन्हीं जैन विद्वानोंकरके वह हेत्वाभास असिद्ध, विरुद्ध, और अनैकान्तिक इन भेदोंसे तीन प्रकारका विशेषरूपसे निश्चित किया गया है। तिनमें असिद्ध नामका हेत्वाभास तो स्वरूपासिद्ध, आश्रयासिद्ध, संदिग्धासिद्ध और अज्ञातासिद्ध इन भेदोंसे चार प्रकारका माना गया है। अस्तु।

तत्र स्वरूपतोऽसिद्धो वादिनः शून्यसाधने ।
सर्वो हेतुर्यथा ब्रह्मतत्त्वोपप्लवसाधने ॥ २६ ॥

उन असिद्ध हेत्वाभासके भेदोंमें वादीके यहां स्वरूपसे असिद्ध हो रहा हेत्वाभास इस प्रकार है- कि जैसे शून्यवादको साधनेमें सभी हेतु स्वरूपासिद्ध हो जाते हैं। अथवा अद्वैत ब्रह्मको साधनेमें दिया गया प्रतिभासमानत्व हेतु अपने स्वरूपसे असिद्ध है। साध्यके साथ अविनाभाव रखते हुये हेतुका पक्षमें ठहरना स्वरूप है। जो कि अभावरूपत्व, अविचार्यमाणत्व, प्रतिभासमानत्व हेतुओंमें नहीं घटित होता है। तत्त्वोपप्लववादियों द्वारा तत्त्वोंका विचारके उत्तर कालमें च्युत हो जानेपनको साधनेके लिये प्रयुक्त किये गये सभी हेतु स्वरूपासिद्ध हैं। अर्थात्-विचार करनेपर निर्दोष कारकोंके समुदायकरके उत्पत्ति हो जानेसे, बाधारहितपनेसे, प्रवृत्ति सामर्थ्यसे, अथवा अन्य प्रकारोंसे, प्रमाण तत्त्व व्यवस्थित नहीं हो पाता है। प्रमाणके विना प्रमेयतत्त्वोंकी व्यवस्था नहीं। अतः तत्त्वोपप्लव सिद्धान्त व्यवस्थित है। यह उपप्लववादियोंका अविचार्यमाणत्व हेतु प्रमाण, प्रमेय, आदि तत्त्वोंमें नहीं विद्यमान है। या विचार्यमाणत्व हेतु तत्त्वोपप्लवमें घटित नहीं होता है। अतः स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। पक्षे हेत्वभावः स्वरूपासिद्धिः ॥

सत्त्वादिः सर्वथा साध्ये शब्दभंगुरतादिके ।
स्याद्वादिनः कथंचिन्न सर्वथैकान्तवादिनः ॥ २७ ॥

बौद्धोंके द्वारा शब्दमें सर्वथा क्षणभङ्गुरपना, अणुपना, असाधारणपना, आदिके साध्य करनेपर दिये गये सत्त्व, कृतकत्व, आदिक हेतु स्वरूपासिद्ध हैं। सभी प्रकारोंसे क्षणिकपन, अणुपन, असाधारणत्वके एकान्तपक्षका कथन करनेवाले बौद्धोंके वे हेतु असद्धेतु हैं। हां, कथंचित् क्षणिकपन आदिको साध्य करनेके लिये दिये गये स्याद्वादियोंके यहां सत्त्व आदिक हेतु तो स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं हैं, किन्तु समीचीन हेतु हैं।

शब्दाद्भिन्नस्वराद्धेतुसाध्ये चाऽकृतकादयः ।
हेतवोऽसिद्धतां यान्ति बौद्धादेः प्रतिवादिनः ॥ २८ ॥

बौद्ध नैयायिक आदि प्रतिवादियोंके यहां हेतु द्वारा शब्दका विनश्वरपना साध्य करनेमें बोले गये अकृतकपन, प्रत्यभिज्ञायमानत्व आदिक हेतु असिद्धपनेको प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात्–शब्दके विनश्वरपनकी अपेक्षा कर (ल्यप् लोपे पञ्चमी) प्रयुक्त किये गये अकृतकपन आदि हेतु तो प्रतिवादियोंके असिद्ध हेत्वाभास हैं। शब्दमें नित्यपना सिद्ध करनेके लिये बौद्धोंके प्रति यदि अकृतकपन हेतु कहा जायगा, तो बौद्ध उस हेतुको स्वरूपासिद्ध ठहरा देवेंगे।

जैनस्य सर्वथैकान्तधूमवत्त्वादयोऽग्निषु।
साध्येषु हेतवोऽसिद्धा पर्वतादौ तथाग्नितः ॥ २९ ॥

पर्वत, महानस आदि पक्षोंमे अग्नियोंके साध्य करनेपर सर्वथा एकान्तरूपसे धूमसहितपन सर्वथा उष्णसहितपन आदिक हेतु तो जैनोंके यहां असिद्ध हेत्वाभास हो जाते हैं। क्योंकि पर्वत सभी अवयवोंमें एकान्तरूपसे धूमवाला नहीं है। सच पूछो तो अखंड रेखावाला धूम तो पर्वतके ऊपर आकाशमें है। तथा धूमके अतिरिक्त अन्य तृण, तरु, पत्थर भी पर्वतमें विद्यमान हैं। अतः जैनोंके प्रति कहा गया सर्वथा धूमवत्त्व हेतुस्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। तथा पर्वतमें अग्निहेतुसे ही अग्निको साध्य करनेपर स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। साध्यसम होनेसे हेतुका अविनाभावी स्वकीयरूप असिद्ध हो रहा है। जब अग्नि नामक साध्य असिद्ध है तो उसका पक्षमें ठहरना भी असिद्ध है।

शब्दादौ चाक्षुषत्वादिरुभयासिद्ध इष्यते।
निःशेषोऽपि यथा शून्यब्रह्माद्वैतप्रवादिनोः ॥ ३० ॥

शब्द, रस आदि पक्षमें अनित्यपनको साध्य करनेपर दिये गये चक्षु इन्द्रियद्वारा ग्राह्य होना या नासिका इन्द्रियकरके विषय हो जाना इत्यादिक हेतु तो वादी, प्रतिवादी दोनोंके यहां असिद्ध हेत्वाभास माने गये हैं। जैसे कि शून्यवादी और ब्रह्म अद्वैतवादी दोनों वादी प्रतिवादियोंके यहां सभी हेतु दोनोंकी अपेक्षासे असिद्ध हैं। अर्थात्–चाहे शून्यवादी अपने अभीष्ट मतको सिद्ध करनेके लिए ब्रह्म अद्वैतवादियोंके प्रति कोई भी हेतु प्रयुक्त करें, ब्रह्म अद्वैतवादी शून्यवादीके ऊपर असिद्ध हेत्वाभास दोष उठा देवेंगे। तथा शून्यवादी भी ब्रह्म अद्वैतवादीके हेतुको असिद्ध ठहरा देवेंगे। एक ही हेतु दोनोंके मत अनुसार स्वरूपासिद्ध हो जावेगा।

वाद्यसिद्धौ प्रसिद्धौ च तत्र साध्यप्रसाधने।
समर्थनविहीनः स्यादसिद्धः प्रतिवादिनः ॥ ३१ ॥

उस प्रकरणमें साध्यको भले प्रकार साधनेमें प्रसिद्ध हो जानेपर भी यदि हेतुप्रयोक्ता वादीके द्वारा जिस हेतुकी सिद्धि नहीं हुई है तो " हेतोः स्वसाध्येन व्याप्तिं प्रसाध्य पक्षे वृत्तिप्रदर्शनं समर्थनं "

हेतुकी साध्यके साथ व्याप्तिको अव्यभिचार युक्त साधकर पक्षमें वृत्ति दिखलादेनारूप समर्थन करके विरहित होता हुआ वह हेतु प्रतिवादी विद्वान्‌के यहां असिद्ध हेत्वाभास समझा जायगा। अतः वादीको उचित है कि प्रतिवादीके सन्मुख अपने इष्ट हेतुका समर्थन करें । इस प्रकार कई ढंगसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभासोंका यहां प्रतिपादन किया है। विशेषज्ञ विद्वान् ग्रन्थको शुद्ध करते हुये अधिक प्रमेयकी क्षति कर लेवें। " न हि सर्वः सर्ववित् "।

हेतोर्यस्याश्रयो न स्यात् आश्रयासिद्ध एव सः ।
स्वसाध्येनाविनाभावाभावादगमको मतः ॥ ३२ ॥
प्रत्यक्षादेः प्रमाणत्वे संवादित्वादयो यथा ।
शून्योपप्लवशब्दाद्यद्वैतवादावलम्बिनां ॥ ३३ ॥

अब आश्रयासिद्धको कहते हैं कि जिस अनुमानमें पडे हुये हेतुका आधार ही सिद्ध नहीं होवे वह हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास होगा । अपने साध्यके साथ अन्यथानुपपत्ति नहीं होनेके कारण वह हेतु अपने साध्यको नहीं समझानेवाला माना गया है। जैसे कि शून्य, तत्त्वोपप्लव, शब्द अद्वैत, ब्रह्म अद्वैत, आदिके पक्ष परिग्रहका अवलम्ब करनेवाले विद्वानोंके यहां प्रत्यक्ष, अनुमान आदिको प्रमाणपना साधनेपर सम्वादपिन, प्रवृत्तिजनकपन, आदिक हेतु आश्रयासिद्ध हो जाते हैं। भावार्थ—नैयायिक या मीमांसक विद्वान् यदि शून्यवादी आदिके प्रति प्रत्यक्ष आदिकोंकी प्रमाणताको सम्वादीपन हेतुसे साधेंगे तो उनके सम्वादित्व हेतुपर शून्यवादीद्वारा आश्रयासिद्ध हेत्वाभासपनेका उपालम्भ दे दिया जायगा। 'पक्षे पक्षतावच्छेदकस्य भाव आश्रयासिद्धिः'। आश्रयासिद्धका वर्णन हो चुका, अब संदिग्धासिद्धको कहते हैं।

संदेहविषयः सर्वः संदिग्धासिद्ध उच्यते ।
यथागमप्रमाणत्वे रुद्रोक्तत्वादिरास्थितः ॥ ३४ ॥

संदेहका विषय जो हेतु है, वह सभी संदिग्धासिद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। जैसे कि आगमको प्रमाणपना साधनेमें दिये गये रुद्रके द्वारा कहा गयापन, बुद्धके द्वारा कहा गयापन, इत्यादिक हेतु संदिग्धासिद्धपने करके व्यवस्थित हो रहे हैं। क्योंकि प्रतिवादीके यहां आगमका रुद्र करके कहा गयापन और रुद्रोक्तपनका प्रमाणपनके साथ अविनाभाव ये निर्णीत नहीं है, संदिग्ध है। अत एव असिद्ध हैं। " पक्षांशवृत्तित्वमावसंशयविषयत्वं संदिग्धासिद्धिः "।

सन्नप्यज्ञायमानोऽत्राज्ञातासिद्धो विभाव्यते ।
सौगतादेर्यथा सर्वः सत्त्वादिः स्वेष्टसाधने ॥ ३५ ॥

प्रमेयको जाननेके लिये स्वयं वही ज्ञान तो समर्थ नहीं है। अन्य ज्ञानोंकी कल्पना करते करते उसी प्रकार नैयायिकोंके यहां अनवस्था दोष आता है। कोई अन्तर नहीं है।

अर्थापत्तिपरिच्छेद्यं परोक्षं ज्ञानमाहताः।
सर्वं येतेऽप्यनेनोक्ता स्वाज्ञातासिद्धहेतवः ॥ ३९ ॥

मीमांसक जन प्रत्यक्ष हो रही ज्ञातता करके करणज्ञानको अर्थापत्ति द्वारा जानते हैं। मीमांसकोंके यहां करण आत्मक प्रमाण ज्ञान परोक्ष आदर माना गया है। अतः अर्थापत्ति द्वारा जानने योग्य परोक्ष ज्ञानका जो आदर किये हुये बैठे हैं, वे मीमांसक भी इस उक्त कथन करके दोष युक्तका प्रतिपादन करनेवाले कह दिये गये हैं। उन नैयायिक और मीमांसकोंके द्वारा ज्ञानको जाननेके लिये दिये गये हेतु तो स्वयं उनके ही द्वारा ज्ञात नहीं हैं। भला प्रतिवादीको क्या ज्ञात होंगे? अतः परिच्छेद्यत्व या ज्ञातता आदिक हेतु अज्ञातासिद्ध हेत्वाभास हैं।

प्रत्यक्षं तु फलज्ञानमात्मानं वा स्वसंविदम्।
प्राहुर्या करणज्ञानं व्यर्थं तेषां निवेदितं ॥ ४० ॥

जिन प्रभाकर मीमांसकोंके यहां फलज्ञान तो प्रत्यक्ष माना गया है, और प्रमितिके करण होरहे प्रमाणज्ञानको परोक्ष मानलिया है, अथवा जिन भट्ट मीमांसकोंके यहां प्रमिति कर्ता आत्माका तो स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष हो जाना इष्ट किया है, और प्रमाणज्ञानको परोक्ष माना है, उन मीमांसकोंके यहां प्रभाके पूर्वमें करणज्ञानका व्यर्थ ही निवेदन किया गया है। क्योंकि परोक्ष करणज्ञानके बिना भी अर्थका प्रत्यक्ष हो जाना प्रत्यक्ष हो रहे आत्मा या फलज्ञानसे बन जाता है। यदि करणके बिना क्रियाकी निष्पत्ति नहीं होती है, अतः परोक्ष भी करणज्ञानकी मध्यमें कल्पना करोगे तब तो आत्मा या फलज्ञानको प्रत्यक्ष करनेमें भी न्यारा करणज्ञान मानना पडेगा। किन्तु मीमांसकोंने करणके बिना भी उक्त प्रत्यक्ष होते हुये मान लिये हैं। अब अर्थकी प्रमिति करनेमें भी परोक्ष करणज्ञान मानना व्यर्थ ही पडता है। अतः परोक्षज्ञानकी सिद्धि करनेमें दिये गये हेतु भी अज्ञातासिद्ध हेत्वाभास हैं।

प्रधानपरिणामत्वादचेतनमितीरितम्।
ज्ञानं यैस्ते कथं न स्युरज्ञातासिद्धहेतवः ॥ ४१ ॥

कपिल मत अनुयायियोंने आत्माका स्वभाव चैतन्य माना है और बुद्धिको जड प्रकृतिका विवर्त इष्ट किया है, ऐसी दशामें सांख्योंने अनुमान " ज्ञानमचेतनं प्रधानपरिणामित्वाद् घटवत् " कहा है। अर्थात्—ज्ञान (पक्ष) अचेतन है (साध्य) सत्वगुण रजोगुण और तमोगुणकी

साम्य अवस्थारूप प्रकृतिका परिणाम होनेसे (हेतु) जैसे कि घट (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार भिन्न कापिलोंने प्रधान परिणामित्व, उत्पत्तिमत्त्व आदि हेतु दिये हैं वे हेतु भला अज्ञातासिद्ध हेत्वाभास क्यों नहीं हो जावेंगे ? जैन, मीमांसक, नैयायिक, आदि कोई भी प्रतिवादी विचारा ज्ञानको प्रधानका परिणाम या उत्पत्तिमत्त्वकी अचेतनत्वके साथ व्याप्तिको नहीं जान चुका है। हेतुको जाने बिना साध्यकी ज्ञप्ति नहीं हो सकती है। इस प्रकार असिद्ध हेत्वाभासके चार भेदोंका निरूपण कर दिया गया है।

प्रतिज्ञार्थैकदेशस्तु स्वरूपासिद्ध एव नः।
शब्दो नाशी विनाशित्वादित्यादि साध्यसन्निभः ॥ ४२ ॥

जो हेतु प्रतिज्ञार्थका एकदेश होता हुआ असिद्ध हो रहा है। अर्थात्—पक्ष और साध्यके वचनको प्रतिज्ञा कहते हैं। निगमनसे पूर्वकालतक प्रतिज्ञा असिद्ध रहती है। यदि कोई असिद्ध प्रतिज्ञाके विषयभूत अर्थके एकदेशपक्ष या साध्यको ही हेतु बना लेवे तो वह हेतु प्रतिज्ञार्थ एकदेश असिद्ध हो जाता है। वह दोष तो हम स्याद्वादियोंके यहां स्वरूपासिद्ध ही कहा जाता है। किन्तु यह कोई नियत हेत्वाभास नहीं है। पक्षके सामान्यको धर्मी बनाकर और विशेषको हेतु बना लेवे पर वह सद्धेतु माना गया है। हां " शब्दो नाशी विनाशित्वात् " " ज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वात् " शब्द (पक्ष) नाश होनेवाला है (साध्य), क्योंकि विनाशशील है (हेतु)। ज्ञान (पक्ष) प्रमाण है (साध्य) प्रमाण होनेसे (हेतु), इत्यादिक स्थलोंपर साध्योंको हेतु बना लेनेपर तो साध्यसम हेत्वाभास हैं। " साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात्साध्यसमः " जो कि स्वरूपासिद्धमें ही गर्भित हो जाते हैं। जब कि शब्दमें नाशीपना सिद्ध नहीं है तो विनाशित्वपना हेतु शब्दमें स्वयं नहीं रहा। अतः विनाशित्व हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। " पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन हेत्वभावो भागासिद्धिः। साध्यव्याप्यतावच्छेदकरहितो हेतुः सोपाधिको वा हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। " यों भागासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध, व्यर्थविशेषणासिद्ध आदि भेद इन्हीं भेदोंमें गतार्थ हो जाते हैं। यहांतक असिद्ध हेत्वाभासको कह दिया है। अब विरुद्धहेत्वाभासको कहते हैं।

यस्साध्यविपरीतार्थो व्यभिचारी सुनिश्चितः।
स विरुद्धोऽववोद्धव्यस्तथैवेष्टविघातकृत् ॥ ४३ ॥
सत्त्वादिः क्षणिकत्वादौ यथा स्याद्वादविद्विषां।
अनेकान्तात्मकत्वस्य नियमात्तेन साधनात् ॥ ४४ ॥

जो हेतु या साध्यसे विपरीत अर्थके साथ व्याप्तिको रखता है, वह विरुद्ध हेत्वाभास समझना चाहिये। तिस ही प्रकार विरुद्धके साथ व्याप्त होनेके कारण वह हेतु इष्ट साध्यका विघात कर देता है। जैसे कि स्याद्वादका विशेष द्वेष करनेवाले बौद्धोंके द्वारा क्षणिकपन, असाधारणपन आदिको साधनेमें प्रयुक्त किये गये सत्त्व प्रमेयत्व आदिक हेतु विरुद्ध हैं। क्योंकि उन सत्त्व आदि हेतुओं करके नियमसे नित्य अनित्यस्वरूप या सामान्य विशेषस्वरूप अनेक धर्म आत्मकपनेकी सिद्धि होती है। अतः अभीष्ट साध्य हो रहे सर्वथा क्षणिकपनके विपरीत कथंचित् क्षणिकपनके साथ व्याप्ति रखने वाला होनेसे सत्त्वहेतु विरुद्ध है। विरुद्ध हेतु प्रायः व्यभिचार दोषवाले भी भले प्रकार निश्चित हो रहे हैं। व्यभिचार और विरुद्धका भाईचारेका नाता है। विपक्षमें रहना व्यभिचार है। साध्यसे विपरीतके साथ व्याप्ति रखनेवाला विरुद्ध है। अतः अनेक स्थलोंपर इन दोनों हेत्वाभासोंका सांकर्य हो जाता है।

> सामर्थ्यं चक्षुरादीनां संहतत्वं प्रसाधयेत्।
> परस्य परिणामित्वं तथेतीष्टविघातकृत् ॥ ४५ ॥
> अनुस्यूतमनीषादिसामान्यादीनि साधयेत्।
> तेषां द्रव्यविवर्त्तत्वमेवमिष्टविघातकृत् ॥ ४६ ॥
> विरुद्धान्न च भिन्नोऽसौ स्वयमिष्टाद्विपर्यये।
> सामर्थ्यस्याविशेषेण भेदवादिप्रसंगतः ॥ ४७ ॥

चक्षु, रसना आदि इन्द्रियोंका संहतपना हेतु उनकी सामर्थ्यको भले प्रकार सिद्ध कर देवेगा, इस प्रकार कापिलोंद्वारा मानी ग्यारह इन्द्रियोंका दृढरूपसे मिल जाना आत्माकी सामर्थ्यको साधता है, यह ठीक है। इन्द्रियां जो कार्य कर रही हैं वह आत्माकी सामर्थ्यसे कर रही हैं। किन्तु ऐसी दशामें दूसरे सांख्योंकी आत्मका परिणामीपन भी सिद्ध हो जावेगा। किन्तु सांख्योंने आत्माको कूटस्थ माना है। अतः तिस प्रकार अनुमान करनेपर वह हेतु सांख्योंके इष्ट हो रहे कूटस्थपनका विघात कर देता है। तथा अन्वयरूपसे ओत पोत हो रहीं बुद्धि आदिके सामान्य चेतनपन आदिको भी वह संहतपना हेतु साध देवेगा। वे बुद्धि, सुख आदिक स्वभाव आत्मद्रव्यके ही पर्याय हैं। अतः सांख्योंके इष्टसिद्धान्तका विघात करनेवाला वह हेतु हुआ। तिस कारण स्वयं सांख्यको इष्ट हो रहे साध्यसे विपर्ययको साधनेमें अभिमुख हो रहा वह हेतु विरुद्धहेत्वाभाससे भिन्न नहीं है। जिस पदार्थकी सामर्थ्यका परिवर्तन होता रहता है, वह पदार्थ परिणामी है। सामर्थ्य और सामर्थ्यवान्में कोई विशेषता नहीं है। यदि शक्ति और शक्तिमान्में भेद माना जायगा तो आप सांख्योंको

भेदवादी नैयायिक या वैशेषिक हो जानेका प्रसंग होगा । अतः चक्षु आदिकोंकी नित्य सामर्थ्यको साधनेवाला संहतपना हेतु विरुद्धहेत्वाभास है । न्यायशास्त्रके अन्तस्तत्त्वको जाननेवाले विशेषज्ञ विद्वान् यहां अर्थको परिशुद्ध कर लेवें । मैंने अपनी लघुबुद्धिद्वारा क्षयोपशम अनुसार वाक्योंका उपस्कार कर अर्थ लिख दिया है ।

> विवादाध्यासितं धीमद्धेतुकं कृतकत्वतः ।
> यथा शकटमित्यादि विरुद्धो तेन दर्शितः ॥ ४८ ॥
> यथा हि बुद्धिमत्पूर्वं जगदेतत्प्रसाधयेत् ।
> तथा बुद्धिमतो हेतोरनेकत्वशरीरिताम् ॥ ४९ ॥
> स्वशरीरस्य कर्त्तात्मा नाशरीरोऽस्ति सर्वथा ।
> कार्मणेन शरीरेणानादिसम्बन्धसिद्धितः ॥ ५० ॥
> यतः साध्ये शरीरे स्वे धीमतो व्यभिचारता ।
> जगत्कर्तुः प्रपद्येत तेन हेतोः कुतार्किकः ॥ ५१ ॥
> बोध्योऽनैकान्तिको हेतुसम्भवान्नान्यथा तथा ।
> संशीतिं विधिवत्सर्वः साधारणतया स्थितः ॥ ५२ ॥

ईश्वरको जगत्का कर्त्ता माननेवाले वैशेषिकोंका अनुमान है कि घडा, वस्त्र, किवाड आदिका तो चेतनकर्ता प्रसिद्ध ही है । किन्तु विवादमें प्राप्त हो रहे पृथ्वी, पर्वत, शरीर, सूर्य, चंद्रमा आदि पदार्थ भी (पक्ष) बुद्धिमान् चेतनको हेतु मानकर उत्पन्न हुये हैं (साध्य), अपनी उत्पत्तिमें दूसरोंके व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाले कृतकभाव होनेसे (हेतु), जैसे कि गाडी (अन्वयदृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारके उस नैयायिक या वैशेषिकद्वारा दिये गये अन्य भी कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, आदिक हेतु विरुद्धहेत्वाभास दिखला दिये गये हैं । क्योंकि उक्त हेतु अपने अभीष्ट बुद्धिमान् कर्त्तापनेसे विपरीत कारणमात्र जन्यत्वके साथ व्याप्तिको धारते हैं । आप विचारिये कि जिस प्रकार वह हेतु इस जगत्को बुद्धिमान् कारणसे जन्यपना भले प्रकार साधेगा, उसी प्रकार घट, पट, गाडी आदि दृष्टान्तोंकी सामर्थ्यसे उस बुद्धिमान् कारणके अनेकपन और शरीरसहितपनको भी साधेगा, जो कि नैयायिकोंको इष्ट नहीं है । पहिले अन्य शरीरसे सहित होता हुआ ही आत्मा अपने शरीरका कर्त्ता होता है । शरीरसे रहित मुक्तात्मा तो सभी प्रकारोंसे अपने शरीरका कर्त्ता

नहीं है। कारण कि अनादिकालसे ज्ञानावरण आदि कर्मोका समुदायस्वरूप कार्मण शरीरके साथ संसारी आत्माका सम्बन्ध हो जानेकी सिद्धि हो रही है। अतः उस जगत्को बनानेवाले बुद्धिमान्के अपने शरीरके साध्य करनेपर उस शरीरसे ही व्यभिचार दोष प्राप्त हो जाता है। अर्थात्—बुद्धिमान्ने जिस शरीरसे जगत्को बनाया वह शरीर बुद्धिमान्का बनाया हुआ नहीं है, किन्तु कृतक है। अतः हेतुका प्रयोक्ता नैयायिक न्याय या तर्कको जाननेवाला नहीं है। वह कुतार्किक समझने योग्य है। उसका हेतु अनेकान्तिक हेत्वाभास है। अन्य प्रकारोंसे तिस प्रकार बुद्धिमान् पूर्वकपने के सिद्ध हो जानेकी सम्भावना नहीं है। अथवा विपक्षमें हेतुके वर्तनेकी सम्भावना हो जानेसे वह विरुद्ध हेतु अनेकान्तिक हेत्वाभास समझना चाहिये। अन्यथा विपक्षमें वृत्ति नहीं होनेपर तिस प्रकार अनेकान्तिक नहीं है। पक्षमें वृत्तिपनकी विधिके समान विपक्षमें वर्तनेके संशयको धारनेवाले सभी हेतु साधारणपनेकरके व्यवस्थित हैं। साधारण, व्यभिचार, अनैकान्तिक, इन शब्दोंका अर्थ एक ही है।

शद्बत्वश्रावणत्वादि शद्बादौ परिणामिनि।
साध्ये हेतुस्ततो वृत्तेः पक्ष एव सुनिश्चितः॥ ५३॥
संशीत्यालिङ्गिताङ्गस्तु यः सपक्षविपक्षयोः।
पक्षे स वर्तमानः स्यादनैकान्तिकलक्षणः॥ ५४॥
तेनासाधारणो नान्यो हेत्वाभासस्ततोऽस्ति नः।
तस्यानैकान्तिके सम्यग्घेतौ वान्तर्गतिः स्थितिः॥ ५५॥
प्रमेयत्वादिरेतेन सर्वस्मिन्परिणामिनि।
साध्ये वस्तुनि निर्णीतो व्याख्यातः प्रतिपद्यतां॥ ५६॥

शद्ब आदिक पक्षमें परिणामीपन साध्य करनेपर दिये गये शद्बत्व, श्रवणइन्द्रिय द्वारा ग्राह्यत्व, भाषावर्गणानिष्पाद्यत्व, आदिक हेतु यदि पक्षमें ही साध्यके साथ अविनाभावी होकर वृत्तिपनेसे भले प्रकार निश्चित हैं, तब तो वे सब सद्धेतु ही हैं। हां, जो सपक्ष और विपक्षमें वर्तनेके संशय करके जिन हेतुओंके शरीरका आलिंगन कर लिया गया है, वह हेतु यदि पक्षमें वर्तमान होगा तो अनेकान्तिक हेत्वाभासके लक्षणसे युक्त समझा जावेगा। तिस कारण हम स्याद्वादियोंके यहां साधारण या अनेकान्तिकसे भिन्न कोई दूसरा असाधारण नामका हेत्वाभास नहीं माना गया है। वैशेषिकोंके द्वारा माने गये उस असाधारण हेत्वाभासका अन्तर्भाव अनैकान्तिकमें अथवा समीचीन हेतुमें हो

जाता है। यह जैनोंकी व्यवस्था है। भावार्थ—वैशेषिकोंने अनैकान्तिक हेत्वाभासके साधारण, असाधारण, अनुपसंहारी, ये तीन भेद किये हैं। जो हेतु सपक्ष और विपक्षमें वर्त जाता है, वह साधारण है तथा जो सपक्ष और विपक्ष दोनोंसे व्यावृत्त है, वह असाधारण हेत्वाभास है। जिसका अभाव नहीं हो सके ऐसे केवलान्वयी पदार्थको पक्ष बनाकर जो हेतु दिया जाता है, वह अनुपसंहारी है। प्रकरणमें यह कहना है कि असाधारण नामका हेत्वाभास कोई नहीं है। विपक्षमें हेतुका नहीं रहना तो अच्छा ही है। हां, सपक्षमें यदि हेतु नहीं रहता है तो कोई क्षति नहीं है, अन्वयदृष्टान्तके विना भी सद्धेतु हो सकते हैं। तभी तो नव्य नैयायिकोंने इसको हेत्वाभास नहीं माना है। इस कथन करके सम्पूर्ण वस्तुओंमें परिणामीपनको साध्य करनेपर दिये गये प्रमेयत्व, सत्त्व आदिक हेतु भी कोई अनुपसंहारी हेत्वाभास नहीं हैं। उनका भी समीचीन हेतु या अनैकान्तिक हेत्वाभासमें अन्तर्भाव हो जाता है। यह निर्णीतरूपसे व्याख्यान कर दिया गया समझ लेना चाहिये। ग्रन्थकी आदिमें कही गयी सातवीं वार्त्तिकके भाष्यमें " असाधारण " का विचार करा दिया है। साध्यके साथ अविनाभाव सम्बन्ध हो जाना ही सद्धेतुका प्राण है।

पक्षत्रितयहानिस्तु यस्यानैकान्तिको मतः।
केवलव्यतिरेकादिस्तस्यानैकान्तिकः कथं ॥ ५७ ॥
व्यक्तात्मनां हि भेदानां परिमाणादिसाधनम्।
एककारणपूर्वत्वे केवलव्यतिरेकि वः ॥ ५८ ॥
कारणत्रयपूर्वत्वात्कार्येणानन्वयागते।
पुरुषैर्व्यभिचारीष्टं प्रधानपुरुषैरपि ॥ ५९ ॥

जिस दार्शनिकके यहां पक्ष, सपक्ष, विपक्ष इन तीनों ही पक्षोंमें हेतुकी हानि मानी नहीं वर्तना अनैकान्तिकका लक्षण माना गया है, उस दार्शनिकके यहां केवलव्यतिरेकी या केवलान्वयको धारनेवाले कोई कोई हेतु अनैकान्तिक कैसे हो सकेंगे ? कपिल मत अनुयायियोंने " भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च। कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य " इस कारिका द्वारा महत्तत्त्व, अहंकार, पांच तन्मात्रायें, ग्यारह इन्द्रियां और पांचभूत इन व्यक्तस्वरूप पदार्थोंका प्रकृतिस्वरूप एककारणसे अन्वितपना साधनेपर दिये गये भेदानां परिमाण, भेदानां समन्वय, आदिक हेतु कहे हैं। अर्थात्—महत् आदिक व्यक्त (पक्ष) एक ही कारणको पूर्ववर्ती मानकर प्रकट हुये हैं, (साध्य) परिमितपना होनेसे (हेतु)। यहां हेतुका समवायि, असमवायि, निमित्त, इन तीन कारणोंरूपके पूर्वकपना होनेसे कार्यके साथ अन्वयरहितपना प्राप्त हो जानेपर वे हेतु

तुम्हारे यहां केवलव्यतिरेकी माने गये हैं। किन्तु पुरुषकरके तथा प्रकृति और आत्मा करके भी वे हेतु व्यभिचारी इष्ट किये गये हैं। अतः अनेकान्तिकका पूर्वोक्त लक्षण ठीक नहीं है।

विना सपक्षसत्त्वेन गमकं यस्य साधनम्।
अन्यथानुपपन्नत्वात्तस्य साधारणो मतः ॥ ६० ॥
साध्ये च तदभावे च वर्तमानो विनिश्चितः।
संशीत्याक्रान्तदेहो वा हेतुः कात्स्न्यैकदेशतः ॥ ६१ ॥

सपक्ष यानी अन्वयदृष्टान्तमें विद्यमान रहनेके विना भी हेतु जिस स्याद्वादीके यहां मात्र अन्यथानुपपत्ति नामका गुण होनेसे साध्यका ज्ञापक मानलिया गया है, उसके यहां साध्यके होनेपर और विपक्षमें उस साध्यका अभाव होनेपर वर्तमान हो रहा हेतु साधारण नामका हेत्वाभास विशेष रूपसे निश्चित किया गया है। अथवा पक्षमें साध्यके रहनेपर रहनेवाला और साध्याभाववाले विपक्षमें पूर्णरूपसे या एक देशसे वर्तनेके संशय करके घिरे हुये शरीरवाला हेतु साधारण (संदिग्धव्यभिचारी) है।

तत्र कार्त्स्न्येन निर्णीतस्तावत्साध्यविपक्षयोः।
यथा द्रव्यं नभः सत्त्वादित्यादिः कश्चिदीरितः ॥ ६२ ॥

उन साधारण हेत्वाभासके भेदोंमेंसे पहिला साध्यवान् पक्ष और साध्याभाववान् विपक्षमें पूर्ण रूपसे निर्णीत होकर वर्त रहा कोई हेतु तो यों कहा गया है कि जैसे आकाश (पक्ष) द्रव्य है (साध्य), सत्पना होनेसे (हेतु)। इस अनुमानमें दिया गया सत्त्व हेतु अपने पक्ष आकाशमें वर्तता है और विपक्ष गुण या कर्ममें भी वर्त रहा है अथवा शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य), प्रमेयपना होनेसे (हेतु) इत्यादि हेतु विपक्षमें पूर्णरूपसे वर्तते हुए निश्चित व्यभिचारी हैं।

विश्ववेदीश्वरः सर्वजगत्कर्तृत्वसिद्धितः।
इति संश्रयतस्तत्राविनाभावस्य संशयात् ॥ ६३ ॥
सति ह्यशेषवेदित्वे संदिग्धा विश्वकर्तृता।
तदभावे च तन्नायं गमको न्यायवेदिनाम् ॥ ६४ ॥

ईश्वर (पक्ष) सर्वज्ञ है (साध्य), सम्पूर्ण जगत्के कर्त्तापनकी सिद्धि होनेसे (हेतु)। इस प्रकार अनुमानका अच्छा आश्रय करनेवालेके यहां उस हेतुमें अविनाभावका संशय हो जानेसे

जाता है। यह जैनोंकी व्यवस्था है। भावार्थ—वैशेषिकोंने अनैकान्तिक हेत्वाभासके साधारण, असाधारण, अनुपसंहारी, ये तीन भेद किये हैं। जो हेतु सपक्ष और विपक्षमें वर्त जाता है, वह साधारण है तथा जो सपक्ष और विपक्ष दोनोंसे व्यावृत्त है, वह असाधारण हेत्वाभास है। जिसका अभाव नहीं हो सके ऐसे केवलान्वयी पदार्थको पक्ष बनाकर जो हेतु दिया जाता है, वह अनुपसंहारी है। प्रकरणमें यह कहना है कि असाधारण नामका हेत्वाभास कोई नहीं है। विपक्षमें हेतुका नहीं रहना तो अच्छा ही है। हां, सपक्षमें यदि हेतु नहीं रहता है तो कोई क्षति नहीं है, अन्वयदृष्टान्तके विना भी सद्धेतु हो सकते हैं। तभी तो नव्य नैयायिकोंने इसको हेत्वाभास नहीं माना है। इस कथन करके सम्पूर्ण वस्तुओंमें परिणामीपनको साध्य करनेपर दिये गये प्रमेयत्व, सत्त्व आदिक हेतु भी कोई अनुपसंहारी हेत्वाभास नहीं हैं। उनका भी समीचीन हेतु या अनैकान्तिक हेत्वाभासमें अन्तर्भाव हो जाता है। यह निर्णीतरूपसे व्याख्यान कर दिया गया समझ लेना चाहिये। ग्रन्थकी आदिमें कही गयी सातवीं वार्त्तिकके भाष्यमें "असाधारण" का विचार करा दिया है। साध्यके साथ अविनाभाव सम्बन्ध हो जाना ही सद्धेतुका प्राण है।

पक्षत्रितयहानिस्तु यस्यानैकान्तिको मतः।
केवलव्यतिरेकादिस्तस्यानैकान्तिकः कथं ॥ ५७ ॥
व्यक्तात्मनां हि भेदानां परिमाणादिसाधनम्।
एककारणपूर्वत्वे केवलव्यतिरेकि वः ॥ ५८ ॥
कारणत्रयपूर्वत्वात्कार्येणानन्वयागते।
पुरुषैर्व्यभिचारीष्टं प्रधानपुरुषैरपि ॥ ५९ ॥

जिस दार्शनिकके यहां पक्ष, सपक्ष, विपक्ष इन तीनों ही पक्षोंमें हेतुकी हानि यानी नहीं वर्तना अनैकान्तिकका लक्षण माना गया है, उस दार्शनिकके यहां केवलव्यतिरेक या केवलान्वयको धारनेवाले कोई कोई हेतु अनैकान्तिक कैसे हो सकेंगे ? कपिल मत अनुयायियोंने "भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च। कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य" इस कारिका द्वारा महत्तत्त्व, अहंकार, पांच तन्मात्रायें, ग्यारह इन्द्रियां और पांचभूत इन व्यक्तस्वरूप पदार्थोंका प्रकृतिस्वरूप एककारणसे अभिव्यज्यपना साधनेपर दिये गये भेदानां परिमाण, भेदानां समन्वय, आदिक हेतु कहे हैं। अर्थात्—महत् आदिक व्यक्त (पक्ष) एक ही कारणको पूर्ववर्ती मानकर प्रकट हुये हैं, (साध्य) परिमितपना होनेसे (हेतु)। यहां हेतुका समवायि, असमवायि, निमित्त, इन तीन कारणोंकरके पूर्वकपना होनेसे कार्यके साथ अन्वयरहितपना प्राप्त हो जानेपर वे हेतु

तुम्हारे यहां केवलव्यतिरेकी माने गये हैं। किन्तु पुरुषकरके तथा प्रकृति और आत्मा करके भी वे हेतु व्यभिचारी इष्ट किये गये हैं। अतः अनैकान्तिकका पूर्वोक्त लक्षण ठीक नहीं है।

विना सपक्षसत्त्वेन गमकं यस्य साधनम्।
अन्यथानुपपन्नत्वात्तस्य साधारणो मतः॥ ६०॥
साध्ये च तदभावे च वर्त्तमानो विनिश्चितः।
संशीत्याक्रान्तदेहो वा हेतुः कार्त्स्न्यैकदेशतः॥ ६१॥

सपक्ष यानी अन्वयदृष्टान्तमें विद्यमान रहनेके विना भी हेतु जिस स्याद्वादीके यहां मात्र अन्यथानुपपत्ति नामका गुण होनेसे साध्यका ज्ञापक मानलिया गया है, उसके यहां साध्यके होनेपर और विपक्षमें उस साध्यका अभाव होनेपर वर्तमान हो रहा हेतु साधारण नामका हेत्वाभास विशेष रूपसे निश्चित किया गया है। अथवा पक्षमें साध्यके रहनेपर रहनेवाला और साध्याभाववाले विपक्षमें पूर्णरूपसे या एक देशसे वर्तनेके संशय करके घिरे हुये शरीरवाला हेतु साधारण (संदिग्धव्यभिचारी) है।

तत्र कार्त्स्न्येन निर्णीतस्तावत्साध्यविपक्षयोः।
यथा द्रव्यं नभः सत्त्वादित्यादिः कश्चिदीरितः॥ ६२॥

उन साधारण हेत्वाभासके भेदोंमेंसे पहिला साध्यवान् पक्ष और साध्याभाववान् विपक्षमें पूर्ण रूपसे निर्णीत होकर वर्त रहा कोई हेतु तो यों कहा गया है कि जैसे आकाश (पक्ष) द्रव्य है (साध्य), सत्पना होनेसे (हेतु)। इस अनुमानमें दिया गया सत्त्व हेतु अपने पक्ष आकाशमें वर्तता है और विपक्ष गुण या कर्ममें भी वर्त रहा है अथवा शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य), प्रमेयपना होनेसे (हेतु) इत्यादि हेतु विपक्षमें पूर्णरूपसे वर्तते हुए निश्चित व्यभिचारी हैं।

विश्ववेदीश्वरः सर्वजगत्कर्तृत्वसिद्धितः।
इति संश्रयतस्तत्राविनाभावस्य संशयात्॥ ६३॥
सति ह्यशेषवेदित्वे संदिग्धा विश्वकर्तृता।
तदभावे च तन्नायं गमको न्यायवेदिनाम्॥ ६४॥

ईश्वर (पक्ष) सर्वज्ञ है (साध्य), सम्पूर्ण जगत्के कर्त्तापनकी सिद्धि होनेसे (हेतु)। इस प्रकार अनुमानका अच्छा आश्रय करनेवालेके यहां उस हेतुमें अविनाभावका संशय हो जानेसे

यह हेतु संदिग्ध व्यभिचारी है। क्योंकि सर्वज्ञपना होते हुये और उस सर्वज्ञत्वके अभाव होनेपर सम्भव रहा यह विश्वकर्तापन ईश्वरमें संदिग्ध है। तिस कारण नैयायिकोंका यह हेतु अपने साध्यका ज्ञापक नहीं है। विपक्षमें सम्पूर्ण रूपसे हेतुका नहीं वर्तना संदिग्ध है।

नित्यो ध्वनिरमूर्तत्वादिति स्यादेकदेशतः।
स्थितस्तयोर्विनिर्दिष्टपरोऽपीदृक्कदा तु कः ॥ ६५ ॥

शब्द (पक्ष) नित्य है (साध्य), अमूर्तपना होनेसे (हेतु)। यह हेतु एकदेशसे विपक्षमें वर्तनेके कारण निश्चित व्यभिचारी है। अर्थात्—विपक्षके एकदेश हो रहे अनित्य सुख, दुःख, क्रिया, आदिमें अमूर्तत्व हेतु वर्त रहा है। और विपक्षके बहुदेश घट, पट, अग्नि, आदिमें हेतु नहीं वर्त रहा है। अतः विपक्षके एकदेश वृत्तिपनसे व्यवस्थित हो रहा है। इसी प्रकार उन एकदेश निर्णीत और एकदेश संदिग्धमेंसे दूसरा एकदेश संदिग्ध भी तब तो कोई हेतु विशेषरूपसे कह दिया गया है। जैसे कि गुण अनित्य है अमूर्त होनेसे, यहां विपक्षके एकदेशमें हेतुकी वृत्तिता संदिग्ध है।

यत्रार्थे साधयेदेको धर्मं हेतुर्विवक्षितम्।
तत्रान्यस्तद्विरुद्धं चेद्विरुद्धया व्यभिचार्यसौ ॥ ६६ ॥
इति केचित्तदयुक्तमनेकान्तस्य युक्तितः।
सम्यग्घेतुत्वनिर्णीतेर्नित्यानित्यत्वहेतुवत् ॥ ६७ ॥
सर्वथैकान्तवादे तु हेत्वाभासोऽयमिष्यते।

जिस अर्थमें एक हेतु तो विवक्षा किये गये धर्मका साधन करावे और दूसरा हेतु वहां ही उस साध्यसे विरुद्ध अर्थको साधे तो वह हेतु विरुद्धपनके साथ व्यभिचारी है, इस प्रकार कोई कह रहे हैं। उनका वह कहना युक्तिरहित हैं। क्योंकि समीचीन युक्तियोंसे नित्यपन और अनित्यपनको साधनेवाले हेतुओंके समान उन अनेक धर्मोको साधनेवाले हेतुओंका भी समीचीन हेतुपनेकरके निर्णय हो रहा है। हां, सभी प्रकारोंसे एक ही धर्मका आग्रह करके एकान्तवाद स्वीकार कर लेनेपर तो यह अविद्यमान विरोधी धर्मको साधनेवाला हेतु हेत्वाभास माना गया है। जैसे कि "मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानवान् है, क्योंकि चेतनागुणका मिथ्या उपयोगरूप परिणाम विद्यमान है।" "तथा मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानरहित है। मोक्ष उपयोगी तत्त्वज्ञान नहीं होनेसे", यहां स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार दोनों हेतु समीचीन हैं। हां, एकान्तवादियोंके मतमें दूसरा हेतु समीचीन नहीं है।

सर्वगत्वे परस्मिंश्च जातेः स्थापितहेतुवत् ॥ ६८ ॥
स च सत्प्रतिपक्षोऽत्रकैश्चिदुक्तः परैः पुनः ।
अनैकान्तिक एवेति ततो नास्य विभिन्नता ॥ ६९ ॥
स्वेष्टधर्मविहीनत्वे हेतुनान्येन साधिते ।
साध्याभावे प्रयुक्तस्य हेतोर्नाभावनिश्चयः ॥ ७० ॥
धर्मिणीति स्वयं साध्यासाध्ययोर्वृत्तिसंश्रयात् ।
नानैकान्तिकता बाध्या तस्य तल्लक्षणान्वयात् ॥ ७१ ॥

सत्तास्वरूपपर जाति अथवा द्रव्यत्व, गुणत्व, घटत्व, आदि अपर जाति (सामान्य) का सर्व व्यापकपना अथवा अपर यानी अव्यापकपना साध्य करनेपर प्रसिद्ध करा दिये गये हेतुओंके समान वह हेतु किन्हीं वैशेषिकोंने अपने यहां सत्प्रतिपक्ष कहा है । " साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्षः " । भावार्थ—सामान्य (पक्ष) व्यापक है (साध्य), सर्वत्र व्यक्तियोंमें अन्वित होनेसे (हेतु), जैसे आकाश (दृष्टान्त) । इस अनुमान द्वारा जातिको व्यापक सिद्ध किया जाता है । तथा सामान्य (पक्ष) अव्यापक है (साध्य) क्योंकि अन्तरालमें नहीं दीखता हुआ प्रति व्यक्तिमें न्यारा न्यारा प्रतीत हो रहा है (हेतु) जैसे कि घट व्यक्ति (दृष्टान्त) यहां वैशेषिकोंने दूसरा हेतु सत्प्रतिपक्ष माना है फिर अन्य दार्शनिकोंने उसको अनैकान्तिक ही कहा है तिस कारण हम स्याद्वादियोंके यहां भी वह अनैकान्तिक ही है। अनैकान्तिक हेत्वाभाससे इस सत्प्रति पक्षका कोई विशेष भेद नहीं है । दूसरे हेतु करके अपने अभीष्ट साध्य धर्मसे रहितपना साधा जानेपर साध्यवाले धर्मीमें साध्यके अभावको साधनेमें प्रयुक्त किये गये हेतुके अभावका निश्चय नहीं है । क्योंकि स्वयं वादीने साध्य और साध्याभावके होनेपर हेतुके वर्तनेका समीचीन आश्रय ले रक्खा है । इस कारण उस सत्प्रतिपक्ष कहलानेवाले हेतुको अनैकान्तिक हेत्वाभासपना बाधा करने योग्य नहीं है । क्योंकि उस अनैकान्तिकका लक्षण यहां अन्वयरूपसे घटित हो जाता है पर्वत (पक्ष) वह्निमान् है (साध्य) धूम होनेसे (हेतु) । तथा दूसरा अनुमान यों है कि पर्वतमें वह्निका अभाव है । पाषाणका विकार होनेसे, यहां पाषाणमयत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष माना गया है । किन्तु वह विपक्षमें वर्तनेके कारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है । इसी प्रकार जातिको व्यापकपना सिद्ध करनेवाला हेतु स्याद्वादियोंके यहां अनैकान्तिक हेत्वाभास है । वैशेषिकोंकी ओरसे जातिका अव्यापकपना साधनेवाला हेतु कुछ देरके लिये अनैकान्तिक कहा जा सकता है । सत्प्रतिपक्षको अलग हेत्वाभास माननेकी आवश्यकता नहीं है ।

यः स्वपक्षविपक्षान्यतरवादः स्वनादिषु ।
नित्यत्वे भंगुरत्वे वा प्रोक्तः प्रकरणे समः ॥ ७२ ॥
सोऽप्यनैकान्तिकान्नान्य इत्यनेनैव कीर्तितम् ।
स्वसाध्येऽसति सम्भूतिः संशयांशाविशेषतः ॥ ७३ ॥

शब्द, घट, आदिकोंमें नित्यपना अथवा क्षणिकपना साधनेपर जो स्वपक्ष और विपक्षमेंसे किसी भी एकमें ठहरनेका वाद प्रकरणसम कहा गया है, वह भी अनैकान्तिकसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार सिद्धान्त भी उक्त ग्रन्थ करके ही कह दिया गया है। अर्थात्—" यस्मात् प्रकरण चिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः " जिस हेतुसे साध्यवान् और साध्याभाववान्के प्रकरणकी जिज्ञासा हो जाय वह निर्णय करनेके लिये प्रयुक्त किया गया हेतु प्रकरणसम कहा जाता है। शब्दको नित्यपना साधनेमें मीमांसकोंकरके दिया गया प्रत्यभिज्ञायमानपना हेतु नैयायिकोंकी ओरसे प्रकरणसम हेत्वाभास है। और शब्दका अनित्यपना साधनेमें नैयायिकोंकरके दिया गया कृतकत्व हेतु तो मीमांसकोंकी ओरसे प्रकरणसम कहा जाता है। किन्तु यह प्रकरणसम अनैकान्तिक हेत्वाभाससे न्यारा नहीं है। अत्यल्प भेद होनेसे हेत्वाभासकी कोई न्यारी जाति नहीं हो जाती है। अपने साध्यके नहीं होनेपर विद्यमान रहना यह निश्चित व्यभिचार और संशयांशरूप व्यभिचारका यहां भी सद्भाव है। किसी अंशमें विशेषता नहीं है।

कालात्ययापदिष्टोऽपि साध्ये मानेन बाधिते ।
यः प्रयुज्येत हेतुः स्यात्स नो नैकान्तिकोऽपरः ॥ ७४ ॥
साध्याभावे प्रवृत्तो हि प्रमाणैः कुत्रचित्स्वयम् ।
साध्ये हेतुर्न निर्णीतो विपक्षविनिवर्तनः ॥ ७५ ॥

जो हेतु प्रमाणद्वारा साध्यके बाधित हो जानेपर प्रयुक्त किया जाता है, वह कालात्ययापदिष्ट हेतु भी हमारे यहां दूसरे प्रकारका अनैकान्तिक हेत्वाभास माना गया है। बाधित हेत्वाभास कोई न्यारा नहीं है। वह्नि शीतल है, कृतक होनेसे, यहां कृतकत्व हेतु व्यभिचारी है। कहीं कहीं तो स्वयं प्रमाणोंकरके साध्यका अभाव जान लेनेपर पुनः वह हेतु प्रवृत्त हुआ है और कहीं साध्यके होनेपर हेतुका निर्णय हो चुका है। किन्तु विपक्षसे निवृत्त हो रहे हेतुका निर्णय नहीं है। बस, इतना ही बाधित और अनैकान्तिकमें थोडासा अन्तर है।

विपक्षे बाधके वृत्ति समीचीनो यथोच्यते ।
साधके सति किन्न स्यात्तदाभासस्तथैव सः ॥ ७६ ॥

विपक्षमें बाधकप्रमाणके प्रवृत्त हो जानेपर जैसे कोई भी हेतु समीचीन हेतु कहा जाता है, तिस ही प्रकार विपक्षमें साधकप्रमाणके होनेपर वह हेतु हेत्वाभास क्यों नहीं हो जावेगा ?

साध्याभावे प्रवृत्तेन किं प्रमाणेन बाध्यते ।
हेतुः किं वा तदेतेनेत्यत्र संशीतिसम्भवः ॥ ७७ ॥
साध्यस्याभाव एवायं प्रवृत्त इति निश्चये ।
विरुद्धो हेतुरुद्भाव्योऽतीतकालो न चापरः ॥ ७८ ॥

साध्यका अभाव होनेपर प्रवृत्त हो रहे प्रमाण करके क्या यह हेतु बाधा जारहा है ? अथवा क्या इस हेतु करके वह प्रमाण बाधा जारहा है ? इस प्रकार यहां संशय होना सम्भवता होय ऐसी दशामें वह संदिग्धव्यभिचारी है । हां, साध्यके नहीं होनेपर किन्तु साध्यका अभाव होनेपर ही यह हेतु प्रवृत्त है, इस प्रकार निश्चय हो जानेपर तो विरुद्धहेत्वाभासका उद्भावन करना चाहिये । अतः व्यभिचारी या विरुद्धसे भिन्न कोई कालातीत (बाधित) नामका हेत्वाभास नहीं है, जो कि " कालात्ययापदिष्टः कालातीतः " कहा जाय ।

प्रमाणबाधनं नाम दोषः पक्षस्य वस्तुतः ।
क तस्य हेतुभिन्नाणोऽनुत्पन्नेन ततो हतः ॥ ७९ ॥

वस्तुतः विचारा जाय तो साध्यका लक्षण इष्ट, अबाधित और असिद्ध किया गया है । अतः साध्यवान् पक्षका दोष प्रमाणबाधा नामका हो सकता है । हेतुके दोषोंमें बाधितकी गणना करना उचित नहीं है । उस कालात्ययापदिष्टका हेतुओं करके भला रक्षण कहां हो सकता है ? तिस कारण हेतुओंमें उत्पन्न नहीं होनेसे वैशेषिकोंका सिद्धान्त नष्ट हो जाता है । अर्थात्—साध्यका वह दोष हेतुमें उत्पन्न ही नहीं हो सकता है ।

सिद्धे साध्ये प्रवृत्तोऽत्राकिंचित्कर इतीरितः ।
कैश्चिद्धेतुर्न संचिंत्यः स्याद्वादनयशालिभिः ॥ ८० ॥
गृहीतग्रहणात्तस्याप्रमाणत्वं यदीष्यते ।
स्मृत्यादेरप्रमाणत्वप्रसंगः केन वार्यते ॥ ८१ ॥

संवादित्वात्प्रमाणत्वं स्मृत्यादेश्चेत्कथं तु तैः ।
सिद्धेर्थे वर्तमानस्य हेतोः संवादिता न ते ॥ ८२ ॥

साध्यके सिद्ध हो चुकनेपर प्रवर्त हो रहा हेतु अकिंचित्कर है, इस प्रकार किन्हीं विद्वानोंने निरूपण किया है। जैसे कि शद्ब (पक्ष) कर्ण इन्द्रियसे सुना जाता है (साध्य), शद्बपना होनेसे (हेतु), यहां शद्बका श्रावणपना प्रथमसे ही बालगोपालोंमें प्रसिद्ध है। अतः शद्बत्व हेतु कुछ भी नहीं करनेवाला अकिंचित्कर हेत्वाभास मानलिया है। अब श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि स्याद्वादनीतिको धारकर शोभाको प्राप्त हो रहे विद्वानोंकरके अकिंचित्करको हेतुका दोष नहीं विचारना चाहिये। जबकि प्रतिवादीकी ओरसे असिद्ध हो रहे धर्मको साध्य माना जाता है, ऐसी दशामें हेतुका दोष अकिंचित्कर नहीं हो सकता है। या तो वह साध्यका दोष है, अथवा सद्धेतु ही है। सद्धेतुसे जन्य अनुमान तो प्रमाण होता है। यदि कोई विद्वान् यों कहे कि गृहीतका ही उस हेतु द्वारा ग्रहण हो जानेसे उस हेतु या अनुमानको अप्रमाणपना इष्ट किया जायगा, तब तो हम कहते हैं कि यों तो गृहीतका ग्राही होनेसे स्मृति, संज्ञा, तर्क, आदिको भी अप्रमाणपनेका प्रसंग हो जाना भला किसके द्वारा रोका जा सकता है ? यदि सफल क्रियाजनकत्व या बाधारहितपन स्वरूप संवादसे युक्त होनेके कारण स्मृति आदिकको प्रमाणपना कहोगे तो उन प्रमाणोंकरके सिद्ध हो रहे अर्थमें प्रवर्त रहे हेतुका भला तुम्हारे यहां सम्वादीपन क्यों नहीं माना जायगा ? ऐसी दशामें पूर्व प्रमाणसे जाने हुये श्रावणपनेकी शद्बत्व हेतुने पुष्टि की है। अतः वह पूर्व ज्ञानका सम्वादक है। अकिंचित्कर हेत्वाभास नहीं।

प्रयोजनविशेषस्य सद्भावान्मानता यदि ।
तदाल्पज्ञानविज्ञानं हेतोः किं न प्रयोजनम् ॥ ८३ ॥
प्रमाणसंप्लवस्त्वेवं स्वयमिष्टो विरुध्यते ।
सिद्धे कुतश्चनार्थेन्यप्रमाणस्याफलत्वतः ॥ ८४ ॥

विशेष प्रयोजनका सद्भाव होनेसे यदि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदिको प्रमाणपना कहोगे तब तो अल्पज्ञानवाले जीवोंको शद्बमें श्रावणपने आदिका विशेष ज्ञान हो जाना हेतुका प्रयोजन क्यों नहीं मान लिया जावे ? दूसरी बात यह है कि अकिंचित्करको पृथक् हेत्वाभास माननेवाले विद्वान् हम जैनोंके एकदेशी हैं। उन्होंने एक अर्थमें विशेष, विशेषांशको जाननेवाले अनेक प्रमाणोंका प्रवर्त जानारूप प्रमाणसंप्लव स्वयं इष्ट किया है। यदि वे गृहीतको ग्रहण करनेसे भयभीत होंगे तो इस प्रकार उनके यहां इष्ट किये गये प्रमाणसंप्लवका विरोध प्राप्त होता है। यानी वे प्रमाणसंप्लव

नहीं मान सकेंगे। क्योंकि किसी भी एक प्रमाणसे अर्थके प्रसिद्ध हो चुकनेपर अन्य प्रमाणोंका व्यर्थपना प्राप्त होता है।

मानेनैकेन सिद्धेर्थे प्रमाणांतरवर्तने।
यानवस्थोच्यते सापि नाकांक्षाक्षयतः स्थितेः॥ ८५॥
सरागप्रतिपत्तॄणां स्वादृष्टवशतः क्वचित्।
स्यादाकांक्षाक्षयः कालदेशादेः स्वनिमित्ततः॥ ८६॥

यदि जैनोंके एकदेशी यों कहें कि एक प्रमाणकरके पदार्थके सिद्ध हो जानेपर पुनरपि यदि अन्य प्रमाणोंकी प्रवृत्ति मानी जायगी तो अनवस्था दोष होगा। दूसरे, तीसरे, चौथे, आदि प्रमाणोंके प्रवर्तनेकी जिज्ञासा बढती ही चली जायगी। इसके उत्तरमें श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि तुमने जो अनवस्था दोष कहा है, वह भी आकांक्षाओंका क्षय हो जानेसे नहीं आता है। यह व्यवस्थित सिद्धान्त है। जबतक आकांक्षा बढती जायगी तबतक प्रमाणोंको उठाते जायेंगे। निराकांक्ष होनेपर प्रमाता वहीं अवस्थित हो जावेगा। रागसहित या इच्छासहित प्रतिपत्ताजनोंको अपने अदृष्टके वशसे कहीं दो, चार, छः, कोटि चलकर आकांक्षाका क्षय हो जायगा। अर्थात्—जैसे अत्यन्त प्रिय पदार्थके वियोग हो जानेपर उसकी स्मृतियां हमको सताती रहती हैं। पश्चात् हमारे सुख दुःखोंके भोग अनुकूल पुण्यपापोंकरके वे स्मृतियां प्रायः नष्ट हो जाती हैं। यदि वे स्मृतियां या आकांक्षायें नष्ट नहीं होय तो जीवित रहना या अन्य कार्योंको करना ही अति कठिन होजाय। बडे अच्छे कारण मिल जाते हैं, जिनसे कि वे झटिति विलीन हो जाती हैं, तथैव अन्योंको जानना है अथवा अन्य सुख दुःखोंको भी भोगना है, आदिके कारण हो रहे स्वकीय अदृष्टसे एक ही क्षणमें बढ रही जिज्ञासाओंका नाश कर दिया जाता है। तथा कहीं कहीं अपनी आकांक्षाक्षयके निमित्तकारण काल, देश, विषयांतर संचार विस्मारकपदार्थ सेवन, मनकी अनेकाग्रता, प्रकृति (मस्ताना आदत) आदिकसे भी आकांक्षाका क्षय हो जाता है। कर्तृवादी नैयायिक तो बढती हुयी आकांक्षा या अनवस्थाका क्षय करते रहना इस कार्यको दयालु ईश्वरके हाथ सौंप देते हैं। किन्तु कृतकृत्य मुक्तसे यह कार्य कराना अनेक दोषास्पद है।

वीतरागाः पुनः स्वार्थान् वेदनैरपरापरैः।
प्रतिक्षणं प्रवर्तंते सदोपेक्षापरायणाः॥ ८७॥

आकांक्षाका क्षय हो जानेसे रागी ज्ञाताओंको तो अब अनवस्था हो नहीं सकती है। हां, फिर उत्तर उत्तर कालमें होनेवाले ज्ञानोंकरके स्व और अर्थोंको जान रहे वीतराग पुरुष तो सर्वदा

उपेक्षा धारनेमें तत्पर हो रहे संते प्रतिक्षण प्रवृत्ति कर रहे हैं। अर्थात्-वीतराग मुनि या सर्वज्ञके कहीं किसी पदार्थमें आकांक्षा तो नहीं है। उनके ज्ञानका साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति और परम्पराफल तो विषयोंमें रागद्वेषकी नहीं परिणति होनारूप उपेक्षा भाव है। सर्वज्ञका ज्ञान गृहीतग्राही नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञको सभी पदार्थ अपने अपने धर्मोंसे सहित होकर भासते हैं। जो पदार्थ भविष्यकालमें होनेवाले हैं, उनको इस समय भावीपनसे अर्थात्-भविष्यमें उपजने वाले हैं, इस प्रकार जानेगा, वर्तमानरूपसे या भूतरूपसे उनको नहीं जानेगा। हां, भविष्य पदार्थोंका उत्पत्स्यमानता धर्म अब जाना जा रहा है। उत्पन्नता धर्म इस समय नहीं जाना जा रहा है। किन्तु वह उत्पन्नता उनकी भवितव्यस्वरूपकरके जान ली गयी है। हो चुकेपनसे नहीं जानी गयी है। तथा उत्तर कालोंमें वह सर्वज्ञ उन धर्मोंके विपरीतपनेसे पदार्थोंको जान रहा है। उस समयके वर्तमान पदार्थोंको इस समय हो चुकेपनसे जान रहा है और उस समयके भविष्य पदार्थोंको वर्तमान रूपसे जान रहा है। भूत पदार्थोंको चिरतरभूत, चिरतमभूतपनेसे जान रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक भूत, वर्तमान, भविष्य, क्षणोंकी विशिष्टताओंके जालसे वस्तु जकड रही हैं। जिस समय जिस धर्मसे विशिष्ट वस्तु होगी, सर्वज्ञके ज्ञानमें वह उसी प्रकार प्रतिभासेगी, दूसरे प्रकारोंसे नहीं। देश, काल, आदिकी विशिष्टता तो पदार्थोंके साथ तदात्मक हो रही है। न्यारी नहीं हो सकती है। अतः देश, काल, आदिकी विशिष्टताओंसे सहित पदार्थोंको प्रतिक्षण नवीन नवीन ढंगसे जान रहा सर्वज्ञका ज्ञान कथमपि गृहीतग्राही नहीं है। श्री प्रभाचन्द्र स्वामीने प्रमेयकमलमार्तण्ड ग्रन्थमें ऐसा ही समझाया है। इस तत्त्वके विशेष जिज्ञासु विद्वान् वहां देखकर परितृप्ति करें।

प्रमाणसंप्लवे चैवमदोषे प्रत्युपस्थिते ।
गृहीतग्रहणात् क स्यात् केवलस्याप्रमाणता ॥ ८८ ॥
ततः सर्वप्रमाणानामपूर्वार्थत्वं सन्नयैः ।
स्यादकिंचित्करो हेत्वाभासो नैवान्यथार्पणात् ॥ ८९ ॥

इस प्रकार प्रतिवादी जैनोंके द्वारा एक भी अर्थमें धर्मोंकी अपेक्षा विशेष, विशेषांशोंको जाननेवाले बहुत प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होनास्वरूप प्रमाणसंप्लवके इस रीतिसे दोषरहित होकर उपस्थित करनेपर भला केवलज्ञानकी गृहीत ग्रहण करनेसे अप्रमाणता कहां हो सकेगी ? तिस कारणसे श्रेष्ठ नयों करके सम्पूर्ण प्रमाणोंके अपूर्व अर्थका ग्राहीपना सिद्ध हो चुका है। अतः अकिंचित्कर नामका कोई भी हेत्वाभास नहीं हो सकता है। अर्थात्—शद्बको पहिले जानते हुये भी अब उसका कर्ण इन्द्रियसे ग्रहण होना अनुमान द्वारा जाना जा सकता है। ऐसी दशामें

अनुमान या हेतु कुछ कार्यको करनेवाला कहा जा सकता है। किसी भी पुरुषके प्रतिदिन होनेवाले ज्ञानोंमेंसे बहुभाग ज्ञान तो जानी हुई वस्तुके विशेषांशोंको ही अधिकतर जानते रहते हैं। हां, बहुत थोडे ज्ञान नवीन नवीन वस्तुओंको जान पाते हैं। बडे बडे कार्यकर्त्ता शिल्पकर्मा या वैज्ञानिकोंका भी बहुभाग समय प्रारब्ध कार्यके विशेषांशोंके बनानेमें ही व्यतीत होता है। सर्वथा नवीन कार्योंके प्रारम्भ करनेके अवसर बहुत थोडे मिलते हैं। यह नियम सभी कार्योंमें प्रायः घटित हो जाता है। अतः अकिंचित्कर नामका हेत्वाभास नहीं मानना चाहिये, एक विवक्षासे विचारा जाय तब तो वह प्रत्युत अन्यथा यानी असद्धेतुओंसे भिन्न प्रकारका समीचीन हेतु है। उसमें हेतुका कोई भी दोष नहीं सम्भवता है।

तत्रापि केवलज्ञानं नाप्रमाणं प्रसज्यते।
साद्यपर्यवसानस्य तस्यापूर्वार्थतास्थितेः ॥ ९० ॥

अपूर्व अर्थको जाननेवाले उन ज्ञानोंमें केवलज्ञानके अप्रमाण होनेका प्रसंग नहीं आता है। क्योंकि ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे विवक्षित कालमें उपजे सादि और अनन्तकालतक ठहरनेवाले उस केवलज्ञानको अपूर्व अर्थका ग्राहकपना व्यवस्थित हो चुका है। भावार्थ—विशेषणोंकी अत्यल्प परावृत्ति हो जानेसे उनको जाननेवाले ज्ञानमें अपूर्वार्थता आ जाती है। थोडा विचारो तो सही कि संसारमें अपूर्व अर्थ कौन समझे जाते हैं ? सभी द्रव्य पूर्वार्थ हैं। किन्तु फिर भी सौन्दर्य, अधिक धनवत्ता, प्रतिभा, विलक्षण तपस्या, अद्भुत वीर्य, विशेष चमत्कार आदि धर्मोंको धार लेनेसे यथार्थ अपूर्व अर्थ मान लिये जाते हैं। सूक्ष्म विचार करनेपर अत्यन्त छोटे अंशको भी नवीन धारनेपर पदार्थमें अपूर्वार्थता आ जाती है। जितनी जहां अपूर्वार्थता सम्भवती है, उसपर सन्तोष करना चाहिये। अन्यथा भक्ष्य अभक्ष्य विचार पतिव्रतापन अचौर्य आदिक लोकव्यवहार सभी भ्रष्ट हो जायेंगे।

प्रादुर्भूतिक्षणादूर्ध्वं परिणामित्वविच्युतिः।
केवलस्यैकरूपत्वादिति चोद्यं न युक्तिमत् ॥ ९१ ॥
परापरेण कालेन संबंधात्परिणामि च।
सम्बन्धिपरिणामित्वे ज्ञातृत्वे नैकमेव हि ॥ ९२ ॥

कोई कुतर्क उठा रहा है कि अपनी उत्पत्ति होनेके क्षणसे ऊपर उत्तरकालमें केवलज्ञानका परिणामीपना विशेषरूपेण च्युत हो जाता है। क्योंकि केवलज्ञान तो सदा एकरूप ही बना रहेगा। जिन त्रिलोक, त्रिकालवर्ती पदार्थोंको आज जान रहा है, उन ही को सर्वदा जानता रहेगा। उत्पाद, विनाश और ध्रुवतारूप परिणामसे रहितपना केवलज्ञानमें नहीं घटता है। अब आचार्य

कहते हैं कि इस प्रकार किसीकी वितर्कणा करना तो युक्तिसहित नहीं है। क्योंकि उत्तर उत्तरवर्ती कालके साथ सम्बन्ध हो जानेसे उत्पाद और व्ययरूप परिणाम घटित हो जाते हैं। केवलज्ञानकी पूर्व समयवर्ती पर्यायका नाश हो जाता है। और उत्तरकालमें नवीन पर्यायकी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार सम्बन्धविशिष्ट और परिणामसहितपना हो चुकनेपर केवलज्ञानी ज्ञातापन करके नियमसे वह एक ही है, वह ध्रुवता है। अतः परिणामीपन च्युत नहीं हुआ। प्रतिष्ठित रहा।

एवं व्याख्यातनिःशेषहेत्वाभाससमुद्भवं।
ज्ञानं स्वार्थानुमाभासं मिथ्यादृष्टेर्विपर्ययः ॥ ९३ ॥
सर्वमेव विजानीयात् सम्यग्दृष्टेः शुभावहं।

इस प्रकार व्याख्यान किये जा चुके सम्पूर्ण हेत्वाभासोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान स्वार्थानुमानरूप मतिज्ञानका आभास है। मिथ्यादृष्टि जीवके अनुमानका आभास नामक विपर्ययज्ञान हो जाता है। हां, सम्यग्दृष्टि जीवके समीचीन हेतुओंसे उत्पन्न हुए सभी ज्ञान प्रमाणरूप होते हुये कल्याणकारी है, यह बढिया समझ लेना चाहिये।

यथा श्रुतज्ञाने विपर्यासस्तद्वत्संशयोऽनध्यवसायश्च क्वचिदाहार्यः प्रदर्शितस्तथावग्रहादिस्वार्थानुमानपर्यन्तमतिज्ञानभेदेषु प्रतिपादितविपर्यासवत्संशयोनध्यवसायश्च प्रतिपत्तव्यः। सामान्यतो विपर्ययशब्देन मिथ्याज्ञानसामान्यस्याभिधानात्।

जिस प्रकार श्रुतज्ञानमें आहार्य विपर्यास ग्यारहवीं वार्तिकसे सत्रहवीं तक कहा था उसीके समान श्रुतज्ञानमें आहार्य संशय और आहार्य अनध्यवसाय, भी कहीं कहीं हो रहा अठारहवीं उन्नीसवीं वार्तिकद्वारा भले प्रकार दिखला दिया है। उसी प्रकार अवग्रहको आदि लेकर स्वार्थानुमान पर्यंत मतिज्ञानके भेदोंमें भी बीसवीं कारिकासे प्रारम्भ कर तिरानव्वेवीं कारिकातक कहे गये विपर्यासके समान संशय और अनध्यवसाय भी क्वचित् होते हुये समझ लेने चाहिये। क्योंकि सूत्रमें सामान्यरूपसे कहे गये विपर्यय शब्द करके सभी मिथ्याज्ञानोंका सामान्यपनेसे कथन हो जाता है। अर्थात् हां, यह बात कही जा चुकी है कि आहार्यविपर्यय तो श्रुतज्ञानोंमें ही होते हैं। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, स्वार्थानुमान, इन मतिज्ञानोंमें सहज विपर्ययरूप संशय, भ्रान्ति, अनध्यवसाय होते हैं। क्योंकि गृहीत मिथ्यादर्शनके समान जान बूझकर विपरीत जान लेना ऐसे मिथ्यादृष्टियोंके आहार्यविपर्यय तो कुश्रुतज्ञानोंमें ही सम्भवते हैं। हिंसा, चोरी, व्यभिचारको बुरा जानते हुये भी कुगुरु या मिथ्याशास्त्रोंके उपदेश द्वारा भला समझने लग जाते हैं। मिथ्यात्व, कषाय, मिथ्यासंस्कार, इन्द्रियलोलुपता, आदि कारणोंसे जीवोंकी प्रवृत्ति विपर्ययज्ञानोंकी ओर झुक जाती है। अतः श्रुतज्ञानके आहार्य और सहज दोनों विपर्यय होते हैं

तथा मतिज्ञानके सहज ही विपर्यय हो सकते हैं। एक बात यहां यह भी समझनेकी है कि हेतुकी साध्यके साथ अभेद विवक्षा करनेपर हेतुसे उत्पन्न हुआ साध्यज्ञान तो मतिज्ञानरूप अनुमान है। और हेतुसे साध्यका अर्थान्तरभाव होनेपर हेतुसे हुआ साध्यज्ञान श्रुतज्ञानरूप अनुमान है। स्वार्थानुमानको मतिज्ञान और परार्थानुमानको श्रुतज्ञानस्वरूप भी कह सकते हैं।

संप्रति वाक्यार्थज्ञानविपर्ययमाहार्यं दर्शयन्नाह।

अब इस समय श्रुतज्ञानके विशेष हो रहे वाक्यार्थज्ञानके आहार्यविपर्ययको दिखलाते हुये ग्रन्थकार कहते हैं। अर्थात्—गच्छेत्, पचेत्, यजेत्, इत्यादिक विधिलिङ् अन्तवाले वाक्योंके अर्थको जाननेमें मीमांसक, अद्वैतवादी, या सौगत आदिकोंको जो बलात्कार विपर्ययज्ञान हो रहा है, उसका प्रदर्शन करते हैं।

नियोगो भावनैकांताद्धात्वर्थो विधिरेव च।
यंत्रारूढादि वार्थोन्यापोहो वा वचसो यदा ॥ १४ ॥
कैश्चिन्मन्येत तज्ज्ञानं श्रुताभं वेदनं तदा।
तथा वाक्यार्थनिर्णीतेर्विधातुं दुःशकत्वतः ॥ १५ ॥

किन्हीं प्रभाकर मीमांसकों करके विधिलिङ् लकारान्त वाक्योंका अर्थ नियोग माना जाता है। और किन्हीं भट्ट, मीमांसकों करके वाक्यका अर्थ एकान्त रूपसे भावना मानी जा रही है। तथा किन्हीं ब्रह्माद्वैतवादियों करके सत्तामात्र शुद्ध धात्वर्थ विधिको ही विधिलिङन्त वाक्यका अर्थ स्वीकार किया जाता है। अथवा बौद्धों करके वचनका अर्थ अन्यापोह इष्ट किया जाता है। प्रभाकरोंने नियोगके यंत्ररूढ पुरुष आदिक ग्यारह भेद माने हैं। यहां हमें यह कहना है कि उन प्रभाकर, कुमारिल भट्ट, ब्रह्माद्वैतवादी, आदि पण्डितोंकरके जिस समय स्वकीय मत अनुसार उन वाक्योंका ज्ञान हो रहा है, उस समय वह ज्ञान, कुश्रुतज्ञान या श्रुतज्ञानाभास है। क्योंकि जैसा वे वाक्यका अर्थ बखान रहे हैं, उस प्रकार वाक्य अर्थके निर्णयको विधान करनेके लिये उनकी अशक्यता है। अर्थात्—नियोग, भावना आदिको वाक्यका अर्थ कैसे भी कठिनतासे वे निर्णय नहीं कर सकते हैं।

कः पुनरयं नियोगो नाम नियुक्तोहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो योगो नियोगस्तत्र मनागप्ययोगाशंकायाः संभवाभावात्।

यह प्रभाकर मीमांसकों द्वारा माना गया नियोग नामका भला क्या पदार्थ है? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर उनके मत अनुसार उत्तर दिया जाता है कि मैं इस वाक्य करके अमुक कर्म

करनेमें नियुक्त हो गया हूं। इस प्रकार " नि " यानी निरवशेष तथा " योग " यानी मन वचन काय और आत्माकी एकाग्रता होकर प्रवृत्ति हो जाना नियोग है। नियुक्त किये गये व्यक्तिका नियोज्य कर्ममें परिपूर्ण योग लग रहा है। उसमें अत्यल्प भी योग नहीं लगनेकी आशंकाकी सम्भावना नहीं है। भावार्थ—जैसे कि स्वामिभक्त सेवक या गुरुभक्त शिष्यके प्रति स्वामी या गुरु विवक्षित कार्यको करनेकी आज्ञा दे देते हैं कि तुम दिल्लीसे बादाम लेते आना अथवा तुम शाकटायन व्याकरण पढो तो वे भद्रजीव उन कार्योंमें परिपूर्ण रूपसे नियुक्त हो जाते हैं। कार्य होनेतक उनको बैठते, उठते, सोते, जागते कल नहीं पडती है। सदा उसी कार्यमें परिपूर्ण योग लगा रहता है। इसी प्रकार प्रभाकर पण्डित " यजेत " इत्यादिक वाक्योंको श्रवणकर नियोगसे आक्रान्त हो जाते हैं। प्रसव, विवाह, प्रतिष्ठा आदिके अवसरपर नाई आदि नियोगी पुरुष अपने कर्तव्यको पूरा करते हैं। तभी तो उनके नेग (नियोग) का परितोष दिया जाता है।

स चानेकधा, केषांचिल्लिङादिप्रत्ययार्थः शुद्धोऽन्यनिरपेक्षः कार्यरूपो नियोग इति मतम्।

और वह नियोग तो अनेक प्रकारका है। मीमांसकोंके प्रभाकर, भट्ट, मुरारि ये तीन भेद हैं। प्राभाकरोंकी भी अनेक शाखायें हैं। अतः किन्हीं प्राभाकरोंके यहां यजेत, चिनुयात्, आदिमें पडे हुये लिङ् प्रत्यय (त) और गच्छतु, यजताम् आदिमें पडे हुये लोट्प्रत्यय अथवा यष्टव्यं, श्रोतव्यं, आदिमें पडे हुये तव्य प्रत्ययका अर्थ तो अन्य धात्वर्थ, स्वर्गकाम, आत्मा, आदिकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ शुद्ध कार्यस्वरूप ही नियोग है। इस प्रकारका मत है। उनका ग्रन्थ वचन इस प्रकार है सो सुनो।

प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते।
कार्यरूपश्च तेनात्र शुद्धं कार्यमसौ मतः॥ १६॥
विशेषणं तु यत्तस्य किंचिदन्यत्प्रतीयते।
प्रत्ययार्थो न तद्युक्तः धात्वर्थः स्वर्गकामवत्॥ १७॥
प्रेरकत्वं तु यत्तस्य विशेषणमिहेष्यते।
तस्याप्रत्ययवाच्यत्वात् शुद्धे कार्ये नियोगता॥ १८॥

जिस कारणसे कि प्रत्ययोंका अर्थ शुद्ध कार्यस्वरूप नियोग प्रतीत हो रहा है, तिस कारण यहां वह नियोग शुद्धकार्यस्वरूप माना गया है। उस नियोगका जो कुछ भी अन्य विशेषण प्रतीत हो रहा है, वह लिङ् आदि प्रत्ययोंका अर्थ माना जाय यह तो युक्तिपूर्ण नहीं है। जैसे

कि यजि, पचि, आदि धातुओंके अर्थ शुद्ध याग, पाक हैं। स्वर्गकी अभिलाषा रखनेवाला या तृप्तिकी कामना करनेवाला तो धात्वर्थ नहीं है। हां, उस नियोगका विशेषण जो प्रेरकपना यहां माना गया है, वह तो प्रत्ययोंका वाच्य अर्थ नहीं है। इस कारण शुद्ध कार्यमें नियोगपना अभीष्ट किया गया है। यह पहिला प्रकार हुआ।

परेषां शुद्धा प्रेरणा नियोग इत्याशयः।

दूसरे मीमांसकोंका यह आशय है कि शुद्धप्रेरणा करना ही नियोग है। वह नियोग प्रत्ययका अर्थ है। अनेक जन जो यह मान बैठे हैं कि जाति, व्यक्ति, लिङ्ग तो जिस प्रकृतिसे प्रत्यय किया जाय उस प्रकृतिके अर्थ कहे जाते हैं। और संख्या, कारक ये प्रत्ययके अर्थ हैं। इस मन्तव्यकी अपेक्षा शुद्धप्रेरणाको प्रत्ययका अर्थ मानना चाहिये, वह प्रेरणा जिस धात्वर्थके साथ लग जायेगी, उस क्रियामें नियुक्तजन प्रवृत्ति करता रहेगा। हमारे ग्रन्थोंमें शुद्ध प्रेरणाको प्रत्ययका अर्थ इस श्लोकद्वारा कहा है, सो सुनलो।

प्रेरणैव नियोगोत्र शुद्धा सर्वत्र गम्यते।
नाप्रेरितो यतः कश्चिन्नियुक्तं स्वं प्रबुध्यते ॥ ९९ ॥

यहां कर्मकाण्डके प्रकरणमें सर्वत्र शुद्ध प्रेरणारूप नियोग ही वाक्यद्वारा जाना जा रहा है। जिस कारणसे कि प्रेरणारहित होता हुआ कोई भी प्राणी अपनेको नियुक्त नहीं समझ रहा है। जब कि नियुक्त और प्रेरित समानार्थक हैं तो नियोगका अर्थ शुद्ध प्रेरणा अर्थापत्तिसे ज्ञात कर लिया जाता है। यह दूसरा नियोग है।

प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इति केचिन्मन्यंते।

कोई प्रभाकर मतानुयायी मीमांसक प्रेरणासे सहित हो रहा कार्य ही नियोग है। इस प्रकार मान रहे हैं। उनका ग्रन्थवाक्य यों है कि—

ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत्।
स्वसिद्ध्यै प्रेरकं तत्स्यादन्यथा तन्न सिद्ध्यति ॥ १०० ॥

यह मेरा कर्तव्य कार्य है, इस प्रकार जब पहिले ज्ञात हो जावेगा तभी तो वह वाक्य अपने वाच्य अर्थ यज्ञकर्मकी सिद्धि करानेके लिये श्रोता पुरुषका प्रेरक हो सकेगा। अन्यथा यानी मेरा यह कर्तव्य है, इस प्रकार ज्ञान नहीं होनेपर वह वाक्य प्रेरक सिद्ध नहीं होता है। अतः अकेली प्रेरणा या शुद्धकार्य नियोग नहीं है। किन्तु प्रेरणासे सहित हुआ कार्य नियोग है। यह तीसरा प्रकार हुआ।

कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यपरे ।

अपर मीमांसक कहते हैं कि कार्यसे सहित हो रही प्रेरणा नियोग है । अर्थात्—पहिले तृतीय पक्षमें कार्यकी प्रधानता थी, अब प्रेरणाकी मुख्यता है । शाकसहित रोटी, रोटीसहित शाक या गुरुसे सहित शिष्य और शिष्यसे सहित गुरु, इनमें जो विशेषणविशेष्य भाव लगाकर प्रधानता और अप्रधानता हो जाती है, उसी प्रकार यहां भी विशेषणको गौण और उससे सहित हो रहे विशेष्यको मुख्य जान लेना चाहिये । ग्रन्थोंमें लिखा है कि:—

प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणेह विना क्वचित् ।
ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसंगता ॥ १०१ ॥

इस जगत्में कोई भी पुरुष कर्तव्यपनेको जाने विना किसी भी कार्य करनेमें प्रेरित हो रहा नहीं पाया जाता है । तिस कारणसे कार्यसे सहित हो रही प्रेरणा ही यहां अच्छा नियोग कही गयी है, यह नियोगका चतुर्थ प्रकार है ।

कार्यस्यैवोपचारतः प्रवर्तकत्वं नियोग इत्यन्ये ।

अब कोई अन्य मीमांसक यों कह रहे हैं कि उपचारसे कार्यका ही प्रवर्तकपना नियोग है । अर्थात्—वेदवाक्यको जो मुख्य प्रेरकपना है, वह यागस्वरूप कार्यमें उपचरित हो जाता है । जैसे कि त्रिलोकसारके श्रद्धेय प्रमेयको त्रिलोकसारके पढनेमें छात्रके लिये प्रेरकपना है । किन्तु सुन्दर लिखी हुई त्रिलोकसारकी चित्रित पुस्तकमें उपचारसे प्रेरकपना कह दिया जाता है । अतः उपचारसे कार्य ही प्रवर्तक है, यही पांचवां नियोग है ।

प्रेरणाविषयः कार्यं न तु तत्प्रेरकं स्वतः ।
व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेय उपचर्यते ॥ १०२ ॥

यही ग्रन्थोंमें लिखा है कि वेदवाक्यजन्य यागानुकूल व्यापारस्वरूप प्रेरणा है । यज्ञ करना, पूजन करना आदि कार्य उस प्रेरणाके कर्तव्य विषय हैं । वह कार्य स्वयं अपने आपसे यज्ञका प्रेरक नहीं है । किन्तु प्रमाणके व्यापारका उपचार प्रमेयमें कर दिया जाता है । कर्तव्य कार्य यदि अधिक प्रिय होता है तो आप्तवचन (जो कि वस्तुतः उस प्रिय कार्यको करानेमें प्रेरणा कर रहा है) को छोडकर कार्यमें ही प्रवर्तकपनेके गीत गाये जाते हैं ।

कार्यप्रेरणयोः संबंधो नियोग इत्यपरे ।

यागरूप कार्य और प्रेरणाका सम्बन्ध हो जाना नियोग है, यों इतर मीमांसक कह रहे हैं । इसका प्रमाणवचन यह है कि:—

प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् ।
कार्यप्रेरणयोर्योगो नियोगस्तेन सम्मतः ॥ १०३ ॥

जिस कारणसे कि प्रेरणा विचारी कार्यके विना किसी भी पुरुषको प्रेरणा करानेवाली नहीं होती है, तिस कारण कार्य और प्रेरणाका सम्बन्ध हो जाना ही नियोग सम्मत किया गया है। यह छठवां नियोग है ।

तत्समुदायो नियोग इति चापरे ।

उन कार्य और प्रेरणाका समुदाय हो जाना नियोग है। इस प्रकार कोई न्यारे मीमांसक कह रहे हैं, लिखा है कि—

परस्पराविनाभूतं द्वयमेतत्प्रतीयते ।
नियोगः समुदायोस्मात्कार्यप्रेरणयोर्मतः ॥ १०४ ॥

परस्परमें अविनाभावको प्राप्त होकर मिले हुये कार्य और प्रेरणा दोनों ही एकमएक प्रतीत हो रहे हैं। इस कारण कार्य और प्रेरणाका समुदाय यहां नियोग माना गया है, यह सातवां ढंग है।

तदुभयस्वभावनिर्मुक्तो नियोग इति चान्ये ।

उन कार्य और प्रेरणा दोनों स्वभावोंसे विनिर्मुक्त हो रहा नियोग है, इस प्रकार कोई अन्य विद्वान् कह रहे हैं।

सिद्धमेकं यतो ब्रह्मगतमाम्नायतः सदा ।
सिद्धत्वेन च तत्कार्यं प्रेरकं कुत एव तत् ॥ १०५ ॥

जिस कारणसे कि वेदवाक्योंद्वारा सदा जाना जा रहा, एक ब्रह्मतत्त्व प्रसिद्ध हो रहा है, कर्मकाण्डके प्रतिपादक वाक्योंमें भी कार्य और प्रेरणा की नहीं अपेक्षा करके परमात्माका प्रकाश हो रहा है, जब कि परमात्मा अनादिकालसे सिद्ध है, इस कारण वह किसीका कार्य है। भला प्रेरक तो वह कैसे भी नहीं हो सकता है। अतः कार्य और प्रेरणा इन दोनों स्वभावोंसे रहित नियोग है। नियोगका यह आठवा विधान है।

यंत्रारूढो नियोग इति कश्चित् ।

यंत्रमें आरूढ होनेके समान याग आदि कार्यमें आरूढ हो जाना नियोग है। इस प्रकार कोई मीमांसक कह रहा है।

कामी यत्रैव यः कश्चिन्नियोगे सति तत्र सः ।
विषयारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्तते ॥ १०६ ॥

जो भी कोई भी जीव जिस ही स्वर्ग आदि विषयमें तीव्र अभिलाषा रखनेवाला होता है, वह जीव उस कार्यके करनेमें नियोग हो जानेपर अपनेको याग आदि विषयोंमें आरूढ मान रहा प्रवर्त हो जाता है । भावार्थ—जैसे झूला, मशीनका घोडा आदि यंत्रोंपर आरूढ हो रहा पुरुष तैसे भावोंसे रंगा हुआ प्रवर्त रहा है । उसी प्रकार जिसको जिस विषयकी आसक्ति (लगन) लग रही है, वह जीव उस ही कार्यमें अपनेको रंगा हुआ मानकर प्रवृत्ति करता है । यह नवमां विधान है ।

भोग्यरूपो नियोग इत्यपरः ।

कार्य करचुकनेपर भविष्यमें जो भोग्यस्वरूप हो जाता है, वही वाक्यका अर्थ नियोग है, ऐसा कोई अन्य कह रहा है । लिखा भी है कि:—

ममेदं भोग्यमित्येवं भोग्यरूपं प्रतीयते ।
ममत्वेन च विज्ञानं भोक्तर्येव व्यवस्थितम् ॥ १०७ ॥
स्वामित्वेनाभिमानो हि भोक्तुर्यत्र भवेदयं ।
भोग्यं तदेव विज्ञेयं तदेवं स्वं निरुच्यते ॥ १०८ ॥
साध्यरूपतया येन ममेदमिति गम्यते ।
तत्प्रसाध्येन रूपेण भोग्यं स्वं व्यपदिश्यते ॥ १०९ ॥
सिद्धरूपं हि यद्भोग्यं न नियोगः स तावता ।
साध्यत्वेनेह भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता ॥ ११० ॥

किसी उपयोगी वाक्यको सुनकर मुझे यह भोग्य है, इस प्रकार भोग्यस्वरूपकी प्रतीति हो जाती है । जैसे कि अपराधीको कठोर कारागृहवासकी आज्ञाके वचन सुनकर भोग्यरूपकी प्रतीति हो जाती है । ऐसे ही वेदवाक्यों द्वारा आत्माको स्वकीय भोग्यस्वरूपकी प्रतीति हो जाती है । उस भोग्यस्वरूपमें मेरेपने करके जो विज्ञान हो रहा है, वह भोक्ता आत्मामें ही व्यवस्थित हो रहा है । भोक्ता आत्माका जिस विषयमें स्वामीपने करके यह अभिप्राय (साभिमान) हो रहा है, अर्थात्—जिसका वह स्वामी है, वही पदार्थ भोग्य समझना चाहिये । यथार्थमें देखा जाय तो यह आत्माका स्वरूप ही इस प्रकार स्व शद्बके द्वारा वाच्य किया जाता है । आत्मा अपने स्वभावोंका

भोक्ता है। जैन लोग भी मानते हैं मेरे द्वारा यह कार्य साध्य है। इस प्रकार साधने योग्य स्वरूपसे जिस पुरुषकरके यह जान लिया जाता है, वह अच्छे प्रकार साध्यरूप करके निजस्वरूप भोग्य कह दिया जाता है। जो आत्माका स्वरूप सिद्ध हो चुका भोग्य है, तितने मात्रसे वह नियोग नहीं है। क्योंकि भविष्यमें साधने योग्यपनेकरके यहां भोग्यकी व्यवस्था है, जो स्वरूप भविष्यमें भोगने योग्य होगा। अतः प्रेरकपनेसे भोग्यको नियोगपना इष्ट किया है। अर्थात्—भविष्यमें करने योग्य ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंसे विशिष्ट आत्माका स्वरूप भोग्य है। अतः भोग्यस्वरूप नियोग है, यह दसवां प्रकार नियोगका है।

पुरुष एव नियोग इत्यन्यः।

आत्मा ही नियोग है, इस प्रकार कोई अन्य प्रभाकर कह रहा है। ग्रन्थका वचन यह है:—

ममेदं कार्यमित्येवं मन्यते पुरुषः सदा।
पुंसः कार्यविशिष्टत्वं नियोगः स्यादबाधितः॥ १११॥
कार्यस्य सिद्धौ जातायां तद्युक्तः पुरुषस्तदा।
भवेत्साधित इत्येवं पुमान् वाक्यार्थ उच्यते॥ ११२॥

यह मेरा कार्य है, इस प्रकार आत्मा सर्वदा मानता रहता है। इस कारण पुरुषका कार्यसे विशिष्टपना ही बाधाओंसे रहित हो रहा नियोग है। यह नियोग विधि लिङ्का वाच्य अर्थ है। कार्यकी सिद्धि हो चुकनेपर उस समय कार्यसे युक्त हो रहा पुरुष साधा गया समझा जाता है। इस कारण कार्ययुक्त पुरुष ही यों वाक्यका अर्थ कहा गया है। नियोगका यह ग्यारहवां भेद है।

सोऽयमेकादशविकल्पो नियोग एव वाक्यार्थ इत्येकांतो विपर्ययः प्रभाकरस्य तस्य सर्वस्याप्येकादशभेदस्य प्रत्येकं प्रमाणाद्यष्टविकल्पानतिक्रमात्। यदुक्तम्।

सो यह पूर्वोक्त प्रकार ग्यारह भेदवाला नियोग ही वाक्यका अर्थ है। इस प्रकार प्रभाकरोंका एकान्तरूपसे आग्रह करना निरा विपर्यय ज्ञान है। क्योंकि उन ग्यारहों भी भेदवाले सभी नियोगोंका प्रत्येकमे प्रमाण, प्रमेय आदि आठ विकल्पों करके अतिक्रमण नहीं हो सकता है। अर्थात्—ग्यारहों भी नियोगोंमें प्रत्येकका प्रमाण, प्रमेय आदि विकल्प उठाकर विचार किया जायगा तो वे ठीक ठीक रूपसे व्यवस्थित नहीं हो सकेंगे, जो ही रविगुप्त नामक विद्वानोंने कहा है।

प्रमाणं किं नियोगः स्यात्प्रमेयमथवा पुनः।
उभयेन विहीनो वा द्वयरूपोथवा पुनः॥ ११३॥

शब्दव्यापाररूपो वा व्यापारः पुरुषस्य वा ।
द्वयव्यापाररूपो वा द्वयाव्यापार एव वा ॥ ११४ ॥

प्रभाकरोंके प्रति भट्ट मत अनुयायी पूंछते हैं कि तुम्हारा माना हुआ वह नियोग क्या प्रमाणरूप होगा ? या प्रमेयस्वरूप होगा ? अथवा क्या फिर दोनों प्रमाण प्रमेयोंसे रहित होगा ? अथवा क्या पुनः प्रमाणप्रमेय दोनों स्वरूप होगा ? अथवा क्या शद्बका व्यापारस्वरूप होगा ? तथा क्या पुरुषका व्यापारस्वरूप वह माना जावेगा ? अथवा क्या शद्ब और पुरुष दोनोंका मिला हुआ व्यापार स्वरूप होगा ? अथवा क्या शद्ब और पुरुषके व्यापारोंसे रहित ही उस नियोगका स्वरूप होगा ? इन पक्षोंको लेकर स्पष्ट उत्तर कहो ?

तत्रैकादशभेदोपि नियोगो यदि प्रमाणं तदा विधिरेव वाक्यार्थ इति वेदांतवादप्रवेशः प्रभाकरस्य स्यात् प्रमाणस्य चिदात्मकत्वात्, चिदात्मनः प्रतिभासमात्रत्वात्तस्य च परब्रह्मत्वात् । प्रतिभासमात्राद्धि पृथग्विधिः कार्यतया न प्रतीयते घटादिवत् प्रेरकतया वचनादिवत् । कर्मकरणसाधनतया च हि तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकताप्रत्ययो युक्तो नान्यथा । किं तर्हि, द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमंतव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादि श्रवणादवस्थांतरविलक्षणेन प्रेरितोहमिति जाताकूतेनाकारेण स्वयमात्मैव प्रतिभाति स एव विधिरिति वेदांतवादिभिरभिधानात् ।

यहां श्री विद्यानन्द आचार्य नियोगवादी प्रभाकरोंके मतका भट्ट मीमांसकों करके खण्डन कराये देते हैं । भट्ट मीमांसकोंने जिस प्रकार नियोगका खण्डन किया है, वह हमको अभीष्ट है । भाट्ट कहते हैं कि ग्यारहों भेदवाला नियोग यदि उन आठ भेदोंसे पहिला भेद प्रमाणस्वरूप है । तब तो कर्तव्य अर्थका उपदेश या शुद्ध सन्मात्रस्वरूप विधि ही वाक्यका अर्थ है । इस प्रकार प्रभाकरके यहां ब्रह्माद्वैतको कहनेवाले वेदान्तवादका प्रवेश हो जावेगा । क्योंकि प्रमाण तो चैतन्य आत्मक है और चिद्स्वरूप आत्मा केवल प्रतिभासमय है और वह शुद्ध प्रतिभास तो ब्रह्मस्वरूप है । केवल प्रतिभाससे न्यारी कोई विधि घटादिकके समान कार्यरूपपने करके नहीं प्रतीत हो रही है । अर्थात्—घट, पट, पुस्तक, आदिक जैसे कार्यपनेसे प्रतीत हो रहे हैं, वैसी विधि कार्यरूप नहीं दीख रही है । अथवा वचन, अंगुलीद्वारा संकेत आदिके समान प्रेरकपने करके भी विधि नहीं जानी जा रही है । ये व्यतिरेक दृष्टान्त हैं । यानी वचन, चेष्टा आदिक जैसे लोकमें प्रेरक माने गये हैं । वैसी प्रतिभासस्वरूप विधि प्रेरणा करनेवाली नहीं है । हां, कर्मको वाच्यार्थ साधनेवालेपने करके या करणको वाच्य अर्थ साधनेवालेपने करके यदि विधिकी प्रतीति हो रही होती, तब तो विधिमें कार्यपन या प्रेरकपन करके ज्ञान होना उचित होता । अन्यथा यानी कर्मसाधन या करणसाधनपनेके

बिना ही शुद्ध सन्मात्र विधिकी प्रतीति हो जानेपर तो कार्यपन या प्रेरकपनका ज्ञान करना उचित नहीं पड़ेगा। अर्थात्—जो किया जाय वह कर्म है (क्रियते इति कर्म)। जैसे घट, पट आदिक और स्वकृत्यमें पुरुष जिसकरके प्रेरा जाय वे वचन आदिक प्रेरक करण हैं (प्रेर्यतेऽनेन इति प्रेरकं)। किन्तु " विधीयते यत् या विधीयतेऽनेन " इस प्रकार निरुक्ति करके विधि शब्द नहीं साधा गया है। तो वह विधि क्या है ? इसका उत्तर यों है कि अरे मैत्रेय ! यह आत्मा दर्शन करने योग्य है। आत्माका दर्शन यों हो जाता है कि पहिले आत्माका वेदवाक्यों द्वारा श्रवण करना चाहिये। तभी ब्रह्मज्ञानमें तत्परता हो सकती है। पुनः श्रुत आत्माका युक्तियोंसे विचार कर अनुमनन करना चाहिये। श्रवण और मननसे निश्चित किये गये अर्थका मनसे परिचिन्तन करना चाहिये। अथवा " तत्त्वमसि " वह प्रसिद्ध परब्रह्म तू ही है। इत्यादिक वैदिक शब्दोंके श्रवणसे मैं पहिली अदर्शन, अश्रवण आदिकी अवस्थाओंकी अपेक्षा विलक्षण हो रहीं दूसरी अवस्थाओंकरके इस समय प्रेरित होगया हूं। इस प्रकार " अहम् " का दर्शन आदिद्वारा प्रत्यक्ष करानेवाली उत्पन्न हुई आकारवाली चेष्टा करके स्वयं आत्मा ही प्रतिभास रहा है वह आत्मा ही तो विधि है। इस प्रकार वेदान्तवादियोंने कथन किया है। अतः नियोगको प्रमाणरूप माननेपर प्रभाकरको वेदान्तवादी बनना पड़ेगा, अन्य विरुद्धमतोंका आश्रय करलेना भारी निर्बलता है।

प्रमेयत्वं तर्हि नियोगस्यास्तु प्रमाणत्वे दोषाभिधानात् इति कश्चित्। तदसत्, प्रमाणवचनाभावात्। प्रमेयत्वे हि तस्य प्रमाणमन्यद्वाच्यं, तदभावे क्वचित्प्रमेयत्वायोगात्। श्रुतिवाक्यं प्रमाणमिति चेन्न तस्याचिदात्मकत्वे प्रमाणत्वाघटनादन्यत्रोपचारात्। संविदात्मकत्वे श्रुतिवाक्यस्य पुरुष एव तदिति स एव प्रमाणं तत्संवेदनविवर्तश्च नियुक्तोहमित्यभिधानरूपो नियोगः प्रमेय इति नायं पुरुषादन्यः प्रतीयते यतो वेदांतवादिमतानुप्रवेशोऽस्मिन्नपि पक्षेन संभवेत्।

नियोगको प्रमाणपना माननेपर दोषोंका कथन कर दिया गया है। इस कारण नियोगको तब तो प्रमेयपना रहे, इस प्रकार कोई पक्ष ले रहा है। उसका वह कथन भी असत्य है। क्योंकि प्रमाणके होनेपर ही उससे जानने योग्य प्रमेयका कथन हो सकता है। किन्तु प्रमाणके वचनका अभाव है। जब कि उस नियोगको प्रमेयपना माना जावेगा तो उसका ग्राहक प्रमाण अन्य तुम प्रभाकरोंको कहना ही चाहिये। क्योंकि उस प्रमाणके बिना किसी भी पदार्थमें प्रमेयपनका योग नहीं हो पाता है। यदि वेदवाक्योंको प्रमाण कहोगे तब तो हम भट्ट कहते हैं कि यह तो तुम नहीं कह सकते हो। क्योंकि वचन जड़ होते हैं। उपचारसे भले ही वचनोंको प्रमाण कह दिया जाय। उपचारके सिवाय उन वेदवाक्योंको चैतन्यआत्मकपना नहीं होते सन्ते मुख्यरूपसे प्रमाणपना नहीं घटित होता है। हां, यदि वेदवाक्योंको चैतन्य आत्मक माना जावेगा, तब तो परब्रह्म ही श्रुतिवाक्य हुआ, इस ढंगसे

तो वह ब्रह्म ही प्रमाण हो गया और उसकी चैतन्यस्वरूप पर्यायें तो " मैं स्वर्में नियुक्त हो गया हूं " इस प्रकार कथन करना स्वरूप नियोग प्रमेय हो गया। इस ढंगसे यह प्रमेय तो परब्रह्मसे न्यारा प्रतीत नहीं हो रहा है। जिससे कि-इस प्रमेयरूप दूसरे पक्षमें भी वेदान्तवादियोंके मतका प्रवेश नहीं सम्भवे। अर्थात्—नियोगको प्रमेय माननेपर भी प्रभाकरोंको वेदान्तवादियोंके मन्तव्य अनुसार ब्रह्म अद्वैतवादी बनना पडेगा।

प्रमाणप्रमेयस्वभावो नियोग इति चेत् सिद्धस्तर्हि चिद्विवर्तोऽसौ प्रमाणरूपतान्यथानुपपत्तेः। तथा च स एव चिदात्मोभयस्वभावतयात्मानमादर्शयन् नियोग इति स एव ब्रह्मवादः।

नियोगवादी कहते हैं कि प्रत्येक पक्षका ग्रहण करनेपर दोष आते हैं। अतः प्रमाण और प्रमेय दोनों स्वभाववाला नियोग मान लिया जायगा, इसपर हम कहते हैं कि तब तो वह नियोग बहुत अच्छे प्रकारसे चैतन्य परब्रह्मका परिणाम सिद्ध हो जायगा। अन्यथा यानी परब्रह्मका विवर्त माने विना नियोगको प्रमाणपना नहीं बन सकेगा। अर्थात्—जो वस्तु प्रमाण प्रमेय उभयरूप है, वह चैतन्यआत्मक अवश्य है। और तिस प्रकार होनेपर वह सत्, चित्, आनन्द, स्वरूप आत्मा ही प्रमाणप्रमेय इन उभयस्वभाववालेपने करके अपनेको सब ओरसे दिखला रहा नियोग स्वरूप हो रहा है। इस प्रकार वही ब्रह्मअद्वैतवादका अनुसरण करना प्रभाकरोंके लिये प्राप्त हो जाता है।

अनुभयस्वभावो नियोग इति चेत् तर्हि संवेदनमात्रमेव पारमार्थिकं तस्य कदाचिदहेयत्वात् तथाविधस्य संभवात् सन्मात्रदेहतया निरूपितत्वादिति वेदांतवाद एव।

चतुर्थ पक्षके अनुसार यदि प्रमाण प्रमेय दोनों स्वभावोंसे रहित नियोग माना जायगा, तब तो केवल शुद्ध सम्वेदन ही वास्तविक पदार्थ सिद्ध होता है। क्योंकि किसी भी कालमें वह शुद्धसम्वेदन त्यागने योग्य नहीं है। तिस कारण अनुभयमें पडे हुये नञ्का अर्थ पर्युदास माननेपर तिस प्रकार सर्वदा प्रमाणपन, प्रमेयपन उपाधियोंसे रहित होता हुआ शुद्ध प्रतिभासका ही पकडा जाना सम्भवता है। केवल सत्स्वरूप इतने ही शरीरको धारनेवालेपन करके उस प्रतिभासका ही निरूपण किया गया है। इस प्रकार प्राभाकरोंके यहां वेदान्तवाद ही घुस जाता है। यह अपसिद्धान्त हुआ। सर्वथा प्रतिकूलोंके मतको माननेकी अपेक्षा भाइयोंका मत स्वीकार कर लेना कहीं अच्छा है।

शब्दव्यापारो नियोग इति चेत् भट्टमतप्रवेशः, शब्दव्यापारस्य शब्दभावनारूपत्वात्।

यदि प्रभाकरोंका यह मन्तव्य होय कि पांचवें पक्षके अनुसार " अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत् " स्वर्गप्राप्तिकी अभिलाषा रखनेवाला जीव अग्निष्टोम करके यज्ञ करे, इत्यादिक शब्दोंका

व्यापार स्वरूप नियोग है, तब तो हम भाट्ट कहते हैं कि इस प्रभाकरको कुमारिलभट्टके मतका अनुसरण करना कथमपि निवारा नहीं जा सकता है। हम भट्टोंके यहां शब्दव्यापारको शब्दोंकी भावनास्वरूप माना गया है। शब्द भावक हैं। अतः प्रभाकरका भट्टके मतमें प्रवेश करना अनिवार्य हुआ।

पुरुषव्यापारो नियोग इति चेत् स एव दोषः तस्यापि भावनारूपत्वात्, शब्दात्मव्यापाररूपेण भावनाया द्वैविध्याभिधानात्।

यदि प्रभाकर छठवें पक्षके अनुसार आत्माके व्यापारको नियोग मानेंगे तब भी वही दोष होगा। यानी तुम प्रभाकरोंको भट्ट मतका अनुसरण करना पडेगा। क्योंकि पुरुषका व्यापार भी भावनास्वरूप है। भाट्टलोगोंने शब्द व्यापार और आत्मव्यापार स्वरूपकरके भावनाका दो प्रकारसे कथन किया है।

तदुभयरूपो नियोग इत्यनेनैव व्याख्यातं।

सातवें पक्षके अनुसार प्रभाकर यदि शब्द और पुरुष मिले हुये दोनोंका व्यापार स्वरूप नियोगको मानेंगे तो वह उनका वक्तव्य भी इस उक्त कथनकरके व्याख्यान कर दिया गया है। अर्थात्–क्रमसे अथवा युगपत् दोनोंका व्यापर माना जायगा ? बताओ। क्रमसे माननेपर वही भट्ट मतका अनुसरण करना दोष आता है। और युगपत् दोनोंका एक स्वभावपना तो एक वस्तुमें विरुद्ध है। अतः वह अलीक हो जायगा।

तदनुभयव्यापाररूपत्वे तन्नियोगस्य विषयस्वभावता, फलस्वभावता, निःस्वभावता, वा स्यात् ? प्रथमपक्षे यागादिविषयस्याग्निष्टोमादिवाक्यकाले विरहात् तद्रूपस्य नियोगस्यासंभव एव। संभवे वा न वाक्यार्थो नियोगस्तस्य निष्पादनार्थत्वात् निष्पन्नस्य निष्पादनायोगात् पुरुषादिवत्। द्वितीये पक्षेपि नासौ नियोगः फलस्य भावत्वेन नियोगत्वाघटनात् तदा तस्यासंनिधानाच्च। तस्य वाक्यार्थत्वे निरालंबनशब्दवादाश्रयणात्कुतः प्रभाकरमतसिद्धिः ? निःस्वभावत्वे नियोगस्यायमेव दोषः।

अष्टमपक्षके अनुसार प्रभाकर उस नियोगको यदि शब्दव्यापार पुरुषव्यापार दोनोंसे रहित स्वरूप मानेंगे तब तो पर्युदास पक्ष ग्रहण करनेपर हम भाट्ट पूछेंगे कि वह नियोग दोनों व्यापारोंसे भिन्न होता हुआ, क्या यज्ञ आदि कर्मरूप विषयस्वभाव है ? या स्वर्ग आदि फलस्वभाव है ? अथवा प्रसज्य पक्षको अंगीकार करनेपर वह नियोग सभी स्वभावोंसे रहित है ? बताओ। पहिला पक्ष लेनेपर तो अग्निष्टोम करके याग करना चाहिये, इस वाक्य उच्चारणके समयमें याग आदि विषयोंका अभाव है। अतः यज्ञस्वरूप नियोगकी भी सम्भावना नहीं है। जो कार्य भविष्यमें होने-

वाला है, उस कार्यके साथ तादात्म्य सम्बन्ध रखनेवाला धर्म वर्तमानकालमें नहीं है । और यदि भविष्यमें होनेवाले यज्ञकी वर्तमानमें सम्भावना मानी जावेगी तो वाक्यका अर्थ नियोग नहीं हुआ। क्योंकि वह नियोग तो कर्तव्य कार्योंको भविष्यमें बनानेके लिये हुआ करता है। जो किया जाकर बन चुका है, उसका पुनः बनाना नहीं हो सकता है। जैसे कि अनादिकालके बने हुये नित्यद्रव्य आत्मा, आकाश आदिक नहीं बनाये जाते हैं। द्वितीय पक्षके ग्रहण करनेपर भी वह नियोग स्वर्ग आदि फलस्वरूप नहीं घटित हो सकता है। क्योंकि फल तो स्वयं अन्तिम परिणाम है, फलका पुनः फल नहीं होता है। किन्तु नियोग तो फलकरके सहित है। यदि अन्य फलोंकी कल्पना की जायगी तो अनवस्था हो जायगी। " भावित्वेन " पाठ माना जाय तो फल भविष्यमें होनेवाला है, अतः वर्तमान कालका नियोग नहीं हो सकता है, यों अर्थ लगा लिया जाय। दूसरी बात यह भी है कि उस वाक्य उच्चारणके समय उस स्वर्ग फल आदिका सन्निधान नहीं है। अतः उस अविद्यमान फलको यदि उस वाक्यका फल मानोगे तो निरालम्बन शब्दके पक्षपरिग्रहका आश्रय कर लेनेसे बौद्ध मतका प्रसंग होगा। प्रभाकरके मतकी सिद्धि कैसे हो सकेगी ? अर्थात्–शब्दका अर्थ वस्तुभूत कुछ नहीं है। अविद्यमान अर्थोंको शब्द कहा करते हैं, इस प्रकार बौद्धजनोंने शब्दका आलम्बन कोई वाच्यार्थ माना नहीं है। अविद्यमानको शब्दका वाच्यार्थ मानना प्रभाकरोंको शोभा नहीं देता है। प्रभाकर आगमको प्रमाण मानते हैं। तृतीय पक्षके अनुसार नियोगको सभी स्वभावोंसे रहित माना जायगा तो भी यही दोष लागू होगा । अर्थात्–स्वभावोंसे रहित नियोग खरविषाणके समान असत् है। बौद्धोंके यहां असत् अन्यापोह शब्दोंका वाच्य माना गया है। मीमांसकोंके यहां नहीं। इस प्रकार आठों पक्षोंमें नियोगकी व्यवस्था नहीं बन सकी।

किं च, सन् वा नियोगः स्यादसन् वा ? प्रथमपक्षे विधिवाद एव द्वितीये निरालंबनवाद इति न नियोगो वाक्यार्थः संभवति, परस्य विचारासंभवात्।

नियोगका खण्डन करनेके लिये विचारका दूसरा प्रकार यों भी है कि प्रभाकर मीमांसक उस नियोगको सत्रूप पदार्थ मानेंगे ? अथवा असत् पदार्थ इष्ट करेंगे ? पहिला पक्ष लेनेपर ब्रह्म अद्वैतवादियोंका विधिवाद ही स्वीकार कर लिया। क्योंकि सत्, ब्रह्म, प्रतिभास, विधि, इनका एक ही अर्थ माना गया है। यदि द्वितीय पक्ष लेनेपर नियोग असत् पदार्थ माना जायगा, तब तो प्रभाकरोंको बौद्धोंके निरालम्बनवादका आश्रय करना प्राप्त होता है। अर्थात्—असत् नियोग कभी वाक्यका अर्थ नहीं हो सकता है। इस प्रकार विधिलिङन्त वाक्योंका अर्थ नियोग करना नहीं सम्भवता है। पूर्वोक्त अनेक दोष आते हैं। जो वाक्यका अर्थ नियोग कर रहा है, उसको आहार्य कुश्रुतज्ञान है।

तथा भावना वाक्यार्थ इत्येकांतोपि विपर्ययस्तथा व्यवस्थापयितुमशक्तेः। भावना हि द्विविधा शब्दभावना अर्थभावना चेति " शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।

इयं त्वन्यैव सर्वार्था सर्वाख्यातेषु विद्यते " इति वचनात् । अत्र शब्दभावना शब्दव्यापार-स्तत्र शब्देन पुरुषव्यापारो भाव्यते, पुरुषव्यापारेण धात्वर्थो, धात्वर्थेन च फलमिति शब्दभावनावादिनो मतं, तच्च न युज्यते शब्दव्यापारस्य शब्दार्थत्वायोगात् । न ह्यग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इति शब्दात्तद्व्यापार एव प्रतिभाति स्वयमेकस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्व-विरोधात् । प्रतिपादकस्य सिद्धरूपत्वात्प्रतिपाद्यस्य चासिद्धस्य तथात्वसिद्धेरेकस्य च सकृत्प्रसिद्धेतररूपत्वासंभवाच्चद्विरोधः ।

आचार्य कह रहे हैं कि तिसी प्रकार भट्टमीमांसकों द्वारा माना गया " वाक्यका अर्थ भावना ही है " इस प्रकारका एकान्त भी विपर्ययज्ञान है। क्योंकि तिस प्रकार वाक्यके वाच्य अर्थ भावनाकी व्यवस्था करानेके लिये भाट्टोंकी सामर्थ्य नहीं है। बात यह है कि भाट्टोंके यहां शब्द भावना और अर्थ भावना ये दो प्रकारकी भावना मानी गयी हैं। उनके ग्रन्थोंमें उक्ति है कि लिङ्, लोट, तव्य, ये प्रत्ययके अर्थ हो रही भावनासे भिन्न ही शब्दभावना और अर्थ (आत्म) भावनाको कह रहे हैं। हां, यह सम्पूर्ण अर्थोंमें वर्त रही करोत्यर्थरूप अर्थभावना तो शब्दभावनासे भिन्न ही है जो कि गच्छति, पचति, यजति इत्यादिक सम्पूर्ण तिङन्त आख्यातोंमें विद्यमान है। ऐसी अर्थ-भावना शब्दभावनासे भिन्न होनी ही चाहिये। इन दो भावनाओंमें शब्दभावना तो शब्दका व्यापार स्वरूप पडती है। कारण कि शब्दकरके पुरुषका व्यापार भावित किया जाता है, और पुरुष व्यापार करके यज् पच् आदि धातुओंका अर्थभावनाग्रस्त किया जाता है। तथा धातु अर्थकरके फल भावित किया जाता है। यह शब्दभावनावादी भाट्टोंका मत है। किन्तु वह युक्त नहीं है। क्योंकि शब्दके व्यापारको शब्दका अर्थपना घटित नहीं होता है। स्वर्गकी अभिलाषा रखनेवाला अनुष्ठाता अग्निष्टोम करके यज्ञको, इस प्रकारके शब्दसे उस शब्दका व्यापार ही नहीं प्रतिभासता है। वही शब्द अपने ही व्यापारका प्रतिभासक भला कैसे हो सकता है ? एक ही शब्दको स्वयं प्रतिपाद्यपन और प्रतिपादकपनका विरोध है। यानी शब्दका ही शरीर स्वयं प्रतिपाद्य और स्वयं उस अपने स्वरूपका प्रतिपादक नहीं होता है। जब कि प्रतिपादक शब्दका स्वरूप उच्चारण कालमें प्रथमसे ही बना बनाया सिद्ध है। और भविष्यमें प्रवर्तने योग्य प्रतिपाद्य विषयका स्वरूप तो तब असिद्ध है। तिस प्रकार प्रतिपादकपन प्रतिपाद्यपनकी व्यवस्था हो जानेसे एक ही पदार्थके एक ही समय प्रसिद्धपन और उससे भिन्न असिद्धपन स्वरूपका असम्भव हो जानेसे शब्दमें उस प्रतिपाद्य और प्रतिपादक-पनका विरोध है।

शब्दस्वरूपमपि श्रोत्रज्ञानेऽर्पयतीति तस्य प्रतिपादकत्वाविरोधे रूपादयोपि स्वस्य प्रतिपादकाः संतु चक्षुरादिज्ञाने स्वरूपार्पणाद्विशेषाभावात् । स्वाभिधेय प्रतिपादकत्वसम-र्पणात् प्रतिपादकः शब्दो न रूपादय इति चायुक्तिकं, शब्दस्य स्वाभिधेयप्रतिपादकत्व

समर्पणे स्वयं प्रसिद्धे परोपदेशानर्थक्यप्रसंगात् । स्वत एव शब्देन ममेदमभिधेयमिति प्रतिपादनात् ।

शब्द भावनावादी भाट्ट यदि यों कहें कि शब्द अपने स्वरूपको भी श्रोत्र ज्ञानमें अर्पण कर देता है । इस कारण वह शब्द अपने शब्दभावनास्वरूपका प्रतिपादक हो जायगा । कोई विरोध नहीं आता है । इसपर आचार्य कहते हैं कि तब तो रूप, रस आदिक भी अपने अपने स्वरूपोंके प्रतिपादक हो जावें । क्योंकि चक्षुः, रसना, आदि इन्द्रियोंसे जन्य ज्ञानमें विषयता सम्बन्धसे रूप, रस, आदिने भी अपना स्वरूप अर्पण कर दिया है । स्वकीय ज्ञानोंमें अपने स्वरूपका समर्पण कर देनेकी अपेक्षा शब्द और रूप, रस, आदिमें कोई विशेषता नहीं है । यदि भाट्ट यों कहें कि शब्द अपने अभिधेय अर्थके प्रतिपादकपनको समर्पण कर देता है । इस कारण शब्द तो अपने स्वरूपका प्रतिपादक है, किन्तु रूप आदिक वैसे नहीं हैं । आचार्य कहते हैं कि भाट्टोंका यह कहना युक्तिशून्य है । क्योंकि शब्दका यदि अभिधेयकी प्रतिपादकताका समर्पण करना स्वयं प्रसिद्ध होता तो परके द्वारा उपदेश देना, व्याख्यान करना, समझा देना आदिके व्यर्थपनका प्रसंग आता है । क्योंकि श्रोताओंके प्रति " मेरा यह प्रतिपाद्य अर्थ है । इस प्रकार शब्दोंकरके स्वतः ही कह दिया गया है । अर्थात्-यों तो संकेतका नहीं ग्रहण करनेवाले मनुष्य तिर्यंच या बालक अथवा गूंगे भी कठिन शास्त्रोंका अर्थ समझ जायेंगे । विद्यालयोंमें पाठकोंकी आवश्यकता नहीं रहेगी ।

पुरुषसंकेतबलात्स्वाभिधेयप्रतिपादनव्यापारमात्मनः शब्दो निवेदयतीति चेत्, तर्हि यत्रार्थे संकेतितः शब्दस्तस्यार्थस्य पुरुषाभिप्रेतस्य प्रतिपादकत्वं तस्य व्यापार इति न शब्दव्यापारो भावना । वक्त्रभिप्रायरूढार्थः कथं ? तस्य तथाभिधानात् । तथा च कथमग्निष्टोमादिवाक्येन भावकेन पुरुषस्य यागविषयप्रवृत्तिलक्षणो व्यापारो भाव्यते पुरुषव्यापारेण बाधात्वर्थो यजनक्रियालक्षणो धात्वर्थेन फलं स्वर्गाख्यं, यतो भाव्यभावककरणरूपतया त्र्यंशपरिपूर्णा भावना विभाव्यत इति ।

" इस शब्दका यह अर्थ है " इस प्रकार वृद्ध व्यवहार द्वारा शब्दोंके वाच्यार्थोंको समझानेवाले इशारोंको संकेत कहते हैं । शब्द अपने वाच्यार्थका प्रतिपादन करनारूप अपने व्यापारको पुरुषके द्वारा किये गये संकेतग्रहणकी शक्तिसे निवेदन कर देता है । इस प्रकार भाट्टोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो जिस अर्थमें शब्दका संकेत ग्रहण हो चुका है, पुरुषके अभिप्रायमें प्राप्त रहे उस अर्थका प्रतिपादकपना उस शब्दका व्यापार हुआ । इस ढंगसे शब्दका व्यापार तो भावना नहीं सिद्ध हो सका है । यदि कोई भट्ट यों कहे कि -वक्ताके अभिप्रायमें आरूढ हो रहा अर्थ उस शब्दका कैसे मान लिया जाय ? बताओ । इसका उत्तर यही है कि तिस प्रकार शब्दके द्वारा वह अर्थ कहा जाता है । अतः तिस प्रकार शब्दभावनाका निराकरण हो जानेसे अग्निष्टोम,

ज्योतिष्टोम आदिकी भावना करानेवाले वाक्यों करके अनुष्ठाता पुरुषका याग विषयमें प्रवृत्ति कराना स्वरूप व्यापार भला कैसे भावित किया जावेगा ? और पुरुषव्यापारकरके याग क्रिया करना स्वरूप धातु अर्थ कैसे भावित किया जावेगा ? तथा धातु अर्थ करके चिरकालमें होनेवाला स्वर्ग नामका फल कैसे भावनायुक्त किया जा सकता है ? जिससे कि भावना करने योग्य और भावना करनेवाला तथा भावनाका करण इन रूपोंकरके तीन अंशोंसे परिपूर्ण होती हुई भावनाका विचार किया जाता। अथवा तीन अंशवाली भावना आत्मामें विशेषतया भाई जाती रहे। अतः भट्टों द्वारा मानी गयी शब्दभावना वाक्यका अर्थ सिद्ध नहीं हो पाती है।

पुरुषव्यापारो भावनेत्यत्रापि पुरुषो यागादिना स्वर्गं भावयतीति कथ्यते। न चैवं धात्वर्थभावनं शब्दार्थः स्वर्गस्यासंनिहितत्वात्। प्रतिपादयितृविवक्षाबुद्धौ प्रतिभासमानस्य शब्दार्थत्वे बौद्ध एव शब्दार्थ इत्यभिमतं स्यात्। तदुक्तं। " वक्तृव्यापारविषयो योर्थो बुद्धौ प्रकाशते। प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबंधनम् ॥ " इति न भावनावादावतारो मीमांसकस्य, सौगतप्रवेशानुषंगादिति।

पुरुषका व्यापार भावना है। इस प्रकार भी भट्ट मीमांसकोंका कथन होनेपर यष्टा पुरुष याग आदि करके स्वर्गको भावता है, यह कहा जाता है। किन्तु इस प्रकार धातु अर्थ याग करके भावना किया गया फल तो शब्दका अर्थ नहीं है। क्योंकि शब्दका अर्थ निकटवर्ती होना चाहिये और शब्द बोलते समय स्वर्ग तो सन्निहित नहीं है। शब्दके सुनने पीछे न जाने कितने दिन पश्चात् याग किया जायगा और उसके बहुत दिन पीछे मरनेपर स्यात् स्वर्ग मिल सके। यदि मीमांसक यों कहें कि स्वर्ग भले ही उस समय वहां विद्यमान नहीं होय, फिर भी वक्ताकी विवक्षापूर्वक हुई बुद्धिमें स्वर्ग प्रतिभास रहा है। अतः बुद्धिमें सन्निहित हो जानेसे शब्दका वाच्यार्थ स्वर्ग हो सकता है। इसपर आचार्य कहते हैं कि यों तो बुद्धिमें पड़ा हुआ ही अर्थ शब्दका वाच्य अर्थ है, यह अभिमत हुआ। अर्थात्—बौद्धोंने विवक्षामें आरूढ हो रहे अर्थसे शब्दका वाचकपन माना है। वह बौद्धोंका मत ही भाट्टोंको अभिमत हुआ। बुद्धिके समुदाय अपनेको मान रहे प्रज्ञाकर नामक बौद्धोंने यही बात अपने ग्रंथमें कही है कि वक्ताके व्यापारका विषय हो रहा जो अर्थ श्रोताकी बुद्धिमें प्रकाश रहा है, उस ही अर्थको कहनेमें शब्दकी प्रमाणता है। वहां विद्यमान हो रहे वास्तविक अर्थ—तत्त्वको कारण मानकर शब्दका प्रामाण्य व्यवस्थित नहीं है। अर्थात्—बौद्ध मानते हैं कि वक्ताके बुद्धिसम्बन्धी व्यापारसे जाना जा रहा अर्थ यदि शिष्यकी बुद्धिमें प्रकाशित होगया है, तो उस अंशमें शब्दप्रमाण है। बाह्य अर्थ होय या नहीं, कोई आकांक्षा नहीं। अतः पुरुषभावना सिद्ध नहीं हुई। इस प्रकार भट्ट मीमांसकोंके दोनों भावनावादोंका अवतार होना प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं हुआ। क्योंकि बौद्धमतके प्रवेशका प्रसंग हो

जाता है । अतः भावना वाक्यका अर्थ है, यह मीमांसकोंका विपर्ययज्ञान है, जो कि आहार्य कुश्रुतज्ञान स्वरूप है ।

तथा धात्वर्थो वाक्यार्थ इत्येकांतो विपर्ययः शुद्धस्य भावस्वभावतया विधिरूपत्वप्रसंगात् । तदुक्तं । " सन्मात्रं भावलिंगं स्यादसंपृक्तं तु कारकैः । धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते ॥ " इति विधिवाद एव, न च प्रत्ययार्थशून्योर्धात्वर्थः कुतश्चिद्विधिवाक्यात् प्रतीयते तदुपाधेरेव तस्य ततः प्रतीतेः ।

तिसी प्रकार यज, पच, आदि धातुओंका पूजना, पकना, आदि अर्थ ही वाक्यका अर्थ है। ऐसा एकान्त करना भी विपर्ययज्ञान है । क्योंकि शुद्ध धातुका अर्थ तो भावस्वरूप है, तिसकारण ब्रह्म अद्वैतवादियोंके यहां माने गये विधिस्वरूपपनेका प्रसंग हो जावेगा । विधिको माननेवाले ब्रह्म अद्वैत वादियोंने उसीको अपने ग्रन्थोंमें कहा है कि शुद्ध सत्तामात्र ही भावोंका ज्ञापक चिन्ह है । वह कर्ता, कर्म, आदि कल्पित कारकोंसे मिला हुआ नहीं है । अन्य अर्थोंसे और अपने अवान्तर विषयोंसे रहित जो केवल शुद्ध धातुका अर्थ है, वह भाव ऐसा कहा जाता है । " तां प्रातिपदिकार्थञ्च धात्वर्थं च प्रचक्षते । सा सत्ता सा महानात्मा यामाहुस्त्वतलादयः । " धातु और प्रत्ययोंसे रहित हो रहे अर्थवान् शब्द स्वरूपकी प्रातिपदिकका संज्ञा है विद्वान् जन उस सत्ताको ही प्रातिपदिकका अर्थ और धातुका अर्थ भले प्रकार बखान रहे हैं । वह प्रसिद्ध हो रही सत्ता महान् परब्रह्मस्वरूप है जिसको कि त्व, तल, अण् आदिक भाव प्रत्यय कह रहे हैं । इस प्रकार धातु अर्थ माननेपर तो विधिवाद ही प्राप्त हो जाता है, हां प्रत्ययके अर्थ संख्या, कारक, इनसे रहित हो रहा वह शुद्ध धातु अर्थ तो किसी भी विधि वाक्यसे प्रतीत नहीं हो रहा है । किन्तु उस प्रत्ययार्थ रूप विशेषणसे सहित हो रहे ही उस धातु अर्थकी उस विधि लिङन्त वाक्यसे प्रतीति हो रही है ।

प्रत्ययार्थस्तत्र प्रतिभासमानोपि न प्रधानं कर्मादिवदन्यत्रापि भावादिति चेत्, तर्हि धात्वर्थोपि प्रधानं मा भूत् प्रत्ययांतरेपि भावात् प्रकृतप्रत्ययापायेपीति समानं पश्यामः ।

यदि विधिवादको इष्ट करते हुये शुद्ध धातु अर्थको विधि वाक्यका अर्थ माननेवाले यों कहें कि यद्यपि वहां विधि वाक्यके अर्थमें प्रत्ययका अर्थ प्रतिभास रहा है । फिर भी वह प्रत्ययका अर्थ प्रधान नहीं है । क्योंकि कर्म, करण, आदिके समान अन्य स्थानोंमें भी प्रत्ययार्थ विद्यमान है । अर्थात्—गमि, पचि, पठि आदि धातुओंमें भी विधिलिङ् या त प्रत्यय वर्त रहा है । त्व, तल्, आदि भाव प्रत्यय भी अन्य अनेक शद्वोंमें संपृक्त हो रहे हैं । शयीत, नश्यात्, मोक्तव्यं, चौर्य, दासता, आदि शद्व तैसे प्रसिद्ध हैं । इस प्रकार कहनेपर आचार्य कहते हैं कि तब तो धातुका अर्थ भी वाक्यका प्रधान अर्थ नहीं होवे । क्योंकि प्रकरणप्राप्त प्रत्ययोंके नहीं होनेपर भी वह धातु अर्थ

अन्य लुट्, लृट्, क्त्वा, तृच्, आदि दूसरे प्रत्ययोंमें भी वर्त रहा है। यक्ष्यति, यष्टा, यष्टुं, प्रयोग भी बोले जाते हैं। इस प्रकार हम जैन धातु अर्थ और प्रत्ययार्थके विषयमें शंका समाधानोंको समान हो रहा देखते हैं।

नन्वेवं धात्वर्थस्य सर्वत्र प्रत्ययेष्वनुस्यूतत्वात् प्रधानत्वमिष्यत इति चेत्, प्रत्ययार्थस्य सर्वधात्वर्थेष्वनुगतत्वात् प्रधानत्वमस्तु। प्रत्ययार्थविशेषः सर्वधात्वर्थाननुयायीति चेत्, धात्वर्थविशेषोपि सर्वप्रत्ययार्थाननुगाम्येव धात्वर्थसामान्यस्य सर्वप्रत्ययार्थानुयायित्वमिति न विशेषसिद्धिः।

पुनः विधिवादी अवधारण करते हैं कि इस प्रकार धातु अर्थ तो सम्पूर्ण ही लिङ्, लिट्, लुट्, आदिके प्रत्ययोंमें मालामें पुवे हुये सूतके समान ओतपोत हो रहा है। अतः धातु अर्थको प्रधानपना माना जाता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम कहेंगे कि प्रत्ययका अर्थ भी तो सम्पूर्ण पचि, भू, पचि, कृ, भू, आदि धातुओंके अर्थोंमें पीछे पीछे चलता हुआ अन्वित हो रहा है। अतः प्रत्ययार्थ भी प्रधान हो जाओ। इसपर अद्वैतवादी यदि यों कहें कि विशेष हो रहा प्रत्ययार्थ तो सभी धातु अर्थोंमें अनुयायी नहीं है। अर्थात्—एक विवक्षित तिप् या उसका अर्थ तो सभी सिप्, यद्, लुट, क्ति, तल्, आदि प्रत्ययवाले धातु अर्थोंमें अन्वित नहीं हो रहा है। इस प्रकार कहनेपर तो हम कहते हैं कि विशेष धातु अर्थ भी तो सम्पूर्ण प्रत्ययार्थोंमें अनुगामी नहीं ही है-। पच धातुका अर्थ भला पचि, गमि, धातुओंके साथ लगे हुये प्रत्ययोंके अर्थमें कहां ओतपोत होकर अनुगामी हो रहा है ? हां, सामान्यरूपसे धातु अर्थको सम्पूर्ण प्रत्यय अर्थोंमें अनुयायीपन है। इस कारण धातु अर्थ और प्रत्ययार्थमें अन्यत्र अनुगम करना या नहीं अनुगम करना इस अपेक्षासे कोई अन्तर नहीं सिद्ध हुआ। ऐसी दशामें वाक्यका अर्थ शुद्ध धातु अर्थ नहीं हो सकता है।

तथा विधिर्वाक्यार्थ इत्येकांतोपि विपर्ययस्तस्य विचार्यमाणस्यायोगात्। तद्धि विधिविषयं वाक्यं गुणभावेन प्रधानभावेन वा विधौ प्रमाणं स्यात् ? यदि गुणभावेन तदाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादेरपि तदस्तु, गुणभावेन विधिविषयत्वस्य भावात्। तत्र भट्टमतानुसारिभिर्भावनाप्राधान्योपगमात् प्राभाकरैश्च नियोगगोचरत्वप्रधानांगीकरणात्। तौ च भावनानियोगौ नासद्विषयौ प्रवर्तेते प्रतीयेते वा सर्वथाप्यसतोः प्रवृत्तौ प्रतीतौ वा शशविषाणादेरपि तदनुषक्तेः सद्रूपतया च तयोर्विधिनांतरीयकत्वसिद्धेः सिद्धं गुणभावेन विधिविषयत्वं वाक्यस्येति न प्रधाणतापत्तेर्विप्रतिपत्तिः येन कर्मकांडस्य पारमार्थिकता न भवेत्।

तथा सत्तामात्र विधि ही विधिलिङ् वाक्यका अर्थ है । यह ब्रह्म अद्वैतवादियोंका एकान्त भी विपर्यय ज्ञान है । क्योंकि उस विधिका विचार किया जानेपर उसकी सिद्धि होनेका अयोग है । देखिये, यह विधिको विषय करनेवाला वाक्य क्या गौणपनेसे विधिको जानता हुआ प्रमाण समझा जायगा ? अथवा प्रधानरूपसे विधिको प्रतिपादन करता हुआ विधिमें प्रमाण माना जावेगा ? बताओ । प्रथमपक्षके अनुसार यदि गौणरूपसे विधिको कह रहा वाक्य प्रमाण बन जायगा, तब तो ब्रह्म अद्वैतवादियोंके यहां " स्वर्गकी अभिलाषा रखनेवाला पुरुष अग्निहोत्र पूजनद्वारा हवन करे" इत्यादिक कर्मकाण्डके प्रतिपादक वाक्योंको भी प्रमाणपना हो जाओ । क्योंकि कर्मकाण्ड वाक्योंका अर्थ भी गौणरूपसे विधिको विषय करता हुआ वर्त रहा है । उन कर्मकाण्ड वाक्योंमें भट्ट मतका अनुसरण करनेवाले मीमांसकोंने भावना अर्थकी प्रधानता स्वीकार की है । और प्रभाकर मत अनुयायियोंने उन वाक्योंमें प्रधानरूपसे नियोगको विषय करनापन अंगीकृत किया है । वे भावना और नियोग दोनों असत् पदार्थको विषय करते हुये नहीं प्रवर्तते हैं । अथवा स्वकर्तव्यद्वारा असत् पदार्थको प्रतीति कराते हुए नहीं जाने जा रहे हैं । सभी प्रकारोंसे असत् हो रहे पदार्थोंकी (में) प्रवृत्ति अथवा प्रतीति होना माना जावेगा, तब तो शशशृङ्ग, गजविषाण, आदिकी भी उन प्रवृत्तियां या प्रतीतियां हो जानेका प्रसंग हो जावेगा । इससे एक बात यह भी अब जाती है कि उन भावना और नियोगको सद्रूपपने करके विधिके साथ अविनाभावीपना सिद्ध है । अतः प्रसिद्ध हो जाता है कि कर्मकाण्ड प्रतिपादक वाक्य गौणरूपसे सन्मात्रविधिको विषय करते हैं । इस कारण मीमांसकोंके ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, विश्वजित्, अश्वमेध आदि वाक्योंकी प्रमाणताके प्रसंगका विवाद नहीं होना चाहिये । जिससे कि कर्मकाण्ड वाक्योंको पारमार्थिकपना नहीं होवे । अर्थात्-गौणरूपसे विधिको कहनेवाले कर्मकाण्ड वाक्य भी अद्वैतवादियोंको प्रमाण मानने पडेंगे ।

प्रधानभावेन विधिविषयं वेदवाक्यं प्रमाणमिति चायुक्तं, विधेः सत्यत्वे द्वैतावतारात् । तदसत्यत्वे प्राधान्यायोगात् । तथाहि-यो योऽसत्यः स स न प्रधानभावमनुभवति, यथा तदविद्याविलासः तथा चासत्यो विधिरिति न प्रधानभावेन तद्विषयतोपपत्तिः ।

द्वितीयपक्षके अनुसार ब्रह्म अद्वैतवादी यदि यों कहें कि प्रधानरूपसे विधिको विषय करनेवाले उपनिषद् वाक्य प्रमाण हैं । आचार्य कहते हैं कि यह उनका कहना युक्तियोंसे रहित है । क्योंकि वाक्यके अर्थ विधिको वास्तविक रूपसे सत्य माननेपर तो द्वैतवादका अवतार होता है । एक विधि और दूसरा ब्रह्म ये दो पदार्थ मान लिये गये हैं । यदि उस श्रोतव्य मन्तव्य आदिकी विधिको अवस्तुभूत असत्य मानोगे तब तो विधिको प्रधानपना घटित नहीं होता है । उसीको अनुमान वाक्यद्वारा स्पष्ट कर हम दिखला देते हैं कि जो जो असत्य होता है, वह वह प्रधानपन का अनुभव नहीं करता है । जैसे कि उन ब्रह्म अद्वैतवादियोंके यहां अविद्याका विलास असत्य होता

हुआ अप्रधान माना गया है और तिसी प्रकार का यह असत्य विधि है। इस कारण उस विधिको प्रधानपनसे वाक्यका विषय हो जाना सिद्ध नहीं हुआ।

स्यान्मतं न सम्यगवधारितं विधेः स्वरूपं भवता तस्यैवमव्यवस्थिततत्वात् । प्रतिभासमात्राद्धि पृथग्विधिः कार्यतया न प्रतीयते घटादिवत् प्रेरकतया वा वचनादिवत्। कर्मकरणसाधनतया हि तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकताप्रत्ययो युक्तो नान्यथा । किं तर्हि द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मा श्रोतव्यो अनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादि शब्दश्रवणादवस्थांतरविलक्षणेन प्रेरितोहमिति जाताकूतेनाकारेण स्वयमात्मैव प्रतिभाति, स एव विधिरित्युच्यते। तस्य ज्ञानं विषयतया संबंधमधितिष्ठतीति प्रधानभावविभावनाविधेर्न विहन्यते, तथाविधवेदवाक्यादात्मन एव विधायकतया बुद्धौ प्रतिभासनात् । तद्दर्शनश्रवणानुमननविदिध्यासनरूपस्य विधीयमानतयानुभवात्। तथा च स्वयमात्मानं द्रष्टुं श्रोतुमनुमंतुं निध्यातुं, वा प्रवर्तते, अन्यथा प्रवृत्त्यसंभवेप्यात्मनः प्रेरितोहमित्यत्र गतिरप्रमाणिका स्यात्। ततो नासत्यो विधिर्येन प्रधानता तस्य विरुध्येत । नापि सत्यत्वे द्वैतासिद्धिः आत्मस्वरूपव्यतिरेकेण तदभावात् तस्यैकस्यैव तथा प्रतिभासनात् इति।

सम्भव है अद्वैतवादियोंका यह मन्तव्य होय, तदनुसार वे यों कहें कि आप जैन या मीमांसकोंने विधिका स्वरूप भले प्रकार नहीं समझा है। जैसा आप समझे हैं, इस प्रकार तो उस विधिकी व्यवस्था नहीं हो चुकी है। किन्तु यों है, इसलिये कि प्रतिभास सामान्यसे न्यारी घटादिकके समान कार्यरूपकरके विधि नहीं प्रतीत हो रही है। और वचन, चेष्टा, आदिके समान प्रेरकपनेकरके भी वह विधि नहीं जानी जारही है। " विधीयते यः स विधिः " " विधीयतेऽनेन स विधिः " जो विधान किया जाय या जिस करके विधान किया जाय इस प्रकार कर्मसाधन या करणसाधनपने करके उस विधिकी प्रतीति होगयी होती, तब तो कार्यपन और प्रेरकपन स्वरूप करके विधिकी प्रतीति करना युक्त होता। अन्यथा तो वैसा ज्ञान नहीं होसकता है। तब तो विधिका स्वरूप क्या है ? इसके उत्तरमें हम अद्वैत वादियोंकी ओरसे यों समझो कि अरे संसारी जीव यह आत्मा दर्शन करने योग्य है, श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है, ध्यान करने योग्य है, " ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति " ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। " ब्रह्मविदाप्नोति परं " " नाहं खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानामि अहमस्मि इति नो इमेमानि भूतानि " " य आत्मा अपहतपाप्माविजरो विमृत्युः " इत्यादिक शब्दोंके सुननेसे अन्य अवस्थाओंसे विलक्षण होकर उत्पन्न हुई चेष्टारूप आकार करके मैं प्रेरा गया हूं। इस प्रकार स्वयं आत्मा ही प्रतिभासता है। और आत्मा ही विधि इस शब्दकरके कहा जाता है। उस विधिका ज्ञान विषयपने

करके सम्बन्धको प्राप्त हो जाता है। अर्थात्—विधिका ज्ञान, विधिमें ज्ञान, ये सब अभेद होनेसे विधि स्वरूप ब्रह्म ही हैं, इस कारण विधिको प्रधानरूपसे वाक्य अर्थके विचारका विघात नहीं हो पाता है। क्योंकि तिस प्रकार विधिको कहनेवाले वेदवाक्योंसे आत्माका ही विधान कर्मपनेकरके बुद्धिमें प्रतिभास हो रहा है। तथा उस आत्माके दर्शन, श्रवण, अनुमनन, और ध्यानस्वरूपोंका विधिके कर्म हो रहेपनेकरके अनुभव हो रहा है। और तिस प्रकार होनेपर स्वयं आत्मा ही अपनेको देखनेके लिये, सुननेके लिये, अनुमनन करनेके लिये और ध्यान करनेके लिये प्रवर्तता है। अर्थात्—आत्मा ही वेदवाक्य है। कर्त्ता, कर्म, क्रिया, भी स्वयं आत्मा ही है। अन्यथा यानी दूसरे प्रकारोंसे मानकर यदि तिस प्रकार अभेदसे प्रवृत्ति होना असम्भव होता तो मैं स्वयं आत्मासे प्रेरित हुआ हूं इस प्रकार प्रतीति होना अप्रामाणिक हो जाता। तिस कारण सिद्ध होता है कि हम अद्वैतवादियोंकी मानी हुई विधि असत्य नहीं है। जिससे कि उस विधिको प्रधानरूपसे वाक्य अर्थपना विरुद्ध पड जाता। आप जैन या मीमांसकोंने विधिका सत्य यानी यथार्थपना होनेपर द्वैत सिद्धि हो जानेका प्रसंग दिया था, सो ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मस्वरूपके अतिरिक्तपनेसे उस विधिका अभाव है। विधायकपनकरके, विधीयमानपनकरके, भावविधि करके, सब तिस प्रकार उस एक ही परमब्रह्मका प्रतिभास हो रहा है। विधिके असत्यपनेका पक्ष तो हम लेते ही नहीं है। स्यान्मतं से लेकर यहांतक विधिको पुष्ट करनेवाले अद्वैतवादियोंका पूर्वपक्ष हुआ। अब आचार्य महाराज समाधान करते हैं।

तदप्यसत्यं। नियोगादिवाक्यार्थस्य निश्चयात्मतया प्रतीयमानत्वात्। तथाहि—नियोगस्तावदग्निहोत्रादिवाक्यादिवत् द्रष्टव्योरेऽयमात्मा इत्यादि वचनादपि प्रतीयते एव नियुक्तोहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो योगो नियोगः प्रतिभाति मनागप्ययोगाशंकानवतारादवश्यकर्तव्यतासंप्रत्ययात्। कथमन्यथा तद्वाक्यश्रवणादस्य प्रवृत्तिरुपपद्यते, मेघध्वन्यादेरपि प्रवृत्तिप्रसंगात्।

अद्वैतवादियोंका वह कहना भी असत्य है क्योंकि वाक्यके अर्थ नियोग, भावना आदिकी भी निश्चय स्वरूपपनेकरके प्रतीति की जा रही है। उसीको हम प्रसिद्ध कर दिखलाते हैं कि अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोम, आदिके प्रतिपादक वाक्यों आदिसे जैसे नियोग तो प्रतीत हो रहा है, वैसा ही "द्रष्टव्योरेऽयमात्मा श्रोतव्यः" इत्यादि वचनसे भी नियोग प्रतीत हो रहा ही है। मैं "द्रष्टव्योरे इस वाक्य करके नियुक्त हो गया हूं। इस प्रकार शेषरहित परिपूर्णरूपसे योग हो जाना रूप नियोग प्रतिभासता है। स्वल्प भी यहां योग नहीं होनेकी आशंकाका अवतार नहीं है। अतः अवश्य करने योग्य है, इस प्रकारका अच्छा ज्ञान हो रहा है। अन्यथा यानी अद्वैतप्रतिपादक वाक्योंद्वारा पूर्ण योग होना नहीं माना जावेगा तो उस द्रष्टव्यो आदि वाक्यके सुननेसे इस श्रोता मनुष्यकी श्रवण, मनन आदि

करनेमें प्रवृत्ति होना कैसे सध सकेगा ? इतिकर्तव्यतारूप नियोगके ज्ञान विना ही यदि चाहे जिस शब्दसे प्रवृत्ति होना मान लिया जावेगा तो मेघगर्जन, समुद्रपूत्कार, आदि शब्दोंसे भी श्रोताओंकी प्रवृत्ति हो जानेका प्रसंग हो जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है ।

स्यादेतत् । मिथ्येयं प्रतीतिर्नियोगस्य विचार्यमाणस्य प्रवृत्तिहेतुत्वायोगात् । स हि प्रवर्तकस्वभावो वा स्यादतत्स्वभावो वा ? प्रथमकल्पनायां प्रभाकराणामिव ताथागतादीनामपि प्रवर्तकः स्यात् । सर्वथा प्रवर्तकत्वात् । तेषां विपर्यासादप्रवर्तक इत्यपि न निश्चेतुं शक्यं परेषामपि विपर्यासात्प्रवर्तकत्वानुषंगात् । प्राभाकरा हि विपर्यस्तमनसः शब्दनियोगात् प्रवर्तते नेतरे अविपर्यस्तत्वादिति वदतो निवारयितुमशक्तेः ।

यदि अद्वैतवादियोंका लम्बा चौडा यह मन्तव्य होय कि वाक्यका अर्थ तो नियोग नहीं हो सकता है । अतः अद्वैत प्रतिपादक वाक्योंसे नियोगको यह उक्त प्रकार प्रतीति करना मिथ्या है । नियोगका विचार किया जानेपर उसको प्रवृत्तिका हेतुपना नहीं घटित होता है । देखिये, हम अद्वैतवादी प्रभाकरोंके प्रति प्रश्न उठाते हैं कि वह तुम्हारा माना गया नियोग क्या प्रवृत्ति करा देना, इस स्वभावको धारता है ? अथवा उस प्रवृत्ति करा देना स्वभावोंको नहीं रखता है ? बताओ। यदि प्रथमपक्षकी कल्पना करोगे तब तो प्रभाकरोंके समान बौद्धोंको भी वह नियोग अग्निष्टोम आदि कर्मोंमें प्रवर्तक हो जावें । क्योंकि उस नियोगका स्वभाव सभी प्रकारसे प्रवृत्ति करा देना है । अग्निका स्वभाव यदि जला देना है तो वह काष्ठ, वस्त्र, मूर्ख शरीर, पंडित शरीर, रत्न, कूडा, सबको एक स्वभावसे दग्ध कर देती है । यदि नियोगवादी यों कहें कि उन बौद्धोंको मिथ्याज्ञान हो रहा है । अतः नियोग उनको प्रवृत्त नहीं कराता है । जैसे कि सुवर्ण या अभ्रक अथवा भस्म को अग्नि नहीं जलाती है । इसपर हम यह कहते हैं कि इस बातका भी निश्चय नहीं किया जा सकता है । सम्भव है कि दूसरे प्रभाकरोंके भी विपर्ययज्ञान हो जानेसे नियोगको प्रवर्तकपनेका प्रसंग होगा । क्योंकि आरोप किया जा सकता है कि प्रभाकरोंका मन विपर्यय ज्ञानसे आक्रान्त हो रहा है । इस कारण वे शब्दके अर्थ नियोगसे कर्मकाण्डोंमें प्रवृत्ति कर रहे हैं । किन्तु दूसरे बौद्ध तो विपर्यय ज्ञानसे घिरे हुये मनको नहीं धारण करनेसे कर्मकाण्डमें प्रवृत्ति नहीं कर रहे हैं । इस प्रकार कह रहे हम अद्वैतवादियोंको रोका नहीं जा सकता है ।

सौगतादिमतस्य प्रमाणबाधितत्वात् त एव विपर्यस्ता न प्राभाकरा इत्यपि पक्षपातमात्रं तन्मतस्यापि प्रमाणबाधनविशेषात् । यथैव हि प्रतिक्षणविनश्वरसकलार्थवचनं प्रत्यक्षादिविरुद्धं तथा नियोगतद्विषयादिभेदकल्पनमपि सर्वं प्रमाणानां विधिविषयतयावधारणात् सदेकत्वस्यैव परमार्थतोपपत्तेः ।

अभी विधिवादी ही कहे जा रहे हैं कि नियोगवादी यदि यों कहें कि बौद्ध, चार्वाक, आदि दार्शनिकोंका मत तो प्रमाणोंसे बाधित है। अतः वे बौद्ध आदिक ही विपर्यय ज्ञानी हैं। हम प्रभाकर मत अनुयायी तो विपरीतज्ञानी नहीं है। विधिवादी कहते हैं कि यह भी नियोग वादियोंका कोरा केवल पक्षपात है। क्योंकि उन नियोगवादी प्राभाकरोंका मत भी प्रमाणोंसे बाधित हो जाता है। बौद्धोंकी अपेक्षा प्राभाकरोंमें कोई विशेषता नहीं है। जैसे ही पत्थरचंद्र वैसे ही पाषाणचन्द्र, दोनों एकसे हैं। जिस ही प्रकार सम्पूर्ण अर्थोंको प्रतिक्षण विनाशशील कहना यह बौद्धोंका मत प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरुद्ध है, ऐसा तुम बौद्धोंके प्रति कह सकते हो, उस ही प्रकार प्राभाकरोंके यहां मानी जा रही नियोग उनके विषय नियुज्यमान, नियोक्ता, आदि भेदोंकी कल्पना भी प्रमाणोंसे बाधित है, यों बौद्ध भी तुमसे कह सकते हैं। परमार्थरूपसे विचारा जाय तो सम्पूर्ण प्रमाणोंके द्वारा अद्वैत विधिका विषयपनेसे अवधारण किया जा रहा है। सत्, चित्, ब्रह्मके एकपनेको ही यथार्थपना सिद्ध हो रहा है।

यदि पुनरप्रवर्तकस्वभावः शब्दनियोगस्तदा सिद्ध एव तस्य प्रवृत्तिहेतुत्वायोगः।

अद्वैतवादी ही कहें जा रहे हैं कि द्वितीय पक्षके अनुसार फिर यदि प्राभाकर यों कहें कि शब्दका अर्थ नियोग तो प्रवर्तक स्वभाववाला नहीं है। तब तो हम विधिवादी कहते हैं कि उस नियोगको प्रवृत्तिके कारणपनका अयोग सिद्ध ही हो गया, यानी नियोग कर्मकाण्डका प्रवर्तक नहीं बन सका।

फलरहिताद्वा नियोगमात्राभ्न प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरप्रेक्षावत्त्वप्रसंगात्। प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोपि प्रवर्तत इति प्रसिद्धेश्च। प्रचंडपरिदृढवचननियोगादफलादपि प्रवर्तनदर्शनाददोष इति चेन्न, तन्निमित्तापायपरिरक्षणस्य फलत्वात्। तन्नियोगादप्रवर्तने हि प्रमापायोवश्यं भावीति तन्निवारणाय प्रवर्तमानानां प्रेक्षावतामपि तत्त्वाविरोधात् तर्हि वेदवचनादपि नियुक्तः प्रत्यवायपरिहाराय प्रवर्ततां " नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया " इति वचनात्। कथमिदानीं स्वर्गकाम इति वचनमवतिष्ठते, जुहुयात् जुहोतु होतव्यमिति लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययांतनिर्देशादेव नियोगमात्रप्रतिपत्तेः, तत एव च प्रवृत्तिसंभवात्।

अद्वैतवादी नियोगके ऊपर दूसरे प्रकारसे विचार चलाते हैं कि वह नियोग फलरहित है ? अथवा फलसहित है ? बताओ। प्रथम पक्ष अनुसार फलरहित सामान्य नियोगसे तो हिताहितको विचारनेवाले प्रामाणिक पुरुषोंकी किसी भी कर्ममें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। यों तो ऐसे प्रवृत्ति करनेवालेको अविचारपूर्वक कार्य करनेवालेपनका प्रसंग होगा। एक बात यह भी है कि प्रयोजनसिद्धिका उद्देश्य नहीं रखकर तो मंदबुद्धि या आलसी जीव भी नहीं प्रवृत्ति करता है। ऐसी लोकमें प्रसिद्धि हो रही है। इसपर नियोगवादी यों कहें कि तीव्र

प्रतापी, महाक्रोधी, प्रभुके निष्फल भी वचननियोगसे प्रजाजनोंकी प्रवृत्ति होना देखा जाता है। अर्थात्—अत्यन्त क्रोधी राजा अन्यायपूर्वक क्रिया करनेमें यदि प्रजाजनोंको नियुक्त कर देता है, उसके भयसे निष्फल नियोग द्वारा भी प्रवृत्ति करनी पडती है, तब तो निष्फल नियोगसे भी प्रवृत्ति होना साध गया कोई दोष नहीं है। इसपर अद्वैतवादी कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस क्रोधी राजा या अधिकारीके निर्देश अनुसार प्रवृत्ति नहीं करनेको निमित्त मानकर उत्पन्न हुये विनाश या अपराधसे अपनी चारों ओरसे रक्षा हो जाना ही फल है। प्रचंड राजाके नियोगसे यदि कथमपि प्रवृत्ति नहीं की जावेगी तो मेरी विनाश या मुझको दण्डप्राप्ति अवश्य होवेगी। इस कारण उस अपायके निवारण करनेके लिये प्रवृत्ति कर रहे विचारशील प्रामाणिक पुरुषोंको भी उस प्रेक्षावान्पनेका कोई विरोध नहीं है। यानी स्वार्थी राजा हमको यदि यों आज्ञा दे दें कि तुमको स्वदेशी वस्तुपर मूल्यसे आधा कर (महसूल) देना पडेगा। पण्डितजी ! तुम्हारी दो हजारसे अधिक आय है। अतः तुमको प्रतिवर्ष दो पैसा रुपयाकी गणनासे अवश्य कर (इन्कमटेक्स) देना पडेगा। यद्यपि इस आज्ञापालनसे अधिकृत व्यक्तियोंको कोई अभीष्टफलकी प्राप्ति नहीं होती है। कोई पारितोषिक, सुख, पदस्थ नहीं मिल जाता है। फिर भी करको नहीं देनेसे कुर्कों, कारागृहवास, निंदा आदि अपायोंको भोगना पडता है। अतः यहां भी फल विद्यमान है। अतः वह नियोग सफल है। तब तो हम नियोगवादी कहेंगे कि यों तो नियुक्त पुरुषभाव आत्मक फलसे रहित हो रहे वैदिक वचनसे भी पाप कर्मके परिहारके लिये प्रवृत्ति करो। धर्मशास्त्रका वचन है कि प्रत्यवायोंके त्यागकी अभिलाषासे नित्यकर्म और नैमित्तिक कर्म अवश्य करने चाहिये। " मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः " किसी लौकिक कामनासे किये गये पुत्र इष्टि, विश्वजित् याग आदि काम्य कर्म या कलंज भक्षण, शत्रुमारण, आदि निषिद्ध कर्मोंमें मोक्षका अर्थी नहीं प्रवर्तेगा। हां, त्रिकाल संध्या करना, उपासना करना, जप करना, देव, ऋषि, पितरोंके लिये तर्पण करना, प्राणायाम करना, आदि नित्यकर्म और मरणीश्राद्ध, ग्रहणश्राद्ध, पौर्णमासी यज्ञ, आदि नैमित्तिक कर्म तो मुमुक्षुको भी करने पडते हैं। इन नित्यकर्म और निमित्तसे होनेवाले कर्मोंको भले प्रकार करनेसे यद्यपि फल कुछ भी नहीं है। किन्तु नहीं करनेवालोंके पापका लेप अवश्य हो जाता है। " अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते "। जैसे कि राजाकी नियुक्त की गयीं धाराओं (कानून) के अनुसार चलनेसे किसी प्रजाजनको पारितोषिक या प्रशंसापत्र (सर्टिफिकिट) नहीं मिल जाता है। किन्तु धाराओंके अनुसार नहीं चलनेवालोंको दण्ड अवश्य भोगना पडता है। इसी प्रकार फलरहित वेदवचनसे भी पापपरिहारका उद्देश्य लेकर प्रवृत्ति हो जावेगी। इस प्रकार नियोगवादियोंके कहनेपर तो हम विधिवादी कहते हैं कि उपर्युक्त प्रकारसे नियोगको फलरहित माननेपर अब प्राभाकरोंका फलको दिखलानेवाला " स्वर्गकामः " यह वचन भला कैसे व्यवस्थित हो सकेगा ? बताओ। हवन करें, हवन करो, हवन करना चाहिये, इस

प्रकारके लिङ्ककार लोट्लकार तव्य प्रत्ययको अन्तमें रखनेवाले पदोंके निर्देशसे ही सामान्यरूपसे नियोगकी प्रतिपत्ति होना और उस ही से प्रवृत्ति हो जाना सम्भव जाता है। स्वर्गकी अभिलाषा रखनेवाला इस पदको देनेकी आवश्यकता नहीं है। नियोगवादियोंको पूर्वापरविरुद्ध वचन नहीं कहना चाहिये।

फलसहितान्नियोगात् प्रवृत्तिसिद्धौ च फलार्थितैव प्रवर्तिका न नियोगस्तमंतरेणापि फलार्थिनां प्रवृत्तिदर्शनात्। पुरुषवचनान्नियोगे अयमुपालंभो नापौरुषेयाग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे तस्यानुपालभ्यत्वात्। इति न युक्तं, " सर्वं खल्विदं ब्रह्म " इत्यादिवचनस्याप्यनुपालभ्यत्वसिद्धेर्वेदांतवादपरिनिष्ठानात्। तस्मान्न नियोगो वाक्यार्थः कस्यचित्प्रवृत्तिहेतुरिति।

अभी विधिवादी ही कहे जारहे हैं। यदि द्वितीय पक्षके अनुसार नियोगवादी फलसहित नियोगसे प्रवृत्ति होजानेकी सिद्धि करेंगे तब तो फलकी अभिलाषुकता ही श्रोताओंको कर्मोंमें प्रवृत्ति करादेनेवाली हो जावेगी। नियोग तो प्रवर्तक नहीं हुआ। क्योंकि उस नियोगके विना भी फलके अर्थी जीवोंकी प्रवृत्ति होना देखा जाता है, अतः नियोगको सफल मानना भी व्यर्थ ही रहा। नियोगवादी फिर यों कहते हैं कि लौकिक पुरुषोंके वचनसे जहां नियोग प्राप्त किया जाता है। वहां तो आप विधिवादी यह उपर्युक्त उलाहना दे सकते हैं। किन्तु पुरुष प्रयत्न द्वारा नहीं बनाये गये वैदिक अग्निहोत्र आदि वाक्योंसे ज्ञात हुये नियोगमें उक्त उपालम्भ नहीं आते हैं। क्योंकि निर्दोष वेदवाक्यजन्य वह नियोग तो उपालम्भ प्राप्त करने योग्य नहीं है। इसके उत्तरमें विधिवादी कहते हैं कि इस प्रकार नियोगवादियोंका कहना युक्तिपूर्ण नहीं है क्योंकि यों तो हमारा माना हुआ यह वाक्य भी उलाहना प्राप्त करने योग्य नहीं होता हुआ सिद्ध हो जाता है कि यह सम्पूर्ण जगत् निश्चय कर परमब्रह्म स्वरूप है। यहां कोई पदार्थ भेदरूप नहीं है, इत्यादिक वाक्योंकी सिद्धि हो जानेसे अद्वैत प्रतिपादक वेदान्तवादकी पूर्णरूपसे निर्दोष प्रसिद्धि हो जाती है। तिस कारणसे वाक्यका अर्थ नियोग नहीं है, जिससे कि किसी जीवकी प्रवृत्तिका निमित्तकारण बन सके। " स्यादेतत् " से प्रारम्भ कर " प्रवृत्तिहेतुः " यहांतक नियोगवादियोंको धक्का देकर विधिवादियोंने अपना मन्तव्य पुष्ट किया है। अब श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान करते हैं।

तदेतद्विधिवादिनोपि समानं विधेरपि प्रवृत्तिहेतुत्वायोगस्याविशेषात्। प्रकृतविकल्पानतिवृत्तेः। तस्यापि हि प्रवर्तकस्वभावत्वे वेदांतवादिनामिव प्राभाकरताथागतादीनामपि प्रवर्तकत्वप्रसक्तेरप्रवर्तकस्वभावात्तेषामपि न प्रवर्तको विधिः स्यात्। स्वयमविपर्यस्तास्ततः प्रवर्तते न विपर्यस्ता इति चेत्, कुतः संविभागो विभाव्यतां। प्रमाणाबाधितेतरमताश्रयणा-

दिति चेत्, तर्हि वेदांतवादिनः कथं न विपर्यस्ताः सर्वथा सर्वैकत्वमतस्याध्यक्षविरुद्धत्वात् परस्परनिरपेक्षद्रव्यगुणादिभेदाभेदमननवत्। तद्विपरीतस्यानेकांतस्य जात्यंतरस्य प्रतीतेः।

इस प्रकार विधिवादियोंकी ओरसे विकल्प उठाकर नियोगवादियोंके मतका जैसे यह खण्डन किया गया है, वैसा विचार चलानेपर विधिवादियोंके ऊपर भी वही आपादन समानरूपसे लागू हो जाता है। वाक्यके अर्थ विधिको भी प्रवृत्तिका कारणपना नहीं घटित होता है। अप्रवर्तकपनेकी अपेक्षा विधिकी नियोगसे कोई विशेषता नहीं है। प्रकरणमें प्राप्त हुये विकल्पोंका उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। प्रतिनारायणके चक्रसमान विधिवादीके ऊपर भी वे ही विकल्प उठाये जा सकते हैं। देखिये कि उस विधिका भी स्वभाव यदि नियमसे प्रवर्तकपना माना जायगा तो वेदान्तवादियोंके समान प्रभाकर मत अनुयायी, बुद्धमत अनुयायी, चार्वाक आदि दार्शनिकोंकी भी अद्वैतमें प्रवृत्ति करा देनेपनका प्रसंग विधिको प्राप्त होगा। अर्थात्—जो जिसका स्वभाव है वह न्यारे न्यारे पुरुषोंके लिये बदल नहीं सकता है। जैसे कि स्वर्गीके हाथमें भी मूसल कूटनेवाला ही रहेगा। हां, यदि विधिको अप्रवर्तक स्वभाव माना जायगा तब उक्त दोष तो टल जाता है। किन्तु अप्रवर्तक स्वभाववाली विधिसे तो वेदान्तवादियोंकी भी प्रवृत्तिको करानेवाला विधि अर्थ नहीं हो सकेगा। यदि विधिवादी यों कहें कि स्वयं विपर्ययज्ञानको नहीं धार रहे हम विधिवादी तो उस विधिसे प्रवर्त जाते हैं। हां, जो मिथ्याज्ञानी हैं वे उस विधिके द्वारा प्रवृत्ति नहीं कर पाते हैं। इस प्रकार विधिवादियोंके कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि उस सम्यग्ज्ञानीपन और मिथ्याज्ञानीपनका अच्छा विभाग होना भला किससे निर्णीत किया जाय ? बताओ। यदि तुम वेदान्तवादी इसके उत्तरमें यों कहो कि प्रमाणोंके द्वारा अबाधित किये गये मतका आश्रय करनेवाले सम्यग्ज्ञानी हैं, और इतर यानी प्रमाणोंसे बाधे जा रहे मतका आश्रय कर लेनेसे पुरुषके मिथ्याज्ञानीपनका निर्णय कर लिया जाता है, इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो वेदान्तवादी ही विपर्ययज्ञानवाले क्यों नहीं विचार लिये जावेंगे ? क्योंकि उनका सभी प्रकार सबको एक परमब्रह्मपनेकी विधि करनेका मत तो प्रत्यक्षप्रमाणसे विरुद्ध है। प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा अग्नि, जल, सर्प, नौका आदि भिन्न भिन्न नाना पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं। अतः " सर्वमेकं " यह विधिवादियोंका मन्तव्य प्रमाणोंसे बाधित है। जैसे कि परस्परमें नहीं अपेक्षा रखते हुए द्रव्य और गुण या अवयव और अवयवी आदिका सर्वथा भेद तथा अभेद मानना प्रत्यक्षविरुद्ध है। क्योंकि उन सर्वथा भेद या अभेदोंसे विपरीत हो रहे, तीसरी जातिवाले कथंचित् भेद अभेद स्वरूप अनेकान्तकी प्रतीति हो रही है। अर्थात्—द्रव्य, गुण आदिका सर्वथा भेद माननेवाले नैयायिक हैं। सांख्य उनका अभेद मानते हैं। ये दोनों मत प्रमाणोंसे विरुद्ध हैं। हां, पर्याय और पर्यायीमें कथंचित् भेद, अभेद, प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार सर्वथा एकत्वको कहनेवाले विधिवादी भी विपर्ययज्ञानवाले हो जाते हैं।

फलरहितश्च विधिर्न प्रवर्तको नियोगवत्। सफलः प्रवर्तक इति चेत्, किंचिज्ज्ञानां फलार्थिनां फलाय दर्शनादेव (फलोपदर्शनादेव) प्रवृत्त्युपपत्तेः। पुरुषाद्वैते न कश्चित् कुतश्चित् प्रवर्तत इति चेत्, सिद्धस्तर्हि विधिरप्रवर्तको नियोगवदिति न वाक्यार्थः।

नियोगके समान विधिमें भी फलरहित और फलसहितपनेका विकल्प यों उठाया जाता है कि यदि विधि उत्तरकालमें होनेवाले फलसे रहित है, तब तो किसी भी श्रोताको प्रवृत्ति करानेवाली नहीं हो सकती है, जैसे कि फलरहित नियोग प्रवर्तक नहीं माना गया था। यदि विधिवादी यों कहें कि फलोंसे सहित हो रही विधि प्रवर्तक है, तब तो हम जैन कहेंगे कि कुछ अल्प पदार्थोंको जाननेवाले अल्पज्ञ फल अभिलाषी जीवोंकी फलप्राप्तिके लिये दर्शनसे ही या फल प्राप्ति की अभिलाषासे प्रवृत्ति होना सध जावेगा। विधिको प्रवर्तक कहना व्यर्थ है। फिर भी विधिवादी यों कहें कि भेदवादियोंके यहां भले ही कोई कहीं किसीसे प्रवृत्ति करे, किन्तु हम अद्वैतवादियोंके यहां ब्रह्माद्वैतमें कोई भी किसीसे भी प्रवृत्ति नहीं करता है। इसपर हम जैन कहते हैं कि तब तो प्रवृत्ति नहीं करानेवाले नियोगके समान विधि भी वाक्यका अर्थ सिद्ध नहीं हुआ। फिर दूसरेपर ही कटाक्ष करना आप अद्वैतवादियोंने सीखा है। अपने दोष स्वयंको नहीं दीख रहे हैं।

पुरुषाद्वैतवादिनामुपनिषद्वाक्यादात्मनि दर्शनश्रवणानुमननिध्यानविधानेऽप्यप्रवर्तने कुतस्तेषां तदभ्यासः साफल्यमनुभवति मत्तोन्मत्तादिप्रलापवत्, कथं वा सर्वथाप्यप्रवर्तको विधिरेव वाक्यार्थो न पुनर्नियोगः।

हम अद्वैतवादीसे पूंछते हैं कि यदि विधिको सर्वथा अप्रवर्तक माना जायगा और पुरुषाद्वैतवादियोंके यहां " दृष्टव्यो " इत्यादि उपनिषद्के वाक्यसे आत्मामें दर्शन करना, श्रवण करना, अनुमनन करना, और ध्यान करना इन क्रियाओंमें भी यदि प्रवृत्ति नहीं मानी जावेगी तो उन अद्वैतवादियोंका उन दर्शन आदिकमें अभ्यास कैसे होगा? दर्शन आदिके बिना वह उनका अभ्यास और किसी फलकी अपेक्षासे भला सफलताका अनुभव कैसे कर सकता है? जैसे कि मदमत्त या उन्मत्त पुरुषोंके व्यर्थवचन सफल नहीं हैं। उसीके समान उपनिषद् वाक्योंका अभ्यास भी अनर्थक है। दूसरी बात यह है कि सभी प्रकारोंसे अप्रवर्तक हो रही विधि ही तो वाक्यका अर्थ होय किन्तु अप्रवर्तक नियोग वाक्यका अर्थ नहीं होय, यह सर्वथा पक्षपात पूर्ण कथन भला कैसे माना जा सकता है? अर्थात्—नहीं।

घटादिवत् पदार्थांतरत्वेनाप्रतिभासनात् नियुज्यमानविषयनियोक्तृधर्मत्वेन चानवस्थानाच्च नियोगो वाक्यार्थ इति चेत् तदितरत्र समानं, विधेरपि घटादिवत्पदार्थांतरत्वेनाप्रतिभासनाद्विधाप्यमानविषयविधायकधर्मत्वेनाव्यवस्थितेश्च।

यदि अद्वैतवादी यों कहें कि जैसे आत्मासे भिन्न कल्पित किये गये पट आदिक कार्य भिन्न पदार्थपने करके प्रतिभास रहे हैं, उसके समान नियोग तो भिन्न पदार्थपने करके नहीं प्रतिभास रहा है। तथा नियोगको प्राप्त किये गये श्रोता पुरुष या यज्ञ आदि विषयके धर्मपने करके या नियोग करनेवाले वेदवाक्यका धर्मस्वरूप करके वह नियोग व्यवस्थित नहीं हुआ है। अर्थात्— जैसे नियुज्यमान पुरुषका धर्म होकर या नियोक्ताका धर्म होकर पट दीख रहा है, वैसा नियोग नहीं है। अतः दो हेतुओंसे नियोगकी व्यवस्था नहीं होनेसे नियोग वाक्यका अर्थ नहीं है, इस प्रकार विधिवादियोंके कहनेपर तो हमें कहना पड़ेगा कि वह कटाक्ष तो दूसरोंके यहां भी यानी इन विधिवादियोंके ऊपर भी समानरूपसे लग जाता है। विधिका भी घट आदिके समान पुरुषसे पृथक् पदार्थपने करके नहीं प्रतिभास होता है। तथा विधान करने योग्य दर्शन आदि या द्रष्टव्य विषयका धर्म अथवा विधिको कहनेवाले वैदिक शब्दके धर्मपने करके विधिकी व्यवस्था नहीं हो रही है। अतः विधि भी वाक्यका अर्थ नहीं सिद्ध हो पाता है।

यथैव हि नियोज्यस्य पुंसो धर्मे नियोगे अननुष्ठेयता नियोगस्य सिद्धत्वादन्यथानुष्ठानोपरमाभावानुषंगात्। कस्यचित्तद्रूपस्यासिद्धस्याभावाद्, असिद्धरूपतायां वा नियोज्यत्वविरोधाद्वन्ध्यास्तनंधयादिवत्। सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे असिद्धरूपेण चानियोज्यतामेकस्य पुरुषस्यासिद्धसिद्धरूपसंकरान्नियोज्येतरत्वविभागासिद्धस्तद्रूपासंकरे वा भेदप्रसंगादात्मनः सिद्धासिद्धरूपयोः संबन्धाभावोऽनुपकारात्। उपकारकल्पनायामात्मनस्तदुपकार्यत्वे नित्यत्वहानिस्तयोरात्मोपकार्यत्वे सिद्धरूपस्य सर्वथोपकार्यत्वव्याघातोऽसिद्धरूपस्याप्युपकार्यत्वे गगनकुसुमादेरुपकार्यत्वानुषंगः। सिद्धासिद्धरूपयोरपि कथंचिदसिद्धरूपोपगमे प्रकृतपर्यनुयोगानिवृत्तेरनवस्थानुषंग इत्युपालंभः।

" यथैव " का अन्वय छह, सात, पंक्ति पीछे आनेवाले तथा शब्दके साथ करना चाहिये। श्री विद्यानन्द आचार्य नियोग और विधि दोनोंको ही नियोज्य या विधीयमान पुरुषका धर्म तथा यागलक्षण विषय या विधेय विषयका धर्म एवं विधायक या नियोक्ता शब्दका धर्म नहीं हो सकना एकसा बताये देते हैं। देखिये, जिस ही प्रकार नियोजने योग्य पुरुषका धर्म यदि नियोग माना जावेगा तो अद्वैतवादियोंकी ओरसे प्राभाकरोंके ऊपर नहीं अनुष्ठान करने योग्यपन आदि दोष धर दिये जाते हैं। यानी नियोज्य पुरुष अनादि कालसे स्वतः सिद्ध नित्य है तो उस आत्माका स्वभाव नियोग भी पूर्वकालोंसे सिद्ध है। अन्यथा यानी सिद्ध हो चुके पदार्थका भी अनुष्ठान किया जायगा तो अनुष्ठान करनेसे विराम लेनेके अभावका प्रसंग होगा। कृतका पुनः करण होने लगेगा तो सदा विधान होता ही रहेगा, किया जा चुका पदार्थ पुनः किया जायगा और फिर भी किया जा चुका किया जायगा। कभी भी विश्राम नहीं ले सकोगे। चर्वितका चर्वण अनन्तकालतक करते रहो।

अतः यही अच्छा है कि बन चुके को पुनः नहीं बनाया जाता है। नित्य पुरुषके धर्म हो रहे, उस नियोगका कोई भाग असिद्ध तो है नहीं। हां, किसी असिद्ध रूपको नियोज्य माना जावेगा, तब तो वन्ध्यापुत्र, अश्वविषाण, आदिके समान सर्वथा असिद्ध पदार्थको नियोज्यपनेका विरोध है। यदि आत्माके धर्म हो रहे नियोगको किसी एक सिद्धस्वरूपकरके नियोज्यपना और उस ही नियोगको असिद्धस्वरूपकरके अनियोज्यपना माना जावेगा, तब तो एक आत्माके सिद्धस्वरूप और असिद्धस्वरूपोंका संकर हो जानेसे नियोज्यपन और अनियोज्यपनके विभागकी असिद्धि हो जावेगी। दूध और बूरेके समान संकरको प्राप्त हो रहे दो स्वभावोंसे युक्त हुये नियोगसे अभिन्न आत्माका उन धर्मोंकरके विभाग सिद्ध नहीं होता है। यदि उन सिद्ध असिद्ध रूपोंका संकर होना नहीं मानोगे तो उन भिन्न दो रूपोंसे अभिन्न हो रहे आत्माके भेद हो जानेका प्रसंग आ जावेगा। अथवा नित्य आत्मासे वे दो रूप न्यारे हो जावेंगे। ऐसी दशामें वे सिद्ध असिद्ध दो रूप आत्माके हैं। इस व्यवहारका नियामक सम्बन्ध तुम्हारे पास कोई नहीं है। क्योंकि राजाका पुरुष, गुरुका शिष्य या पुरुषका राजा, शिष्यका गुरु, यहां परस्परमें आजीविका देना, चाकरी करना, पढाना, सेवा करना, आदि उपकार करनेसे स्वस्वामिसम्बन्ध, गुरुशिष्यसम्बन्ध माने जाते हैं। किन्तु उपकार नहीं होनेके कारण उन सिद्ध असिद्धरूप और कूटस्थ नित्य आत्माका कोई षष्ठी विधायक सम्बन्ध नहीं हो पाता है। यदि आत्मा और उन रूपोंमें उपकार करनेकी कल्पना की जायगी तो हम विधिवादी नियोगवादीसे पूंछते हैं कि उन दो रूपों करके आत्माके ऊपर उपकार किया जायगा ? अथवा आत्माकरके दो रूपोंके ऊपर उपकार किया जायगा ? बताओ। प्रथम विकल्प अनुसार यदि उन दो रूपोंकरके आत्माको उपकार प्राप्त करने योग्य माना जायगा, तब तो आत्माके नित्यपनेकी हानि हो जायगी। क्योंकि जो उपकृत होता है, वह कार्य होता है। द्वितीय विकल्प अनुसार उन दो रूपोंको आत्माकरके उपकार प्राप्त करने योग्य मानोगे तो पहिला दोष टल गया। किन्तु सिद्ध हो चुके रूपको तो सभी प्रकारोंसे उपकार्यपनका व्याघात है। कारण कि जो सिद्ध हो चुका है, उसमें उपकारको धारने योग्य कोई उत्पाद्य अंश शेष नहीं है। और दूसरे असिद्धरूपको भी यदि उपकार प्राप्त करने योग्य माना जायगा, तब तो आकाशपुष्प, शशविषाण आदि असिद्ध पदार्थोंको भी उपकार झेलनेवालेपनका प्रसंग हो जावेगा। यदि नियोगवादी सिद्ध असिद्ध दोनों रूपोंका भी कथंचित् कोई स्वरूप असिद्ध हो रहा स्वीकार करेंगे तो प्रकरण प्राप्त चोद्यकी निवृत्ति नहीं हो सकेगी। अर्थात्—सिद्ध असिद्ध रूपोंमें भी कथंचित् सिद्ध असिद्धपना स्वीकार किया जायगा, तो सिद्धके अनुष्ठानकी विरतिका अभाव दोष लगेगा, असिद्धरूप तो वन्ध्यापुत्रके समान नियोज्य हो नहीं सकता है। इत्यादिक प्रश्न उठते चले जायेंगे। अतः अनवस्था दोषका प्रसंग हो जायगा। इस प्रकार विधिवादीका नियोगवादीके ऊपर उलाहना हो रहा है।

तथा विधाप्यमानस्य पुरुषस्य धर्मे विधावपि सिद्धस्य पुंसो दर्शनश्रवणानुमनन-ध्यानविधानविरोधात् । तद्विधाने वा सर्वदा तदनुपरतिप्रसक्तिः । दर्शनादिरूपेण तस्यासिद्धौ विधानव्याघातः कूर्मरोमादिवत् । सिद्धरूपेण विधाप्यमानस्य विधानेऽसिद्धरूपेण चाऽविधाने सिद्धासिद्धरूपसंकरात् विधाप्येतरविभागासिद्धिस्तद्रूपासंकरे वा भेदप्रसंगादात्मनः सिद्धासिद्धरूपयोस्तत्संबंधाभावादिदोषासंजननस्याविशेषः ।

तिस ही प्रकार नियोगवादीकी ओरसे हम जैनवादी भी विधिवादीके ऊपर वैसा ही उलाहना दे सकते हैं। देखिये, विधान कराये जा रहे पुरुषके धर्म माने गये विधिमें भी हम कहते हैं कि परिपूर्ण निष्पन्न होकर सिद्ध हो चुके श्रोता नित्यपुरुषके दर्शन, श्रवण, अनुमान और ध्यानके विधानका विरोध है। जो पहिले दर्शन आदिसे रहित हैं, वह परिणामी पदार्थ ही दर्शन आदिका विधान कर सकता है, नित्य कृतकृत्य नहीं। यदि सिद्ध हो चुका पुरुष भी उन दर्शन आदिओंका विधान करेगा तो सर्वदा ही उन दर्शन आदिकोंसे विराम नहीं ले सकनेका प्रसंग होगा। क्योंकि दो, चार बार दर्शन आदि कर चुकनेपर भी पुनः पुनः सिद्ध हो चुके, पुरुषकी दर्शन आदिकी विधिमें प्रवृत्ति होना मानते ही चले जायंगे। ऐसी दशामें भुक्तका भोजन पुनः भुक्तका भोजन करनेके समान कभी विश्राम नहीं मिल सकता है। यदि उस आत्माके धर्मविधिकी दर्शन श्रवण आदि स्वरूपोंकरके सिद्धि हो चुकी नहीं मानोगे तब तो कच्छपरोम, चन्द्र आताप, सूर्य कौमुदी आदिके समान उस असिद्ध हो रही असद्रूप विधिके विधानका व्याघात है। जो असिद्ध है, उसका विधान नहीं और जिसका विधान है, वह सर्वथा असिद्ध पदार्थ नहीं है। यदि विधान करने योग्यका सिद्धस्वरूप करके विधान मानोगे और असिद्धरूप करके विधान नहीं होना मानोगे तो सिद्ध–असिद्धस्वरूपोंका संकर हो जानेसे यह सिद्धरूप विधाप्य है और इससे न्यारा इतना असिद्धरूप विधान करने योग्य नहीं है, इस प्रकारके विभागकी सिद्धि नहीं हो सकी। यदि उन विधाप्य और अविधाप्य रूपोंका एकम एक हो जाना स्वरूपसांकर्य नहीं माना जायगा, तब तो उन दोनों रूपोंका आत्मासे भेद हो जानेका प्रसंग होगा। सर्वथा भिन्न पड़े हुये उन सिद्ध असिद्ध दो रूपोंका आत्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि दोनोंका परस्परमें कोई उपकार नहीं है। यदि सम्बन्ध जोड़नेके लिए उपकारकी कल्पना की जायगी तो पूर्वमें नियोगवादीके लिये उठाये गये संबंधका अभाव, उपकार कल्पनाका नहीं बन सकना, आदिक दोषोंका प्रसंग वैसाका वैसा ही तुम विधिवादियोंके ऊपर लग बैठेगा, सर्प और नागके समान नियोग और विधिमें कोई विशेषता नहीं है। आत्माके उपकार्य माननेपर आत्माका नित्यपना बिगड़ता है। यदि दो रूपोंको उपकार्य माना जायगा तो सिद्धरूप तो कुछ उपकार झेलता नहीं है। और गजशृङ्गके समान असिद्ध पदार्थ भी किसीकी ओरसे आये हुये उपकारोंको नहीं धार सकता है। फिर भी उन सिद्ध असिद्ध रूपोंको कथंचिद् असिद्ध मानोगे ? तो वे जिस अंशमें असिद्ध होयंगे सिंहविषाणके समान वे उपकारको प्राप्त नहीं कर

सकेंगे और सर्व अंगोंमें सिद्ध बन चुका पदार्थ भला काहेको उपकार झेलने लगा। अतः विधिवादीके मन्तव्य अनुसार विधाप्यमानका धर्म विधि नहीं सिद्ध हो चुकी। यहां नियोगवादीकी ओरसे आचार्योंने विधिवादीके ऊपर आपादन किया है। और अष्टसहस्रीमें नियोगवादीके ऊपर विधिवादी द्वारा कटाक्ष वर्षा किये जानेपर भट्ट मीमांसकोंने विधिवादीको आडे हाथ लिया है।

तथा विषयस्य यागलक्षणस्य धर्मे नियोगे तस्यापरिनिष्पन्नत्वात् स्वरूपाभावाद्वाक्येन प्रत्येतुमशक्यत्वस्य विधावपि विषयधर्मे समानत्वात् कुतो विषयधर्मो विधिः ?

तिस ही प्रकार विधिवादी यदि नियोगवादीके ऊपर नियोगका निषेध करनेके लिये यों कटाक्ष करें कि प्राभाकरोंकी ओरसे यागस्वरूप विषयका धर्म यदि नियोग माना जावेगा आस्तां, किन्तु वह याग अभी बनकर परिपूर्ण हुआ नहीं हैं। उपदेश सुनते समय तो उस यागका स्वरूप ही नहीं है। अतः असद्भूत यागके धर्म नियोगकी वाक्यकरके निर्णय करनेके लिये अशक्यता है। इसके उत्तरमें आचार्य महाराज विधिवादीके ऊपर भी यह अशक्यता दोष लगाये देते हैं कि दर्शन, श्रवण आदि विषयोंके धर्म माने जाने रहे विधिमें भी जाननेकी अशक्यता दोष समान है। अर्थात्—" द्रष्टव्योऽयमात्मा " इत्यादि वाक्य सुननेके अवसरपर जब दर्शन, श्रवण हैं ही नहीं तो उनका धर्म विधि भी विद्यमान नहीं है। असद्भूत पदार्थकी वाक्यद्वारा प्रतीति नहीं हो सकती है। इस कारण विषयके धर्म माने गये नियोगके समान विधिकी भी सिद्धि कैसे हो सकती है ? अर्थात्—नहीं।

पुरुषस्यैव विषयतयावभासमानस्य विषयत्वात्तस्य च परिनिष्पन्नत्वान्न तद्धर्मस्य विधेरसंभव इति चेत्, तर्हि यजनाश्रयस्य द्रव्यादेः सिद्धत्वात्तस्य विषयत्वात्कथं तद्धर्मो नियोगोपि न सिध्येत् ?

यदि विधिवादी यों कहें कि हम दर्शन, श्रवण आदिको विधिका विषय नहीं मानते हैं। विषयपने करके प्रतिभास रहे परमब्रह्मको ही हम विधिका विषय मानते हैं। और पुरुष पहिलेसे ही परिपूर्ण बना बनाया नित्य है। इस कारण उस पुरुषरूप विषयके धर्म हो रही विधिका असम्भव नहीं है। इस प्रकार विधिवादियोंके कहनेपर तो हम जैन नियोगवादीकी ओरसे यों कह देंगे कि तब तो पूजनके अधिकरण हो रहे द्रव्य आत्मा, पात्र, स्थान, आदिक पदार्थ भी पहिलेसे सिद्ध हैं। अतः उन द्रव्य आदिकोंका विषय हो जानेसे उनका धर्म नियोग भी क्यों नहीं सिद्ध हो जावेगा ?

येन रूपेण विषयो विद्यते तेन तद्धर्मो नियोगोपीति तदनुष्ठानाभावे, विधिविषयो येन रूपेणास्ति तेन तद्धर्मस्य विधेः कथमनुष्ठानं ? येनात्मना नास्ति तेनानुष्ठानमिति चेत् तन्नियोगेपि समानं।

यदि विधिवादी यों कहें कि जिस रूपसे द्रव्यादिक विषय पूर्वसे विद्यमान हैं, उस स्वरूप करके उनका धर्म नियोग भी तो पहिलेसे ही विद्यमान है। इस कारण उस बन चुके हुये नियोगका अनुष्ठान नहीं हो सकेगा। तब तो हम जैन नियोगवादीको सहारा देते हुये कह देंगे कि ब्रह्म विधिका विषय जिस रूप करके सदा विद्यमान हो रहा है, उस स्वरूप करके उसका विधि विषय भी निष्पन्न हो चुका है। ऐसी दशामें द्रष्टव्य आदि वाक्यों करके विधिका अनुष्ठान भी कैसे किया जा सकता है? बताओ। फिर भी विधिवादी यों कहें कि जिस स्वरूप करके विधि विषयी विद्यमान नहीं है, उस अंश करके विधिका अनुष्ठान किया जा सकता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहनेपर तो वह अनुष्ठान नियोगमें भी समानरूपसे किया जा सकता है। अर्थात्—जिस अंश करके नियोग विषयी विद्यमान नहीं है, उस भाग करके कर्मकाण्डियोंद्वारा नियोगका अनुष्ठान किया जाता है। नियोग और विधिमें कोई अन्तर नहीं है।

कथमसन्नियोगोऽनुष्ठीयते अप्रतीयमानत्वात् खरविषाणवत् इति चेत्, तत एव विधिरपि नानुष्ठेयः। प्रतीयमानतया सिद्धत्वादनुष्ठेयो विधिरिति चेत् नियोगोपि तथास्तु।

विधिवादी कहते हैं कि अंशरूपसे असत् हो रहे नियोगका भला अनुष्ठान कैसे किया जा सकता है? क्योंकि असत् पदार्थ प्रतीत नहीं किया जा रहा है। जो प्रतीत नहीं है, उसमें क्रिया नहीं की जा सकती है। अतः खरविषाणके समान असत् नियोगका करना नहीं बनता है। आचार्य कहते हैं कि यों कहनेपर तो तिस ही कारणसे विधि भी अनुष्ठान करने योग्य नहीं ठहरेगी। क्योंकि आप अद्वैतवादियोंने भी विषयके असद्भूत अंश करके ही विधिका अनुष्ठान किया जाना माना था। यदि विधिवादी यों कहें कि हमारे यहां विधिकी प्रतीति की जा रही है। अतः अप्रतीयमानत्व हेतु विधिमें नहीं रहा, किन्तु प्रतीत किये जा रहे स्वरूपकरके सिद्ध होनेके कारण विधिका तो अनुष्ठान किया जा सकता है। इस प्रकार विधिवादियोंके कहनेपर तो हम जैन कह देंगे कि नियोग भी तिस प्रकार अनुष्ठान करने योग्य हो जाओ, वह भी प्रतीति किये जा रहेपन करके सिद्ध है। अप्रतीयमानत्व हेतु वहां असिद्ध है। अतः विधिके समान नियोग भी प्रतीयमान होता हुआ अनुष्ठेय है। व्यर्थ पैंतरा बदलनेसे कार्य नहीं चलता है।

नन्वनुष्ठेयतयैव नियोगोवतिष्ठते न प्रतीयमानतया तस्याः सकलवस्तुसाधारणत्वात् अनुष्ठेयता चेत्प्रतिभाता कोन्यो नियोगो यस्यानुष्ठितिरिति चेत्, तर्हि विधिरपि न प्रतीयमानतया प्रतिष्ठामनुभवति किं तु विधीयमानतया सा चेदनुभूता कोन्यो विधिर्नाम? यस्य विधानमुपनिषद्वाक्यादुपवर्ण्यते।

नियोगवादकी पुष्टिमें लग रहे जैनोंके ऊपर विधिवादीका प्रश्न है कि अनुष्ठान करने योग्यपने करके ही नियोगकी व्यवस्था हो रही है। प्रतीत किये जा रहेपन करके नियोगकी अवस्थिति

नहीं हो रही है। क्योंकि वह कोरी अनुष्ठेयता तो सम्पूर्ण वस्तुओंमें सामान्यरूपकरके वर्त रही है। हां, यदि वह अनुष्ठेयता तुमको प्रतिभास हो चुकी होती तब तो वह नियोग प्रतिभासके अन्तरंगमें प्रविष्ट हो जानेके कारण नित्य ब्रह्मरूप ही हुआ। ब्रह्मसे भिन्न दूसरा नियोग क्या पदार्थ है ? जिसका कि अनुष्ठान करना कर्मकाण्डवाक्योंसे माना जा रहा है ? और नहीं प्रतिभास रहे पदार्थका तो सद्भाव ही नहीं माना जाता है। इस प्रकार अद्वैतवादियोंका पर्यनुयोग होनेपर तो हम जैन भी अपने प्राज्ञ मित्र नियोगवादीको सहारा देते हुये कहते हैं कि यों तो विधि भी वर्तमानकालमें प्रतीयमानपने करके प्रतिष्ठाका अनुभव नहीं कर रही है। किन्तु वर्तमानमें विधान किये जा रहेपन करके जानी जा रही है। क्योंकि वह विधीयमानता सभी पदार्थोंमें साधारणरूपसे पायी जाती है। जब कि विधिकी विधीयमानताका अनुभव हो चुका तो फिर उससे अन्य कौनसा अंश विधि नामका शेष रह गया है ? जिसका कि विधान करना " द्रष्टव्यो इत्यादिक उपनिषदोंके वाक्योंसे बखाना जा रहा है। भावार्थ—अद्वैतवादी " घटः प्रतिभासते " " पटः प्रतिभासते " घट प्रतिभास रहा है, पट प्रतिभास रहा है, ऐसी प्रतिभास (ज्ञान) क्रियाकी समानाधिकरणतासे घट, पट आदि सभी पदार्थोंको ब्रह्मस्वरूप मान लेते हैं। उनके पास घट, पट आदिकको ब्रह्मस्वरूप बनानेके लिये प्रतिभासमानपना यह बलवान् हेतु है। घटपटादयः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः प्रतिभासमानत्वात् प्रतिभासस्वरूपवत् "। नियोग भी अनुष्ठान करने योग्य होकर प्रतिभास चुका है। जो प्रतिभास चुका है, उसकी वर्तमानकालमें प्रतीति नहीं हो रही है। अतः नियोगको अप्रतीयमान कह दिया था, यहां भविष्यकालका अनुष्ठेयपन और वर्तमानकालका प्रतीयमानपन तथा भूतका प्रतिभास हो चुकापन इस प्रकार कालोंका व्यतिकर दिखलाते हुये विद्वानोंमें अच्छा संघर्ष हो रहा है।

ननु द्रष्टव्यादिवाक्येनात्मदर्शनादिविहितं ममेति प्रतीतेरप्रतिक्षेपार्हो विधिः कथमपाक्रियते ? किमिदानीमग्निहोत्रादिवाक्येन यागादिविषये नियुक्तोहमिति प्रतीतिर्न विद्यते येन नियोगः प्रतिक्षिप्यते। सा प्रतीतिरप्रमाणमिति चेत्, विधिप्रतीतिः कथमप्रमाणं न स्यात् ? पुरुषदोषरहितवेदवचनोपजनितत्वादिति चेत्, तत एव नियोगप्रतीतिरप्यप्रमाणं माभूत् सर्वथाप्यविशेषात्। तथापि नियोगस्य विषयधर्मस्यासंभवे विधेरपि तद्धर्मस्य न संभवः।

पुनः विधिवादी अपने पक्षका अवधारण करते हैं कि द्रष्टव्य, मन्तव्य, सोहम्, इत्यादि वाक्यों करके मुझको आत्मदर्शन आदिकी विधि हो चुकी है। इस प्रकार प्रतीति हो रही है। अतः खण्डन करने योग्य नहीं हो रही विधि भला नियोगवादियों द्वारा कैसे निराकृत की जा रही है ? इसपर आचार्य कहते हैं कि क्योंजी ! अग्निहोत्र, विश्वजित् आदि यागोंको कहनेवाले

वाक्योंकरके मैं याग आदि विषयोंमें नियुक्त हो गया हूं, इस प्रकारकी प्रतीति क्या मर गई है। अब विद्यमान नहीं है, जिससे कि विधिवादियों करके नियोगका खण्डन किया जा रहा है। यदि विधिवादी यों कहें कि वह नियुक्तपनेको कह रही प्रतीति तो प्रमाण नहीं है। इस प्रकार विधिवादियोंके कहनेपर तो हम जैन भी कह देंगे कि तुम्हारी विधिको प्रतिपादन कर रही विहित-पनेकी प्रतीति भी अप्रमाण क्यों नहीं हो जावेगी ? तुम्हारी प्रतीतिमें प्रमाणपनेका प्रकाशक क्या कोई रत्न जडा हुआ है ? इसपर विधिवादी यदि यों कहें कि पुरुषोंके राग, द्वेष, अज्ञान, आदि दोषोंसे रहित हो रहे अनादि, अकृत्रिम, वेदवाक्योंसे उत्पन्न हुई होनेके कारण विधिकी प्रतीति तो प्रमाणभूत है। इस प्रकार कहनेपर तो नियोगवादी भी कह सकते हैं कि तिस ही कारण यानी पुरुषोंके दोषोंसे कोरे बचे हुये अपौरुषेय वैदिक वचनोंसे उपजी हुई नियोगकी प्रतीति भी अप्रमाण मत होओ। सभी प्रकारोंसे नियोगकी अपेक्षा विधिमें कोई विशेषता नहीं है। तिस प्रकार होनेपर भी नियोगको विषयका धर्म होना नहीं सम्भवता मानोगे तो उस अपने विषयके धर्म माने जा रहे विधिकी भी सम्भावना नहीं हो सकती है। यहांतक नियोज्य पुरुष और यागस्वरूप विषयके धर्म नियोगका विधाप्यमान पुरुषके अथवा विधेयके धर्म हो रहे विधिके साथ सम्पूर्ण अंशोंमें सादृश्य बता दिया है। अब तीसरे विधायक शब्द या नियोजक शब्दके धर्म माने जा रहे विधि और नियोगकी समानताको श्री विद्यानन्द आचार्य स्वकीय विद्वत्ताका चमत्कार दिखलाते हुये कहते हैं, अवधान लगाकर सुनिये।

शब्दस्य विधायकस्य च धर्मो विधिरित्यपि न निश्चेतुं शक्यं, नियोगस्यापि नियोक्तृशब्दधर्मत्वप्रतिघाताभावानुषक्तेः। शब्दस्य सिद्धरूपत्वात्तद्धर्मो नियोगः कथमसिद्धो येनासौ संपाद्यते कस्यचिदित्यपि न मन्तव्यं, विधिसंपादनविरोधात् तस्यापि सिद्धोपनिषद्वाक्यधर्मत्वाविशेषात्। प्रसिद्धस्यापि संपादने पुनः पुनस्तत्संपादने प्रवृत्त्यनुपरमात्कथमुपनिषद्वचनस्य प्रमाणता अपूर्वार्थताविरहात् स्मृतिवत्। तस्य वा प्रमाणत्वे नियोगवाक्यं प्रमाणमस्तु विशेषाभावात्।

दर्शन आदिका विधान कर रहे " द्रष्टव्योऽयमात्मा " इत्यादिक शब्दका धर्म विधि है, इस प्रकार भी विधिवादियोंद्वारा निश्चय नहीं किया जा सकता है। फिर भी यदि विधायक शब्दके धर्म माने गये विधिका निश्चय कर लेंगे तो नियोगको भी "विश्वजिता यजेत" "ज्योतिष्टोमेन यजेत" इत्यादिक नियोक्ता शब्दोंके धर्मपनका प्रतिघात नहीं हो सकनेका प्रसंग होगा। अर्थात्—नियोक्ता शब्दोंका धर्म नियोग जान लिया जायगा। यदि विधिवादी यों कटाक्ष करें कि शब्दको कूटस्थ नित्य माननेवाले मीमांसकोंके यहां शब्दका परिपूर्ण रूप सिद्ध है। अतः उस शब्दका धर्म नियोग भला असिद्ध कैसे होगा ? जिससे कि वह नियोग कर्मकाण्ड वाक्योंद्वारा किसी भी श्रोताके यहां

सम्पादित किया जाय। आचार्य कहते हैं कि यह भी विधिवादियोंको नहीं मानना चाहिये। क्योंकि यों तो विधिके सम्पादन करनेका भी विरोध हो जावेगा। आप विधिवादियोंके यहां उस विधिको भी अनादिकालसे परिपूर्ण सिद्ध हो रहे वैदिक उपनिषद वाक्योंका धर्मपना माना गया है। विधि और नियोगमें नित्य शब्दोंका धर्मपना अन्तररहित है। यदि सर्व अंशोंमें परिपूर्णरूपसे अच्छा सिद्ध हो चुके पदार्थका भी संपादन करना माना जावेगा तो पुनः सिद्ध हो चुकेका पुनः संपादन किया जावेगा और फिर उस सिद्ध हो चुकेका भी अनुष्ठान किया जावेगा। इस प्रकार प्रवृत्तियां करते करते कभी विश्राम नहीं मिलेगा। इस कारण स्मृतिके समान अपूर्व अर्थका ग्राहीपना नहीं होनेसे - आत्मप्रतिपादक वैदिक उपनिषद्के वचनोंको भला प्रमाणता कैसे आ सकती है ? यहां स्मृतिका दृष्टान्त आचार्य महाराजने नियोगवादीकी अपेक्षासे दे दिया है। स्याद्वाद सिद्धान्तमें अपूर्व अर्थकी ग्राहिका होनेसे स्मृति प्रमाण मानी गयी है। यदि फिर भी विधिवादी गृहीतके ग्राहक उन उपनिषद् वचनोंको प्रमाण मानेंगे तो नियोगवाक्य भी प्रमाण हो जाओ। नियोगकी अपेक्षा विधिमें विशेषता करनेवाले कोई लाल नहीं जडे हुये हैं। पक्षपातरहित सद्विचारसे काम लीजिये।

स्यान्मतं, नियोगस्य सर्वपक्षेषु विचार्यमाणस्यायोगात्तद्वचनमप्रमाणं। तेषां हि न तावत्कार्यं शुद्धं नियोगः प्रेरणानियोज्यवर्जितस्य नियोगस्यासंभवात्। तस्मिन् नियोगसंज्ञाकरणे स्वकंबलस्य कुद्दालिकेति नामांतरकरणमात्रं स्यात्। न च तावता स्वेष्टसिद्धिः।

नियोगवादीके पीछे पडे हुये विधिवादियोंका सम्भवतः यों मन्तव्य होवे कि यदि नियोगका शुद्धकार्य आदि सभी ग्यारह पक्षोंमें विचार चलाया जायगा तो उस नियोगकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः नियोगको कहनेवाले उपनिषद वाक्य प्रमाण नहीं है। देखिये, सबसे पहिला उन नियोगवादियोंका शुद्धकार्य स्वरूप नियोग तो सिद्ध नहीं हो पाता है। क्योंकि " यजेत " यहां पडी हुई विधिलिङ्का अर्थ माने गये प्रवर्तकत्वरूप प्रेरणा और स्वर्गकी अभिलाषा रखनेवाला नियोज्य श्रोतासे वर्जित हो रहे नियोगका असम्भव है। फिर भी ऐसे उस शुद्धकार्यमें " नियोग " ऐसी वाचक संज्ञा कर ली जावेगी तब तो यह अपने कंबलका " कुदारी " यह केवल दूसरा नाम स्वगृहमें कर लेना समझा जायगा। किन्तु तितनेसे तुम्हारे इष्टकी सिद्धि नहीं हो सकती है। अर्थात्—प्रेरणा और नियोज्य पुरुषसे रहित हो रहे केवल शुद्धकार्यस्वरूप नियोगसे स्वर्ग उसी प्रकार नहीं मिल सकता है। जैसे कि कंबलको कुदारी मानकर उस कंबलसे सडकका खोदना नहीं हो सकता है। अपने घरमें मन माने धर लिये गये साधारण पदार्थोंके नाम लोकव्यवहारके उपयोगी नहीं हैं।

शुद्धा प्रेरणा नियोग इत्यप्यनेनापास्तं, नियोज्यफलरहितायाः प्रेरणायाः प्रलापमात्रत्वात्। प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इत्यप्यसंभवि, नियोज्याद्यसंभवे तद्विरोधात्। कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यप्यनेन निरस्तं।

शुद्ध प्रेरणा कर देना नियोग है यह द्वितीय पक्ष भी इस पूर्वोक्त और भविष्यमें कहे जानेवाले वक्तव्य करके निरस्त कर दिया गया है। क्योंकि नियोगको प्राप्त करने योग्य पुरुष और नियोगके फल गाये गये स्वर्गसे रहित हो रही प्रेरणाको मानना केवल निरर्थक बकवाद है। अतः ऐसी प्रेरणाको नियोग स्वरूपपना नहीं सिद्ध हो पाता है। तीसरे पक्ष अनुसार नियोगवादियोंका प्रेरणासे सहित हो रहा कार्य नियोग है, इस प्रकार कहना भी सम्भावना करने योग्य नहीं है। क्योंकि नियोज्य पुरुष (नेगी), नियोजक शब्द, आदिके विना उस नियोगके हो जानेका विरोध है। कार्य और प्रेरणासे ही नियोग नहीं सध जाता है। चतुर्थ पक्ष अनुसार कार्यसे सहित हो रही प्रेरणा नियोग है, यह विशेष्य विशेषणकी परावृत्ति कर मान लिया गया कथन भी इस उक्त कथन करके खण्डित कर दिया जाता है। नियोज्य और नियोजकके विना कोई प्रेरणा नहीं बन सकती है।

कार्यस्यैवोपचारतः प्रवर्तकत्वं नियोग इत्यप्यसारं, नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य प्रवर्तकत्वोपचारायोगात् कदाचित्क्वचित्परमार्थतस्तस्य तथानुपलंभात् । कार्यप्रेरणयोः संबंधो नियोग इति वचनमसंगतं, ततो भिन्नस्य संबंधस्य संबंधिनिरपेक्षस्य नियोगत्वेनाघटनात् । संबंध्यात्मनः संबंधस्य नियोगत्वमित्यपि दुरन्वयं, प्रेर्यमाणपुरुषनिरपेक्षयोः संबंधात्मनोरपि कार्यप्रेरणयोः नियोगत्वानुपपत्तेः ।

भविष्यमें किये जाने योग्य कार्यको ही उपचारसे प्रवर्तकपना नियोग है। यह पांचवां पक्ष भी निस्सार है। क्योंकि नियोज्य, नियोजक आदिकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले कार्यको उपचारसे प्रवर्तकपना नहीं बन सकता है। मुख्यरूपसे सिंहके प्रसिद्ध होनेपर वीर पुरुषमें सिंहपनेका उपचार कर दिया जाता है। किन्तु यहां कभी कहीं वास्तविकरूपसे नियोज्य आदिसे रहित केवल कार्यको तिस प्रकार प्रवर्तकपना नहीं देखा गया है। नियोगवादियोंका कार्य और प्रेरणाके सम्बन्धको नियोग कथन करना यह वचन भी पूर्वापरसंगतिसे रहित है। क्योंकि सम्बन्धवाले कार्य और प्रेरणास्वरूप सम्बन्धियोंसे निरपेक्ष हो रहे तथा उनसे भिन्न पड़े हुये सम्बन्धको नियोगपने करके घटना नहीं होती है। अर्थात्—सम्बन्धियोंसे सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ सम्बन्ध तटस्थ पदार्थके समान उनका नियोग नहीं हो सकता है। हां, यदि नियोगवादी कार्य और प्रेरणारूप सम्बन्धियोंसे अभिन्न तदात्मक हो रहे सम्बन्धको यदि नियोग मानेंगे इसपर तो हम विधिवादी कहते हैं कि उनका यह कहना भी पूर्वापर अन्वय संगतिसे शून्य है। कठिनतासे भी नहीं समझा जा सकता है। क्योंकि प्रेरणा किये जा रहे, श्रोता पुरुषकी नहीं अपेक्षा रख रहे, सम्बन्धी स्वरूप भी कार्य और प्रेरणाके सम्बन्धको नियोगपना नहीं बन पाता है। अर्थात्—कार्य और प्रेरणासे तदात्मक हो रहा भी सम्बन्ध जबतक सर्वाधिकारी पुरुषकी अपेक्षा नहीं करेगा, तबतक कथमपि नियोग नहीं

हो सकता है। शिष्यकी अपेक्षा नहीं रखकर अध्ययन करनेकी प्रेरणा करना कठिनतासे भी समझने योग्य नहीं है। अतः सम्बन्धियोंके साथ सम्बन्धका भेद अथवा अभेद इन दोनों पक्षोंमें नियोगकी व्यवस्था नहीं बन सकी।

तत्समुदायनियोगवादोप्यनेन प्रत्याख्यातः। कार्यप्रेरणास्वभावनिर्मुक्तस्तु नियोगो न विधिवादमतिशेते।

उन कार्य और प्रेरणाका परस्पर अविनाभूत होकर तदात्मक समुदाय होजाना नियोग है। यह नियोगवादियोंका सातवां पक्ष भी इस सम्बन्धवाले कथनसे ही निराकृत कर दिया जाता है। क्योंकि पुरुषके बिना उन दोनोंके समुदायको नियोग कहना उचित नहीं है। कार्य और प्रेरणास्वभावोंसे सर्वथा विनिर्मुक्त हो रहा नियोग तो विधिवादसे अधिक अतिशय धारी नहीं है। क्योंकि तुच्छ अभावको नहीं माननेवाले प्राभाकरोंके यहां कार्य और प्रेरणा स्वभावोंसे रहित हो रहा नियोग तो हमारी मानी हुयी विधिके सदृश ही पडेगा।

यत्पुनः स्वर्गकामः पुरुषोग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे सति यागलक्षणं विषयमारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्तत इति यंत्रारूढनियोगवचनं तदपि न परमात्मवादप्रतिकूलं, पुरुषाभिमानमात्रस्य नियोगत्ववचनात् तस्य चाविद्योदयनिबंधनत्वात्। भोग्यरूपो नियोग इति चायुक्तं, नियोक्तृप्रेरणाशून्यस्य भोग्यस्य तद्भावानुपपत्तेः।

विधिवादी ही अपने मन्तव्यको बखाने जा रहे हैं कि जो फिर नौवें पक्षके अनुसार नियोगवादियोंने यों कहा था कि स्वर्गकी अभिलाषा रखनेवाला पुरुष अग्निहोत्र आदि वाक्यद्वारा नियोग प्राप्त होनेपर यागस्वरूप विषयके ऊपर आरूढ हो रहे अपनेको मान रहा संता प्रवर्त रहा है। इस प्रकार यंत्रारूढस्वरूप नियोग है। सो यह उसका कथन भी परमब्रह्म वादके अनुकूल है। प्रतिकूल नहीं है। क्योंकि पुरुषपनेका केवल अभिमान करनेको नियोगपना कहा गया है और यह अभिमान तो अविद्याके उदयको कारण मानकर होगया है, यही हम विधिवादियोंका मन्तव्य है। दशवें पक्षके अनुसार भविष्य कालमें भोगने योग्य पदार्थस्वरूप नियोग है, यह कहना भी युक्ति रहित है। क्योंकि नियोक्ता पुरुष और प्रेरणासे शून्य हो रहे भोग्यको उस नियोगपनकी उपपत्ति नहीं हो सकती है।

पुरुषस्वभावोपि न नियोगो घटते, तस्य शाश्वतिकत्वेन नियोगस्य शाश्वतिकत्वप्रसंगात्। पुरुषमात्रविधेरेव तथा विधाने वेदांतवादिपरिसमाप्तेः। कुतो नियोगवादो नामेति ?

ग्यारहवें पक्ष अनुसार पुरुषस्वभाव माना जारहा नियोग भी नहीं घटित होता है। क्योंकि वह पुरुष तो नित्य है। इस कारण नियोगको भी नित्यपना हो जानेका प्रसंग होगा। जब कि

नियोग नित्य ही है, तो वेद वाक्योंद्वारा उसका नवीन प्रतिपादन क्या किया जारहा है ? यदि तुम नियोगवादी केवल पुरुषकी विधिका ही तिस प्रकार नियोग वाक्योंद्वारा प्रतिपादन या अज्ञात ज्ञापन करना स्वीकार करोगे तब तो नियोगवादियोंकी वेदान्त वादमें परिपूर्ण रूपसे प्राप्ति हो जाती है। तो फिर नाममात्रको भी नियोगवाद भला किस ढंगसे सिद्ध हो सका ? यानी नहीं।

तदेतदसारं सर्वथा विधेरपि वाक्यार्थानुपपत्तेः। सोपि हि शद्बादेरद्रष्टव्यतादिव्यवच्छेदेन रहितो यदीष्यते तदा न कदाचित्प्रवृत्तिहेतुः, प्रतिनियतविषयविधिनांतरीयकत्वात् प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः तस्य वा तद्विषयपरिहाराविनाभावित्वात् कटः कर्तव्य इति यथा। न हि कटकर्तव्यताविधिरतद्व्यवच्छेदमंतरेण व्यवहारमार्ग्यमवतारयितुं शक्यः। परपरिहारसहितो विधिः शद्बार्थ इति चेत्, तर्हि विधिप्रतिषेधात्मकशद्बार्थ इति कुतो विध्येकांतवादप्रतिष्ठा प्रतिषेधैकांतवादवत्।

" स्यान्मतं " से प्रारम्भ कर " नामेति " तक विधिवादियोंने नियोगके ग्यारहों पक्षोंका प्रत्याख्यान करदिया है। अब नियोगवादी मीमांसकको सहायता देते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि यह प्रसिद्धिमें आरहा उन विधिवादियोंका कथन निस्सार है। क्योंकि विचार किया जानेपर विधिको भी वाक्यका अर्थपना सभी प्रकारोंसे घटित नहीं हो पाता है। देखिये " द्रष्टव्यो रेयमात्मा " इन शद्ब, चेष्टा, आदिकसे हो रही आत्माके द्रष्टव्यपन, मन्तव्यपन, आदिकी वह विधि भी अद्रष्टव्य, अमन्तव्यपन, आदिके व्यवच्छेद करके रहित है ? या उन द्रष्टव्य आदिसे भिन्नकी व्यावृत्ति करनेवाली है ? बताओ। अर्थात्—यहां विधिवादियोंके ऊपर दो प्रश्न उठाये जाते हैं कि जैसे घटकी विधि अघटोंकी व्यावृत्ति करनेसे रहित है ? या घटभिन्न हो रहे पट आदिकोंके व्यवच्छेदसे सहित है ? उसी प्रकार यहां भी बताओ। प्रथम पक्ष अनुसार यदि द्रष्टव्य आदिकी विधिको अद्रष्टव्य आदिके अपोह करनेसे रहित मानोगे तब तो वह किसी भी पुरुषकी प्रवृत्तिका कारण कभी नहीं हो सकेगी। क्योंकि हित अहितको विचारनेवाले पुरुषोंकी प्रवृत्तियां प्रतिनियत हो रहे विषयकी विधिके साथ अविनाभाव रखती हैं। अर्थात्—घटकी विधि यदि अघटोंकी व्यावृत्ति करेगी तब तो नियत हो रहे घटमें ही बुद्धिमान् पुरुष प्रवृत्ति करेंगे। अन्यथा जो कुछ भी कार्य शयन, रुदन, आलस्य, अध्ययन आदिको कर रहे थे, उसको करते हुये ही कृतकृत्य हो सकते हैं। घटको लानेका या बनानेका नया कार्य करना उनको आवश्यक नहीं रहा। क्योंकि परका परिहार तो नहीं किया गया है। अथवा यह बात निर्णीत है कि उन प्रकरण प्राप्त नहीं हो रहे अप्रतिनियत विषयोंके परिहार करनेका प्रेक्षावान्के उस प्रवर्तनके साथ अविनाभाव हो रहा है। जैसे कि चटाईको बुनना चाहिये, ऐसा निर्देश देनेपर भृत्यकी कटमें कर्तव्यपनकी विधिको तो उस

चटाईसे भिन्न पट, घट, मुकुट, आदि अप्रकृतक अर्थोंकी व्यावृत्ति किये विना योग्य व्यवहार मार्गमें उतार नहीं सकते हो। भावार्थ—नियत कार्योंमें तद्भिन्नोंका निषेध करते हुये ही प्रवृत्ति होना बनता है। इस दोषको टालनेके लिये द्वितीय पक्ष अनुसार यदि विधिवादी अन्योंका परिहार करनेसे सहित हो रही विधिको शद्बका अर्थ मानेंगे, इस प्रकार कहनेपर तो शद्बका अर्थ विधि और निषेध उभयआत्मक सिद्ध हुआ। इस कारण तुम विधिवादियोंकी केवल विधि एकान्तके पक्ष परिग्रहकी भला प्रतिष्ठा कहांसे हुई ? जैसे कि, बौद्धोंके केवल प्रतिषेध करनेको वाक्यका अर्थ माननेके पक्षकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। अर्थात्—विधि और निषेध दोनों ही शद्बके अर्थ व्यवस्थित हुये। केवल विधि और केवल निषेध तो वाक्यके अर्थ नहीं ठहरे।

स्यान्मतं, परपरिहारस्य गुणीभूतत्वाद्विधेरेव प्रवृत्त्यंगत्वे प्राधान्याद्विधिः शद्बार्थ इति। कथमिदानीं शुद्धकार्यादिरूपनियोगव्यवस्थितिर्न स्यात् ? कार्यस्यैव शुद्धस्य प्रवृत्त्यंगतया प्रधानत्वोपपत्तेः, नियोज्यादेः सतोपि गुणीभावात्। तद्वत्प्रेरणादिस्वभावनियोगवादिनां प्रेरणादौ प्रधानताभिप्रायात्। तदितरस्य सतोपि गुणीभावाध्यवसायाद्युक्तो नियोगः शद्बार्थः।

सम्भव है विधिवादियोंका यह मन्तव्य होवे कि यद्यपि परपदार्थोंका परिहार करना शद्बका अर्थ है, किन्तु वह परका परिहार गौण है। प्रधानपनेसे विधिको ही प्रवृत्तिका हेतुपना देखा जाता है। अन्य पदार्थ सैकडों, लाखोंका निषेध करनेपर भी श्रोताकी प्रवृत्ति इष्टकार्यमें नहीं हो पाती है। क्योंकि परपदार्थ अनन्त हैं। अनन्तजन्मोंतक भी उनका निषेध करना शद्बोंद्वारा अशक्य है। हां, कर्तव्य कार्यकी विधि कर देनेसे नियुक्त पुरुषकी वहां तत्काल प्रवृत्ति हो जाती है। अतः शद्बका प्रधानतासे अर्थ विधि है। अन्यका निषेध तो शद्बका गौण अर्थ है। इस प्रकार अद्वैतवादियों द्वारा स्वपक्षकी पुष्टि किये जानेपर आचार्य कहते हैं कि क्योंजी, अब यों शुद्ध कार्य, शुद्ध प्रेरणा, आदि स्वरूप नियोगकी व्यवस्था भला कैसे नहीं होवेगी। क्योंकि प्रवृत्ति करानेका मुख्य अंग होनेसे शुद्धकार्यको ही प्रधानपन बन जावेगा। और नियोज्य पुरुष, या विषय, आदिका विद्यमान होते सन्ते भी गौणपना मानलिया जावेगा। अर्थात्—शुद्धकार्य भी नियोगका अर्थ होगया। पुरुष, शद्ब, फल, आदिक वहां सभी विद्यमान हैं। फिर भी प्रधान होनेसे शुद्ध कार्यको नियोग कह दिया गया है। शेष सब अप्रधानरूपसे शद्बके वाच्य हो जाते हैं। उसीके समान शुद्धप्रेरणा, कार्यसहिता प्रेरणा आदि स्वरूप नियोगको माननेवाले प्राभाकरोंके यहां प्रेरणा आदिमें प्रधानपनेका अभिप्राय है। और उनसे भिन्न पुरुष, फल आदि पदार्थोंके विद्यमान होते हुये भी उनको गौण रूपसे शद्बद्वारा जान लिया है। अतः नियोगको शद्बका अर्थ मानना समुचित है। फिर जान बूझकर मायाचारसे नियोगका प्रत्याख्यान क्यों किया जा रहा है ?

शुद्धकार्यप्रेरणादिषु स्वामिप्रायात् कस्यचित्प्रधानभावेपि पराभिप्रायात्प्रधानत्वाभावादन्यतरस्यापि स्वभावस्याव्यवस्थितेर्नैकस्यापि शब्दार्थत्वमिति चेत्, तर्हि पुरुषाद्वैतवाद्याशयवशाद्विधेः प्रधानत्वेपि ताथागतमताश्रयणादप्रधानताघटनात् सोपि न प्रतिष्ठामटाट्येत विप्रतिपत्तिसद्भावाविशेषात् ।

विधिवादी कहते हैं कि शुद्ध कार्य, शुद्ध प्रेरणा आदिमें प्राभाकरोंके अपने अभिप्रायसे किसी एकको प्रधानपना होते हुये भी दूसरे भट्ट वेदान्ती, बौद्ध आदिकोंके अभिप्रायसे प्रधानपना नहीं स्वीकृत किया गया है । अतः शब्दके उन प्रधान अप्रधान दोनों अर्थोंमेंसे किसी एक भी स्वभाव रूप नियोगकी व्यवस्था नहीं हो पाती है । अतः एकको भी शब्दका वाच्यार्थपना नहीं है । इस प्रकार विधिवादियोंके कहनेपर आचार्य कहते हैं कि तब तो पुरुषाद्वैतवादीके आशयके वशसे विधिको प्रधानपना होते हुये भी बौद्धमतके आश्रयसे विधिको अप्रधानपना घटित हो रहा है । अतः वह विधि भी प्रतिष्ठाको अतिशयरूपसे प्राप्त नहीं हो पाती है । क्योंकि कई दार्शनिकोंकी ओरसे विवादोंका उपस्थित होकर खडा हो जाना विधि और नियोग दोनोंमें अन्तर रहित है । समान तत्त्वव्यवस्थाको अवनत शिरसा पक्षपातरहित होकर एकसा स्वीकार कर लेना चाहिये ।

प्रमाणरूपश्च यदि विधिः तदा प्रमेयमन्यद्वाच्यं । तत्स्वरूपमेव प्रमेयमिति चेत्, कथमस्यार्थद्वयरूपता न विरुध्यते ? कल्पनयेति चेत्, तर्ह्यन्यापोहः शब्दार्थः कथं प्रतिषिध्यते ? अप्रमाणत्वव्यावृत्त्या विधेः प्रमाणत्ववचनादप्रमेयत्वव्यावृत्त्या च प्रमेयत्वपरिकल्पनात् ।

प्राभाकरोंद्वारा माने गये नियोगमें जैसे विधिवादी द्वारा प्रमाण, प्रमेय आदिक विकल्प उठाये गये थे, उसी प्रकार अद्वैत ब्रह्मको माननेवाले विधिवादियोंके ऊपर भी आचार्योंद्वारा विकल्प उठाये जाते हैं कि विधिको यदि प्रमाणस्वरूप माना जायगा तो उस समय उस प्रमाणरूप विधिकरके जानने योग्य प्रमेय पदार्थ कोई न्यारा कहना पडेगा । ऐसी दशामें प्रमाण और प्रमेय दो पदार्थोंका द्वैतपना प्राप्त होगा, जो कि आपके सिद्धान्तसे विरुद्ध है । यदि उस विधिस्वरूप ही प्रमेय पदार्थ माना जायगा, तब तो स्वभावोंसे रहित हो रही इस एक निरंश विधिको प्रमाण और प्रमेय दो पदार्थस्वरूपपना क्यों नहीं विरुद्ध हो जावेगा ? बताओ । यदि अद्वैतवादी यों कहें कि एक ही पदार्थमें कल्पना करके दो पदार्थ प्रमाण, प्रमेयपना बन सकता है । कोई विरोध नहीं है, इसपर हम जैन कहेंगे कि तब तो बौद्धोंकरके माना गया शब्दका अर्थ अन्यापोह तुम अद्वैतवादियों करके क्यों प्रतारणपूर्वक निषेधा जा रहा है ? अप्रमाणपनेकी व्यावृत्तिसे विधिको प्रमाणपना कह देना चाहिये । और अप्रमेयपनकी व्यावृत्तिकरके प्रमेयपना धर्म गढ लेना चाहिये । वस्तुतः प्रमेयत्व और प्रमाणत्व तभी सुरक्षित रह सकते हैं, जब कि उनको अप्रमाणपन और अप्रमेयपन होनेसे व्यावृत्त किया जाता रहे । अन्यथा उस प्रमाणमें या प्रमेयमें अप्रमाणपन या अप्रमेय-

पन घुस पडेगा, जो कि उनकी सत्ताको चाट जायगा। बौद्धोंका अनुभव है कि सर्वांगीण परिपूर्ण प्रमाण कोई भी ज्ञान नहीं है। यह ज्ञान प्रमाण है। इसका अर्थ यही है कि यह ज्ञान अप्रमाण नहीं है। कोई पुरुष सुन्दर है, इसका अर्थ यह है कि यह कुरूप नहीं है। पण्डितका अर्थ मूर्खपनेसे रहित इतना ही है। वैसे परिपूर्ण सुन्दरता और अगाध पाण्डित्य तो बहुत विलक्षण पदार्थ हैं। शब्दोंके द्वारा तदितर पदार्थोंकी व्यावृत्तियां कही जाती हैं। हेतुके गुण हो रही विपक्षव्यावृत्तिका मूल्य अधिक है। पक्ष सत्त्वका इतना शुल्क नहीं है। अतः कल्पनासे विधिमें यदि अनेक स्वभाव माने जा रहे हैं तो कल्पित अन्यापोहको भी शद्बका वाच्य अर्थ कह देना चाहिये। बौद्धोंसे माने गये शुद्ध सम्वेदनमें अन्यापोहस्वरूप प्रमाणता और प्रमेयता धर्म पाये जाते हैं।

पदार्थस्वरूपाभिधायकत्वमंतरेणान्यापोहमात्राभिधायकस्य शद्बस्य क्वचित्प्रवर्तकत्वायोगादन्यापोहो न शद्बार्थ इति चेत्, तर्हि पदार्थस्वरूपाभिधायकस्यापि शद्बस्यान्यापोहानभिधायिनः कथमन्यपरिहारेण क्वचित्प्रवृत्तिनिमित्तत्वसिद्धिः येन विधिमात्रं शद्बार्थः स्यात्।

विधिवादी कहते हैं कि शद्बको यदि पदार्थके स्वरूपोंकी विधिका कथन करा देनापन तो नहीं माना जाय, केवल अन्योंकी व्यावृत्तिका ही कथन करना शद्बका कर्तव्य कहा जायगा तो किसी एक विवक्षित पदार्थमें ही शद्बका प्रवर्तकपना घटित नहीं होगा। अतः अन्यापोह शद्बका अर्थ नहीं है। अर्थात्—अन्यापोहको ही कहते रहनेमें चरितार्थ हो जानेसे शद्ब द्वारा किसी नियत एक पदार्थमें ही जो श्रोताकी प्रवृत्ति हो रही है वह नहीं बन सकेगी। ऐसी दशामें शद्बका उच्चारण व्यर्थ पडता है। हां, शद्बद्वारा विधिका निरूपण होना माननेपर तो किसी विशेष पदार्थमें ही अर्थी जीवकी प्रवृत्ति होना बन जाता है। अतः विधिवादी हम अन्यापोहको शद्बका वाच्य अर्थ नहीं मानते हैं। इस प्रकार अद्वैतवादियोंके कहनेपर हम जैन कहते हैं कि तब तो वस्तुके विधिस्वरूपका कथन करनेवाले ही शद्बके द्वारा यदि अन्यापोहका कथन करना नहीं माना जायगा तो उस अन्यापोहको नहीं कहनेवाले शद्बका अन्योंका परिहार करके किसी एक नियत विषयमें ही प्रवृत्तिका निमित्तकारणपना भला कैसे सिद्ध होगा? जिससे कि केवल विधि ही शद्बका अर्थ हो सके। अर्थात्—जबतक विवक्षित पदार्थसे अतिरिक्त पडे हुये पदार्थोंकी व्यावृत्ति नहीं की जायगी तबतक उसी नियत पदार्थमें प्रवृत्ति भला कैसे हो सकेगी? विचारो तो सही।

परमपुरुष एव विधिः स एव च प्रमाणं प्रमेयं चाविद्यावशादाभासते प्रतिभाससामान्यव्यतिरेकेण व्यावृत्त्यादेरप्यसंभवादित्यपि दुरुत्तरं, प्रतिभासव्यतिरिक्तस्य प्रतिभास्यस्यार्थस्य व्यवस्थापितत्वात्।

अद्वैतवादी कहते हैं कि परमब्रह्म ही तो विधि पदार्थ है और संसारी जीवोंको वही अविद्याके वशसे प्रमाणस्वरूप और प्रमेयस्वरूप प्रतिभास जाता है। सच पूछो तो केवल शुद्ध प्रतिभासके अतिरिक्तपने करके व्यावृत्ति आदिका भी असम्भव है। अब आचार्य कहते हैं कि विधिवादियोंके इस वक्तव्यका भी उत्तर दिया जा चुका है। क्योंकि प्रतिभाससे चोखे अतिरिक्त हो रहे प्रतिभासने योग्य घट, पट आदि अर्थोंकी व्यवस्था करा दी जा चुकी है। अतः नियोगको प्रमाणपनेके समान विधिको भी प्रमाण आत्मक माना जायगा तो अनेक दोष आते हैं।

प्रमेयरूपो विधिरिति वचनमयुक्तं, प्रमाणाभावे प्रमेयरूपत्वायोगात्तस्यैव च द्वयरूपत्व विरोधात्। कल्पनावशाद्विधेर्द्वयरूपत्वे अन्यापोहवादानुषंगस्याविशेषात्।

तो विधि प्रमेयस्वरूप है, इस प्रकार द्वितीय पक्ष अनुसार किसीका वचन भी युक्तिरहित है। क्योंकि प्रमाणको स्वीकार किये विना विधिमें प्रमेयस्वरूपपना नहीं घटता है। और उस एक ही विधि पदार्थको एकान्तवादियोंके यहां प्रमाणपन, प्रमेयपन, इन दो स्वरूपपनका विरोध है। यदि कल्पनाके वशसे विधिको प्रमाण, प्रमेय दोनों रूपपना माना जावेगा तो बौद्धोंके अन्यापोह वादका प्रसंग आता है। कोई अन्तर ऐसा नहीं है जिससे कि विधिमें प्रमेयपन मानते हुये अन्य व्यावृत्तियां स्वीकार नहीं की जावें। एक विधिमें दोपना तो तभी आ सकता है, जब कि अप्रमाणपनकी व्यावृत्ति करके प्रमाणपना और अप्रेमयपनकी व्यावृत्ति करके प्रमेयपना उसमें धर दिया जाय। अन्यापोहको प्रमेय माने विना तो आपको प्रमेय न्यारा कहना पडेगा, अन्य कोई उपाय नहीं है।

प्रमाणप्रमेयोभयरूपो विधिरित्यप्यनेन निरस्तं भवतु। अनुभयरूपोऽसाविति चेत्, खरशृंगादिवदवस्तुतापत्तिः कथमिव तस्य निवार्यतां?

तब तृतीय विकल्पके अनुसार प्रमाण, प्रमेय उभयस्वरूप विधि मानी जाय, यह कल्पना भी इस उक्त कथन करके निराकृत कर दी गयी हुई समझो। क्योंकि दो रूपपनेमें जो दोष आते हैं वही दोष उभयरूप माननेमें प्राप्त होते हैं। दो अवयव जिसके हैं वह द्वय है। उभय भी वैसा ही है। यदि चतुर्थकल्पना अनुसार वह विधि अनुभयस्वरूप मानी जायगी अर्थात् प्रमाण प्रमेय दोनोंके साथ नहीं तदात्मक हो रहे, विधिको वाक्यका अर्थ माना जायगा, तब तो खरविषाण, आकाशकुसुम, आदिके समान उस विधिको अवस्तुपनकी आपत्ति हो जाना भला किस प्रकार निवारण किया जा सकता है? बताओ तो सही। अतः वाक्यका अर्थ विधि नहीं हो सकता है। इसपर अष्टसहस्रीमें और भी अधिक विस्तारसे विचार किया गया है।

तथा यंत्रारूढो वाक्यार्थ इत्येकांतोपि विपर्यय एवान्यापोहमंतरेण तस्य प्रवर्तकत्वायोगाद्विधिवचनवत्। एतेन भोग्यमेव पुरुष एव वाक्यार्थ इत्यप्येकान्तो निरस्तः, नियोगविशेषतया च यंत्रारूढादेः प्रतिविहितत्वात्। न पुनस्तत्प्रतिविधानेतितरामादरोऽस्माकमिरुपरम्यते।

यंत्रमें आरूढ हो जाना वाक्यका अर्थ है । इस प्रकार एकान्त करना भी कुश्रुतज्ञानरूप विपर्यय है । क्योंकि अन्यकी व्यावृत्ति किये विना उस यंत्रारूढको किसी ही विवक्षित विषयमें प्रवृत्ति करा देनापन घटित नहीं होता हैं । जैसे कि वाक्यके द्वारा विधिका ही कथन होना मानने पर किसी विशेष ही पदार्थमें विधिको प्रवर्तकपना नहीं बनता है । इस उक्त कथन करके भोग्यरूप ही वाक्यका अर्थ है अथवा आत्मा ही वाक्यका अर्थ है, ये एकान्त भी निराकृत कर दिये गये हैं । क्योंकि ग्यारह प्रकारके नियोगोंका विशेष भेद हो जानेसे यंत्रारूढ पुरुषस्वरूप आदि नियोगोंका पूर्व प्रकरणोंमें खण्डन किया जा चुका है । अतः पुन उनके खण्डन करनेमें हमारा अत्यधिक आदर नहीं है । इस कारण अब विराम लिया जाता है । मीमांसक और अद्वैतवादियों द्वारा नियोग भावना, और विधिको वाक्यका अर्थ मन्तव्य करना विपर्ययज्ञान है ।

तथान्यापोह एव शब्दार्थ इत्येकांतो विपर्ययः स्वरूपविधिमंतरेणान्यापोहस्यासंभवात् । वक्त्रभिप्रायारूढस्यार्थस्य विधिरेवान्यापोह इत्थं इति चेत्, तथैव बहिरर्थस्य विधिरस्तु विशेषाभावात् । तेन शब्दस्य संबधाभावान्न शब्दात्तद्विधिरिति चेत्, तत एव वक्त्रभिप्रेतस्याप्यर्थस्य विधिर्माभूत् । तेन सहकार्यकारणभावस्य संबंधस्य सद्भावाच्छब्दस्य तद्विधायित्वमिति चेन्न, विवक्षामंतरेणापि सुप्ताद्यवस्थायां शब्दस्य प्रवृत्तिदर्शनात्तत्कार्यत्वाव्यवस्थानात् । प्रतिक्षिप्तश्चान्यापोहैकांतः पुरस्तादिति तर्कितं ।

तिसी प्रकार अन्यापोह ही शद्वका अर्थ है, यह बौद्धोंका एकान्त भी विपर्यय ज्ञान है । क्योंकि वस्तुके स्वरूपकी विधिके विना अन्यापोहका असम्भव है । जब कि किसीकी विधि करना ही नियत नहीं है तो अन्योंकी व्यावृत्ति किसकी की जाय । यदि बौद्ध यों कहें कि वक्ताके अभिप्रायमें आरूढ हो रहे अर्थकी विधि ही तो इस प्रकार अन्यापोह हुई, अर्थात्—वस्तुभूत अर्थको शद्व नहीं छूता है । हां, विवक्षारूप कल्पनामें अभिरूढ हुये अर्थकी विधिको कर देता है । हमारे मनमें माता अर्थ अभिप्रेत है, और मुखसे भौजाई या चाची कहते हैं, तो शद्वका अर्थ मैया ही करना चाहिये । इस प्रकार बौद्धोंके कहने पर तो आचार्य महाराज कहते हैं कि तब तो तिस ही प्रकार बहिर्भूत वास्तविक अर्थकी शद्वद्वारा विधि हो जाओ, विवक्षित अर्थकी विधि और बहिरंग वाच्य अर्थकी विधि करनेका कोई अन्तर नहीं है । यदि बौद्ध यों कहें कि उस बहिरंग अर्थके साथ शद्वका कोई सम्बन्ध वास्तविक वाच्यवाचक रूप नहीं है । पर्वत शद्वका "पहाड" अर्थके साथ बादरायण सम्बन्ध गढलेना कोरा ढकोसला है, अतः शद्व द्वारा उस बहिर्भूत अर्थकी विधि नहीं की जासकती है । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम कहेंगे कि तिस ही कारण यानी योजक सम्बन्ध नहीं होनेसे वक्ताको विवक्षित हो रहे अर्थकी भी विधि मति (नहीं) होओ । यदि बौद्ध यों कहें कि शद्वकी उत्पत्तिका कारण विवक्षा है । जैसे सत्यमनोगतका अर्थ सत्यमन है । उसी प्रकार

विवक्षा प्राप्त अर्थ भी उपचारसे विवक्षा ही है। अतः उस विवक्षामें पडे हुये अर्थके साथ शद्बका कार्यकारणभाव सम्बन्ध विद्यमान हो रहा है। इस कारण शद्ब उस विवक्षित अर्थकी विधिको करा देता है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि गाढरूपसे सोती हुई या मत्त मूर्च्छित आदि अवस्थाओंमें विवक्षाके विना भी शद्बकी प्रवृत्ति हो रही देखी जाती है। अतः उस विवक्षाके कार्यपन करके शद्बकी व्यवस्था नहीं है। हकलापन या तोतलेपनकी दशामें कुछ कहना चाहते हैं, और शद्ब दूसरा ही मुखसे निकल पडता है। पद्मावतीके कहनेकी विवक्षा होनेपर वत्सराजके मुखसे वासवदत्ता शद्बका निकल जाना, ऐसे गोत्रस्खलन आदिमें विवक्षा और शद्बके अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार होते हुये देखे जा रहे हैं। श्री अर्हन्त परमेष्ठीकी दिव्यवाणी विवक्षाके विना खिरती है। अतः शद्बोंका अव्यभिचारी कारण विवक्षा नहीं है। दूसरी बात यह है कि पूर्वके प्रकरणों द्वारा अन्यापोहके एकान्तका भले प्रकार खण्डन किया जा चुका है। इस कारण अधिक तर्कणा करनेसे क्या प्रयोजन ? । वहांपर तर्क, वितर्कद्वारा यह निर्णीत हो चुका है कि एकान्तरूपसे अन्यापोहको कहते रहना वाक्यका प्रयोजन नहीं है। शद्बका कारण भी विवक्षा नहीं है।

नियोगो भावना धात्वर्थो विधिर्यन्त्रारूढादिरन्यापोहो वा यदा कैश्चिदेकांतेन विषयो वाक्यस्यानुमन्यते तदा तज्जनितं वेदनं श्रुताभासं प्रतिपत्तव्यं, तथा वाक्यार्थनिर्णीतेर्विधातुं दुःशकत्वादिति।

नियोग, भावना, शुद्धधात्वर्थ, विधि, यंत्रारूढ, पुरुष आदिक अथवा अन्यापोह, ये एकान्त रूपसे जब कभी वाक्यके द्वारा विषय किये गये अर्थ किन्हीं मतावलम्बियोंकरके स्वसिद्धान्त अनुसार माने जाते हैं, उस समय नियोग आदिको विषय करनेवाले उन वाक्योंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान श्रुतज्ञानाभास समझना चाहिये। क्योंकि तिस प्रकार उनके मन्तव्य अनुसार वाक्य अर्थका निर्णय करना दुःसाध्य है। अर्थात्—उनके द्वारा माना गया वाक्यका अर्थ प्रमाणोंसे निर्णीत नहीं होता है। अतः वे उस समय कुश्रुतज्ञानी हैं। इस प्रकार मतिज्ञान श्रुतज्ञानोंके आभासोंका वर्णन कर दिया है। कारणविपर्यास, स्वरूपविपर्यास और भेदाभेदविपर्यासको अवलम्बन लेकर हुई अनेक सम्प्रदायोंके अनुसार जीवोंके अनेक कुज्ञान उपज जाते हैं। सम्यग्ज्ञानका अन्तरंग कारण सम्यग्दर्शनके हो जानेपर चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ कर ऊपरके गुणस्थानोंमें विपर्यय ज्ञान नहीं सम्भवता है। हां, कामल आदि दोषोंसे हुये विपर्ययज्ञान तो चौथे गुणस्थानसे ऊपर भी बारहवें तक सम्भव जाते हैं। किन्तु वे सब अन्तरंग कारण सम्यग्दर्शनकी चासनीमें पगे हो रहे होनेसे सम्यग्ज्ञानरूपसे व्यपदेश करने योग्य हैं। यद्यपि उपशम श्रेणीमें और क्षपक श्रेणीमें बहिरंग इन्द्रियोंसे जन्य मतिज्ञानकी-प्रवृत्ति प्रकट नहीं है। आत्माकी श्रुतज्ञानरूप ध्यानपरिणति है। फिर भी मतिज्ञानकी

सम्भावना क्षयोपशम अनुसार बारहवें गुणस्थान तक बतायी गयी है । मानसमतिज्ञान वहां प्रकटरूपसे है ।

कः पुनरवधिविपर्यय इत्याह ।

शिष्यकी जिज्ञासा है कि फिर अवधिज्ञानका विपर्यय विभंग क्या है ? ऐसी जाननेकी इच्छा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं ।

भवं प्रतीत्य यो जातो गुणं वा प्राणिनामिह ।
देशावधिः स विज्ञेयो दृष्टिमोहाद्विपर्ययः ॥ ११४ ॥
सत्संयमविशेषोत्थो न जातु परमावधिः ।
सर्वावधिरपि व्यस्तो मनःपर्ययबोधवत् ॥ ११५ ॥

भवको कारण मानकर अथवा क्षयोपशमरूप गुणको कारण मानकर प्राणियोंके उत्पन्न हुई जो देशावधि है, वह यहां दर्शमोहनीय कर्मका उदय हो जानेसे आत्मलाभ कर रही विपर्यय ज्ञान स्वरूप समझ लेनी चाहिये । विशिष्ट प्रकारके श्रेष्ठ संयमके होनेपर मुनि महाराजके ही उत्पन्न हुई परमावधि तो कभी विपर्ययपनेको प्राप्त नहीं होती है, जैसे कि मनःपर्यय ज्ञानका विपर्यय नहीं होता है । भावार्थ—चरमशरीरी संयमी मुनिके हो रहे परमावधि और सर्वावधिज्ञान कदाचित् भी विपरीत नहीं होते हैं और ऋद्धिधारी विशेष मुनिके हो रहा वह मनःपर्यय ज्ञान भी सम्यग्दर्शनका समानाधिकरण होनेसे विपर्यय नहीं होता है । अवधिज्ञानोंमें केवल देशावधि ही मिथ्यात्व या अनन्तानुबन्धी कर्मके उदयका साहचर्य प्राप्त होनेपर विपरीत ज्ञानरूप विभंग हो जाती है ।

परमावधिः सर्वावधिश्च न कदाचिद्विपर्ययः सत्संयमविशेषोत्थत्वात् मनःपर्ययवदिति देशावधिरेव कस्यचिन्मिथ्यादर्शनाविर्भावे विपर्ययः प्रतिपाद्यते ।

परमावधि और सर्वावधि तो (पक्ष) कभी विपरीत ज्ञानस्वरूप नहीं होती हैं (साध्य) । अतीव श्रेष्ठ संयम विशेषवाले मुनिओंमें उत्पन्न हो जानेसे (हेतु) । जैसे कि मनःपर्ययज्ञान (अन्वयदृष्टान्त) । इस प्रकार अनुमानद्वारा दो अवधियोंका निषेध कर चुकनेपर शेष रही देशावधि ही किसी जीवके मिथ्यादर्शनके प्रकट हो जानेपर विपर्यय कह कर समझा दी जाती है ।

किं पुनः कर्तुं प्रमाणात्मकसम्यग्ज्ञानविधौ प्रकृते विपर्ययं ज्ञानमनेकधा मत्यादि प्ररूपितं सूत्रकारैरित्याह ।

शिष्य पूछता है कि प्रमाणस्वरूप सम्यग्ज्ञानकी विधिका प्रकरण चलता हुआ होनेपर फिर क्या करनेके लिये सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने मति आदिक तीन ज्ञानोंको अनेक प्रकारोंसे

विपर्ययज्ञानस्वरूप इस सूत्रद्वारा निरूपण किया है। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान कहते हैं।

इति प्रमाणात्मविबोधसंविधौ विपर्ययज्ञानमनेकधोदितम्।
विपक्षविक्षेपमुखेन निर्णयं सुबोधरूपेण विधातुमुद्यतैः ॥११६॥

इस पूर्वोक्त प्रकार प्रमाणस्वरूप सम्यग्ज्ञानकी भले प्रकार विधि करनेपर विपरीत पक्षके खण्डनकी मुख्यतासे समीचीन बोधस्वरूप करके निर्णयको विधान करनेके लिये उद्यमी हो रहे श्री उमास्वामी महाराज करके अनेक प्रकारका विपर्ययज्ञान इस सूत्रद्वारा कह दिया गया है। भावार्थ—पहिले प्रकरणोंमें किया गया सम्यग्ज्ञानका निरूपण तभी निर्णीत हो सकता है, जब कि उनसे विपरीत हो रहे मिथ्याज्ञानोंका ज्ञान करा दिया जाय। अतः तीनों मिथ्याज्ञानोंसे व्यावृत्त हो रहा सम्यग्ज्ञान उपादेय है। चिकित्सक द्वारा दोषोंका प्रतिपादन किये बिना रोगी उनका प्रत्याख्यान नहीं कर सकता है। विवक्षित पदार्थकी विधि हो जानेपर गम्यमान भी पदार्थोंकी कंठोक्त व्यावृत्ति करना विशेष निर्णय हो जानेके लिये आवश्यक कार्य है।

पूर्वं सम्यगवबोधस्वरूपविधिरूपमुखेन निर्णयं विधाय विपक्षविक्षेपमुखेनापि तं विधातुमुद्यतैरनेकधा विपर्ययज्ञानमुदितं वादिनोभयं कर्तव्यं स्वपरपक्षसाधनदूषणमिति न्यायानुसरणात्।

पहिले सम्यग्ज्ञानके स्वरूपका विधिस्वरूपकी मुख्यता करके निर्णय कर पुनः सम्यग्ज्ञानके विपक्ष हो रहे मिथ्याज्ञानोंके निराकरणकी मुख्यता करके भी उस निर्णयको विधान करनेके लिये उद्यमी हो रहे सूत्रकार करके अनेक प्रकारका विपर्ययज्ञान कह दिया गया है। यद्यपि सम्यग्ज्ञानोंकी विधिसे ही मिथ्याज्ञानोंका अनायास निवारण हो जाता है। अथवा मिथ्याज्ञानोंका अकेले निवारण कर देनेसे ही सम्यग्ज्ञानोंकी परिश्रमके विना विधि हो जाती है। फिर भी वादीको दोनों कार्य करने चाहिये। अपने पक्षका साधन करना और दूसरोंके प्रतिपक्षमें दूषण उठाना इस नीतिका अनुसरण करनेसे ग्रन्थकारने दोनों कार्य किये हैं। अथवा श्री उमास्वामी महाराजने विधि मुख और निषेध मुख दोनोंसे सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानोंका प्रतिपादन किया है। अतः सिद्ध है कि समीचीनवादी विद्वान्को स्वपक्षसाधन और परपक्षमें दूषण ये दोनों कार्य करने चाहिये। आत्माको शरीर परिमाण साध चुकनेपर भी आत्माके व्यापकपन या अणुपनका खण्डन कर देनेसे अपना सिद्धान्त अच्छा पुष्ट हो जाता है। तालेको ताली घुमाकर लगा देते हैं। फिर भी खेचकर देख लेनेसे चित्तमें विशेष दृढता हो जाती है।

स्वविधिसामर्थ्यात् प्रतिषेधस्य सिद्धेस्तत्सामर्थ्याद्वा स्वपक्षविधिसिद्धेर्नोभयवचनमर्थवदिति प्रवादस्यावस्थापितुमशक्तेः सर्वत्र सामर्थ्यसिद्धस्यावचनप्रसंगात् । स्वेष्टव्याघातस्यानुषंगात् । क्वचित्सामर्थ्यसिद्धस्यापि वचने स्याद्वादन्यायस्यैव सिद्धेः सर्वं शुद्धम् ।

यदि बौद्ध यों कहें कि अपने पक्षकी विधि कर देनेकी सामर्थ्यसे ही प्रतिपक्षके निषेधकी सिद्धि हो जाती है । अथवा उस परपक्षके निषेधकी सिद्धि हो जानेसे ही सामर्थ्यके बलसे स्वपक्षकी सिद्धि अर्थापत्तिसे बन जाती है । अतः दोनोंका कथन करना व्यर्थ है । किसी प्रयोजनको नहीं रखता है । व्यर्थ वचनोंको कहनेवाला वादी निग्रहस्थानको प्राप्त हो जाता है । इसपर आचार्य कहते हैं कि उस उक्त प्रकारके प्रवादकी व्यवस्था नहीं करायी जा सकती है । हम अन्य प्रकरणोंमें धर्मकीर्तिके प्रवादका निराकरण कर चुके हैं । यदि बौद्धोंका वह उक्त विचार माना जायगा तो सभी स्थलोंपर विना कहे यों ही सामर्थ्यसे सिद्ध हो रहे पदार्थके नहीं कथन करनेका प्रसंग हो जावेगा । ऐसी दशामें अपने इष्ट सिद्धान्तके व्याघात हो जानेका प्रसंग आ जावेगा । आप बौद्धोंने " यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकं " इस व्याप्ति अनुसार समर्थन उपनय आदिका पुनरपि निरूपण किया है । किसी व्यक्तिकी विद्वत्ताका निषेध करनेपर भी मूर्खताका विधान नहीं हो जाता है । अथवा हेतुकी पक्षमें विधि कर देनेसे ही विपक्षमें निषेध नहीं हो जाता है । बहुतसे पण्डित निर्धन नहीं होते हुये भी धनाढ्य नहीं कहे जा सकते हैं । शुद्ध आत्मा या पुद्गल परमाणु न लघु है न गुरु है । हां, सामर्थ्यसे सिद्ध हो रहे भी पदार्थका यदि शब्द द्वारा निरूपण करना कहीं कहीं इष्ट कर लोगे तब तो स्याद्वादन्यायकी ही सिद्धि होगी । अतः अनेकान्त मत अनुसार सम्पूर्णव्यवस्था निर्दोष होकर शुद्ध बन जाती है । अन्यथा नहीं बनती है ।

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे प्रथमस्याध्यायस्य चतुर्थमाह्निकम् ।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रके श्लोकरूप वार्तिकोंके अलंकारस्वरूप भाष्यमें
प्रथम अध्यायका चौथा आह्निक समाप्त हुआ ।

इस सूत्रका सारांश ।

इस सूत्रके व्याख्यानमें प्रकरण इस प्रकार हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव और सम्यग्दृष्टि जीवका ज्ञान जब समान जाना जा रहा है, तो कैसे निर्णीत किया जाय ? कि मिथ्यादृष्टिका ज्ञान विपर्यय है । इसको दृष्टान्तसहित प्रदर्शन करनेके लिये श्री उमास्वामीरत्नाकरसे सूत्रमणिका उद्धार हुआ है । सत् असत्का लक्षण कर सूत्रके अनुमान वाक्यको समीचीन बना दिया गया है । उन्मत्तका दृष्टान्त अच्छा घटा दिया है । आहार्य विपर्ययके भेदोंको अनेक दार्शनिकोंके मन्तव्य अनुसार समझाया है । सत्में असत्की कल्पनारूप विपर्ययको बताकर असत्में सत्की कल्पनाको दूसरी

जातिका आहार्य विपर्यय कहा है। श्रुतज्ञानमें आहार्य विपर्ययके समान सम्भवनेवाले आहार्य संशय और आहार्य अनध्यवसायको भी दृष्टान्तपूर्वक घटाया गया है। चार्वाक, शून्यवादी, बौद्ध, आदि दार्शनिकोंके यहां जो विपरीत अभिनिवेशसे अनेक ज्ञान हो रहे हैं, वे आहार्य विपर्यय हैं। पश्चात् मतिज्ञानके भेदोंमें सम्भव रहे विपर्ययको कहकर स्वार्थानुमानको आभास करनेवाले हेत्वाभासोंका निरूपण किया है। तीन प्रकारके हेत्वाभास माने गये हैं। अन्य हेत्वाभासोंका इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है। यहां मध्यमें बौद्ध, नैयायिक, कपिल, आदिके सिद्धान्तोंको मिथ्या बताकर उनके साधक हेतुओंको हेत्वाभास कर दिया है। और भी कई तत्त्वोंकी वर्णना की है। सादि अनन्त केवलज्ञानका अपूर्वार्थपना साधा गया है। यद्यपि केवलज्ञानीको एक ही समयमें सभी पदार्थ भास जाते हैं। फिर भी पूर्वापर-कालसम्बन्धी विशिष्टतासे यह ज्ञान अपूर्वार्थग्राही है। कलके बासे आटेकी आज बनी हुई रोटीको आज खानेपर और कलके ताजे आटेकी कल बनी हुई रोटीको आज बासी खानेपर स्वाद न्यारा न्यारा है। धनी होकर हुये निर्धन और निर्धन होकर पीछे धनी हुये पुरुषोंके परिणाम विभिन्न हैं। अकिंचित्कर कोई पृथक् हेत्वाभास नहीं है। जैनोंके यहां प्रमाणसंप्लव इष्ट है। इसके पश्चात् नियोग, भावना, आदिको वाक्यका अर्थ माननेवाले मीमांसक आदिका विचार चलाया है। नियोगके प्राभाकारोंने ग्यारह भेद किये हैं। प्रमाण आदिक आठ विकल्प उठाकर उनका खण्डन किया गया है। वेदान्तकी रीतिसे नियोगका खण्डन कराकर पुनः वेदान्तमतका भी निराकरण करदिया है। भाट्टोंकी मानी हुयीं दोनों भावनाओंका निराकरण किया गया है। शब्दभावना, अर्थभावना घटित नहीं होती हैं। शुद्ध धात्वर्थ भी वाक्यका अर्थ नहीं बन पाता है। तथा ब्रह्माद्वैत वादियोंकी मानी हुई विधि भी वाक्यका अर्थ नहीं है। इन सबका विस्तारके साथ विचार किया गया है। प्रवर्तक या अप्रवर्तक या सफल, निष्फल, नियोगके अनुसार विधिवादमें भी सभी दोष गिरादिये गये हैं। कुछ देरतक नियोगवादीका पक्ष लेकर आचार्य महाराजने विधिवादका विद्वत्तापूर्वक अच्छा उपहास किया है, जिसका कि अध्ययन करनेपर ही विशेष आनन्द प्राप्त होता है। नियोगके ग्यारहों भेदोंका खण्डन कर विधि, निषेध, आत्मक स्याद्वाद सिद्धान्तको साधा है। विधिमें भी प्रमाणपन आदिके विकल्प उठाकर अद्वैतवादका निराकरण किया है। यंत्रारूढ पुरुष आदि भी वाक्यके अर्थ नहीं हैं। बौद्धोंका अन्यापोह तो कथमपि वाक्यका अर्थ नहीं घटित होता है। विवक्षाका शब्दके साथ अव्यभिचारी कार्यकारणमात्र सम्बन्ध नहीं है। अतः नियोग, भावना, धात्वर्थ, विधि, आदिको यदि वाक्यका अर्थ माना जायगा तो तज्जन्यज्ञान कुश्रुतज्ञान समझा जायगा। अवधिज्ञानोंमें केवल देशावधि ही कदाचित् मिथ्यात्वका उदय हो जानेसे विपर्यय रूप हो जाती है। परमावधि और सर्वावधि विपर्यय नहीं हैं। मनःपर्ययज्ञान भी विपरीत नहीं है। यद्यपि प्रमाण ज्ञानोंके प्रतिपादक सूत्रोंसे ही परिशेष न्यायसे मिथ्याज्ञानोंकी सम्भिति हो सकती है। फिर भी वादीके कर्तव्य स्वपक्षसाधन, परपक्षदूषण दोनों हैं। संवर और निर्जरासे मोक्ष होती है।

अनेकान्तकी उपलब्धि होते हुये भी एकान्तोंका अनुपलम्भ होना साधा जाता है। श्री अर्हन्त परमेष्ठीके परमात्मपना सिद्ध हो चुकनेपर भी कपिल आदिकोंमें परमात्मपनका निषेध साधना अनिवार्य है। ताली फिरा देनेसे ही तालेका लग जाना जान चुकनेपर भी दृढ निश्चयके लिए तालेको खींचकर पुनः खटका किया जाता है। गुणोंका ग्रहण करो और साथमें दोषोंका प्रत्याख्यान भी करते जाओ। अतः दृढ निर्णय कराकर छुडानेके लिये मिथ्याज्ञानोंको हेतु, दृष्टान्त, पूर्वक प्रतिपादन करनेवाला सूत्र उमास्वामी महाराज द्वारा कहा गया है। प्रतिपक्षी दोषोंके सर्वथा निराकरण करनेसे ही शुद्ध मार्ग व्यवस्थित रह पाता है। यहांतक पहिले अध्यायका चतुर्थ आह्निक समाप्त किया गया है।

ज्ञाने मैथ्यं विविच्य प्रमितिरसमुखं स्वादयन्सौगतादीन् ।
काचज्ञानादृते द्राक् स्वगुणमिह मणिर्व्यञ्जयन्नोपलब्धः ॥
कुज्ञानाहार्यकीटं जगदुपकृतिभिः स्वामिरुद्धर्तुमिच्छन् ।
श्रीविद्यानन्दसूरिर्जयति विगतभीर्भाषितस्वामिसूत्रः ॥ १ ॥

—*—

सम्यग्दर्शन या जीव आदिक पदार्थोंका अधिगम करानेवाले और अभ्यर्ह होनेसे पूर्वमें प्रयुक्त किये गये प्रमाणोंका वर्णन हो चुका है। उस प्रमाणके अव्यवहित पश्चात् कहे गये नयोंका अब निरूपण करना अवसरप्राप्त है। अतः निरुक्तिसे ही लक्षणको अपने पेटमें रखनेवाली नयोंकी भेदगणनाको कहनेवाले सूत्र रसायनकी प्राप्ति यहां मोक्षमार्गकी पारदीयसिद्धिको धारनेवाले श्री उमास्वामी महाराज द्वारा हो रही है, उसको अवधारिये।

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः॥३३॥

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शद्ब समभिरूढ, और एवंभूत, ये सात नय हैं। यद्यपि प्रमाणोंसे नय भिन्न हैं। फिर भी शद्बों द्वारा जानने योग्य विषयको जतानेवाले श्रुतज्ञानके एक देश नय माने गये हैं। शद्ब आत्मक और ज्ञान आत्मक नय हो जाते हैं। इसका विवेचन "प्रमाणनयैरधिगमः" इस सूत्रके व्याख्यानमें किया जा चुका है।

किं कृत्वाधुना किं च कर्तुमिदं सूत्रं ब्रवीतीत्याह ।

अबतक क्या करके और अब आगे क्या करनेके लिये इस सूत्रको श्री उमास्वामी महाराज व्यक्त कर रहे हैं ? इस प्रकार तर्की शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य सूत्रकारके हार्दिक भावों अनुसार समाधान कहते हैं।

निर्देश्याधिगमोपायं प्रमाणमधुना नयान् ।
नयैरधिगमेत्यादि प्राह संक्षेपतोऽखिलान् ॥ १ ॥

"प्रमाणनयैरधिगमः" 'मतिः स्मृतिः,' 'श्रुतं मतिपूर्वं' इत्यादि सूत्रों द्वारा तत्त्वोंकी अधिगति करनेके प्रधान उपाय हो रहे प्रमाणका अबतक अवधारण कराके अब अधिगमके उपाय हो रहे सम्पूर्ण नयोंको संक्षेपसे सूत्रकार महाराज बढिया कह रहे हैं। " प्रमाणनयैरधिगमः " इस सूत्रमें " नयैः " कहकर नयोंको भी अधिगमका कारण कहा जा चुका है।

प्रमाणनयैरधिगम इत्यनेन प्रमाणं नयाश्चाधिगमोपाया इत्युद्दिष्टं। तत्र प्रमाणं तत्त्वार्थाधिगमोपायं प्रपंचतो निर्दिश्याधुना नयांस्तदधिगमोपायानखिलान् संक्षेपतोन्यथा च व्याख्यातुमिदं प्राह भगवान्। कथं ? नयसामान्यस्य तल्लक्षणस्यैव संक्षेपतो विभागस्य विशेषलक्षणस्य च विस्तरतो नयविभागस्य अतिविस्तरतो नयप्रपंचस्य चात्र प्रतिपादनात् सर्वथा नयप्ररूपणस्य सूत्रितत्वादिति ब्रूमहे।

" प्रमाणनयैरधिगमः " ऐसे आकारवाले इस सूत्र करके प्रमाण और नय ये अधिगम करनेके उपाय हैं, इस प्रकार कथन किया गया है। उन अधिगतिके उपायोंमें तत्त्वार्थोंके अधिगमका उपाय हो रहे प्रमाणको विस्तारसे निरूपण कर अब उन तत्त्वार्थों या उनके अंशोंकी अधिगतिके उपाय हो रहे सम्पूर्ण नयोंको संक्षेपसे और दूसरे प्रकारोंसे यानी विस्तार, अतिविस्तारसे व्याख्यान करनेके लिये इस सूत्रको भगवान् ग्रन्थकार अच्छा कह रहे हैं। किस प्रकारसे ? इस सूत्रमें नयोंका उन तीन प्रकारोंसे प्रतिपादन किया है ? इसके उत्तरमें हम विद्यानन्द आचार्य गौरवसहित यों उत्तर कहते हैं कि प्रथम ही नय सामान्यका एक ही भेद स्वरूप निरूपण और उस नय सामान्यके लक्षणका ही संक्षेपसे प्रतिपादन किया गया है। तथा विभागका अभिप्राय करते हुये नयोंके विशेष दो भेद कर उनके लक्षणका और विस्तारके साथ नयोंके विभागका प्रतिपादन किया है। और भी नयोंके विभागका अत्यन्त विस्तारसे नयोंके भेद प्रभेदोंका इस सूत्रमें विस्तृत कथन किया गया है। बात यह है कि प्रकाण्ड पाण्डित्यको धारनेवाले श्री उमास्वामी महाराजने इस उदात्त सूत्र द्वारा सभी प्रकारोंसे नयोंका प्ररूपण वर्णित कर दिया है। " गागरमें सागर " इसीको कहते हैं। एक ही सूत्रमें अपरिमित अर्थ भरा हुआ है।

तत्र सामान्यतो नयसंख्यां लक्षणं च निरूपयन्नाह।

तहां प्रथम विचारके अनुसार सामान्यरूपसे नयकी संख्याका और नयके लक्षणका निरूपण करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य श्री उमास्वामी महाराजके इस अर्थका स्पष्ट कथन करते हैं। उसको समझिये।

सामान्यादेशतस्तावदेक एव नयः स्थितः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजनात्मकः ॥ २ ॥

सामान्यकी विवक्षा करनेसे तो नय एक ही व्यवस्थित किया गया है चाहे कितने भी पदार्थ क्यों नहीं होवें, सामान्यरूपसे उनका एक ही प्रकार हो सकता है। दो, चार, आदिक नहीं। सामान्य पदार्थ या समान जातिवाले पदार्थोंमें तिष्ठता हुआ सदृश परिणामरूप सामान्य यद्यपि अनेक व्यक्ति स्वरूप होता हुआ अनेक है, फिर भी सामान्यपना एक है। यहां सामान्यमें उपचारसे रखा गया एकत्व अर्थ प्रधान है। जैसे कि बालकके आग्रह अनुसार सर्प या सिंहके खिलोनेको ही सर्प या सिंह कहा जाता है। बालकको खेलनेके लिये मुख्य सिंह या सर्पका उन शब्दोंकरके ग्रहण नहीं होता है। तथा अनेक एकोंमें रहनेवाले कई एकत्वोंका एकपना भी उपचरित हो रहा उपादेय है। सम्पूर्ण नयोंमें व्यापनेवाला नयका सामान्य लक्षण तो श्रीसमन्तभद्र आचार्यने आप्तमीमांसामें यों कहा है कि " स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः " स्याद्वाद श्रुतज्ञान करके ग्रहण किये गये विशेष विशेषांशोंके विभागसे युक्त हो रहे अर्थोंके विशेषको व्यक्त कर देनास्वरूप नय है। प्रमाणसे ग्रहण किये गये अर्थके एक देशको ग्रहण करनेवाला वक्ताका अभिप्राय विशेषनय है। ऐसा अन्यत्र कहा जा चुका है। " स्वार्थैकदेशनिर्णीति लक्षणो हि नयः स्मृतः " इस प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यने पहिले कहा है। इन सबका तात्पर्य एक ही है।

सामान्यादेशात्तावदेक एव नयः स्थितः सामान्यस्यानेकत्वविरोधात्। स च स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजको नय इति वचनात्।

सबसे पहिले सामान्यकी विवक्षासे विचारा जाय तो नय एक ही व्यवस्थित हो रहा है। क्योंकि सामान्यका अनेकपनेके साथ विरोध है। समान पदार्थोंका सामुदायिक परिणाम महासत्ताके समान एक हो सकता है। भाव पदार्थका एकपना व्याकरण शास्त्रमें किया गया है। वह निर्मूलक नहीं है। जैनसिद्धान्त अनुसार सामान्यमें कथंचिद् एकपना अपेक्षाओंसे सिद्ध है। और वह नय तो देवागम स्तोत्रमें यों लक्षणरूपसे कहा गया है कि स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा प्रकृष्टरूपसे जान लिये गये गुण, पर्याय आदि विभाग करके युक्त अर्थके विशेषोंका व्यंजक नय है। अर्थात्—अर्थके विशेष नित्यत्व अनित्यत्व एकत्व, अनेकत्व, आदिको पृथक् पृथक् रूपसे प्रतिपादन करनेवाला नय होता है। अनेक स्वभावोंके साथ तदात्मक हो रहे परिपूर्ण अर्थको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है। और उस अर्थके अन्य धर्मोंकी अपेक्षा रखता हुआ अंशोंको जाननेवाला ज्ञान नय है। तथा अन्य धर्मोंका निराकरण करता हुआ अंशग्राही ज्ञान कुनय है। "अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः। नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः " ऐसा अन्यत्र भी कहा गया है।

ननु चेदं हेतोर्लक्षणवचनमिति केचित्। तदयुक्तं। हेतोः स्याद्वादेन प्रविभक्तस्यार्थस्य सकलस्य विशेषं व्यंजयितुमसमर्थत्वादन्यत्रोपचारात्। हेतुजनितस्य बोधस्य व्यंजकः प्रधानभावत एव युक्तः। स च नय एव स्वार्थैकदेशव्यवसायात्मकत्वादित्युक्तम्।

यहां कोई यों शंका करते हैं कि आप्तमीमांसामें अहेतुवाद रूप स्याद्वाद आगम और हेतुवाद रूप नय इन दोनोंसे अलंकृत हो रहे तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहते हुये श्री समन्तभद्र आचार्यके सन्मुख हेतुके लक्षणकी जिज्ञासा प्रकट किये जानेपर शिष्यके प्रति स्वामीजीने " सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः " स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः " इस कारिका द्वारा हेतुका लक्षण कहा है। इसको नयका परिशुद्ध लक्षण तो नहीं मानना चाहिये। किसी प्रकरण वश कही गयी बातका अन्य प्रकरणोंमें भी वही अर्थ लगा लेना समुचित नहीं है। इस प्रकार कोई आक्षेप कर रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि उनका वह कहना युक्तिरहित है। क्योंकि हेतुकी स्याद्वाद करके प्रविभक्त किये गये सकल अर्थके विशेषकी व्यक्त ज्ञप्ति करानेके लिये सामर्थ्य नहीं है। भले ही उपचारसे हेतुको ज्ञापक कह दिया जाय। किन्तु उपचारके सिवाय वस्तुतः ज्ञापक तो चेतन ज्ञान ही होते हैं। हेतुसे उत्पन्न हुये बोधकी प्रधानरूपसे व्यंजना करनेवाला वह नय ज्ञान ही युक्त हो सकता है। अथवा हेतुसे उत्पन्न हुये ज्ञानका व्यंजक प्रधानरूपसे ही कार्यको करनेवाला कारण हो सकेगा और वह ज्ञानात्मक नय ही हो सकता है। क्योंकि करण आत्मक अपने और कर्मस्वरूप अर्थके एक देशका व्यवसाय करना स्वरूप नय होता है। इस प्रकार हम पहिले " प्रमाणनयैरधिगमः " सूत्रकी चौथी वार्त्तिकमें कह चुके हैं। अतः नय आत्मक हेतु ज्ञान तो साध्यका ज्ञापक है। जड हेतु ज्ञापक नहीं है। क्वचित् हेतु ज्ञानका अवलम्ब कारण हेतु मान लिया गया है। यथार्थरूपसे विचारा जाय तो ज्ञापकपक्षमें नय ही हेतु पडता है। क्योंकि साध्य अर्थनयस्वरूप हेतु करके ज्ञापित किया जाता है। अतः वह ज्ञानस्वरूप हेतुनयका ही लक्षण समझना चाहिये। जड हेतुका नहीं।

नन्वेवं दृष्टेष्टविरुद्धेनापि रूपेण तस्य व्यंजको नयः स्यादिति न शंकनीयं " सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः " इति वचनात्। समानो हि धर्मो यस्य दृष्टांतस्य तेन साधर्म्यं साध्यस्य धर्मिणो मनागपि वैधर्म्याभावात्। ततोस्याविरोधेनैव व्यंजक इति निश्चीयते दृष्टान्तसाधर्म्याद्दृष्टांतोत्सरणादित्यनेन दृष्टविरोधस्य निवर्तनात्। न तु कथंचिदपि दृष्टांतवैधर्म्याद्दृष्टवैपरीत्यादित्यनेनेष्टविरोधस्य परिहरणात् दृष्टविपरीतस्य सर्वथानिष्टत्वात्।

यहां पुनः किसीकी शंका है कि इस प्रकार तो प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा देखे गये और अनुमान आदि प्रमाणोंसे इष्ट किये गये स्वरूपोंसे विरुद्ध हो रहे स्वरूपों करके भी उस अर्थकी व्यञ्जनारूप ज्ञप्ति करानेवाला ज्ञान नय बन बैठेगा ? इसपर आचार्य कहते हैं कि यों तो शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि दृष्टान्त धर्मीके साथ इष्ट, अबाधित, असिद्ध स्वरूप साध्यका साधर्म्य हो जाने करके अविरोध रूपसे पदार्थ विशेषोंका ज्ञापक नयज्ञान है, ऐसा श्री समन्तभद्र आचार्यने कहदिया है। जिस अन्वयदृष्टान्तका धर्म समान है, उसके साथ साध्यधर्मीका साधर्म्य होय। थोडा भी वैधर्म्य नहीं होना चाहिये। अर्थात्—निर्णीत किये गये दृष्टान्तके साथ प्रकरणप्राप्त साध्यका

साधर्म्य हो जानेसे ज्ञप्ति करनेमें कभी प्रत्यक्ष या अनुमान आदिसे विरोध नहीं आता है। तिस कारण इस अर्थका अविरोध करके ही नय ज्ञान व्यंजक है। ऐसा निश्चय करदिया जाता है। अन्वय दृष्टान्तका साधर्म्य मिला देनेसे अन्य दृष्टान्तोंका निराकरण करदिया जाता है। इस कारण इस दृष्टान्त साधर्म्यके वचन करके दृष्ट प्रत्यक्ष प्रमाणसे आनेवाले विरोधकी निवृत्ति हो जाती है। अन्वय दृष्टान्तके विधर्मापनेसे यदि नय व्यंजक होता तो किसी भी प्रकारसे प्रत्यक्ष द्वारा आये हुये विरोधकी निवृत्ति नहीं हो सकती थी और अदृष्ट वैपरीत्य यानी दृष्टसे विपरीतपना नहीं इस विशेषण करके तो अनुमान आदि प्रमाणोंसे आने योग्य विरोधोंका परिहार हो जाता है। क्योंकि दृष्टसे विपरीत हो रहे अनुमान आदि विरुद्ध पदार्थोंका नयों द्वारा ज्ञान हो जाना सभी प्रकारोंसे अनिष्ट है। "सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यात्" इस वाक्य करके दृष्टान्तसाधर्म्य और अदृष्टान्तवैधर्म्य ये दोनों अर्थ निकल आते हैं। अतः दृष्टान्तसाधर्म्यसे दृष्ट विरोध और अदृष्टान्त वैधर्म्यसे इष्ट विरोधकी निवृत्ति हो जाती है। प्रमाणोंसे अविरुद्ध स्वरूप करके उस साध्यका व्यंजक नयज्ञान होता है।

स्वयमुदाहृतश्चैवं लक्षणो नयः स्वामिसमंतभद्राचार्यैः। "सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात्" इति सर्वस्य वस्तुनः स्याद्वादप्रविभक्तस्य विशेषः सत्त्वं तस्य व्यंजको बोधः स्वरूपादिचतुष्टयाद् दृष्टसाधर्म्यस्य स्वरूपादिचतुष्टयात् सन्निश्चितं न पररूपादिचतुष्टयेन तद्वत्सर्वं विवादापन्नं सत् को नेच्छेत्? कस्यात्र विप्रतिपत्तिरिति व्याख्यानात्।

स्वामी श्री समन्तभद्र आचार्य महाराजने स्वयं अपने देवागम स्तोत्रमें इसी प्रकार लक्षणवाले नयको उदाहरण देकर समझा दिया है कि "सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते"। चेतन, अचेतन, द्रव्य पर्याय आदि सम्पूर्ण पदार्थोंको स्वरूप (स्वद्रव्य) आदि यानीं स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव इस स्वकीय चतुष्टयसे सत् स्वरूप ही कौन नहीं इच्छेगा। अर्थात्–स्वचतुष्टयसे सम्पूर्ण पदार्थ अस्तिरूप हैं। यह एक नयका विषय है, तथा परकीय चतुष्टयसे सम्पूर्ण पदार्थ नास्ति स्वरूप ही हैं। यह दूसरा नय है। अन्यथा व्यवस्था नहीं है। स्वकीय अंशोंका उपादान और परकीय अंशोंका त्याग करना ही वस्तुके वस्तुत्वको रक्षित रखता है। इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार पृथक् पृथक् विशेष धर्मोंसे गृहीत हुये सम्पूर्ण वस्तुका जो विशेष यानीं सत्त्व है। उस अस्तित्वका स्वरूप आदि चतुष्टय व्यंजक ज्ञान नय है। दृष्ट पदार्थके साथ साधर्म्यका स्वरूप आदि चतुष्टयसे वस्तुमें अस्तित्व निश्चित किया गया है। परकीय रूप, क्षेत्र, आदिके चतुष्टय करके वस्तुका अस्तित्व निर्णीत नहीं है। उसीके समान सभी विवादमें प्राप्त हो रहे जीव, बन्ध, मोक्ष आदि पदार्थोंके अस्तित्वको कौन नहीं इष्ट करेगा? अर्थात्–इस प्रकार नयकी विवक्षासे प्रमाण सिद्ध पदार्थोंके इस अस्तित्वमें भला किस विद्वानको विवाद पड़ा रहा सकता है। अर्थात्–किसीको भी नहीं। इस प्रकार उस कारिकाका व्याख्यान है।

संक्षेपतो नयविभागमादर्शयति ।

सामान्यरूपसे नयकी संख्या और लक्षणको कहकर अब श्री विद्यानन्द आचार्य नयके संक्षेपसे विभागोंका अच्छा परामर्श कराते हैं । या " आदर्शयति " ऐसा पाठ रखिये ।

संक्षेपाद्वौ विशेषेण द्रव्यपर्यायगोचरौ ।
द्रव्यार्थो व्यवहारांतः पर्यायार्थस्ततोऽपरः ॥ ३ ॥

संक्षेपसे नय दो प्रकार माने गये हैं । प्रमाणका विषय वस्तु तो अंशी ही है । तथा द्रव्य और पर्याय उसके अंश हैं । वस्तुके विशेष धर्म करके द्रव्य और पर्यायको विषय करनेवाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय हैं । और उससे निराला पर्यायार्थिक नय है, जो कि ऋजुसूत्रसे प्रारम्भ कर एवंभूततक भेदोंसे तदात्मक हो रहा है ।

विशेषतः संक्षेपाद्वौ नयौ द्रव्यार्थः पर्यायार्थश्च । द्रव्यविषयो द्रव्यार्थः पर्यायविषयः पर्यायार्थः प्रथमो नैगमसंग्रहव्यवहारविकल्पः । ततोपरश्चतुर्धा ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतविकल्पात् ।

सामान्यरूपसे विचार कर चुकनेपर अब विशेषरूपसे अपेक्षा होते सन्ते परामर्श चलाते हैं कि संक्षेपसे नय दो हैं । एक द्रव्यार्थ है और दूसरा पर्यायार्थ है । वस्तुके नित्य अंश द्रव्यको विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थ है और वस्तुके अनित्य अंश पर्यायोंको विषय करनेवाला नय पर्यायार्थका उदर अन्य भी ज्ञेयपदार्थोंको धार लेता है । पहिले द्रव्यार्थ नयके नैगम संग्रह और व्यवहार ये तीन विकल्प हैं । उससे भिन्न दूसरा पर्यायार्थ नय ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, और एवंभूत इन भेदोंसे चार प्रकारका है ।

विस्तरेणेति सप्तैते विज्ञेया नैगमादयः ।
तथातिविस्तरेणैतद्भेदाः संख्यातविग्रहाः ॥ ४ ॥

और भी विस्तार करके विशेषरूपसे विचारनेपर तो ये नय नैगम आदिक एवंभूत पर्यन्त सात हैं । इस प्रकार समझ लेना चाहिये । तथा अत्यन्त विस्तार करके नयके विशेषोंकी जिज्ञासा होनेपर संख्याते शरीरवाले इन नयोंके भेद हो जाते हैं । अर्थात्-शब्द वस्तुके धर्मको कहते रहते हैं । अतः जितने शब्द हैं उतने नय हैं, अकार, ककार, आदि वर्णोंद्वारा बनाये गये अभिधायक शब्द संख्यात प्रकारके ही हैं, शब्दोंके भेद असंख्यात और अनन्त नहीं हो सकते हैं । कितना भी घोर परिश्रम करो पचासों अक्षरोंका या पदोंका सम्मेलन कर बनाये गये शब्द भी संख्यात ही बनेंगे, जो कि मध्यम संख्यात है । जैन सिद्धान्त अनुसार १ लाख योजन लम्बे चौडे गोल

१ हजार योजन गहरे अनवस्था कुंड, शलाका कुंड, प्रतिशलाका कुंड, महाशलाका कुंडोंको बनाया जाय। अनवस्था कुंडको सरसोंसे शिखा भरकर जम्बूद्वीपसे परे दूने दूने विस्तारवाले द्वीप समुद्रोंमें एक एक सरसोंको डालते हुये क्रम अनुसार पूर्व पूर्व कुंडके भर जानेपर अग्रिमकुंडमें एक एक सरसों डालते डालते एक लाख योजन लम्बे चौडे, गोल एक हजार गहरे महाशलाकाको भरदेनेवाले अन्तिम अनवस्था कुंडकी सरसोंमेंसे एक कम कर देनेपर उत्कृष्ट संख्यात नामकी संख्या बनती हैं। बात यह है कि शब्दोंकी अपेक्षा नयोंके भेद अधिकसे अधिक मध्यमसंख्यात हैं। यह संख्या कोटि, अरब, खरब, नील, पद्म, आदि संख्याओंसे कहीं बहुत अधिक है।

कुत एवमतः सूत्राल्लक्ष्यत इत्याह।

इस श्री उमास्वामी महाराजके छोटेसे सूत्रके इस प्रकार सामान्य संख्या, संक्षेपसे भेद, विशेष स्वरूपसे विकल्प, और अत्यन्त विस्तारसे नयोंके विकल्प इस प्रकारकी सूचना किस ढंगसे जान ली जाती है ? इस प्रकार शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं। भावार्थ—माताके उदरसे जन्म लेते ही बालक जिनेन्द्रदेवको इन्द्र आदिक देव सुमेरुपर्वतपर लेजाकर एक हजार आठ कलशोंसे उस लघुशरीर जिनेन्द्रबालकका अभिषेक करते हैं। यहां भी ऐसी शंकायें होना सुलभ हैं। किन्तु वस्तुके अनन्त शक्तियोंका विचार करनेपर वे शंकायें कर्पूरके समान उड जाती हैं। एक तिल बराबर रसायन औषधि सम्पूर्ण लम्बे चौडे शरीरको नीरोग कर देती है। पहाडी बिच्छूके एक रत्तीके दश सहस्रवां भाग तुले हुये विषसे मनुष्यका दो मन शरीर विपाक हो जाता है। एक जौ या अंगुलके समान लम्बी, चौडी छोटी मछलीके ऊपर लाखों मन पानीकी धार पडे तो भी वह नहीं घबडाती है। प्रत्युत कभी कभी नाचती घूमती किलोले करती हुई हर्ष पूर्वक सैकडों गज ऊंची जलधारापर उसको काटती हुई ऊपर चढ जाती है। बात यह है कि मात्र अंगुलके असंख्यातवें भागमें समा जानेवाले छोटेसे पुद्गल स्कन्धके बिगड जानेपर सैकडों कोसतक बीमारियां फैल जाती हैं। सैकडों कोस लम्बी भरी हुई बारूदकी नालीको उडादेनेके लिये अग्निकी एक चिनगारी पर्याप्त है। इसी प्रकार महामना पुरुषोंके मुखसे निकले हुये उदात्त शब्द अपरिमित अर्थको प्रतिपादन कर देते हैं। इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्यके मुखसे सुनिये।

नयो नयौ नयाश्चेति वाक्यभेदेन योजितः।
नैगमादय इत्येवं सर्वसंख्याभिसूचनात् ॥ ५ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्रके विधेयदलमें नया इस प्रकार शब्द कहा है। वाक्यों या पदोंके भेद करके एक नय, दो नय और बहुतसे नय इस प्रकार एकशेषद्वारा योजना कर दी गयी है। इस ढंगसे नैगम आदि सात नयोंके साथ " नयः " इस एक वचनका सामानाधिकरण्य

करनेसे सामान्य संख्या एकका बोध हो जाता है और " नयौ " के साथ अन्वय कर देनेसे संक्षेपसे दो भेदवाले नय हो जाते हैं। तथा " नयाः " के साथ एकार्थ कर देनेसे विस्तार और प्रति विस्तारसे नयोंके भेद जान लिये जाते हैं। इस प्रकार गंभीर सूत्रद्वारा ही चारों ओरसे सम्पूर्ण संख्याओंकी सूचना कर दी जाती है। सदृश अर्थको रखते हुये समानरूपवाले पदोंका एक विभक्तिमें एक ही रूप अवशिष्ट रह जाता है। घटश्च, घटश्च, घटश्च, कहनेसे एक घट शब्द शेष रह जायगा। अन्योंका लोप हो जायगा। ' यः शिष्यते स लुप्यमानार्थविधायी ' और लोप किये जा चुके शब्दोंके अर्थको वह बचा हुआ पद कहता रहेगा। इस प्रकार एकशेष वृत्ति है। इसका पक्ष उतना प्रशस्त नहीं है जितना कि स्वाभाविक पक्ष उत्तम है। यानी जिस प्रकार शब्द शक्तिके स्वभावसे हो। " घटाः " यह शब्द अनेक अर्थोंको कह देता है। अथवा " नयाः " यह शब्द एक नय, दो नय, बहुत नय इन अर्थोंको स्वभावसे ही प्रतिपादन करता रहता है। जैन सिद्धान्त अनुसार दोनों पक्ष अभीष्ट हैं।

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः इत्यत्र नय इत्येकं वाक्यं, ते नयौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ इति द्वितीयमेते नयाः सप्तेति तृतीयं, पुनरपि ते नयाः संख्याता शब्दत इति चतुर्थं। संक्षेपपरायां वाक्प्रवृत्तौ यौगपद्याश्रयणात्। नयश्च नयौ च नयाश्च नया इत्येकशेषस्य स्वाभाविकस्याभिधाने दर्शनात्। केषांचित्तथा वचनोपलंभाच्च न विरुध्यते।

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत, ये सात नय हैं। इस प्रकार एक वचन लगाकर एक वाक्य तो यों है कि नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत, ये सातों एकनयस्वरूप हैं। और दूसरा वाक्य नयौ लगाकर यों है कि नैगम आदि सातों नय दो नयस्वरूप हैं। तथा ये सातों बहुत नयों स्वरूप हैं। यह तीसरा वाक्य है। फिर भी शब्दोंकी अपेक्षासे वे नैगम आदिक लाखों, करोडों आदि संख्यावाली संख्यातीं नयें हैं। यह चौथा वाक्य भी सूत्रका है। सूत्रकार महाराजके वचनोंकी प्रवृत्ति संक्षेपसे कथन करनेमें तत्पर हो रही है। अतः युगपत् चारों वाक्योंके कथन करनेका आश्रय कर लेनेसे चार वाक्योंके स्थानपर एक ही सूत्रवाक्य रच दिया गया है। चार वाक्योंके बदलेमें एक वाक्य बनाना व्याकरण शास्त्रके प्रतिकूल नहीं है। किन्तु अनुकूल है। एक नय, दो नय और बहुत नय इस प्रकार द्वन्द्व समास करनेपर " नयाः " यह एक पद बन जाता है। अनेक समान अर्थक पदोंके होनेपर शब्द स्वभावसे ही प्राप्त हुये एक शेषका कथन करना शब्दोंमें देखा जाता है। तथा किन्हीं विद्वानोंके मत अनुसार एक नय, दो नय, बहुत नय, इस प्रकार अर्थकी विवक्षा होनेपर जिस प्रकार " नयाः " ऐसे पहिलेसे ही बने बनाये कथनका उच्चारण दीख रहा है। अतः कोई विरोध नहीं आता है। परिपूर्ण चन्द्रमाकी कृष्ण पक्ष द्वितीया आदि तिथियोंमें एक एक कला राहु विमान द्वारा ढक जाती है। इस

मन्तव्यकी अपेक्षा यह सिद्धान्त अच्छा है कि द्वितीया, तृतीया, आदिक तिथियोंमें स्वभावसे ही चन्द्रमाका उतना, उतना कमती प्रकाश आत्मक परिणाम होता है। चमकीले पदार्थोंमें सूर्य, रंगे हुये वस्त्र, दर्पण, अन्धकार, छाया, आदिसे कान्तिका विपरिणाम हो जाता है। यह ठीक है। फिर भी बहिरंग पदार्थोंकी नहीं अपेक्षा करके भी सुवर्ण, मोती, गिरगिटका शरीर, बलिष्ठ मनुष्य, अनेक प्रकारकी कान्तियोंको बदलता रहता है। शरीरसौन्दर्य लावण्य भी नये नये रंग लाता है। " प्रतिक्षणं यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः "। इन कार्योंमें कारणोंकी अपेक्षा अवश्य है। क्योंकि विना कारणोंके कार्य होते नहीं हैं। फिर भी प्रसिद्ध हो रहे कान्तिके कारणोंका व्यभिचार देखा जाता है। अतः चन्द्रमाके स्वाभाविक उतनी उतनी कान्तिके समान शद्बकी स्वाभाविक शक्तिके अनुसार तिस प्रकार " नयाः " कह देनेसे चारों वाक्य उसके पेटमें गतार्थ हो जाते हैं। चन्द्रकी कान्तिके प्रथम पक्ष समान शद्बका पहिला पक्ष एकशेष भी गर्ह्य नहीं है।

अत्र वाक्यभेदे नैगमादेरेकस्य द्वयोश्च सामानाधिकरण्याविरोधाच्च गृहा ग्रामः देवमनुष्या उभौ राशी इति यथा।

इस सूत्रमें वाक्योंका भेद करनेपर नैगम आदिक एकका और दोका नय शद्बके साथ समान अधिकरणपनेका अविरोध हो जानेसे तिस प्रकार सूत्रवचनमें कोई विरोध नहीं आता है। जैसे कि अनेक गृह ही तो एक ग्राम है। सम्पूर्ण देव और मनुष्य ये दोनों दो राशि हैं। यहां " जस् " और " सु " ऐसे न्यारे वचनके होते हुये भी अनेक गृहोंका एक ग्रामके साथ समान अधिकरणपना निर्दोष माना गया है। " देवमनुष्याः " शद्ब बहुवचनान्त है। और राशी द्विवचनान्त है। दोनोंका उद्देश्य विधेय भाव बन जाता है। उसी प्रकार " नैगमाद्यो नयः " " नैगमाद्यो नयौ " " नैगमाद्यो नयाः " इस प्रकार भिन्न वाक्य बनानेपर उद्देश्य विधेय दलके शाद्बबोध करनेमें कोई हानि नहीं आती है।

नन्वेवमेकत्वद्वित्वादिसंख्यागतावपि कथं नयस्य सामान्यलक्षणं द्विधा विभक्तस्य तद्विशेषणं विज्ञायत इत्याशंकायामाह।

यहां शंका है कि इस प्रकार नयः, नयौ, नयाः, इस वाक्यभेद करके एकपन, दोपन, आदि संख्याका ज्ञान हो चुकनेपर भी द्रव्य और पर्याय इन दो प्रकारोंसे विभक्त किये गये नयका सामान्य लक्षण उनका विशेषण है, यह विशेषतया कैसे जाना जा सकता है ? ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

नयनां लक्षणं लक्ष्यं तत्सामान्यविशेषतः।
नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः॥ ६॥

तदंशौ द्रव्यपर्यायलक्षणौ साध्यपक्षिणौ ।
नीयेते तु यकाभ्यां तौ नयाविति विनिश्चितौ ॥ ७ ॥

जिस कारणसे कि उन सामान्य और विशेषरूपसे यहां नयोंका लक्षण दिखलाने योग्य है, तिस कारण जिस करके श्रुतज्ञानसे जाने हुये अर्थका अंश प्राप्त किया जाय यानी जाना जाय वह ज्ञान नियमसे नय कहा जाता है । प्रमाण आत्मक श्रुतज्ञानसे जाने गये उस वस्तुके दो अंश हैं । एक द्रव्यस्वरूप अंश है । दूसरा पर्यायस्वरूप अंश हैं । जो कि नयोंके द्वारा साधने योग्य पक्षमें प्राप्त हो रहे हैं । जिन दो नयों करके वस्तुके वे दो अंश प्राप्त करलिये जांय वे दो नय हैं । इस प्रकार विशेषतया दो नय निर्णीत करदिये गये हैं । नयका सामान्य लक्षण सभी विशेष नयोंमें घटित हो जाता है । सामान्य-नयका विषय भी सभी नेय विषयोंमें अन्वित हो रहा है ।

नीयतेऽनेनेति नय इत्युक्ते तस्य विषयः सामर्थ्यादाक्षिप्यते । स च श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यांश इति तदपेक्षा निरुक्तिर्नयसामान्यलक्षणे लक्षयति, तथा नीयेते यकाभ्यां तौ नयावित्युक्ते तु द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ नयौ द्वौ तौ च द्रव्यपर्यायाविति तदपेक्षं निर्वचनं नयविशेषद्वयलक्षणं प्रकाशयति ।

जिस करके अंशका ज्ञान कराया जाय ऐसा ज्ञान नय है, इस प्रकार कह चुकनेपर उस नयका विषय तो विना कहे हुये भी शद्बकी सामर्थ्य द्वारा आक्षेपसे लब्ध हो जाता है । और वह विषय पहिले नहीं विषय होता हुआ श्रुतज्ञान नामक प्रमाण द्वारा अब विषय किये जा चुके प्रमेयका अंश है । इस कारण उस विषयकी अपेक्षासे हो रही निरुक्ति यहां नयके सामान्य लक्षणमें दिखला दी जाती है । यहां एक विषय और एक ही विषयी है । तथा जिन दो ज्ञापकों करके वस्तुके दो अंश गृहीत किये जाते हैं, वे दो नय हैं । इस प्रकार कहनेपर तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो नय ज्ञापक हुये और उनके विषय तो वस्तुके दो अंश द्रव्य और पर्याय हुये । इस प्रकार उन द्रव्य और पर्यायोंकी अपेक्षासे किया गया नय शद्बका निर्वचन तो नयके दोनों विशेष लक्षणोंका प्रकाश करा रहा है । दो विषयोंकी अपेक्षा दो ज्ञापक विषयी निर्णीत किये जाते हैं ।

ननु च गुणविषयो गुणार्थिकोपि तृतीयो वक्तव्य इत्यत्राह ।

यहां-प्रश्न है कि वस्तुके अंश हो रहे द्रव्य, गुण, और पर्याय तीन सुने जाते हैं । जब कि द्रव्यको विषय करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय अंश को जाननेवाला पर्यायार्थिक नय है । तब तो तिस ही प्रकार नित्यगुणोंको विषय करनेवाला तीसरा नय गुणार्थिक भी यहां कहना चाहिये । इस प्रकार प्रश्न होनेपर यहां श्री विद्यानन्दस्वामी उत्तर कहते है ।

गुणः पर्याय एवात्र सहभावी विभावितः ।
इति तद्गोचरो नान्यस्तृतीयोस्ति गुणार्थिकः ॥ ८ ॥

गुणार्थिक नय न्यारा नहीं है । पर्यायार्थिकमें उसका अन्तर्भाव हो जाता है । पर्यायका
सिद्धान्त लक्षण " अंशकल्पनं पर्यायः " है, वस्तुके सद्भूत अंशोंकी कल्पना करना पर्याय है ।
द्रव्यके द्वारा हो रहे अनेक कार्योंको ज्ञापक हेतु मानकर कल्पित किये गये परिणामी नित्य गुण तो
वस्तुके साथ रहनेवाले सहभावी अंश हैं । अतः षट्स्थानपतितहानि वृद्धियोंमेंसे किसी भी
एकको प्रतिक्षण प्राप्त हो रहे, अविभाग प्रतिच्छेदोंको धारनेवाली पर्यायों करके परिणमन कर रहे
रूप, रस, चेतना, सुख, अस्तित्व, वस्तुत्व, आदिक गुण तो यहां सहभावी पर्यायस्वरूप ही
विचार किये जा चुके हैं । इस कारण उन गुणोंको विषय करनेवाला भिन्न तीसरा कोई गुणार्थिक
नय नहीं है । भावार्थ—पर्यायोंका पेट बहुत बडा है । द्रव्यके नित्य अंश गुण और उत्पाद व्यय
ध्रौव्य, स्वप्रकाशकत्व, परप्रकाशकत्व, एकत्व, अनेकत्व, आदिक स्वभाव अविभाग प्रतिच्छेद ये सब
पर्यायें हैं । एक गुणकी क्रमभावी पर्याय एक समयमें एक होगी । जो कि अनेक अविभाग प्रति-
च्छेदोंका समुदायरूप भाव अंश है । हां, स्वभावोंकी भित्ति परव्यपदेश किये जा रहे उत्पाद व्यय,
ध्रौव्य, या छोटापन बडापन ये पर्यायें तो एक साथ भी कई हो जाती है । जैसे कि एक समयमें
आम्र फल हरा है । द्वितीय समयमें पीला है, पहिले समय आत्मामें दर्शन उपयोग है । दूसरे समय
मतिज्ञान उपयोग है । रूपगुण या चेतना गुणकी ये उक्त पर्यायें क्रमसे ही होगी । एक समयमें
अविभाग प्रतिच्छेदवाली दो पर्यायें नहीं हो सकती है । हां, हरितपनका नाश पीतताका उत्पाद
और वर्ण सहितपनकी स्थिति ये तीनों पर्यायें पीत अवस्थाके समय विद्यमान हैं । कोई विरोध नहीं
है । एक गुणकी अविभाग प्रतिच्छेदवाली दो पर्यायोंका एक समयमें विरोध है । इसी प्रकार गुणके
सर्वथा प्रतिपक्षी हो रहे दूसरे गुणका एक द्रव्यमें सदा रहनेका विरोध है । जैसे कि पुद्गलमें रूप
गुण है, रूपाभाव गुण पुद्गलमें कभी नहीं है । आत्मामें चेतना गुण, अचैतन्य गुण नहीं । धर्म
द्रव्यमें गति हेतुत्व नामका भाव आत्मक अनुजीवी गुण है । अतः धर्मद्रव्यमें स्थितिहेतुत्व गुण नहीं
पाया जा सकता है । बात यह है कि वस्तुद्वारा हो रहे कार्योंकी अपेक्षा वस्तुमें गुण जुडे हुये माने
जाते हैं । संसारमें किसी भी वस्तुसे विरुद्ध कार्य नहीं हो रहा है । अतः अनुजीवी दो विरुद्ध गुण
एक द्रव्यमें कभी नहीं पाये जाते हैं । ये जो नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, आपे-
क्षिक हलकापन, भारीपन, अधिक मीठापन, न्यून मीठापन आदि स्वभाव, एक समयमें
देखे जा रहे हैं, वे सब तो सप्तभंगीके विषय हो रहे स्वभाव हैं । नित्य परिणामी हो रहे
अनुजीवी गुण नहीं हैं । वस्तुमें अनुजीवी विरुद्ध दो गुणोंको टिकनेके लिये स्थान
नहीं है । विरुद्ध सारिखे दीखते हुये, धर्म या स्वभाव चाहे जितने ठहर जाओ । विचारिये

कि पुद्गल द्रव्यमें रूप नामक नित्य गुणके समान यदि रूपाभाव भी गुण जडा हुआ हो तो रूपगुण विचारा पुद्गलको नीले, पीले रंगसे परिणाम करावेगा और उसके विरुद्ध रूपाभाव तो पुद्गलको आकाशके समान सर्वथा नीरूप बनाये रखनेका अटूट परिश्रम करेगा। ऐसी विरुद्धोंके साथ- लडाईमें गुणोंके समुदाय पुद्गल द्रव्यका नाश हो जाना अनिवार्य है। पोखरमें सॉडोंकी लडाई होनेपर मेंडकोंपर आपत्ति आ जाती है। इसी प्रकार चैतन्य, अचैतन्यके कार्योंमें वध्यघातक विरोध पड जानेसे द्रव्योंका नाश अवश्यम्भावी हो जावेगा जो कि अनिष्ट है। अतः द्रव्यमें अक्षुण्ण जुडे हुये अविरुद्ध परिणामी हो रहे नित्य गुण उसके अंश हैं। वे पर्यायार्थिक नयसे विषय कर लिये जाते हैं। उन गुणोंका अखण्ड पिण्ड नित्यद्रव्य तो द्रव्यार्थिक नयका विषय है।

पर्यायो हि द्विविधः, क्रमभावी सहभावी च। द्रव्यमपि द्विविधं शुद्धमशुद्धं च। तत्र संक्षेपशद्धवचने द्वित्वमेव युज्यते, पर्यायशब्देन पर्यायसामान्यस्य स्वव्यक्तिव्यापिनोऽभिधानात्। द्रव्यशब्देन च द्रव्यसामान्यस्य स्वशक्तिव्यापिनः कथनात्। ततो न गुणः सहभावी पर्यायस्तृतीयः शुद्धद्रव्यवत्।

कारण कि पर्यायार्थिक नयका विषय हो रहा पर्याय दो प्रकारका है। एक क्रमक्रमसे होनेवाला बाल्य, कुमार, युवा, वृद्ध, अवस्थाके समान क्रमभावी है। दूसरा शरीरके हाथ, पांव, पेट, नाक, कान, आदि अवयवोंके समान सहभावी पर्याय है, जो कि अखंडद्रव्यकी नित्य शक्तियां हैं। तथा द्रव्यार्थिक नयका विषय द्रव्य भी शुद्ध द्रव्य और अशुद्ध द्रव्यके भेदसे दो प्रकारका है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, तो शुद्ध द्रव्य ही है। हां, जीवद्रव्यमें सिद्ध भगवान् और पुद्गलमें परमाणु शुद्ध द्रव्य कहे जा सकते हैं। सजातीय दूसरे पुद्गल और विजातीय जीव द्रव्यके साथ बन्धको प्राप्त हो रहे घट, पट, जीवितशरीर आदिक अशुद्ध पुद्गल द्रव्य हैं। तथा विजातीय पुद्गल द्रव्यके साथ बंध रहे संसारी जीव अशुद्ध जीव द्रव्य हैं। यद्यपि अशुद्ध द्रव्य दो द्रव्योंकी मिली हुई एक विशेष पर्याय है। फिर भी उस मिश्रित पर्यायके अनेक गुण प्रतिक्षण भाव पर्यायोंको धारते हैं। अतः गुणवान् होनेसे वह द्रव्य माना जाता है। तिस नयके संक्षेपसे विशेष भेदोंको कहनेवाले तीसरे वार्तिकमें " संक्षेपसे " ऐसा शब्द प्रयोग करनेपर उस नय शब्दमें द्विवचनपना ही उचित हो रहा माना जाता है। पर्याय शब्द करके अपनी नित्य अंश गुण, क्रमभावी पर्याय, कल्पितगुण, स्वभाव, धर्म, अविभागप्रतिच्छेद, इन अनेक व्यक्तियोंमें व्यापनेवाले पर्यायसामान्यका कथन हो जाता है। और द्रव्य शब्दकरके अपनी नित्य, अनित्य शक्तियोंके धारक शुद्ध, अशुद्ध द्रव्योंमें व्यापनेवाले द्रव्यसामान्यका निरूपण हो जाता है। अशुद्ध द्रव्यकी नियत कालतक परिणमन करनेवाली पर्याप्ति, योग, दाहकत्व, पाचकत्व, आकर्षणशक्ति मारणशक्ति, आदि पर्याय शक्तियोंको यहां अनित्य शक्तियां पदसे पकडलेना चाहिये। जबकि पर्याय शब्दसे सभी पर्यायोंका ग्रहण होगया। तिस कारण सहभावी पर्याय हो रहा नित्य गुण कोई तीसरा नेय विषय नहीं है, जैसे कि शुद्ध द्रव्य

कोई न्यारा विषय नहीं है। द्रव्यार्थिक नयसे ही शुद्ध द्रव्य, अशुद्ध द्रव्य, सभी द्रव्योंका ज्ञापन हो जाता है। अतः दो ज्ञेय विषयोंको जाननेवाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो नय ही पर्याप्त हैं।

संक्षेपाविवक्षायां तु विशेषवचनस्य चत्वारो नयाः स्युः, पर्यायविशेषगुणस्येव द्रव्यविशेषशुद्धद्रव्यस्य पृथगुपादानप्रसंगात्।

हां, नयोंके भेदोंका संक्षेपसे नहीं कथन करनेकी विवक्षा करनेपर तो विशेषोंको कहनेवाले वचन बहुवचन " नयाः " बनाकर चार चार नय हो सकेंगे। एक भेद द्रव्यका बढ जायगा और दूसरा विशेष पर्यायका बढ जायगा, जब कि पर्यायके विशेष हो रहे गुणको जाननेके लिये गुणार्थिक नय न्यारा माना जायगा तो द्रव्यके विशेष हो रहे शुद्ध द्रव्यको विषय करनेवाले शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके पृथक् ग्रहण करनेका प्रसंग हो जावेगा। यों थोडे थोडेसे विषयोंको लेकर नयोंके चाहे कितने भी भेद किये जासकते हैं।

ननु च द्रव्यपर्याययोस्तद्वांस्तृतीयोस्ति तद्विषयस्तृतीयो मूलनयोऽस्तीति चेत् न, तत्परिकल्पनेऽनवस्थाप्रसंगात् द्रव्यपर्यायस्तद्वतामपि तद्वदंतरपरिकल्पनानुषक्तेर्दुर्निवारत्वात्।

यहां दूसरी शंका है कि द्रव्य और पर्यायोंका मिलकर उन दोनोंसे सहित हो रहा पिंड एक तीसरा विषय बन जाता है। उसको विषय करनेवाला तीसरा एक द्रव्यपर्यायार्थिक भी मूल नय क्यों गिनाये जा रहे हैं। इसपर आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यदि इस प्रकार उन नयोंकी मिला मिलकर चारों ओरसे कल्पना की जायगी तब तो अनवस्था दोष हो जानेका प्रसंग होगा। क्योंकि द्रव्य और पर्याय तथा उन दोनोंको धारनेवाले आश्रय इन तीनोंको मिलाकर एक नया विषय भी गढा जा सकता है। अतः उन तीनोंवाले न्यारे अन्य विषयको ग्रहण करनेवाली न्यारी न्यारी नयोंकी कल्पना करनेका प्रसंग कथमपि दुःखसे भी नहीं निवारा जा सकता है। अर्थात् जैनसिद्धान्त अनुसार द्रव्य अनेक हैं। एक एक द्रव्यमें अनन्ते गुण हैं। एक गुणमें त्रिकालसम्बन्धी अनन्त पर्यायें हैं। अथवा वर्तमान कालमें भी अनेक आपेक्षिक पर्यायें हो रहीं हैं। अनुजीवी गुणकी एक एक पर्यायमें अनेक अविभाग प्रतिच्छेद हैं। न जाने किस किस अनिर्वचनीय निमित्तसे किस किस गुणके कितने परिणाम हो रहे हैं। इस प्रकार पसरट्टेकी दूकान समान वस्तुके फैले हुये परिवारमेंसे चाहे जितनेका सम्मेलन कर अनेक विषय बनाये जा सकते हैं। ऐसी दशामें नियत विषयोंको जाननेवाले नयोंकी कोई व्यवस्था नहीं हो पाती है। अनवस्था दोष टल नहीं सकता है। सच पूछो तो द्रव्य और पर्यायोंका कथंचित् अभेद मान लेनेपर तीसरा, चौथा कोई तद्वान् ढूंढनेपर भी नहीं मिलता है। अतः दो नयोंके मान लेनेसे सर्व व्यवस्था बन जाती है। अनवस्था दोषको लव भी अवकाश नहीं प्राप्त होता है।

यदि तु यथा तंतवोवयवास्तद्वानवयवी पटस्तयोरपि तंतुपटयोर्नान्योस्ति तद्वांस्तस्याप्रतीयमानत्वात् । तथा पर्यायाः स्वभावास्तद्वद् द्रव्यं तयोरपि नान्यस्तद्वानस्ति प्रतीतिविरोधादिति मतिस्तदा प्रधानभावेन द्रव्यपर्यायात्मकवस्तुप्रमाणविषयस्ततोपोध्दृतं द्रव्यमात्रं द्रव्यार्थिकविषयः पर्यायमात्रं पर्यायार्थिकविषय इति न तृतीयो नयविशेषोस्ति यतो मूलनयस्तृतीयः स्यात् । तदेवम् ।

यदि आप शंकाकार यह सिद्धान्त समझ चुके हो कि जिस प्रकार तन्तु तो अवयव हैं। और उन तन्तुरूप अवयवोंसे सहित एक न्यारा अवयवी पट द्रव्य है। फिर उन दोनों तन्तु और पटका भी तद्वान् कोई तीसरा न्यारा आश्रय नहीं है। क्योंकि तीसरी कोटिपर जानकर कोई न्यारे उस अधिकरणकी प्रतीति नहीं हो रही है। तिसी प्रकार पर्यायें तो स्वभाव हैं। और उन पर्यायोंसे सहित हो रहा पर्यायवान् द्रव्य है। किन्तु फिर उन दोनों पर्याय और द्रव्योंका उनसे सहित होता हुआ कोई न्यारा अधिकरण नहीं है। क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध होता है। अनवस्था दोष भी है। अतः तन्तुवान् पटका जैसे कोई तीसरा अधिकरण न्यारा नहीं है। उसी प्रकार द्रव्य और पर्यायोंका अधिकरण भी कोई न्यारा नहीं है। आचार्य कह रहे हैं कि इस प्रकार मन्तव्य होय तब तो बहुत अच्छा है। देखो प्रधान रूपसे द्रव्य और पर्यायके साथ तदात्मक हो रहे वस्तुको प्रमाण ज्ञान विषय करता है। उस अखंड पिंडरूप वस्तुसे बुद्धिद्वारा पृथग् भावको प्राप्त किया गया केवल नित्य अंश द्रव्य तो द्रव्यार्थिक नयका विषय है। और प्रमाणके विषय हो रहे वस्तुसे ज्ञान द्वारा अपोद्धार (पृथग् भाव) किया गया केवल पर्याय (मात्र) तो पर्यायार्थिक नयका विषय है। अब नयोंके द्वारा जानने योग्य द्रव्य और पर्यायोंसे न्यारा कोई तीसरा " तद्वान् " पदार्थ शेष नहीं रहजाता है। जिसको कि विशेषरूपसे जाननेके लिये तीसरा मूलनय माना जावे। हां, जो वस्तु प्रमाणसे जानी जारही है, वह तो प्रमेय है। अंशोंको जाननेवाले नयों करके " नेय " नहीं है। जैन सिद्धान्त अनुसार द्रव्य और पर्यायोंसे कथंचित् भेद, अभेद, आत्मक वस्तु गुम्फित हो रही है। तिस कारण इस प्रकार सिद्धान्त बन जाता है। सो सुनिये।

प्रमाणगोचरार्थांशा नीयंते यैरनेकधा ।
ते नया इति व्याख्याता जाता मूलनयद्वयात् ॥ ९ ॥

जिन ज्ञानोंकरके प्रमाणके विषय हो रहे अर्थके अनेक अंश अभिप्रायों द्वारा जानलिये जाते हैं, वे ज्ञान नय हैं। और वे नय मूलभूत द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो नयोंसे प्रतिपन्न होते हुये अनेक प्रकारके बखान दिये जाते हैं।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषपरिबोधकाः ।
न मूलं नैगमादीनां नयाश्चत्वार एव तत् ॥ १० ॥

सामान्यस्य पृथक्त्वेन द्रव्यादनुपपत्तितः।
सादृश्यपरिणामस्य तथा व्यंजनपर्ययात् ॥ ११ ॥
वैसादृश्यविवर्तस्य विशेषस्य च पर्यये।
अंतर्भावाद्विभाव्येत द्वौ तन्मूलं नयाविति ॥ १२ ॥

नैगम आदि सात नयोंके मूलकारण द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो नय हैं, किन्तु द्रव्यको, पर्यायको, सामान्यको, और विशेषको, चारों ओरसे समझानेवाली चार नयें ही नैगम आदिकोंके मूल कारण नहीं हैं। तिस कारण दो नयोंको मूल मानना चाहिये। सामान्यार्थिक नय मानना आवश्यक नहीं है। द्रव्यसे पृथक्पने करके सामान्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि जैन सिद्धान्तमें अनेक समान जातीय पदार्थोंके सदृशपनेसे हो रहे परिणामको सामान्य पदार्थ माना है। और तिस प्रकारका सदृश परिणाम तो द्रव्यकी व्यंजन पर्याय है। अनेक सदृश परिणामोंका पिंड हो रहा सामान्य पदार्थ तो द्रव्यार्थिक नय द्वारा ही जान लिया जाता है। अतः सामान्यार्थिक कोई तीसरा नय नहीं है। परीक्षामुखमें " सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् " परापर विवर्त व्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु खंड, मुण्ड, कपिला, धेनु, आदि अनेक गौओंमें रहनेवाले गोत्वके समान तिर्यक् सामान्य अनेक घट, कलश आदिमें सदृश परिणामरूप वर्त रहा है। यह द्रव्यस्वरूप ही है। तथा द्रव्यकी पूर्वापर पर्यायोंमें व्यापनेवाला ऊर्ध्वता सामान्य है। जैसे कि स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायोंमें मृत्तिका ऊर्ध्वता सामान्य है। अथवा बाल्य, कुमार, यौवन, नारकी, पशु, देव, आदि पर्यायोंमें आत्मा द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य पडता है। ये दोनों सामान्यद्रव्य स्वरूप हैं। अतः द्रव्यार्थिक नयके विषय हैं। तथैव विसदृशपनरूप करके परिणाम हो रहे विशेषका पर्यायमें अन्तर्भाव हो जाता है। अतः विशेषका पर्यायार्थिक नय द्वारा ज्ञान हो जावेगा। चौथे विशेषार्थिक नयके माननेकी आवश्यकता नहीं है। श्री माणिक्यनन्दी आचार्य कहते हैं कि " एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत् " " अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् " एक द्रव्यमें क्रमसे होनेवाले परिणाम तो पर्याय नामके विशेष हैं, जैसे कि आत्मामें हर्ष, विषाद, आदि विशेष हैं। और न्यारे न्यारे अर्थोंमें प्राप्त हो रहा विलक्षणपनेका परिणाम है, यह व्यतिरेक नामका विशेष है। जैसे कि गाय, भैंस, घोडा, हाथी, आदिमें विशेष है। ये सभी विशेष पर्यायोंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस कारण उन द्रव्य और पर्यायोंको मूल कारण मानकर उत्पन्न हुये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो ही मूल नय विचार किये गये हैं। चार मूल नय नहीं हैं। शाखायें चाहे जितनी बनाओ अपने अभिप्रायों अनुसार घरकी बात है।

नामादयोपि चत्वारस्तन्मूलं नेत्यतो गतं ।
द्रव्यक्षेत्रादयश्चैषां द्रव्यपर्यायगत्वतः ॥ १३ ॥

इस उक्त कथनसे यह भी ज्ञात हो चुका है कि नाम आदिक भी चार उन नयोंके मूल नहीं हैं। और द्रव्य क्षेत्र आदिक विषय भी उन नयोंके उत्पादक मूल कारण नहीं है। अर्थात्– नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, इन चार विषयोंको मूलकारण मानकर नामार्थिक, स्थापनार्थिक, द्रव्यार्थिक, और भावार्थिक ये चार मूल नय नहीं हो सकते हैं। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन विषयोंको मूल कारण मानकर द्रव्यार्थिक, क्षेत्रार्थिक, कालार्थिक, भावार्थिक ये चार मूल नय नहीं हो सकते हैं। क्योंकि इन नाम आदि चारों और द्रव्य, क्षेत्र, आदि चारोंकी द्रव्य और पर्यायोंमें ही प्राप्ति हो रही है। यानी ये सब द्रव्य और पर्यायोंमें अन्तर्भूत हैं। अतः मूल नेय विषय द्रव्य और पर्याय दो ही हुए, अधिक नहीं।

भवान्विता न पंचैते स्कंधा वा परिकीर्तिताः ।
रूपादयो त एवेह तेपि हि द्रव्यपर्ययौ ॥ १४ ॥

द्रव्य, क्षेत्र, आदि चारके साथ भवको जोड देनेपर हो गये पांच भी मूल नेय पदार्थ नहीं हैं। अर्थात्–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव, इन पांचको विषय करनेवालीं मूल नय पांच नहीं हो सकती हैं। अथवा बौद्धोंने रूप आदिक पांच स्कन्धोंका अपने ग्रन्थोंमें चारों ओरसे निरूपण किया है, वे भी मूल नेय विषय नहीं हैं। अर्थात्—रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, संज्ञास्कन्ध और संस्कारस्कन्ध इन पांच विषयोंको मानकर मात्र मूलनय नहीं हैं। क्योंकि वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भाव तथा रूपस्कन्ध आदि पांच भी यहां नियमसे द्रव्य और पर्यायस्वरूप ही हैं, पांचोंका दोमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः दो ही द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक मूल नय हैं, अधिक नहीं हैं।

तथा द्रव्यगुणादीनां षोढात्वं न व्यवस्थितं ।
षट् स्युर्मूलनया येन द्रव्यपर्यायगाहिते ॥ १५ ॥

तिसी प्रकार वैशेषिकोंके यहां माने गये द्रव्य, गुण, आदिक भाव पदार्थोंका छह प्रकारपना भी स्वतंत्र तत्त्वपनेसे व्यवस्थित नहीं हो सकता है। जिस कारणसे कि उन छह मूल कारण नेय विषयोंको जाननेवाले मूल नय छह हो जावे। वे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छहों भाव पदार्थ नियमसे द्रव्य और पर्यायोंमें ही अन्तर्गत हो रहे हैं। अर्थात् द्रव्य आदिक छहों भाव विचारे द्रव्य, पर्याय इन दो स्वरूप ही हैं। अतः दो ही मूलनय हैं, अतिरिक्त नहीं है।

आचार्योंके अभिप्रायसे इन छह, सोलह, पच्चीस आदि पदार्थोंका मानना भी इष्ट हो रहा ध्वनित हो जाता है। किसीसे व्यर्थ द्वेष करना नयवादियोंको उचित नहीं है। तभी तो सिद्धचक्र पाठमें 'षट्पदार्थवादिने नमः' 'षोडशपदार्थवादिने नमः' 'पंचविंशतितत्त्ववादिने नमः' यों मन्त्र बोलकर सिद्धपरमेष्ठीको अर्घ्य चढाकर स्तुति की गयी है।

ये प्रमाणादयो भावा प्रधानादय एव वा।
ते नैगमादिभेदानामर्था नापरनीतयः॥ १६॥

जो नैयायिकोंके द्वारा माने गये प्रमाण, प्रमेय, संशय, आदिक सोलह भाव पदार्थ तत्त्वभेद रूपसे माने गये हैं, अथवा प्रधान आदिक पच्चीस ही भावतत्त्व इस प्रकार सांख्योंने मूल पदार्थ स्वीकार किये हैं, वे भी नैगम आदिक भेदरूप विशेष नयोंके विषय हो सकते हैं। जैनसिद्धान्तमें निर्णय किये गये द्रव्य और पर्यायसे अन्य तत्त्वोंकी व्यवस्था करनेवाली कोई न्यारी नीति कहीं नहीं प्रवर्त रही है। अर्थात्— १ प्रमाण, २ प्रमेय, ३ संशय, ४ प्रयोजन ५ दृष्टान्त ६ सिद्धान्त ७ अवयव ८ तर्क ९ निर्णय १० वाद ११ जल्प १२ वितंडा १३ हेत्वाभास १४ छल १५ जाति १६ निग्रह स्थान ये नैयायिकोंके सोलह पदार्थ मूलपदार्थ नहीं बन पाते हैं। किन्तु द्रव्य और पर्यायोंके भेदप्रभेद हैं। और १ प्रकृति २ महान् ३ अहंकार ४ शब्दतन्मात्रा ५ स्पर्शतन्मात्रा ६ रूपतन्मात्रा ७ रसतन्मात्रा ८ गन्धतन्मात्रा ९ स्पर्शनइन्द्रिय १० रसना इन्द्रिय ११ घ्राण इंद्रिय १२ चक्षु इन्द्रिय १३ श्रोत्र इन्द्रिय १४ वचन शक्ति १५ हाथ १६ पांव १७ जननेन्द्रिय १८ गुदेन्द्रिय १९ मन २० आकाश २१ वायु २२ तेज २३ जल २४ पृथ्वी और २५ पुरुष ये सांख्योंके पचीस तत्त्व भी मूलपदार्थ नहीं सिद्ध हो पाते हैं। द्रव्य और पर्यायके ही भेद प्रभेद हैं। अतः नयोंके विशेष प्रभेदोंसे भले ही इनको न्यारा न्यारा जानलिया जाय किन्तु मूलपदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा दो ही मूलनय मानना यथेष्ट है। मूल पदार्थों अथवा मूल ज्ञानोंमें अधिक झगडा बढाना व्यर्थ है।

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धांतावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितंडाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानाख्याः षोडश पदार्थाः कैश्चिदुपदिष्टाः, तेपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायेभ्यो न जात्यंतरत्वं प्रतिपद्यंते, गुणादयश्च पर्यायान्नार्थांतरमित्युक्तप्रायं। ततो द्रव्यपर्यायावेव तैरिष्टौ स्यातां, तयोरेव तेषामंतर्भावान्नामादिवत्।

प्रमाण, प्रमेय, संशय, आदिक पदार्थ गौतम ऋषिद्वारा न्यायदर्शनमें माने गये हैं। प्रमाका करण प्रमाण हैं। उसके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द ये चार भेद हैं। प्रमाणके विषयको प्रमेय कहते हैं। आत्मा शरीर इन्द्रिय, अर्थ (बहिरंग इंद्रियोंके विषय) बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष,

प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग, ये बारह प्रमेय हैं। एक पदार्थमें अनेक कोटिका विमर्श करना संशय है। जिसका उद्देश्य लेकर प्रवृत्ति की जाती है, वह प्रयोजन पदार्थ है। जिस अर्थमें लौकिक और परीक्षकोंकी बुद्धि समानरूपसे ग्राहिका हो जाती है, वह दृष्टान्त है। शास्त्रका आश्रय लेकर ज्ञापनपन करके जिस अर्थको स्वीकार किया गया है, उसकी समीचीन रूपसे व्यवस्था कर देना सिद्धान्त है। वह सर्वतंत्र, प्रतितंत्र, अधिकरण, अभ्युपगम, भेदोंसे चार प्रकार है। परार्थानुमानके उपयोगी अंगोंको अवयव कहते हैं, जो कि अनुमानजन्य बोधके अनुकूल हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, ये अवयवोंके पांच भेद हैं। विशेषरूपसे नहीं जाने गये तत्त्वमें कारणोंकी उपपत्तिसे तत्त्वज्ञानके लिये किया गया विचार तर्क है। विचार कर स्वपक्ष और प्रतिपक्षपने करके अर्थका अवधारण करना निर्णय है। अपने अपने पक्षका प्रमाण और तर्कसे जहां साधन और उलाहना हो सके, जो सिद्धान्तसे अविरुद्ध होय पांच अवयवोंसे युक्त होय, ऐसे पक्ष और प्रतिपक्षके परिग्रहको वाद कहते हैं। वादमें कहे गये विशेषणोंसे युक्त होता हुआ जहां छल जाति और निग्रह स्थानोंकरके स्वपक्षका साधन और परपक्षमें उलाहने दिये जाते हैं, वह जल्प है। वही जब यदि प्रतिकूलपक्षकी स्थापनासे रहित है तो वह वितंडा हो जाता है। अर्थात्—नैयायिकोंका ऐसा मन्तव्य है कि वीतराग विद्वानों या गुरुशिष्योंमें वाद प्रवर्तता है। और परस्पर एक दूसरेको जीत लेनेकी इच्छा रखनेवाले पण्डितोंमें छल आदिके द्वारा जल्प नामक शास्त्रार्थ होता है। वितंडा करनेवाला पण्डित केवल परपक्षका खण्डन करता है। अपने घरू पक्षकी सिद्धि नहीं करता है। हेतुके लक्षणोंसे रहित किन्तु हेतु सरीखे दीखनेवाले असद्धेतुओंको हेत्वाभास कहते हैं। नैयायिकोंने व्यभिचार, विरुद्ध, असिद्ध, सत्प्रतिपक्ष, और बाधित, ये पांच हेत्वाभास माने हैं। वादीको इष्ट हो रहे अर्थसे विरुद्ध अर्थकी कल्पना कर उसकी सिद्धि करके वादीके वचनका विघात करना प्रतिवादीका छल है। वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल ये तीन उसके भेद हैं। साधर्म्य और वैधर्म्य आदि करके असमीचीन उत्तर उठाते रहना जाति है। उसके साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा, प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसमा, प्रसंगसमा, प्रतिदृष्टान्तसमा, अनुत्पत्तिसमा, संशयसमा, प्रकरणसमा, अहेतुसमा, अर्थापत्तिसमा, अविशेषसमा, उपपत्तिसमा, उपलब्धिसमा, अनुपलब्धि समा, नित्यसमा, अनित्यसमा, कार्यसमा ये चौबीस भेद हैं। उद्देश्य सिद्धिके प्रतिकूल ज्ञान हो जाना अथवा उद्देश्य सिद्धिके अनुकूल हो रहे सम्यग्ज्ञानका अभाव हो जाना निग्रहस्थान है। उसके प्रकार हो रहे १ प्रतिज्ञाहानि २ प्रतिज्ञान्तर ३ प्रतिज्ञाविरोध ४ प्रतिज्ञासन्यास ५ हेत्वन्तर ६ अर्थान्तर ७ निरर्थक ८ अविज्ञातार्थ ९ अपार्थक १० अप्राप्तकाल ११ न्यून १२ अधिक १३ पुनरुक्त १४ अननुभाषण १५ अज्ञान १६ अप्रतिभा १७ विक्षेप १८ मतानुज्ञा १९ पर्यनुयोज्योपेक्षण २० निरनुयोज्यानुयोग २१ अपसिद्धान्त २२ हेत्वाभास इतने निग्रहस्थान हैं। इस प्रकार प्रमाण आदिक सोलह पदार्थोंका किन्हीं (नैया-

यिकों) ने उपदेश किया है। आचार्य कह रहे हैं कि वे सोलह भी पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इस प्रकार वैशेषिकों द्वारा माने गये छह भाव तत्त्वोंसे न्यारी जातिवाले नहीं समझे जा रहे हैं। पंडित विश्वनाथ पंचाननका भी यही अभिप्राय है। वैशेषिकोंने गुणवान् या समवायिकारण हो रहे पदार्थको द्रव्य माना है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन, ये द्रव्योंके नौ भेद हैं। जैनसिद्धान्त अनुसार " द्रव्याश्रयाः निर्गुणा गुणाः " यह गुणका लक्षण निर्दोष है। किन्तु वैशेषिकोंने संयोग और विभागके समवायिकारणपन और असमवायिकारणपनसे रहित हो रहे सामान्यवान् पदार्थमें जो कारणता है, उसका अवच्छेदक गुणत्व माना है। भिन्नत्व निवेशसे द्रव्य और कर्ममें अतिव्याप्ति नहीं हो पाती है। गुणके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार ये चौवीस भेद हैं। जो द्रव्यके आश्रय होकर रहे, गुणवाला नहीं होय, ऐसा संयोग और विभागमें किसी भाव पदार्थकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ कारण कर्म कहलाता है। उसके उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन ये पांच भेद हैं। नित्य होता हुआ जो अनेकोंमें समवाय सम्बन्धसे वर्तता है, वह सामान्य पदार्थ माना गया है। उसके परसामान्य और अपरसामान्य दो भेद हैं। अवसानमें ठहरता हुआ, जो नित्य द्रव्योंमें वर्तता है, वह विशेष है। नित्य द्रव्योंकी परस्परमें व्यावृत्ति करानेवाले वे विशेष पदार्थ अनन्त हैं। नित्य सम्बन्धको समवाय कहते हैं। वस्तुतः वह एक ही है। वैशेषिक तुच्छ अभाव पदार्थके प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यंताभाव, अन्योन्याभाव ये चार भेद स्वीकार करते हैं। किन्तु भावोंका प्रकरण होनेसे तुच्छ अभावका यहां अधिकार नहीं है। नैयायिकोंके सोलह पदार्थ तो इन द्रव्य आदि छहमें गर्भित हो ही जाते हैं। ऐसा न्यायवेत्ता विद्वानोंने यथायोग्य इष्ट कर लिया है। तिनमें द्रव्य तो द्रव्यार्थिक नयद्वारा जान लिया जाता है। और गुण, कर्म आदिक तो पर्यायसे न्यारे पदार्थ नहीं हैं। इस बातको हम प्रायः पूर्व प्रकरणोंमें कह चुके हैं। अतः गुण आदिकोंको पर्यायार्थिक नय विषय कर लेगा। तिस कारण उन काणाद, और गौतमीय विद्वानों करके द्रव्य और पर्याय ये दो नय ही अभीष्ट कर लेने चाहिये। उन प्रमाण, प्रमेय आदि या द्रव्य, गुण, आदिक विषयोंका उन दो द्रव्य पर्यायोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे कि नाम आदिक या द्रव्य, क्षेत्र आदिका द्रव्य और पर्यायोंमें ही गर्भ हो जाना कह दिया गया है।

येप्याहुः। " मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः " इति पंचविंशतिस्तत्त्वानीति। तैरपि द्रव्यपर्यायावेवांगीकरणीयौ मूलप्रकृतेः पुरुषस्य च द्रव्यत्वात्, महदादीनां परिणामत्वेन पर्यायत्वात् रूपादिस्कंधसंतानक्षणवत्। ततो नैगमादिभेदानामेवार्थास्ते न पुनरपरा नीतयः अपरा नीतिर्येषु त

एव अपरा नीतयः इति गम्यते, न चैतेषु द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभ्यां नैगमादिभेदाभ्यां अपरा नीतिः प्रवर्तत इति तावेव मूलनयौ, नैगमादीनां तत एव जातत्वात् ।

जो भी कपिलमत अनुयायी यों कह रहे हैं कि मूलभूत प्रकृति तो किसीका विकार नहीं है । अर्थात्–प्रकृति किसी अन्य कारणसे उत्पन्न नहीं होती है । और महत्तत्त्व आदि सात पदार्थ प्रकृति और विकृति दोनों हैं । अर्थात्–महत्तत्त्व, अहंकार, शद्बतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रस तन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा ये पूर्व पूर्वकारणोंके तो विकार हैं । और उत्तरवर्ती कार्योंकी जननी प्रकृतियां हैं । तथा ग्यारह इन्द्रिय और पांच पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, ये सोलह गण विकार ही हैं । क्योंकि इनसे उत्तर कालमें कोई सृष्टि नहीं उपजती है । शद्ब तन्मात्रासे आकाश प्रकट होता है । शद्बतन्मात्रा और स्पर्शतन्मात्रासे वायु व्यक्त होती है । शद्बतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और रूपतन्मात्रासे तेजोद्रव्य अभिव्यक्त होता है । शद्बतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा और रसतन्मात्रासे जल आविर्भूत होता है । शद्बतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रासे पृथ्वी उद्भूत होती है । प्रलयके समय अपने अपने कारणोंमें लीन होते हुये सब प्रकृतिमें तिरोभूत हो जाते हैं । पचीसवां तत्त्व कूटस्थ आत्मा तो न किसीका कारण हो रहा प्रकृति है । और किसीका कार्य भी नहीं है । अतः विकृति भी नहीं है । वह उदासीन, द्रष्टा, भोक्ता, चेतन, पदार्थ है । इस प्रकार सांख्योंने पचीस तत्त्व स्वीकार किये हैं । प्रकृति आदिके लक्षण प्रसिद्ध हैं । सच पूछो तो उनको भी द्रव्य, पर्याय दो ही पदार्थ स्वीकार कर लेने चाहिये । क्योंकि सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणोंकी साम्य अवस्थारूप प्रकृति तत्त्व और आत्मा तत्त्व तो द्रव्य हैं । अतः द्रव्यार्थिक नयके विषय हो जायेंगे और महत्, अहंकार आदिक तो प्रकृतिके परिणाम हैं । अतः पर्याय हैं । ये तेईस अकेले पर्यायार्थिक नयके विषय हो जायंगे । जब कि पचीस मूलतत्त्व ही नहीं हैं तो पचीस पदार्थोंको जाननेके लिये पचीस मूलनयोंकी आवश्यकता कोई नहीं दीखती है । जैसे कि बौद्धोंके माने गये रूप आदि पांच स्कन्धोंकी संतान या प्रतिक्षण परिणमनेवाले परिणामोंका क्षणिकपना इन द्रव्य या पर्यायोंसे भिन्न नहीं है । संतान तो द्रव्यस्वरूप है । और पांच जातिके स्कन्धोंके क्षणिकपरिणाम पर्यायस्वरूप हैं । अतः दो नयोंसे ही कार्य चल सकता है । सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे व्यावृत्त तथा परस्परमें सम्बन्धको प्राप्त नहीं हो रहे किन्तु एकत्रित हो रहे रूपपरमाणु, रसपरमाणु, गन्धपरमाणु, स्पर्शपरमाणु, तो रूप स्कन्ध हैं । सुख, दुःख, आदिक वेदनास्कन्ध हैं । सविकल्पक, निर्विकल्पक, ज्ञानोंके भेद प्रभेद तो विज्ञानस्कन्ध हैं । वृक्ष इत्यादिक नाम तो संज्ञास्कन्ध है । ज्ञानोंकी वासनायें या पुण्य, पापोंकी वासनायें संस्कारस्कन्ध हैं । ये सब मूल दो नयोंके ही विषय हैं । तिस कारणसे ऊपर कहे गये ये सम्पूर्ण अर्थ नैगम संग्रह आदि नयभेदोंके ही विषय हैं । फिर कोई न्यारी नयोंके गढनेके लिये दूसरा नया मार्ग निकालना आवश्यक नहीं । कारिकामें पडे हुये " अपरनीतयः " इस शद्बका

अर्थ यह समझा जाता है कि जिन अर्थोंमें दूसरी नीति है वे ही अर्थ भिन्न नीतिवाले हैं। किन्तु इन चार, पांच, छह सोलह, पच्चीस, पदार्थोंमें तो नैगम आदि भेदोंको धारनेवाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो मूल नयोंसे भिन्न कोई दूसरी नीति नहीं प्रवर्तती है। इस कारण वे दो ही मूलनय हैं। नैगम आदिक भेद प्रभेद तो उन दो से ही उत्पन्न हो जाते हैं।

तत्र नैगमं व्याचष्टे।

सूत्रकारद्वारा गिनायी गयीं उन सात नयोंमेंसे प्रथम नैगम नयका व्याख्यान श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं।

तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः।
सोपाधिरित्यशुद्धस्य द्रव्यार्थस्याभिधानतः॥ १७॥

उन दो मूल नयोंके नैगम आदिक अनेक भेद हो जाते हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार तीन तो द्रव्यार्थिक नयके विभाग करनेसे हो जाते हैं। और पर्यायार्थिक नयका प्रकृष्ट विभाग कर देनेसे ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ एवंभूत ये चार भेद हो जाते हैं। अर्थकी प्रधानता हो जानेसे पहिली चार नयें अर्थनय हैं। शेष तीन शब्दनय हैं। द्रव्यार्थिककी अपेक्षा अभेद और पर्यायार्थिककी अपेक्षा भेद हो जानेसे बहुत विकल्पवाले नय हो जाते हैं। उन सात नयोंमें केवल संकल्पका ग्राहक नैगमनय माना गया है। जो कि अशुद्ध द्रव्यस्वरूप अर्थका कथन कर देनेसे क्वचित् संकल्प किये गये पदार्थकी उपाधिसे सहित है। सत्त्व, प्रस्थत्व आदि उपाधियां अशुद्ध द्रव्यमें लग रहीं हैं। भेदविवक्षा कर देनेसे भी अशुद्धता आ जाती है।

संकल्पो निगमस्तत्र भवोयं तत्प्रयोजनः।
तथा प्रस्थादिसंकल्पः तदभिप्राय इष्यते॥ १८॥

नैगम शब्दको भव अर्थ या प्रयोजन अर्थमें तद्धितका अण् प्रत्यय कर बनाया गया है। निगमका अर्थ संकल्प है, उस संकल्पमें जो उपजे अथवा वह संकल्प जिसका प्रयोजन होय तैसा यह नैगमनय है। तिस प्रकार निरुक्ति करनेसे प्रस्थ, इन्द्र आदिका जो संकल्प है, वह नैगम नयस्वरूप अभिप्राय इष्ट किया गया है। अर्थात्–कोई पुरुष कुल्हाडी या फरसा लेकर लकडी काटनेके लिये जा रहा है। तटस्थ पुरुष उसको पूंछता है कि आप किसलिये जा रहे हो? वह तक्षक उस पूंछनेवालेको उत्तर देता है कि प्रस्थ या इन्द्र प्रतिमाके लिये मैं जा रहा हूं। यद्यपि उस समय एक सेर अन्न नापनेका बर्तन प्रस्थ या इन्द्रप्रतिमा सन्निहित नहीं है। किन्तु तक्षकका संकल्प वैसा है। बस, इस संकल्पमात्रको विषय करलेनेसे नैगमनय द्वारा प्रस्थ, इन्द्रप्रतिमा,

जान ली जाती है। भले ही कदाचित् अन्य सामग्रीके नहीं मिलनेपर वे पर्यायें नहीं बन सकें, फिर भी उनका संकल्प है। बनजानेवाले और नहीं भी बन जानेवाले पदार्थोंके विद्यमान होनेमें संकल्पकी अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है। ज्ञाताका तैसा अभिप्राय होनेपर ही वह नय मानलिया जाता है। ईंधन, पानी आदिके लानेमें व्यापार कर रहा पुरुष भात पकानेके अभिप्रायको इस नय द्वारा व्यक्त करदेता है। ऐसी दशामें वह असत्यभाषी नहीं है। सत्यवक्ता है।

नन्वयं भाविनीं संज्ञां समाश्रित्योपचर्यते ।
अप्रस्थादिषु तद्भावस्तंडुलेष्वोदनादिवत् ॥ १९ ॥
इत्यसद्बहिरर्थेषु तथानध्यवसानतः ।
स्ववेद्यमानसंकल्पे सत्येवास्य प्रवृत्तितः ॥ २० ॥

यहां किसी प्रतिवादीका भिन्न प्रकार ही अवधारण है कि यह नैगम नयका विषय तो भविष्यमें होनेवाली संज्ञाका अच्छा आश्रय कर वर्त्तमानमें भविष्यका उपचार युक्त किया गया है, जैसे कि प्रस्थ, चौकी, सन्दूक आदिके नहीं बनते हुये भी कोरी कल्पनाओंमें उनका सद्भाव गढ लिया गया है। अथवा चावलोंमें भात, खिचडी, हिस्से (चावलोंका बनाया गया पकवान) आदिका व्यवहार कर दिया जाता है। अर्थात्–विषयोंमें केवल भविष्यपर्यायकी अपेक्षा व्यवहार कर दियां जाता है। इसके लिये विशेष नयज्ञान माननेकी आवश्यकता नहीं है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तुम्हारा कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि बहिरंग अर्थोंमें तिस प्रकार भावी संज्ञाकी अपेक्षा अध्यवसाय नहीं हो रहा है। थोडा विचारो तो सही कि जब लकडी काटनेको जा रहा है, या चौका बर्तन कर रहा है, उस समय लकडी या चावल सर्वथा नहीं हैं, घरहे या हाटसे पीछे आयेंगे, फिर भी भविष्यपर्यायोंका व्यवहार भला कौनसी भूतपर्यायोंमें करेगा ? असत् पदार्थमें तो उपचार नहीं किया जाता है। किन्तु असत् पदार्थका भिन्न कालोंमें संकल्प हो सकता है। अपने द्वारा जाने जा रहे संकल्पके होनेपर ही इस नयकी प्रवृत्ति होना माना गया है। किसीका संकल्प होगा तभी तो उसके अनुसार सामग्री मिलायेगा, प्रयत्न करेगा। अन्यथा चाहे जिससे चाहे कुछ भी कार्य बन बैठेगा, भले ही संकल्पित पदार्थ वर्तमानमें कोई अर्थक्रिया नहीं कर रहा है, फिर भी इस नैगमनयका विषय यहां दिखला दिया है। और, मैं तो कहता हूं कि संकल्पित पदार्थोंसे भी अनेक कार्य हो जाते हैं। स्वप्नमें नाना ज्ञान संकल्पों द्वारा हो जाते हैं। बहुतसे भय, हास्य, आदि भी संकल्पोंसे होते हैं। संसारमें अनेक कार्य संकल्पमात्रसे हो रहे हैं। कहांतक गिनाये जांय कच्छपीका संकल्प उसके बच्चोंकी अभिवृद्धिका कारण है। दरिद्र पुरुषोंके संकल्प उनके दुःखके कारण बन रहे हैं। कैई ठलुआ पुरुष व्यर्थ संकल्प, विकल्पोंकरके पापबन्ध करते रहते हैं।

यद्वा नैकं गमो योऽत्र स सतां नैगमो मतः ।
धर्मयोर्धर्मिणोर्वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः ॥ २१ ॥

अथवा जो नैगम नयका दूसरा अर्थ यों किया जाता है कि " न एकं गमः नैगमः " जो धर्म और धर्मीमेंसे एक ही अर्थको नहीं जानता है, किन्तु गौण, प्रधानरूपसे धर्म, धर्मी, दोनोंको विषय करता है, वह सज्जन पुरुषोंके यहां नैगमनय माना गया है। अन्य नयें तो एक ही धर्मको जानती हैं। किन्तु नैगमनय द्वारा जाननेमें दो धर्मोंकी अथवा दो धर्मियोंकी या एक धर्म दूसरे धर्मोंकी विवक्षा हो रही है। अतः जैसे कि जीवका गुण सुख है, या जीव सुखी है, यों नैगमनय द्वारा दो पदार्थोंकी ज्ञप्ति हो जाती है।

प्रमाणात्मक एवायमुभयग्राहकत्वतः ।
इत्ययुक्तं इह ज्ञप्तेः प्रधानगुणभावतः ॥ २२ ॥
प्राधान्येनोभयात्मानमर्थं गृह्णद्धि वेदनम् ।
प्रमाणं नान्यदित्येतत्प्रपंचेन निवेदितम् ॥ २३ ॥

यहां कोई शिष्य आपादन करता है कि जब धर्म धर्मी दोनोंका यह नैगम नय ग्राहक है, तब तो यह नय प्रमाणस्वरूप ही हो जायगा। क्योंकि धर्म और धर्मीसे अतिरिक्त कोई तीसरा पदार्थ तो प्रमाणद्वारा जाननेके लिये वस्तुमें शेष रहा नहीं है। इसपर आचार्य कहते हैं कि शिष्य का यों आक्षेप करना युक्त नहीं है। क्योंकि यहां नैगम नयमें धर्म धर्मीमेंसे एककी प्रधान और दूसरेकी गौणरूपसे ज्ञप्ति की गयी है। परस्परमें गौण प्रधानरूपसे भेद अभेदकको निरूपण करनेवाला अभिप्राय नैगम कहा जाता है, तथा धर्मधर्मी दोनोंको प्रधानरूपसे या उभय आत्मक वस्तुको ग्रहण कर रहा ज्ञान तो प्रमाण कहा गया है। अन्य ज्ञान जो केवल धर्मको ही या धर्मी को ही अथवा गौणप्रधानरूपसे धर्मधर्मी दोनोंको ही विषय करते हैं, वे प्रमाण नहीं है, नय हैं। इस सिद्धान्तको हम विस्तार करके पूर्व प्रकरणोंमें निवेदन कर चुके हैं। अतः नैगम नयको प्रमाणपनका प्रसंग नहीं आता है " जीवगुणः सुखं " यहां प्रथमान्त मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध करनेपर विशेषण हो रहा जीव अप्रधान है और सुख विशेष्य होनेसे प्रधान है तथा "सुखी जीवः" यहां विशेष्य होनेसे जीव प्रधान है और विशेषण होनेसे सुख अप्रधान है। दोनोंको नैगमनय विषय कर लेता है। और प्रमाण तो प्रधानरूपसे द्रव्य पर्याय उभय आत्मक अर्थको विषय करता है। अतः प्रमाण और नैगममें महान् अन्तर है।

संग्रहे व्यवहारे वा नांतर्भावः समीक्ष्यते।
नैगमस्य तयोरेकवस्त्वंशप्रवणत्वतः॥ २४॥

किसीकी शंका है कि प्रमाणसे नैगमका विषय विशेष है। अतः नैगमका प्रमाणमें भले ही अन्तर्भाव नहीं होय, किंतु थोडे विषयवाले नैगमका स्वल्पविषयग्राही संग्रहनय अथवा व्यवहारनय में तो अन्तर्भाव हो जायगा? अब आचार्य कहते हैं कि यह विचार करना अच्छा नहीं है। क्योंकि उन संग्रह और व्यवहार दोनों नयोंकी एक ही वस्तु अंशको जाननेमें तत्परता हो रही है। अर्थात्–नैगम तो धर्म और धर्मी या दोनों धर्मी अथवा दोनों धर्मोंको प्रधान और गौणरूपसे जान लेता है। किन्तु संग्रह और व्यवहारनय तो वस्तुके एक ही अंशको विषय करते हैं। अतः इन से नैगमका पेट बडा है। दूसरी बात यह है कि संग्रह तो सद्भूत पदार्थोंका ही संग्रह करता है और नैगम सत्, असत्, सभी पदार्थोंका संकल्प कर लेता है। यहां असत् कहनेसे "आकाश पुष्प" आदि असत् पदार्थोंको नहीं पकडना, किन्तु सत् होने योग्य पदार्थ यदि संकल्प अनुसार नहीं बने या नहीं बनेंगे, वे यहां असत् पदार्थ माने गये हैं। जैसे कि इन्द्र प्रतिमाको बनानेके लिए संकल्प किये जा चुकनेपर पुनः विघ्नवश काठ नहीं लाया गया अथवा लकडी लाकर भी उस लकडीसे इन्द्रप्रतिमा नहीं बन सकी, यों ही लकडी जल गयी या घुन गयी। ऐसी दशामें वह इन्द्रका अभिप्राय असत् पदार्थका संकल्प कहा जाता है।

नर्जुसूत्रादिषु प्रोक्तहेतवो वेति षण्नयाः।
संग्रहादय एवेह न वाच्याः प्रपरीक्षकैः॥ २५॥

ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ, एवंभूत, इन प्रकारवाले नयोंमें भी नैगमका अन्तर्भाव नहीं हो पाता है। क्योंकि इसका कारण भले प्रकार कहा जा चुका है। अर्थात्–ये ऋजुसूत्र आदिक भी वस्तुके एक अंशको ही जाननेमें लवलीन रहते हैं। इस कारण नैगमके विना संग्रह आदिक छह ही नय हैं। यह अच्छे परीक्षक विद्वानोंको यहां नहीं कहना चाहिये। सबसे पहिले नैगमनयका मानना अत्यावश्यक है।

सप्तैते नियतं युक्ता नैगमस्य नयत्वतः।
तस्य त्रिभेदव्याख्यानात् कैश्चिदुक्ता नया नव॥ २६॥

नैगमको भी नयपना हो जानेसे ये नय नियमसे सात ही मानने योग्य हैं। उस नैगमके तीन भेदरूप व्याख्यान कर देनेसे किन्हीं विद्वानोंने नौ नय कहे हैं। अर्थात्–पर्याय नैगम, द्रव्य

नैगम, और द्रव्यपर्यायनैगम, इस प्रकार नैगमके तीन भेद तथा संग्रह आदिक छह भेद इस ढंगसे नय नौ प्रकारका अन्य ग्रन्थोंमें कहा गया है। इसमें हमको कोई विरोध नहीं है। तात्पर्य एक ही बैठ जाता है।

तत्र पर्यायगस्त्रेधा नैगमो द्रव्यगो द्विधा।
द्रव्यपर्यायगः प्रोक्तश्चतुर्भेदो ध्रुवं ध्रुवैः ॥ २७ ॥

तिन नैगमके भेदोंमें पर्यायोंको प्राप्त हो रहा नैगम तो तीन प्रकारका है और दूसरा द्रव्यको प्राप्त हो रहा नैगम दो प्रभेदवाला है। तथा द्रव्य और पर्यायको विषय करनेवाला तीसरा नैगम तो ध्रुवज्ञानी पुरुषोंकरके निश्चितरूपसे चार भेदवाला ठीक कहा गया है। अर्थात्—पर्यायनैगमके अर्थपर्याय नैगम १ व्यंजनपर्यायनैगम २ अर्थव्यंजनपर्यायनैगम ३ ये तीन प्रभेद हैं। और दूसरे द्रव्यनैगमके शुद्धद्रव्यनैगम, अशुद्धद्रव्यनैगम ये दो प्रभेद हैं। तथा तीसरे द्रव्यपर्याय नैगमके शुद्ध द्रव्यपर्याय नैगम १ शुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायनैगम २ अशुद्धद्रव्यपर्यायनैगम ३ अशुद्धद्रव्यव्यंजनपर्याय-नैगम ४ ये चार प्रकार हैं। इस प्रकार नैगमके नौ और संग्रह आदिक छह यों नयोंके पन्द्रह भेद हो जाते हैं।

अर्थपर्याययोस्तावद्गुणमुख्यस्वभावतः।
क्वचिद्वस्तुन्यभिप्रायः प्रतिपत्तुः प्रजायते ॥ २८ ॥
यथा प्रतिक्षणं ध्वंसि सुखसंविच्छरीरिणः।
इति सत्तार्थपर्यायो विशेषणतया गुणः ॥ २९ ॥
संवेदनार्थपर्यायो विशेष्यत्वेन मुख्यताम्।
प्रतिगच्छन्नभिप्रेतो नान्यथैवं वचोगतिः ॥ ३० ॥

उनमेंसे नैगमके पहिले प्रभेदका उदाहरण यों है कि किसी एक वस्तुमें दो अर्थपर्यायोंको गौण मुख्यस्वरूपसे जाननेके लिये नयज्ञानी प्रतिपत्ताका अच्छा अभिप्राय उत्पन्न हो जाता है। जैसे कि शरीरधारी आत्माका सुखसम्वेदन प्रतिक्षण नाशको प्राप्त हो रहा है। यहां उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, युक्त सत्तारूप अर्थपर्याय तो विशेषण हो जानेसे गौण है। और सम्वेदनस्वरूप अर्थपर्याय तो विशेष्यपना होनेके कारण मुख्यताको प्राप्त हो रही संती अभिप्रायमें प्राप्त की गयी है। अन्यथा यानी दूसरे ढंगोंसे इस प्रकार कथनद्वारा ज्ञप्ति नहीं हो सकेगी। भावार्थ—" आत्मनः सुखसम्वेदनं क्षणिकं " यहां आत्माका सुखसम्वेदन क्षणक्षणमें उपजरहा नष्ट हो रहा है, यह नैगमनयने

जाना। यहां सम्वेदन नामक अर्थपर्यायको विशेष्य होनेके कारण मुख्यरूपसे जाना गया है। और प्रतिक्षण उत्पाद व्ययरूप अर्थपर्यायको विशेषण होनेके कारण नैगम नयद्वारा गौण रूपसे जाना गया है। अन्यथा उक्त प्रयोग कैसे भी नहीं बन सकता था। सुख और सम्वेदनका आत्मामें कथंचित् अभेद है। अथवा चेतना गुणकी ज्ञानस्वरूप अर्थपर्यायको प्रधानतासे और सुख गुणकी अर्थपर्याय हो रहे लौकिक सुखको गौणरूपसे नैगम नय जानता है।

सर्वथा सुखसंवित्त्योर्नानात्वेभिमतिः पुनः।
स्वाश्रयाच्चार्थपर्यायनैगमाभोऽप्रतीतितः॥ ३१॥

हां, सभी प्रकारोंसे फिर परस्परमें सुख और सम्वेदनके नानापनमें अभिप्राय रखना अथवा अपने आश्रय हो रहे आत्मासे सुख और ज्ञानका भेद माननेका आग्रह रखना तो अर्थपर्याय नैगमका आभास है। क्योंकि एक द्रव्यके गुणोंका परस्परमें अथवा अपने आश्रयभूत द्रव्यके साथ सर्वथा भेद रहना नहीं प्रतीत हो रहा है।

कश्चिद्व्यंजनपर्यायौ विषयीकुरुतेंजसा।
गुणप्रधानभावेन धर्मिण्येकत्र नैगमः॥ ३२॥
सच्चैतन्यं नरीत्येवं सत्त्वस्य गुणभावतः।
प्रधानभावतश्चापि चैतन्यस्याभिसिद्धितः॥ ३३॥

कोई नैगम नयका दूसरा प्रभेद तो एक धर्मीमें गौण प्रधानपनेसे दो व्यंजन पर्यायोंको शीघ्र विषय कर लेता है, जैसे कि " आत्मनि सत् चैतन्यं " आत्मामें सत्त्व है, और चैतन्य है। इस प्रकार यहां विशेषण हो रही सत्ताकी गौणरूपसे ज्ञप्ति है। और विशेष्य हो रहे चैतन्यकी भी प्रधानभावसे सर्वतः ज्ञप्ति सिद्ध हो रही है। अतः दोनों भी व्यंजन पर्यायोंको यह नैगम विषय कर रहा है। सूक्ष्मपर्यायोंको अर्थपर्याय कहते हैं। और व्यक्त (प्रकट) हो रहीं पर्यायें व्यंजन पर्याय हैं।

तयोरत्यंतभेदोक्तिरन्योन्यं स्वाश्रयादपि।
ज्ञेयो व्यंजनपर्यायनैगमाभो विरोधतः॥ ३४॥

इस उक्त नयका आभास यों है कि उन सत्ता और चैतन्यका परस्परमें अत्यन्त भेद कहना अथवा अपने अधिकरण हो रहे आत्मासे भी सत्ता और चैतन्यका अत्यन्त भेद बके जाना

तो व्यंजनपर्याय नैगमाभास है। क्योंकि गुणोंका परस्परमें और अपने आश्रयके साथ कथंचित् अभेद वर्त रहा है। अतः ऐसी दशामें सर्वथा भेद कथन करते रहनेसे नैयायिकको विरोध दोष प्राप्त होता है।

अर्थव्यंजनपर्यायौ गोचरीकुरुते परः।
धार्मिके सुखजीवित्वमित्येवमनुरोधतः ॥ ३५ ॥

पर्यायनैगमके तीसरे प्रभेदका उदाहरण यों है कि धर्मात्मा पुरुषमें सुखपूर्वक जीवन प्रवर्त रहा है। छात्र प्रबोधपूर्वक घोषण कर रहा है। इत्यादि प्रयोगोंके अनुरोधसे कोई तीसरा न्यारा नैगम नय विचारा अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय दोनोंको विषय करता है।

भिन्ने तु सुखजीवित्वे योभिमन्येत सर्वथा।
सोर्थव्यंजनपर्यायनैगमाभास एव नः ॥ ३६ ॥

इसका नयाभास यों है कि जो प्रतिवादी सुख और जीवनको सर्वथा भिन्न अभिमानपूर्वक मान रहा है, अथवा आत्मासे भिन्न दोनोंको कल्प रहा है, वह तो हमारे यहां अर्थव्यंजनपर्यायका आभास है। यानी वह झूंठा नय कुनय है। आयुःकर्मका उदय होनेपर विवक्षित पर्यायमें अनेक समयतक प्राणोंका धारण करना जीवन माना गया है। और आत्माके अनुजीवी गुण हो रहे सुखका सातावेदनीय कर्मके उदय होनेपर विभावपरिणति हो जाना यहां लौकिक सुख लिया गया है। हां, कभी कभी धर्मात्माको सम्यग्दर्शन होजानेपर अतीन्द्रिय आत्मीय सुखका भी अनुभव हो जाता है। वह स्वाभाविक सुखमें परिगणित किया जावेगा।

शुद्धद्रव्यमशुद्धं च तथाभिप्रैति यो नयः।
स तु नैगम एवेह संग्रहव्यवहारजः ॥ ३७ ॥

पर्यायनैगमके तीन भेदोंका लक्षण और उदाहरण दिखलाकर अब द्रव्य नैगमके भेद और उदाहरणोंको दिखाते हैं कि जो नय शुद्धद्रव्य या अशुद्धद्रव्यको तिस प्रकार जाननेका अभिप्राय रखता है, वह नय तो यहां संग्रह और व्यवहारसे उत्पन्न हुआ नैगमनय ही कहा जाता है।

सद्द्रव्यं सकलं वस्तु तथान्वयविनिश्चयात्।
इत्येवमवगंतव्यस्तद्भेदोक्तिस्तु दुर्नयः ॥ ३८ ॥

तिस प्रकार अन्वयका विशेषरूपकरके निश्चय हो जानेसे सम्पूर्ण वस्तुओंको सत् द्रव्य इस प्रकार कहनेवाला अभिप्राय तो शुद्ध द्रव्यनैगम है। क्योंकि सभी पदार्थोंमें किसी भी स्वकीय

परकीय भावोंकी नहीं अपेक्षा कर सत्पने या द्रव्यपनेका अन्वय जाना जा रहा है। संग्रह नयके अनुसार यह नैगम नय दो धर्मियोंको प्रधान गौणरूपसे विषय कर रहा है। हां, सत्पने और द्रव्यपनेके सर्वथा भेदको कह रहा तो यह नय दुर्नय हो जायगा। अर्थात्—वैशेषिक पण्डित सत्त्व और द्रव्यत्वको परस्परमें भिन्न मानते हैं। और जातिमान्का जातियोंसे भेद स्वीकार करते हैं, यह उनका शुद्धद्रव्यनैगमाभास है।

यस्तु पर्यायवद्द्रव्यं गुणवद्वेति निर्णयः।
व्यवहारनयाज्जातः सोऽशुद्धद्रव्यनैगमः ॥ ३९ ॥

जो नय "पर्यायवान् द्रव्य है" अथवा गुणवान् द्रव्य है, इस प्रकार निर्णय करता है, वह नय तो व्यवहारनयसे उत्पन्न हुआ अशुद्धद्रव्यनैगम है। व्यवहारनय केवल एक ही धर्म या धर्मीको जानता है। किन्तु यह अशुद्ध द्रव्यनैगम नय तो धर्म, धर्मी, दोनोंको विषय करता है। इस दो प्रकारके द्रव्यनैगमको संग्रह और व्यवहारसे उत्पन्न हुआ इसी कारण कह दिया गया है कि पहिले एक एक विषयको जाननेके लिये संग्रह, व्यवहार, नय प्रवर्त जाते हैं। पीछे धर्म, धर्मी, या दोनों धर्म, अथवा दोनों धर्मियोंको प्रधान, गौणरूपसे जाननेके लिये यह नय प्रवर्तता है।

तद्भेदैकांतवादस्तु तदाभासोनुमन्यते।
तथोक्तेर्बहिरंतश्च प्रत्यक्षादिविरोधतः ॥ ४० ॥

पर्याय और पर्यायवान्का एकान्तरूपसे भेद मानते रहना अथवा उन गुण और गुणीका सर्वथा भेद स्वीकार करनेका पक्ष पकडे रहना तो उस अशुद्ध द्रव्य नैगमका आभास माना जा रहा है। क्योंकि बहिरंग कहे जा रहे घट, रूप, पट, पटत्व, आदि तथा आत्मा ज्ञान, आदि अन्तरंग पदार्थोंमें तिस प्रकार भेद कहते रहनेसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंकरके विरोध आता है।

शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमोस्ति परो यथा।
सत्सुखं क्षणिकं शुद्धं संसारेस्मिन्नितीरणम् ॥ ४१ ॥

अब नैगमके द्रव्यपर्याय नैगम भेदके चार प्रभेदोंका वर्णन करते हैं। तिनमें पहिला शुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय नैगम तो न्यारी भांतिका इस प्रकार है कि इस संसारमें सुख पदार्थ शुद्ध सत् स्वरूप होता हुआ क्षणमात्रमें नष्ट हो जाता है, यों कहनेवाला यह नय है। यहां उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, रूप सत्पना तो शुद्धद्रव्य है। और सुख अर्थपर्याय है। विशेषण हो रहे शुद्ध द्रव्यको गौणरूपसे और विशेष्य हो रहे अर्थपर्याय सुखको प्रधानरूपसे यह नय विषय करता है।

सत्त्वं सुखार्थपर्यायाद्भिन्नमेवेति संमतिः ।
दुर्नीतिः स्यात्सबाधत्वादिति नीतिविदो विदुः ॥ ४२ ॥

सुखस्वरूप अर्थपर्यायसे सत्त्वको सर्वथा भिन्न ही मानते रहना इस प्रकारका साभिमान अभिप्राय तो दुर्नीति है । क्योंकि सुख और सत्त्वके सर्वथा भेद माननेमें अनेक प्रकारकी बाधाओंसे सहितपना है । इस प्रकार नयोंके जाननेवाले विद्वान् समझ रहे हैं । यानी सुख और सत्त्वका सर्वथा भेदका अभिमान तो शुद्धद्रव्य अर्थपर्याय नैगमका आभास है ।

क्षणमेकं सुखी जीवो विषयीति विनिश्चयः ।
विनिर्दिष्टोर्थपर्यायाशुद्धद्रव्यगनैगमः ॥ ४३ ॥

यह संसारी जीव एक क्षणतक सुखी है । इस प्रकार विशेष निश्चय करनेवाला विषयी नय तो अर्थपर्याय अशुद्धद्रव्य को प्राप्त हो रहा नैगम विशेषरूपेण कहा गया है । यहां सुख तो अर्थपर्याय है, और संसारी जीव अशुद्धद्रव्य है । अतः इस नयसे अर्थपर्यायको गौणरूपसे और अशुद्धद्रव्यको प्रधानरूपसे विषय किया गया है ।

सुखजीवभिदोक्तिस्तु सर्वथा मानबाधिता ।
दुर्नीतिरेव बोद्धव्या शुद्धबोधैरसंशयात् ॥ ४४ ॥

सुखका और जीवका सर्वथा भेदरूपसे कहना तो दुर्नय ही है । क्योंकि गुण और गुणीमें सर्वथा भेद कहना प्रमाणोंसे बाधित है । जिन विद्वानोंके प्रबोध परिशुद्ध हैं, उन्होंने संशयरहितपनेसे इस बातको कहा है कि सुख और जीवका सर्वथा भेद कहना अर्थपर्याय अशुद्धद्रव्य नैगमाभास है, यह समझलेना चाहिये ।

गोचरीकुरुते शुद्धद्रव्यव्यंजनपर्ययौ ।
नैगमोन्यो यथा सच्चित्सामान्यमिति निर्णयः ॥ ४५ ॥

तीसरा शुद्ध द्रव्य व्यंजनपर्याय नैगम इन दोनोंसे भिन्न इस प्रकार है, जो कि शुद्धद्रव्य और व्यंजनपर्यायको विषय करता है । जैसे कि यह सत्सामान्य चैतन्यस्वरूप है, इस प्रकारका निर्णय करना शुद्धद्रव्यव्यंजनपर्याय नैगम नय है । यहां सत् सामान्य तो शुद्धद्रव्य है । और उसका चैतन्यपना व्यंजनपर्याय है । गौणरूप और प्रधानरूपसे यह नय दोनोंको जानलेता है ।

विद्यते चापरोऽशुद्धद्रव्यव्यंजनपर्ययौ ।
अर्थीकरोति यः सोऽत्र ना गुणीति निगद्यते ॥ ४६ ॥
भिदाभिदाभिरत्यंतं प्रतीतेरपलापतः ।
पूर्ववन्नैगमाभासौ प्रत्येतव्यौ तयोरपि ॥ ४७ ॥

इनसे भिन्न चौथा द्रव्यपर्याय नैगमनय तो यहां वह विद्यमान है जो कि अशुद्धद्रव्य और व्यंजनपर्यायको विषय करता है। जैसे कि मनुष्य गुणी है, इस प्रकार इस नय द्वारा कहा जाता है। यहां गुणवान् तो अशुद्धद्रव्य है और मनुष्य व्यंजनपर्याय है। कथंचित् अभेदरूपसे दोनोंको यह नय जान लेता है। इन दो नयोंके द्वारा विषय किये गये पदार्थोंका परस्परमें सर्वथा भेद अथवा सर्वथा अतीव अभेद करके कथन करना तो उन दोनोंके भी पूर्वके समान दो नैगमाभास समझ लेने चाहिये। क्योंकि अत्यन्त भेद या अभेद पक्ष लेनेसे प्रतीतियोंका अपलाप (छिपाना) होता है। अतः सत् और चैतन्यके सर्वथा भेद या अभेदका अभिप्राय शुद्धद्रव्य व्यंजनपर्याय नैगमका आभास है तथा मनुष्य और गुणीका सर्वथा भेद या अभेद जान लेना अशुद्धद्रव्यव्यंजनपर्याय नैगमका आभास है।

नवधा नैगमस्यैवं ख्यातेः पंचदशोदिताः ।
नयाः प्रतीतिमारूढाः संग्रहादिनयैः सह ॥ ४८ ॥

इस उक्त प्रकार नैगमनयका नौ प्रकार व्याख्यान करनेसे संग्रह आदिक छह नयोंके साथ प्रतीतिमें आरूढ हो रहीं नयें पन्द्रह कह दी गयीं हैं।

त्रिविधस्तावन्नैगमः। पर्यायनैगमः, द्रव्यनैगमः, द्रव्यपर्यायनैगमश्चेति। तत्र प्रथमस्त्रेधा। अर्थपर्यायनैगमो व्यंजनपर्यायनैगमोऽर्थव्यंजनपर्यायनैगमश्च इति। द्वितीयो द्विधा। शुद्धद्रव्यनैगमः, अशुद्धद्रव्यनैगमश्चेति। तृतीयश्चतुर्धा। शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमः, शुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायनैगमः, अशुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमः, अशुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायनैगमश्चेति, नवधा नैगमः साभास उदाहृतः परीक्षणीयः। संग्रहादयस्तु वक्ष्यमाणा षडिति सर्वे पंचदश नयाः समासतः प्रतिपत्तव्याः।

उक्त कथनमें नैगमके भेदोंकी सूची इस प्रकार है कि सबसे पहिले नैगमनय तीन प्रकारका माना गया है। पर्यायनैगम, द्रव्यनैगम और द्रव्यपर्यायनैगम। ये नैगमके मूलभेद तीन हैं। तिनमें पहिला भेद पर्यायनैगम तो अर्थपर्यायनैगम, व्यंजनपर्यायनैगम और अर्थव्यंजनपर्यायनैगम, इस

ढंगसे तीन प्रकारका है तथा दूसरा द्रव्यनैगम तो शुद्धद्रव्यनैगम अशुद्धद्रव्यनैगम । इस ढंगसे दो प्रकार है । तथा तीसरा द्रव्यपर्यायनैगम तो शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगम १ शुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायनैगम २ अशुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगम ३ अशुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायनैगम ४, इन स्वरूपोंसे चार प्रकार है । इस प्रकार नौ प्रकारका नैगमनय उनके आभासोंसे सहित हमने उदाहरणपूर्वक कहा है । जो कि प्रकाण्ड विद्वानोंकरके परीक्षा करने योग्य है । अथवा चारों ओरसे अन्य भी उदाहरण उठाकर विचार कर लेने योग्य है । और संग्रह आदिक छह नय तो भविष्यमें कहे जानेवाले हैं । इस प्रकार नौ और छहको मिलाकर सर्व पंद्रह नय संक्षेपसे समझ लेने चाहिये ।

तत्र संग्रहनयं व्याचष्टे ।

नैगम नयके भविष्यकालमें कहीं जानेवालीं उन छह नयोंमेंसे अब संग्रहनयका श्री विद्यानन्दस्वामी व्याख्यान करते हैं ।

एकत्वेन विशेषाणां ग्रहणं संग्रहो नयः ।
स्वजातेरविरोधेन दृष्टेष्टाभ्यां कथंचन ॥ ४९ ॥
समेकीभावसम्यक्त्वे वर्तमानो हि गृह्यते ।
निरुक्त्या लक्षणं तस्य तथा सति विभाव्यते ॥ ५० ॥
शुद्धद्रव्यमभिप्रैति सन्मात्रं संग्रहः परः ।
स चाशेषविशेषेषु सदौदासीन्यभागिह ॥ ५१ ॥

अपनी सत्तास्वरूप जातिके दृष्ट, इष्ट, प्रमाणोंद्वारा अविरोध करके सभी विशेषोंका कथंचित् एकपने करके ग्रहण करना संग्रह नय है । संग्रहमें सं शब्दका अर्थ समस्त है । और ग्रहका अर्थ जान लेना है । अनेक गौओंको देखकर " यह गौ है " और " यह भी वही गौ है " इस प्रकारकी बुद्धियां होने और शब्दोंकी प्रवृत्तियां होनेके कारण सादृश्य स्वरूपको जाति कहते हैं । सम्पूर्ण पदार्थोंका एकीकरण और समीचीनपन इन दो अर्थोंमें वर्त रहा सम शब्द यहां पकडा जाता है । तिस कारण होनेपर उस संग्रह नयका लक्षण संग्रहशब्दकी निरुक्तिसे ही विचारा जाता है । परसंग्रह नय तो सत्तामात्र शुद्ध द्रव्यका अभिप्राय रखता है । और सत् है, इस प्रकार सबको एकपनेसे ग्रहण करनेवाला वह संग्रह नय यहां सर्वदा सम्पूर्ण विशेषपदार्थोंमें उदासीनताको धारण करता है । " सत्, सत्, " इस प्रकार कहनेपर तीनों कालके विवक्षित, अविवक्षित सभी जीव, अजीवके भेदप्रभेदोंका एकपनेकरके संग्रह हो जाता है ।

निराकृतविशेषस्तु सत्ताद्वैतपरायणः ।
तदाभासः समाख्यातः सद्भिर्दृष्टेष्टबाधनात् ॥ ५२ ॥

अब परसंग्रह नयके समान प्रतिभास रहे खोटे परसंग्रहनयका उदाहरणसहित लक्षण करते हैं कि जो नय सम्पूर्ण विशेषोंका निराकरण कर केवल सत्ताके अद्वैतको कहनेमें तत्पर हो रहा है, वह तो सज्जन विद्वानों करके ठीक भांति परसंग्रहाभास बखाना गया है। कारण कि अकेले सत् या ब्रह्मको कहते रहनेपर प्रत्यक्षप्रमाण और अनुमानप्रमाणसे बाधा उपस्थित होती है। जिसको कि हम पहिले कह चुके हैं। अर्थात्—बालक वृद्ध या कीट जीवोंको भी प्रत्यक्षसे अनेक पदार्थ दीख रहे हैं। नाना पदार्थोंको भले ही अनुमानसे जान लो।

अभिन्नं व्यक्तिभेदेभ्यः सर्वथा बहुधानकं ।
महासामान्यमित्युक्तिः केषांचिद्दुर्नयस्तथा ॥ ५३ ॥
शब्दब्रह्मेति चान्येषां पुरुषाद्वैतमित्यपि ।
संवेदनाद्वयं चेति प्रायशोन्यत्र दर्शितम् ॥ ५४ ॥

सांख्योंद्वारा माना गया प्रधान तत्त्व तो अहंकार, तन्मात्रा, आदि तेईस प्रकारकी विशेष व्यक्तियोंसे या विशेष व्यक्तोंसे सर्वथा अभिन्न होता हुआ महासामान्यस्वरूप है। " त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि " (सांख्यतत्त्वकौमुदी) इस प्रकार किन्हीं कापिलोंका तैसा मानना खोटा नय है, यानी परसंग्रहाभास है। तथा अन्या शब्दाद्वैतवादियोंका अकेले शब्द ब्रह्मको ही स्वीकार करना और ब्रह्माद्वैतवादियोंका विशेषोंसे रहित केवल अद्वयपुरुष तत्त्वको स्वीकार करना तथा योगाचार या वैभाषिक बौद्धोंका शुद्ध सम्वेदनाद्वैतका पक्ष पकडे रहना ये भी कुनय हैं। परसंग्रहाभास हैं, इसको भी हम पहिले अन्य स्थानोंमें बहुत बार दिखला चुके हैं। विशेषोंसे रहित होता हुआ सामान्य कुछ भी पदार्थ नहीं हैं। कुशिष्यकी कृतघ्नताके समान अलीक है।

द्रव्यत्वं सकलद्रव्यव्याप्यभिप्रैति चापरः ।
पर्यायत्वं च निःशेषपर्यायव्यापिसंग्रहः ॥ ५५ ॥
तथैवावांतरान् भेदान् संगृह्यैकत्वतो बहुः ।
वर्ततेयं नयः सम्यक् प्रतिपक्षानिराकृतेः ॥ ५६ ॥

परसंग्रहनयको कहकर अब अपरसंग्रहनयका वर्णन करते हैं। परमसत्तारूपसे सम्पूर्ण भावोंके एकपनेका अभिप्राय रखनेवाले परसंग्रहद्वारा गृहीत अंशोंके विशेष अंशोंको जाननेवाला अपरसंग्रह-

नय है। सत्के व्याप्यद्रव्य और पर्याय है। सम्पूर्ण द्रव्योंमें व्यापनेवाले द्रव्यत्वको अपरसंग्रह स्वकीय अभिप्रायद्वारा जान लेता है और दूसरा अपर संग्रह तो सम्पूर्ण पर्यायोंमें व्यापनेवाले पर्यायत्वको जान लेता है। तिस ही प्रकार और इनके भी व्याप्य हो रहे बहुतसे अवान्तर भेदोंका एकपनेसे संग्रह कर यह नय जानता हुआ वर्त रहा है। अपने प्रतिकूल पक्षका निराकरण नहीं करनेसे यह समीचीन नय समझा जावेगा और अपने अवान्तर सत्तावाले विषयोंके प्रतिपक्षी महासत्तावाले या तद्व्याप्यव्याप्य अन्य व्यक्तिविशेषोंका निषेध कर देगा तो कुनय कहा जावेगा। जैसे कि अपर संग्रहके विषय द्रव्यपनेके व्याप्य हो रहे सम्पूर्ण जीव द्रव्योंका एकपनेसे संग्रह करना अथवा कालत्रयवर्ती पर्यायोंमें द्रवण कर रहे अजीवके पुद्गल, धर्म, आदि भेदोंका संग्रह कर लेना तथा पर्यायोंके विशेष भेद सम्पूर्ण घटोंका या सम्पूर्ण पटोंका एकपनेसे संग्रह करना अपर संग्रहनय है। इस प्रकार व्यवहारनयसे पहिले अनेक विशेष व्यापि सामान्योंको जानता हुआ यह अपरसंग्रहनय बहुत प्रकारका वर्त रहा है।

स्वव्यक्त्यात्मकतैकांतस्तदाभासोप्यनेकधा।
प्रतीतिबाधितो बोध्यो निःशेषोप्यनया दिशा॥ ५७॥

उस अपर संग्रहका आभास भी अनेक प्रकारका है। अपनी व्यक्ति और जातिके सर्वथा एक आत्मकपनेका एकान्त तो प्रतीतियोंसे बाधित हो रहा अपर संग्रहाभास समझना चाहिये। यह एक उदाहरण उपलक्षण है। इस ही संकेतसे सम्पूर्ण भी अपर संग्रहाभास समझ लेना। अर्थात्— घट सामान्य और घटविशेषोंका सर्वथा भेद या अभेद माननेका आग्रह करना अपर संग्रहाभास है।

द्रव्यत्वं द्रव्यात्मकमेव ततोर्थांतरभूतानां द्रव्याणामभावादित्यपरसंग्रहाभासः, प्रतीतिविरोधात्। तथा पर्यायत्वं पर्यायात्मकमेव ततोर्थांतरभूतपर्यायासत्वादिति सत्वं तत एव। तथा जीवत्वं जीवात्मकमेव, पुद्गलत्वं पुद्गलात्मकमेव, धर्मत्वं धर्मात्मकमेव, अधर्मत्वं अधर्मात्मकमेव, आकाशत्वं आकाशात्मकमेव, कालत्वं कालात्मकमेवेति चापरसंग्रहाभासाः। जीवत्वादिसामान्यानां स्वव्यक्तिभ्यो भेदेन कथंचित्प्रतीतेरन्यथा तदन्यतरलोपे सर्वलोपानुषंगात्।

आचार्य कह रहे हैं कि जो कोई सांख्यमत-अनुयायी द्रव्यत्व सामान्यको द्रव्य व्यक्तियोंके साथ तदात्मक हो रहा ही मानते हैं, क्योंकि उस द्रव्यत्वसे भिन्न हो रहे द्रव्योंका अभाव है। यह उनका मानना प्रतीतियोंसे विरोध हो जानेके कारण अपरसंग्रहाभास है। तिसी प्रकार पर्यायत्वसामान्य भी पर्याय आत्मक ही है। उस पर्याय सामान्यसे सर्वथा अर्थान्तरभूत हो रहे पर्यायोंका असद्भाव है। यह भी तिस ही कारण यानी प्रतीतिविरोध हो जानेसे वहां अपरसंग्रहाभास है। तथा जीवत्व अनेक जीवोंका तदात्मक ही हो रहा धर्म है। पुद्गलत्व सामान्य पुद्गल व्यक्तिस्वरूप ही

है। धर्मद्रव्यपना धर्मद्रव्यस्वरूप ही है। अधर्मत्व अधर्मद्रव्यस्वरूप ही है। आकाशत्व धर्म आकाश स्वरूप ही है। कालत्व सामान्यकालपरमाणुओं स्वरूप ही है। ये जाति और व्यक्तियोंके सर्वथा अभेद एकान्तको कहनेवाले सब अपरसंग्रहाभास है। क्योंकि जीवत्व पुद्गलत्व आदि सामान्योंकी अपने विशेष व्यक्तियोंसे कथंचित् भेद करके प्रतीति हो रही है। अन्यथा० यानी कथंचित् भेद नहीं मान कर दूसरे अशक्य विवेचनत्व आदि प्रकारोंसे उनका सर्वथा अभेद मानोगे तो उन दोनोंमेंसे एकका लोप हो जानेपर बचे हुये शेषका भी लोप हो जायगा। ऐसी दशामें सबके लोप हो जानेका प्रसंग आता है। अर्थात्–विशेषका सामान्यके साथ अभेद माननेपर सामान्यमें विशेष लीन हो जायगा। एवं विशेषोंका प्रलय हो जानेपर सामान्य कुछ भी नहीं रह सकता है। धडके मर जानेपर सिर जीवित नहीं रह सकता है। इसी प्रकार अभेदपक्ष अनुसार विशेष व्यक्तियोंमें सामान्यके लीन हो जानेपर विशेषोंका नाश अनिवार्य है। फूंसके मध्यवर्ती झोंपडेमें तीव्र अग्नि लगनेपर मिले हुये झोंपडोंका जल जाना अवश्यम्भावी है। सिरके मर जानेपर धड जीवित नहीं रह पाता है। यहां विशेष यह है कि जाति और व्यक्तियोंका सर्वथा भेद माननेवाले वैशेषिक जन एक ही व्यक्तिमें रहनेवाले धर्मको जाति स्वीकार नहीं करते हैं। " व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥ किंतु जैन सिद्धान्तमें धर्म, अधर्म, और आकाशको एक एक ही द्रव्य स्वीकार किया गया है। फिर भी त्रिकालसम्बन्धी परिणामोंकी अपेक्षा धर्मद्रव्य अनेक हैं। उनमें एक "धर्मत्व" धर्म जाति ठहर सकता है। स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार सामान्यको सर्वथा एक मानना इष्ट नहीं है। व्यक्तियोंसे कथंचित् अभिन्न होता हुआ सामान्य एक है अनेक भी है। इसी प्रकार अधर्म और आकाशमें भी सदृशपरिणामरूप जातिका सद्भाव विना विरोधके संगत हो जाता है। कथंचित् भेद, अभेद, सर्वत्र भर रहे हैं।

तथा क्रमभाविपर्यायत्वं क्रमभाविपर्यायविशेषात्मकमेव, सहभाविगुणत्वं तद्विशेषात्मकमेवेति वापरसंग्रहाभासौ प्रतीतिप्रतिघातादेव। एवमपरापरद्रव्यपर्यायभेदसामान्यानि स्वव्यक्त्यात्मकान्येवेत्यभिप्रायाः सर्वेप्यपरसंग्रहाभासाः प्रमाणबाधितत्वादेव बोद्धव्याः प्रतीत्यविरुद्धस्यैवापरसंग्रहप्रपंचस्यावस्थितत्वात्।

द्रव्य व्यक्तियां और द्रव्यजातियोंका अभेद कह कर अब पर्यायोंका अपनी जातिके साथ अभेद माननेको नयाभास कहते हैं। जो कोई प्रतिवादी क्रमभावी पर्यायत्वसामान्यको क्रम क्रमसे होनेवाले विशेष पर्यायों स्वरूप ही कह रहा है, अथवा सहभावी पर्याय गुणत्वको उस गुणत्व सामान्यके विशेष हो रहे अनेक गुण आत्मक ही इष्ट किये बैठा है, ये दोनों भी प्रतीतियों द्वारा प्रतिघात हो जानेसे ही अपरसंग्रहाभास समझलेने चाहिये। इसी प्रकार और भी आगे आगेके उत्तरोत्तर द्रव्य या पर्यायोंके भेद प्रभेदरूप सामान्य द्रव्यत्व, (पृथिवीत्व, घटत्व आदिक) भी अपनी अपनी

व्यक्तियां द्रव्य और पर्यायस्वरूप ही हैं। ये अभिप्राय भी सभी प्रमाणोंसे बाधे गये होनेके कारण ही अपरसंग्रहके आभास समझलेने चाहिये। क्योंकि प्रतीतियोंसे नहीं विरुद्ध हो रहे ही पदार्थोंको विशेष करनेवाले नयोंको अपरसंग्रह नयके प्रपंच (कौटुम्बिकविस्तार) की व्यवस्था की जा चुकी है।

व्यवहारनयं प्ररूपयति।

संग्रहनयका वर्णन कर श्री विद्यानन्द स्वामी अब क्रमप्राप्त व्यवहार नयका प्ररूपण करते हैं।

संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः।
योवहारो विभागः स्याद्व्यवहारो नयः स्मृतः ॥५८॥
स चानेकप्रकारः स्यादुत्तरः परसंग्रहात्।
यत्सत्तद्द्रव्यपर्यायाविति प्रागृजुसूत्रतः ॥ ५९ ॥

संग्रह नय करके ग्रहण किये जा चुके पदार्थोंका विधिपूर्वक जो अवहार यानी विभाग होगा वह पूर्व आचार्योंकी आम्नाय अनुसार व्यवहारनय माना गया है। अर्थात्–विभाग करनेवाला व्यवहारनय है। और वह व्यवहारनय तो परसंग्रहसे उत्तरवर्ती होकर ऋजुसूत्र नयसे पहिले वर्तता हुआ अनेक प्रकारका है। परसंग्रहनयने सत्को विषय किया था। जो सत् है वह द्रव्य और पर्याय रूप है। इस प्रकार विभाग कर जाननेवाला व्यवहारनय है। यद्यपि अपरसंग्रहने भी द्रव्य और पर्यायोंको जान लिया है, किन्तु अपरसंग्रहने सत्का भेद करते हुये उन द्रव्यपर्यायोंको नहीं जाना है। पहिलेसे ही विभागको नहीं करते हुये युगपत् सम्पूर्ण द्रव्योंको जान लिया है। अथवा दूसरे अपरसंग्रहने झटिति सम्पूर्ण पर्यायोंको विषय कर लिया है। किन्तु व्यवहारने विभागको करते हुये जाना है। व्यवहारके उपयोगी हो रहे भले ही महासामान्यके भी भेदोंको जाने,वह व्यवहार नय है।

कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्।
प्रमाणबाधितोन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम् ॥६०॥

द्रव्य और पर्यायोंके आरोपित किये गये कल्पित विभागोंको जो नय कदाग्रहपूर्वक धार लेता है वह तो प्रमाणोंसे बाधित होता हुआ इस व्यवहारनयसे न्यारा व्यवहार नयाभास जानलेना चाहिये। क्योंकि द्रव्य और पर्यायोंका विभाग कल्पित नहीं है।

परसंग्रहस्तावत्सर्वं सदिति संगृह्णाति, व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति यत्सत्तद्द्रव्यं पर्याय इति। यथैवापरसंग्रहः सर्वद्रव्याणि द्रव्यमिति संगृह्णाति सर्वपर्यायाः पर्याय इति।

व्यवहारस्तद्विभजते यद्द्रव्यं तज्जीवादिषड्विधं, यः पर्यायः स द्विविधः क्रमभावी सहभावी चेति । ''

सबसे पहिले परसंग्रह तो " सम्पूर्ण पदार्थ सत् हैं " इस प्रकार संग्रह करता है और व्यवहार नय तो उन सत् पदार्थोंके विभाग करनेका यों अभिप्राय रखता है कि जो सत् है वह द्रव्य या पर्याय है तथा जिस ही प्रकार अपर संग्रहनय सम्पूर्ण द्रव्योंको एक द्रव्यपनेसे संग्रह कर लेता है और सम्पूर्ण त्रिलोक त्रिकालवर्ती पर्यायोंको एक पर्यायपनेसे संग्रह कर लेता है । किन्तु व्यवहार नय तो उस द्रव्य और पर्यायका विभाग यों कर डालता है कि जो द्रव्य है वह जीव पुद्गल, आदि छह प्रकार है और जो पर्याय है वह क्रमभावी और सहभावी इस ढंगसे दो प्रकार है।

पुनरपि संग्रहः सर्वान् जीवादीन् संगृह्णाति जीवः पुद्गलो धर्मोऽधर्मः आकाशं काल इति, क्रमभुवश्च पर्यायान् क्रमभाविपर्याय इति, सहभाविपर्यायास्तु सहभाविपर्याय इति । व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति यो जीवः स मुक्तः संसारी च, यः पुद्गलः सोणुः स्कंधश्च,यो धर्मास्तिकायः स जीवगतिहेतुः पुद्गलगतिहेतुश्च,यस्त्वधर्मास्तिकायः स जीवस्थितिहेतुरजीव स्थितिहेतुश्च पर्यायतो द्रव्यतस्तस्यैकत्वात् । तथा यदाकाशं तल्लोकाकाशमलोकाकाशं च,यः काल स मुख्यो व्यावहारिकश्चेति, यः क्रमभावी पर्यायः स क्रियारूपोऽक्रियारूपश्च,विशेषः यः सहभावी पर्यायः स गुणः सदृशपरिणामश्च सामान्यमिति अपरापरसंग्रहव्यवहारप्रपंचः प्रागृजुसूत्रात्परसंग्रहादुत्तरः प्रतिपत्तव्यः, सर्वस्य वस्तुनः कथंचित्सामान्यविशेषात्मकत्वात् । न चैवं व्यवहारस्य नैगमत्वप्रसक्तिः संग्रहविषयप्रविभागपरत्वात् सर्वत्र नैगमस्य तु गुण-प्रधानोभयविषयत्वात् ।

अपर संग्रहकी एक बार प्रवृत्ति हो चुकनेपर फिर भी उसका व्याप्य हो रहा अपर संग्रह नय तो सम्पूर्ण जीव आदिकोंको जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल इस प्रकार व्याप्य हो रहे अनेक जीव आदिका संग्रह करता है तथा क्रमसे होनेवाली अनेक सजातीय पर्यायोंको ये क्रमभावी पर्याय हैं इस प्रकार संग्रह करता है एवं सहभावी अनेक जातिवाली पर्यायोंको तो ये सहभावी पर्याय है, इस प्रकार संग्रह करता है । किन्तु यह व्यवहार नय तो उन संग्रह नय द्वारा गृहीत विषयोंके विभाग करने की यों अभिलाषा करता है कि जो जीवद्रव्य है वह मुक्त और संसारी है और जो पुद्गलद्रव्य है वह अणुस्वरूप और स्कन्धस्वरूप हैं, जो धर्मास्तिकाय है वह जीवकी गतिका कारण और पुद्गलकी गतिका कारण यों दो प्रकार है तथा जो अधर्मास्तिकाय है वह तो जीवोंकी स्थितिका कारण और पांचो अजीवोंकी स्थितिका कारण, यों दो प्रकार या छह प्रकार है । अथवा अधर्मके छह भेद पीछे अपरापर संग्रहसे विभक्तकर व्यवहार करना । धर्म अधर्म द्रव्योंका

द्वैविध्यपना या अनेकपना तो पर्यायोंकी अपेक्षासे ही है। द्रव्यरूपसे वे दोनों एक एक ही हैं तथा जो आकाशद्रव्य है वह लोकाकाश और अलोकाकाशरूप है, जो काल द्रव्य है, वह अणुस्वरूप मुख्य काल, और समय आवलिका आदि व्यवहारस्वरूप है। इस प्रकार द्रव्यके भेद प्रभेदोंकर संग्रहकर व्यवहारनय द्वारा उनका विभाग कर दिया जाता है। मुक्त जीवोंका भी जघन्य अवगाहनावाले, मध्यम अवगाहनावाले, उत्कृष्ट अवगाहना वाले, या द्वीपसिद्ध, समुद्रसिद्ध, प्रत्येक बुद्ध, बोधितबुद्ध आदि धर्मोंकरके संग्रह कर पुनः व्यवहार नयसे उनका भेदेन प्ररूपण किया जा सकता है। संसारीके त्रस, स्थावर, मनुष्य, स्त्री, देव, नारकी आदि स्वरूप करके संग्रह कर पुनः व्यवहार उपयोगी विभाग किया जा सकता है। इसी प्रकार पर्यायोंमें समझना। जो क्रमभावी पर्यायें संगृहीत हुई हैं वह परिस्पंद आत्मक क्रियारूप और अपरिस्पंद आत्मक प्रक्रिया रूप होती हुई विशेष स्वरूप है और जो सहभावी पर्याय है वह नित्यगुणस्वरूप है और सदृश परिणाम आत्मक सामान्य रूप है। यहां भी क्रियारूप पर्यायोंके भ्रमण, तिर्यग्गमन, ऊर्ध्व गमन, आदि भेद किये जा सकते हैं। अक्रियारूप पर्यायोंके ज्ञान, सुख, क्रोध, ध्यान, सामायिक, अध्ययन, आदि भेद हो सकते हैं। गुणोंके भी अनुजीवी, प्रतिजीवी, पर्यायशक्ति, सामान्यगुण, विशेष गुण, ये भेद किये जा सकते हैं। सामान्यका भी गोत्व, पशुत्व, जीवत्व, आदि रूप करके विभाग किया जा सकता है। इस प्रकार उत्तर उत्तर होनेवाला संग्रह और व्यवहार नयका प्रपंच ऋजुसूत्र नयसे पहिले पहिले और परसंग्रहसे उत्तर उत्तर अंशोंकी विवक्षा करनेपर समझ लेना चाहिये। क्योंकि जगत्की सम्पूर्ण वस्तुएं सामान्य और विशेषके साथ कथंचित् एक आत्मक हो रही हैं। अतः नयको उपजानेवाले पुरुषका अभिप्राय सामान्यरूपसे जानकर विशेषोंको जाननेके लिये प्रवृत्त हो जाता है। इस उक्त प्रकार कथन करनेपर व्यवहार नयको नैगमपनेका प्रसंग नहीं आता है। क्योंकि व्यवहार नय तो संग्रहद्वारा विषय किये जा चुके पदार्थका व्यवहार उपयोगी सर्वत्र बढिया विभाग करनेमें तत्पर हो रहा है और नैगमनय तो अत्यधिक गौण और प्रधान हो रहे दोनों प्रकारके धर्म धर्मियोंको विषय करता है अर्थात्-व्यवहार तो एक सद्भूत अंशके भी व्यवहार उपयोगी अंशोंको जानता है। किन्तु नैगम नय तो प्रधानभूत या गौणभूत हो रहे सत्, असत्, अंश, अंशियोंको जान लेता है। नैगमनयका क्षेत्र व्यवहारसे असंख्य गुणा बडा है।

यः पुनः कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः, प्रमाणबाधितत्वात्। तथाहि-न कल्पनारोपित एव द्रव्यपर्यायप्रविभागः स्वार्थक्रियाहेतुत्वादन्यथा तदनुपपत्तेः वंध्यापुत्रादिवत्। व्यवहारस्य मिथ्यात्वे तदानुकूल्येन प्रमाणानां प्रमाणता च न स्यात्, स्वप्नादिविभ्रमानुकूल्येनापि तेषां प्रमाणत्वप्रसंगात्। तदुक्तं। "व्यवहारानुकूल्येन प्रमाणानां प्रमाणता, नान्यथा बाध्यमानानां, तेषां च तत्प्रसंगतः॥" इति।

और जो नय पुनः कल्पनासे आरोपे गये द्रव्य और पर्यायके विभागका अभिप्राय करता है, वह कुनय होता हुआ व्यवहाराभास है। क्योंकि यदि द्रव्य और पर्यायके विभागको वास्तविक नहीं माना जावेगा तो प्रमाणोंसे बाधा उपस्थित हो जावेगी। इसीको अनुमान बना कर आचार्य महोदय स्पष्ट दिखलाते हैं कि द्रव्य और पर्यायका अच्छा हो रहा विभाग (पक्ष) कोरी कल्पनाओंसे आरोप किया गया नहीं है (साध्य) अपने अपने द्वारा की जाने योग्य अर्थक्रियाका हेतु होनेसे (हेतु) अन्यथा यानी द्रव्य और पर्यायके विभागको कल्पनासे गढ किया गया माननेपर तो उन कल्पित द्रव्य और पर्यायोंसे उस अर्थक्रियाकी सिद्धि नहीं हो सकेगी, जैसे कि वन्ध्याके पुत्रसे कुटुम्ब संतान नहीं चल सकती है। आकाशके पुष्पसे सुगन्ध प्राप्ति नहीं हो सकती है, इत्यादि (व्यतिरेकदृष्टान्त) यदि द्रव्य या पर्यायोंकी कोरी कल्पना करनेवाले बौद्ध यों कहें कि ये सब अर्थ क्रिया करनेके या " यह अंश द्रव्य है " " इतना अंश पर्याय है " ये सब व्यवहार तो मिथ्या हैं, जैसे कि हुकरियापुरान या किम्वदन्तियां झूंठी हुआ करती हैं। अब आचार्य कहते हैं तब तो उस व्यवहारके अनुकूलपने करके मानी गयी प्रमाणोंकी प्रमाणता भी नहीं हो सकेगी, अन्यथा स्वप्न, मूर्च्छित, आदिके भ्रान्त व्यवहारोंकी अनुकूलतासे भी उन स्वप्न आदिके ज्ञानोंको प्रमाणपनका प्रसंग आ जावेगा। वही तुम्हारे ग्रन्थोंमें कहा जा चुका है कि लौकिक व्यवहारोंकी अनुकूलता करके प्रमाणोंका प्रमाणपना व्यवस्थित हो रहा है। दूसरे प्रकारोंसे ज्ञानोंकी प्रमाणता (प्रधानता) नहीं है। अन्य प्रकारोंसे प्रमाणपना माननेपर बाधित किये जा रहे उन स्वप्न ज्ञान या भ्रान्त ज्ञान अथवा संशय ज्ञानोंको भी उस प्रमाणपनेका प्रसंग हो जावेगा। अर्थात्–दिनरात लोकव्यवहारमें आनेवाले कार्य तो द्रव्य और पर्यायोंसे ही किये जा रहे देखे जाते हैं। व्यवहारी मनुष्य लौकिक व्यवहारोंसे ज्ञानकी प्रमाणताको जान लेता है। शीतल वायुसे जलके ज्ञानमें प्रामाण्य जान लिया जाता है। अनुकूल, प्रतिकूल, व्यवहारोंसे शत्रुता, मित्रता, परीक्षित हो जाती है। पठन, पाठन, चर्चा, निर्णायकशक्तिसे प्रकाण्ड विद्वत्ताका निर्णय कर लिया जाता है। यदि ये व्यवहार मिथ्या होते तो ज्ञानोंकी प्रमाणताके सम्पादक नहीं हो सकते थे। यदि झूठे व्यवहारोंसे ही ज्ञानमें प्रमाणता आने लगेगी तब तो मिथ्याज्ञान भी सबसे ऊंचे प्रमाण बन बैठेंगे। महामूर्ख जन पण्डितोंकी गद्दियोंको हडप लेंगे। किन्तु ऐसी अन्धेर नगरीकी व्यवस्था प्रामाणिक पुरुषोंमें स्वीकार नहीं की गयी है। अतः वास्तविक द्रव्य और पर्यायोंके विभागोंके व्यवहारको जता रहे व्यवहारनयका वर्णन यहांतक समाप्त हो चुका है। तदनुसार श्रद्धा करो, एकान्तको छोडो।

सांप्रतमृजुसूत्रनयं सूत्रयति।

व्यवहार नयको कह कर अब वर्तमान कालमें चौथे ऋजुसूत्र नयका श्री विद्यानन्द स्वामी सूचन कराते हैं। जैसे कि चीरने योग्य काठ या तोडने योग्य पटियामें सूतका सीधा चिह्नकार इधर

उधरसे दृष्टि वहां ही वेष्टित कर दी जाती है वैसे ऋजुसूत्र नयका विषय वर्तमानकालकी पर्याय नियत है।

ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि वस्तु सत्सूत्रयेदृजु ।
प्राधान्येन गुणीभावाद्द्रव्यस्यानर्पणात्सतः ॥ ६१ ॥

ऋजुसूत्र नय पर्यायको विषय करनेवाला है। क्षणमें ध्वंस होनेवाली वस्तुके सद्भूत व्यक्त रूपका प्रधानता करके ऋजुसूत्र नय अच्छा सूचन (बोध) करा देता है। यद्यपि वहां नित्य द्रव्य विद्यमान है तो भी उस सत् द्रव्यकी विवक्षा नहीं करनेसे उसका गौणपना है। अर्थात्-द्रव्यकी भूतपर्यायें तो नष्ट हो चुकी हैं और भविष्यपर्यायें नहीं जाने कब कब उत्पन्न होगीं। अतः यह नय वर्तमानकालकी पर्यायको ही विषय करता है। त्रिकालान्वयी द्रव्यकी विवक्षा नहीं करता है। यद्यपि एक क्षणके पर्यायसे हीं पढना, पचना, पोषणा, ध्यान करना, ग्रामान्तरको जाना आदिक अनेक लौकिक कार्य नहीं सध सकते हैं। किन्तु यहां केवल इस नयका विषय निरूपण कर दिया है लोक व्यवहार तो सम्पूर्ण नयोंके समुदायसे साधने योग्य है। " सामग्रीजनिका नैकं कारणं "।

निराकरोति यद्द्रव्यं बहिरंतश्च सर्वथा ।
स तदाभोऽभिमंतव्यः प्रतीतेरपलापतः ॥ ६२ ॥

जो बौद्धों द्वारा माना गया ज्ञान वर्तमान पर्यायमात्रको ही ग्रहण करता है और बहिरंग अन्तरंग द्रव्योंका सभी प्रकारसे खण्डन करता है वह उस ऋजुसूत्र नयका आभास (कुनय) मानना चाहिये। क्योंकि बौद्धोंके अभिप्राय अनुसार माननेपर प्रमाण प्रसिद्ध प्रतीतियोंका छिपाना हो जाता है। अर्थात्-सभी पर्यायें द्रव्यसे अन्वित होरही हैं। विना द्रव्यके परिणाम होना असम्भव है। ऋजुसूत्र भले ही केवल पर्यायोंको ही जाने, किन्तु द्रव्यका खण्डन नहीं करे।

कार्यकारणता चेति ग्राह्यग्राहकतापि वा ।
वाच्यवाचकता चेति क्वार्थसाधनदूषणं ॥ ६३ ॥

अन्वित द्रव्योंको नहीं माननेपर बौद्धोंके यहां कार्यकारण भाव अथवा ग्राह्यग्राहक भाव और वाच्यवाचक भाव भी कहां बन सकते हैं। ऐसी दशामें भला कहां स्वकीय इष्ट अर्थका साधन और परपक्षका दूषण ये विचार बन सकेंगे ? पदार्थोंको कालान्तरस्थायी माननेपर ही कार्यकारण भाव बनता है। कुलाल, मृत्तिका अनेक क्षणोंतक ठहरेंगे, तभी घटको बना सकेंगे। क्षणमात्रमें नष्ट होनेवाले तन्तु और कोरिया विचारे वस्त्रको नहीं बना सकते हैं। ऐसे ही ज्ञान और ज्ञेयमें ग्राह्यग्राहक

भाव या लेज और पानी भरे कलशमें ग्राह्यग्राहक भाव कुछ कालतक उनकी स्थिति माननेपर ही घटित हो पाता है तथा शब्द और अभिधेयमें वाच्यवाचक भाव तभी बन सकता है जब कि शब्द और पदार्थकी कुछ कालतक तो अवश्य स्थिति मानी जाय। वक्ताके मुखप्रदेशपर ही निकलकर नष्ट हो जानेवाले शब्द यदि श्रोताके कानमें ही न जायेंगे तो वक्ता शब्दका संकेत ग्रहण नहीं कर सकता है। उन्हीं शब्दोंका सादृश्य तो व्यवहारकालके शब्दोंमें लाना होगा। वक्ताके द्वारा दिखाया गया अर्थ श्रोताकी आंख उठानेतक नष्ट हो जायगा तो ऐसे क्षणिक अर्थमें वाच्यता कैसे आसकती है ? उसको तुम बौद्ध विचारो। क्षणवर्ती शब्दोंसे श्रोता कुछ भी नहीं समझ सकता है। वादी प्रतिवादियोंके कुछ कालतक ठहरनेपर ही स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण सम्भवते हैं, अन्यथा नहीं।

लोकसंवृत्तिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः।
क्वेवं सिध्येद्यदाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ॥ ६४ ॥

तथा इस प्रकार द्रव्यका अपह्नव कर क्षणिक पक्षमें लौकिक व्यवहारसत्य और परमार्थ रूपसे सत्य ये कहां सिद्ध हो सकेंगे ? जिसका कि आश्रय कर बौद्धोंके यहां बुद्धोंका धर्म उपदेश देना बन सके। अर्थात्-वास्तविक कार्यकारणभाव माने विना व्यवहारसत्य और परमार्थसत्यका निर्णय नहीं हो सकता है। वाच्यवाचक भाव माने विना सुगतका धर्मोपदेश कानी कौडीका भी नहीं है।

सामानाधिकरण्यं क्व विशेषणविशेष्यता।
साध्यसाधनभावो वा क्वाधाराधेयतापि च ॥ ६५ ॥

त्रिकालमें अन्वित रहनेवाले द्रव्यको माने विना सामानाधिकरण नहीं बन सकता है। क्योंकि दो पदार्थ एक वस्तुमें ठहरें तब उन दोमें समान अधिकरणपना होय। सूक्ष्म, असाधारण, क्षणिकविशेषोंमें समानाधिकरणपना असम्भव है। और बौद्धोंके यहां विशेषण विशेष्यपना नहीं बन सकता है। कारण कि संयोग सम्बन्धसे पुरुषमें दण्ड ठहरे, तब पीछे उनका विशेष्यविशेषण भाव माना जाय, किन्तु बौद्धोंके यहां कोई पदार्थका कहीं आधार आधेयभाव नहीं माना गया है। विशेष्यको अपने रंगसे रंग देनेवाले धर्मको विशेषण कहते हैं। ये सब कार्य क्षणमात्रमें कथमपि नहीं हो सकते तथा बौद्धोंके यहां साध्यसाधनभाव अथवा आधारआधेयभाव भी नहीं घटित हो पाते हैं। साध्यसाधनभावके लिये व्याप्तिग्रहण, पक्षवृत्तित्व ज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिस्मरण, इनकी आवश्यकता है। क्षणिकमें ये कार्य घटित नहीं होते हैं। अवयवी, साधारण, कालान्तरस्थायी, पदार्थोंमें आधारआधेयभाव सम्भवता है। क्षणिक, परमाणु, विशेषोंमें नहीं।

संयोगो विप्रयोगो वा क्रियाकारकसंस्थितिः ।
सादृश्यं वैसदृश्यं वा स्वसंतानेतरस्थितिः ॥ ६६ ॥
समुदायः क्व च प्रेत्यभावादिद्रव्यनिह्नवे ।
बंधमोक्षव्यवस्था वा सर्वथेष्टाऽप्रसिद्धितः ॥ ६७ ॥

नित्य परिणामी द्रव्यको नहीं स्वीकार करने पर बौद्धोंके यहां संयोग अथवा विभाग तथा क्रियाकारककी व्यवस्था और सादृश्य, वैसादृश्य अथवा स्वसंतान परसंतानोंकी प्रतिष्ठा एवं समुदाय और मरकर जन्म लेना स्वरूप प्रेत्यभाव या साधर्म्य आदिक कहां बन सकेंगे ? अथवा बन्ध, मोक्ष, की व्यवस्था कैसे कहां होगी ? क्योंकि सभी प्रकारोंसे इष्ट पदार्थोंकी तुम्हारे यहां प्रसिद्धि नहीं हो रही है । अर्थात्—परस्पर नहीं संसर्गको प्राप्त हो रहे स्वलक्षण क्षणिक परमाणुओंके ही माननेपर बौद्धोंके यहां संयोग नहीं बनता है, तब तो संयोगको नाशनेवाला गुण (धर्म) विभाग नहीं बन सकेगा । क्रिया, कारककी व्यवस्था तो तभी बनती है, जबकि " जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षयते, विनश्यति " ये क्रियायें कुछ कालमें हो सकें । स्वतंत्रपना, बनायागयापना, असाधकतमपना, सम्प्रदानता, अपादानता, अधिकरणता ये क्षणिकपक्षमें नहीं सम्भवते हैं । क्षणिक पक्षमें अहमिंद्रोंके समान सभी परमाणुयें न्यारे न्यारे राजा हैं । अतः यह इसका कार्य है, यह इसका कारण है, यह निर्णय करना क्षणिकपक्षमें दुर्घट है । सभी क्षणिक परिणामोंको सर्वथा भिन्न माननेपर सादृश्यका असम्भव है । वैसादृश्यमें भी कुछ मिलना हो जानेकी आवश्यकता है, तभी विसदृशोंका भाववैसादृश्य सम्बन्ध घटित होता है । भैंसा और बैलमें पशुपन, जीवपन या द्रव्यत्वसे सादृश्य होनेपर ही वैसादृश्य शोभता है । लक्ष्मण और रावणमें प्रतियोगित्व (शत्रुभाव) सम्बन्ध था । अपने त्रिकालवर्त्ती परिणामोंकी सन्तान और अन्य जीवोंकी सन्तानें तो अन्वेता द्रव्यके माननेपर ही घटित होती है, अन्यथा नहीं । और समुदाय तो अनेक क्षणोंका कथंचित् एकीकरण करनेपर ही बनता है दैशिक समुदाय और कालिक समुदाय तो परिणामोंका कथंचित् एकीभाव माननेपर सम्भवता है तथा मरके जन्म तो वही ले सकेगा जो यहांसे वहांतक अन्वित रहेगा । मरा तो कोई क्षण और किसी अन्य क्षणिक परिणामने जन्म ले लिया तो उसका प्रेत्यभाव नहीं माना जा सकता है । ऐसी दशामें पुण्य, पापके, भोग भी उसको नहीं मिल सकेंगे । इसका अष्टसहस्रीमें अच्छा विचार किया गया है । क्त्वा प्रत्ययवाले वाक्य दो आदि क्रियाओंमें व्यापनेवाले अन्वयी द्रव्यको वांछते हैं । तथा सधर्मापन भी क्षणिक मतमें नहीं प्रसिद्ध होता है । सर्वथा विभिन्न हो रहे विशेष पदार्थोंमें समानता नहीं सम्भवती है । इसी प्रकार क्षणिक पक्षमें बन्ध, मोक्ष तत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती है । सर्वथा क्षणिकचित्त भला किससे बंध सकेगा ? नाशस्वरूप मोक्षको स्वाभाविक माननेपर सम्यक्त्व,

संज्ञा, संज्ञी, वाक्कार्य, कर्म, आदिक आठ हेतुओंसे मोक्ष मानना विरुद्ध पडता है । जो ही बंधा था उसीकी ही मोक्ष नहीं हो सकी । अतः बौद्धोंके यहां सभी प्रकारोंसे इष्ट पदार्थोकी प्रसिद्धि नहीं हो पाती है । हां, वास्तविक द्रव्य और पर्यायोंके मान लेने पर उक्त सभी व्यवस्था ठीक बन जाती है।

क्षणध्वंसिन एव बहिरंतश्च भावाः क्षणद्वयस्थाण्णुत्वेपि तेषां सर्वदा नाशानुपपत्तेः कौटस्थप्रसंगात् क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधादवस्तुतापत्तेः । इति यो द्रव्यं निराकरोति सर्वथा सोत्रर्जुसूत्राभासो हि मन्तव्यः प्रतीत्यतिक्रमात् । प्रत्यभिज्ञानप्रतीतिर्हि बहिरंतश्चैकं द्रव्यं पूर्वोत्तरपरिणामवर्ति साधयंती बाधविधुरा प्रसाधितैव पुरस्तात् । तस्मिन् सति प्रतिक्षणविनाशस्येष्टत्वान्न विनाशानुपपत्तिर्न भावानां कौटस्थापत्तिः यतः सर्वथार्थक्रिया विरोधात् अवस्तुता स्यात् ।

बौद्धोंका मन्तव्य है कि सम्पूर्ण बहिरंग अन्तरंग पदार्थ एक क्षण ही ठहरकर द्वितीय क्षणमें ध्वंसको प्राप्त हो जानेवाले हैं । यदि पदार्थोंको एक क्षणसे अधिक दो क्षण भी स्थितिशील मान लिया जायगा तो सदा उन पदार्थोंका नाश हो जाना नहीं बन सकेगा, यानी कभी उनका नाश नहीं हो सकेगा । जो दो क्षण ठहर जायगा वह तीसरे आदि क्षणोंमें भी टिकेगा । ऐसी दशा हो जानेसे पदार्थोंके कूटस्थनित्यपनेका प्रसंग आवेगा । कूटस्थ पक्ष अनुसार क्रम और अक्रमसे अर्थक्रिया होनेका विरोध है । अतः अवस्तुपनका प्रसंग आजायगा । अर्थात्-" द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वं क्षणिकत्वं " जिसकी दूसरे क्षणमें मृत्यु हो जाती है, वह क्षणिक है । सभी सद्भूत पदार्थ एक क्षणतक ही जीवित हो रहे हैं । दूसरे क्षणमें उनका समूलचूल नाश हो जाता है । यदि दूसरे क्षणमें पदार्थका जीवन मान लिया जाय तो तीसरे, चौथे, पांचवें, क्षण आदि भी दूसरे, तीसरे, चौथे आदि क्षणोंकी अपेक्षा दूसरे क्षण हैं । अतः अनन्तकालतक पदार्थ स्थित रहा आवेगा । कभी उसका नाश नहीं हो सकेगा । जैसे कि "आज नगद कल उधार" देनेवालेको कभी उधार देनेका अवसर नहीं प्राप्त होता है । कूटस्थ पदार्थमें अर्थक्रिया नहीं होनेसे वस्तुत्वकी व्यवस्था नहीं है । अतः पहिले पीछे कुछ भी अन्वय नहीं रखते हुये सभी पदार्थ क्षणिक हैं । इस प्रकार कह रहा जो सौत्रान्तिक बौद्ध त्रिकालान्वयी द्रव्यका खण्डन कर रहा है । आचार्य कहते हैं कि उसका वह ज्ञान सभी प्रकारोंसे ऋजुसूत्र नयाभास नियमसे मानना चाहिये । क्योंकि बौद्धोंके मन्तव्य अनुसार पदार्थोंको क्षणिक माननेपर प्रामाणिक प्रतीतियोंका अतिक्रमण हो जाता है । कारण कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाणस्वरूप प्रतीति ही बाधक प्रमाणोंसे रहित होती हुई अपने पहिले पीछे कालके पर्यायोंमें वर्त रहे बहिरंग अन्तरंग एक द्रव्यको सधा रही हमने पहिले प्रकरणोंमें अच्छे प्रकार सिद्ध करा ही दी है । भावार्थ-स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायोंमें मिट्टीके समान अनेक बहिर्भूत पर्यायोंमें एक पुद्गल द्रव्यपना व्यवस्थित है । तथा आगे पीछे कालोंमें होनेवाले अनेक ज्ञान सुख इच्छा आदि पर्यायोंमें एक

अन्तरंग आत्मा द्रव्य पुष्ट रहा है। इस नित्यद्रव्यको जाननेवाला बाधारहित प्रत्यभिज्ञान प्रमाण कहा जा चुका है। हां, द्रव्यार्थिक नय अनुसार उस अन्वित नित्य द्रव्यको मान चुकनेपर तो पर्यायार्थिक नयसे भावोंका प्रतिक्षण विनाश होना हमें अभीष्ट है। अतः विनाशकी असिद्धि नहीं हुई, विनाशके मान लेनेपर पदार्थोंके सर्वथा कूटस्थपनका प्रसंग नहीं आ पाता है, जिससे कि कूटस्थ पदार्थमें सभी प्रकारोंसे अर्थक्रिया हो जानेका विरोध हो जानेसे अवस्तुपना आ जाता। अतः द्रव्यको नहीं निवारते हुये क्षणिक पर्यायोंको विषय करनेवाला ऋजुसूत्र नय है और सर्वथा निरन्वय क्षणिक परिणामोंको जाननेवाला ऋजुसूत्र नयाभास है।

योपि च मन्यते परमार्थतः कार्यकारणभावस्याभावान्न ग्राह्यग्राहकभावो वाच्यवाचकभावो वा यतो बहिरर्थः सिध्येत्। विज्ञानमात्रं तु सर्वमिदं त्रैधातुकमिति, सोपि चर्जुसूत्राभासः स्वपरपक्षसाधनदूषणाभावप्रसंगात्।

जो भी योगाचार बौद्ध यों मान रहा है कि वास्तविक रूपसे विचारा जाय तो न कोई किसीका कारण है और कोई किसीका कार्य भी नहीं है। हमारे भाई सौत्रान्तिकके यहां विषयको कारण और ज्ञानको कार्य माना गया है। किन्तु कार्यकारणभावके नहीं बननेसे ग्राह्यग्राहक भाव भी हम शुद्धसम्वेदनाद्वैतवादियोंके यहां नहीं बनता है और वाच्यवाचकभाव भी हमारे यहां नहीं माना गया है। जिससे कि बहिरंग अर्थोंकी सिद्धि हो सके। यह सम्पूर्ण जगत् तो केवल विज्ञान स्वरूप है। कार्यकारणभाव या ग्राह्यग्राहकभाव अथवा वाच्यवाचकभाव इन तीनों धातुओंका समुदाय विज्ञानमय है। शुद्ध विज्ञानके अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकार मान रहे योगाचारका वह विचार भी ऋजुसूत्र नयाभास है। क्योंकि कार्यकारणभाव आदिको वास्तविक माने विना स्वपक्षके साधन और परपक्षके दूषण देनेके अभावका प्रसंग हो जावेगा। ज्ञेयज्ञायक माननेपर और वाच्यवाचक माननेपर स्वपक्षसिद्धि और परपक्षदूषणको वचन द्वारा समझा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

लोकसंवृत्त्या स्वपक्षस्य साधनात् परपक्षस्य बाधनात् दूषणाददोष इति चेन्न, लोकसंवृतिसत्यस्य परमार्थसत्यस्य च प्रमाणतोसिद्धेः तदाश्रयणेनापि बुद्धानामधर्मदेशनादूषणद्वारेण धर्मदेशनानुपपत्तेः।

कल्पित लोकव्यवहारसे स्वपक्षका साधन और परपक्षका बाधन हो जानेसे दूषण दे दिया जाता है। अतः कोई दोष नहीं है। अब आचार्य कहते हैं कि इन विज्ञानाद्वैतवादियोंको यह तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि लौकिक व्यवहारसे सत्य हो रहे और परमार्थरूपसे सत्य हो रहे पदार्थकी तुम्हारे यहां प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सकी है। अतः उस लोकव्यवहारका आश्रय करनेसे भी बुद्ध भगवानोंका अधर्म उपदेशके दूषणद्वारा धर्म उपदेश देना नहीं बन सकता है। अर्थात्—धर्मका

उपदेश तभी सिद्ध हो पाता है, जब कि अधर्मके उपदेशमें दूषण उठाये जा सकें। ये सब वाच्य-वाचक भाव माननेपर और लोकव्यवहारको सत्य माननेपर सध सकता है। अन्यथा नहीं। और यों मान लेनेसे तो योगाचारके यहां द्वैतपनका प्रसंग आया।

एतेन चित्राद्वैतं, संवेदनाद्वैतं, क्षणिकमित्यपि मननमृजुसूत्राभासतामायातीत्युक्तं वेदितव्यं।

इस उक्त कथनसे बौद्धोंका चित्राद्वैत अथवा सम्वेदनाद्वैतको क्षणिक मानना यह भी ऋजुसूत्राभासपनेको प्राप्त हो जाता है, यह कह दिया गया समझ लेना चाहिये। अर्थात्–ज्ञानके नीलाकार, पीताकार, हरित आकार, क्षणिकत्व आकार, विशेष आकार, इन आकारोंका पृथक् विवेचन नहीं किया जा सकता है। अतः स्वयं रुचती हुयी चित्रताको धारनेवाला यह चित्राद्वैत ज्ञान है, ऐसा वाद भी कुनय है। ग्राह्य, ग्राहक, सम्वित्ति इन तीनों विषयोंसे रहित माना जा रहा शुद्ध सम्वेदन अद्वैत भी ऋजुसूत्रका कुनय जान लेना चाहिये।

किं च सामानाधिकरण्याभावो द्रव्यस्योभयाधारभूतस्य निह्नवात्। तथा च कुतः शब्दादेर्विशेष्यता क्षणिकत्वकृतकत्वादेः साध्यसाधनधर्मकलापस्य च तद्विशेषणता सिध्येत् तदसिद्धौ च न साध्यसाधनभावः साधनस्य पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वानुपपत्तेः। कल्पनारोपितस्य साध्यसाधनभावस्येष्टेरदोष इति चेन्न, बहिरर्थत्वकल्पनायाः साध्यसाधनधर्माधारानुपपत्तेः, क्वचिदप्याधाराधेयतायाः संभवाभावात्।

क्षणिकवादी बौद्धोंके यहां दूसरे ये दोष भी आते हैं कि क्षणिक परमाणुरूप पक्षमें समान अधिकरणपना नहीं बनता है। क्योंकि दो परिणामोंके आधारभूत समानद्रव्यको स्वीकार नहीं किया गया है और तैसा होनेपर शब्द आदिको विशेष्यपना नहीं सिद्ध हो सकेगा। तथा क्षणिकत्व आदिक साध्य और कृतकत्व आदिक साधनभूत धर्मोंके समुदायको उन शद्ब आदि पक्षका विशेषणपना नहीं बन पावेगा और जब विशेष्यविशेषण भाव सिद्ध नहीं हो सका तो क्षणिकत्व और कृतकत्वमें साध्य, हेतु, पना नहीं बन सका। ऐसी दशामें हेतुके धर्म माने गये पक्षवृत्तित्व और सपक्षसत्त्व नहीं सिद्ध हो पाते हैं। अर्थात्–शद्ब (पक्ष) क्षणिक है (साध्य) कृतक होनेसे (हेतु) यहां अनुमान प्रयोगमें पक्ष विशेष्य होता है। साध्य और हेतु उसमें विशेषण होकर रहते हैं। हेतुमें पक्षवृत्तित्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तत्व ये तीन धर्म रहते हैं तथा पक्षमें रहनेकी अपेक्षा हेतु और साध्यका सामानाधिकरण्य है। अतः हेतुमें ठहरनेकी अपेक्षा पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति इन तीनों धर्मोंमें समानअधिकरणपना है। कालान्तरस्थायी सामान्य पदार्थ या द्रव्यके माननेपर ही समानाधिकरणपना बनता है, अन्यथा नहीं। यदि बौद्ध यों कहें कि कल्पनासे आरोप कर लिया गया साध्यसाधन भाव हमको अभीष्ट है, अतः कोई दोष नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं

कहना। क्योंकि बहिरंग अर्थपनेकी कल्पनाको साध्यधर्म और साधनधर्मका आधारपना नहीं बन सकता है। तुम्हारे यहां कहीं भी तो वास्तविक रूपसे आधार, आधेय, भावकी सम्भावना नहीं मानी गयी है। कचित् मुख्यरूपसे सिद्ध हो रहे पदार्थका अन्यत्र उपचार कर लिया जा सकता है। सर्वथा कल्पितपदार्थ तो किसीका आधार नहीं हो सकता है। लोकमें पतनका प्रतिबन्ध करनेवाले वस्तुभूत पदार्थको किसीका आधार माना गया है। कल्पित थंभा सतखनी हवेलीके बोझको नहीं डाट सकता है। अतः क्षणिक पक्षमें आधार आधेयभाव नहीं बना।

किं च, संयोगविभागाभावो द्रव्याभावात् क्रियाविरहश्च ततो न कारकव्यवस्था यतः किंचित्परमार्थतोऽर्थक्रियाकारि वस्तु स्यात्। सदृशेतरपरिणामाभावश्च परिणामिनो द्रव्यस्यापह्नवात्। ततः स्वपरसंतानव्यवस्थितिविरोधः सदृशेतरकार्यकारणानामत्यंतमसंभवात्। समुदायायोगश्च, समुदायिनो द्रव्यस्यानेकस्यासमुदायावस्थापरित्यागपूर्वकसमुदायावस्थाद्युपादानस्यापह्नवात्। तत एव न प्रेत्यभावः शुभाशुभानुष्ठानं तत्फलं च पुण्यं पापं बंधो वा व्यवतिष्ठते यतो संसारमोक्षव्यवस्था तत्र स्यात् सर्वथापीष्टस्यामसिद्धेः।

और भी यह बात है कि बौद्धोंके यहां द्रव्य नहीं माननेसे संयोग और विभागका अभाव हो जाता है तथा क्षणिक पक्षमें क्रियाका विरह है, तिस कारणसे क्रियाकी अपेक्षा होनेवाले कारकोंकी व्यवस्था नहीं हो पाती है। जिससे कि कोई वस्तु वास्तविकरूपसे अर्थक्रियाको करनेवाली हो जाती। तथा बौद्धोंके यहां परिणामी द्रव्यका अपह्नव (छिपाना) करनेसे सदृश परिणाम (सादृश्य) और विसदृश परिणाम (वैसादृश्य) का अभाव हो जाता है और ऐसा हो जानेसे अपने पूर्व अपर क्षणोंके संतानकी व्यवस्थाका और दूसरोंके चित्तोंके सन्तानकी व्यवस्था कर देनेका विरोध आता है। क्योंकि सदृश कार्य कारणों और विसदृश कार्यकारणोंका तुम्हारे यहां अत्यन्त असम्भव है। ऐसी दशामें सन्तानोंका सांकर्य हो जानेसे तुम स्वयं अपने डीकमें स्थिर नहीं रह सकते हो। तथा क्षणिक पक्षमें समुदाय नहीं बन सकता है। क्योंकि अनेकमें स्थिर हो रहे और असमुदाय अवस्थाका परित्यागपूर्वक समुदाय अवस्थाको ग्रहण कर रहे एक समुदायी द्रव्यका जान बूझकर छिपाव किया गया है। तिस ही कारण यानी एक अन्वेता द्रव्यके नहीं स्वीकार करनेसे बौद्धोंके यहां मर कर जन्म लेना या शुभ, अशुभ, कर्मोंका अनुष्ठान करना अथवा उन शुभाशुभ कर्मोंका फल पुण्य, पाप, प्राप्त होना, तथैव उन पुण्य, पापका, आत्माके साथ बन्ध हो जाना आदिकी व्यवस्था नहीं हो पाती है, जिससे कि उस क्षणिक पक्षमें संसार और मोक्षकी व्यवस्था बन सके। सभी प्रकारोंसे इष्ट हो रहे पदार्थोंकी प्रसिद्धि नहीं हो सकी है। अतः बौद्धोंके विचार कुनय हैं।

संवृत्या हि नेष्टस्य सिद्धिः संवृतेर्मृषात्वात्। नापि परमार्थतः पारमार्थिकैकद्रव्यसिद्धिप्रसंगात् तदभावे तदनुपपत्तेरिति परीक्षितमसकृद्विद्यानंदिमहोदये।

व्यावहारिक कल्पना करके तो तुम बौद्धोंके यहांइष्ट पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि संवृतिको झूठा माना गया है। और वास्तविकरूपसे भी तुम्हारे यहां इष्ट तत्त्वोंकी सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि यों तो परमार्थभूत हो रहे एक अन्वित त्रिकालवर्ती द्रव्यकी सिद्धि हो जानेका प्रसंग हो जावेगा। उस परिणामी अन्वेता द्रव्यको नहीं माननेपर तो वास्तविक इष्ट हो रहे धर्मोपदेश, साध्यसाधनभाव, प्रेत्यभाव, बन्ध, मोक्ष, आदि इष्टपदार्थोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। इस सिद्धान्तकी हम हमारे बनाये हुये " विद्यानन्दमहोदय" नामक ग्रन्थमें कई बार परीक्षा कर चुके हैं। विशेष जिज्ञासुओंको उस ग्रन्थका अध्ययन कर अपनी तृप्ति कर लेनी चाहिये। यहां अधिक विस्तार नहीं किया जाता है।

शब्दनयमुपवर्णयति।

चार अर्थ नयोंका वर्णन कर अब श्री विद्यानन्द स्वामी शब्दनयका सुमधुर वर्णन करते हैं।

कालादिभेदतोर्थस्य भेदं यः प्रतिपादयेत्।
सोत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृतः ॥ ६८ ॥

जो नय काल, कारक, लिंग आदिके भेदसे अर्थके भेदको समझा देता है, वह नय यहां शब्दकी प्रधानतासे शब्दनय कह दिया गया है। अर्थात्–शब्दके वाच्य अर्थपर दृष्टि करानेकी अपेक्षा यह नय शब्दनय है। पहिलेके चार नयोंकी दृष्टि शब्दके वाच्य अर्थका लक्ष्य रखते हुये नहीं थी। " शब्दप्रधानो नयः शब्दनयः " " अर्थप्रधानो नयः अर्थनयः "।

कालकारकलिंगसंख्यासाधनोपग्रहभेदाद्भिन्नमर्थं शपतीति शब्दो नयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृतः। यस्तु व्यवहारनयः कालादिभेदेप्यभिन्नमर्थमभिप्रैति तमनूद्य दूषयन्नाह।

भूत, भविष्यत्, वर्तमान, काल या कर्म, कर्ता, कारण, आदि कारक अथवा स्त्री, पुम्, नपुंसकलिंग, तथा एक वचन, द्विवचन, बहुवचन संख्या और अस्मद् युष्मद् अन्य पुरुषके अनुसार उत्तम, मध्यम, प्रथम, पुरुष संज्ञाओंका साधन एवं प्र, परा, उप, सम् आदि उपसर्ग, इस प्रकार इन काल आदिके भेदोंसे जो नय भिन्न अर्थको चिल्लाता हुआ समझा रहा है, यों यह शब्दनयका निरुक्तिसे अर्थ लब्ध हो जाता है। शब्दकी प्रधानतासे शब्दनय कहा गया है। और इसके पूर्वमें जो व्यवहारनय कहा गया है, वह तो काल, आदिके भेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको समझानेका अभिप्राय रखता है। उस व्यवहार नयको अनुवाद कर श्रीविद्यानन्द स्वामी दूषित कराते हुये स्पष्ट कथन करते हैं।

विश्वदृश्वास्य जनिता सूनुरित्येकमादृताः।
पदार्थं कालभेदेपि व्यवहारानुरोधतः ॥ ६९ ॥

करोति क्रियते पुष्यस्तारकाऽऽपोंऽभ इत्यपि ।
कारकव्यक्तिसंख्यानां भेदेपि च परे जनाः ॥ ७० ॥
एहि मन्ये रथेनेत्यादिकसाधनभिद्यपि ।
संतिष्ठेतावतिष्ठेतेत्याद्युपग्रहभेदने ॥ ७१ ॥
तन्न श्रेयः परीक्षायामिति शद्धः प्रकाशयेत् ।
कालादिभेदनेप्यर्थाभेदनेतिप्रसंगतः ॥ ७२ ॥

विश्वं दृष्टवान् इति विश्वदृश्वा, जो सम्पूर्ण जगत्को पहिले देख चुका है, वह विश्वदृश्वा कहा जाता है। जनिता यह " जनी प्रादुर्भावे " धातुके लुट् लकारका भविष्यकालका व्यंजक रूप है। भूतकालसम्बन्धी विश्वदृश्वा और भविष्यत्कालसम्बन्धी जनिताका समानाधिकरण होकर अन्वय हो जाना विरुद्ध है। किन्तु व्यवहारके अनुसार कालभेद होनेपर भी इस सिद्धार्थ राजाके " विश्वको देख चुका पुत्र होगा " इस प्रकार एक ही पदार्थका सादर ग्रहण किया जा चुका है। भावार्थ—व्यवहारनय विश्वदृश्वा और जनिता पदोंका सामानाधिकरण्य कर एक अर्थ जोड देती है। इसमें विशिष्ट चमत्कारके अर्थको निकालना व्यवहारनयको अभिप्रेत नहीं है। जो ही विश्वं दृक्ष्यतिका अर्थ है, वही विश्वदृश्वाका अर्थ घटित हो जाता है। न्यारे न्यारे कालोंका विशेषण लग जानेसे अर्थमें भेद नहीं हो जाता है। तथा " देवदत्तः कटं करोति " देवदत्त चटाईको बुनता है और " देवदत्तेन कटः क्रियते " देवदत्त करके चटाई बुनी जा रही है, यहां स्वतंत्रता और पराधीनताका भेद होते हुये भी व्यवहारनय उक्त दोनों वाक्योंका एक ही अर्थ माने हुये है। कर्ताकारक और कर्मकारकके भेदसे अर्थका भेद नहीं हो जाता है। तथा एक व्यक्ति पुष्यनक्षत्र, और तारका अनेक व्यक्ति, इस प्रकार एक अनेक या पुंलिंग, स्त्रीलिंगका, भेद होनेपर भी दूसरे मनुष्य यहां अर्थभेद नहीं मानते हैं। ऐसे ही " आप " यह शद्ध बहुवचन है, स्त्रीलिंग है और " अम्भः " शद्ध एकवचन है नपुंसकलिंग है। ये दोनों शब्द पानीको कहते हैं। यहां भी लिंग और संख्याके भेद होनेपर भी अनेक मनुष्य व्यवहार नयके अनुसार अर्थभेदको नहीं मानते हैं। तथा " ये बालक इधर आओ " तुम यह समझते होंगे कि मैं रथपर चढकर जाऊंगा, किन्तु अब तुम समझो कि मैं नहीं जा सकूंगा। तुम्हारा पिता चला गया। (तेरा बाप भी कभी गया था !), ऐसे उपहासके प्रकरणपर मध्यमपुरुषके स्थानपर उत्तमपुरुष और उत्तमपुरुषके स्थानपर मध्यमपुरुष हो जाता है। मध्यमपुरुष " मन्यसे के स्थान पर उत्तमपुरुष " मन्ये " हो गया है और यास्यामि के स्थानपर यास्यसि हो गया है। यहां साधनका भेद होनेपर भी व्यवहार-

नय की अपेक्षा कोई अर्थभेद नहीं माना गया है। " मन्यसे, यास्यामि " का जो अर्थ निकलता है, वही " मन्ये " " यास्यसि " का अर्थ है। किन्तु शब्दनयके अनुसार दूसरेके मानसिक विचारोंका अनुवाद करनेमें या हंसीमें ऐसा परिवर्तन हुआ है। व्याकरणमें युष्मत्, अस्मत् का ही बदलना कहा है, प्रथम पुरुषका भी सम्भव जाता है। देखिये, एक मित्र दूसरेसे कह रहा है कि वह तीसरा देवदत्त मनमें विचारता होगा कि मैं रथमें बैठ कर जाऊंगा, किन्तु नहीं जायगा उसका पिता गया। ' एतु मन्ये रथेन यास्यति यातस्ते पिता ' यहां मन्यतेके स्थानपर मन्ये और यास्यामिके बदले यास्यति हो सकता है। किन्तु इसका निषेध कर दिया है। तथा " समवप्रविभ्यः स्थः " इस सूत्रसे आत्मने पद करनेपर संतिष्ठेत, अवतिष्ठेत, प्रतिष्ठेत, या संहरति, विहरति, परिहरति, आहरति, यहां उपसर्गोंके भेद होनेपर भी स्थूलबुद्धि व्यवहारियोंके यहां एक ही अर्थ समझा जा रहा है। " उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते " इस नियमको माननेके लिये वे बाध्य नहीं होना चाहते हैं। किन्तु ये उक्त प्रकार उनके मन्तव्य परीक्षा करनेपर श्रेष्ठ नहीं ठहर सकेंगे। इस प्रकार शब्दनय प्रकाशित कर देवेगा। क्योंकि काल, कारक आदिके भेद होनेपर भी यदि अर्थका भेद नहीं माना जायगा तो अतिप्रसंग हो जावेगा। तू और तुम या आहार और परिहार, पठ्यते, पठामि इत्यादिके प्रसिद्ध हो रहे भिन्न भिन्न अर्थोंके एक हो जानेसे जगत्में अनर्थ हो जावेगा। समर्थ भी व्यर्थ हो जावेगा।

ये हि वैयाकरणव्यवहारनयानुरोधेन 'धातुसंबंधे प्रत्यया' इति सूत्रमारभ्य विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता भावि कृत्यमासीदित्यत्र कालभेदेप्येकपदार्थमादृता यो विश्वं द्रक्ष्यति सोस्य पुत्रो जनितेति भविष्यत्कालेनातीतकालस्याभेदोभिमतः तथा व्यवहारदर्शनादिति। तन्न श्रेयः परीक्षायां मूलक्षतेः कालभेदेप्यर्थस्याभेदेऽतिप्रसंगात् रावणशंखचक्रवर्तिनोरप्यतीतानागतकालयोरेकत्वापत्तेः। आसीद्रावणो राजा शंखचक्रवर्ती भविष्यतीति शब्दयोर्भिन्नविषयत्वान्नैकार्थतेति चेत्, विश्वदृश्वा जनितेत्यनयोरपि मा भूत् तत एव। न हि विश्वं दृष्टवानिति विश्वदृश्वेतिशब्दस्य योर्थोतीतकालस्य जनितेति शब्दस्यानागतकालः। पुत्रस्य भाविनोतीतत्वविरोधात्। अतीतकालस्याप्यनागतत्वाध्यारोपादेकार्थताभिप्रेतेति चेत्, तर्हि न परमार्थतः कालभेदेप्यभिन्नार्थव्यवस्था।

जो भी कोई पण्डित व्याकरणशास्त्र जाननेवालोंके व्यवहारकी नीतिके अनुरोधसे यों अर्थ मान बैठे हैं, लकारार्थ प्रक्रियाके " धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः " धातुके अर्थोंके सम्बन्धमें जिस कालमें जो प्रत्यय पूर्व सूत्रोंमें कहे गये हैं, वे प्रत्यय उन कालोंसे अन्य कालोंमें भी हो जाते हैं, इस सूत्रका आरम्भ कर विश्वको देख चुकनेवाला पुत्र इसके होगा या होनहार जो कर्तव्य होनेवाला था वह होगया, चार दिन पीछे आनेवाली चतुर्दशी एक तिथिका क्षय हो जानेसे तीन दिन

पीछे ही आगई, ऐसे इन प्रयोगोंमें कालभेद होनेपर भी एक ही वाच्यार्थका वे पण्डित आदर कर मान बैठे हैं। जो सम्पूर्ण जगत्को देखेगा वह प्रसिद्ध पुत्र इस (महासेन राजा) के होगा, इस प्रकार भविष्यमें होनेवाले कालके साथ अतीतकालका अभेद मान लिया गया है। क्योंकि स्थूल बुद्धिवालोंकी मातृभाषामें तिस प्रकारका व्यवहार हो रहा देखा जाता है। प्रभुने किसी भृत्यको द्वितीयाके दिन आज्ञा दी की एकादशीको तुम दूसरे गांवको जाना, वहां डाकुओंका प्रबन्ध करना है। अपने कुटुम्बमें ही रहते हुये भृत्यको ग्रामान्तरको जाना अभीष्ट नहीं था। वह नौमीको विचारता है कि अरे, बहुत शीघ्र परसों हि एकादशी हो गई खेद है। " श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगद् जगन्निवासो वसुदेव सद्मनि। वसन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भांगभुवं मुनिं हरिः" इत्यादि स्थलोंपर वसन् (वर्तमानकाल) और ददर्श (भूतकाल) के भेद होनेपर भी एक अर्थकी संगति कर दी गयी है। अब शब्दनयका आश्रय कर आचार्य महाराज कहते हैं कि परीक्षा करनेपर वह वैयाकरणोंका मन्तव्य श्रेष्ठ नहीं ठहरता है, इसमें मूलसिद्धान्तकी क्षति हो जाती है। यदि कालका भेद होनेपर भी अर्थका भेद नहीं माना जावेगा तो अतिप्रसंग दोष होगा। अतीतकालसम्बन्धी रावण और भविष्य कालमें होनेवाले शंख नामक चक्रवर्तीका एकपना प्राप्त हो जावेगा। अर्थात्–रावण और चक्रवर्ती दोनों एक व्यक्ति बन बैठेंगे। कोई इस प्रसंगका यों वारण करना चाहता है कि रावण राजा पूर्वकालमें हुआ था और शंखनामक चक्रवर्ती भविष्यकालमें होगा। इस प्रकार दो शब्दोंकी भिन्न भिन्न अर्थोंमें विषयता है। इस कारण दोनों राजा एक व्यक्तिरूप अर्थ नहीं पाते हैं। आचार्य कहते हैं कि यों कहनेपर तो प्रकरणमें विश्वदृश्वा (भूतकाल) और जनिता (भविष्यकाल) इन दो शब्दोंका भी तिस ही कारण यानीं भिन्न भिन्न अर्थको विषय कर देनेसे ही एक अर्थपना नहीं होओ। कारण कि देखो जो सबको देख चुका है, ऐसे इस विश्वदृश्वा शब्दका जो अर्थ भूतकाल सम्बन्धी पुरुष होता है, वह भविष्यकाल सम्बन्धी उत्पन्न होवेगा, इस जनिता शब्दका अर्थ नहीं है। भविष्यकालमें होनेवाले पुत्रको अतीतकाल सम्बन्धीपनका विरोध है। जैसे कि स्वर्ग और पातालके कुलावे नहीं मिलाये जा सकते हैं, उसी प्रकार कोई भी पुत्र एक टांग चिर अतीतकाल की नावपर और दूसरी टांगको भविष्यकालकी नावपर धरकर नहीं जन्मता है। फिर भी यदि कोई यों कहें कि भूतकालमें भविष्यकालपनेका अध्यारोप करनेसे दोनों शब्दोंका एक अर्थ अभीष्ट कर लिया गया है, तब तो हम कहेंगे कि कालभेद होनेपर भी वास्तविकरूपसे अर्थोंके अभेदकी व्यवस्था नहीं हो सकी। बस, यही तो शब्दनयद्वारा हमें समझाना है। विश्वं द्रक्ष्यति सोऽस्य पुत्रो जनिता इसके सरल अर्थसे विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता इसका अर्थ चमत्कारक है। "तुम पढोगे और मैं तुमको देखूंगा" इसकी अपेक्षा पढ चुके हुये तुमको मैं देखूंगा, इसका अर्थ विलक्षण प्रतीत हो रहा है। थोडेसे चमत्कारसे ही सालङ्कारता आ जाती है। साहित्यकलामें और क्या रक्खा है ? प्रकृष्ट विद्वान् तो "शास्त्रेषु भ्रष्टाः कवयो भवन्ति" ऐसा कहा करते हैं।

तथा करोति क्रियते इति कारकयोः कर्तृकर्मणोर्भेदेप्यभिन्नमर्थंत एवाद्रियंते स एव करोति किंचित् स एव क्रियते केनचिदिति प्रतीतेरिति । तदपि न श्रेयः परीक्षायां । देवदत्तः कटं करोतीत्यत्रापि कर्तृकर्मणोर्देवदत्तकटयोरभेदप्रसंगात् ।

तिस ही प्रकार वे वैयाकरण जन " करोति " इस दशगणीके प्रयोगकी संगतिको करनेवाले कर्ता कारक और किया जाय जो इस प्रकार कर्म प्रक्रियाके पद की संगति रखनेवाले कर्मकारक इन दो कारकोंका भेद होनेपर भी अभिन्न अर्थका आदरपूर्वक ग्रहण कर रहे हैं । देवदत्त किसी अर्थको कर रहा है, इसका जो हि अर्थ है और किसी देवदत्त करके कुछ किया जाता है, इसका भी वही अर्थ है, ऐसी प्रतीति हो रही है । इस प्रकार वैयाकरणोंके कहनेपर आचार्य कहते हैं कि परीक्षा करने पर वह भी श्रेष्ठ नहीं ठहर पायेगा । क्योंकि यों कर्ता और कर्मके अभेद माननेपर तो देवदत्त चटाईको रचता है । इस स्थलमें भी कर्ता हो रहे देवदत्त और कर्म बन रहे चटाईके अभेद हो जानेका प्रसंग हो जावेगा । अतः स्वातंत्र्य या परतंत्रताको पुष्ट करते हुये यहां भिन्न भिन्न अर्थका मानना आवश्यक है ।

तथा पुष्यस्तारके (का इ)त्यत्र व्यक्तिभेदेपि तत्कृतार्थमेकमाद्रियंते,लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति । तदपि न श्रेयः, पटकुटीत्यत्रापि पटकुट्योरेकत्वप्रसंगात् तल्लिंगभेदाविशेषात् ।

तिसी प्रकार वे वैयाकरण पुष्यनक्षत्र तारा है, यहां व्यक्तियां या लिंगके भेद होनेपर भी उनके द्वारा किये गये एक ही अर्थका आदर कर रहे हैं । कई ताराओंका मिल कर बना एक पुष्यनक्षत्र माना गया है । तथा पुष्य शद्ब पुल्लिंग है, और तारका शद्ब स्त्रीलिंग है । फिर भी दोनोंका अर्थ एक है । उन व्याकरणवेत्ताओंका अनुभव है कि लिंगका विवेचन कराना शिक्षा देने योग्य नहीं है । किसी शद्बके लिंगका नियत करना लोकके आश्रय है । लोकमें अग्नि शद्ब स्त्रीलिंग कहा जाता है । किन्तु शास्त्रमें पुल्लिंग है,विधि शद्बका भी यही हाल है । इंग्रेजीमें चंद्रमाको स्त्रीलिंग माना गया है । एक ही स्त्रीको कहनेवाले दार स्त्री, कलत्र, शद्ब न्यारे लिंगोंको धार रहे हैं । आयुधविशेषको कहनेवाला शक्ति शद्ब स्त्रीलिंग है । अस्त्र शब्द नपुंसकलिंग है । अब आचार्य कहते हैं कि वह वैयाकरणका कथन भी श्रेष्ठ नहीं है । क्योंकि व्यक्ति या लिंगका भेद होनेपर भी यदि अर्थमें भेद नहीं माना जायगा तो पुल्लिंग पट और स्त्रीलिंग चटिया या झोंपडी यहां भी पट और कुटीके एक हो जानेका प्रसंग हो जायगा । क्योंकि उन शब्दोंके लिंगका भेद तो अन्तररहित है, यानी जैसा पुष्य और तारकामें लिंगका भेद है, वैसा ही पट और कुटीमें लिंगका भेद है । फिर इनका एक अर्थ क्यों नहीं मान लिया जावे ।

तथापोंभ इत्यत्र संख्याभेदेप्येकमर्थं जलाख्यमादृताः संख्याभेदस्याभेदकत्वात् गुर्वादिवदिति । तदपि न श्रेयः परीक्षायां । घटस्तंतव इत्यत्रापि तथाभावानुषंगात् संख्याभेदाविशेषात् ।

तिसी प्रकार वे वैयाकरण " आपः " इस स्त्रीलिंग बहुवचन शब्द और " अम्भः " इस नपुंसकलिंग एक वचन शब्द यहां संख्या भेद होनेपर एक जल नामक अर्थका आदरण कर बैठ गये हैं। उनके यहां संख्याका भेद अर्थका भेदक नहीं माना गया है, जैसे कि गुरु, साधन आदि में संख्याका भेद होनेपर अर्थ भेद नहीं है। अर्थात्–" कोष्ठेष्टिकापाषाणः गुरुः " मृत्तिकादण्ड-कुलालाः घटसाधनं" " अन्नप्राणाः " " गुरुवः सन्ति " यहां संख्या भेद होनेपर भी अर्थभेद नहीं है। एक गुरु व्यक्तिको या राजाको बहुवचनसे कहा जाता है। इसपर आचार्य कहते हैं कि यह वैयाकरणोंका कथन भी परीक्षाकी कसौटीपर श्रेष्ठ नहीं उतरता है। देखो, यों तो एक घट और अनेक तंतुयें यहां भी संख्याके भेदसे तिस प्रकार एकपन हो जानेका प्रसंग होगा। क्योंकि संख्या का भेद " आपः " और " जल " के समान घट और तंतुओंमें एकसा है। यहां वहां कोई विशेषता नहीं है। किन्तु एक घट और अनेक तंतुओंका एक अर्थ किसीने भी नहीं स्वीकार किया है। अतः शब्दनय संख्याका भेद होनेपर अर्थके भेदको व्यक्तरूपसे बता रहा है।

एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि स यातस्ते पिता इति साधनभेदेपि पदार्थमभिन्नमादृताः " प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेरस्मदेकवच्च " इति वचनात्। तदपि न श्रेयः परीक्षायां, अहं पचामि त्वं पचसीत्यत्रापि अस्मद्युष्मत्साधनाभेदेप्येकार्थत्व-प्रसंगात्।

हे विदूषक, इधर आओ, तुम मनमें मान रहे होगे कि मैं उत्तम रथ द्वारा मेलेमें जाऊंगा किन्तु तुम नहीं जाओगे, तुम्हारा पिता भी गया था ! इस प्रकार यहां साधनका भेद होनेपर भी वे व्यवहारी जन एक ही पदार्थको आदर सहित समझ चुके हैं। ऐसा व्याकरणमें सूत्र कहा है कि जहां बढिया हंसी करना समझा जाय वहां " मन्य " धातुके प्रकृतिभूत होनेपर दूसरी धातु-ओंके उत्तम पुरुषके बदले मध्यम पुरुष हो जाता है। और मन्यति धातुको उत्तम पुरुष हो जाता है, जो कि एक अर्थका वाचक है। किन्तु वह भी उनका कथन परीक्षा करनेपर अत्युत्तम नहीं घटित होता है। क्योंकि यों तो मैं पका रहा हूं, तू पचाता है, इत्यादिक स्थलोंमें भी अस्मद् और युष्मद् साधनके अभेद होनेपर भी एक अर्थपनेका प्रसंग होगा।

तथा " संतिष्ठते अवतिष्ठत " इत्यत्रोपसर्गभेदेप्यभिन्नमर्थमादृता उपसर्गस्य धात्व-र्थमात्रद्योतकत्वादिति। तदपि न श्रेयः। तिष्ठति प्रतिष्ठत इत्यत्रापि स्थितिगतिक्रिययोर-भेदप्रसंगात्। ततः कालादिभेदाद्भिन्न एवार्थोऽन्यथातिप्रसंगादिति शब्दनयः प्रकाशयति।

तिसी प्रकार संस्थान करता है, अवस्थान करता है, इत्यादिक प्रयोगोंमें उपसर्गके भेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको पकड बैठे हैं। वैयाकरणोंकी मनीषा है कि धातुके केवल अर्थका ही द्योतन करनेवाले उपसर्ग होते हैं। क्रिया अर्थके वाचक धातुऐं हैं, उसी अर्थका उपसर्ग द्योतन कर

देते हैं। उपसर्ग किसी नवीन अर्थके वाचक नहीं हैं। इस प्रकार उनका कहना भी प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि यों तो ठहरता है और प्रस्थान (गमन) करता है, इन प्रयोगोंमें भी स्थितिक्रिया और गमनक्रियाके अभेद हो जानेका प्रसंग होगा। तिस कारणसे यह सिद्धान्त करना चाहिये कि काल, कारक, संख्या, आदिके भेद हो जानेसे शब्दोंका अर्थ भिन्न ही हो जाता है। अन्यथा यानी ऐसा नहीं मानकर दूसरे प्रकारसे मानोगे तो अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात्–पण्डितमन्य, पण्डितंमन्य या देवानां प्रिय, देवप्रिय, आदिमें भी भेद नहीं हो सकेगा। किन्तु ऐसे स्थलोंपर भिन्न भिन्न अर्थ है। इस बातको शब्दनय प्रकाशित कर देता है, यह समझो।

तद्भेदेप्यर्थाभेदे दूषणांतरं च दर्शयति।

उस शब्दके भेद होनेपर भी यदि अर्थका भेद नहीं माना जायगा तो अन्य भी अनेक दूषण आते हैं। इस रहस्यको श्री विद्यानन्द आचार्य दिखलाते हैं।

तथा कालादिनानात्वकल्पनं निःप्रयोजनम्।
सिद्धं कालादिनैकेन कार्यस्येष्टस्य तत्त्वतः ॥ ७३ ॥

तिस प्रकार माननेपर यह बडा दूषण आता है कि लकारोंमें या कृदन्तोंमें अथवा लौकिक वाक्य प्रयोगोंमें काल, संख्या आदिके नानापनकी कल्पना करनेका प्रयोजन कुछ नहीं सिद्ध हो पाता है। एक ही काल या एक ही उपसर्ग आदि करके वास्तविकरूपसे अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जायगी।

कालादिभेदादर्थस्य भेदोस्त्विति हि तत्परिकल्पनं प्रयोजनवन्नान्यथा स च नास्तीति निःप्रयोजनमेव तत्। किं चः–

कारण कि काल, कारक, लिंग आदिके भेदसे यदि अर्थका भेद ठहराओ, तब तो उन काल आदिका सभी ढंगोंसे कल्पना करना प्रयोजनसहित हो सकेगा, अन्यथा नहीं। किन्तु व्यवहार नयका आलम्बन करनेवालेके यहां वह अर्थभेद तो नहीं माना गया है। इस कारण वह काल आदिके नानापनकी कल्पना करना प्रयोजनरहित ही है, दूसरी बात एक यह भी है सो सुनो।

कालाद्यन्यतमस्यैव कल्पनं तैर्विधीयतां।
येषां कालादिभेदेपि पदार्थैकत्वनिश्चयः ॥ ७४ ॥

जिन वैयाकरणोंके यहां काल, कारक आदिके भेद होनेपर भी पदार्थके एकपनेका निर्णय हो रहा है। पर्वते वसति, पर्वतमधिवसति इन दोनोंका अर्थ एक ही है। दार और कलत्रका एक ही अर्थ है। उन व्यवहारियों करके अनेक काल, कारक, लिंग, आदिमें से किसी एक ही कालकी

या कारक आदिकी कल्पना कर लेनी चाहिये। तीन काल, छह कारक, तीन लिंग, प्र, परा, आदि अनेक उपसर्ग क्यों माने जा रहे हैं ?। शब्दकृत और अर्थकृत गौरव क्यों लादा जा रहा है ! अतः शब्दशक्तिके अनुसार परिशेषमें उनको अर्थभेद मानना आवश्यक पडेगा। पर्वतके ऊपर सामान्य पथिकके समान निवास करनेपर पर्वतमें निवास कहा जाता है। और पर्वतके ऊपर अधिकार कर पर्वतका आक्रमण करते हुये वीरतापूर्वक जो पर्वतके ऊपर निवास किया जाता है, वहां " उपान्वध्याङ् वसः " इस सूत्रसे आधारकी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो जाती है। विनीत, निर्बल, सुकुमार स्त्रीके लिये अबला शब्द आता है। तथा पुरुषार्थ रखनेवाली और अवसरपर दुष्टोंको हथखंडे लगानेवाली स्त्री के लिये दार शब्द प्रयुक्त किया जाता है। लिंगका भेद, कारकका भेद, उपसर्ग आदिकका भेद व्यर्थ नहीं पडता है।

कालभेदेऽप्यभिन्नार्थः। कालकारकलिंगसंख्यासाधनभेदेभ्यो भिन्नोऽर्थो न भवतीति स्वरुचिप्रकाशनमात्रं। कालादिभेदाद्भिन्नोऽर्थः इत्यत्रोपपत्तिमावेदयति।

कालके भेद होनेपर भी अर्थ अभिन्न ही है, काल, कारक, लिंग, संख्या, साधनके भेद हो जानेसे अर्थभिन्न नहीं हो पाता है। इस प्रकार वैयाकरणोंका कथन केवल अपनी मनमानी रुचिका प्रकाश करना है। वस्तुतः विचारा जाय तो काल आदिके भेदसे अर्थमें भेद हो जाता है। इस विषयमें ग्रन्थकार युक्तिको स्वयं निवेदन करे देते हैं, सुनिये।

शद्वः कालादिभिर्भिन्नाभिन्नार्थप्रतिपादकः।
कालादिभिन्नशद्वत्वादृक्सिद्धान्यशद्ववत् ॥ ७५ ॥

शद्व (पक्ष) काल, कारक, आदिकों करके भिन्न भिन्न अर्थका प्रतिपादन कर रहा है। (साध्य) क्योंकि वे काल, उपसर्ग आदिके सम्बन्धसे रचे गये भिन्न भिन्न प्रकारके शद्व हैं। (हेतु) जैसे कि तिस प्रकारके सिद्ध हो रहे अन्य घट, पट, इन्द्र पुस्तक आदिक शद्व विचारे भिन्न भिन्न अर्थोंके प्रतिपादक हैं। (दृष्टान्त)

सर्वस्य कालादिभिन्नशद्वस्याभिन्नार्थप्रतिपादकत्वेनाभिमतस्य विवादाध्यासितत्वेन पक्षीकरणान्न केनचिद्धेतोर्व्यभिचारः। प्रमाणबाधित पक्षः इति चेन्न, कालादिभिन्नशद्वस्याभिन्नार्थत्वग्राहिणः प्रमाणस्य भिन्नार्थग्राहिणा प्रमाणेन बाधितत्वात्।

वैयाकरणोंने काल, कारक, आदिसे भिन्न हो रहे जिन शब्दोंको अभिन्न अर्थका प्रतिपादकपने करके अभीष्ट कर रखा है, उन विवादमें प्राप्त हो रहेपन करके सभी शब्दोंको यहां अनुमान प्रयोगमें पक्षकोटिमें कर लिया गया है। अतः किसी भी शब्दकरके हमारे हेतुका व्यभिचार दोष नहीं हो पाता है। यदि कोई यों कहे कि आपका प्रतिज्ञारूपी पक्ष तो प्रत्यक्ष या

अनुमान प्रमाणोंसे बाधित है। कृत शब्द-या कृतक शब्द, कर्म, कार्मण, देव, देवता, जानाति, विजानाति, आदिमें शब्दोंके भेद होनेपर भी अर्थभेद नहीं दीखता है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, क्योंकि काल आदिके योगसे भिन्न हो रहे शब्दके अभिन्न अर्थपनेको ग्रहण करनेवाले प्रमाण (ज्ञान) की उनका भिन्न भिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाले प्रमाण करके बाधा प्राप्त हो जाती है। अर्थात्—काल आदिके भेद होनेपर पर भिन्न भिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाला प्रमाण उस अभिन्न अर्थग्राही ज्ञानका बाधक है। जो स्वयं बाध्य होकर मर चुका है, वह दूसरोंका बाधक क्या होगा ! किये गये पदार्थको कृत कहते हैं। अपनी उत्पत्तिमें अन्य कारणोंके व्यापार की अपेक्षाको रखनेवाले भावको कृतक कहा गया है। स्वार्थिक ' क ' प्रत्ययका कथन करना तिस प्रकारके शब्दोंकी प्रसिद्धि अनुसार समझनेवाले वादीके प्रति व्यर्थ नहीं है। दूसरे ढंगोंसे लाघव कर उच्चारण करनेसे उस वादीको संतोष नहीं हो सकता है। देवकी अपेक्षा देवता शब्द अधिक अर्थको लिये हुये है।

समभिरूढमिदानीं व्याचष्टे।

शब्दनयका विस्तारके साथ वर्णन कर श्री विद्यानन्दस्वामी अब क्रमप्राप्त समभिरूढ नयका व्याख्यान करते हैं।

पर्यायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याधिरोहणात्।
नयः समभिरूढः स्यात् पूर्ववच्चास्य निश्चयः॥ ७६॥

पर्यायवाची अनेक शब्दोंके भेद करके भिन्न भिन्न अर्थका अधिरोह हो जानेसे यह नय समभिरूढ हो जाता है। पूर्वके समान इसका निश्चय कर लेना चाहिये। अर्थात्—व्यवहार नयकी अपेक्षा शब्द नयद्वारा गृहीत अर्थमें जैसे भिन्न अर्थपना साधा है, उसी प्रकार शब्दनयसे समभिरूढ नयके भिन्न होनेका विचार कर लेना चाहिये।

विश्वदृश्वा सर्वदृश्वेति पर्यायभेदेपि शब्दोऽभिन्नार्थमभिप्रैति भविता भविष्यतीति च कालभेदाभिमननात्। क्रियते विधीयते करोति विदधाति पुष्यस्तिष्यः तारकोडुः आपो वाः अंभः सलिलमित्यादिपर्यायभेदेपि चाभिन्नमर्थं शब्दो मन्यते कारकादिभेदादेवार्थभेदाभिमननात्। समभिरूढः पुनः पर्यायभेदेपि भिन्नार्थानभिप्रैति। कथं ?

विश्वको देख चुका, सबको देख चुका, या जल, सलिल, वारि अथवा स्त्री, योषित्, अबला, नारी, आदिक पर्यायवाची शब्दोंके भेद होनेपर भी शब्द नय इनके अर्थको अभिन्न मान रहा है। भविता (लुट्) और भविष्यति (लृट्) इस प्रकार पर्यायभेद होनेपर भी कालका भेद नहीं होनेसे शब्दनय दोनोंका एक ही अर्थ मान बैठा है। तथा किया जाता है, विधान किया जाता

है । इन दोनोंका अर्थ एक है शद्बनय की अपेक्षा तो करता है, और विधान करता है दोनोंका अर्थ एक ही है । पुल्लिंग पुष्य और तिष्यका एक ही पुष्य नक्षत्र अर्थ है । स्त्रीलिंग तारका और उडुका सामान्य नक्षत्र अर्थ अभिन्न है । स्त्रीलिंग अप् और वार शद्बका एक ही जल अर्थ है । नपुंसकलिंग अम्भस् और सलिल शद्बोंका वही पानी एक अर्थ है । इत्यादिक पर्यायोंके भेद होनेपर भी शद्बनय तो अभिन्न अर्थोंको मान रहा है । शद्बनय की मनीषा, कारक, लिंग, वचन, आदिका भेद हो जानेसे ही अर्थका भेद मानने की है । लिंग या कारकके अभेद होनेपर पर्यायवाची अनेक शद्बोंका अर्थ एक ही पडता है । किन्तु फिर यह समभिरूढ नय तो पर्यायवाची शद्बोंका भेद होनेपर भी भिन्न भिन्न अर्थोंको अभिलषता है । विश्वदृश्वाका अर्थ न्यारा है । और सर्वदृश्वाका अर्थ न्यारा है । सर्व कहनेसे कुछ भी शेष नहीं रहता है । तथा करोति और विदधातिका अर्थ न्यारा है असाधारण कार्यको बढिया करनेमें " विदधाति " आता है । अम्भस् और सलिलका अर्थ भी भिन्न भिन्न जल है । ये सब कैसे भिन्न हैं ? इस बातको स्वयं ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा प्रतिपादन करते हैं ।

इन्द्रः पुरंदरः शक्र इत्याद्या भिन्नगोचराः ।
शद्बा विभिन्नशद्बत्वाद्वाजिवारणशद्बवत् ॥ ७७ ॥

सौधर्म इन्द्रके वाचक इन्द्र, पुरन्दर, शक्र, शचीपति, सहस्राक्ष इत्यादिक शब्द (पक्ष) भिन्न भिन्न अर्थको विषय कर रहे हैं (साध्य) विविध प्रकारके भिन्न शब्द होनेसे (हेतु) जैसे कि पक्षी या घोडेको कहनेवाला " वाजी " शब्द और हाथीको कहनेवाला न्यारा " वारण " शब्द भिन्न भिन्न अर्थोंको कह रहा है । (अन्वयदृष्टान्त) । अर्थात्–शब्दभेद है तो अर्थभेद अवश्य होना चाहिये । पर्यायवाची शब्द न्यारे न्यारे अर्थोंमें आरूढ हो रहे हैं । हां, अनेक प्रकारकी ऋद्धि, सम्पत्ति, विभूति, देवांगनायें आदिका उत्कट ऐश्वर्य होनेसे वह सौधर्म नामका जीव इन्द्र कहलाता है । तथा पौराणिक मत अनुसार किसी नगरीका विदारण करनेसे वही जीव पुरन्दर कहा गया है । तथा जम्बूद्वीपको उलटनेकी शक्तिका धारण करनेसे वही जीव " शक्र " इस नामको पा गया है । और इन्द्राणीका स्वामी होनेसे शचीपति कहा गया है । जन्मे हुये जिनेन्द्र भगवान्को दो नेत्रोंसे देखता हुआ तृप्तिको नहीं प्राप्तकर उनके दर्शनके लिये हजार नेत्रोंको बना लेनेकी अपेक्षा सहस्राक्ष कहा गया है । इसी प्रकार अन्य पर्यायवाची शब्दोंके भी भिन्न भिन्न अर्थ लगा लेना चाहिये । संकेतग्रहणके अवसरपर या भिन्न भिन्न धातु या प्रत्ययोंसे शब्दसिद्धि करते समय शब्दोंकी न्यारे न्यारे अर्थोंमें रूढि हो रही अनुभवमें आ रही है । तभी तो " इन् " धातुका गति अर्थ होते हुये भी दूषित समझा जाता है । उपकारी चन्द्रमाका वर्णन करते समय "कलंककाञ्छन" शब्दका प्रयोग निन्दनीय है ।

ननु चात्र भिन्नार्थत्वे साध्ये विभिन्नशद्बत्वहेतोरन्यथानुपपत्तिरसिद्धेति न मंतव्यं, साध्यनिवृत्तौ साधननिवृत्तेरत्र भावात् । भिन्नार्थत्वं हि व्यापकं वाजिवारणशद्बयोर्विभिन्नयोरस्ति गोशद्बे वाभिन्नेपि तदस्ति विभिन्नशद्बत्वं तद्व्याप्यं साधनं विभिन्नार्थ एव साध्येस्ति नोभिन्नार्थत्वे, ततोन्यथानुपपत्तिरस्त्येव हेतोः ।

यहां कोई प्रतिवादी यों अवधारण मान बैठा है कि इस अनुमान प्रयोगमें भिन्न भिन्न अर्थपनेको साध्य करने पर विभिन्न शद्बपन हेतु की अपने साध्यके साथ अन्यथानुपपत्ति असिद्ध है । यानी साध्यके नहीं ठहरने पर हेतुका नहीं ठहरनारूप व्याप्ति नहीं बन चुकी है । इस पर आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये । क्योंकि साध्यकी निवृत्ति होनेपर साधन की निवृत्ति हो जानेका यहां सद्भाव है । विशेष स्वरूप करके भिन्न हो रहे वाजी और वारण शद्बोंमें व्यापक हो रहा भिन्न भिन्न अर्थपना साध्य वर्त रहा है । अथवा सदृश स्वरूप करके भिन्न हो रहे ग्यारह गो शद्बोंमें भी वह वाणी आदि भिन्न अर्थपना साध्य विद्यमान है । अतः वह साध्यका व्याप्य हो रहा विभिन्नशद्बपना हेतु तो विभिन्न अर्थरूप साध्यके होनेपर ही ठहर सकता है । अभिन्न अर्थपना होनेपर नहीं ठहर सकता है । तिस कारणसे हेतुकी अन्यथानुपपत्ति है ही । समीचीन व्याप्तिको रखनेवाला हेतु अवश्य साध्यको साध देता है । नाना अर्थोंका उल्लंघन कर एक अर्थकी अभिमुखतासे रूढि करानेवाला होनेके कारण भी यह नय समभिरूढ कहा जाता है । गौ यह शद्ब, वचन, दिशा, जल, पशु, भूमि, रोम, वज्र, आकाश, बाण, किरण, दृष्टि इन ग्यारह अर्थोंमें वर्तमान हो रहा सींग, सास्नावाले पशुमें रूढ हो रहा है । जितने शद्ब होते हैं, उतने अर्थ होते हैं । इसी प्रकार दूसरा उपनियम यों भी है कि जितने अर्थ होते हैं, उतने शद्ब भी होते हैं । ग्यारह अर्थोंको कहनेवाले गो शद्ब भी ग्यारह हैं । गकारके उत्तरवर्ती ओकार इस प्रकार समान वर्णोंकी अनुपूर्वी होनेके कारण एकके सदृश शद्बोंको व्यवहारमें एक कह दिया गया है । अतः अनेक गो शद्बों द्वारा ही अनेक वाणी आदि अर्थोंकी ज्ञप्ति होती है । इस नयका अर्थकी ओर लक्ष्य जानेपर अपने अपने स्वरूपोंमें सम्पूर्ण पदार्थोंका आरूढ रहना भी समभिरूढ नय द्वारा नीत कर लिया जाता है । जैसे कि आप कहां रहते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर मिलता है कि, अपनेमें आप रहता है । निश्चयनयसे सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें हैं ।

सांप्रतमेवंभूतं नयं व्याचष्टे ।

अब श्री विद्यानन्द आचार्य इस अवसरपर सातवें एवंभूत नयका व्याख्यान करते हैं ।

तत्क्रियापरिणामोर्थस्तथैवेति विनिश्चयात् ।
एवंभूतेन नीयेत क्रियांतरपराङ्मुखः ॥ ७८ ॥

एवंभूत नयकरके उसी क्रियारूप परिणामको धार रहा अर्थ तिस प्रकार करके ही यों विशेष रूपसे निश्चय कर लिया जाता है। अतः यह नय अन्य क्रियाओंमें परिणत हो रहे उस अर्थको जाननेके लिए अभिमुख नहीं होता है। अर्थात्–जिस समय पढा रहा है, उसी समय अध्यापक कहा जायगा। भोजन करते समय वह अध्यापक नहीं है। जिस धातुसे जो शब्द बना है, उस धातुके अर्थ अनुसार क्रियारूप परिणमते क्षणमें ही वह शब्द कहा जा सकता है। एवंभूत नय अन्य क्रियारूप परिणत हो रहे अर्थसे पराङ्मुख रहता है।

समभिरूढो हि शकनक्रियायां सत्यामसत्यां च देवराजार्थस्य शक्रव्यपदेशमभिप्रैति, पशोर्गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत्तथारूढेः सद्भावात्। एवंभूतस्तु शकनक्रियापरिणतमेवार्थं तत्क्रियाकाले शक्रमभिप्रैति नान्यदा। कुत इत्याह।

कारण कि समभिरूढनय तो जम्बूद्वीपके परिवर्तनकी सामर्थ्य धारनारूप क्रियाके होनेपर अथवा नहीं होनेपर देवोंके राजा हो रहे इन्द्ररूप अर्थका शक्र इस शब्द करके व्यवहार करनेका अभिप्राय रखता है। जैसे कि सींग, सास्नावाले पशुकी गमन क्रियाके होनेपर अथवा गमन क्रियाके नहीं होनेपर बैठी अवस्थामें भी गौका व्यवहार हो जाता है। क्योंकि तिस प्रकार रूढिका सद्भाव है। यानी दूसरे ईशान, सनत्कुमार आदि इन्द्र या अहमिन्द्र भी जम्बूद्वीपके पलटनेकी शक्तिको धारते हैं। फिर भी शक्र शब्द सौधर्म इन्द्रमें रूढ हो रहा है। इसी प्रकार " गच्छति स गौः " इस निरुक्तिद्वारा बनाया गया गौ शब्द भी बैठी हुयी चलती हुयी, सोती हुयी, गायमें या खाते हुये, कादते हुये सभी अवस्थाओंको धारनेवाले बैलमें रूढ हो रहा है। " गोबलीवर्द " न्यायसे स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग तीनों जातिके गौ पकडे जाते हैं। किन्तु एवंभूत नय तो उस प्रकारकी सामर्थ्य रखनेकी क्रिया करने रूप परिणतिको प्राप्त हो रहे अर्थको ही उस क्रियाके अवसरमें " शक्र " कहनेका अभिप्राय रखता है। पूजा करते समय, अभिषेक करते समय, भोग-उपभोग भोगते समय, आदि अन्य कालोंमें " शक्र " इस नाम कथनका अभिप्राय नहीं रखता है। किस कारणसे यह व्यवस्था बन रही है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

यो यं क्रियार्थमाचष्टे नासावन्यत्क्रियं ध्वनिः।
पठतीत्यादिशब्दानां पाठाद्यर्थत्वसंजनात्॥ ७९॥

जो वाचकशब्द क्रियाके जिस अर्थको चारों ओरसे व्यक्त कह रहा है, वह शब्द अन्य क्रिया कर रहे अर्थको नहीं कह पाता है। अन्यथा पढ रहा है, खा रहा है, इत्यादिक शब्दोंको पढाना पचाना आदि अर्थके वाचकपनका प्रसंग हो जावेगा। जो पढ रहा छात्र है, वह उसी

समय पढाने वाला अध्यापक नहीं है। धान्य पक रहा है, अग्नि या आतप पका रहा है। नवगणी क्रियाका अर्थ न्यारा है। और ण्यन्तके प्रयोगका अर्थ भिन्न है। अतः अपनी अपनी प्रत्ययवती प्रकृतिके द्वारा वाच्य क्रियामें परिणत हो रहे अर्थका इस एवंभूत नय द्वारा विज्ञापन होता रहता है। " पाकार्थत्वसंजनात् " ऐसा पाठ माननेपर तो यों अर्थ कर लिया जाय कि पढ रहा है, का अर्थ पक रहा है भी हो जावेगा। इस प्रसंगको रोकनेवाला कोई नहीं है।

न हि कश्चिदक्रिया शद्धोस्यास्ति गौरश्व इति जातिशद्धाभिमतानामपि क्रियाशद्बत्वात् आशुगाम्यश्व इति, शुक्लो नील इति गुणशद्धाभिमता अपि क्रियाशद्धा एव। शुचिभवनाच्छुक्लः नीलानान्नील इति देवदत्त इति यदृच्छशद्धाभिमता अपि क्रियाशद्धा एव देव एव (एनं) देयादिति देवदत्तः यज्ञदत्त इति। संयोगिद्रव्यशद्धाः समवायिद्रव्यशद्धाभिमताः क्रियाशद्धा एव। दंडोस्यास्तीति दंडी विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यादि पंचतयी तु शद्धानां प्रवृत्तिः व्यवहारमात्रान्न निश्चयादित्ययं मन्यते।

प्रायः सभी शद्ब भू आदिक धातुओंसे बने हैं। भू आदिक धातुऐं तो परिस्पंद और अपरिस्पंद रूप क्रियाओंको कह रही हैं, जगत्में ऐसा कोई भी शद्ब नहीं है, जो कि क्रियाका वाचक नहीं होय। अश्व, गो, मनुष्य आदिक शद्ब अश्वत्व आदि जातिको कह रहे स्वीकार कर लिये गये हैं। वे भी क्रियाशद्ब ही हैं। यानी क्रियारूप अर्थोंको ही कह रहे हैं। शीघ्र गमन करनेवाला अश्व कहा जाता है। " अश भोजन " धातुसे अश्व शद्ब बनानेपर खाने वाला कहा जाता है। गमन करनेवाला पदार्थ गौ कहा जाता है। जो शुक्ल, नील, रस आदि शद्ब गुणवाचक स्वीकार किये गये हैं, वे भी क्रियाशद्ब ही है। शुचि होना यानी पवित्र हो जाना क्रियासे शुक्ल है। नील रंगनेरूप क्रियासे नील है। रसा जाय यानी चाटना रूप क्रियासे रस माना गया है। इसी प्रकार यदृच्छा शद्बों करके स्वीकार किये गये देवदत्त, यज्ञदत्त इत्यादिक शद्ब भी क्रिया शद्ब ही हैं। लौकिक जनकी इच्छाके अनुसार बालक, पशु आदिके जो मन चाहे नाम रख लिये जाते हैं। वे देवदत्त आदिक यदृच्छाशद्ब हैं। देव ही जिसको देवे वह पुरुष इस क्रिया अर्थको धारता हुआ देवदत्त है। यज्ञमें जिस बालकको दिया जा चुका है, यों वह यज्ञदत्त है। इस प्रकार यहां भी यथायोग्य क्रियाशद्बपना घटित हो जाता है। भ्रमण, स्पन्दन, गमन, धावति, आगच्छति, पचन, आदि क्रियाशद्ब तो क्रिया वाचक हैं ही। संयोग सम्बन्धसे दंड जिसके पास वर्तरहा है, सो वह दंडी पुरुष है। इस प्रकारकी क्रियाको कह रहे संयोगी द्रव्यशद्ब भी क्रियाशद्ब ही हैं। तथा समवाय सम्बन्धसे सींगरूप अवयव जिस अवयवी बैल या महिषके वर्त रहे हैं, वह विषाणी है। इत्यादि प्रकार मान लिये गये समवायी द्रव्यशद्ब भी क्रियाशब्द ही हैं। सभी शब्दोंमें क्रियाशद्बपना घट जाता है। जातिशब्द गुणशब्द क्रियाशब्द एवं संयोगीशब्द, समवायीशब्द या यदृच्छाशब्द और सम्बन्ध वाचकशब्द इस प्रकार प्रसिद्ध हो

रही शब्दोंकी पांच प्रकारकी प्रवृत्ति तो केवल व्यवहारसे ही है, निश्चयसे नहीं है, इस सिद्धान्तको यह एवंभूत मान रहा है। श्री अकलंकदेव भगवान्ने ज्ञानपरिणत आत्माको एवंभूतका सूक्ष्म विषय कहा है। जिस ज्ञान करके जो हो चुका है, उस करके ही उसका अध्यवसाय कराया जाता है। जैसे कि सौधर्म इन्द्रको इन्द्र नहीं कह कर देवदत्तकी इन्द्रके ज्ञानसे परिणमी हुयी आत्माको ही या इन्द्रज्ञानको ही इन्द्र कहना। अथवा आग है, इस प्रकारके ज्ञानसे परिणत हो रही आत्मा ही अग्नि है, यह एवंभूतनयका विषय है। " मूळोण्णपहा अग्गी " उष्णस्पर्शवाले पौद्गलिक पदार्थको एवंभूत नयसे अग्नि नहीं कहा जाकर ज्ञानको अग्नि कहना यह इसका परमसूक्ष्म विषय समझा जाता है।

एवमेते शब्दसमभिरूढैवंभूतनयाः सापेक्षाः सम्यक्, परस्परमनपेक्षास्तु मिथ्येति प्रतिपादयति।

इस प्रकार ये शब्द, समभिरूढ, एवंभूत, तीन नय यदि अपेक्षाओंसे सहित हो रहे हैं, तब तो समीचीन नय हैं। और परस्परमें अपेक्षा नहीं रखते हुये केवल एकान्तसे अपने विषयका आग्रह करनेवाले तो ये तीनों मिथ्या हैं। कुनय हैं अर्थात् 'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत्' (श्रीसमन्तभद्राचार्यः)। प्रतिपक्षी धर्मका निराकरण करनेवाले कुनय हैं और प्रतिपक्षी धर्मोंकी अपेक्षा रखनेवाले सुनय हैं। अपेक्षासहितपनका अर्थ उपेक्षा रखना है। अन्यथा प्रमाण और नयोंमें कोई अन्तर नहीं ठहर सकेगा। प्रमाणोंसे उन धर्मोंकी और अन्य धर्म या धर्मोंकी भी प्रतिपत्ति हो जाती है। तथा नयसे अन्य धर्मोंका निराकरण नहीं करते हुये उसी धर्मकी प्रतिपत्ति होती है। किन्तु दुर्नयसे तो अन्य धर्मोंका निराकरण करते हुये एक ही धर्मका आग्रह किया जाता है। इस बातको स्वयं ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी समझाये देते हैं। पहिले चार नयोंका आभास तो साथके साथ लगे हाथ कह दिया गया है। अब शब्द समभिरूढ, एवंभूत तीनों नयोंका आभास यहां एक साथ कहे देते हैं। सुनिये और समझिये।

एतेन्योन्यमपेक्षायां संतः शब्दादयो नयाः।
निरपेक्षाः पुनस्ते स्युस्तदाभासाविरोधतः ॥ ८० ॥

ये शब्द आदिक तीन नय परस्परमें स्वकीय स्वकीय विषयोंकी अथवा अन्य धर्मोंकी अपेक्षा रखनेपर तो सन्तः यानी समीचीन नय हैं। किन्तु परस्परमें नहीं अपेक्षा रखते हुये तो फिर वे तीनों उनके आभास हैं। अर्थात्—शब्दनय यदि समभिरूढ और एवंभूतके नेय धर्मोंकी अपेक्षा नहीं रखता है, तो यह शब्दाभास है। तथा समभिरूढ नय यदि शब्द और एवंभूतके विषयका निराकरण कर केवल अपना ही अधिकार जमाना चाहता है, तो वह समभिरूढाभास है। इसी प्रकार एवंभूत भी शब्द और समभिरूढके विषयका तिरस्कार करता हुआ एवंभूताभास है। क्योंकि

ऐसा करनेसे विरोध दोष आता है । धर्मीमें अनेक धर्मोके विद्यमान होनेपर यदि दूसरोंकी सम्पत्तिका नाश कर अपना ही दबदबा गांठा जायगा तो स्पष्टरूपसे विरोध दोष आकर खडा हो जाता है । वस्तुतः विचारा जाय तो अपने भाइयोंकी या अपने आश्रयदाताओंकी सदा अपेक्षा करनी चाहिये किन्तु उनकी उपेक्षा करने की भी उपेक्षा कर उनके सर्वथा नाश करनेका अभिप्राय किया जायगा तो यह कुनीति है, यों द्वन्द्वयुद्ध मच जायगा । शरीरके हाथ, पांव, मुख, नेत्र, आदि अवयव ही यदि किसी खाद्य या पेयपदार्थको हडपना चाहेंगे तो सब परस्परकी ईर्ष्यामें घुळकर मर जावेंगे । हां, मिलकर उसका उपभोग करनेसे वे परिपुष्ट बने रहेंगे ।

के पुनरत्र सप्तसु नयेष्वर्थप्रधानाः के च शब्दप्रधाना नयाः ? इत्याह ।

इन सातों नयोंमें कितने तो फिर अर्थकी प्रधानतासे व्यवहार करने योग्य नय हैं ? और इन सातोंमें कौनसे नय शब्दकी प्रधानतापर प्रवर्त रहे हैं ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्दस्वामी समाधान कहते हैं ।

तत्रर्जुसूत्रपर्यंताश्चत्वारोर्थनया मताः ।
त्रयः शब्दनयाः शेषाः शब्दवाच्यार्थगोचराः ॥ ८१ ॥

उन सात नयोंमें नैगमसे प्रारम्भ कर ऋजुसूत्र पर्यन्त चार तो अर्थनय मानी गयीं हैं । बादरायण सम्बन्धके सदृश केवल वाच्य वाचक सम्बन्धकी अत्यल्प अपेक्षा रखते हुये प्रतिपादक शब्द करके अथवा क्वचित् शब्दके विना भी परिपूर्ण अर्थपर दृष्टि रखनेवाले नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र ये चार नय हैं । शेष बचे हुये नय तो वाचक शब्दद्वारा कहे गये अर्थको विषय करनेवाले शब्द, समभिरूढ, एवंभूत, ये तीन शद्बनय हैं । इन तीनोंकी शब्दके वाच्य अर्थमें विशेषरूपसे तत्परता रहती है । और पहिले चार नयोंकी अर्थकी ओर विशेष लक्ष्य रहता है । यहां आज्ञाप्रधानी और परीक्षाप्रधानीके श्रद्धेय विषयोंके समान गौण, मुख्य, रूपसे अर्थ और शब्दद्वारा वाच्यकी व्यवस्था कर निर्वाह कर लेना चाहिये ।

कः पुनरत्र बहुविषयः कश्चाल्पविषयो नय इत्याह ।

पुनः विनीत शिष्यका प्रश्न है कि इन सात नयोंमें कौनसा नय बहुत ज्ञेयको विषय करता है ? और कौनसा नय अल्पज्ञेयको विषय करता है ? तिसके उत्तरमें आचार्य महाराज वार्तिकको कहते हैं । साथमें कौन नय कार्य है ? और कौनसा नय कारण है ? यह प्रश्न भी छिपा हुआ है, उसका भी उत्तर दे देवेंगे ।

पूर्वःपूर्वो नयो भूमविषयः कारणात्मकः ।
परःपरः पुनः सूक्ष्मगोचरो हेतुमानिह ॥ ८२ ॥

यहां पहिले पहिले कहा गया नय तो बहुत पदार्थोंको विषय करनेवाला है। और कारण स्वरूप हो रहा है। किन्तु फिर पीछे पीछे कहा गया नय तो अल्प पदार्थोंको विषय करता है। और कार्यस्वरूप है। अर्थात्—बहुत- विषयोंको जाननेवाले नैगम की प्रवृत्ति हो चुकनेपर उसके व्याप्य हो रहे अल्प विषयोंको जानता हुआ संग्रह नय प्रवर्तता है। अधिक विषयोंको जाननेवाले संग्रहकी प्रवृत्ति हो चुकनेपर उसके व्याप्य स्तोक विषयोंको जान रहा व्यवहार नय प्रवर्तता है। इसी प्रकार आगे भी नयोंमें लगा लेना तथा यहां लौकिक कार्यकारणभाव विवक्षित है। शास्त्रीय कार्यकारणभाव तो अव्यवहित पूर्ववर्ती व्यापारवाले और उसके उपकारको झेलनेवाले अव्यवहित उत्तरवर्ती पदार्थोंमें सम्भवता है।

तत्र नैगमसंग्रहयोस्तावन्न संग्रहो बहुविषयो नैगमात्परः। किं तर्हि, नैगम एव संग्रहात्पूर्व इत्याह।

सबसे पहिले उन नयोंमें यह विचार है कि नैगम, संग्रह, दो नयोंमें परली ओर कहा गया संग्रहनय तो पूर्ववर्ती नैगमसे अधिक विषयवाला नहीं है, तो क्या है ? इसका उत्तर यही है कि नैगमनय ही संग्रहनयसे पूर्वमें कहा गया अधिक पदार्थोंको विषय करता है। इस बातको स्वयं ग्रन्थकार कहते हैं।

सन्मात्रविषयत्वेन संग्रहस्य न युज्यते।
महाविषयताभावाभावार्थान्नैगमान्नयात् ॥ ८३ ॥
यथा हि सति संकल्पस्तथैवासति वेद्यते।
तत्र प्रवर्तमानस्य नैगमस्य महार्थता ॥ ८४ ॥

सद्भूत पदार्थ और असद्भूत अभाव पदार्थ दोनों संकल्पित अर्थोंको विषय करनेवाले नैगम नयसे केवल सद्भूतपदार्थोंको विषय करनेवाला होनेसे संग्रह नयकी अधिक विषयज्ञता उचित नहीं है। भावार्थ—संकल्प तो विद्यमान हो रहे अथवा भूत, भविष्यत्, कालमें हुये, होनेवाले, या कदाचित् नहीं भी होनेवाले अविद्यमान पदार्थोंमें भी उपज जाता है। किन्तु संग्रहनय केवल सद्भूत पदार्थोंको ही जानता है। असद्भूत अर्थोंको नहीं छूता है। अतः नैगमसे संग्रहका विषय अल्प है। कारण कि जिस प्रकार सत् पदार्थोंमें संकल्प होता है, उसी प्रकार असत् पदार्थोंमें भी होता हुआ संकल्प जाना जा रहा है। अतः उस असत् अर्थमें भी प्रवर्त रहे नैगमनयको महाविषयोंका ज्ञातापन है।

संग्रहाद्व्यवहारो बहुविषय इति विपर्ययमपाकरोति।

संग्रहनयसे व्यवहारनय अधिक विषयवाला है, इस विपर्ययज्ञानका ग्रन्थकार प्रत्याख्यान करते हैं।

संग्रहाद्व्यवहारोपि सद्विशेषावबोधकः ।
न भूमविषयोशेषसत्समूहोपदर्शिनः ॥ ८५ ॥

संग्रह नयसे व्यवहारनय भी अल्पविषयवाला है । क्योंकि पूर्ववर्ती संग्रहनय तो सभी सत् पदार्थोंको विषय करता है । और यह व्यवहारनय तो सत् पदार्थोंके विषय हो रहे अल्प पदार्थोंका ज्ञापक है । अतः सम्पूर्ण सत् पदार्थोंके समुदायको दिखलानें वाले संग्रह नयसे व्यवहारनय अधिक विषयग्राही नहीं है ।

व्यवहारादृजुसूत्रो बहुविषय इति विपर्यासं निरस्यति ।

व्यवहारनय की अपेक्षा ऋजुसूत्र नय बहुत पदार्थोंको विषय करता है, इस प्रकार हो रहे किसीके विपर्यय ज्ञानका श्री विद्यानन्द स्वामी निराकरण करते हैं ।

नर्जुसूत्रः प्रभूतार्थो वर्तमानार्थगोचरः ।
कालत्रितयवृत्त्यर्थगोचराद्व्यवहारतः ॥ ८६ ॥

भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालमें वर्त रहे अर्थोंको विषय करनेवाले व्यवहार नयसे केवल वर्तमान कालके अर्थोंको विषय कर रहा ऋजुसूत्र नय तो बहु विषयज्ञ नहीं है । अर्थात्—व्यवहारनय तीनों कालके पदार्थोंको विषय करता है । और ऋजुसूत्र नय केवल वर्तमान कालकी पर्यायको विषय करता है । अतः अल्प विषय है । और व्यवहारका कार्य है ।

ऋजुसूत्राच्छब्दो बहुविषय इत्याशंकामपसारयति ।

किसी की शंका है कि ऋजुसूत्र नयसे शब्दनयका विषय बहुत है । श्री विद्यानन्द स्वामी इस आशंकाको निकालकर फेंक देते हैं । सुनिये ।

कालादिभेदतोप्यर्थमभिन्नमुपगच्छतः ।
नर्जुसूत्रान्महार्थोत्र शब्दस्तद्विपरीतवित् ॥ ८७ ॥

काल, कारक आदिका भेद होते संते फिर भी अभिन्न ही अर्थको अभिप्रेत कर रहे ऋजुसूत्र नयसे शब्दनय उससे विपरीत यानी कालादिके भेदसे भिन्न हो रहे अर्थोंको जान रहा है । अर्थात्—ऋजुसूत्र नय तो काल आदिसे भिन्न हो रहे भी अनेक अर्थोंको अभिन्न करता हुआ जान लेता है । और शब्दनय तो काल आदिसे भिन्न हो रहे एक एक अर्थको ही जान पायेगा ।

शब्दात्समभिरूढो महाविषय इत्यारेकां हंति ।

शब्दसे समभिरूढ नय, अत्यधिक विषयोंको जानता है । इस प्रकारकी आशंकाको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा हटाये देते हैं ।

शब्दात्पर्यायभेदेनाभिन्नमर्थमभीप्सिनः ।
न स्यात्समभिरूढोपि महार्थस्तद्विपर्ययः ॥ ८८ ॥

भिन्न भिन्न पर्यायोंको ग्रहण करनेवाले पर्याय वाचक शब्दोंके भेद होनेपर फिर भी उस करके अभिन्न अर्थको ही अभीष्ट करनेवाले शब्दनयसे समभिरूढ नय भी उस शब्दसे विपरीत प्रकार का है । अर्थात्–शब्दनय तो एकलिंगवाले या समान वचनवाले पर्यायवाचक शब्दोंके भेद होनेपर भी एक ही अभिन्न अर्थको जानता था। किन्तु यह समभिरूढ नय पर्यायवाचक शब्दोंके भेदसे भिन्न भिन्न स्वरूपोंकरके कहे जा रहे अर्थोंको विषय करता है ।

समभिरूढादेवंभूतो भूमविषय इति चाकूतमपास्यति ।

समभिरूढ नयसे एवंभूत नयका विषय अधिक है, इस प्रकारके कुचोद्यका आचार्य महाराज पृथक्कार कर देते हैं ।

क्रियाभेदेपि चाभिन्नमर्थमभ्युपगच्छतः ।
नैवंभूतः प्रभूतार्थो नयः समभिरूढतः ॥ ८९ ॥

शद्वोंमें पडी हुई भिन्न भिन्न धातुओंकी क्रियाओंके भेद होनेपर भी उसी अभिन्न अर्थको स्वीकार कर रहे समभिरूढ नयसे एवंभूत नय प्रचुरविषयवाला नहीं है । एवंभूत नय तो पढाते समय ही पाठक कहेगा, किन्तु समभिरूढ नय खाते, पीते, पूजते समय भी अध्यापकको पाठक समझता रहता है । इस प्रकार नयोंके लक्षण और नयाभासोंका विवेक तथा नयोंके विषयका अल्प बहुत्वपन अथवा पूर्ववर्ती उत्तरवर्तीपनका व्याख्यान यहांतक किया जा चुका है । अब नयोंके दूसरे प्रकरणका प्रारम्भ किया जाता है ।

कथं पुनर्नयवाक्यप्रवृत्तिरित्याह ।

नय सप्तभंगीको बनानेके लिये शिष्यका प्रश्न है कि महाराज फिर यह बताओ कि नयोंके सप्तभंगी वाक्य भला कैसे प्रवर्तते हैं ? इस प्रकार शिष्यकी तीव्र जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं ।

नैगमाप्रतिकूल्येन न संग्रहः प्रवर्तते ।
ताभ्यां वाच्यमिहाभीष्टा सप्तभंगीविभागतः ॥ ९० ॥

संग्रहनय तो नैगमके अप्रतिकूलपनकरके नहीं प्रवर्तता है । अर्थात्–संग्रहकी प्रवृत्ति नैगमनयकी प्रतिकूलतासे है । नैगम यदि अस्तिको कहेगा तो संग्रह नास्ति धर्मको उकसायगा । अतः

उन दोनों नैगम संग्रहनयोंसे यहां अभीष्ट हो रही सप्तभंगी अनेक भेदों करके कह लेनी चाहिये। यानी नैगमनयकी अपेक्षा संकल्पित इन्द्रका अस्तित्व मानकर और संग्रहनयसे उसका नास्तित्व अभिप्रेत कर सात भंगोंका समाहार एक नयसप्तभंगी बना लेना चाहिये। इसी प्रकार अन्य भी विभाग कर देनेसे सप्तभंगीके अनेक भेद हो जाते हैं।

नैगमव्यवहाराभ्यां विरुद्धाभ्यां तथैव सा।
सा नैगमर्जुसूत्राभ्यां तादृग्भ्यामविगानतः ॥ ९१ ॥

तिस ही प्रकार विरुद्ध सरीखे हो रहे अत एव अस्तित्व और नास्तित्वके प्रयोजक बन रहे नैगम और व्यवहारनयसे भी वह सप्तभंगी रच लेनी चाहिये। तथा तिन्हींके सदृश विरुद्ध हो रहे नैगम और ऋजुसूत्र दो नयोंसे अस्तित्व, नास्तित्वको, कल्पित कर अनिन्दित मार्गसे वह सप्तभंगी बना लेनी चाहिये।

सा शब्दान्नैगमादन्याद्युक्तात् समभिरूढतः।
सैवंभूताच्च सा ज्ञेया विधानप्रतिषेधगा ॥ ९२ ॥

एवं वही सप्तभंगी नैगमसे और शब्दनयसे विधि और प्रतिषेधको प्राप्त हो रही बन गयी है। तथा नैगम और अन्य, भिन्न, आदि शब्दों करके कहे जा चुके समभिरूढ नयसे भी विधि और निषेधको प्राप्त हो रही वह एक न्यारी सप्तभंगी है। तथा विरुद्ध हो रहे नैगम और एवंभूतसे विधान करना और निषेध करना धर्मोको ले रही वह सप्तभंगी पृथक् समझनी चाहिये।

संग्रहादेश्च शेषेण प्रतिपक्षेण गम्यताम्।
तथैव व्यापिनी सप्तभंगी नयविदां मता ॥ ९३ ॥

जैसे नैगमकी अपेक्षा अस्तित्वको रख कर शेष छह नयोंकी अपेक्षासे नास्तित्वको रखते हुये छह सप्तभंगिया बनायी गयी हैं, इसी प्रकार संग्रह आदि नयोंसे अस्तित्व को व्यवस्थापित कर शेष उत्तरवर्ती प्रतिपक्षी नयों करके भी तिस ही प्रकार व्याप्त हो रहीं सप्तभंगीयां यों समझ लेनी चाहिये। ये सभी सप्तभंगियां नयवेत्ता विद्वानोंके यहां ठीक मान ली गयीं हैं।

विशेषैरुत्तरैः सर्वैर्नयानामुदितात्मनाम्।
परस्परविरुद्धार्थैर्द्वंद्ववृत्तेर्यथापथम् ॥ ९४ ॥

पूर्व पूर्वमें जिनके स्वरूप कह दिये गये हैं, ऐसी सम्पूर्ण नयों की उत्तर उत्तरवर्ती विशेष हो रहीं सम्पूर्ण नयोंके साथ सप्तभंगिया बन जाती हैं। परस्परमें विरुद्ध सरीखे अर्थोंको विषय

करनेवाले नयोंके साथ यथायोग्य कलह हो जानेकी प्रवृत्ति हो जानेसे अस्तित्व और नास्तित्व के प्रयोजक धर्म घटित हो जाते हैं।

प्रत्येया प्रतिपर्यायमविरुद्धा तथैव सा।
प्रमाणसप्तभंगीव तां विना नाभिवाग्गतिः ॥ ९५ ॥

प्रत्येक पर्यायमें तिसी प्रकार नयसप्तभंगी समझ लेनी चाहिये, जिस ही प्रकार कि वह प्रमाण सप्तभंगी अविरुद्ध होती हुई पूर्वप्रकरणोंसे व्यवस्थित की जा चुकी है। उस नयसप्तभंगीके विना चारों ओरसे वचन बोलनेका उपाय नहीं घटित हो पाता है। विशेष यह दीखता है कि नय सप्तभंगीमें नास्तित्वकी व्यवस्था करानेके लिये विरुद्ध धर्म अपेक्षणीय हैं और प्रमाण सप्तभंगीमें नास्तित्व धर्मकी व्यवस्थाके लिए अविरुद्ध आरोपित धर्मसे नास्तित्वकी व्यवस्था है। अथवा सर्वथा भिन्न पदार्थोंकी अपेक्षा विरुद्ध पदार्थोंकी ओरसे भी नास्तित्व बन जाता है। प्रमाणसप्तभंगी और नय सप्तभंगीमें अन्य धर्मोंकी अपेक्षा रखना और अन्य धर्मोंकी उपेक्षा रखना यह भेद तो प्रसिद्ध ही है।

इह तावन्नैगमस्य संग्रहादिभिः सह षड्भिः प्रत्येकं षट् सप्तभंग्यः, संग्रहस्य व्यवहारादिभिः सह वचनात् पंच, व्यवहारस्यर्जुसूत्रादिभिश्चतस्रः, ऋजुसूत्रस्य शब्दादिभिस्तिस्रः, शब्दस्य समभिरूढादिभ्यां द्वे, समभिरूढस्यैवंभूतेनैका, इत्येकविंशतिमूलनयसप्तभंग्यः पक्षप्रतिपक्षतया विधिप्रतिषेधकल्पनयावगंतव्याः।

यहां नैगमनयकी संग्रह व्यवहार आदिक छह नयोंके साथ एक एक होती हुई छह सप्तभंगियां बन जाती हैं। अर्थात्–नैगम नयकी अपेक्षा अस्तित्व १ और संग्रहसे नास्तित्व २ क्रमसे उभय ३ अक्रमसे अवक्तव्य ४ नैगम और अक्रमसे अस्ति अवक्तव्य ५ संग्रहसे और अक्रमसे नास्ति अवक्तव्य ६ नैगम और संग्रहसे तथा अक्रमसे विवक्षा करनेपर अस्तिनास्ति, अवक्तव्य, ७ इन सात भंगोंवाली एक सप्तभंगी हुई। इसी प्रकार नैगमसे विधिकी कल्पना कर और व्यवहार, ऋजुसूत्र शब्द, समभिरूढ और एवंभूतसे प्रतिषेधकी कल्पना कर दो। मूलभंगोंको बनाकर शेष पांच भंगोंको क्रम, अक्रम आदिसे बनाते हुये पांच सप्तभंगियां बना लेना। नैगमनयकी संग्रह आदिके साथ छह सप्तभंगियां हुयीं। तथा संग्रहनयकी अपेक्षा विधिकी कल्पना कर और व्यवहारनयकी अपेक्षासे प्रतिषेध कल्पना करते हुये दो मूल भंग बना कर सप्तभंगी बना लेना। इसी प्रकार संग्रहकी अपेक्षा विधिकी कल्पना कर ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नयोंकी अपेक्षा नास्तित्व मान कर अन्य चार सप्तभंगियां बना लेना। इस प्रकार संग्रहनयकी व्यवहार आदिके साथ कथन कर देनेसे एक एक प्रति एक एक सप्तभंगी होती हुई पांच सप्तभंगिया हुयीं तथा व्यवहारकी अपेक्षा अस्तित्व कल्पना कर और ऋजुसूत्रकी अपेक्षा नास्तित्वको मान कर इन दो मूलभंगोंसे एक सप्तभंगी बनाना। इसी

प्रकार व्यवहारनयकी अपेक्षा अस्तित्व मान कर शब्द, समभिरूढ और एवंभूतसे नास्तित्वको कल्पते हुये तीन सप्तभंगियां और भी बना लेना। ये व्यवहारनयकी ऋजुसूत्र आदिके साथ बन कर चार सप्तभंगियां हुयीं तथा ऋजुसूत्रकी अपेक्षा विधिकी कल्पना अनुसार शब्द आदिक तीन नयोंके साथ निषेधकी कल्पना कर दो दो मूल भंगोंको बनाते हुये ऋजुसूत्रनयकी शब्द आदि तीनके साथ तीन सप्तभंगियां हुयीं। तथा शब्दनयकी अपेक्षा विधि कल्पना कर और समभिरूढके साथ निषेध कल्पना करते हुये दो मूलभंगोंसे एक सप्तभंगी बनाना। इसी प्रकार शब्दद्वारा विधि और एवंभूत द्वारा निषेधकी कल्पना कर दो मूलभंगोंसे दूसरी सप्तभंगी बना लेना। यों शब्दकी समभिरूढ आदि दो नयोंके साथ दो सप्तभंगियां हुयीं। तथा समभिरूढकी अपेक्षा अस्तित्वकी कल्पना कर और एवंभूतकी अपेक्षा नास्तित्वको मानते हुये दो मूलभंगोंसे एक सप्तभंगी बना लेना। इस प्रकार स्वकीय पक्ष हो रहे पूर्व पूर्व नयों की अपेक्षासे विधि और प्रतिकूल पक्ष माने गये, उत्तर उत्तर नयोंकी अपेक्षासे प्रतिषेधकी कल्पना करके सात मूलनयों की इक्कीस सप्तभंगियां हो गयीं, समझ लेनी चाहिये।

तथा नवानां नैगमभेदानां द्वाभ्यां परापरसंग्रहाभ्यां सह वचनादष्टादश सप्तभंग्यः, परापरव्यवहाराभ्यां चाष्टादश, ऋजुसूत्रेण नव, शब्दभेदैः षड्भिः सह चतुःपंचाशत्, समभिरूढेन सह नव, एवंभूतेन च नव, इति सप्तदशोत्तरं शतं।

नयोंकी मूल सप्तभंगियोंके भेद हो चुके, अब नयोंके उत्तर भेदों द्वारा रची गयीं सप्तभंगियोंको गिनाते हैं। उसी क्रमसे अनुसार अर्थपर्याय नैगम १ व्यंजनपर्याय नैगम २ अर्थव्यंजनपर्याय नैगम ३ शुद्धद्रव्य नैगम ४ अशुद्धद्रव्य नैगम ५ शुद्धद्रव्यार्थपर्याय नैगम ६ अशुद्धद्रव्यार्थपर्याय नैगम ७ शुद्धद्रव्यव्यंजनपर्याय नैगम ८ अशुद्धद्रव्यव्यंजनपर्याय नैगम ९ इस प्रकार नैगमके नौ भेदोंका पर, अपर, इन दो प्रकारके संग्रह नयोंके साथ कथन करनेसे अठारह सप्तभंगियां हो जाती हैं। अर्थात्—अर्थपर्याय नैगमकी अपेक्षा अस्तित्व कल्पना कर परसंग्रहकी अपेक्षा नास्तित्व मानते हुए दो मूलभंगोंकी भित्तिपर एक सप्तभंगी बना लेना। इसी प्रकार नौऊ नैगमोंकी अपेक्षा अस्तित्व मानते हुए दोनों संग्रहोंसे प्रतिषेध करते हुए अठारह सप्तभंगिया बन गयीं। तथा नौ नैगमके भेदोंकी अपेक्षा अस्तित्व मानकर पर, अपर, इन दो व्यवहार नयोंकरके नास्तित्वको मानते हुये दो दो मूलभंगोंसे एक एक सप्तभंगी बनाते हुए ये भी अठारह सप्तभंगियां होगईं। तथा ऋजुसूत्रका एक ही भेद है। अतः नौ नैगमोंसे विधिकी कल्पना कर और ऋजुसूत्रनयसे प्रतिषेध करते हुये दो दो मूलभंगोंद्वारा ये नौ सप्तभंगियां हुयीं। शब्दनयके काल कारक लिंग संख्या साधन उपसर्ग ये छह भेद हैं। नैगमके नौऊ भेदोंसे अस्तित्वको मानते हुये और शब्दनयके छहऊ भेदोंसे नास्तित्वको कल्पते हुये दो दो मूल भंगोंसे एक एक सप्तभंगीको बनाकर नौ छक

चौअन सप्तभंगियां बना लीजियेगा। तथा नौऊ नैगमोंसे पहिले अस्तित्व भंगको साध कर और समभिरूढसे दूसरे नास्तित्व भंगकी कल्पना कर एक एक सप्तभंगी बनाते हुये नैगमकी समभिरूढके साथ नौ सप्तभंगियां बना लेना। ऐसे ही नौ नैगमोंमेंसे एक एक नैगमकी अपेक्षासे विधि कल्पना कर और एवंभूत नयसे निषेध कल्पना करते हुये नौ नैगमके भेदोंकी एवंभूतके साथ नौ सप्तभंगियां बन गयीं समझ लेनी चाहिये। इस प्रकार नैगमकी १८+१८+९+५४+९+९=११७ यों एक सौ सत्रह उत्तर सप्तभंगियां हुयीं।

तथा संग्रहादिनयभेदानां शेषनयभेदैः सप्तभंग्यो योज्याः। एवमुत्तरनयसप्तभंग्यः पंचसप्तत्युत्तरशतं।

तिसी नैगमके प्रकारों अनुसार संग्रह आदिक नयोंके भेदोंकी उत्तर उत्तर शेष बचे हुये नयोंके भेदोंके साथ अस्तित्व, नास्तित्वकी विवक्षा कर सप्तभंगियां बना लेनी चाहिये अर्थात्—दोनों संग्रहनयोंकी अपेक्षा अस्तित्वको मान कर और दोनों व्यवहारनयोंसे नास्तित्वको मान कर दो दो मूलभंगोंके द्वारा एक एक सप्तभंगी बनाते हुये संग्रहके पर, अपर, भेदोंकी व्यवहारके पर, अपर, दो भेदोंके साथ चार सप्तभंगियां हुयीं। दो संग्रहोंकी अपेक्षा अस्तित्वको मानते हुये और ऋजुसूत्रसे नास्तित्वको गढ कर दो मूलभंगों द्वारा सप्तभंगीको बनाते हुये पर, अपर, संग्रहोंकी एक प्रकार ऋजुसूत्रके साथ दो सप्तभंगियां हुयीं। तथा दो संग्रहोंकी छह प्रकारके शब्दनयके साथ दो दो मूल भंगों करके सप्तभंगी बना कर बारह सप्तभंगियां हुयीं। तथा दो संग्रहोंकी एक समभिरूढके साथ विधि प्रतिषेध कल्पना करते हुये दो सप्तभंगिया बनाना। इसी प्रकार दो संग्रहोंकी अपेक्षा विधि करते हुये और एवंभूतकी अपेक्षा निषेध करते हुये दो सप्तभंगियां हुयीं। इस प्रकार संग्रहनयके भेदोंकी शेष नयोंके भेदोंके साथ ४+२+१२+२+२=२२ बाईस सप्तभंगियां हुयीं। तथा व्यवहारनयके दो भेदोंकी अपेक्षा अस्तित्व मान कर और ऋजुसूत्रके एक भेदकी अपेक्षा नास्तित्व मान कर दो मूल भंगोंसे एक एक सप्तभंगी बनाते हुये दो सप्तभंगियां हुयीं। और दो व्यवहारनयोंकी छह प्रकारके शब्दनयोंके साथ अस्तित्व, नास्तित्वकी कल्पना करते हुये बारह सप्तभंगियां बना लेना और दो प्रकार व्यवहारनयकी अपेक्षा अस्तित्वकी कल्पना कर समभिरूढके साथ नास्तित्वको मानते हुये दो सप्तभंगियां बना लेना और दो व्यवहारनयोंकी अपेक्षा विधान करते हुये एवंभूतकी अपेक्षा नास्तित्वको कल्पित कर दो सप्तभंगियां बना लेना, इस प्रकार व्यवहारनयके दो भेदोंकी शेषनय या नयभेदोंके साथ २+१२+२+२=१८ अठारह सप्तभंगियां हुयीं। तथा ऋजुसूत्रकी सप्तभंगियां यों हैं कि एक ऋजुसूत्रकी छह प्रकारके शब्दनयके साथ अस्तित्व, नास्तित्वको विवक्षित कर छह सप्तभंगियां हुयीं, यद्यपि ऋजुसूत्रकी अपेक्षा अस्तित्व कल्पित कर और समभिरूढकी अपेक्षा नास्तित्वकी कल्पना कर एक सप्तभंगी तथा ऋजुसूत्रकी अपेक्षा अस्तित्व और एवंभूतकी अपेक्षा नास्तित्व मान कर दो मूल भंगोंद्वारा दूसरी सप्तभंगी इस प्रकार दो सप्तभंगिय

अन्य भी हो सकती थीं। किंतु ये दो सप्तभंगियां मूलनयकी इक्कीस सप्तभंगियोंमें गिनाई जा चुकी हैं। नयोंके उत्तर भेदोंकी सप्तभंगियोंमें उक्त दो सप्तभंगियोंके गिनानेका प्रकरण नहीं है। अतः एक प्रकारके ऋजुसूत्रनयकी शेष उत्तरनय भेदोंके साथ ६ छह ही सप्तभंगियां हुयीं। तथा शब्दनयके भेदोंकी सप्तभंगियां इस प्रकार हैं कि छह प्रकारके शब्दनयकी अपेक्षा अस्तित्व मानकर एक ही प्रकारके समभिरूढनयकी अपेक्षा नास्तित्वकी कल्पना करते हुये दो मूलभंगोंद्वारा छह सप्तभंगियां बना लेना और छह शब्दनयके भेदोंकी अपेक्षा अस्तित्व मान कर एक प्रकारके एवंभूतकी अपेक्षा नास्तित्वको मानते हुए छह सप्तभंगियां बना लेना। इस प्रकार शब्दनयके भेदोंकी बचे हुये दो नयोंके साथ ६+६=१२ बारह सप्तभंगियां हुयीं। समभिरूढ और एवंभूतका कोई उत्तरभेद नहीं है। अतः समभिरूढकी एवंभूतके साथ अस्तित्व या नास्तित्व विवक्षा करनेपर उत्पन्न हुई एक सप्तभंगी मूल इक्कीस सप्तभंगियोंमें गिनी जा चुकी है। उत्तर सप्तभंगीमें उसको गिननेकी आवश्यकता नहीं है, गिन भी नहीं सकते हैं। इस प्रकार उत्तर नयोंकी ११७+२१+१८+६+१२=१७५ एक सौ पिचत्तर सप्तभंगियां हुयीं।

तथोत्तरोत्तरनयसप्तभंग्योपि शद्धतः संख्याताः प्रतिपत्तव्याः।

तिस प्रकार भेद प्रभेद करते हुये उत्तर उत्तर नयोंकी सप्तभंगियां भी लाखों, करोडों, होती हुयीं शद्बोंकी अपेक्षा संख्यात सप्तभंगिया हो जाती हैं। क्योंकि जगत्में संकेत अनुसार वाच्य अर्थोंको प्रतिपादन करनेवाले शद्ब केवल संख्याते हैं। असंख्यात या अनन्त नहीं हैं। चौसठ अक्षरोंके द्वारा संयुक्त अक्षर बनाये जाय तो एक कम एकट्ठि प्रमाण १८४४६७४४०७३७०९५५-१६१५ इतने एक एक होकर अपुनरुक्त अक्षर बन जाते हैं। तथा संकेत अनुसार इन अक्षरोंको आगे पीछे धर कर या स्वरोंका योग कर एकस्वर पद, एक स्वरवाले पद, दो स्वरवाले पद, तीन स्वरवाले पद, चार स्वरवाले पद, पाच स्वरवाले पद, एवं अ (निषेध या वासुदेव) इ (कामदेव) उ (क्रोध उक्ति) मा (लक्ष्मी) कु (पृथ्वी) ख (आकाश) घट (घडा) अग्नि (आग) करी (हाथी) मनुष्य, भुजंग, मर्कट, अजगर, पारिजात, परीक्षक, अभिनन्दन, साम्परायिक, सुरदीर्घिका, अञ्जानखलधी, अभ्यवकर्षण, श्रीवत्सलाञ्छन, इत्यादि पद बनाये जावें तो पद्मों, संखों, नलिनांग, नलिन, आदि संख्याओंका अतिक्रमण कर संख्याती सप्तभंगियां बन जाती समझ लेनी चाहिये, जो कि जघन्य परीतासंख्यातसे एक कम हो रहे उत्कृष्ट संख्यात नामकी संख्याके भीतर हैं।

इति प्रतिपर्यायं सप्तभंगी बहुधा वस्तुन्येकत्राविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना प्रागुक्ताचार्यैः नाव्यापिनी नातिव्यापिनी वा नाप्यसंभविनी तथा प्रतीतिसंभवात्। तद्यथा-संकल्पनामात्रग्राहिणो नैगमस्य तावदाश्रयणाद्विधिकल्पना, प्रस्थादिसंकल्पमात्रं प्रस्थाद्यानेतुं

गच्छामीति व्यवहारोपलब्धेः। भाविनि भूतवदुपचारात्तथा व्यवहारः तंदुलेष्वोदनव्यवहारवदिति चेन्न, प्रस्थादिसंकल्पस्य तदानुभूयमानत्वेन भावित्वाभावात् प्रस्थादिपरिणामाभिमुखस्य काष्ठस्य प्रस्थादित्वेन भावित्वात् तत्र तदुपचारस्य प्रसिद्धिः। प्रस्थादिभावाभावयोस्तु तत्संकल्पस्य व्यापिनोनुपचरितत्वात्। न च तद्व्यवहारो मुख्य एवेति।

इस प्रकार प्रत्येक पर्यायमें बहुत प्रकारसे सप्तभंगियां बना लेनी चाहिये। एक वस्तुमें अविरोध करके विधि और प्रतिषेध आदिकी कल्पना करना आचार्योंने सप्तभंगी कही है। पहिले प्रकरणोंमें कही गयी प्रमाण सप्तभंगीके समान यह नयसप्तभंगी भी अनेक प्रकारसे जोड लेनी चाहिये। प्रश्नके वशसे एक वस्तुमें या वस्तुके अंशमें विधि और प्रतिषेधकी कल्पना करना यह सप्तभंगीका लक्षण निर्दोष है। लक्ष्यके एकदेशमें रहनेवाले अव्याप्तिदोषकी इसमें सम्भावना नहीं है और यह सप्तभंगी अतिव्याप्ति दोषसे युक्त नहीं है, तथा असम्भव दोषवाली भी नहीं है। क्योंकि तिस प्रकार प्रतीतियोंसे वस्तुमें सातों भंग सम्भव जाते हैं। उसी निर्णयको यहां इस प्रकार समझ लेना चाहिये कि सबसे पहिले केवल संकल्पको ही ग्रहण करनेवाले नैगमनयका आश्रय लेनेसे विधिकी कल्पना करना। क्योंकि प्रस्थ, इन्द्रप्रतिमा, आदिके केवल संकल्पस्वरूप जो प्रस्थ आदिक हैं उनको लानेके लिये जाता हूं, इस प्रकार व्यवहार हो रहा देखा जाता है। अर्थात्–प्रस्थका लाना नहीं है। किन्तु प्रस्थके केवल संकल्पका लाना है। अढैयाके चतुर्थांश अन्नको समालेनेवाले काष्ठनिर्मित पात्रको प्रस्थ कहते हैं। इस प्रस्थके संकल्पकी नैगमनयके द्वारा विधि की गयी है। यदि कोई यों कहे कि भविष्यमें होनेवाले पदार्थमें द्रव्यनिक्षेपसे हो चुके पदार्थके समान यहां उपचारसे तिस प्रकारका व्यवहार कर लिया जाता है, जैसे कि कच्चे चावलोंमें पक्के भातका व्यवहार हो जाता है। इसपर आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस नैगमनयकी प्रवृत्तिके अवसरपर प्रस्थ आदिके संकल्पका ही या संकल्पको प्राप्त हो रहे प्रस्थ आदिका ही अनुभव किया जा रहा है। इस कारण उस संकल्पको भविष्यकाल सम्बन्धीपनेका अभाव है। प्रस्थ इन्द्र आदिका संकल्प तो वर्तमान कालमें विद्यमान है, संकल्प विचारा भविष्यमें होनेवाला नहीं है। प्रस्थ, प्रतिमा, आदिक पर्यायस्वरूप होनेके लिये अभिमुख हो रहे काठको प्रस्थ, प्रतिमा, आदिकपने करके भविष्यकाल सम्बन्धीपना है। अतः उस काष्ठमें उन प्रस्थ आदिपनेके उपचारकी अच्छी सिद्धि हो जाती है। किन्तु नैगम नयका विषय तो मुख्य ही है। क्योंकि प्रस्थ आदिके सद्भाव होनेपर या उनका अभाव होनेपर दोनों दशामें व्याप रहे उन प्रस्थ आदि सम्बन्धी संकल्पको तो अनुपचरितपना है। किन्तु द्रव्यनिक्षेपकी आड लेकर किया गया भावीमें भूतपन वर्तमानपनके समान उसका व्यवहार तो मुख्य नहीं है। अर्थात्–द्रव्यनिक्षेपका विषय तो वर्तमान कालमें नहीं विद्यमान है। किन्तु नैगमका विषय संकल्प मुख्य होकर इस कालमें वर्त रहा है। अतः नैगम-

नयकी अपेक्षा प्रस्थ आदि की विधिको करनेवाला पहिला भंग बना लेना चाहिये। शेष छह नयोंकी अपेक्षा दूसरा भंग बनाओ।

तत्प्रतिसंग्रहाश्रयणात्प्रतिषेधकल्पना न प्रस्थादिसंकल्पमात्रं प्रस्थादि सन्मात्रस्य तथा प्रतीतेः असतः प्रतीतिविरोधादिति व्यवहाराश्रयणात् द्रव्यस्य तथोपलब्धेरद्रव्यस्यासतः सतो वा प्रत्येतुमशक्तेः पर्यायस्य तदात्मकत्वादन्यथा द्रव्यांतरत्वप्रसंगादिति ऋजुसूत्राश्रयणात्पर्यायमात्रस्य प्रस्थादित्वेनोपलब्धेः, अन्यथा प्रतीत्यनुपपत्तेरिति शब्दाश्रयणात् कालादिभेदाद्भिन्नस्यार्थस्य प्रस्थादित्वादन्यथातिप्रसंगात्। इति समभिरूढाश्रयणात् पर्यायभेदेन भिन्नस्यार्थस्य प्रस्थादित्वात् अन्यथातिप्रसंगादिति, एवंभूताश्रयणात् प्रस्थादिक्रियापरिणतस्यैवार्थस्य प्रस्थादित्वादन्यथातिप्रसंगादिति। तथा स्यादुभयं क्रमार्पितोभयनयार्पणात् स्यादवक्तव्यं, सहार्पितोभयनयाश्रयणात् अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भंगा यथायोगमुदाहार्या इत्येताः षट्सप्तभंग्यः।

उस संकल्पित प्रस्थ आदिके प्रति संग्रहनयके आश्रयसे प्रतिषेधकी कल्पना करना। क्योंकि केवल प्रस्थ आदिका मानसिक संकल्प ही तो प्रस्थ, प्रतिमा, आदिक स्वरूप पदार्थ नहीं है। संकल्प तो असत् पदार्थोंका भी हो जाता है। परन्तु तिस प्रकार प्रस्थ आदिके सद्भावपने करके तो केवल विद्यमान हो रहे पदार्थोंकी ही प्रतीति हो सकती है। असत् पदार्थकी प्रतीति होनेका विरोध है। जब कि वस्तुभूत प्रस्थ आदिक नहीं है, तो वे संग्रहनयकी अपेक्षा यों नास्तित्व धर्मद्वारा प्रतिषिद्ध कर दिये जाते हैं। व्यवहारनयके आश्रयसे भी प्रतिषेध कल्पना कर लेना। क्योंकि सद्भावके होनेपर उसके व्याप्य हो रहे द्रव्यकी तिस प्रकार प्रस्थ, इन्द्रप्रतिमा आदिपने करके उपलब्धि हो पाती है। नैगमनयद्वारा केवल संकल्पित कर लिए गये असत् पदार्थकी अथवा संग्रहनयद्वारा सद्भूत जान लिये गये भी पदार्थकी व्यवहारनयद्वारा तबतक प्रतीति नहीं की जा सकती है, जबतक कि वह द्रव्यपने करके या सामान्य पर्यायपने करके व्यवहृत होता हुआ विभक्त नहीं किया गया होय। प्रकरणमें प्रस्थरूपपर्यायको उस प्रस्थ आत्मकपना है। यदि ऐसा नहीं मानकर दूसरे प्रकारोंसे मानोगे तो प्रस्थ, घट, पट, आदिको भिन्न भिन्न द्रव्य हो जानेका प्रसंग होगा। भावार्थ–व्यवहारनय और ऋजुसूत्रनय द्रव्य या पर्यायकी प्रस्थ आदि रूपकरके विधि कर सकता है। कोरे संकल्पको प्रस्थ नहीं कहना चाहता है। अतः व्यवहारनयसे भी प्रतिषेध कल्पनाकर दूसरे भंगको पुष्ट करो। इसी प्रकार ऋजुसूत्रनयके आश्रयसे प्रतिषेध कल्पना करो। ऋजुसूत्रनयके विचार अनुसार पात्ररूपसे बनाई जा चुकी केवल प्रस्थ, प्रतिमा, आदि पर्यायोंकी प्रस्थ आदिपने करके प्रतीति की जाती है। दूसरे प्रकारोंसे अर्थात्–संकल्प या सन्मात्र अथवा केवल द्रव्य कह देनेसे ही प्रस्थ पर्यायकी प्रतीति होना नहीं बन पाता है। इस कारण ऋजुसूत्रनयसे भी नास्तित्व भंगको

साध लेना । तथा शब्दनयके आश्रयसे प्रतिषेध कल्पना करना, क्योंकि काल, कारक आदिके भेद से भिन्न हो रहे अर्थको प्रस्थ आदिपना है । अन्यथा यानी दूसरे ढंगोंसे प्रस्थ आदिकी व्यवस्था करनेपर अतिप्रसंग हो जायगा । कोरे काठ या पांचसेरीके पात्रको भी प्रस्थ कह लेनेके लिये कोई रोक नहीं सकेगा । इस कारण शब्दनयसे नास्तित्व भंगको सिद्ध करो । तथा छटे समभिरूढनय का आश्रय लेनेसे प्रतिषेधकी कल्पना करो । क्योंकि प्रस्थ, पल्य, आदि पर्यायवाचक शब्दोंके भेद हो जाने करके भिन्न भिन्न हो रहे अर्थको प्रस्थ आदिपना है । अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा । अर्थात्—पूर्व नयोंके व्यापक अर्थोंमें समभिरूढनय वर्त जायगा तथा इसी प्रकार नैगम नयकी अपेक्षा विधि की कल्पना करते हुये एवंभूतनयका आश्रय करनेसे निषेध की कल्पना करना । क्योंकि प्रस्थ आदि की क्रिया करनेमें परिणत हो रहे ही अर्थको प्रस्थ आदिपना है । अन्यथा माननेपर अतिप्रसंग हो जायगा । अर्थात्—जिस समय नाप-नेके लिये पात्रमें गेंहू, धान, भले प्रकार स्थित हो रहे हैं, उसी समयकी पात्र अवस्थाको प्रस्थ कहना चाहिये । खाली रखे हुये पात्रको प्रस्थ नहीं मानना चाहिये । अन्यथा गडबड फैल जायगी। जगत्में चाहे जिस पदार्थको चाहे जिस शब्दकरके कह दिया जावेगा । विचार करने पर प्रतीत होता है कि जन्मभरमें एक बार भी पढा देनेसे मनुष्य पाठक कहा जा सकता है । एक चेतना गुणके होनेसे सम्पूर्ण गुणोंका पिण्ड आत्मा चेतन कह दिया जाता है । एक दिन या एक घण्टे व्यभिचार या चोरी करनेसे जन्मभरके लिये व्यभिचारी या चोर वह गिना जाता है । किन्तु एवं-भूतनयकी मनीषा न्यारी है । अतः एवंभूतकी परिणतिको मूलकारण समझो । उसको छोड देने पर सभी शाखायें तितर बितर हो जाती हैं । पूर्व नयोंके व्यापक विषयको एवंभूत नहीं पकडती है । इसकी अपेक्षा परवस्तुओंको चुराता हुआ ऐंडे पर पकडा गया चोर चोट्टा है । न्यायालयमें खडा हुआ वही मनुष्य चोर नहीं है । इसी प्रकार व्यभिचारीकी व्यवस्था समझो । अतः छह प्रकारोंसे दो मूलभंगोंकी बनाना । इसी प्रकार तीसरा भंग क्रमसे अर्पित किये गये दोनों नयोंकी अर्पणासे कथंचित् उभय बना लेना तथा एक साथ कहनेके लिये अर्पित किये दोनों नयके आश्रयसे कथंचित् अवक्तव्य यों चौथा भंग बनाना । तथा जिनके उत्तर कोटिमें अवक्तव्य पडा हुआ है, ऐसे बचे हुये अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, अस्तिनास्ति अवक्तव्य, ये तीन भंग भी यथायोग्य विवक्षाओंका योग मिलाने पर उदाहरण करने योग्य हैं । इस प्रकार ये छह सप्तभंगियां समझा दी गयी हैं ।

तथा संग्रहाश्रयतो विधिकल्पना स्यात् सदेव सर्वमसतोऽप्रतीतेः खरशृंगवदिति तत् प्रतिषेधकल्पना व्यवहाराश्रयणान्न स्यात्, सर्वं सदेव द्रव्यत्वादिनोपलब्धेर्द्रव्यादिरहितस्य सन्मात्रस्यानुपलब्धेश्चेति ऋजुसूत्राश्रयणात् प्रतिषेधकल्पना न सर्वं स्यात् । सदेव वर्त-मानादूपादन्येन रूपेणानुपलब्धेरन्यथा अनाद्यनंतसत्त्वोपलंभप्रसंगादिति शब्दाश्रयणा-

त्प्रतिषेधकल्पना न सर्वं स्यात्सदेव कालादिभेदेन भिन्नस्यार्थस्योपलब्धेरन्यथा कालादिभेदानर्थक्यप्रसंगादिति समभिरूढाश्रयात्प्रतिषेधकल्पना न सर्वं सदेव स्यात्, पर्यायभेदेन भिन्नस्यार्थस्योपलब्धेरन्यथैकपर्यायत्वप्रसंगात् इति । एवंभूताश्रयात् प्रतिषेधकल्पना न सर्वं सदेव तत्क्रियापरिणतस्यैवार्थस्य तथोपपत्तेरन्यथा क्रियासंकरप्रसंगात् इति । तथोभयनयक्रमाक्रमार्पणादुभयावक्तव्यकल्पना, विधिनयाश्रयणात्सहोभयनयाश्रयणाच्च विध्यवक्तव्यकल्पना प्रतिषेधनयाश्रयणात् सहोभयनयाश्रयणाच्च प्रतिषेधावक्तव्यकल्पना क्रमाक्रमोभयनयाश्रयणात्तदुभयावक्तव्यकल्पनेति पंचसप्तभंग्यः ।

तिसी नैगमनयकी पद्धति अनुसार संग्रहनयका आश्रय करनेसे विधिकी कल्पना होगी। सम्पूर्ण प्रतीत किये जा रहे पदार्थ सद्भूत ही हैं । गर्दभके सींग समान असत् पदार्थोंकी प्रतीति नहीं हो पाती है । इस प्रकार संग्रहनयसे सब सत् हैं । " स्यात् सदेव सर्वं " ऐसा पहिला भंग बनाना तथा व्यवहारनयके आश्रयसे उसके निषेधकी कल्पना करना " न स्यात् सर्वं सदेव ", किसी अपेक्षा सम्पूर्ण पदार्थ केवल सत्रूप ही नहीं हैं । क्योंकि व्यवहारमें द्रव्यपने या पर्यायपने करके पदार्थोंकी उपलब्धि हो रही है । द्रव्यगुणपर्याय या उत्पादव्ययध्रौव्यसे रहित हो रहे कोरे सत् की स्वप्नमें भी उपलब्धि नहीं है । अन्यथा यानी द्रव्य और पर्यायके विना कोरा सत् दीख जायगा तो जीव या घटका उपलम्भ करनेपर उसकी अनादिकालसे अनन्तकालतक वर्त रही सत्ताके उपलम्भ हो जानेका प्रसंग होगा । किन्तु व्यवहारी जनोंको लम्बी, चौडी, कोरी, सत्ताका उपलम्भ नहीं होता है । भले ही द्रव्य और पर्यायोंमें विशेषण हो रहे सत्का ज्ञान हो जाय । अतः व्यवहारनयसे कोरे सत्की निषेध कल्पना की गयी है । इसी प्रकार ऋजुसूत्र नयके आश्रयसे प्रतिषेधकी कल्पना करना " न सर्वं स्यात् सदेव " सभी पदार्थ कथंचित् सत्रूप ही नहीं है । क्योंकि वर्तमान पर्यायस्वरूपसे अन्य स्वरूपों करके पदार्थोंकी उपलब्धि नहीं हो रही है । अन्यथा यानी ऋजुसूत्रनयसे वर्तमान पर्यायोंके अतिरिक्त पर्यायोंकी भी विधि दीखने लगेगी, तो अनादि, अनन्त, कालकी पर्यायोंका सद्भाव दीख जाना चाहिये । यह प्रसंग टल नहीं सकता है । अतः संग्रहनयसे सत् की विधिको करते हुये ऋजुसूत्र नयसे प्रतिषेध कल्पना करना अच्छा जच गया । इसी प्रकार शब्दनयके आश्रयसे प्रतिषेध कल्पना कर लेना " न सर्वं स्यात् सदेव " सम्पूर्ण पदार्थ कथंचित् सत्रूप ही नहीं हैं । क्योंकि काल, कारक, संख्या आदिके भेदकरके भिन्न भिन्न हो रहे अर्थोंकी उपलब्धि हो रही है । अर्थात्—काल आदिकसे भिन्न हो रहा पदार्थ तो जगत्में विद्यमान है । शेष कोई कोरा सत् पदार्थ नहीं है । अन्यथा काल, कारक, आदिके भेद करनेके व्यर्थपनका प्रसंग होगा, जो कि इष्ट नहीं है । इसी प्रकार समभिरूढनयके आश्रयसे प्रतिषेध कल्पना कर लेना । सभी पदार्थ कथंचित् सत

रूप ही नहीं हैं। क्योंकि पर्यायोंको कहनेवाले पर्यायवाची शब्दोंके भेद करके भिन्न भिन्न अर्थोंकी उपलब्धि हो रही है। अन्यथा एक ही पर्यायवाची शब्दकरके कथन हो जानेका प्रसंग होगा। अथवा पदार्थकी एक ही पर्याय मान लेनेसे प्रयोजन सध जाने चाहिये। देवोंको अमर, निर्जर, देव, आदि शब्दोंसे या स्त्रीको अबला, सीमन्तिनी, मुग्धा, शब्दोंसे कहने की आवश्यकता नहीं रहेगी। अपमृत्यु नहीं होनेकी अपेक्षा देव अमर कहे जाते हैं। बुढापा नहीं आनेकी अपेक्षा वे निर्जर कहे जाते हैं। क्रीडा करनेकी पर्यायोंसे वे देव हैं, तथा गर्भ धारणकी अपेक्षा स्त्री है। निर्बलता धर्मकरके वह अबला है, सुन्दर केशपाश होनेसे वह सीमन्तिनी है। भोलेपनकी अपेक्षा स्त्रीको मुग्धा कहते हैं। इस प्रकार भिन्न भिन्न पर्यायोंसे युक्त पदार्थ तो समभिरूढ नयकी दृष्टिसे सत् है। शेष कोरे सत् तो असत् ही हैं। तथा संग्रहनयकी अपेक्षा विधिकी कल्पना करते हुये तभी एवंभूतनयके आश्रयसे प्रतिषेधकी कल्पना कर लेना " न स्यात् सर्वं सदेव " सम्पूर्ण पदार्थ कथंचित् सत्‌रूप ही नहीं हैं। क्योंकि उस उस क्रियामें परिणम रहे ही अर्थको तिस प्रकार होना बनता है। अन्य ढंगोंसे सद्भूतपना मान लेनेपर क्रियाओंके संकर हो जानेका प्रसंग हो जायगा। तेलीका काम तमोलीसे नहीं लिया जा सकता है। हिंसक नर क्षमाधारी नहीं हो सकता है। व्यभिचारी और ब्रह्मचारीकी क्रिया एक नहीं है। अतः संग्रहनयके द्वारा कोरे सत्‌की विधि हो जानेपर भी क्रिया परिणतियोंके बिना यह नय उसको असत् ही यों कहता जायगा, जैसे कि आप्तपुरुष द्वारा भाईके आ जानेका सद्भाव जान करके भी अन्धी स्त्री तबतक उस भाईका असद्भाव मानती है, जबतक कि उसको वह भ्रातृरूपसे शारीरिक मिलनद्वारा मिलता नहीं है या प्रियसम्भाषण क्रियाको करता नहीं है। इस प्रकार संग्रहकी अपेक्षा विधिकल्पना और व्यवहार आदि पांच नयोंसे निषेधकल्पना करते हुये पांच प्रकार के दो मूलभंग बना लेना तथा संग्रह व्यवहार या संग्रह ऋजुसूत्र आदि यों दो दो नयके क्रम और अक्रमकी विवक्षा कर देनेसे तीसरे उभय भंग और चौथे अवक्तव्य भंगकी कल्पना कर लेना चाहिये। और विधि प्रयोजक संग्रहनयका आश्रय करनेसे तथा साथ कहनेके लिये उभय नयोंका आश्रय कर लेनेसे पांचवां अस्ति अवक्तव्य भंग बना लेना तथा प्रतिषेधके प्रयोजक नयोंका आश्रय कर लेनेसे और एक साथ दो नयोंके अर्थ प्रतिपादन करनेका आश्रय करनेसे छठे प्रतिषेधावक्तव्य धर्मकी कल्पना कर लेनी चाहिये तथा क्रमसे अक्रमसे और उभय नयोंके एक साथ प्रतिपादनका आश्रय करनेसे उन वीधि निषेधके साथ दोनोंका अवक्तव्य नामका सातवा भंग बन जाता है। इस प्रकार संग्रहसे विधिकी विवक्षा कर और उत्तरवर्ती पांच नयोंसे निषेधकी विवक्षा कर दो मूलभंगोंके द्वारा पांच सप्तभंगियां यहांतक बना दी गयी हैं।

तथा व्यवहारनयाद्विधिकल्पना सर्वं द्रव्याद्यात्मकं प्रमाणप्रमेयव्यवहारान्यथानुपपत्तेः कल्पनामात्रेण तद्व्यवहारे स्वपरपक्षव्यवस्थापननिराकरणयोः परमार्थतोऽनुपपत्तेरिति

तं प्रति तावदृजुसूत्राश्रयात्प्रतिषेधकल्पना न सर्वं द्रव्याद्यात्मकं पर्यायमात्रस्योपलब्धेरिति शब्दसमभिरूढैवंभूताश्रयात् प्रतिषेधकल्पना न सर्वं द्रव्याद्यात्मकं, कालादिभेदेन, पर्यायभेदेन, क्रियाभेदेन च भिन्नस्यार्थस्योपलब्धेः इति । प्रथमद्वितीयभंगौ पूर्ववदुत्तरे भंगा इति चतस्रः सप्तभंग्यः प्रतिपत्तव्याः ।

तथा तीसरे व्यवहारनयसे विधिकी कल्पना करना " स्यात् सर्वं द्रव्याद्यात्मकं " सम्पूर्ण पदार्थ कथंचित् द्रव्यपर्याय आदिक स्वरूप हैं । क्योंकि अन्यथा यानी पदार्थोंके द्रव्य, पर्याय, आदि स्वरूप माने विना प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, आदिके व्यवहार नहीं बन सकते हैं । बौद्धोंके अनुसार कोरी कल्पनासे उन प्रमाण, प्रमेयपनका व्यवहार माना जायगा तो स्वपक्षकी सिद्धि करादेने और परपक्षका निराकरण कर देनेकी यथार्थ रूपसे व्यवस्था नहीं बन सकेगी । इसके लिये वस्तुभूत द्रव्य या पर्यायोंको मानते हुये प्रमाण, प्रमेय, व्यवहार साधना पडता है । द्रव्य या स्थूलपर्यायोंको माननेवाले उस व्यवहारीके प्रति तो अब ऋजुसूत्र नयका आश्रय करनेसे दूसरे भंग प्रतिषेधकी कल्पना करो " न सर्वं द्रव्याद्यात्मकं " सभी पदार्थ कथंचित् द्रव्य या सहभावी पर्यायों स्वरूप ही नहीं हैं । क्योंकि हमें तो केवल वर्तमानकाल की सूक्ष्म, स्थूल पर्यायें हीं दीख रही हैं । द्रव्य या भेद प्रभेदवान् चिरकालीन पर्यायें तो नहीं दीख रही हैं । अतः नास्तित्व भंग सिद्ध हो गया । इसी प्रकार शद्व समभिरूढ और एवंभूत नयोंके आश्रयसे प्रतिषेध की यों कल्पना करना कि " न सर्वं द्रव्याद्यात्मकं " सम्पूर्ण पदार्थ कथंचित् द्रव्य, पर्याय आदि स्वरूप ही नहीं हैं । क्योंकि काल, कारक, आदिके भेद करके अथवा पर्यायवाची शद्बोंके वाच्य अर्थका भेद करके तथा भिन्न भिन्न क्रिया परिणतियोंके भेद करके भिन्न भिन्न अर्थोंकी उपलब्धि हो रही है । कोरे द्रव्य और पर्याय ही नहीं दीख रहे हैं । इस प्रकार व्यवहारनयकी अपेक्षा पहिला भंग और शेष चार नयोंकी अपेक्षा दूसरा दूसरा भंग बना कर पहिले दूसरे भंगोंको बना लेना। पश्चात् पूर्वक्रमके अनुसार क्रम अक्रम आदि द्वारा (करके) शेष उत्तरवर्ती पांच भंगोंको बना लेना । इस प्रकार ये चार सप्तभंगिया समझ लेनी चाहिये ।

तथर्जुसूत्राश्रयाद्विधिकल्पना सर्वं पर्यायमात्रं द्रव्यस्य क्वचिदव्यवस्थितेरिति तं प्रति शब्दाश्रयात्प्रतिषेधकल्पना । समभिरूढैवंभूताश्रयाच्च न सर्वं पर्यायमात्रं कालादिभेदेन पर्यायभेदेन क्रियाभेदेन च भिन्नस्य पर्यायस्योपपत्तिमत्त्वादिति । द्वौ भंगौ क्रमाक्रमार्पितोभयनयास्तृतीयचतुर्थभंगाः त्रयोन्ये प्रथमद्वितीयतृतीया एव वक्तव्योत्तरा यथोक्तनययोगादवसेया इति तिस्रः सप्तभंग्यः ।

तिसी प्रकार ऋजुसूत्रनयका आश्रय लेनेसे विधिकी कल्पना करना " सर्वं जगत् पर्यायमात्रमस्ति " सम्पूर्ण पदार्थ केवल पर्यायस्वरूप ही हैं । नित्यद्रव्यकी कहीं भी व्यवस्था नहीं है । इस प्रकार ऋजुसूत्रनयसे अस्तित्वकी कल्पना करनेवाले उस वादीके प्रति शब्दनयका आश्रय लेनेसे

निषेधकी कल्पना कर लेना तथा समभिरूढनय और एवंभूतनयका आश्रय लेनेसे भी निषेधकी कल्पना कर लेना चाहिये। क्योंकि सभी पदार्थ केवल काल आदि द्वारा अभेदको धारनेवाली पर्यायों स्वरूप नहीं हैं। किन्तु काल, लिंग, आदिके भेद करके अथवा भिन्न भिन्न पर्यायवाची शब्दोंके भेद करके एवं न्यारी न्यारी क्रिया परिणतियों करके भिन्न हो रहीं पर्यायें ही सिद्धिमार्गपर लाई जा चुकी हैं। अर्थात्–शब्द, समभिरूढ और एवंभूत, नय तो काल, कारक, रूढि और क्रिया परिणतियोंसे पृथक् पृथक् बन रही पर्यायोंका ही सत्त्व मानते हैं। वर्तमानकालकी सामान्य-रूपसे हो रही पर्यायोंका अस्तित्व नहीं मानते हैं। अतः तीन प्रकारोंसे दूसरा भंग बन गया। मूलभूत दो भंगोंको बनाकर क्रम और अक्रमसे यदि दो नयोंको विवक्षित किया जायगा तो तीन प्रकारके तीसरे, चौथे, भंग बन जायंगे। जिनकी उत्तर कोटिमें अवक्तव्य पद लग गया है, ऐसे प्रथम द्वितीय और तीसरे भंग ही प्रक्रिया अनुसार ऊपर कहे गये नयोंके योगसे पांचवें, छठे, सातवें ये अन्य तीन भंग समझ लेने चाहिये। इस प्रकार ऋजुसूत्रनयसे अस्तित्वकी कल्पना करते हुये और शब्द समभिरूढ, एवंभूत नयोंसे नास्तित्वको मानते हुये दो मूल भंगोंके द्वारा तीन सप्तभंगियां हुईं।

तथा शद्बनयाश्रयात् विधिकल्पना सर्वं कालादिभेदाद्भिन्नं विवक्षितकालादिकस्यार्थस्याविवक्षितकालादित्वानुपपत्तेरिति। तं प्रति समभिरूढैवंभूताश्रया प्रतिषेधकल्पना न सर्वं कालादिभेदादेव भिन्नं पर्यायभेदात् क्रियाभेदाच्च भिन्नस्यार्थस्य प्रतीतेः इति मूलभंगद्वयं पूर्ववत् परे पंचभंगाः प्रत्येया इति द्वे सप्तभंग्यौ।

तिसी प्रकार शद्बनयका आश्रय कर लेनेसे विधिकी कल्पना करना कि काल, कारक,आदिसे विभिन्न होते हुये सभी पदार्थ अस्तिस्वरूप हैं। क्योंकि विवक्षाको प्राप्त हो रहे काल, कारक, आदिकसे विशिष्ट हुए अर्थको अविवक्षित काल, कारक आदिसे सहितपना असिद्ध है। अर्थात्—सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने नियत काल, कारक, वचन, आदिको लिये हुये जगत्में विद्यमान हैं। इस प्रकार अस्तित्वकी कल्पना करनेवाले उस वादीके प्रति समभिरूढ और एवंभूत नयका आश्रय लेती हुई प्रतिषेध कल्पना कर लेनी चाहिये। कारण कि केवल काल, कारक, आदिके भेद होनेसे ही भिन्न भिन्न हो रहे सभी पदार्थ जगत्में नहीं हैं। किन्तु पर्यायोंके भेदसे और क्रिया परिणतियोंके भेदसे भिन्न भिन्न वर्त रहे पदार्थोंकी प्रतीति हो रही है। जब कि ये समभिरूढ और एवंभूतनय पर्याय और क्रिया परिणतियोंसे युक्त होकर परिणमें हुये पर्यायोंकी सत्ताको मानती हैं, तो ऐसी दशामें शद्बनयका व्यापक विषय इनकी दृष्टिमें नास्ति ठहरता है। इस प्रकार दो मूल भंगोंको बनाते हुये पूर्व प्रक्रियाके समान शेष परले पांच भंगोंको भी प्रतीत कर लेना चाहिये। इस प्रकार शद्बनयकी अपेक्षा अस्तित्व और समभिरूढ एवं-भूतोंकी अपेक्षा नास्तित्व धर्मको मानते हुये दो मूल भंगों द्वारा एक एक सप्तभंगीको बनाते हुये दो सप्तभंगियां बन गयी समझ लेनी चाहिये।

तथा समभिरूढाश्रया विधिकल्पना सर्वे पर्यायभेदाद्भिन्नं विवक्षितपर्यायस्याविवक्षितपर्यायत्वेनानुपलब्धेरिति तं प्रत्येवंभूताश्रया प्रतिषेधकल्पना न सर्वे पर्यायभेदादेव भिन्नं क्रियाभेदेन पर्यायस्य भेदोपलब्धेरिति। एतत्संयोगजाः पूर्ववत्परे पंचभंगा प्रत्येतव्या इत्येका सप्तभंगी। एवमेता एकविंशतिसप्तभंग्यः।

तथा समभिरूढ नयका आश्रय कर विधिकी यों कल्पना करना कि सम्पूर्ण पदार्थ न्यारी न्यारी पर्यायोंको कहनेवाले पर्यायवाची शब्दोंके भेदसे भिन्न हो रहे ही आस्तिस्वरूप हैं, क्योंकि विवक्षामें प्राप्त की गयी पर्यायकी अविवक्षित अन्य पर्यायपने करके उपलब्धि नहीं हो पाती है। इस प्रकार कहनेवाले उस विद्वान्के प्रति एवंभूतनयका आश्रय लेती हुई प्रतिषेधकी कल्पना कर लेना। क्योंकि पर्याय भेदोंसे ही भिन्न हो रहे सभी पदार्थ जगत्में अस्ति हैं, यह नहीं है। किन्तु न्यारी न्यारी क्रियापरिणतियोंके भेद करके पर्यायोंके भेदकी उपलब्धि हो रही है। अतः एवंभूत की दृष्टिसे उस उस क्रियामें परिणमते हुये ही अर्थ आ रहे हैं। रसोईको बनाते समय ही वह पाचक है। खाते, गाते, नहाते, सोते, जाते, सभी समयोंमें वह पाचक नहीं है। अतः समभिरूढ नयद्वारा जिस धर्मकी विधि की गयी थी, उसी धर्मका एवंभूतद्वारा प्रतिषेध कर दिया गया है। इन विधि और निषेधके संयोगसे जायमान अन्य पांच भंग भी पूर्वप्रक्रियाके समान समझ लेने चाहिये। अर्थात्–समभिरूढ और एवंभूत नयोंकी क्रमसे विवक्षा करनेपर तीसरा उभय भंग है। समभिरूढ और एवंभूतके गोचर हो रहे धर्मोंकी युगपत् विवक्षा करनेपर चौथा अवक्तव्य भंग है। विधिके प्रयोजक समभिरूढ नयका आश्रय करने और समभिरूढ, एवंभूत दोनों नयोंके एक साथ कथनका आश्रय करनेसे पांचवां विधि अवक्तव्य भंग है। प्रतिषेधके प्रेरक एवम्भूत नयका आश्रय लेलेने और समभिरूढ एवंभूत दोनोंको एक साथ कहनेका आश्रय कर लेनेसे छठा प्रतिषेधावक्तव्य भंग है। विधि प्रतिषेधोंके नियोजक नयोंका आश्रय करनेसे और युगपत् समभिरूढ एवंभूतोंकी विवक्षा हो जानेसे सातवें विधिप्रतिषेधावक्तव्य भंगकी कल्पना कर लेनी चाहिये। यह एक सप्तभंगी हुई। इस प्रकार छह, पाच, चार, तीन, दो, एक, ६+५+४+३+२+१=२१ ये सब मिलाकर इक्कीस सप्तभंगियां हुईं।

वैपरीत्येनापि तावंत्यः प्रपंचतोभ्यूह्याः।

विपरीतपने करके भी उतनी ही संख्यावाली २१ सप्तभंगियां विस्तारसे स्वयं अपने आप तर्कणा करने योग्य हैं। अर्थात्–एवंभूतनयकी अपेक्षा रसोईको बनाते समय ही मनुष्य पाचक है। अन्य पर्यायोंमें या बहुवचन आदि अवस्थामें मनन करनेकी पर्यायमें, सामान्य मनुष्यपनके व्यवहारमें संगृहीत सत् पदार्थोंमें, और संकल्पित पदार्थोंमें, वह पाचक नहीं है। अतः एवंभूत नयकी अपेक्षा अस्तित्व धर्मको मानकर शेष छह नयोंकी अपेक्षा नास्तित्वको गढते हुये दो मूल भंगोंकी भित्ति पर

छह सप्तभंगियां बना लेना। तथा समभिरूढसे विधिकी कल्पना करते हुये शद्व, ऋजुसूत्र, व्यवहार, संग्रह, और नैगम नयकी अपेक्षासे नास्तित्वको कल्पते हुये पांच सप्तभंगियां बना लेना। समभिरूढ नयकी मनीषा है कि सभी पदार्थ अपने अपने वाच्य पर्यायोंमें ही आरूढ हो रहे हैं। इसकी व्याप्य दृष्टिमें पूर्व पूर्व नयोंके व्यापक विषय उसी प्रकार नहीं दीखते हैं, जैसे कि भूरे बछडेमें गौ पनेके व्यवहारको सीख कर बालक अन्य पीली काली गायें या बडे बडे बैलोंमें गौपनेका व्यवहार नहीं करना चाहता है। या कूपमंडूक (कूएका मेंडका) समुद्रको अपने क्षेत्र हो रहे कुएसे बढा हुआ माननेके लिये उद्युक्त नहीं है। अतः समभिरूढसे अस्तित्व और शद्व आदिकसे नास्तित्व ऐसे दो मूल भंगोंसे पांच सप्तभंगियां बन जाती हैं। तथा शद्व नयकी अपेक्षा अस्तित्व और ऋजुसूत्र, व्यवहार, संग्रह, नैगमोंकी अपेक्षा नास्तित्वको मानते हुये दो मूल भंगोंसे चार सप्तभंगियां बन जाती हैं। शद्वनयका उस अनुदार पुरुष या किसी अपेक्षा संतोषी मनुष्यके समान ऐसे हार्दिक भाव हैं कि थोडी कमाई अपने लिये और अधिक कमाई दूसरोंके लिये होती है। काल, कारक, आदिकसे भिन्न हो रहे पदार्थ ही इसको दीख रहे हैं। संकल्पित या संगृहीत अथवा लम्बे चौडे व्यवहारमें आनेवाले पदार्थ या सरल पर्यायें मानों हैं ही नहीं। तथा ऋजुसूत्रकी अपेक्षा पहिले अस्तित्व भंगकी कल्पना कर व्यवहार, संग्रह, नैगम नयोंसे दूसरे नास्तित्व भंगको गढते हुये दो मूल भंगोंद्वारा तीन सप्तभंगियां बना लेना। ऋजुसूत्रनय वर्तमान पर्यायोंपर ही दृष्टि रखती है। व्यवहार करने योग्य या संग्रह प्रयोजक धर्म अथवा लम्बे चौडे संकल्प इनको नहीं छूती है। शश (खरगोश) अपनी आंखोंके ढक लेनेपर अन्य पदार्थोंके अस्तित्वको नहीं स्वीकार करता है। ऋजुसूत्रनयका उस स्वार्थी मनुष्यके समान यह संकुचित विचार है कि जगत्में भलाई या यशोवृद्धि के कार्योंको करनेवाले पुरुष अपनी शारीरिक आर्थिक क्षतियोंको झेलते हुये प्राप्त लौकिक सुखोंसे भी वंचित रह जाते हैं। गोदकेको-छोडकर पेटके की आशा लगाना मूर्खता है। तथा व्यवहारनयसे अस्तित्वकी कल्पना कर संग्रह, नैगम, नयोंसे प्रतिषेधकी कल्पना करते हुये दो मूलभंगोंद्वारा दो सप्तभंगियां बना लेनां। व्यवहारमें आ रहे द्रव्य, पर्याय, आदिक ही पदार्थ हैं। सत् सामान्यसे संगृहीत हो रहे पदार्थ कहीं एकत्रित नहीं हो रहे हैं। अपना अपना लोटा छानो। नियत कार्यसे अधिक कार्यको करनेवालोंसे दोनों काम अधूरे रह जाते हैं। "जाको कारज ताकों छाजे गदहा पीठ मोगरा बाजै" चोरोंके घुस आनेपर प्रभुको जगानेके लिये आलसी कुत्तेके कार्यको भी सम्हालनेवाला गधा विचारा मोगरोंसे पीटा गया। तथा संग्रहनयकी अपेक्षासे अस्तित्व मानते हुये नैगम की अपेक्षा नास्तित्वभंगकी कल्पना कर पूर्वोक्त पद्धति अनुसार एक सप्तभंगी बना लेनी चाहिये। संग्रहनय विचारता है कि अपना नियत ही कार्य करो। "कार्यं हि साधयेद् धीमान् कार्यध्वंसो हि मूर्खता" "तेता पांव पसारिये जेती लम्बी सौड"। भले ही राजकुमार सरोवरमें डूब मरे किन्तु खवाने क्रीडा कराने, कपडे पहराने, गहना पहनाने, दूध पिलाने, घोडापर बैठाने, सुलानेके लिए

जो सात सेवक रखे गये हैं, साथ हो रहे उनमेंसे किसीका भी कर्तव्य डूब मरनेसे बचाना नहीं है। अपने कर्तव्योंसे इतर कर्तव्योंका भी संकल्प कर अवसरको साध लेना इसने नहीं सीखा है। इस प्रकार विपरीतपने करके भी ६+५+४+३+२+१=२१ इक्कीस सप्तभंगियां हुयीं। उत्तर वर्ती नयों करके पूर्ववर्ती नयोंके विषयका सर्वथा निषेध नहीं कर दिया गया है। जिससे कि इनको कुनयपनेका प्रसंग प्राप्त होय, किन्तु उपेक्षा भाव है। पूर्वकी सप्तभंगियोंमें भी तो उत्तरवर्ती नयों द्वारा प्रतिषेध कल्पना उपेक्षाभावोंके अनुसार ही की गयी थी। अन्य कोई उपाय नहीं। न्यारी न्यारी विवक्षाओंके अनुसार अन्य ढंगोंसे भी कई प्रकारकी सप्तभंगियां बनायीं जा सकती हैं। श्रेष्ठ वक्ताको पदार्थोंके स्वभावोंकी भित्तिपर बहुत कुछ कह देनेका अधिकार प्राप्त है। " ज्यों केलाके पातमें पात पातमें पात, त्यों पण्डितकी बातमें बात बातमें बात, "। यदि इसमें वस्तु स्वभावोंके अनुसार इतना अंश प्रविष्ट (घटित) हो जाय तो उक्त सिद्धान्त अक्षरशः सत्य है। " यावंतो भंगास्तावन्तः प्रत्येकं स्वभावभेदाः "। यह विद्यामें आनन्द को माननेवाले आचार्योंका सब ओरसे भद्रोंको करने वाला अकलंक सिद्धान्त है।

तथोत्तरनयसप्तभंग्यः सर्वाः परस्परविरुद्धार्थयोर्द्वयोर्नवभेदप्रभेदयोरेकतरस्य स्वविषयविधौ तत्प्रतिपक्षस्य नयस्यावलंबनेन तत्प्रतिषेधे मूलभंगद्वयकल्पनया यथोदितन्यायेन तदुत्तरभंगकल्पनया च प्रतिपर्यायमवगंतव्याः। पूर्वोक्तप्रमाणसप्तभंगीवत्तद्विचारश्च कर्तव्यः। प्रतिपादितनयसप्तभंगीष्वपि प्रतिभंगं स्यात्कारस्यैवकारस्य च प्रयोगसद्भावात्।

तिसी प्रकार मूल नयोंके समान उत्तर नयोंकी भी सम्पूर्ण सप्तभंगियां समझ लेनी चाहिये। परस्परमें विरुद्ध हो रहे दो अर्थोंमेंसे-किसी भी एककी अथवा नैगमनयके नौ भेद प्रभेदोंमेंसे किसी भी एककी अपने गृहीत विषय अनुसार विधि करनेपर और उसके प्रतिपक्ष हो रहे नयका आश्रय लेनेसे उस धर्मका प्रतिषेध करनेपर दो मूलभंगोंकी कल्पना करके पूर्वमें कही गयी यथायोग्य न्यायपद्धतिसे और उन दोके उत्तरवर्ती पाच भंगोंकी कल्पना करके प्रत्येक पर्यायमें सप्तभंगिया समझ लेनी चाहिये। अर्थात्-नैगमके नौ भेदोंमें परस्पर अथवा संग्रह आदिके उत्तर भेदोंके अनुसार दो मूलभंगोंको बनाते हुये सैकडों सप्तभंगिया बनायी जा सकती हैं। प्रश्नके वशसे एक वस्तुमें विधिनिषेधोंकी व्यस्त और समस्त रूपकरके कल्पना करना सप्तभंगी है। अर्थ पर्याय नैगमकी अपेक्षा विधिकी कल्पना कर और परसंग्रहका अवलम्ब लेकर निषेधकी कल्पना करते हुये दो मूल भंगों करके सप्तभंगी बना लेना। पूर्व प्रकरणोंमें कहीं गयीं प्रमाणसप्तभंगियोंके समान नयसप्तभंगियोंका विचार भी कर लेना चाहिये। अर्थात्-" प्रमाणनयैरधिगमः " सूत्रमें अडतालीसवीं वार्तिकसे छप्पनवीं वार्तिकतक प्रमाणसप्तभंगीका जिस ढंगसे विचार किया गया है, वही नयसप्तभंगीमें लागू हो जाता है। प्रमाण सप्तभंगीमें अन्य धर्मोंकी अपेक्षा

रहती है। और नयसप्तभंगीमें अन्य धर्मोंकी उपेक्षा रहती है। इन समझा दी गयीं उक्त सभी नयसप्तभंगियोंमें प्रत्येक भंगके साथ कथंचित्‌को कहनेवाले स्यात्कारका और व्यवच्छेदको करनेवाले एवकारका प्रयोग करना विद्यमान समझो। "स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः" सत्यकी छाप स्यात्कार है। दृढताका बोधक एवकार है।

तासां विकलादेशत्वादेश्च सकलादेशत्वादेस्तत् सप्तभंगीतः सकलादेशात्मिकाया विशेष व्यवस्थापनात्। येन च कारणेन सर्वनयाश्रयाः सप्तधा वचनमार्गाः प्रवर्तंते।

उन नय सप्तभंगियोंको विकलादेशशब्दपना है। और विकलज्ञानपना है, तथा विकल अर्थपना आदि है। किन्तु प्रमाण सप्तभंगियोंको सकलादेश शब्दपना आदि है। इस कारण सकलादेश स्वरूप हो रही उस प्रमाणसप्तभंगीसे इस नयसप्तभंगीके विशेष हो जानेकी व्यवस्था करा दी गयी है। अनन्त सप्तभंगियोंके विषय हो रहे अनन्त धर्मसप्तकस्वभाव वस्तुका काल, आत्मरूप, आदि करके अभेदवृत्ति या अभेद उपचार करके प्रकाश करनेवाला वाक्य सकलादेश है। और एक सप्त भंगीके विषय हो रहे स्वभावोंका प्रकाशक वाक्य विकलादेश है। जिस कारणसे कि वस्तु स्वभावों अनुसार सात प्रकारके संशय, जिज्ञासा और प्रश्न उठते हैं, इसी कारण सम्पूर्ण नयोंके अवलम्ब हो रहे सात प्रकारके ही वचनमार्ग प्रवर्त रहे हैं। न्यून और अधिक वाक्योंकी सम्भावना नहीं है।

सर्वे शब्दनयास्तेन परार्थप्रतिपादने।
स्वार्थप्रकाशने मातुरिमे ज्ञाननयाः स्थिताः ॥ ९६ ॥
वै नीयमानवस्त्वंशाः कथ्यंतेऽर्थनयाश्च ते।
त्रैविध्यं व्यवतिष्ठंते प्रधानगुणभावतः ॥ ९७ ॥

तिस कारणसे ये सभी सातों नय दूसरे श्रोताओंके प्रति वाच्य अर्थका प्रतिपादन करनेपर तो शब्दस्वरूप नय हैं और ज्ञान करनेवाले आत्माको स्वार्थोंका प्रकाश करनेकी विवक्षा होनेपर ये सभी नय ज्ञानस्वरूप व्यवस्थित हो रहे हैं। "नीयतेऽनेन इति नयः" यह करणसाधन व्युत्पत्ति करनेपर उक्त अर्थ लब्ध हो जाते हैं। स्वयं आत्माको ज्ञान और अर्थका प्रकाश तो ज्ञानस्वरूप नयोंकरके हो सकता है और दूसरोंके प्रति ज्ञान और अर्थका प्रकाश होना शब्दस्वरूप नयों करके सम्भवता है। तथा "नीयन्ते ये इति नयाः" यों कर्मसाधन नयशब्दकी निरुक्ति करने पर तो निश्चय कर वस्तुके ज्ञात किये जा रहे अंश वे अर्थस्वरूप नय हैं। इस प्रकार प्रधान और गौणरूपसे ये नय तीन प्रकार होते हुये व्यवस्थित हो रहे हैं। अर्थात्—प्रधानरूपसे ज्ञानस्वरूप ही नय हैं।

किन्तु गौणरूपसे नय वाचक शब्दको भी नय कह देते हैं। तथा गौण गौण रूपसे वाच्य अर्थको भी नय कह देते हैं। जगत्‌में ज्ञान, शब्द और अर्थ तीन ही पदार्थ गणनीय हैं। " बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रो बुध्यादिवाचिकाः " ऐसा श्री समन्तभद्र स्वामीने कहा है। ज्ञाननय प्रमाताको स्वयं अपने लिये अर्थका प्रकाश कराते हैं। शब्दनय दूसरोंके प्रति अर्थका प्रकाश कराते हैं। अर्थनय तो स्वयं प्रकाशस्वरूप हैं। इसी प्रकार यह भी समझ लेना चाहिये कि कोई भी सूत्र या श्लोक अथवा लक्षण ये सब ज्ञान या शब्दस्वरूप हैं। गोम्मटसार, अष्टसहस्री, सर्वार्थसिद्धि इत्यादि ग्रन्थ सब ज्ञानरूप या शब्दस्वरूप है। लिपि अक्षरों या लिखित पत्रोंको ग्रन्थ कहना तो मात्र उपचरितोपचार है। उन ज्ञान या शब्दोंके विषय या वाच्य हो रहे प्रमेय अर्थ हैं।

किं पुनरमीषां नयानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिराहोस्वित्प्रतिविशेषोस्तीत्याह ।

किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि इन सभी नयोंकी फिर क्या एक ही अर्थमें प्रवृत्ति हो रही है? अथवा क्या कोई विलक्षणताका सम्पादक विशेष है।? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी इसके समाधानको कहते हैं।

यत्र प्रवर्तते स्वार्थे नियमादुत्तरो नयः ।
पूर्वपूर्वो नयस्तत्र वर्तमानो न वार्यते ॥ ९८ ॥
सहस्रेष्टशती यद्वत्तस्यां पंचशती मता ।
पूर्वसंख्योत्तरस्यां वै संख्यायामविरोधतः ॥ ९९ ॥

जिस जिस स्वार्थको विषय करनेमें उत्तरवर्ती नय नियमसे प्रवर्त रहा है, उस स्वार्थको जाननेमें पूर्व पूर्ववर्ती नय प्रवृत्ति करता हुआ नहीं रोका जाता है। जैसे कि सहस्रमें आठसौ समा जाते हैं। और उस आठसौ संख्यामें पांचसौ गर्भित हो रहे माने जाते हैं। पूर्वसंख्यानियमसे उत्तरसंख्यामें वर्त जाती है, कोई विरोध नहीं है। भावार्थ—व्यवहारनय द्वारा जाने गये पदार्थमें संग्रहनय और नैगम नय प्रवर्त सकते हैं। कोई विरोध नहीं है। पूर्ववर्ती नयोंका विषय व्यापक है और उत्तरवर्ती नयोंका विषय व्याप्य है। पूर्ववर्ती नयें उत्तरवर्ती नयोंकी जननी हैं।

परः परः पूर्वत्र पूर्वत्र कस्मान्नयो न प्रवर्तत इत्याह ।

किसीका प्रश्न है कि उत्तरउत्तरवर्ती नयें पूर्व पूर्वकी नयोंके विषयोंमें कैसे नहीं प्रवर्तती है? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं।

पूर्वत्र नोत्तरा संख्या यथायातानुवर्त्यते ।
तथोत्तरनयः पूर्वनयार्थसकले सदा ॥ १०० ॥

जिस प्रकार उत्तर उत्तरवर्तिनी संख्या यथायोग्य चली आरही पूर्व पूर्वकी संख्याओंमें नहीं अनुवर्तन की जा रही है, तिसी प्रकार उत्तरवर्ती नय तो पूर्ववर्ती नयोंके परिपूर्ण विषयमें सद नहीं प्रवर्तती हैं। जैसे कि पांचसौमें पूरे आठसौ नहीं रहते हैं, केवल आठसौमें सहस्र रुपये नहीं ठहर पाते हैं, उसी प्रकार पूर्व नयोंके व्यापक विषयोंमें अल्पग्राहिणी उत्तरवर्ती नयें नहीं प्रवर्त पाती हैं। यहां वैशेषिकोंके द्वारा माने गये अवयवोंमें अवयवीकी वृत्तिके समान पूर्व संख्यामें उत्तर संख्याको नहीं धरना चाहिये। क्योंकि केवल पहली संख्यामें पूरी उत्तरसंख्या नहीं ठहर पाती है। अपने पूरे अवयवोंमें एक अवयवी ठहर जाता है। अतः दृष्टान्त विषम है।

प्रमाणनयानामपि परस्परविषयगमनविशेषेण विशेषितत्वेति शंकायामिदमाह।

पुनः किसीकी आशंका है कि यों तो प्रमाण और नयोंका भी परस्परमें विषयोंके गमनकी विशेषता करके कोई विशेष प्राप्त हो चुका होगा ? बताओ। इस प्रकार आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य इस बातको स्पष्ट रूपसे कहते हैं।

नयार्थेषु प्रमाणस्य वृत्तिः सकलदेशिनः।
भवेन्न तु प्रमाणार्थे नयानामखिलेषु सा॥ १०१॥

सकल वस्तुका आदेश कर जतानेवाले प्रमाणकी प्रवृत्ति तो नयों द्वारा गृहीत किये गये अर्थोंमें अवश्य होवेगी। किन्तु नयोंकी वह प्रवृत्ति इस प्रमाणद्वारा गृहीत अर्थोंमें संपूर्ण अंशोंमें नहीं होगी। जब कि प्रमाणद्वारा अभेदवृत्ति करके वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंको जान लिया गया है। और नयोंद्वारा वस्तुके एक अंश या कतिपय अंशोंको ही जाना गया है, ऐसी दशामें व्यापकग्राही प्रमाण तो नयोंके विषयमें प्रवृत्ति कर लेता है। किन्तु नयें प्रमाणगृहीत सभी अंशोंको स्पर्श नहीं कर पाती हैं। एक बात यह भी है कि नय जिस प्रकार अन्तस्तलस्पर्शी होकर वस्तुके अंशको जता देता है, उस ढंगसे प्रमाणकी श्रुतज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं है। तभी तो प्रमाण, नय, दोनोंको स्वतंत्रतासे अधिगमका करण माना गया है। फांस निकालनेके लिये छोटी चीमटी जैसा कार्य करती है, वह काम बडे चीमटासे नहीं हो सकता है। घरके भीतर गुप्त भागमें रखे हुये रुपया सुवर्ण, रत्न आदि धनको प्रकाशनेके लिये जितना अच्छा कार्य दीपकसे हो सकता है, उतना सूर्यसे नहीं हो सकता है। हां, केवलज्ञानकी बात न्यारी है। फिर भी कहना पडता है कि छोटे बच्चोंको गोदमें बैठानेसे जो वात्सल्यरस उद्भूत होता है, वह परिपूर्ण युवा या बुड्ढा बुड्ढीको गोदमें बैठाल लेनेसे नहीं आता। अविचारक ज्ञानोंमें युगपत् सबको जाननेवाले केवलज्ञानकी प्रशंसा है। किन्तु विचार करनेवाले ज्ञानोंमें नयज्ञानोंकी प्रतिष्ठा है।

किमेवं प्रकारा एव नयाः सर्वेप्याहुस्तद्विशेषाः संति ? अपरेपीत्याह।

कोई पूंछता है कि क्या इतने ही प्रकारके उपर्युक्त कहे अनुसार सभी नयें कही जाती हैं ? अथवा और भी उनके विशेषभेद हैं ? अर्थात्–दो, सात, पन्द्रह आदिक ही नये हैं या और भी इनके अधिक भेद हैं ? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानंद आचार्य कहते हैं कि कहे गये प्रकारोंसे अतिरिक्त भी नये विद्यमान हैं। इस बातको वे वार्तिक द्वारा कहे देते हैं। सो सुनिये।

संक्षेपेण नयास्तावद्व्याख्यातास्तत्र सूचिताः ।
तद्विशेषाः प्रपंचेन संचिंत्या नयचक्रतः ॥ १०२ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने उस नयप्रतिपादक सूत्रमें संक्षेपसे नयोंकी सूचना कर दी है। तद नुसार कुछ भेद, प्रभेद, करते हुये श्री विद्यानन्द स्वामीने उन नयोंका व्याख्यान कर दिया है। फिर भी अधिक विस्तारसे उन नयोंके विशेष भेदप्रभेदोंका नयचक्र नामक ग्रन्थसे विद्वान् पुरुषों करके अच्छा चिन्तवन करलेना चाहिये।

एवमधिगमोपायभूताः प्रमाणनया व्याख्याताः।

इस प्रकार अधिगमके प्रकृष्ट उपाय हो रहे प्रमाण और नयोंका यहांतक व्याख्यान कर दिया गया है। " प्रमाणनयैरधिगमः " आदिक पहिले कई सूत्रोंमें प्रमाणोंका व्याख्यान है। और प्रथम अध्यायके इस अन्तिमसूत्रमें नयोंका विवरण किया गया है। प्रमाणनयस्वरूप ही तो न्याय है।

इति नयसूत्रस्य व्याख्यानं समाप्तं ।

इस प्रकार नयोंका प्रतिपादन करनेवाले " नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशद्वसम-भिरूढैवंभूता नयाः " इस सूत्रका व्याख्यान यहांतक समाप्त हो चुका है।

इस सूत्रका सारांश ।

इस सूत्रके प्रकरणोंकी सूची इस प्रकार है कि अधिगमके उपायभूत प्रमाणोंका वर्णन कर चुकनेपर अब नयोंका वर्णन करनेके लिये सूत्रका रचा जाना आवश्यक बताते हुये श्री विद्यानन्द आचार्यने इस सूत्रमें ही नयके लक्षण और भेदप्रभेदोंका अन्तर्भाव हो रहा समझा दिया है। नयका सिद्धान्तलक्षण नयशद्वकी निरुक्तिसे लब्ध हो जाता है। श्री उमास्वामी महाराजके अभिप्राय अनुसार श्री समन्तभद्र आचार्यने नयकी परिभाषा की है। नयके विभागोंका परामर्श कराते हुये विद्वत्तापूर्वक "नयाः" पदका व्याकरण किया है। गुणार्थिक नयका पर्यायार्थिकमें अन्तर्भाव हो जाता है। मूलनय दो ही हैं। चार, पांच, छह, सोलह, पचीस, नहीं हैं। पश्चात् नैगमके भेद प्रभेदोंका उदाहरणपूर्वक लक्षण करते हुये तदाभासोंको दर्शाया है। संग्रहनय और संग्रहाभासको दिखाते हुये एकान्तवादियोंका निराकरण कर दिया है। व्यवहारनय द्वारा किये गये विभागका विचार करते हुये व्यवहारको नैगमपना नहीं हो जानेका विवेचन कर दिया है। अन्य मतियोंके

विचार अनुसार ही प्रमाणोंकी प्रमाणताको कुछ देरके लिये इष्ट करते हुये व्यवहारको पुष्ट किया है। ऋजुसूत्र नयकी पुष्टि करते हुये क्षणिक एकान्तका प्रत्याख्यान कर दिया है। शब्दनयका लक्षण करते हुये काल आदिका भेद होनेपर भिन्न अर्थपनेको अन्वय व्यतिरेक द्वारा साधते हुये शब्दशक्तिका निरूपण किया है। इसी प्रकार समभिरूढनयद्वारा शब्दकी ग्रन्थियोंको सुलझाया गया है। एवंभूत नयका लक्षण कर सभी प्रकारके शब्दोंको क्रियावाचीपना समझा दिया गया है। कुनय, सुनयका विवेक कर अर्थनय शब्दनयोंकी गिनती गिनाते हुये नयोंके अल्पविषय, बहुविषयपनेका निर्णय कर दिया है। इसमें उठाये गये विपर्ययोंका निराकरण किया है। पश्चात् प्रमाणसप्तभंगीके समान नयसप्तभंगियोंको बनानेके लिये प्रकरण उठाया गया है। मूलनयोंकी इक्कीस सप्तभंगियोंको बना कर उत्तरनयोंकी एकसौ पिचत्तर सप्तभंगियां बनाई हैं। पूर्व पूर्व नयोंकी अपेक्षा विधिकी कल्पना करते हुये उत्तर नयों द्वारा प्रतिषेधकी कल्पना कर झट सप्तभंगियां बना ली जाती हैं। अनुलोम, प्रतिलोम, करके तथा उत्तरनयोंद्वारा अभिप्रेत किये गये धर्मोंकरके अनेक सप्तभंगियां बन जाती हैं। वस्तुमें तदात्मक हो रहे धर्मोंकी भित्तिपर अनेक भंगोंकी कल्पनायें हो जाती हैं। " स्यात् " और " एव " शब्दका प्रयोग करना सर्वत्र आवश्यक है। सकलादेशसे प्रमाण सप्तभंगी और विकलादेशसे नयसप्तभंगीकी व्यवस्था है। किसी धर्मका आश्रय कर उसके द्वारा पहिले भंगको बताकर प्रतिपक्षधर्मकी अपेक्षासे द्वितीय भंगको बना लेना चाहिये। दोनों धर्मोंकी क्रमसे विवक्षा करनेपर तीसरा भंग उभय बना लेना। तथा दोनों धर्मोंके साथ कहनेका अभिप्राय रखनेपर चौथा अवक्तव्य भंग बन जाता है। पहिले और चौथेको जोड देनेसे पांचवां तथा दूसरे और चौथेको जोड देनेसे छठा एवं तीसरे और चौथेको मिला देनेसे सातवां भंग बन जाता है। अतिरिक्त भंगोंकी कल्पना नहीं हो सकती है। दो अस्तित्व या दो नास्तित्व अथवा दो अवक्तव्य एक भंगमें नहीं ठहर सकते हैं। जगत्में एक धर्मकी अपेक्षा सात ही वचनोंके मार्ग सम्भवते हैं। न्यून या अधिक नहीं। ये नयें शब्दनय, ज्ञाननय, अर्थनय, तीन प्रकारकी हैं। उत्तरवर्ती नयोंकी प्रवृत्ति होनेपर पूर्वनय नियमसे प्रवर्त जाती हैं। किन्तु पूर्वनयोंकी प्रवृत्ति होनेपर उत्तरनयोंका प्रवर्तना भाज्य है। प्रमाण और नयोंका भी परस्परमें इसी प्रकार विषयगमन होता है। इस प्रकार नयोंका वर्णन कर अधिक विस्तारसे जाननेवालोंके प्रति नयचक्र ग्रन्थका चिन्तवन करनेके लिये हितोपदेश देकर श्री विद्यानन्द स्वामीने इस नय प्रतिपादक सूत्रके विवरणको समाप्त किया है।

पूर्णार्थज्ञविप्रमाणविषयांशावभासनेत्रोपमा ।
भाट्टव्याकरणज्ञसौगतजनानुत्सारयन्तोऽपथात् ॥
संख्याताः प्रभिदा निदर्शन तदाभानेकभङ्ग्यन्विताः ।
स्यायचाखिलवाङ्मयैर्दधतु वो ज्ञप्तिं नयाः स्वामिधिः ॥ १ ॥

—*—

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

तत्त्वार्थाधिगमभेदः ।

यहांतक पहिले अध्यायके सूत्रोंका विवरण कर अब श्री विद्यानन्द स्वामी विद्वानोंके अति उपयोगी हो रहे प्रकरणका प्रारम्भ करते हैं, जिसका कि परिशीलन कर उन्नतग्रीव होते हुये जैन विद्वान् स्वयं तत्त्वोंका अध्यवसाय कर दूसरोंके हृदयमें तत्त्वज्ञानको ठीक ठीक दृढतापूर्वक जमा देवें और निर्दोष सनातन जैनधर्मका दुन्दुभिनिनाद जगत्में विस्तार देवें ।

अथ तत्त्वार्थाधिगमभेदमाह ।

इसके अनन्तर श्रीविद्यानन्द आचार्य तत्त्वार्थोंकी अधिगतिके भेदको समझाते हुये कहते हैं ।

तत्त्वार्थाधिगमस्तावत्प्रमाणनयतो मतः ।
सर्वः स्वार्थः परार्थो वाध्यासितो द्विविधो यथा ॥ १ ॥

" प्रमाणनयैरधिगमः " इस सूत्रके द्वारा श्री उमास्वामी महाराजने तत्त्वार्थोंका अधिगम सबसे पहिले प्रमाण और नयों करके होता हुआ स्वीकार किया है । तथा इस सिद्धान्तका यथायोग्य निर्णय पूर्व प्रकरणोंमें श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा करा दिया गया है कि वही सभी अधिगम स्वके लिये अथवा दूसरोंके लिये होता हुआ दो प्रकारका है ।

अधिगच्छत्यनेन तत्त्वार्थानधिगमयत्यनेनेति वाधिगमः स्वार्थो ज्ञानात्मकः, परार्थो वचनात्मक, इति प्रत्येयम् ।

श्री उमास्वामी महाराजके सूत्रमें पडे हुये अधिगम शब्द करके ही उक्त दोनों अर्थ ध्वनित हो जाते हैं । जीव इस ज्ञानकरके तत्त्वार्थोंको स्वतंत्रतापूर्वक जानता है । इस प्रकार अधि उपसर्ग पूर्वक " गम् " धातुसे भ्वगणीमें विग्रह कर अच् प्रत्ययका विधान करनेसे अधिगम शब्द बनाया जाता है । इसका अर्थ ज्ञानस्वरूप अधिगम है । और अधिपूर्वक गम् धातुसे ण्यन्त प्रक्रियामें णिच् प्रत्यय करते हुये पुनः अच् प्रत्ययकी विधिद्वारा जो अधिगम शब्द बनाया जाता है, वह अधिगतिके प्रेरक शब्दको कह रहा है । ज्ञानस्वरूप अधिगम तो स्व के लिये उपयोगी है । और वचनस्वरूप अधिगम अन्य श्रोताओंके लिये उपयोगी है । इस प्रकार प्रतीति कर लेनी चाहिये ।

परार्थाधिगमस्तत्रानुद्भवद्रागगोचरः ।
जिगीषु गोचरश्चेति द्विधा शुद्धधियो विदुः ॥ २ ॥

शुद्धबुद्धियोंको धारनेवाले विद्वान् उन दो प्रकारके अधिगमोंमें परार्थ अधिगम (वाद) को दो प्रकारका समझ रहे हैं। पहिला तो जिन सज्जनोंके कोई रागद्वेष नहीं, उन वीतराग पुरुषोंमें हो रहा वचनव्यवहार स्वरूप है। गोचरका अर्थ विषय है, सप्तमी विभक्तिका अर्थ कहींपर विषयपना होता है। " विषयत्वं सप्तम्यर्थः "। तथा दूसरा अधिगम तो परस्परमें जीतनेकी अभिलाषाको रखनेवाले वादी पुरुषोंमें प्रवर्तता है। अर्थात्-वीतराग पुरुषोंमें होनेवाला और विजगीषु पुरुषोंमें प्रवर्तनेवाला इस प्रकार शब्द आत्मक पदार्थ अधिगम दो प्रकारका है।

सत्यवाग्भिर्विधातव्यः प्रथमस्तत्त्ववेदिभिः ।
यथा कथंचिदित्येष चतुरंगो न संमतः ॥ ३ ॥

वीतराग पुरुषोंमें होनेवाला पहिला शब्दस्वरूप अधिगम तो सत्यवचन कहनेवाले तत्त्ववेत्ता पुरुषोंकरके विधान करने योग्य है। यह संवाद तो यथायोग्य चाहे किसी भी प्रकारसे कर लिया जाता है। सभ्य, सभापति, वादी और प्रतिवादी इन चार अंगोंका होना यहां आवश्यक नहीं माना गया है। भावार्थ—जब विचार करनेवाले सज्जन पुरुष हैं, तत्त्वज्ञानको करनेके लिये उनका शुभ प्रयत्न है तो एकान्तमें दो ही अंशोंसे यह प्रवर्त जाता है। तीन या चार भी होय तो कोई बाधा नहीं है। किन्तु सभ्य और सभापतियोंकी चलाकर कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रवक्त्राज्ञाप्यमानस्य प्रसभज्ञानपेक्षया ।
तत्त्वार्थाधिगमं कर्तुं समर्थोऽथ च शास्वतः ॥ ४ ॥
विश्रुतः सकलाभ्यासाज्ज्ञायमानः स्वयं प्रभुः ।
तादृक्सभ्यसभापत्यभावेपि प्रतिबोधकः ॥ ५ ॥

यह वीतराग पुरुषोंमें होनेवाला वाद तो प्रकृष्ट माननीय वक्ताके द्वारा आज्ञापित किये जा रहे पुरुषका हठज्ञानी पुरुषोंकी नहीं अपेक्षा करके तत्त्वार्थोंका अधिगम करनेके लिये समर्थ है। और वह वाद सर्वदा हो सकता है। अर्थात्-प्रकृष्ट ज्ञानी पुरुषके आज्ञा अनुसार कोई भी कदाग्रहको नहीं करनेवाला पुरुष चाहे जब तत्त्वार्थोंका निर्णय करनेके लिये सम्वाद कर सकता है। जो प्रकृष्टवक्ता सम्पूर्ण विषयोंके शास्त्रका अभ्यास करनेसे जगत् प्रसिद्ध विद्वान् होकर जाना जा रहा है, और जो स्वयं दूसरोंको समझानेके लिये समर्थ होता हुआ उनको स्वकीय सिद्धान्तके घेरेमें घेरनेके लिये प्रभुता युक्त है, वह तिस प्रकारके अन्य सभ्य और सभापतिके अभाव होनेपर भी निर्णिनीषु पुरुषोंको प्रतिबोध करा देता है।

साभिमानजनारभ्यश्चतुरंगो निवेदितः ।
तज्ज्ञैरन्यतमापायेप्यर्थापरिसमाप्तितः ॥ ६ ॥
जिगीषद्भ्यां विना तावन्न विवादः प्रवर्तते ।
ताभ्यामेव जयोन्योन्यं विधातुं न च शक्यते ॥ ७ ॥

परस्परमें जीतनेकी इच्छा रखनेवाले वादियोंमें प्रवर्त रहा दूसरे प्रकारका वाद (शास्त्रार्थ) तो अभिमानी पुरुषोंके द्वारा आरम्भा जाता है। उस वादके वादी, प्रतिवादी, सभ्य, और सभापति, ये चार अंग उस शास्त्रार्थके मर्मको जाननेवालें विद्वानोंकरके निवेदन किये गये हैं। उन चार अंगोंमेंसे किसी भी एक अंगके नहीं विद्यमान होनेपर परिपूर्ण रूपसे प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो पाती है। देखिये, एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले दो वादी, प्रतिवादियोंके बिना तो विवाद कैसे भी नहीं प्रवर्तता है। और उन दोनों ही करके परस्परमें जीत हो जानेका विधान नहीं किया जा सकता है। अर्थात्--दूल्हा दुलहिनके विना जैसे विवाह नहीं होता है, वैसे दो वादी, प्रतिवादियोंके विना विवाद नहीं हो पाता है। अपने अपने पक्षको बढिया बता रहे अभिमानी वादी, प्रतिवादियोंकी वास्तविक रूपसे जयकी व्यवस्था करनेके लिये सभ्यपुरुषोंकी और सुप्रबन्धके लिये प्रभुकी आवश्यकता है।

वादिनः स्पर्द्धया वृद्धिरभिमानप्रवृद्धितः ।
सिद्धे वाचाकलंकस्य महतो न्यायवेदिनः ॥ ८ ॥

न्यायशास्त्रको परिपूर्ण जाननेवाले महान् विद्वान् श्री अकलंक देवकी वाणीसे जब यह सिद्ध हो चुका है कि वादी और प्रतिवादी पुरुषोंके प्रति स्पर्धा करके वृद्धिको प्राप्त होता हुआ अभिमान प्रकृष्टरूपसे बढ रहा है। इस कारण वे अपना पराजय और दूसरेका विजय माननेके लिये कथमपि तत्पर नहीं हैं, तब जयविधान और उपद्रवनिराकरणके लिये जिगीषुओंसे अतिरिक्त पुरुषोंकी भी आवश्यकता है।

स्वप्रज्ञापरिपाकादिप्रयोजनेति केचन ।
तेषामपि विना मानाद्द्वयोर्यदि स संमतः ॥ ९ ॥
तदा तत्र भवेद्व्यर्थः सत्प्राश्निकपरिग्रहः ।
ज्ञेयं प्रश्नवशान्नैव कथं तैरिति मन्यते ॥ १० ॥

कोई पण्डित इस प्रकार कह रहे हैं कि वीतरागकथाके समान विजिगीषुओंका वाद भी दो ही वादी प्रतिवादियोंमें प्रवर्त जाता है। उस वादकी प्रवृत्तिके प्रयोजन तो अपनी अपनी प्रज्ञाका परिपाक होना या अन्य विद्यार्थियोंके लिये युक्तिओंका संकलन करना अभ्यास बढाना आदिक हैं। मल्ल भी तो अपने अखाडेमें अभ्यास, दाव पेंच सीखना आदिका लक्ष्य रखकर कटाकटीसे लडते हैं। इसपर आचार्य कहते हैं कि उन पण्डितोंके यहां भी प्रमाणोंके विना ही यदि वह दोनोंका प्रज्ञा-परिपाक होना भले प्रकार मान लिया है, तब तो उस अवसरपर श्रेष्ठ सभ्योंका या प्राश्निक पुरुषोंका एकत्रित करना व्यर्थ ही होगा। किन्तु उन पण्डितोंकरके यह कैसे माना जा सकता है कि प्रश्नके वशसे ही ज्ञेयपदार्थ व्यवस्थित नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि प्राश्निकोंका मिलना तो अच्छा है।

तयोरन्यतमस्य स्यादभिमानः कदाचन।
तन्निवृत्त्यर्थमेवेष्टं सभ्यापेक्षणमत्र चेत् ॥ ११ ॥
राजापेक्षणमप्यस्तु तथैव चतुरंगता।
वादस्य भाविनीमिष्टामपेक्ष्य विजिगीषताम् ॥ १२ ॥

यदि वे यों कहें कि हम वादी प्रतिवादी और प्राश्निक इन तीन अंगोंसे वादके होनेको मानते हैं। उन दो वादी, प्रतिवादियोंमेंसे किसी एकको यदि कभी अभिमान हो जायगा और उस कषायके अनुसार असभ्य आचरण होने लग जाय तो उसकी निवृत्तिके लिए सभ्य प्राश्निकोंकी अपेक्षा करना यहां वादमें इष्ट कर लिया है। " अपक्षपतिता प्राज्ञाः सिद्धान्तद्वयवेदिनः, असद्वाद-निषेद्धारः प्राश्निकाः प्रग्रहा इव " जो वादी और प्रतिवादीका पक्षपात करनेसे रहित होवें, अच्छे विद्वान् होय, वादी प्रतिवादी दोनोंके सिद्धान्तोंके जाननेवाले होवें, असमीचीनवादकी प्रवृत्ति करनेको निषेध करनेवाले हों, वे पुरुष प्राश्निक होते हैं, जैसे कि बैलों या घोडोंको लगाम वशमें रखती हुई अनिष्ट मार्गकी ओर नहीं झुकने देती है, उसी प्रकार प्राश्निक पुरुष भी वादी प्रतिवादियोंको मर्यादामें स्थित रखते हैं। इस प्रकार यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो चौथे अंग राजाकी भी अपेक्षा वादमें हो जाओ और तिस प्रकार होनेपर ही वाद चार अंगोंसे सहित हो रहा माना गया है। विजयकी इच्छा रखनेवाले विद्वानोंको इष्ट हो रही भविष्यमें होनेवाली जीतनेकी इच्छाकी अपेक्षा कर वादके चार अंग मानना अच्छा जचता है। भावार्थ—अपने अपने पक्षको दृढ अखण्डनीय मान रहे वादी और प्रतिवादी दोनों इस बातको इष्ट करते हैं कि हमारी जीत राजा और प्राश्निक विद्वानोंके समक्षमें होय। अभिमान या अनीतिका निराकरण कर ठीक प्रबन्धको राजा ही कर कर सकता है।

सभ्यैरनुमतं तत्त्वज्ञानं दृढतरं भवेत् ।
इति ते वीतरागाभ्यामपेक्ष्यास्तत एव चेत् ॥ १३ ॥
तच्चेन्महेश्वरस्यापि स्वशिष्यप्रतिपादने ।
सभ्यापेक्षणमप्यस्तु व्याख्याने च भवादृशां ॥ १४ ॥

यदि कोई यों कहें कि सभामें बैठे हुए प्राश्निकोंकरके अनुमतिको प्राप्त हो रहा तत्त्वज्ञान अधिक दृढ हो जावेगा। इस कारण वादमें उन तीसरे अंग सभ्योंकी अपेक्षा करनी चाहिये। अब आचार्य कहते हैं कि तब तो तिस ही कारणसे यानी तत्त्वज्ञानकी दृढताके सम्पादनार्थ वीतराग-वादी प्रतिवादियोंके द्वारा भी उन सभ्योंकी अपेक्षा की जानी चाहिये। सज्जन विद्वानोंका परस्परमें सम्वाद होनेपर यदि सभ्य विद्वानोंकरके उस तत्त्वबोधकी अनुमति दे दी जायगी तो वह तत्त्वज्ञान बहुत पक्का होता हुआ सबको ग्राह्य हो जायगा। और इस प्रकार वीतराग कथामें भी सभ्योंकी अपेक्षा यदि मान की जायगी, तब तो नैयायिकोंके महान् ईश्वरको भी अपने शिष्योंके प्रति तत्त्वोंका प्रतिपादन करनेमें सभ्योंकी अपेक्षा माननी पडेगी। तथा आप सदृश पण्डितोंके व्याख्यानमें भी सभ्योंकी अपेक्षा आवश्यक बन बैठेगी। किन्तु ऐसा एकान्त प्रतीत नहीं हो रहा है।

स्वयं महेश्वरः सभ्यो मध्यस्थस्तत्त्ववित्त्वतः ।
प्रवक्ता च विनेयानां तत्त्वख्यापनतो यदि ॥ १५ ॥
तदान्योपि प्रवक्तैवं भवेदिति वृथा तव ।
प्राश्निकापेक्षणं चापि समुदाऽयमुदाहृतः ॥ १६ ॥

यदि नैयायिक यों कहें कि महेश्वर तो स्वयं सभ्य है, और तत्त्वोंका यथार्थवेत्ता होनेसे मध्यस्थ है। तथा विनीत शिष्योंके प्रति तत्त्वोंकी स्थापना करा देनेसे या प्रसिद्धि करा देनेसे वह ईश्वर प्रकृष्ट वक्ता भी है। तब तो हम जैन कहेंगे कि अन्य विद्वान् भी इसी प्रकार प्रकृष्ट वक्ता हो जावेगा, इस प्रकार तुम्हारा प्राश्निकोंकी अपेक्षा करना कहना भी वृथा ही पडा, जो कि आपने यह बडे हर्षके साथ कहा है।

यथा चैकः प्रवक्ता च मध्यस्थोभ्युपगम्यते ।
तथा सभापतिः किं न प्रतिपाद्यः स एव ते ॥ १७ ॥
मर्यादातिक्रमाभावहेतुत्वाद्बोध्यशक्तितः ।
प्रसिद्धप्रभावात्तादृग्विनेयजनवद्ध्रुवम् ॥ १८ ॥

स्वयं बुद्धः प्रवक्ता स्यात् बोध्यसंदिग्धधीरिह ।
तयोः कथं सहैकत्र सद्भाव इति चाकुलं ॥ १९ ॥

जिस प्रकार कि एक ही ईश्वर प्रवक्ता और मध्यस्थ हो रहा तुमने स्वीकार कर लिया है, इस प्रकार वही ईश्वर तुम्हारे यहां तिस प्रकार सभापति और प्रतिपादन करने योग्य शिष्य भी क्यों न हो जावे ? एक ही पुरुष वादके चारों अंगोंको धारनेवाला बन गया । कारण कि सभापतिका कार्य मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करा देना है । मर्यादाके व्यतिक्रमके अभावका हेतु हो जानेसे वह ईश्वर सभापति हो सकता है । सभापतिपनके लिये उपयोगी हो रहा प्रभाव भी ईश्वरमे प्रसिद्ध है । अथवा आद्य ज्ञानके लिये उत्पत्तिका कारण प्रभाव भी ईश्वरका प्रसिद्ध है । तथा अन्य विनीत शिष्य जनोंके समान बोध प्राप्त करने योग्य शक्ति होनेसे निश्चय कर तिस प्रकारका वह प्रतिपाद्य शिष्य हो जाओ। अनेकान्तवादी तो एक वस्तुमें अनेक धर्मोंको मानते हुये अनेकान्तको स्वीकार करते हैं । किन्तु ये नैयायिक एक धर्मीमें ही वादी, प्रतिवादी, सभ्य, सभापति, इन चार धर्मियोंकी सत्ताको मान बैठे हैं, यह आश्चर्य है । भला विचारो तो सही कि जो ही यहां स्वयं बुद्ध होता हुआ प्रकृष्ट वक्ता होय और वही बोध कराने योग्य होता हुआ पठनीय विषयमें संदेहको धारनेवाली बुद्धिको रखनेवाला शिष्य होय, उन दोनोंका एक पदार्थमें साथ साथ सद्भाव कैसे पाया जा सकता है ? यह तुम नैयायिकोंके लिये विशेष आकुलताको उत्पन्न करनेवाला काण्ड उपस्थित हुआ । एक ही ईश्वर तो व्याख्याता और शिष्य दो नहीं हो सकता है ।

प्राश्निकत्वप्रवक्तृत्वसद्भावस्यापि हानितः ।
स्वपक्षरागौदासीनविरोधस्यानिवारणात् ॥ २० ॥

तिस प्रकार ईश्वरमें प्रतिपादकत्व और प्रतिपाद्यत्व दो धर्म एक साथ नहीं ठहर सकते हैं । वैसी प्रकार ईश्वरके प्राश्निकपन और प्रवक्तापनके सद्भावकी भी हानि हो जाती है । क्योंकि प्रवक्ता तो अपने पक्षमें राग रखता है और प्राश्निक जन दोनों पक्षमें उदासीन (तटस्थ) रहते हैं । एक ही पुरुषमें स्वपक्ष राग और उदासीनपनके विरोधका तुम निवारण नहीं कर सकते हो ।

पूर्वं वक्ता बुधः पश्चात्सभ्यो न व्याहतो यदि ।
तदा प्रबोधको बोध्यस्तथैव न विरुध्यते ॥ २१ ॥

यदि आप यों कहें कि वही पण्डित पहिले तो प्रवक्ता होता है और पीछे वह प्राश्निक या मध्यस्थ सभ्य हो जाता है । कोई व्याघात दोष नहीं है । तब तो हम नैयायिकसे कहेंगे कि तिस ही

प्रकार वह प्रबोध करानेवाला या प्रबन्ध करनेवाला सभापति और प्रतिपादन करने योग्य प्रतिवादी या शिष्य भी हो जाओ। कोई विरोध नहीं आता है। सर्वत्र अनेकान्तका साम्राज्य है।

वक्तृवाक्यानुवादिता स्वस्य स्यात्प्रतिपादकः।
तदर्थं बुध्यमानस्तु प्रतिपाद्योनुमन्यताम् ॥ २२ ॥

वह एक ही पुरुष स्वयं वक्ता हो रहा अपने वाक्योंका अनुवाद करता संता अपना प्रतिपादक हो जावेगा और उन वाक्योंके अर्थको समझ रहा संता तो वही स्वयं प्रतिपाद्य मान लिया जाओ। अर्थात्-जैसे एकान्तमें गानेवाला पुरुष स्वयं प्रतिपादक है, और उन गेय शब्दोंके अर्थको जान रहा प्रतिपाद्य हो जाता है, उसीके समान एक विद्वान् प्रतिपाद्य और प्रतिपादक मान लिया जाय।

तथैकांगोपि वादः स्याच्चतुरंगो विशेषतः।
पृथक् सभ्यादिभेदानामनपेक्षाच्च सर्वदा ॥ २३ ॥

और तैसा होनेपर वादी, प्रतिवादी, सभ्य, सभापति, इन चार अंगों द्वारा हो रहा वाद अब केवल एक अंगवाला भी हो जावेगा। न्यारे न्यारे चार व्यक्तियोंमें और सभ्य, सभापति, वादी, प्रतिवादी, बन रहे एक व्यक्तिमें कोई विशेषता नहीं है। जब कि सभ्य, सभापति, आदि चार भिन्न भिन्न व्यक्तियोंकी पृथक् पृथक् रूपसे सदा अपेक्षा नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि चारोंके चार धर्मोंसे युक्त हो रहे एक व्यक्तिके होनेपर भी वाद ठन जाना मान लेना चाहिये।

यथा वाद्यादयो लोके दृश्यंते तेन्यभेदिनः।
तथा न्यायविदामिष्टा व्यवहारेषु ते यदि ॥ २४ ॥
तदाभावान्स्वयं वक्तुः सभ्या भिन्ना भवंतु ते।
सभापतिश्च तद्बोध्यजनवत्तच्च नेष्यते ॥ २५ ॥

यदि आप नैयायिक यों कहें कि जैसे लौकिक कार्योंमें विवाद कर रहे वे वादी, प्रतिवादी, आदिक लोकमें अन्योंका भेद करनेवाले देखे जाते हैं, तिसी प्रकार न्यायशास्त्रको जाननेवाले विद्वानोंके व्यवहारोंमें भी वे अन्यका भेद करनेवाले इष्ट कर लिये गये हैं। अर्थात्-किसी गृह, खेत, ग्राम, सम्पत्ति, बहिष्कार करना, अपमान करना, परस्त्रीसेवन, द्यूत आदि विषयोंमें टंटा करनेवाले जैसे भेदनीतिको डालकर अन्यको भेद डालते हैं, या लडाई कर बैठते हैं, उसी प्रकार शास्त्रार्थमें भी कदाचित् अन्योंका भेद करना सम्भव जाता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि तब तो पदार्थोंका स्वयं बखान करनेवाले वक्तासे सभासद पुरुष तुम्हारे यहां भिन्न ही होवें। और उस वक्ताके

द्वारा समझने योग्य पुरुषके समान सभापति भी पृथक् होना चाहिये। किन्तु वह सभ्य, सभापति, और प्रतिवादीका भिन्न भिन्न होकर स्थित रहना तुमने इष्ट नहीं किया है।

जिगीषाविरहात्तस्य तत्त्वं बोधयतो जनान्।
न सभ्यादिप्रतीक्षास्ति यदि वादे क सा भवेत् ॥ २६ ॥
ततो वादो जिगीषायां वादिनोः संप्रवर्तते।
सभ्यापेक्षणतो जल्पवितंडावदिति स्फुटं ॥ २७ ॥

यदि आप नैयायिक यों कहें कि श्रोताजनोंके प्रति तत्त्वोंको समझाते हुये उस ईश्वरके जीतनेकी इच्छाका अभाव है। इस कारण सभ्य, सभापति आदिकी प्रतीक्षा नहीं की जाती है, तब तो हम जैन कहते हैं कि सभ्य,सभापति, आदिक की वह प्रतीक्षा भला वादमें भी कहां होगी! किन्तु आप नैयायिकोंने वह सभ्य आदिकोंकी अपेक्षा वादमें स्वीकार करली है। तिस कारणसे यह व्यक्त रूपसे सिद्ध हो जाता है कि वाद (पक्ष) वादी प्रतिवादियोंकी परस्परमें जीतनेकी इच्छा होनेपर ही अच्छा प्रवर्तता है (साध्य), प्राश्निक या सभ्य पुरुषोंकी अपेक्षा होनेसे (हेतु)। जल्प और वितंडाके समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-जल्प वितंडा जैसे जीतको चाहनेवाले ही पुरुषोंमें प्रवर्तते हैं, उसी प्रकार वाद भी विजिगीषु पुरुषोंमें प्रवर्तता है। वीतराग कथाको वाद नहीं कहना चाहिये।

तदपेक्षा च तत्रास्ति जयेतरविधानतः।
तद्वदेवान्यथान्यत्र सा न स्यादविशेषतः ॥ २८ ॥
सिद्धो जिगीषतोर्वादश्चतुरंगस्तथा सति।
स्वाभिप्रेतव्यवस्थानाल्लोकप्रख्यातवादवत् ॥ २९ ॥

उस वादमें (पक्ष) उन सभ्योंकी अपेक्षा हो रही है, (साध्य), जय और पराजयका विधान होनेसे (हेतु) उन जल्प और वितंडाके समान (अन्वय दृष्टान्त)। अन्यथा यानी साध्यके बिना केवल हेतुका ठहरना मान लिया जायगा तो अन्य जल्प या वितंडामें भी वह सभ्योंकी अपेक्षा नहीं हो सकेगी। क्योंकि जल्प और वितंडासे वादमें कोई अधिक विशेषता नहीं है। अतः तैसा होनेपर यह सिद्धान्त अनुमान द्वारा निर्णीत हो जाता है, कि सभ्य, सभापति, वादी, प्रतिवादी इन चार अंगोंको धारता हुआ वाद (पक्ष) जीतनेके इच्छा रखनेवाले दो वादियोंमें प्रवर्तता है (साध्य)। अपने अपने अभिप्रेत हो रहे विषयकी परिपूर्ण शक्तियों द्वारा व्यवस्था करना होनेसे

(हेतु) जैसे कि लोकमें प्रसिद्ध हो रहे वाद (मुकदमा लडना या आखाडेमें मल्ल युद्ध होना) हैं, (अन्वय दृष्टान्त) । बात यह है कि वीतराग पुरुषोंमें होनेवाला शुद्ध आत्मक अधिगम वाद नहीं है । किन्तु हाथीके साथ हाथीका लडना, तीतर, मुर्गा, कुत्ता आदिका युद्ध या मल्लके साथ मल्लका लडना, इस प्रकार जीतनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंमे वाद प्रवर्तता है । नैयायिकों द्वारा माना गया वीतरागोंमें वाद प्रवर्तनेका पक्ष तो युक्तियोंसे रहित है । इसको विवरणमें और भी अधिक स्पष्ट किया जायगा ।

ननु च प्राश्निकापेक्षणाविशेषेपि वादजल्पवितंडानां न वादो जिगीषतोस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वरहितत्वात् । यस्तु जिगीषतोर्न स तथा सिद्धो यथा जल्पो वितंडा च तथा वादः तस्मान्न जिगीषतोरिति । न हि वादस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थो भवति जल्पवितंडयोरेव तथात्वात् । तदुक्तं । " तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितंडे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कंटकशाखावरणवदिति । तदेतत्प्रलापमात्रं, वादस्यैव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वोपपत्तेः । तथाहि-वाद एव तत्त्वाध्यवसायरक्षणार्थः प्रमाणतर्कसाधनोपालंभत्वे सिद्धांताविरुद्धत्वे पंचावयवोपपन्नत्वे च सति पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहत्वात्, यस्तु न तथा स न यथा आक्रोशादिः, तथा च वादस्तस्मात्तत्त्वाध्यवसायरक्षणार्थ इति युक्तिसद्भावात् । न तावदयमसिद्धो हेतुः प्रमाणतर्कसाधनोपालंभः सिद्धांताविरुद्धः पंचावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद इति वचनात् ।

यहां नैयायिकोंका अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिये अवधारण है कि यद्यपि वाद, जल्प, और वितंडा इन तीनोंके बीच प्राश्निक पुरुषोंकी अपेक्षा करनेमें कोई विशेषता नहीं है, फिर भी वाद (पक्ष) जीतनेकी इच्छा रखनेवाले विजिगीषुओंमें नहीं प्रवर्तता है (साध्य) । क्योंकि वाद विचारा तत्त्वनिर्णयकी अच्छी रक्षा इस प्रयोजनके धारकपनसे रहित हो रहा है (हेतु) । जो तो विजिगीषुओंके प्रवर्त रहा है, वह तिस प्रकार तत्त्वनिर्णयका संरक्षण करनारूप प्रयोजनसे रहित नहीं है, जैसे कि जल्प और वितंडा हैं, (व्यतिरेक दृष्टान्त) । तिस प्रकार तत्त्व निर्णयके संरक्षणके लिये वाद नहीं है (उपनय) । तिस कारणसे विजिगीषु पुरुषोंमें वाद नहीं प्रवर्तता है । (निगमन), अर्थात्-धनाढ्योंके पुत्रकी रक्षा जैसे दाईयां करती हैं, धान्य उपजे हुये खेतकी रक्षा झाडीके कांटों द्वारा बना की गयी मेंड करती है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानका परिपालन लठधारीके समान जल्प और वितंडासे होता है । निर्णय और वाद तो फल या धान्यके समान रक्षणीय पदार्थ हैं । रत्नोंकी रक्षा गढसे है, रत्न स्वयं रक्षक नहीं है । इसी प्रकार तत्त्वज्ञानोंका संरक्षक नहीं होनेके कारण वाद विजिगीषुओंमें नहीं प्रवर्तता है । किन्तु वीतरागपुरुषोंका संलाप वाद है । उक्त अनुमानमें दिया गया हेतु स्वरूपासिद्ध नहीं है । पक्षमें वर्त रहा है । देखिये । तत्त्वोंके अध्यवसायकी

संरक्षणाके लिये नहीं होता है। जल्प और वितंडाके ही तिस प्रकार तत्त्वनिर्णयका संरक्षण करना रूप प्रयोजनसहितपना बन रहा है। वही " न्यायदर्शन पुस्तकमें गौतम ऋषिने चौथे अध्यायके अन्तमें कहा है कि जल्प और वितंडा दोनों तो तत्त्वोंके निर्णयकी भले प्रकार संरक्षणा करनेके लिये हैं। जैसे कि बीजके बोनेपर उपजे हुये छोटे छोटे अङ्कुरोंकी समीचीन रक्षाके लिये बंबूल, बेरिया, झडवेरिया आदिक कंटकाकीर्ण वृक्षोंकी शाखाओं करके किया गया आवरण (मैड) उपयोगी है। छल या असत् उत्तर आदि प्रयुक्त किये जांय तो पररक्षाका विघात हो जानेसे वे स्वपक्षकी रक्षा करा देते हैं। यहांतक नैयायिक कह चुके। अब आचार्य महाराज कहते हैं कि उनका यह कहना केवल अनर्थक बकवाद है। यथार्थमें विचारा जाय तो वादको ही तत्त्वनिर्णयकी संरक्षणारूप प्रयोजनसे सहितपना सधता है। उसीको स्पष्ट करते हुये यों अनुमान बनाकर दिखलाते है कि वाद ही (पक्ष) तत्त्वोंके निर्णयकी रक्षा करनेके लिये है (साध्य)। प्रमाण और तर्ककरके स्वपक्षसाधन करना और परपक्षमें उलाहना देना होते संते तथा सिद्धान्तसे अविरुद्धपना होते संते तथा अनुमानके पांच अवयवोंसे सहितपना होते संते पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह करना होनेसे (हेतु) जो तिस प्रकार तत्त्वनिर्णयका संरक्षण करना स्वरूप प्रयोजनको लिये हुये नहीं है, वह उक्त हेतुसे सहित नहीं है, जैसे कि गाली देना, रोना, उन्मत्तप्रलाप करना आदिक वचन (व्यतिरेक दृष्टान्त), और तिस प्रकार हेतुके पूरे शरीरको साधनेवाला वाद है (उपनय)। तिस कारणसे यह वाद ही तत्त्व निर्णयके रक्षणरूप प्रयोजनको लिये हुये है। (निगमन)। यह अनुमानप्रमाण रूप युक्तिका सद्भाव है। सबसे पहिले उपर्युक्त यह हेतु असिद्ध नहीं है। न्यायसूत्रमें आप नैयायिकोंके यहां वादका लक्षण इस प्रकार कहा गया है कि प्रमितिका कारण प्रमाण और अविज्ञात तत्त्वमें कारणोंकी उपपत्तिसे तत्त्वज्ञानके लिये किये गये विचार रूप तर्कसे जहां स्वपक्षका साधन किया जाय और परपक्षमें दूषण दिया जाय तथा जो सिद्धान्तसे अविरुद्ध होय तथा जो प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण, उपनय, निगमन पांच अवयवोंसे सहित होय ऐसा होता हुआ जो वादमें पडे हुये पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह करना है। यानी युक्ति प्रत्युक्ति रूप वचन रचना है, वह वाद है। आप नैयायिकोंके मत अनुसार ही हेतु पक्षमें बहुत अच्छी तरहसे घटित हो जाता है।

पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहादित्युच्यमाने जल्पेपि तथा स्यादित्यवधारणविरोधस्तत्परिहारार्थं प्रमाणतर्कसाधनोपालंभत्वादि विशेषणं। न हि जल्पे तदस्ति, यथोक्तोपपन्नछलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालंभो जल्प इति वचनात्। तत एव न वितंडा तथा प्रसज्यते पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहरहितत्वाच्च।

हेतुमें लगा दिये गये विशेषणोंकी सार्थकताको कहते हैं कि यदि हेतुका शरीर पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह करना मात्र इतना कह दिया जाय तो तिस प्रकार पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह

करना तो जल्पमें भी पाया जाता है। अतः " वाद एव " वाद ही इस प्रकार किये गये एवकार द्वारा अवधारणस्वरूप नियमका विरोध होगा। यानी पक्षमें हमारे द्वारा डाला गया एवकार व्यर्थ पडेगा। व्यभिचार दोष भी हो जायगा। अतः उसके परिहारके लिये प्रमाण या तर्कोंसे सिद्धि करना, उलाहने देना, सिद्धान्तसे अविरुद्ध होना, आदिक विशेषण हेतुके दिये गये हैं। जब कि जल्पमें वह प्रमाण, तर्कोंसे साधन, उलाहना देना आदि विशेषण नहीं हैं। क्योंकि गौतमजीने न्यायसूत्रमें तुम्हारे यहां यों कहा है कि यथायोग्य ऊपर कहे गये वादके लक्षणसे युक्त होय किन्तु छल (कपट) जाति (असत् उत्तर) और निग्रहस्थानों करके साधना और उलाहने जहां दिये जाय वह जल्प है। अर्थात्—जल्प नामक शास्त्रार्थमें प्रमाण या तर्कोंसे साधन और उलाहने नहीं होते हैं। भले ही अपने अपने मनमें कल्पित कर लिये प्रमाण तर्कोंसे साधन और उपालम्भ दे दिया जांय, किन्तु छल आदिक करके जहां स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण उठाये जाते हैं वह जल्प है। अतः हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है। पक्षमें एवकार लगाना उपयुक्त पड गया। तथा वितंडा भी तिस ही कारणसे यानी हेतुके विशेषण नहीं घटित होनेसे तिस प्रकार तत्त्वाध्यवसायोंका संरक्षक नहीं हो सकता है। अर्थात्—वितंडामें तिस प्रकार वाद बन जानेका प्रसंग नहीं हो सकता है। वह तत्त्वनिर्णयका रक्षक भी नहीं है, जो कि नैयायिकोंने मान रखा है। क्योंकि पक्ष और प्रतिपक्षके परिग्रहसे रहित वह वितंडा है। अतः जल्प और वितंडाका तिरस्कार कर वाद ही तत्त्व निर्णयका संरक्षण करनेवाला सम्भवता है।

पक्षप्रतिपक्षौ हि वस्तुधर्मावेकाधिकरणौ विरुद्धौ एककालावनवसितौ वस्तुविशेषौ वस्तुनः सामान्येनाधिगतत्वाच्च विशेषावगमनिमित्तौ विवादः। एकाधिकरणाविति नानाधिकरणौ विचारं न प्रयोजयत उभयोः प्रमाणेनोपपत्तेः। तद्यथा अनित्या बुद्धिर्नित्य आत्मेति अविरुद्धावप्येवं विचारं न प्रयोजयतः। तद्यथा क्रियावद्द्रव्यं गुणवच्चेति विरुद्धौ। तावुक्तौ। तथाभिन्नकालौ न विवादार्हौ यथा क्रियावद्द्रव्यं निःक्रियं च कालभेदे सतीत्येककालावित्युक्तं। तथावसितौ विचारं न प्रयोजयेते निश्चयोत्तरकालं विवादाभावादित्यनवसितौ निर्दिष्टौ। एवं विशेषणविशिष्टयोर्धर्मयोः पक्षप्रतिपक्षयोः परिग्रह इत्थंभावनियमः। एवं धर्मायं धर्मी नैवं धर्मेति वा सोऽयं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो न वितंडायामस्ति सप्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितंडा इति वचनात्। तथा यथोक्तो जल्पः प्रतिपक्षस्थापनाहीनतया विशेषितो वितंडात्वं प्रतिपद्यते। वैतंडिकस्य च स्वपक्ष एव साधनवादिपक्षापेक्षया प्रतिपक्षो हस्तिप्रतिहस्तिन्यायेन स च वैतंडिको न साधनं वक्ति केवलं परपक्षनिराकरणायैव प्रवर्तत इति व्याख्यानात्।

वादमें वादी प्रतिवादियों द्वारा जिन पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह किया जाता है, वे पक्ष और प्रतिपक्ष कैसे होने चाहिये इसका विचार करते हैं, जिससे कि वितंडामें अतिव्याप्ति नहीं हो जाय। कारण कि पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों तो वस्तुके स्वभाव हो रहे धर्म हैं। वे दोनों एक अधिकरणमें ठहरनेवाले होने चाहिये। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों परस्परमें विरुद्ध होय एक ही कालमें दोनों विचारको प्राप्त हो रहे होंय, पक्ष प्रतिपक्ष दोनोंका अभीतक निश्चय नहीं हो चुका होय, ऐसे पक्ष और प्रतिपक्ष होने चाहिये। इन पक्ष प्रतिपक्षोंके विशेषणोंकी कीर्ति इस प्रकार है कि वे पक्ष प्रतिपक्ष वस्तुके विशेष धर्म होय, क्योंकि सामान्य रूपसे वस्तुको हम जान चुके हैं, विशेष धर्मोंके जाननेके निमित्त ही तो यह विवाद चलाया गया है। जैसे कि शद्बको सामान्य रूपसे जानकर उस शद्बके नित्यत्व, अनित्यत्व, धर्मोंका निर्णय करनेके लिये विचार चलाया है। तथा वे पक्ष और प्रतिपक्ष एक ही अधिकरणमे ठहर रहे होय, अनेक अधिकरणोंमें वे ठहर रहे धर्म तो वादी प्रतिवादियोंको विचार करनेके लिये प्रयुक्त नहीं कराते हैं। क्योंकि दो अधिकरणोमें ठहर रहे दो पक्ष प्रतिपक्ष धर्मोंकी प्रमाण करके सिद्धि मानी जा रही है। उसको इस प्रकार समझ लीजिये कि बुद्धि अनित्य है और आत्मा नित्य है। यहां अनित्यत्व धर्म तो बुद्धिमें रक्खा है, और नित्यत्व धर्म आत्मामें ठहराया है। एक ही वस्तुमें दो विरुद्धधर्म रहते तो शास्त्रार्थ किया जाता। पुद्गलको क्रियावान् और आकाशको क्रियारहित माननेमें किसीका झगडा नहीं है। इस प्रकार अविरुद्ध हो रहे भी धर्म वादियोंको विचार करनेमें प्रेरक नहीं होते हैं। उसको इस प्रकार समझिये कि जैसे द्रव्य क्रियावान् है और क्रियारहित भी है। एक ही शरीरमें बैठकर लिखनेपर हाथोंमें क्रिया है। अन्य शरीरके भागोंमें क्रिया नहीं है। वायुके चलनेपर वृक्षकी शाखाओंमें क्रिया है। जड या स्कन्धमें क्रिया नहीं है अथवा द्रव्य क्रियावान् है और द्रव्य गुणवान् है। ये अविरुद्ध हो रहे दो धर्म विचार मार्गपर आरूढ नहीं किये जाते हैं। इस कारण वे पक्ष प्रतिपक्ष हमने विरुद्ध हो रहे कहे हैं। तिसी प्रकार भिन्न भिन्न कालमें वर्त रहे दो विरुद्धधर्म तो विवाद करने योग्य नहीं हैं। जैसे कि द्रव्य क्रियावान् भी है और क्रियारहित भी है। कालके भेद होनेपर द्रव्यमें क्रियारहितपना और क्रियासहितपना घटित होजाता है। जो ही घट (पर्याय) लाने,लेजानेपर या उठाने धरनेपर, क्रियावान है वही धर दिया गया घडा थोडी देर पीछे क्रियारहित भी है। जैनमत अनुसार चलता फिरता देवदत्त क्रियावान् है। और अन्य कालोंमें स्थिर हो रहा देवदत्त निष्क्रिय भी है। इस कारण एक ही कालमें प्राप्त हो रहे धर्म ही पक्ष प्रतिपक्ष होते हैं, यह कहा गया था। तथा निर्णीत हो चुके धर्म भी वादी प्रतिवादियोंको विचार करनेके लिये नहीं प्रयुक्त कराते हैं। क्योंकि निश्चय कर चुकनेके उत्तरकालमें विवाद नहीं हुआ करता है। इस कारण वे पक्ष प्रतिपक्ष हमने अनिश्चित इस प्रकार निर्देशको प्राप्त कर दिये हैं (कह दिये गये हैं)। इस प्रकार उक्त विशेषणोंसे विशिष्ट हो रहे पक्ष प्रतिपक्षरूप धर्मोंका परिग्रह करना वाद है। परिग्रहका अर्थ तो " इसी प्रकार हो

सकता है " यह नियम करना है । यानी यह धर्मी मेरे मन्तव्य अनुसार इस प्रकारके धर्मसे ही युक्त हो रहा है । अथवा तुम्हारे मन्तव्य अनुसार इस प्रकार धर्मको नहीं धारता है । यह प्रसिद्ध हो रहा यह पक्ष, प्रतिपक्षोंका उक्ति प्रत्युक्तिरूप कथन करना तो वितंडामें नहीं है । गौतमसूत्रमें वितंडाका लक्षण यों लिखा है कि वह जल्पका एक देश यदि प्रतिपक्षकी स्थापनासे हीन होय तो वितंडा हो जाता है । इसका अभिप्राय यों है कि तिस प्रकार उपर्युक्त कथन अनुसार जल्प यदि प्रतिपक्षकी स्थापनाके हीनपने करके विशेष प्राप्त करदिया जाय तो वितंडापनको प्राप्त हो जाता है । वितंडावाद प्रयोजनको धारनेवाले वादीका स्वकीयपक्ष ही साधनवादीके पक्षकी अपेक्षासे " हस्तिप्रतिहस्ति " न्याय करके प्रतिपक्ष समझ लिया जाता है । अर्थात्—उरली पार परली पार कोई नियत तट नहीं हैं । इस ओर लडनेके लिये खडा हुआ हस्ती ही दूसरे हस्तीकी अपेक्षा प्रतिहस्ती मानलिया जाता है । इसी प्रकार शद्बके अनित्यत्वको सिद्ध करनेवाले नैयायिकके पक्षकी अपेक्षा जो प्रतिपक्ष शद्बका नित्यपना पडेगा वही नैयायिकके पक्षका खण्डन करनेवाले वैतंडिकका स्वकीय (निजी) पक्ष है । वह वैतंडिक विद्वान् अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिये किसी हेतु या युक्तिको नहीं कहता है । केवल दूसरों द्वारा साधे गये पक्षके निराकरण करनेके लिये ही प्रवृत्ति करता है । इस प्रकार वितंडाके लक्षणसूत्रका व्याख्यान किया गया है ।

ननु वैतंडिकस्य प्रतिपक्षाभिधानः स्वपक्षोऽस्त्येवान्यथा प्रतिपक्षहीन इति सूत्रकारो ब्रूयात् न तु प्रतिपक्षस्थापनाहीन इति । न हि राजहीनो देश इति च कश्चिद्राजपुरुषहीन इति वक्ति तथा अभिप्रेतार्थाप्रतिपत्तेरिति केचित् । ते पि न समीचीनवाचः, प्रतिपक्ष इत्यनेन विधिरूपेण प्रतिपक्षहीनस्यार्थस्य विवक्षितत्वात् । यस्य हि स्थापना क्रियते स विधिरूपः प्रतिपक्षो न पुनर्यस्य परपक्षनिराकरणसामर्थ्यात्प्रतिः सोत्र मुख्यविधिरूपतया व्यवतिष्ठते तस्य गुणभावेन व्यवस्थितेः ।

यहां कोई विद्वान् यों अवधारण कर रहे हैं कि वितंडा नामक शास्त्रार्थको करनेवाले पण्डितका भी प्रतिपक्ष है नाम जिसका ऐसा गांठ (निजी) का पक्ष है ही । अन्यथा न्यायसूत्रको बनानेवाले गौतमऋषि वितंडाके लक्षणमें प्रतिपक्षसे हीन ऐसा ही कह देते, किन्तु प्रतिपक्षकी स्थापना करनेसे रहित ऐसा नहीं कहते । राजासे हीन हो रहा देश है, ऐसा अभिप्राय होनेपर राजाके पुरुषोंसे हीन देश हो रहा है, यों तो कोई नहीं कह देता है । क्योंकि तैसा कहनेपर अभिप्रायको प्राप्त हो रहे अर्थकी प्रतिपत्ति नहीं हो पाती है । भावार्थ—जो प्रतिवादीके प्रतिकूल पक्ष है, वही वैतंडिक वादीका स्वपक्ष है । सूत्रकार गौतमने तभी तो प्रतिपक्षकी स्थापना करनेसे रहित वैतंडिकको बताया है । राजा अपने अधीन सभी नगरों या ग्रामोंमें एक एकमें नहीं बैठा रहता है । हां, राजाके अंग हो रहे पुरुष वहां राजसत्ताको जमाये हुये हैं । वैतंडिकको प्रतिपक्षसे रहित नहीं कहा है । इस

प्रकार कोई कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि वे भी कोई विद्वान् समीचीन वाणीको कहनेवाले नहीं हैं। क्योंकि प्रतिपक्षकी स्थापनासे हीन ऐसे सूत्रकारके इस कथन द्वारा विधिरूप करके प्रतिपक्षसे हीन हो रहा वैतंडिक है। यही अर्थ विवक्षाप्राप्त है। अर्थात्—जैसे साधनवादी अपने पक्षको स्वरूपकी विधि करके पुष्ट कर रहा है, उस प्रकार वैतंडिक अपने पक्षका विधान नहीं कर रहा है। जिसकी नियमसे स्थापना की जाती है वह विधिस्वरूप प्रतिपक्ष है। किन्तु परपक्षके निराकरणकी सामर्थ्यसे जिसका उन्नयन कर लिया है, यानी अर्थापत्ति या ज्ञानलक्षणासे जिसकी प्रतिपत्ति हो जाती है, वह यहां मुख्य विधिस्वरूप करके व्यवस्थित नहीं हो रहा है। हां, गौण रूपसे उसकी व्यवस्था भले ही हो जाय।

जल्पोपि कश्चिदेवं प्रतिपक्षस्थापनाहीनः स्यान्नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वप्रसंगादिति परपक्षप्रतिषेधवचनसामर्थ्यात् सात्मकं जीवच्छरीरमिति स्वपक्षस्य सिद्धेर्विधिरूपेण स्थापनाविरहादिति चेन्न, नियमेन प्रतिपक्षस्थापनाहीनत्वाभावाज्जल्पस्य। तत्र हि कदाचित्स्वपक्षविधानद्वारेण परपक्षप्रतिषेधः कदाचित्परपक्षप्रतिषेधद्वारेण स्वपक्षविधानमिष्यते नैवं वितंडायां परपक्षप्रतिषेधस्यैव सर्वदा तत्र नियमात्।

कोई विद्वान् कहते हैं कि यों तो जल्प भी कोई कोई इस प्रकार प्रतिपक्षकी स्थापनासे हीन हो जावेगा। देखिये, जल्पवादी कहता है कि यह जीवित शरीर (पक्ष) आत्मारहित नहीं है (साध्य) क्योंकि प्राण चलना, नाडी धडकना, उष्णता आदिसे सहितपनका यहां प्रसंग प्राप्त हो रहा है। अन्यथा अप्राणादिमत्त्वप्रसंगात् यानी यह शरीर यदि आत्मासे रहित होता तो प्राण आदिके रहितपनका प्रसंग आता। इस प्रकार परपक्षके निषेधको करनेवाले वचनकी सामर्थ्यसे ही जीवित शरीर सात्मक है, तिस प्रकारके स्वपक्षकी सिद्धि हो जाती है। यहां स्वतंत्र विधिरूप करके जल्पवादीके पक्षकी स्थापनाका विरह है। अब आचार्य कहते हैं कि यों तो नहीं कहना। क्योंकि नियमकरके प्रतिपक्षकी स्थापनासे हीनपना जल्पके नहीं है। अर्थात्–जल्पवादी साधनवादीके प्रतिपक्ष हो रहे अपने पक्षकी स्थापनाको कंठोक्त कर भी सकता है। किन्तु वैतंडिक अपने पक्षकी स्थापनाको नहीं करता है। कारण कि उस जल्पमें कभी कभी मुख्यरूपसे अपने पक्षकी विधिके द्वारा गौणरूपसे परपक्षका निषेध कर दिया जाता है। और कभी कभी प्रधानरूपसे परपक्षके निषेधद्वारा गौणरूपसे अपने पक्षका विधान इष्ट कर लिया जाता है। किन्तु वितंडामें इस प्रकार नहीं हो पाता है। क्योंकि वहां वितंडामें सदा परपक्षके निषेध करनेका ही नियम हो रहा है। अतः जल्पसे वितंडामें अन्तर है।

नन्वेवं प्रतिपक्षोपि विधिरूपो वितंडायां नास्तीति प्रतिपक्षहीन इत्येव वक्तव्यं स्थापनाहीन इत्यस्यापि तथाऽसिद्धेः स्थाप्यमानस्याभावे स्थापनायाः संभवायोगादिति

चेन्न, अनिष्टप्रसंगात् । सर्वथा प्रतिपक्षहीनस्यार्थस्यानिष्टस्य प्रसक्तौ च यथा वितंडायां साध्यनिर्देशाभावस्तस्य चेतसि परिस्फुरणाभावश्च तथार्थापत्त्यापि गम्यमानस्य प्रतिपक्षस्याभाव इति व्याहतिः स्याद्वचनस्य गम्यमानस्वपक्षाभावे परपक्षप्रतिषेधस्य भावविरोधात् । प्रतिपक्षस्थापनाहीन इति वचने तु न विरोधः सर्वशून्यवादिनां परपक्षप्रतिषेधे सर्वः शून्यमिति स्वपक्षगम्यमानस्य भावेपि स्थापनाया गम्यमानायास्तद्भावाभावे वा शून्यताव्याघातात् ।

फिर कोई विद्वान् यहां अवधारण करते हैं कि इस प्रकार कहनेपर जब वितंडामें कोई प्रतिपक्ष भी विधिस्वरूप नहीं है, यों तो सूत्रकारको " प्रतिपक्षहीन " इस प्रकार ही कहना चाहिये । प्रतिपक्षकी स्थापनासे हीन, ऐसे इस कथनकी भी तिस प्रकार माननेपर सिद्धि नहीं हो पाती है । क्योंकि स्थापन करने योग्य हो रहे पदार्थके अभाव होनेपर स्थापनाकी सम्भावना करना युक्त नहीं है । अर्थात्--वैतंडिकके यहां जब प्रतिपक्ष ही नहीं है, सूत्रकारको प्रतिपक्षकी स्थापनासे हीन ऐसा नहीं कह कर प्रतिपक्षसे हीन यों ही सीधा कह देना चाहिये था । अब आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि अनिष्टका प्रसंग हो जायगा । वैतंडिक सभी प्रकारों करके प्रतिपक्षसे हीन होय इस प्रकारका अर्थ अनिष्ट है । और अनिष्ट अर्थका प्रसंग प्राप्त हो जानेपर तो जिस प्रकार वितंडामें अपने साध्य हो रहे धर्मके कथन करनेका अभाव है और उस साध्यकी मनमें परिस्फूर्ति होनेका अभाव है, उसी प्रकार यदि विना कहे ही अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा जाने जा रहे भी प्रतिपक्षका अभाव हो जायगा तो यह वचनका व्याघात दोष हो जावेगा अर्थात्--ऐसी दशामें वैतंडिक एक अक्षर भी नहीं बोल सकता है । शद्बके नित्यपनका अभिप्राय रखता हुआ ही अथवा शद्बके अनित्यपनको नहीं माननेका आग्रह रखनेवाला पुरुष ही शद्बके अनित्यत्वका निराकरण करनेके लिये उद्युक्त होता है । यदि वैतंडिकका अर्थापत्तिसे भी जानने योग्य निजपक्ष नहीं माना जावेगा तो परपक्षके निषेधके हो जानेका विरोध है । अर्थात्--शद्बके अनित्यत्वका खण्डन करनेके समान शद्बके नित्यत्वका भी खण्डन कर बैठेगा । ऐसी दशामें वह विरुद्धभाषी वैतंडिक विचारकोंकी सभामेंसे पृथक्कृत हो जायगा । हां, प्रतिपक्षकी स्थापनासे हीन इस प्रकार सूत्रकार द्वारा कथन करनेपर तो कोई विरोध नहीं आता है । अर्थात्--वैतंडिकका साधनवादीके प्रतिकूल पक्ष हो रहा प्रतिपक्ष ही स्वपक्ष है । हां, वह उस निजपक्षकी हेतु, दृष्टान्त, आदिसे स्थापना नहीं कर रहा है । देखिये, सर्वको शून्य कहनेवाले वादियोंके द्वारा प्रमाण, प्रमेय, आदिको माननेवाले दूसरे विद्वानोंके पक्षका निषेध किये जानेपर यद्यपि शून्यवादियोंके " सम्पूर्ण जगत् शून्य है " " निःस्वभाव है " इस प्रकार गम्यमान निजपक्षका सद्भाव है, तो भी गम्यमान हो रही स्थापनाका उस स्वपक्षके समान यदि सद्भाव नहीं माना जायगा तब तो शून्यताका ही व्याघात हो

जायगा। अर्थात्—शून्यवादी भले ही अपने पक्षकी स्थापना नहीं करें, किन्तु तत्त्वोंके माननेवाले दूसरे वादियोंके पक्षका निराकरण कर देनेसे उनके अभिमत शून्यवादकी स्थापना परिशेषन्यायसे गम्यमान हो जाती है। यदि वह शून्यवादकी स्थापना गम्यमान भी नहीं होती तो शून्यपनेका ही व्याघात हो जाता, जो कि उसको इष्ट नहीं है।

तर्हि प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वेन तमभ्युपेयादित्यत्रापि प्रतिपक्षहीनमपि चेति वक्तव्यं, सर्वथा प्रतिपक्षहीनवादस्यासंभवादिति चेत्। क एवं व्याचष्टे सर्वप्रतिपक्षहीनमिति? परतः प्रतिज्ञामुपादित्समानस्तत्त्वबुभुत्साप्रकाशनेन स्वपक्षं वचनतोनवस्थापयन्स्वदर्शनं साधयेदिति व्याख्यानात् तत्र गम्यमानस्य स्वपक्षस्य भावात्, स्वपक्षमनवस्थापयन्निति भाष्यकारवचनस्यान्यथा विरोधात्।

यों कहनेपर किसी विद्वान्का कटाक्ष है कि तब तो प्रतिपक्षसे हीन होरहे को भी प्रयोजन साधनेके लिये अभिलाषीपन करके उसको स्वीकार करलेवे, इस प्रकार यहां भी और प्रतिपक्षसे हीन भी है, ऐसा वार्तिक कहदेना चाहिये। अर्थात्—प्रतिपक्ष स्थापनाहीन इस सूत्रके परिशेष रहे अर्थके लिये प्रतिपक्षहीन भी यह उपसंख्यान करना चाहिये। क्योंकि सर्वथा प्रतिपक्षसे हीन हो रहे वादका असम्भव है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कौन व्याख्यान कर रहा है कि सभी प्रकार प्रतिपक्षोंसे हीन वितंडा होना चाहिये? " सप्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितंडा " इसका व्याख्यान यों किया गया है कि परवादीसे प्रतिज्ञाको ग्रहण करनेकी इच्छा रखता हुआ वैतंडिक तत्त्वको जाननेकी इच्छाका प्रकाश करके स्वकीय पक्षको वचनोंद्वारा व्यवस्थापित नहीं करता हुआ अपने सिद्धान्तदर्शनकी सिद्धि करा देवें। क्योंकि वहां शब्दोंद्वारा प्रतिपादन किये विना यों ही जाने जा रहे अपने पक्षकी सत्ता है। अन्यथा यानी इस प्रकार व्याख्यानको नहीं कर दूसरे प्रकारोंसे माननेपर तो अपने पक्षको व्यवस्थापित नहीं कराता हुआ इस भाष्यकारके वचनका विरोध हो जावेगा। अर्थात्—उक्त सूत्रके भाष्यमें वात्स्यायन ऋषिने यों कहा है कि " यद्वै खलु तत्परप्रतिषेधलक्षणं वाक्यं स वैतंडिकस्य पक्षः, न त्वसौ साध्यं कञ्चिदर्थं प्रतिज्ञाय स्थापयतीति तस्माद् यथा न्यासमेवास्त्विति " दूसरे वादीके साध्यका निषेध करना स्वरूप वाक्य ही वैतंडिकका पक्ष है। वह वैतंडिक किसी साध्यविशेषकी प्रतिज्ञा कर स्थापन नहीं करता है। यानी वैतंडिक पण्डित अपने पक्षकी व्यवस्थाको नहीं करा रहा है। अपनी गांठकी प्रतिज्ञाको नहीं ग्रहण करता हुआ तत्त्व समझनेकी इच्छा का प्रकाश नहीं कर रहा है। केवल दूसरोंके पक्ष का खण्डन कर देनेसे अर्थापत्तिद्वारा वैतंडिकके सिद्धान्त दर्शनका अन्य जन अनुमान लगा लिया करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वितंडा सर्वथा प्रतिपक्षकी सिद्धिसे रीता नहीं है।

कुतोन्यथा भाष्यकारस्यैवं व्याख्यानमिति चेत्, सर्वथा स्वपक्षहीनस्य वादस्य जल्पवितंडावदसंभवादेव । कथमेवं वादजल्पयोर्वितंडातो भेदः ? प्रतिपक्षस्थापनाहीनत्वाविशेषादिति चेत्, उक्तमत्र नियमतः प्रतिपक्षस्थापनाया हीना वितंडा, कदाचित्तया हीनौ वादजल्पाविति । केवलं वादः प्रमाणतर्कसाधनोपलंभत्वादि विशेषणः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः । जल्पस्तु छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालंभश्च यथोक्तोपपन्नश्चेति वितंडातो विशिष्यते ।

कोई पूंछता है कि भाष्यकार वात्स्यायनका अन्य प्रकारोंसे व्याख्यान नहीं कर इसी प्रकार का व्याख्यान करना कैसे ठीक समझा जाय ? यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि जल्प और वितंडाके समान स्वपक्षसे सर्वथा हीन हो रहे वादका असम्भव ही है । अर्थात्—जैसे जल्प और वितंडामें उच्यमान या गम्यमान स्वपक्ष विद्यमान है, उसी प्रकार वादमें भी स्वपक्ष विद्यमान है । फिर कोई प्रश्न उठाता है कि इस प्रकार स्वपक्षके होनेपर वितंडासे वाद और जल्पका भेद कैसे हो सकेगा ? बताओ। क्योंकि प्रतिकूल पक्षकी स्थापनासे रहितपनकी अपेक्षा इन तीनोंमें कोई विशेषता नहीं है । यों कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि हम इस विषयमें पहिले ही कह चुके हैं कि नियम करके जो प्रतिपक्षकी स्थापनासे हीन है, वह वितंडा है । और कभी कभी स्वरूपकरके प्रतिपक्षसे हीन हो रहे वाद और जल्प हैं । अर्थात्—वितंडामें तो सर्वदा प्रतिपक्षकी स्थापना नहीं ही होती है । किन्तु वाद और जल्पमें कभी प्रतिपक्षकी स्थापना हो जाती है और कभी प्रतिपक्षकी स्थापना नहीं भी होती है । हां, केवल वादमें प्रमाण और तर्कों करके स्थापना और प्रतिषेध किये जाते हैं । अपने सिद्धान्तको स्वीकार कर उससे अविरुद्ध वाद होना चाहिये, इत्यादि विशेषणोंसे सहित हो रहा पक्ष प्रतिपक्षका परिग्रह करना वाद है । और जल्प तो छल जाति और निग्रह स्थानोंकरके साधन करना, उपालम्भ देना, इनसे युक्त है और ऊपर कहे हुये वादके लक्षणमेंसे जो कुछ उपपत्ति युक्त होय, उससे सहित है । इस कारण वितंडासे वाद और जल्पमें विशेषता प्राप्त हो जाती है ।

तदेवं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहस्य जल्पे सतोपि प्रमाणतर्कसाधनोपलंभत्वादिविशेषणाभावाद्वितंडायामसत्त्वाच्च न जल्पवितंडयोस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वासिद्धिः प्रकृतसाधनाद्येनेष्टविघातकारीदं स्यादनिष्टस्य साधनादिति वाद एव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वाज्जिगीषतोर्युक्तो न जल्पवितंडे ताभ्यां तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणासंभवात् । परमार्थतः ख्यातिलाभपूजावत् ।

तिस कारण अबतक यों सिद्ध हुआ कि वादके लक्षणका विशेष्य दल बनरहा पक्ष प्रतिपक्ष परिग्रह करना यद्यपि जल्पमें विद्यमान हो रहा है, तो भी प्रमाण तर्कोंसे साधन या उलाहना देना सिद्धान्त अविरुद्ध होना आदि विशेषणोंके नहीं घटित होनेसे जल्पको तत्त्वनिर्णयका संरक्षकपना

प्रकृत हेतुसे सिद्ध नहीं होता है तथा वितंडामें तो विशेष्य दल पक्ष प्रतिपक्ष परिग्रह और विशेषण दल प्रमाण तर्कसे साधना उलाहना आदिके नहीं घटित होनेसे तत्त्व निर्णयका संरक्षण अर्थपना प्रकरण प्राप्त साधनेसे सिद्ध नहीं हो पाता है । अर्थात्-आचार्य महाराजने पूर्वमें वाद ही को तत्त्वनिर्णयका रक्षकपना साधनेके लिये जो वादके पूरे लक्षणको हेतु बनाकर अनुमान कहा था वह ठीक है। जल्प और वितंडामें हेतु नहीं ठहरता है। जिससे कि अनिष्टका साधन हो जानेसे यह हेतु इष्टसाध्यके विघातको करनेवाला हो जाय। इस कारण वाद ही तत्त्व निर्णयके संरक्षण अर्थ उपयोगी होनेसे जीतनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंमें प्रवर्त रहा है । यह युक्त है। जल्प और वितंडा तो तत्त्वनिर्णयके रक्षक नहीं हैं। अतः जिगीषुओंमें नहीं प्रवर्तते हैं। गंवारोंकी दूसरी बात है। उन जल्प वितंडाओं करके परमार्थ रूपसे तत्त्वनिर्णयका भले प्रकार रक्षण होना असम्भव है। जैसे कि विद्वानोंमें प्रकृष्ट विद्वत्तापनेकी प्रसिद्धि आर्थिक लाभ, या यशोलाभ, तथा पूजा सत्कार ये जल्प वितंडाओंसे नहीं होते हैं। उसी प्रकार जल्प वितंडाओंसे तत्त्वनिर्णयकी रक्षा नहीं हो पाती है। अतः उक्त हेतु अन्यत्र नहीं रह कर वाद हीमें ठहरता है। उन करके तो निग्रह कर दिया जाता है। वहां तत्त्वबुभुत्सा नहीं है।

तत्त्वस्याध्यवसायो हि तत्त्वनिश्चयस्तस्य संरक्षणं न्यायबलात्सकलबाधकनिराकरणेन पुनस्तत्र बाधकमुद्भावयतो यथाकथंचिन्निर्मुखीकरणं चपेटादिभिस्तत्पक्षनिराकरणस्यापि तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणत्वप्रसंगात् । न च जल्पवितंडाभ्यां तत्र सकलबाधकपरिहरणं छलजात्याद्युपक्रमपराभ्यां संशयस्य विपर्यासस्य वा जननात् । तत्त्वाध्यवसाये सत्यपि हि वादिनः परनिर्मुखीकरणे प्रवृत्तौ प्राश्निकास्तत्र संशेरते विपर्ययस्यन्ति वा किमस्य तत्त्वाध्यवसायोस्ति किं वा नास्तीति । नास्त्येवेति वा परनिर्मुखीकरणमात्रे तत्त्वाध्यवसायरहितस्यापि प्रवृत्तिदर्शनात्तत्त्वोपप्लववादिवत् तथा चाख्यातिरेव प्रेक्षावत्सु अस्य स्यादिति कुतः पूजालाभो वा ?

तत्त्वका अध्यवसाय तो नियम करके तत्त्वोंका निश्चय करना है। उसका संरक्षण करना यह है कि प्रमाणोंकरके अर्थपरीक्षण स्वरूप न्यायकी सामर्थ्यसे सम्पूर्ण बाधकोंका निराकरण कर देना है। किन्तु फिर उसमें बाधक प्रमाणोंको उठा रहे प्रतिवादीका चाहे जैसे तैसे अन्याय या अनुचित मार्ग द्वारा बोल रोक देना संरक्षण नहीं अन्यथा दूसरेके मुखका बोल रोक देना तो थप्पड, घूंसा, मंत्रप्रयोग, मर्मच्छेदकवचन, चीक झपट्टा कर देना आदि निंद्य प्रयत्नों करके उस विद्वान्के पक्षके निराकरणको भी तत्त्वनिर्णय रक्षकपनका प्रसंग आ जावेगा। भावार्थ—प्रमाणोंद्वारा सकल बाधकोंका निराकरण कर देनेसे तत्त्वनिर्णयकी रक्षा होती है। चाहे जैसे मनमानी ढंगोंसे किसीको निर्मुख कर देनेसे तत्त्वनिर्णय नहीं हो पाता है। नादिरशाहीसे

न्यायमार्ग रक्षित नहीं रह पाता है। देखिये, जल्प और वितंडासे उस प्रतिज्ञा वाक्यमें उठाये गये सम्पूर्ण बाधकोंका परिहार नहीं हो पाता है। क्योंकि वे जल्प या वितंडामें प्रवर्त रहे पण्डित तो छल, असमीचीन उत्तर, निग्रह करना आदिका उपक्रम लगानेमें तत्पर हो रहे हैं। अतः उन जल्प वितंडाओंसे संशय या विपर्यय उत्पन्न हो जाता है। तत्त्वनिर्णय नहीं हो पाता है। कारण कि वादी पण्डितके तत्त्वोंका निर्णय होनेपर भी यदि उसकी दूसरोंको जैसे तैसे किसी उपायसे चुप कर देनेमें ही प्रवृत्ति होगी तो वहां बैठे हुये प्राश्निक सभ्य उसके विषयमें यों संशय करने लग जाते हैं कि इस वादीके क्या तत्त्वोंका अध्यवसाय है ? अथवा क्या नहीं है ? तथा प्राश्निक पुरुष यों विपरीत ज्ञान कर बैठते हैं कि इस वादीके तत्त्व निर्णय है ही नहीं। क्योंकि स्वपक्षसिद्धिको मुखसे रोक रहे प्रतिवादीके केवल चुप कर देनेमें तो तत्त्वनिर्णयसे रहित हो रहे भी वादीकी प्रवृत्ति होना देखा जाता है। जैसे कि तत्त्वोंका उपप्लव मानने वाले वादीकी स्वयं तत्त्वनिर्णय नहीं होते हुये भी दूसरोंके चुप करनेमें प्रवृत्ति हो रही है। यही अवस्था जाल्पिक और वैतंडिककी है और तैसा होनेपर विचार-शील प्रेक्षवान् पुरुषोंमें इसकी अप्रसिद्धि ही हो जावेगी। ऐसी दशामें सत्कार पुरस्काररूप पूजा अथवा लाभ तो भला कैसे प्राप्त हो सकता है ? तुम्हीं विचारो।

ततश्चैवं वक्तव्यं वादो जिगीषतोरेव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वादन्यथा तदनुपपत्तेः। पराभ्युपगममात्राज्जल्पवितंडावच्चात् निग्रहस्थानवत्त्वाच्च। न हि वादे निग्रहस्थानानि न संति। सिद्धांताविरुद्धः इत्यनेनापसिद्धांतस्य पंचावयवोपपन्न इत्यत्र पंचग्रहणान्न्यूनाधिकयोरवयवोपपन्नग्रहणाद्धेत्वाभासपंचकस्य प्रतिपादनादष्टानां निग्रहस्थानानां तत्र नियमव्याख्यानात्।

तिस कारण अबतक सिद्धि कराते हुये यों कहना चाहिये कि वाद (पक्ष) जीतनेकी इच्छा रखनेवाले दो वादी प्रतिवादियोंका (में) ही प्रवर्तता है (साध्य)। तत्त्वाध्यवसाय संरक्षण अर्थपना होनेसे (हेतु) अन्यथा यानी जिगीषुओंमें होने बिना वादमें वह तत्त्व निर्णयकी संरक्षकता नहीं होने पावेगी इस व्याप्तिको दिखलाते हुये पहिला हेतु कहा है। तथा दूसरे नैयायिकोंके केवल स्वीकार करनेसे जल्प, वितंडा सहितपना होनेसे (दूसरा हेतु) अर्थात्-नैयायिकोंने जल्प और वितंडाका जिगीषुओंमें प्रवर्तना स्वयं इष्ट किया है। इनके धर्म वादमें भी रह जाते हैं। अथवा नैयायिकोंने तत्त्व निर्णयके रक्षक जल्प वितंडाओंकी जिगीषुओंमें प्रवृत्ति मानी है। अतः जल्प और वितंडाको अन्वयदृष्टान्त समझो तथा निग्रहस्थानोंसे सहितपना होनेसे (तीसरा हेतु) यानी वादमें वादी प्रतिवादियों द्वारा तिरस्कार वर्धक या पराजयसूचक निग्रहस्थान उठाये जाते हैं। अतः सिद्ध होता है कि वाद परस्परमें एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखनेवालोंमें प्रवर्तता है। वादमें निग्रह स्थान नहीं हैं, यह कोई नहीं समझ बैठे। क्योंकि वादके लक्षणमें सिद्धान्त अविरुद्ध ऐसा पद पड़ा हुआ

है। इस करके वादमें अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थानके उठानेका नियम बखाना है। और वादके लक्षणमें " पंचावयवोपपन्नः " ऐसा विशेषण कहा गया है। इसमें पांच इस पदके ग्रहणसे न्यून और अधिक नामक निग्रहस्थानके उठानेका नियम कहा गया है। तथा 'अवयवोपपन्न' यानी अवयवोंसे सहित इस पदके ग्रहणसे पांचों हेत्वाभास नामक निग्रहस्थानोंका उठाना वहां वादमें नियमित कहा गया है। अर्थात्-सिद्धान्तसे अविरुद्ध वाद होना चाहिये, इससे ध्वनित होता है जो वादी या प्रतिवादी सिद्धांतसे विरुद्ध बोलेगा उसके ऊपर अपसिद्धान्त नामका निग्रहस्थान उठा दिया जायगा। " सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसंगोऽपसिद्धान्तः " वात्स्यायन ऋषि इसका अर्थ यों करते हैं कि किसी अर्थके तिस प्रकार होनेकी प्रतिज्ञा कर पुनः प्रतिज्ञा किये गये अर्थके विपर्ययस्वरूप अनियमसे कथाका प्रसंग करा रहे विद्वानके अपसिद्धान्त निग्रहस्थान हो जाता है। पांचों ही अवयव होने चाहिये। अन्यथा न्यून और अधिक नामक निग्रहस्थान लागू हो जानेसे वह विद्वान् निग्रहीत हो जावेगा। प्रतिज्ञा,हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, इन पांच अवयवोंमेंसे एक भी अवयव करके यदि हीन बोला जायगा, तो न्यून निग्रहस्थान कहावेगा और हेतु या उदाहरण अधिक बोल दिये जायंगे तो अधिक नामक निग्रहस्थान हो जायगा। तथा पांचों अवयव कहने चाहिये। यदि प्रतिज्ञा नहीं कही जायगी तो आश्रयासिद्ध हेत्वाभास नामक निग्रहस्थान उसपर लगा दिया जायगा। प्रतिज्ञा कह-देनेपर तो आश्रय पक्ष हो जाता है। हेतु अवयवसे युक्त यदि वाद नहीं होगा तो स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नामक निग्रह स्थानसे वह पण्डित ग्रस लिया जावेगा। हेतु कह देनेपर तो वह हेतु पक्षमें ठहर जाता है। अतः स्वरूपा सिद्ध नहीं है। अन्वयदृष्टान्त नहीं कहनेपर विरुद्धहेत्वाभास निग्रहस्थान उठा दिया जाता है। जो हेतु सपक्षमें रहेगा वह विरुद्ध नहीं हो सकता है। व्यतिरेक दृष्टान्त नहीं देनेसे अनैकान्तिकहेत्वाभास निग्रहस्थान उठा दिया जावेगा। जो हेतु विपक्षमें नहीं वर्तेगा वह व्यभिचारी नहीं होगा। उपनयसे युक्त नहीं कहनेपर बाधित हेत्वभास नामक निग्रहस्थान दिया जासकता है। जो साध्य करके व्याप्त हो रहे हेतुसे युक्त पक्ष है, वहां साध्यकी बाधा नहीं है। निगमनसे युक्त नहीं कहनेपर सत्प्रतिपक्ष नामका निग्रह स्थान उठा दिया जाता है। व्याप्तिको रखनेवाले हेतुका व्यापक साध्य यदि वहां वर्त रहा है तो साध्याभावका साधक दूसरा हेतु वहां कथमपि नहीं भटक सकता है। इस प्रकार अपसिद्धान्त, न्यून, अधिक, और पांच हेत्वाभास ऐसे आठ निग्रह स्थानोंका उठाना उस वादमें बखाना गया है। विजिगीषा रखनेवाले ही पण्डित दूसरोंके ऊपर निग्रहस्थान उठा सकते हैं। अत जिगीषु पुरुषोंमें ही वाद प्रवर्तता है।

ननु वादे सतामपि निग्रहस्थानानां निग्रहबुध्द्योद्भावनाभावान्न जिगीषास्ति। तदुक्तं तर्कग्रहेन भूतपूर्वगतिन्यायेन वीतरागकथात्वज्ञापनादुद्भावनियमो लभ्यते तेन सिद्धांताविरुद्धः पंचावयवोपपन्न इति चोत्तरपदयोः समस्तनिग्रहस्थानाद्युपलक्षणार्थत्वाद् वादेऽप्रमाणबुध्द्या परेण छलजातिनिग्रहस्थानानि प्रयुक्तानि न निग्रहबुध्द्योद्भाव्यंते किं तु

निवारणबुध्या तत्त्वज्ञानायावयवयोः प्रवृत्तिर्न च साधनाभासो दूषणाभावो वा तत्त्वज्ञानहेतुरतो न तत्प्रयोगो युक्तः इति। तदेतदसंगतं। जल्पवितंडयोरपि तयोरुद्भावननियमप्रसंगात्तयोस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणाय स्वयमभ्युपगमात्। तस्य छलजातिनिग्रहस्थानैः कर्तुमशक्यत्वात्।

यहां नैयायिक अपने सिद्धान्तका अवधारण करते हैं कि वीतरागोंमें ही वाद प्रवर्तता है। यद्यपि वादमें आठ निग्रहस्थानोंका सद्भाव है, तो भी दूसरेका निग्रह करनेकी बुद्धि करके निग्रहस्थानोंका उठाना नहीं होनेसे वहां परस्परमें जीतनेकी इच्छा नहीं है। वही हमारे ग्रन्थोंमें कहा गया है कि तर्क शब्द करके भूतपूर्वका ज्ञान होना इस न्यायके द्वारा वादमें वीतरागकथापनका ज्ञापक हो रहा है। अतः निग्रहस्थानोंके उद्भावका नियम प्राप्त हो जाता है। तिस कारण इस प्रकार " प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ " के उत्तरमें पडे हुये " सिद्धान्ताविरुद्ध " और " पंचावयवोपपन्न " इन दो पदोंके द्वारा सम्पूर्ण निग्रहस्थान, छल जाति, आदिका उपलक्षणरूप प्रयोजनसहितपना है। अतः वादमें अप्रमाणपनेकी बुद्धि करके दूसरोंके प्रति छल, जाति, निग्रहस्थानोंका प्रयोग किया है। दूसरेका निग्रह करनेकी बुद्धिसे छल आदिक नहीं उठाये गये हैं। किन्तु दोषोंके निवारणकी सद्विचारबुद्धिसे छल आदिक उठाये गये है। हम दोनों वादी प्रतिवादियोंकी प्रवृत्ति तत्त्वज्ञान करनेके लिये है। दूसरेके हेतुको हेत्वाभास बना देना अथवा अपने हेतुमें दूषण नहीं आने देना हमारा लक्ष्य नहीं है। हेत्वाभास कर देना या दूषण नहीं आने देना कोई तत्त्वज्ञानका कारण नहीं है। इस कारण उन छल आदिकका प्रयोग करना युक्त नहीं है। भावार्थ—न्याय भाष्यमें लिखा है कि अवयवोंमें प्रमाण और तर्कका अन्तर्भाव हो जानेपर पुनः पृथक्रूपसे प्रमाण और तर्कका ग्रहण करना साधन और उपालम्भके व्यतिषंगका ज्ञापक है। सोलह पदार्थोंमें वादके पहिले तर्क और निर्णय पदार्थ हैं। वीतराग कथामें यहां यह होना चाहिये, यह नहीं होना चाहिये, इस प्रकार तत्त्वज्ञानके लिये किया गया विचार तर्क है। विमर्षण कर पक्ष प्रतिपक्षोंकरके अर्थ अवधारण करना निर्णय है। तर्क और निर्णयके समय किया गया विचार जैसे वीतरागताका कारण है, वैसे ही वादमें भी वीतरागोंका विचार होता है। उसमें हार जीतके लिये निग्रहस्थान आदिका प्रयोग नहीं है। ऐसे जघन्य कार्योंमें तत्त्वनिर्णय नहीं हो पाता है। यहांतक नैयायिक वादको वीतराग कथापन साधनेके लिये अनुनय कर चुके। अब आचार्य कहते हैं कि यह सब उनका कहना पूर्व अपर संगतिसे रहित है। क्योंकि यों तो जल्प और वितंडामें भी निग्रहस्थान आदिका तिस प्रकार यानी निग्रह बुद्धिसे नहीं, किन्तु निवारण बुद्धिसे उठानेके नियमका प्रसंग हो जायगा। उन जल्प वितंडा दोनोंको नैयायिकोंने स्वयं तत्त्वनिर्णयकी संरक्षा करनेके लिए स्वीकार किया है। छल, जाति, निग्रह स्थानोंकरके वह तत्त्वनिर्णय नहीं किया जा सकता है।

परस्य तूष्णींभावार्थं जल्पवितंडयोश्छलाद्युद्भावनमिति चेन्न,तथा परस्य तूष्णींभावासंभवादसदुत्तराणामानंत्यान्न्यायबलादेव परनिराकरणसंभवात्। सोयं परनिराकरणा

यान्ययोगव्यवच्छेदेनाध्यवसिताद्यनुज्ञानं तत्त्वविषयप्रज्ञापरिपाकादि च फलमभिप्रेत्य वादं कुर्वन् परं निग्रहस्थानैर्निराकरोतीति कथमविरुद्धवाक् न्यायेन प्रतिवादिनः स्वाभिप्रायान्निवर्तनस्यैव निग्रहत्वाद्लाभे वा ततो निग्रहत्वायोगात् । तदुक्तं । " आस्तां तावदलाभादिरयमेव हि निग्रहः । न्यायेन विजिगीषूणां स्वाभिप्रायनिवर्तनम् ॥ " इति सिद्धमेतत् जिगीषतोर्वादो निग्रहस्थानवत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति ।

दूसरोंको चुप करनेके लिये जल्प और वितंडामें छल आदिक उठाये जाते हैं, यह तो नहीं कहना । क्योंकि तिस प्रकार छल आदिकके उठानेसे तो दूसरेका चुप रहना असम्भव है । क्योंकि असमीचीन उत्तर अनन्त पडे हुये हैं । अतः दूसरा अनेक जातियोंद्वारा प्रत्यवस्थान करता जायगा, कोई रोक नहीं सकता है । वस्तुतः देखा जाय तो समीचीन न्यायकी सामर्थ्यसे ही दूसरेका निराकरण करना सम्भवता है । अन्यथा नहीं, सो यह प्रसिद्ध नैयायिक अनिर्णीत, संदिग्ध, विपर्यस्त, आदिका ज्ञान हो जाना और जाने हुये तात्त्विक विषयोंमें प्रज्ञाका परिपाक दृढता आदि हो जाना रूप फलका अभिप्राय कर दूसरोंके निराकरणके लिये अन्यके योगका व्यवच्छेद करके वादको कह रहा संता निग्रहस्थानों करके दूसरेका निराकरण कर रहा है । ऐसा कहनेवाला नैयायिक पूर्वापर अविरुद्ध बोलनेवाला कैसे समझा जा सकता है ? अर्थात्--उद्देश्य तो इतना पवित्र है । किन्तु जघन्यमार्ग पकड रखा है । सच पूछो तो प्रतिवादीका न्याय मार्ग करके स्वकीय अभिप्रायसे निवृत्ति करा देना ही निग्रह है । अपने आग्रहीत अभिप्रायोंसे निवृत्त करा कर यदि वादीने प्रतिवादीको अपने समीचीन सिद्धान्तोंका लाभ नहीं करा लिया है तो इन छल आदिकोंसे उस प्रतिवादीका निग्रह कथमपि नहीं हो सकता है । वही ग्रन्थोंमें कहा है कि लाभ नहीं होना, प्रसिद्धि नहीं होना, सत्कार नहीं होना, आदिक तो दूर ही रहो, ये तो सब पीछेकी बातें हैं । हम तो कहते हैं कि जीतनेकी इच्छा रखनेवालोंमेंसे किसी एकका किसी एकके द्वारा न्यायपद्धति करके नियमपूर्वक स्वकीय अभिप्रायोंसे निवृत्त करा देना यही निग्रह है । इस कारण यह राद्धान्त सिद्ध हो जाता है कि वाद (पक्ष) जीतनेकी इच्छा कर रहे विद्वानोंमें प्रवर्तता है (साध्य) । अन्यथा निग्रहस्थान सहितपना असिद्ध हो जावेगा । यहांतक छब्बीसवीं कारिकाके व्याख्यानका उपसंहार कर दिया गया है ।

स च चतुरंगः स्वाभिमेतस्वव्यवस्थानफलत्वाल्लोकप्रख्यातवादवत् । तथाहि ।

और अट्ठाईसवीं वार्तिकके परामर्श अनुसार वह वाद (पक्ष) सभ्य, सभापति, वादी, प्रतिवादी, इन चार अंगोंके होनेपर प्रवर्तता है (साध्य) । अपने अपने अभिप्राय अनुसार इष्ट हो रहे अपने ही पक्षकी व्यवस्था करा देना रूप फलसे सहित होनेसे (हेतु) जैसे कि लोकमें विजिगीषुओंके भले प्रकार प्रसिद्ध हो रहे वाद अपनी अपनी पक्षकी पुष्टि हो जाना उद्देश्य कर किये गये

चार अंगवाले हैं। न्यायाधीश १ साक्षी या दर्शक २ वादी ३ और प्रतिवादी ४ इन चार अंगोंके होनेपर लौकिक वाद (मुकदमा) प्रवर्तता है। इसी बातको ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिकों द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

मर्यादातिक्रमं लोके यथा हंति महीपतिः।
तथा शास्त्रेप्यहंकारग्रस्तयोर्वादिनोः क्वचित् ॥ ३० ॥

जिस प्रकार लोकमें मर्यादाका अतिक्रमण करनेवाले या मर्यादाके अतिक्रमको राजा नष्ट कर देता है। उसी प्रकार कहीं कहीं शास्त्रमें भी गर्वसे ग्रसे गये वादी प्रतिवादियोंके हुये मर्यादा अतिक्रमको सभापति या राजा नाश कर देता है। अर्थात्—बांधी हुई मर्यादाको तोडनेवाले अभिमानी वादी प्रतिवादियोंको राजा नियत मर्यादामें ही अपनी शक्ति द्वारा रक्षित रखता है। अन्यथा प्रवर्तनेपर दण्डित कर देता है।

वादिनोर्वादनं वादः समर्थे हि सभापतौ।
समर्थयोः समर्थेषु प्राश्निकेषु प्रवर्तते ॥ ३१ ॥

अपनी अपनी योग्य सामर्थ्यसे युक्त हो रहे वादी प्रतिवादियोंका वाद तो सामर्थ्य युक्त सभापतिके होनेपर और समर्थ प्राश्निकोंके होनेपर प्रवर्तता है। अर्थात्—वादी, प्रतिवादी, सभ्य, और सभापतिके, अपनी अपनी समुचित सामर्थ्यसे सहित होनेपर वाद प्रवर्तता है।

सामर्थ्यं पुनरीशस्य शक्तित्रयमुदाहृतम्।
येन स्वमंडलस्याज्ञा विधेयत्वं प्रसिद्ध्यति ॥ ३२ ॥
मंत्रशक्त्या प्रभुस्तावत्स्वलोकान् समयानपि।
धर्मन्यायेन संरक्षेद्विप्लवात्साधुसात् सुधीः ॥ ३३ ॥
प्रभुसामर्थ्यतो वापि दुर्लंघ्यात्मबलैरपि।
स्वोत्साहशक्तितो वापि दंडनीतिविदांवरः ॥ ३४ ॥

सम्पूर्ण सभाके अधिपतिकी सामर्थ्य तो फिर मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति, उत्साहशक्ति, ये तीन शक्तियां कहीं गयीं हैं। जिस शक्तित्रयसे उस सभापतिका अपने सम्पूर्ण अधीन मण्डलको अपनी आज्ञाके अनुसार विधान करने योग्यपना गुण प्रसिद्ध हो जाता है। तीन तीन शक्तियोंमेंसे सबसे पहिली मंत्रशक्तिके द्वारा तो वह दूरदर्शी प्रभु अपने जनोंको और अपने सिद्धान्तोंको भी धार्मिक न्याय करके उप-

सर्गोंसे साधुओंके अधीन अच्छी रक्षा कर लेवेगा। या साध्वसः यानी भयसे स्वकीय वर्गको रक्षित रखेगा और वह सभापति अपनी दूसरी प्रभुता सामर्थ्यसे तो अलंघनीय या दुःसाध्यपूर्वक लंघनीय आत्मीय बलों करके भी स्ववर्ग और स्वसिद्धान्तोंकी रक्षा कर लेता है। अथवा दंडनीतिके शास्त्रोंको जानने वाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ हो रहा वह सभापति अपनी तीसरी उत्साह शक्तिद्वारा भी शासित प्रजाकी उपसर्गोंसे संरक्षा कर सकेगा।

रागद्वेषविहीनत्वं वादिनि प्रतिवादिनि।
न्यायेऽन्याये च तद्वत्त्वं सामर्थ्यं प्राश्निकेष्वदः ॥ ३५ ॥
सिद्धांतद्वयवेदित्वं प्रोक्तार्थग्रहणत्वता।
प्रतिभादिगुणत्वं च तत्त्वनिर्णयकारिता ॥ ३६ ॥
जयेतरव्यवस्थायामन्यथानधिकारता।
सभ्यानामात्मनः पत्युर्यशो धर्मं च वांछतां ॥ ३७ ॥

मध्यस्थ या प्राश्निकोंमें वह सामर्थ्य होना चाहिये कि वादी और प्रतिवादीमें रागद्वेषसे विहीनपना तथा न्याय और अन्यायके होनेपर न्यायसहितपना और अन्यायसहितपना बखानना तथा वादी प्रतिवादी दोनोंके सिद्धान्तोंका ज्ञातापन एवं वादी और प्रतिवादीद्वारा भले प्रकार कहे गये अर्थका ग्राहकपना तथा नव नव उन्मेषशालिनी बुद्धि, निपुणता, लोकचातुर्य आदि गुणोंसे युक्तपना एवं तत्त्वोंके निर्णयका कर्त्तापन इस प्रकारकी शक्तियां प्राश्निकोंमें होनी चाहिये। अर्थात्-सभ्यजन किसी वादी या प्रतिवादीमें पक्षपात नहीं रखें, रागद्वेषरहित होय, न्यायकी प्रवृत्ति होनेपर न्याय कहें और अन्याय वर्तनेपर अन्याय कहें, दोनोंके सिद्धान्तोंको जाने, तथा कहे हुये अर्थको समझ ले, प्रतिभा आदि गुणोंसे युक्त होय, तत्त्वका निर्णय करा सके, तब तो वादी, प्रतिवादीयोंके जय या पराजयकी व्यवस्था करनेमें वे नियामक समझें जायंगे। अन्यथा जय पराजय करनेमें उन सामर्थ्यरहित प्राश्निकोंको कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। अपने यश और धर्मकी वांछा करनेवाले तथा सभापतिके यश और धर्मको चाहनेवाले सभ्यपुरुषोंकी उक्त प्रकार सामर्थ्य होना अत्यावश्यक है।

कुमारनंदिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणाः।
राजप्राश्निकसामर्थ्यमेवंभूतमसंशयम् ॥ ३८ ॥

वाद करनेमें और प्रमाणों करके अर्थ परीक्षणा करनेस्वरूप न्यायमें अत्यन्त प्रकाण्ड विद्वान् श्री कुमारनन्दी भट्टारक तो राजा और प्राश्निकोंकी इस उक्त प्रकार हुई सामर्थ्यको संशयरहित कह रहे हैं।

एकतः कारयेत्सभ्यान् वादिनामेकतः प्रभुः ।
पश्चादभ्यर्णकान् वीक्ष्यं प्रमाणं गुणदोषयोः ॥ ३९ ॥

अब इनके बैठनेका क्रम बतलाते हैं कि सभापति महोदय इन वादी प्रतिवादियोंके एक ओरसे सभ्य प्राश्निकोंकी स्थितिको करा देवें और एक ओरसे उन प्राश्निकोंके पीछे समीपवर्ती दर्शकोंको करा देवें। तब वादी प्रतिवादियोंके गुण दोषोंमें प्रमाणको ढूंढना चाहिये।

लौकिकार्थविचारेषु न तथा प्राश्निका यथा ।
शास्त्रीयार्थविचारेषु वा तज्ज्ञाः प्राश्निका यथा ॥ ४० ॥

लोकसम्बन्धी अर्थोंके विचारों (मुकदमा) में जिस प्रकार प्राश्निक होते हैं। उस प्रकार शास्त्रसम्बन्धी अर्थके विचारोंमें वैसे प्राश्निक नहीं होते हैं। किन्तु शास्त्रार्थके विचार करनेमें उस विषयको यथायोग्य परिपूर्ण जाननेवाले पुरुष मध्यस्थ होते हैं।

सत्यसाधनसामर्थ्यसंप्रकाशनपाटवः ।
वाद्यजेयो विजेता नो सदोन्मादेन केवलम् ॥ ४१ ॥
समर्थसाधनाख्यानं सामर्थ्यं वादिनो मतं ।
सा त्ववश्यं च सामर्थ्यादन्यथानुपपन्नता ॥ ४१ ॥

समीचीन हेतुकी सामर्थ्यका अच्छा प्रकाश करनेमें दक्षतायुक्त वादी विद्वान् दूसरोंके द्वारा जीतने योग्य नहीं है। किन्तु दूसरोंको विशेषरूपसे जीतनेवाला है। केवल चित्तविभ्रमसे सदा वादी विजेता नहीं होता है। साध्यको साधनेमें समर्थ हो रहे हेतुका कथन करना ही वादीकी सामर्थ्य मानी गयी है, और वह हेतुकी सामर्थ्य तो साध्यके साथ अन्यथा अनुपपत्ति होना है। जो कि वादीकी शक्तिरूपसे अति आवश्यक मानी गयी है। यानी साध्यके विना हेतुका नहीं ठहरना हेतुकी सामर्थ्य है। इस प्रकार वादीकी सामर्थ्य कह दी है।

सद्दोषोद्भावनं वापि सामर्थ्यं प्रतिवादिनः ।
दूषणस्य च सामर्थ्यं प्रतिपक्षविघातिता ॥ ४३ ॥

प्रतिवादीकी सामर्थ्य भी समीचीन दोषोंका उत्थान करना है। और दूषणकी शक्ति तो प्रतिपक्ष यानी वादीके पक्षका विशेष रूपसे घात कर देना है। अर्थात्-जैसे कि धनुर्धारीकी सामर्थ्य उत्तम बाणका होना है। और बाणकी शक्ति तो शत्रुपक्षका विघात करना है।

ननु यथा सभापतेः प्राश्निकानां च सामर्थ्यमविरुद्धमुक्तं वादिनोः साधनदूषणयोः परस्परव्याघातात् । तथाहि-यदि वादिनः सम्यक्साधनवचनं सामर्थ्यं साधनस्य चान्यथानुपपन्नत्वं तदा कथं तत्र प्रतिवादिनः सद्दोषोद्भावनं सामर्थ्यं संसाध्यं दूषणस्य च पक्षविघातितावत्कथमितरदिति परस्परव्याहतं पश्यामः । तदन्यतमासमर्थत्वे वा यथा समर्थे सभापतौ प्राश्निकेषु वचनं वादस्तथा समर्थयोर्वादिप्रतिवादिनोः साधनदूषणयोश्चेति व्याख्यानमनुपपन्नमायातमिति कश्चित् । तदसत् । वादिप्रतिवादिनोः साधनदूषणवचने क्रमतः प्रवृत्तौ विरोधाभावात् । पूर्वं तावद्वादी स्वदर्शनानुसारितया समर्थः साधनं समर्थमुपन्यस्यति पश्चात्प्रतिवादी स्वदर्शनालंबनेन दोषोद्भावनसमर्थसद्दूषणं तत्सामर्थ्यं प्रतिपक्षविघातिता न विरुध्यते ।

यहां किसीकी एक बडी अच्छी शंका है कि जिस प्रकार सभापति और प्राश्निकोंकी सामर्थ्य एक दूसरेके अविरुद्ध कही गयी है, वैसी वादी प्रतिवादियोंकी शक्तियां अविरुद्ध नहीं है । क्योंकि वादीकी सामर्थ्य समीचीन साधन करके साध्यको साधना है । और प्रतिवादीकी सामर्थ्य उसमें समीचीन दूषण देना है । किन्तु इन दोनों सामर्थ्योंका परस्परमें व्याघात हो जावेगा । उसीको हम स्पष्ट कर दिखलाये देते हैं कि यदि वादीने समीचीन हेतु कहा है, हेतुकी सामर्थ्य तो आपने अन्यथानुपपत्ति बतायी थी तब भला वहां ऐसी दशामें प्रतिवादीके द्वारा समीचीन दोषका उत्थान कराना रूप सामर्थ्य समीचीन कैसे साधी जा सकती है । और दूसरी दूषणकी सामर्थ्यमें प्रतिपक्षका विघातकपना कैसे साधा जावेगा ? जैसे यह नहीं उसी प्रकार वह नहीं इसको हम परस्परमें व्याघातको प्राप्त हो रहा देख रहे हैं । अर्थात्-वादी यदि समीचीन हेतुको बोल रहा है, तो प्रतिवादी उसमें समीचीन दोष नहीं उठा सकता है । और यदि प्रतिवादी अपनी शक्ति अनुसार समीचीन दोषको उठा रहा है तो सिद्ध है कि वादीने अपनी नियत शक्ति अनुसार समीचीन हेतु नहीं बोला था । ऐसी अवस्थामें दोनोंकी सामर्थ्य कथमपि ठीक ठीक नहीं सध सकी । व्याघात दोषका यह अच्छा उदाहरण है । तथा उन वादी प्रतिवादी सभ्य सभापतियोंमेंसे यदि एक भी असमर्थ होगा तो जिस प्रकार समर्थ सभापति अथवा समर्थ प्राश्निकोंके होनेपर तत्त्व निर्णयार्थकता करना वाद है, तिस प्रकार समर्थ हो रहे वादी और प्रतिवादी तथा वादीकी शक्ति समर्थ साधन और प्रतिवादीकी शक्ति समर्थदूषणके होते संते शास्त्रार्थ व्याख्यान होना असिद्ध आपडा । यानी समर्थ सभापति और सभ्योंके होनेपर शास्त्रार्थ हो सकता है । किन्तु यथोक्त समर्थ वादी प्रतिवादीयोंके होनेपर वाद तीन कालमें भी नहीं हो सकता है । इस प्रकार कोई पण्डित शंकाकार कह रहा है । अब आचार्य कहते हैं कि इसका वह कहना अच्छा नहीं है । क्योंकि वादीकी साधनके कथन करनेमें और प्रतिवादीकी दूषणके कथन करनेमें प्रवृत्ति होनेपर कोई विरोध

नहीं आता है। देखिये, सबसे पहिले वादी तो अपने दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसारीपनेकरके समर्थ होता हुआ अन्यथानुपपत्तिस्वरूप सामर्थ्यसे युक्त हो रहे हेतुका निरूपण करता है। उसके पीछे अपने दर्शनका अवलम्ब करके दोषोंका उठानारूप सामर्थ्यसे युक्त हो रहा प्रतिवादी समीचीन दूषणका प्ररूपण करता है। उस दूषणकी प्रतिपक्षका विघातकपनारूप सामर्थ्य ऐसी दशामें विरुद्ध नहीं पड रही है। भावार्थ—जैसे कि सर्वथा क्षणिकपनेको सिद्ध करनेके लिये बौद्धने " सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् " सभी पदार्थ क्षणिक हैं, सत् होनेसे, यह अनुमान प्रयोग किया, बौद्ध दर्शनके अनुसार वादी समर्थ है। क्योंकि क्षणिकपन साध्यको साधनेमें समर्थ हो रहे सत्त्व हेतुका प्रकथन कर रहा है। और बौद्धमत अनुसार सत्त्व हेतुमें क्षणिकपनके साथ अविनाभाव रखना रूप सामर्थ्य विद्यमान है। दूसरी ओर मीमांसक मत अनुयायी प्रतिवादी अपने सिद्धान्तका अवलम्ब करके समीचीन दोषको उठानेस्वरूप सामर्थ्यसे युक्त होकर यों कह रहा है कि बौद्धोंका हेतु विरुद्धहेत्वाभास है। प्रत्यभिज्ञायमानपन होनेसे या वाचक शब्दका परार्थपना होनेसे सभी शब्द नित्य हैं। किसी भी शब्दका समूलचूल नाश नहीं हो पाता है। सर्वथा क्षणिक शद्वमें अर्थक्रिया भी नहीं हो सकती है। इत्यादि प्रकारसे प्रतिपक्षका विघातकपना-रूप सामर्थ्य प्रतिवादीके दूषणमें विद्यमान है। पुनः बौद्ध अपने सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिये हेतु प्रयोग करता है। पीछे प्रतिवादी भी उसमें समीचीन दोषोंको उठा देता है। इस प्रकार अपने अपने सिद्धान्तोंके अनुसार समीचीन हेतु और समीचीन दूषणोंका प्रयोग करना अक्षुण्ण सध जाता है। युक्ति, सदागम और अनुभव इनसे जो सिद्धान्त अन्तमें निर्णीत होता है, वह सिद्धान्त यदि वादीके विचार अनुसार है, तब तो प्रतिवादीके दूषण असमीचीन दूषण समझे जायगे और वह अन्तिम सिद्धान्त यदि प्रतिवादीके अनुकूल है, तो वादीके हेतु हेत्वाभास ज्ञात कर लिये जायगे। हां, यदि बीचमें वादी या प्रतिवादीने अपना पक्ष निर्दोष होते हुये भी व्यर्थ कथन उपकथन, किया है, वह प्रशस्त दूषण या समीचीन हेतुओंके साथ नहीं गिना जावेगा। कभी कभी ऐसा भी हो जाता है कि वादीका सिद्धान्त निर्दोष है। किन्तु प्रतिवादी अपनी अकाट्य तर्कों द्वारा वादीके हेतुओंको दूषित कर देता है। अथवा कदाचित् असमीचीन सिद्धान्तको भी सुदक्ष वादी हेतुओंसे सिद्ध कर देता है। किन्तु निर्बल वादी अपने सत्पक्षकी रक्षा करता हुआ उस वादीके हेतुओंमें दोष नहीं उठा सकता है। ऐसी दशामें जयपराजयकी व्यवस्था भले ही चाहे जैसी हो जाय, किन्तु सर्वमान्य सिद्धान्तका निर्णय यों नहीं हो पाता है। मांसभक्षणको पुष्ट करनेवाला कुतर्की पुरुष शुद्ध अन्न, फल, भोजन का पक्ष ले रहे भोले प्रतिवादीको हरा देता है। एतावता सिद्धान्त व्यवस्था नहीं निर्णीत कर दी जाती है। प्रकरणमें यह कहना है कि अन्तिम निर्णीति या सर्वमान्य सिद्धान्त अनुसार नहीं, किन्तु अपने अपने दर्शन अनुसार वादी प्रतिवादियोंका समीचीन हेतु और समीचीन दोष उठाना ये दोनों कार्य अविरुद्ध बन जाते हैं।

का पुनरियं प्रतिपक्षविघातितेत्याह।

आप जैनोंने प्रतिवादीके दूषणकी सामर्थ्य प्रतिपक्षका विघातकपना कहा था, अब आप फिर यह बता दीजिये कि यह प्रतिपक्षका विघातकपना क्या है ? क्या किसीको मारा या पीटा जाता है ? या किसीका अंगच्छेद किया जाता है ? या किसीके पंख उडा दिये जाते हैं ? विशेषरूप घातकपनेका अर्थ यहां क्या लिया जाय ? विनीत तर्की शिष्यकी ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं ।

सा पक्षांतरसिद्धिर्वा साधनाशक्ततापि वा ।
हेतोर्विरुद्धता यद्वदभासांतरतापि च ॥ ४४ ॥

गृहीत किये गये पक्षसे दूसरे पक्षकी सिद्धि हो जाना अथवा प्रकृत साध्यको साधनेवाले हेतुका अशक्तपना भी प्रतिपक्ष विघातकपन है । तथा वादीके हेतुका विरुद्धपना जिस प्रकार प्रतिपक्षका विघातकपन है, उसी प्रकार वादीके हेतुका अन्य हेत्वाभासों द्वारा दूषित कर देना भी प्रतिपक्ष विघातकत्व है । भावार्थ—वादमें किसीका घात या ताडन, पीडन नहीं किया जाता है । किन्तु वादीके पक्षसे दूसरे पक्षकी सिद्धि हो जाना अथवा वादीके हेतुको अपने साध्यको साधनेमें अशक्त कर देना, या उसके हेतुको विरुद्ध कर देना अथवा वादीके हेतुमें अन्य व्यभिचार, असिद्ध, आदि हेत्वाभासोंका उठा देना यही प्रतिवादीके द्वारा उठाये गये श्रेष्ठदूषणमें प्रतिपक्षका विघातकपन है । पण्डितोंके वादमें ग्रामीण या हिंसकोंकीसी प्रवृत्ति नहीं हो पाती है । अतः कोई अन्य अनिष्टकी चिन्ता करनेका अवसर नहीं है ।

साधनस्य स्वपक्षघातिता पक्षांतरसाधनत्वं यथा विरुद्धत्वं स्वपक्षसाधनाशक्तत्वमात्रं वा यथानैकांतिकत्वादि साधनाभासत्वं, तदुद्भवने स्वपक्षसिद्धेरपेक्षणीयत्वात् । तदुक्तं । " विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः । आभासांतरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते । " इति ।

वादीका ग्रहण किया हुआ पक्ष प्रतिवादीका प्रतिपक्ष है । प्रतिवादी श्रेष्ठ दूषणके उठाने द्वारा वादीके साधनका विघात कर देता है । अतः वादीके हेतुका अपने निज पक्षका विघात क्या है ? इसका उत्तर यही है कि अपने अभीष्ट पक्षसे न्यारे हो रहे दूसरे पक्षका प्रतिवादी द्वारा साधन किया जाना है । जिस प्रकार कि वादीके हेतुमें विरुद्धपना उठाना अथवा वादीके हेतुको अपने पक्षके साधनमें केवल असमर्थपना उठा देना भी है । अथवा जैसे अनैकान्तिकपन, सत्प्रतिपक्षपन आदिक अन्य हेत्वाभासोंका प्रतिवादी द्वारा उठाया जाना भी प्रतिपक्षका विघातकत्व है । किन्तु उसके उद्भावन करनेमें प्रतिवादीको अपने पक्षकी सिद्धि अपेक्षणीय है । अर्थात्—प्रतिवादी अपने स्वपक्षको सिद्ध करता हुआ ही वादीको हेत्वाभासोंके उठाने द्वारा जीत सकता है । अन्यथा नहीं । वही ग्रन्थोंमें इस प्रकार कहा गया है कि वादीसे इतर प्रतिवादी विद्वान् विरुद्ध हेतुका उद्भाव कर

या अन्य हेत्वाभासोंका उत्थान कर वादीको जीत लेता है। किन्तु इसमें प्रतिवादीके निजपक्षकी सिद्धिकी अपेक्षा आवश्यक है। अर्थात्—केवल समीचीन दोष उठा देनेसे प्रतिवादी जीतको नहीं लूट सकता है। उत्तम बने हुये मोदकोंमें भी त्रुटि बतायी जा सकती है। किन्तु मोदक बनानेवालेको नहीं जीत सकेगा, जो उनसे भी परम उत्तम मोदक बना सकेगा। अतः प्रतिवादीको उचित है कि वह श्रेष्ठ दूषणोंको उठाते हुये अपने पक्षकी पुष्टि भी करे। अन्यथा वह जय प्राप्त करनेका अधिकारी नहीं है।

न चैवमष्टांगो वादः स्यात्तत्साधनतद्वचनयोर्वादिसामर्थ्यरूपत्वात् सद्दूषणतद्वचनयोश्च प्रतिवादिसामर्थ्यरूपत्वादंगांतरत्वायोगात् नैवं प्रश्नः सभ्यो वा वादिप्रतिवादिनोः सामर्थ्यं तयोः स्वतंत्रत्वात्। ततो नाभिमानिकोपि वादो द्व्यंग एव वीतरागवादवदिति शक्यं वक्तुं, चतुर्णामंगानामन्यतमस्याप्यपाये अर्थापरिसमाप्तेरित्युक्तप्रायं।

यदि यहां कोई यों कहे कि इस प्रकार सिद्धान्त करनेपर तो वाद आठ अंगवाला हो जावेगा। अर्थात्—१ सभापति २ सभ्य ३ वादी ४ वादीका समर्थ साधन ५ वादी द्वारा अविनाभावी हेतुका कहा जाना ६ प्रतिवादी ७ प्रतिवादी द्वारा समीचीन दोषका उठाना ८ प्रतिपक्ष विघातक दूषणका कहना, इस प्रकार पहिले चार अंग और " समर्थ " आदि एकताळीसवीं बियालीसवीं वार्तिकों द्वारा कहे गये चार अंग यों वादके आठ अंग हुये जाते हैं। आठ अंगवाला वाद तो किसीने स्वीकार नहीं किया है। यों कहनेपर आचार्य समझाते हैं, कि यह नहीं कहना। क्योंकि उस वादीके समर्थसाधनका आख्यान और अन्यथानुपपन्नहेतुका कथन, ये दोनों वादीकी सामर्थ्यस्वरूप पदार्थ हैं। अतः वादी नामक अंगमें ये दोनों गर्भित हो जाते हैं। तथा समीचीन दोषका उठाना और उस प्रतिपक्षविघातक दूषणका कथन करना ये दोनों प्रतिवादीकी सामर्थ्यस्वरूप हैं। अतः प्रतिवादी नामक अंगमें ये दोनों गर्भित हो जाते हैं। अतः वादके चार ही अंग हैं। इन चारके अतिरिक्त अन्य अंगोंके उपदेश देने या संकेत करनेका अभाव है। यदि कोई यों कटाक्ष कर दे कि इस प्रकार तो सभापति अथवा सभ्य भी वादी प्रतिवादियोंकी सामर्थ्य हो जायंगे। अर्थात्—नैयायिक शक्तिको स्वतंत्र पदार्थ नहीं मानते हैं। किन्तु पृथ्वीकी निजशक्ति पृथ्वीत्व है। और कारणोंकी शक्ति अन्य सहकारी कारणोंका प्राप्त हो जाना है। वनमें या शून्यगृहमें अकेले मनुष्यको भय लगता है। परन्तु अपने पास शस्त्र होनेपर या कई अन्य मनुष्योंका साथ होनेपर भय न्यून लगता है। वे मनुष्य परस्परमें एक दूसरेकी शक्ति हो जाते हैं। ऐसी दशामें मनुष्यकी शक्तियां आयुध या अन्य सहकारी कारण हैं। लोकमें भी धन या कुटुम्ब अथवा राजा या प्रतिष्ठित पुरुषोंकी ओरसे प्राप्त हुआ अधिकार ये मनुष्यकी बलवती शक्तियां मानी जाती हैं। शास्त्रोंका संचय पण्डित की शक्ति है। शस्त्रोंका संविधान योद्धा की शक्ति है।

अतः बहिर्भूत पदार्थ शक्ति हो सकता है । इसी प्रकार वादी और प्रतिवादीके सहकारी कारण हो रहे सभ्य और सभापति भी उनकी शक्तियां हो जावेंगी, तब तो संक्षेप करनेपर या अन्तर्भाव करनेके मार्गका सहरा लेनेपर वादके दो ही अंग ठहरते हैं । इस कटाक्षके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नहीं समझना। क्योंकि सभ्य और सभापति दोनों स्वतंत्र शक्तिशाली पदार्थ हैं । वे वादी प्रतिवादियोंके अधीन नहीं । अतः अभिमानकी प्रेरणासे प्रवर्त हो रहा भी वाद वादी और प्रतिवादी यों दो अंगवाला ही नहीं है । जैसे कि वीतराग पुरुषोंमें हो रहा वाद (संवाद) दो अंगवाला ही है । यह वीतराग वाद यहां व्यतिरेक दृष्टांत है । इस प्रकार वादको हम चार ही अंगवाला कह सकते हैं । वादी, प्रतिवादी, सभ्य, सभापति इन चार अंगोंमेंसे किसी भी एक अंगका अभाव हो जानेपर प्रयोजनसिद्धिकी परिपूर्णता नहीं हो सकती है । इस बातको हम प्रायः कई बार कह चुके हैं ।

एवमयमाभिमानिको वादो जिगीषतोर्द्विविध इत्याह ।

इस प्रकार यह विजिगीषुओंका अभिमानसे प्रयुक्त किया गया वाद दो प्रकारका है । इस बातको श्री विद्यानन्द आचार्य कह रहे हैं ।

इत्याभिमानिकः प्रोक्तस्तात्त्विकः प्रातिभोपि वा ।
समर्थवचनं वादश्चतुरंगो जिगीषतोः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार जीतनेकी इच्छा रखनेवाले विद्वानोंका समर्थहेतु या समर्थदूषणका कथन करना वाद बहुत अच्छा कह दिया है । वह चार अंगवाला है और अभिमानसे प्रयुक्त किया गया है । उस वादके दो भेद हैं । एक वादका प्रयोजन तत्त्वोंका निर्णय करना है । अतः वह तात्त्विक है और दूसरा वाद अपनी अपनी प्रतिभा बुद्धिको बढानेका प्रयोजन रखकर अथवा किसी भी इष्ट, अनिष्ट, उपेक्षित बातको पकड कर प्रतिभा द्वारा उसको भी सिद्ध कर देना है । ऐसा वाद प्रातिभ है । अर्थात्–तात्त्विक और प्रातिभ दो प्रकारके वाद होते हैं ।

पूर्वाचार्योपि भगवानमुमेव द्विविधं जल्पमावेदितवानित्याह ।

श्रीमान् परम महात्मा भगवान् पहिले आचार्य भी उस ही जल्प नामक वादको दो प्रकारका निवेदन कर चुके हैं । इस बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकद्वारा कहते हैं ।

द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम् ।
त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥ ४६ ॥

त्रेसठ वादियोंको जीतनेवाले श्रीदत्त आचार्य स्वकृत " जल्पनिर्णय " नामक ग्रन्थमें जल्पको दो प्रकार स्वरूप कह चुके हैं। एक तत्त्वोंको विषय करनेवाला जल्प है। दूसरा नवीन नवीन अर्थोंकी युक्तियोंके उन्द्रोधको करनेवाली प्रतिमा बुद्धिसे होनेवाला जल्प प्रातिम अर्थोंको विषय कर रहा प्रातिम है।

कः पुनर्जयोत्रेत्याह।

हे भगवन्! फिर यह बतलाइये कि यहां वादमें जय क्या पदार्थ है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं।

तत्रेह तात्त्विके वादेऽकलंकैः कथितो जयः।
स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोन्यस्य वादिनः॥ ४७॥

उन दो प्रकारके वादोंमेंसे इस तात्त्विक वादमें श्री अकलंकदेव महाराजोंकरके जय व्यवस्था यों कही गई है कि वादी और प्रतिवादीमेंसे किसी एकके निज पक्षकी सिद्धि हो जाना ही अन्य दूसरे वादीका निग्रह है। अर्थात्—अष्टशती ग्रन्थमें धर्मकीर्ति बौद्धके मन्तव्यका निराकरण करते हुये श्री अकलंकदेवने दूसरेके निग्रह करने और अपनी जय करनेमें स्वपक्ष सिद्धिको प्रधानकारण माना है। वादीके ऊपर केवल दोष उठा देनेसे प्रतिवादी नहीं जीत सकता है। प्रतिवादीको अपने पक्षकी सिद्धि करना आवश्यक है। तभी प्रतिवादीको जय प्राप्त होगा अन्यथा नहीं।

कथं?

यहां कोई पूंछता है कि श्री अकलंकदेव द्वारा कहा गया सिद्धान्त युक्त कैसे है? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है, सो सुनो।

स्वपक्षसिद्धिपर्यंता शास्त्रीयार्थविचारणा।
वस्त्वाश्रयत्वतो यद्वल्लौकिकार्थे विचारणा॥ ४८॥

जैसे कि लौकिक अर्थोंमें विचार करना वस्तुके आश्रयपनेसे होता है, उसी प्रकार शास्त्रसम्बन्धी अर्थोंकी विचारणा अपने पक्षकी सिद्धिपर्यंत होती है, पीछे नहीं। अर्थात्—लौकिक जन परस्परमें तभीतक विवाद करते हैं, जबतक कि अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो चुकी है। इष्ट हो रहे भूमि, धन, यश, मान, प्रतिरोध आदि वस्तुओंकी प्राप्ति हो चुकनेपर टंटा उठा लिया जाता है। या झगडा मिट जाता है। वैसे ही वादी या प्रतिवादी दोनोंमेंसे कोई यदि अपने पक्षको सिद्ध नहीं कर सकेगा, तबतक तो वाद प्रवृत्त रहेगा। स्वपक्षकी सिद्धि हो चुकनेपर कथाका अवसान हो जायगा।

कः पुनः स्वस्य पक्षो यत्सिद्धिर्जयः स्यादिति विचारयितुमुपक्रमते ।

यहां कोई पुनः प्रश्न करता है कि बताओ ? अपना पक्ष क्या है ? जिस स्वपक्षकी सिद्धि हो जाना जय हो सके । इस तत्त्वका विचार करनेके लिये श्री विद्यानंद आचार्य प्रथम आरम्भरूप प्रक्रमको भविष्य ग्रन्थद्वारा चलाते हैं ।

जिज्ञासितविशेषोत्र धर्मी पक्षो न युज्यते ।
तस्यासंभवदोषेण बाधितत्वात्खपुष्पवत् ॥ ४९ ॥
क्वचित्साध्यविशेषं हि न वादी प्रतिपित्सते ।
स्वयं विनिश्चितार्थस्य परबोधाय वृत्तितः ॥ ५० ॥
प्रतिवादी च तस्यैव प्रतिक्षेपाय वर्तनात् ।
जिज्ञासितो न सभ्याश्च सिद्धांतद्वयवेदिनः ॥ ५१ ॥

यहां प्रकरणमें जिसकी जिज्ञासा हो रही है, ऐसा कोई धर्मीविशेष पक्ष हो जाय यह युक्त नहीं है । क्योंकि उस जिज्ञासित विशेषधर्मीकी असम्भव दोष करके बाधा प्राप्त हो जाती है, जैसे कि आकाशके पुष्पका असम्भव है । अर्थात्—शब्दके नित्यत्व अथवा अनित्यत्व या आत्माके व्यापकपन अथवा अव्यापकपन तथा वेदके पुरुषकृतत्व अथवा अपौरुषेयपन आदिका जब विचार चलाया जा रहा है, उस समय वादी, प्रतिवादी, या सभ्यजनोंमेंसे किसीको किसी बातके जाननेकी इच्छा नहीं है । अतः जिस शब्दके नित्यत्व या अनित्यत्व की जिज्ञासा हो रही है, वह पक्ष है । यह पक्षका लक्षण असम्भव दोषसे युक्त है । देखिये, वादी तो अपने इष्ट पक्षको सिद्ध कर रहा है । वह किसी भी धर्मीमें किसी साध्य विशेषकी प्रतिपत्ति करना नहीं चाहता है । क्योंकि जिस वादीने पहिले विशेषरूपसे अर्थका निश्चय कर लिया है, उस वादीकी दूसरोंके समझानेके लिये प्रवृत्ति हुआ करती है । अतः वादीकरके जिज्ञासित नहीं होनेके कारण पक्षका लक्षण जिज्ञासितपना असम्भवी हुआ । तथा सन्मुख बैठे हुये प्रतिवादीकी भी प्रवृत्ति उस वादीके प्रतिक्षेप (खण्डन) करनेके लिये हो रही है । अतः प्रतिवादीकी अपेक्षासे भी जिज्ञासितपना पक्षका लक्षण असम्भव दोष ग्रस्त है । सभ्योंकी अपेक्षासे भी पक्ष विचारा जिज्ञासा प्राप्त नहीं है । क्योंकि सभामें बैठे हुये प्राश्निक तो वादी, प्रतिवादी दोनोंके सिद्धान्तोंका परिज्ञान रखनेवाले हैं । अतः वैशेषिकोंने पक्षका लक्षण " सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धेरभावः पक्षता " साधनेकी इच्छाके विरहसे विशिष्ट हो रही सिद्धिका अभाव पक्षता माना है । इसको व्यतिरेक मुखसे नहीं कहकर यदि अन्वय मुखसे कहा जाय तो कुछ न्यून होता हुआ जिज्ञासित विशेष ही पक्ष पडता है । जाननेकी इच्छा नहीं होनेपर भी

बादलोंका विशिष्ट गर्जन होनेसे मेघवृष्टिका अनुमान कर लिया जाता है। अतः व्यतिरेक मुखसे पक्षका लक्षण उन्होंने किया है। किन्तु यह लक्षण असम्भव दोष ग्रस्त है।

स्वार्थानुमाने वादे च जिज्ञासितेति चेन्मतं।
वादे तस्याधिकारः स्यात् परप्रत्ययनादृते ॥ ५२ ॥

यदि वैशेषिक यों कहें कि परार्थानुमानमें और विजिगीषुओंके वादमें भले ही जिज्ञासित विशेष धर्मी पक्ष नहीं बने, किन्तु स्वार्थानुमानमें अथवा आदिमें कहे गये वीतराग पुरुषोंके वादमें तो जिज्ञासितपना पक्ष हो जायगा। इस प्रकार वैशेषिकोंका मन्तव्य होनेपर आचार्य कहते हैं कि दूसरे प्रतिवादियोंको युक्तियों द्वारा प्रत्यय जहां कराया जाता है, उसके अतिरिक्त अन्य वादमें उस पक्षका अधिकार हो सकेगा। अर्थात्—विजिगीषुओंमें प्रवर्त रहे तात्त्विक वादमें पक्षका लक्षण जिज्ञासितपना नहीं बन पाता है।

जिज्ञापयिषितात्मेह धर्मी पक्षो यदीष्यते।
लक्षणद्वयमायातं पक्षस्य ग्रंथघातिते ॥ ५३ ॥

यदि वैशेषिक यों इष्ट करें कि विजिगीषुओंके वादमें जिस साध्यवान् धर्मीकी ज्ञापित करानेकी इच्छा उत्पन्न हो चुकी है, तत्स्वरूप धर्मी (ण्यन्तप्रेरक) यहां पक्ष हो जायगा। इस पर आचार्य कहते हैं कि यों तो तुम वैशेषिकोंके यहां पक्षके दो लक्षण प्राप्त हुये, जो कि तुम्हारे पक्षके लक्षणको कहनेवाले ग्रन्थका घात कर देते हैं। अर्थात्—जिज्ञासित विशेषधर्मीको पक्ष कहना और जिज्ञापयिषित धर्मीको पक्ष कहना, यह दो लक्षण तो पक्षके एक ही लक्षणको कहनेवाले ग्रन्थका विघात कर देते हैं, जिससे कि तुमको अपसिद्धान्त दोष लगेगा।

तथानुष्णोग्निरित्यादिः प्रत्यक्षादिनिराकृतः।
स्वपक्षः स्यादतिव्यापि नेदं पक्षस्य लक्षणं ॥ ५४ ॥

वैशेषिकों द्वारा माने गये पक्षके लक्षणमें असम्भव दोषको दिखा करके आचार्य अब अतिव्याप्तिको दिखलाते हैं कि पक्षका लक्षण यदि जिज्ञासितपना माना जायगा तो किसीको अग्निके अनुष्णपनेको जाननेकी इच्छा उपज सकती है। धर्म सेवनसे दुःख प्राप्ति हो जानेकी जिज्ञासा हो सकती है। ऐसी दशामें प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमानप्रमाण, आगमप्रमाण, आदिसे निराकरण किये गये अग्नि अनुष्ण है, जम्बूद्वीपका सूर्य स्थिर है, धर्मसेवन करना दुःख देनेवाला है, इत्यादिक भी स्वपक्ष हो जावेंगे। अतः अतिव्याप्ति दोष हुआ। इस कारण वैशेषिक या नैयायिकों द्वारा माना गया यह पक्षका लक्षण निर्दोष नहीं है।

लिंगात्साधयितुं शक्यो विशेषो यस्य धर्मिणः ।
स एव पक्ष इति चेत् वृथा धर्मविशेषवाक् ॥ ५५ ॥

जिस धर्मीके साध्यरूप विशेषधर्मका यदि ज्ञापक हेतुकरके साधन किया जा सके वही पक्ष है । इस प्रकार किसीके कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यों तो साध्यरूप विशेषधर्मका कथन करना व्यर्थ पडेगा । क्योंकि पक्षके शरीरमें ही साध्य आ चुका है । अतः केवल धर्मीको कह देना चाहिये । साध्यवान् धर्मीको पक्ष कहनेकी आवश्यकता नहीं रही ।

लिंगं येनाविनाभावि सोर्थः साध्योवधार्यते ।
न च धर्मी तथाभूतः सर्वत्रानन्वयात्मकः ॥ ५६ ॥
न धर्मी केवलः साध्यो न धर्मः सिद्ध्यसंभवात् ।
समुदायस्तु साध्येत यदि संव्यवहारिभिः ॥ ५७ ॥
तदा तत्समुदायस्य स्वाश्रयेण विना सदा ।
संभवाभावतः सोपि तद्विशिष्टः प्रसाध्यताम् ॥ ५८ ॥
तद्विशेषोपि सोन्येन स्वाश्रयेणेति न क्वचित् ।
साध्यव्यवस्थितिर्मूढचेतसामात्मविद्विषाम् ॥ ५९ ॥

ज्ञापक हेतु जिस साध्यरूप धर्मके साथ अविनाभाव रखता है, वह पदार्थ साध्य है, यह निर्णय किया जाता है । तिस प्रकार अविनाभावको प्राप्त हो रहा धर्मी तो साध्य नहीं है । क्योंकि धर्मसे विशिष्ट हो रहा धर्मी सभी स्थानोंपर अनन्वय स्वरूप है । अर्थात्-जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है । यह अन्वय तो ठीक बन जाता है । किन्तु जहां जहां धूमवान् (पर्वत) है, वहां वहां अग्निमान् (पर्वत) है । ऐसा अन्वय ठीक नहीं बनता है । हेतुकी तो साध्यके साथ व्याप्ति हैं, हेतुमान्का साध्यमान्के साथ अविनाभाव नहीं हैं । हेतुके साथ अधिकरणको लगाकर पुनः व्याप्ति बनानेसे अन्वयदृष्टान्त नहीं मिलता है । परीक्षामुखमें लिखा है कि " व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव " " अन्यथा तदघटनात् " अतः केवल धर्मी ही साधने योग्य पक्ष नहीं है । क्योंकि अकेले धर्मी या धर्मकी सिद्धि होनेका असम्भव है । देखे जा रहे पर्वतकी सिद्धि करना आवश्यक नहीं है । और स्मरण किये जा रहे या व्याप्तिज्ञान द्वारा जाने जा रहे अग्निको भी साधनेकी आवश्यकता नहीं है । यहां समीचीन व्यवहारको करनेवाले पुरुषों करके धर्मी और धर्मका समुदाय यदि साधा जावेगा, तब तो सर्वदा उस समुदायका अपने

आश्रयके विना सम्भव नहीं है। अतः वह समुदाय भी अपने उस आश्रयसे विशिष्ट हो रहा प्रकर्ष रूपसे साधने योग्य करना चाहिये और उसका विशेष वह विशिष्ट समुदाय भी अपने अन्य आश्रय करके विशिष्ट हो रहा साधा जावेगा। इस प्रकार करते करते अनवस्था हो जायगी। आत्माके साथ विद्वेष करनेवाले मूढचित्त वैशेषिकोंके यहां यों कहीं भी साध्यकी व्यवस्था (अवस्थिति) नहीं हो सकती है। भावार्थ—वैशेषिक जन आत्माको स्वयं ज्ञ नहीं मानते हैं। किन्तु सर्वथा भिन्न ज्ञानका समवाय हो जानेसे आत्माको ज्ञानवान् मान लेते हैं। ऐसी दशामें उनका आत्मा स्वयं अपनी गांठसे जड बना रहा। मनको भी वैशेषिक सर्वथा जड मानते हैं। भावमनका चैतन्य उन्हें अभीष्ट नहीं है। श्री समन्तभद्राचार्यने "कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्, एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु" इस आप्तमीमांसा कारिका द्वारा एकान्तवादियोंको स्वयं निजका वैरी कहा है। प्रकरणमें धर्म और धर्मीके समुदायको साध्य बनानेपर फिर ऐसे साध्यके साथ हेतुका किसी अन्वय दृष्टान्तमें अविनाभाव साधनेपर अन्य आश्रयोंकी कल्पना करते करते अनवस्था दोष हो जाता है, यों कहा है।

विनापि तेन लिंगस्य भावात्तस्य न साध्यता।
ततो न पक्षतेत्येतदनुकूलं समाचरेत् ॥ ६० ॥
धर्मिणापि विना भावात्क्वचिल्लिंगस्य पक्षता।
तस्य माभूत्ततः सिद्धः पक्षः साधनगोचरः ॥ ६१ ॥

यदि कोई वैशेषिकोंके विरोधमें यों कहें कि उस धर्मविशिष्ट धर्मीरूप पक्षके विना भी ज्ञापक हेतु वर्त जाता है, इस कारण उस समुदायको प्रतिज्ञा बनाते हुये साध्यपना नहीं है। तिस कारण उस समुदायको पक्षपना नहीं है, इसपर आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार यह कथन करना तो हमारे अनुकूल मार्गका भले प्रकार आचरण करेगा। दूसरी बात यह है कि कहीं कहीं धर्मीके विना भी ज्ञापकहेतुका सद्भाव पाया जाता है। अतः उस धर्मीको पक्षपना नहीं हो सकता है। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि स्वार्थानुमानके समान वादमें भी शक्य, अभिप्रेत, अप्रसिद्ध माने गये साध्यको साधनेवाले हेतुका विषय हो रहा धर्मी ही पक्ष मानना चाहिये।

यादृगेव हि स्वार्थानुमाने पक्षः शक्यत्वादिविशेषणः साधनविषयस्तादृगेव परार्थानुमाने युक्तः स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनाय प्रेक्षावतां परार्थानुमानप्रयोगात्, अन्यथा तल्लक्षणस्यासंभवादिदोषानुषंगात्।

कारण कि स्वयं ज्ञप्ति करनेके लिये हुये स्वार्थानुमानमें जिस प्रकारका ही शक्यत्व आदि विशेषणोंसे युक्त हो रहा और ज्ञापक हेतुका विषय हो रहा प्रतिज्ञारूप पक्ष है, उस ही प्रकारका

पक्ष परार्थानुमानमें भी स्वीकार करना युक्त है। अपनेको हुये निश्चयके समान अन्य पुरुषोंको निश्चयकी उत्पत्ति करनेके लिये विचारशाली तार्किक पुरुषोंके द्वारा परार्थानुमानका प्रयोग किया जाता है। अतः यही पक्षका लक्षण ठीक है। अन्य प्रकारोंसे उस पक्षके लक्षणके करनेमें असम्भव अतिव्याप्ति आदि दोषोंकी प्राप्ति हो जानेका प्रसंग होगा।

का पुनः पक्षस्य सिद्धिरित्याह।

पक्षका लक्षण हम समझे, फिर अब यह बताओ कि पक्षकी सिद्धि क्या पदार्थ है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य श्लोक वार्तिकद्वारा उत्तर कहते हैं।

सभ्यप्रत्यायनं तस्य सिद्धिः स्याद्वादिनोथवा।
प्रतिवादिन इत्येष निग्रहोन्यतरस्य तु ॥ ६२ ॥

सभामें स्थित हो रहे प्राश्निकजनोंके प्रतिज्ञान कराते हुये वादीके उस उपर्युक्त पक्षकी जो सिद्धि होगी दोनोंमेंसे एक हो रहे प्रतिवादीका यही तो निग्रह होगा अथवा प्रतिवादीके उस प्रतिज्ञा रूप पक्षकी सभ्योंके सन्मुख सिद्धि हो जाना ही वादीका निग्रह हो जाना है।

वादिनः स्वपक्षप्रत्यायनं सभायां स्वपक्षसिद्धिः, प्रतिवादिनः स एव निग्रहः, प्रतिवादिनोथवा तत्स्वपक्षसिद्धिर्वादिनो निग्रह इत्येतत्प्रत्येयम्। तथोक्तं। " स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोन्यस्य वादिनः। नासाधनांगवचनं नादोषोद्भावनं द्वयोः ॥ " इति।

विद्वान् पुरुषोंसे भरी हुई सभामें अपने निजपक्षका ज्ञापन कराना ही वादीके स्वपक्षकी सिद्धि है। वही प्रतिवादीका निग्रह है। अथवा प्रतिवादीके उस अपने पक्षकी सिद्धि हो जाना ही वादीका निग्रह है यों वह विश्वास करने योग्य मार्ग है। उसी प्रकार ग्रन्थोंमें कहा गया है कि वादी प्रतिवादियोंमेंसे एकके स्वपक्षकी सिद्धि हो जाना ही उससे भिन्न दूसरे वादीका निग्रह यानी पराजय है। वादीके लिये आवश्यक हो रहे साधनके अंगोंका कथन करना यदि कथमपि नहीं हो सके तो एतावता ही वादीका निग्रह नहीं हो जाता है। जबतक कि दोनोंमेंसे एक हो रहे प्रतिवादीके पक्षकी सिद्धि नहीं हो जाय अथवा प्रतिवादीके लिये आवश्यक बता दिया गया दोषोंका उठाना यदि कदाचित् नहीं भी हो सके तो इतनेसे ही प्रतिवादीका पराजय तबतक नहीं हो सकेगा, जबतक कि वादी अपने पक्षकी सिद्धिको सभ्योंके समक्ष नहीं कर सके। इस प्रकार दोनोंके जय पराजयकी व्यवस्था निर्णीत कर दी गयी है।

अत्र परमतमनूद्य विचारयति।

इस प्रकरणमें दूसरे बौद्धोंके मतका अनुवाद कर श्री विद्यानन्द आचार्य विचार करते हैं।

असाधनांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।
निग्रहस्थानमन्यत्तन्न युक्तमिति केचन ॥ ६३ ॥
स्वपक्षं साधयन् तत्र तयोरेको जयेद्यदि ।
तूष्णीभूतं ब्रुवाणं वा यत्किंचित्तत्समंजसम् ॥ ६४ ॥

बौद्धोंका मन्तव्य है कि वादीको अपने पक्षके साधन करनेवाले अंगोंका कथन करना चाहिये। वादी यदि स्वेष्टसिद्धिके कारण प्रतिज्ञा आदि अंगोंका कथन नहीं करेगा तो वादीका पराजय हो जायगा। तथा प्रतिवादीका कर्त्तव्य तो वादीके साधनोंमें दोष उठाना है। प्रतिवादी यदि समीचीन दोषोंको नहीं उठावेगा या अन्ट सन्ट अदोषोंको उठावेगा तो प्रतिवादीका पराजय हो जावेगा। इस प्रकार वादी या प्रतिवादी दोनोंके निग्रहस्थान प्राप्त करनेकी व्यवस्था कर दी गयी है। इससे भिन्न अन्य कोई निग्रहस्थान माना जावेगा, वह तो युक्तिपूर्ण नहीं होगा। इस प्रकार कोई बौद्ध मत अनुयायी कथन कर रहे हैं। उसपर अब आचार्य कहते हैं कि उन वादी, प्रतिवादी, दोनोंमेंसे कोई भी एक अपने पक्षकी सिद्धि करता हुआ यदि चुप हो रहे या जो कुछ भी मनमानी बक रहे दूसरेको जीतेगा कहोगे तब तो उन बौद्धोंका कथन न्यायपूर्ण है। अर्थात्--केवल असाधनांग वचन ही वादीका निग्रहस्थान नहीं है। हां, प्रतिवादीके पक्षकी सिद्धि हो चुकनेपर वादीका असाधनांग वचन करना वादीका पराजय करा देता है। यों वादीके पक्षकी सिद्धि हो चुकनेपर प्रतिवादीका दोष नहीं उठाना उस प्रतिवादीके निग्रहका प्रयोजक है, अन्यथा नहीं।

सत्यमेतत्, स्वपक्षं साधयन्नेवासाधनांगवचनाददोषोद्भावनाद्वा वादी प्रतिवादी वा तूष्णीभूतं यत्किंचिद्ब्रुवाणं वा परं जयति नान्यथा केवलं पक्षो वादिप्रतिवादिनोः सम्यक् साधनदूषणवचनमेवेति पराकूतमनूद्य प्रतिक्षिपति ।

बौद्ध कहते हैं कि यह स्याद्वादियोंका कहना ठीक है कि अपने पक्षकी सिद्धि कराता हुआ ही वादी अथवा प्रतिवादी उन असाधनांग वचनसे अथवा दोषोत्थान नहीं करनेसे सर्वथा चुपचाप हो रहे अथवा जो भी कुछ भाषण कर रहे दूसरोंको जीत लेता है। अन्यथा नहीं जीत पाता है। केवल बात यह है कि वादीका पक्ष समीचीन साधनका कथन करना ही माना जाय और प्रतिवादीका पक्ष समीचीन दूषणका कथन करना ही माना जाय। इस प्रकार दूसरोंकी कुचेष्टाका अनुवाद कर श्री विद्यानन्द आचार्य आक्षेपका प्रत्याख्यान करते हैं। यहां आचार्योंने सर्वथा चुप हो रहे या कुछ भी अंड बंड बक रहे वादी या प्रतिवादीका भी पराजय होना तभी माना है, जब कि जीतनेवाला अपने पक्षकी सिद्धि कर चुका होय। अन्यथा किसीके भी पक्षकी सिद्धि नहीं होनेसे कोई भी जयका अधिकारी नहीं है।

सत्साधनवचः पक्षो मतः साधनवादिनः ।
सद्दूषणाभिधानं तु स्वपक्षः प्रतिवादिनः ॥ ६५ ॥
इत्ययुक्तं द्वयोरेकविषयत्वानवस्थितेः ।
स्वपक्षप्रतिपक्षत्वासंभवाद्भिन्नपक्षवत् ॥ ६६ ॥

साधनवादीका पक्ष श्रेष्ठ साधनका कथन करना माना गया है । और प्रतिवादीका निजपक्ष तो समीचीन दूषणका कथन करना इष्ट किया गया है । इस प्रकार किसीका कथन करना न्याय्य नहीं है । क्योंकि दोनोंके एक विषयपनेकी व्यवस्था नहीं है । अतः स्वपक्षपन प्रतिपक्षपनका असम्भव है। जैसे कि सर्वथा भिन्न हो रहे पक्षोंमें स्वपक्षपनकी व्यवस्था नहीं है । अर्थात्–सिद्धि किसीकी की जा रही है और दूषण कहींका भी उठाया जा रहा है । ऐसी दशामें स्वपक्षपनेका प्रतिपक्षपनेका निर्णय करना कठिन है । जैसे कि नैयायिकोंका प्रतिवाद करनेपर आत्माके व्यापकपनका जैन खण्डन कर देते हैं । किन्तु तितनेसे उनका पक्ष यह नहीं प्रतीत हो पाता है कि जैन आत्माको अणुपरिमाणवाला मानते हैं, या मध्यमपरिमाणवाला स्वीकार करते हैं, अथवा आत्मा उपात्त शरीरके बरोबर है, अंगुष्ठमात्र है। या समुद्घात अवस्थामें और भी लम्बा चौडा हो जाता है, कुछ निर्णय नहीं । तथा मीमांसकोंद्वारा शब्दके अनित्यत्वका खण्डन करनेके अवसरपर वादी नैयायिकोंके अनित्य शब्दका यह पता नहीं लग पाता है कि नैयायिक शब्दको कालान्तरस्थायी अनित्य मानते हैं ? या दो क्षणतक ठहरनेवाला स्वीकार करते हैं ? या बौद्धोंके समान एक क्षणतक ही शब्दका ठहरना बताते हैं ? कुछ पता नहीं चलता है । दूसरी बात यह है कि बौद्धोंके मतं अनुसार पक्षके लक्षणका निर्णय नहीं हो सका है । इस कारणसे भी पक्ष प्रतिपक्षका असम्भव है ।

वस्तुन्येकत्र वर्तेते तयोः साधनदूषणे ।
तेन तद्वचसोर्युक्ता स्वपक्षेतरता यदि ॥ ६७ ॥
तदा वास्तवपक्षः स्यात्साध्यमानं कथंचन ।
दूष्यमाणं च निःशंकं तद्वादिप्रतिवादिनोः ॥ ६८ ॥

एक वस्तुमें दोनों वादी, प्रतिवादियोंके साधन करना और दूषण देना प्रवर्त रहे हैं । तिस कारणसे उनके वचनोंमें स्वपक्षपना और प्रतिपक्षपना युक्त हो जायगा । यदि बौद्ध यों कहेंगे तब तो वादीके द्वारा कैसे न कैसे ही साधा जा रहा और प्रतिवादीके द्वारा शंका-रहित होकर दूषित किया जा रहा वस्तु ही वास्तविक पक्ष उन वादी प्रतिवादियोंका सिद्ध हो जाता है ।

यद्वस्तु शब्दानित्यत्ववादिनां साध्यमानं वादिना, दूष्यमाणं च प्रतिवादिना तदेव वादिनः पक्षः शक्यत्वादिविशेषणस्य साधनविषयस्य पक्षत्वव्यवस्थापनात् । तथा यद्दूषणवादिना शब्दादि वस्तु अनित्यत्ववादिना साध्यमानं वादिना दूष्यमाणं तदेव प्रतिवादिनः पक्ष इति व्यवतिष्ठते न पुनः साधनवचनं वादिनः, दूषणवचनं च प्रतिवादिनः, पक्ष इति विवादाभावात्तयोस्तत्र विवादे वा यथोक्तलक्षण एव पक्ष इति तस्य सिद्धेरेकस्य जयोऽपरस्य पराजयो व्यवतिष्ठते,न पुनरसाधनांगवचनमात्रमदोषोद्भावनमात्रं वा। पक्षसिध्यविनाभाविनस्तु साधनांगस्यावचनं वादिनो निग्रहस्थानं प्रतिपक्षसिद्धौ सत्यां प्रतिवादिन इति न निवार्यत एव । तथाहि ।

शब्दके नित्यपनको कहनेवाले मीमांसक वादियोंके यहां जो वस्तु मीमांसक वादी करके साधी जा रही है और नैयायिक या बौद्ध प्रतिवादी करके यह शब्दका वस्तुभूत नित्यपना यदि दूषित किया जा रहा है तो वही वादीका पक्ष है । क्योंकि साठवीं वार्तिकके पीछे टीकामें शक्यपन, अप्रसिद्धपन आदि विशेषणसे युक्त हो रहे और ज्ञापक हेतुके विषय हो रहे को पक्षपनकी व्यवस्था की जा चुकी है । तथा जो शब्द आदिक वस्तु इस दूषणवादी नैयायिक प्रतिवादी करके अनित्यपन अव्यापकपन आदिक धर्मोंसे युक्त साधी जा रही है और वादी मीमांसककरके दूषित की जा रही है वही तो प्रतिवादीका पक्ष है, यह व्यवस्था हो रही है । किन्तु फिर वादीका साधन वचन करना पक्ष है, और प्रतिवादीका दूषण उठानेका वचन करना पक्ष है, यह व्यवस्था कर देना ठीक नहीं है। क्योंकि उन दोनों वादी प्रतिवादियोंका उस साधनकथन या दूषणकथनमें कोई विवाद नहीं है । इस बातको बालक भी जानता है कि वादी अपने पक्षकी पुष्टि करेगा, प्रतिवादी उसमें दूषण लगायेगा । परन्तु ये पक्ष या प्रतिपक्ष कथमपि नहीं हो सकते हैं। यदि उन वादी प्रतिवादियोंका उसमें विवाद होने लगे तब तो यथायोग्य कहे गये लक्षणसे युक्त हो रहा ही पक्ष सिद्ध हुआ । इस कारण ऐसे उस पक्षकी सिद्धि हो जानेसे ही एकका जय और दोनोंमेंसे दूसरे एकका पराजय होना व्यवस्थित हो जाता है । किन्तु फिर केवल असाधनांगका कथन करदेना वादीका निग्रह और प्रतिवादीका विजय नहीं है । अथवा केवल दोषोंका उत्थान नहीं करना ही प्रतिवादीका निग्रह और वादीका जय नहीं है । हां, पक्षसिद्धिके अविनाभावी हो रहे साधनांगका तो अवचन करना वादीका निग्रहस्थान है । यह प्रतिवादीके द्वारा अपने निज प्रतिपक्षकी सिद्धि होनेपर ही होगा । अतः इस तत्त्वका निवारण हमारे द्वारा नहीं किया जारहा ही है । उसी बातको श्री विद्यानन्द स्वामी स्पष्ट कर दिखलाये देते हैं ।

पक्षसिध्यविनाभावि साधनावचनं ततः ।
निग्रहो वादिनः सिद्धः स्वपक्षे प्रतिवादिनि ॥ ६९ ॥

तिस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि प्रतिवादीके स्वपक्षकी सिद्धि हो चुकनेपर यदि पक्ष-सिद्धिके अविनाभावी साधनोंका अकथन वादी द्वारा किया जायगा तो वादीका निग्रह बना बनाया है। कोई ढील नहीं है।

सामर्थ्यात् प्रतिवादिनः सद्दूषणानुद्भावनं निग्रहाधिकरणं वादिनः पक्षसिद्धौ सत्या-मित्यवगंतव्यं।

विना कहे ही इस वार्तिककी सामर्थ्यसे यह तत्त्व भी समझ लेना चाहिये कि श्रेष्ठ दूषण नहीं उठाना, प्रतिवादीका निग्रहस्थान है। किन्तु वादीके पक्षकी सिद्धि हो चुकनेपर यह नियम लागू होगा अन्यथा नहीं। यह भली भांति समझ लेना चाहिये।

तथा वादिनं साधनमात्रं ब्रुवाणमपि प्रतिवादी कथं जयतीत्याह।

केवल साधनको ही कह रहे वादीको भी भला प्रतिवादी कैसे जीत लेता है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज समाधान कहते हैं।

विरुद्धसाधनोद्भावी प्रतिवादीतरं जयेत्।
तथा स्वपक्षसंसिद्धेर्विधानं तेन तत्त्वतः ॥ ७० ॥

हेतुओं द्वारा अपने पक्षकी सिद्धिको कह रहे वादीके हेतुमें विरुद्धहेत्वाभास दोषको उठानेवाला प्रतिवादी नीचे हो रहे दूसरे वादीको तिस प्रकार स्वपक्षकी भले प्रकार सिद्धि करनेसे जीत लेगा। तिस कारण वास्तविक रूपसे स्वपक्ष सिद्धिका विधान करना अत्यावश्यक है।

दूषणांतरमुद्भाव्य स्वपक्षं साधयन् स्वयं।
जयत्येवान्यथा तस्य न जयो न पराजयः ॥ ७१ ॥

अन्य दूषणोंको उठाकर प्रतिवादी अपने पक्षकी सिद्धिको स्वयं करता हुआ ही वादीको जीतता है। अन्यथा यानी स्वपक्षकी सिद्धि नहीं करनेपर तो उस प्रतिवादीकी न जीत होगी और न पराजय होगा यह नियम समझो।

यच्च धर्मकीर्तिनाभ्यधायि साधनं सिद्धिस्तदंगं त्रिरूपं लिंगं तस्यावचनं वादिनो निग्रहस्थानं। तथा साधनस्य त्रिरूपलिंगस्याङ्गं समर्थनं व्यतिरेकानिश्चयनिरूपणात्, तस्य विपक्षे बाधकप्रमाणवचनस्य हेतोः समर्थनत्वात् तस्यावचनं वादिनो निग्रहस्थानमिति च नैयायिकस्यापि समानमित्याह।

और भी बौद्धमत अनुयायी धर्मकीर्तिने जो यों कहा था कि असाधनाङ्ग वचनका अर्थ यह है कि साधन यानी सिद्धि उसका अङ्ग यानी कारण तीन रूपवाला ज्ञापक हेतु है। उस त्रिरूप- लिंगका कथन नहीं करना वादीका निग्रहस्थान है। अर्थात्—पक्षसत्त्व, सपक्ष सत्त्व और विपक्षव्या- वृत्ति ये तीन स्वरूप हेतुके माने गये हैं। अनुमानके प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, ये तीन अंग हैं। वादी यदि स्वपक्षसिद्धिके लिये तीन रूपवाले हेतुका कथन नहीं करेगा तो उसका निग्रहस्थान हो जायगा। तथा "असाधनांग वचनका" दूसरा अर्थ यह है कि साधन यानी तीन रूपवाला लिंग उसका अंग समर्थन है। व्यतिरेकनिश्चयका निरूपण करना होनेसे उस हेतुका विपक्षमें बाधक प्रमाणके वचनको समर्थन कहते हैं। उस समर्थनका कथन नहीं करना वादीका निग्रहस्थान है। भावार्थ—" हेतोः साध्येन व्याप्तिं प्रसाध्य पक्षे सत्त्वप्रदर्शनं समर्थनं " साध्यके अभाव होनेपर हेतुका अभाव दिखलाया जाना व्यतिरेक है। हेतुकी साध्यके साथ व्याप्तिको साधकर धर्मीमें उस हेतुका अस्तित्व साध देना समर्थन है। यह अन्वय मुखसे समर्थन हुआ और व्यतिरेकके निश्चयका निरूपण करनेसे विपक्षमें बाधक प्रमाणका कथन करना भी व्यतिरेक मुखसे समर्थन है। यदि वादी इस व्यतिरेक मुखसे किये गये समर्थनका निरूपण नहीं करेगा तो वादीका निग्रहस्थान हो जायगा। इस प्रकार बौद्ध आचार्य धर्मकीर्तिके कह चुकनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि वह कथन तो नैयायिकको भी समानरूपसे लागू होगा। इसी बातको वार्तिक द्वारा श्री विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट कहते हैं।

स्वेष्टार्थसिद्धेरंगस्य त्र्यंशहेतोरभाषणं।
तस्यासमर्थनं चापि वादिनो निग्रहो यथा॥ ७२॥
पंचावयवलिंगस्याभाषणं न तथैव किम्।
तस्यासमर्थनं चापि सर्वथाप्यविशेषतः॥ ७३॥

अपने इष्ट अर्थकी सिद्धिके अंग हो रहे तीन अंशवाले हेतुका अकथन करना तथा उस तीन अंशवाले हेतुका समर्थन नहीं करना जिस प्रकार वादीका निग्रहस्थान (पराजय) है, उसी प्रकार हम नैयायिकोंके माने हुये पांच अवयववाले हेतुका अभाषण और उस पांच अवयववाले हेतुका समर्थन नहीं करना भी क्यों नहीं वादीका निग्रहस्थान होगा। सभी प्रकारोंसे बौद्धोंकी योजना से नैयायिकोंके योजनामें कोई विशेषता नहीं है। भावार्थ—बौद्ध यदि तीन अंगवाले हेतुका कथन नहीं करना वादीका निग्रहस्थान बतायेंगे तो नैयायिक पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबा- धित विषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व इन पांच अवयवोंसे सहित हो रहे हेतुका नहीं कथन करना या सम- र्थन नहीं करना निग्रहस्थान बता देंगे। असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचारी, बाधित, सत्प्रतिपक्ष, इन पांच

हेत्वाभासोंके निवारण अर्थ हेतुके पांच अवयवोंका स्वीकार करना अत्यावश्यक है और अनुमानके प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, इन पांच अवयवोंका मानना अनिवार्य है। ऐसी दशामें हेतुके तीन ही रूपोंका कथन या समर्थन करनेवाले बौद्धोंका नैयायिकोंके मत अनुसार सर्वदा निग्रह होता रहेगा। इसी प्रकार कोई अन्य पण्डित यदि भागासिद्ध, आश्रयासिद्ध, प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध, अशक्यत्व, अनभिप्रेतत्व आदि दोषोंके दूर करनेके लिये हेतुके रूप पांचसे भी अधिक आठ, नौ कर दें, तब तो बौद्ध और नैयायिक, दोनों सदा निगृहीत होते रहेंगे। अपने मनमानी हेतुके अंगोंकी संख्याको गढकर यदि दूसरोंका निग्रह कराया जाय, तब तो बडी अव्यवस्था फैल जावेगी। यहां आचार्योंने बौद्धोंके अनुदात्त विचारोंका नैयायिकोंके मन्तव्य अनुसार निवारण कर दिया है। दूसरोंके मतके खण्डनका यह उपाय अच्छा है।

ननु च न सौगतस्य पंचावयवसाधनस्य तत्समर्थनस्य वाऽवचनं तत्र निगमनांतस्य सामर्थ्याद्गम्यमानत्वात् तद्वचनस्य पुनरुक्तत्वेनाफलत्वादित्यपि न संगतमित्याह।

बौद्ध अपने मतका अवधारण करते हैं कि पांच अवयववाले हेतुका अथवा उसके समर्थनका कथन नहीं करना कोई बौद्धका निग्रहस्थान नहीं है। क्योंकि वहां निगमनपर्यन्त अवयवोंका विना कहे हेतुकी सामर्थ्यसे ही अर्थापत्तिद्वारा ज्ञान कर लिया जाता है। उस गम्यमानका भी यदि कथन किया जायगा तो पुनरुक्त हो जानेके कारण वह निष्फल (व्यर्थ) पडेगा। अतः बौद्धोंके ऊपर नैयायिकोंका कटाक्ष चल नहीं सकता है। अब आचार्य कहते हैं कि यह बौद्धोंका कहना भी पूर्वापर संगतिको किये हुये नहीं है। इस बातका ग्रन्थकार वार्तिकद्वारा कथन करते हैं।

सामर्थ्याद्गम्यमानस्य निगमस्य वचो यथा।
पक्षधर्मोपसंहारवचनं च तथाऽफलम् ॥ ७४ ॥

जिस प्रकार कि समर्थित हेतुकी सामर्थ्यसे विना कहे हुये ही जाने जा रहे निगमन अवयव का कथन करना निष्फल है, उसी प्रकार पक्षमें वर्त रहे हेतुके उपसंहाररूप उपनयका कथन करना भी अफल पडेगा। अर्थात्—बौद्धोंने उपनयका वचन स्थान स्थानपर किया है। यदि गम्यमानका कथन करना नैयायिकोंका व्यर्थ है, तो बौद्धोंके उपनयका कथन भी निरर्थक पडेगा। ऐसी दशामें बौद्धोंके ऊपर पुनरुक्त या निरर्थक निग्रहस्थान उठाया जा सकता है।

ननु च पक्षधर्मोपसंहारस्य सामर्थ्याद्गम्यमानस्यापि हेतोरपक्षधर्मत्वेनासिद्धत्वस्य व्यवच्छेदः फलमस्तीति युक्तं तद्वचनमनुमन्यते यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं यथा घटः संश्च शब्द इति। तर्हि निगमनस्यापि प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयानामेकार्थत्वोपदर्शनं फलमस्ति तद्वचनमपि युक्तिमदेवेत्याह।

बौद्ध पुनः अपने उसी सिद्धान्तको जमानेके लिये अवधारण करते हैं कि पक्ष धर्मोपसंहार-रूप उपनयका कहे विना यद्यपि सामर्थ्यसे ज्ञान कर लिया जाता है। फिर भी किसीको पक्षमें वृत्तिपना नहीं होनेके कारण यदि हेतुके स्वरूपासिद्ध हेत्वाभासपनेकी शंका हो जाय तो उस असिद्धपनका व्यवच्छेद करना उपनय कथनका फल विद्यमान है। इस कारण उस पक्षधर्मोपसंहारका कथन करना युक्त माना जा रहा है। देखिये " सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् " सभी पदार्थ क्षणिक हैं, सत्पना होनेसे, इस अनुमानमें जो जो सत् हैं, वे सभी क्षणिक हैं जैसे कि घडा, दीपकलिका, बिजली, आदिक। यों अन्वय दृष्टान्त दिखाते हुये शब्द भी सत्त्व हेतुवाला है। यह उपनय वाक्य कहा है। उपनय कथन करनेसे हेतुका पक्षमें ठहर जाना होनेके कारण स्वरूपासिद्धिका व्यवच्छेद हो जाता है। यों बौद्धोंके कहनेपर तो नैयायिकको सहारा देते हुये आचार्य कहते हैं कि तब तो भले ही निगमन नामक पांचवें अवयवका यों ही विना कहे ज्ञान हो जाय, फिर भी प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय इन चार अवयवोंका एक ही साध्य विषयकी साधना रूप प्रयोजनको दिखलाना निगमनका फल है। यानी पहिले चारों ही अवयव अन्तमें सब निगमनमें गिरते हैं। जैसे कि पानी निपानमें जमा हो जाता है। या सूने खलिहानमें बाल, युवा, वृद्ध कबूतर एक साथ गिरते हैं। "वृद्धा युवानः, शिशवः, कपोताः, खले यथामी युगपत्पतंति, तथैव सर्वे युगपत्पदार्थाः, परस्परेणान्वयिनो भवन्ति "। उसी प्रकार सबका ध्येय निगमनसिद्धि है। अतः उस निगमनका कथन करना भी युक्ति सहित ही है। इस बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा कहते हैं। उसको अवधान लगाकर सुनिये।

तस्यासिद्धत्वविच्छित्तिः फलं हेतोर्यथा तथा।
निगमस्य प्रतिज्ञानाद्येकार्थत्वोपदर्शनम् ॥ ७५ ॥

जिस प्रकार उस उपनयका फल हेतुके असिद्ध हेत्वाभासपनका विच्छेद करना है, उसी प्रकार निगमनका फल प्रतिज्ञा, हेतु आदि चार अवयवोंका एक प्रयोजनसहितपना दिखलाना है। अर्थात्—व्यर्थ पडते हुये भी उपनयको बौद्धोंने यदि सार्थक बनाया है तो चारों अवयवोंका एक उसी साध्यका निर्णय करना प्रयोजन निगमनका है। अतः पांचों अवयवोंका कथन आवश्यक है, अन्यथा निग्रह होगा।

न हि प्रतिज्ञादीनामेकार्थत्वोपदर्शनमंतरेण संगतत्वमुपपद्यते भिन्नविषयप्रतिज्ञादिवत्।

देखो, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदिकोंका एक ही अर्थपनको दिखलाये विना उनकी परस्परमें संगति नहीं बनती है। जैसे कि भिन्न भिन्न साध्यको विषय करनेवाले प्रतिज्ञा, हेतु, आदिकी संगति नहीं बन पाती है। भावार्थ—" शब्दोऽनित्यः " शब्द अनित्य है, यह प्रतिज्ञा की जाय

" वन्हिमान् धूमात्का धूम हेतु " पकड लियाजाय " जो जो रसवान् हैं वे वे रूपवान् हैं " जैसे कि आम्रफल, यह उदाहरण कहींका उठा लिया जाय और " छायासे व्याप्य हो रहे " छत्र हेतुसे युक्त यह स्थान है, यह कहींका उपनय जोड दिया जाय, तिस कारण आत्मा अव्यापक है, यह कहींका निगमन उठा लिया जाय, ऐसे भिन्न भिन्न प्रतिज्ञा आदिकी जैसी एक ही अर्थको साधनेमें संगति नहीं बैठती है, उसी प्रकार निगमनको कहे विना समीचीन अनुमानके चारों अवयवोंकी भी एक अर्थको साधनेके लिये संगति नहीं मिलेगी। चारों अवयव इधर उधर मारे मारे फिरेंगे, अतः उपनयसे भी अच्छा प्रयोजन निगमनका सबको एकमें अन्वित करदेना है।

तथा प्रतिज्ञातः साध्यसिद्धौ हेत्वादिवचनमनर्थकं स्यादन्यथा तस्या न साधनांगतेति यदुक्तं तदपि स्वमतघातिधर्मकीर्तेरित्याह।

तथा बौद्धोंने एक स्थानपर यह भी आग्रह किया है कि प्रतिपाद्य शिष्यके अनुरोधसे प्रतिज्ञा, हेतु, आदिक जितना भी कुछ कहा जायगा वह साधनांगका कथन है। उससे निग्रह नहीं हो पाता है। हां, यदि उससे भी अतिरिक्त भाषण किया जायगा तो असाधनाङ्गका कथन हो जानेसे वादीका निग्रहस्थान हो जायगा। जब कि प्रतिज्ञावाक्यसे ही साध्यकी सिद्धि होने लगजाय तो हेतु, दृष्टान्त, आदिका, कथन करना व्यर्थ पडेगा। अन्यथा यानी प्रतिज्ञासे साध्य सिद्धि हो जानेको नहीं मानोगे तो उस प्रतिज्ञाको साध्यसिद्धिका साधक अंगपना नहीं बन पायेगा। इस कारण हेतु, दृष्टान्त, आदिके कथन भी क्वचित् वादीके लिए निग्रहस्थानमें गिरानेवाले हो जावेंगे। यह जो बौद्धोंने कहा था वह भी धर्मकीर्ति बौद्ध विद्वान्के निजमतका घात करनेवाला है, इसी बातको श्री विद्यानन्द वार्तिक द्वारा कहते हैं। बात यह है कि वादीको प्रतिवादी या शिष्यके अनुरोधसे कथन करनेका नियम करना अशक्य है। जीतनेकी इच्छाको लिये हुये बैठा हुआ प्रतिवादी चाहे जैसे कहनेवाले वादीकी भर्त्सना कर सकता है कि तुमने थोडे अंग कहे हैं। मैं-इतने स्वल्प साधनांगोंसे साध्यनिर्णय नहीं कर सकता हूं अथवा तुमने बहुत साधनांगोंका निरूपण किया है। मैं थोडे ही में समझ सकता था। क्या मैं निरा मूर्ख हूं ? दूसरी बात यों है कि यों तो स्वार्थिक प्रत्ययोंका कथन या कहीं कहीं " संश्च शद्ब " इस प्रकार उपनय वचन भी अतिरिक्त वचन होनेसे पराजय करानेके लिये समर्थ हो जावेंगे। तभी तो श्री अकलंक देवने अष्टशतीमें "त्रिलक्षणवचनसमर्थनं च असाधनांगवचनमपजयप्राप्तिरिति व्याहतं " हेतुके त्रिलक्षणवचनका समर्थन करना और असाधनांगवचनसे पराजय प्राप्ति बतलाना यह बौद्धोंका निरूपण व्याघात दोषसे युक्त कहा है। इसका स्पष्टीकरण अष्टसहस्रीमें किया है।

प्रतिज्ञातोर्थसिद्धौ स्याद्धेत्वादिवचनं वृथा।
नान्यथा साधनांगत्वं तस्या इति यथैव तत्॥ ७६ ॥

तत्त्वार्थनिश्चये हेतोर्दृष्टान्तोऽनर्थको न किम् ।
सदृष्टान्तप्रयोगेषु प्रविभागमुदाहृताः ॥ ७७ ॥

प्रतिज्ञावाक्यसे ही अर्थकी सिद्धि हो चुकनेपर पुनः हेतु आदिकका वचन करना वृथा पडेगा अन्यथा उस प्रतिज्ञाको साध्यसिद्धिका अंगपना नहीं घटित होता है। जिस ही प्रकार बौद्ध यों कहते हैं, उस ही प्रकार हम कटाक्ष कर सकते हैं कि हेतुसे ही तत्त्वार्थोंका निश्चय हो जानेपर पुनः दृष्टान्तका कथन करना व्यर्थ क्यों नहीं पडेगा ? किन्तु समीचीन दृष्टान्तोंसे सहित हो रहे प्रयोगोंमें विभाग सहित साधर्म्य, वैधर्म्य, दृष्टान्तोंको कहा गया है।

ततोर्थातिविपरीतव्यतिरेकत्वं प्रदर्शितव्यतिरेकत्वमिति । न च वैधर्म्यदृष्टांतदोषाः क्वचिन्न्यायविनिश्चयादौ प्रतिपाद्यानुरोधतः सदृष्टांतेषु सत्प्रयोगेषु सविभागमुदाहृताः न पुनः साधनांगत्वानियमात् । तदनुद्भावनं प्रतिवादिनो निग्रहाधिकरणं वादिना स्वपक्षस्यासाधनेपीति ब्रुवाणः सौगतो जडत्वेन जडानपि छलादिना व्यवहारतो नैयायिकान् जयेत् । किं च ।

वैधर्म्य दृष्टान्तका निरूपण करनेके लिये व्यतिरेक दिखलाना पडता है। उस साध्यरूप अर्थसे अतिरिक्त हो रहे विपरीतके साथ व्यतिरेकपना बतला देना ही व्यतिरेकपनका दिखला देना है। इस प्रकार दिये गये वैधर्म्य दृष्टान्तके दोष किन्हीं " न्यायविनिश्चय, जल्पनिर्णय " आदि ग्रन्थोंमें प्रतिपाद्योंके अनुरोधसे दृष्टान्तसहित समीचीन प्रयोगोंमें विभागसहित भले ही नहीं कहे गये होंय, किन्तु फिर साधनांगपनेके अनियमसे उन दोषोंका निरूपण नहीं किया गया है। अर्थात्-कोई प्रामाणिक ग्रन्थोंमें श्री अकलंकदेवने वैधर्म्य दृष्टान्त या साधर्म्य दृष्टान्तका कथन करना बताया है। तथा उनके दोषोंका भी निरूपण किया है। यह साधनांगपनेके अनियमसे व्यवस्था नहीं की गयीं है। प्रतिपाद्योंके अनुरोधसे चाहे कितने भी अंगोंको कहा जा सकता है। वादीके द्वारा स्वपक्षकी सिद्धि नहीं किये जानेपर भी यदि उन दोषोंका नहीं उठाना प्रतिवादीका निग्रहस्थान हो जाता है, इस प्रकार कह रहा बौद्ध तो अपने जडपनेसे उन जड नैयायिकोंको जीत रहा है। जो कि छल, जाति, आदि करके विद्वानोंमें वचन व्यवहार किया करते हैं। अर्थात्-ज्ञानवान् आत्माको नहीं माननेवाले बौद्ध जड हैं। और ज्ञानसे सर्वथा भिन्न आत्माको माननेके कारण नैयायिक जड हैं। नैयायिक तो छल आदि करके जीतनेका अभिप्राय रखता है। किन्तु बौद्ध तो यों ही परिश्रम किये बिना वादीको जितना चाहता है। भला स्वपक्ष सिद्धिके बिना जीत कैसे हो सकती है ? विचारो तो सही। यहांकी पंक्तियोंका विशेषज्ञ विद्वान् गवेषणापूर्वक विचार कर लेवें। मैंने स्वकीय अल्प क्षयोपशम अनुसार लिख दिया है। श्री विद्यानन्द आचार्य यहां दूसरी बात यह भी कहते हैं कि—

सत्ये च साधने प्रोक्ते वादिना प्रतिवादिनः ।
दोषानुद्भावने च स्यान्न्यक्कारो वितथेपि वा ॥ ७८ ॥
प्राच्ये पक्षेऽकलंकोक्तिर्द्वितीये लोकबाधिता ।
द्वयोर्हि पक्षसंसिद्ध्यभावे कस्य विनिग्रहः ॥ ७९ ॥

वादी विद्वान् करके समीचीन निर्दोषहेतुके भले प्रकार कह चुकनेपर और प्रतिवादीद्वारा दोषोंका उत्थापन नहीं करनेपर क्या प्रतिवादीका तिरस्कार होगा ? अथवा क्या वादीके द्वारा असत्य, सदोष, हेतुके कथन करनेपर और प्रतिवादीकी ओरसे दोषोंके नहीं उठानेपर प्रतिवादीका पराजय होगा ? बताओ। इन दो पक्षोंमेंसे पूर्वका पक्षग्रहण करनेपर तो श्री अकलंक देवका निष्कलंक सिद्धान्त ही कह दिया जाता है । अर्थात्-वादीके द्वारा समीचीन हेतुके प्रयुक्त करनेपर और प्रतिवादीके द्वारा दोष नहीं उठाये जानेपर नियमसे प्रतिवादीका पराजय और वादीका जय हो जायगा। यही स्याद्वादियोंका निरवद्य सिद्धान्त है । हां, दूसरे पक्षका अवलम्ब लेनेपर तो लोकमें जन समुदाय करके बाधा उपस्थित कर दी जावेगी । कारण कि वादी और प्रतिवादी दोनोंके पक्षकी भले प्रकार सिद्धि हुये विना भला किसका विशेष रूपसे निग्रह कर दिया गया समझा जाय ? अर्थात्-वादीने झूंठा हेतु कहा और प्रतिवादीने कोई दोष नहीं उठाया ऐसी दशामें दोनोंके पक्षकी सिद्धि नहीं हुई है। अतः न तो प्रतिवादी करके वादीका निग्रह हुआ और न वादीकरके प्रतिवादी निग्रह स्थानको प्राप्त किया गया । फिर भी सदोष हेतुको कहनेवाले वादीका जय माना जायगा तो ऐसा निर्णय देना लोकमें बाधित पड़ेगा । इस कारण स्वपक्षकी सिद्धि करते हुये वादी करके दोषोंको नहीं उठानेवाले प्रतिवादीका तिरस्कार प्राप्त होजाना मानना चाहिये ऐसा जैन सिद्धान्त है ।

अत्रान्ये प्राहुरिष्टं नस्तथा निग्रहणं द्वयोः ।
तत्त्वज्ञानोक्तिसामर्थ्यशून्यत्वस्याविशेषतः ॥ ८० ॥
यथोपात्तापरिज्ञानं साधनाभासवादिनः ।
तथा सद्दूषणाज्ञानं दोषानुद्भाविनः समं ॥ ८१ ॥

इस द्वितीय पक्षके विषयमें अन्य कोई विद्वान् अपने मतको अच्छा समझते हुये यों कह रहे हैं कि जिस प्रकार वादीके द्वारा झूंठा हेतु प्रयुक्त किये जानेपर और प्रतिवादी द्वारा दोष नहीं उठानेपर दोनों वादी प्रतिवादियोंका निग्रह हो जाना हमारे यहां इष्ट किया गया है । क्योंकि तत्त्वज्ञानपूर्वक कथन करनेकी सामर्थ्यसे रहितपना दोनों वादी प्रतिवादियोंके विद्यमान है ।

कोई विशेषता नहीं है । जिस प्रकार हेत्वाभास यानी झूंठे हेतुका प्रयोग करनेवाले वादीको ग्रहण किये गये स्वकीय पक्षका परिज्ञान नहीं है । तभी तो वह असत्य हेतुका प्रयोग कर गया है । तिसी प्रकार दोषको नहीं उठानेवाले प्रतिवादीको समीचीन दूषणका ज्ञान नहीं है । इस प्रकार अपने अपने कर्त्तव्य हो रहे तत्त्वज्ञानपूर्वक कथन करनेकी सामर्थ्यसे रहितपना दोनोंके समान है।

जानतोपि सभाभीतेरन्यतो वा कुतश्चन ।
दोषानुद्भावनं यद्वत्साधनाभासवाक् तथा ॥ ८१ ॥

यदि कोई प्रतिवादीका पक्षपात करता हुआ यों कहें कि अनेक विद्वानोंकी सभाका डर लग जानेसे अथवा अन्य किसी भी कारणसे प्रतिवादी दोषोंको जानता हुआ भी वादीके हेतुमें दोष नहीं उठा रहा है । इस कटाक्षका अन्य विद्वान् टकासा उत्तर देते हुये यों निवारण कर देते हैं कि जिस प्रकार प्रतिवादीके लिये यह पक्षपात किया जाता है, उसी प्रकार वादीके लिये भी पक्षपात हो सकता है कि वादी विद्वान् समीचीन हेतुका प्रयोग कर सकता था । किन्तु सभाके डरसे अथवा उपस्थित विद्वानोंकी परीक्षणा करनेके अभिप्रायसे या सदोष हेतुसे भी निर्बल पक्षकी सिद्धि कर देनेका पाण्डित्य प्रदर्शन करनेके आदि किसी भी कारणसे वह वादी हेत्वाभासका निरूपण कर रहा है । इस प्रकार तो दोनोंके तत्त्वज्ञानपूर्वक कथन करनेकी सामर्थ्यका निर्वाह किया जा सकता है ।

दोषानुद्भावने तु स्याद्वादिना प्रतिवादिने ।
परस्य निग्रहस्तेन निराकरणतः स्फुटम् ॥ ८२ ॥
अन्योन्यशक्तिनिर्घातापेक्षया हि जयेतर-।
व्यवस्था वादिनोः सिद्धा नान्यथातिप्रसंगतः ॥ ८३ ॥

वादी करके प्रतिवादीके किये दोषोंका उत्थापन नहीं करनेपर उस करके दूसरेका निग्रह तो स्पष्टरूपसे परपक्षका निराकरण कर देनेसे होगा, अन्यथा नहीं । अतः परस्परमें एक दूसरेकी शक्तिका विघात करनेकी अपेक्षासे ही वादी प्रतिवादियोंके जय और पराजयकी व्यवस्था सिद्ध हो रही है । अन्य प्रकारोंसे जय या पराजयकी व्यवस्था नहीं समझना । क्योंकि अतिप्रसंग दोष हो जावेगा । भावार्थ— " अत्रान्ये " यहांसे लेकर पांच कारिकाओंमें अन्य विद्वानोंका मन्तव्य यह ध्वनित होता है कि जिस किसी भी प्रकारसे वादी या प्रतिवादीकी शक्तिका विशेषघात हो जानेसे प्रतिवादी या वादीका जय मान लेना चाहिये ।

इत्येतद्दुर्विदग्धत्वे चेष्टितं प्रकटं न तु ।
वादिनः कीर्तिकारि स्यादेवं माध्यस्थहानितः ॥ ८४ ॥

अब आचार्य महाराज उक्त अन्य विद्वानोंके प्रति कहते हैं कि इस प्रकार यह अन्य विद्वानोंका कथन करना तो अपने दुर्विदग्धपनेके निमित्त ही प्रकटरूपसे चेष्टा करना है। भले प्रकार समझानेपर भी मिथ्या आग्रहवश अपने झूंठे पक्षका कोरा अभिमान कर सत्यपक्षका ग्रहण नहीं करना दुर्विदग्धपना है। किसी भी अन्टसन्ट उपायसे प्रतिवादीकी शक्तिका विघात करना यह प्रयत्न तो वादीकी कीर्तिको करनेवाला नहीं है। इस प्रकार निंद्य प्रयत्न करनेसे अन्य तटस्थ बैठे हुये सभ्य पुरुषोंके मध्यस्थपनेकी भी हानि हो जाती है। अर्थात्—आंखमें अंगुली करना, मर्मस्थलोंमें आघात पहुंचा देना, आदि अनुचित उपायोंसे युद्ध (कुस्ती) करनेवाले मल्ल या प्रतिमल्लको जैसे मध्यस्थ पुरुष निषिद्ध कर देते हैं, इसी प्रकार अयुक्त उपायोंसे जय लूटनेवाले वादीका मध्यस्थों द्वारा निकृष्ट मार्ग छुडा देना चाहिये था। यदि मध्यस्थ जन वादीके अनुचित अभिनय (तमाशा) को चुप होकर देख रहे हैं, ऐसी दशामें उन पक्षपातियोंके मध्यस्थपनकी हत्या हो जाती है।

दोषानुद्भावनाख्यानाद्यथा परनिराकृतिः।
तथैव वादिना स्वस्य दृष्टा का न तिरस्कृतिः॥ ८५॥

प्रतिवादी द्वारा दोषोंके नहीं उठाये जानेका कथन कर देनेसे जिस प्रकार दूसरे प्रतिवादीका निराकरण (पराजय) होना मान लिया गया है, उस ही प्रकार अपने मान लिये गये वादीका भी तिरस्कार हो रहा क्या नहीं देखा गया है? क्योंकि वादीने समीचीन हेतु नहीं कहा था। यह वादीका तिरस्कार करनेके लिये पर्याप्त है।

दोषानुद्भावनादेकं न्यक्कुर्वंति सभासदः।
साधनानुक्तितो नान्यमित्यहो तेऽतिसज्जनाः॥ ८६॥

आचार्य कहते हैं कि सभामें बैठे हुये मध्यस्थ पुरुष दोनों वादी प्रतिवादियोंमेंसे एक प्रतिवादीका तो न्यक्कार (तिरस्कार) कर देते हैं, किन्तु समीचीन साधनका नहीं कथन करनेसे दूसरे वादीका तिरस्कार नहीं करते हैं, ऐसी बुद्धूपनेकी क्रिया करनेपर हमें उनके ऊपर आश्चर्य आता है। उपहाससे कहना पडता है कि वे सभ्य पुरुष आवश्यकतासे अधिक सज्जन हैं। यानी परम मूर्ख हैं। जो कि पक्षपातवश वादीके प्रयुक्त किये गये हेत्वाभासका लक्ष्य नहीं रखकर प्रतिवादीका दोष नहीं उठानेके कारण वादी द्वारा पराजय कराये देते हैं। ऐसे सभासदोंसे न्यायकी प्राप्ति होना असम्भव है। सज्जनताका अतिक्रमण करनेवालोंसे निष्पक्ष न्याय नहीं हो पाता है।

अत्र परेषामाकूतमुपदर्श्य विचारयति।

इस प्रकरणमें श्री विद्यानन्द आचार्य दूसरे विद्वानोंकी स्वमन्तव्यपुष्टिकी चेष्टाको दिखलाकर विचार करते हैं। सो सुनिये।

पक्षसिद्धिविहीनत्वादेकस्यात्र पराजये ।
परस्यापि न किं नु स्याज्जयोप्यन्यतरस्य नु ॥ ८७ ॥
तथा चैकस्य युगपत्स्यातां जयपराजयौ ।
पक्षसिद्धीतरात्मत्वात्तयोः सर्वत्र लोकवत् ॥ ८८ ॥

छह कारिकाओंद्वारा अपर विद्वान् अपने मन्तव्यको दिखलाते हैं कि यहां अपने पक्षकी सिद्धिसे रहित हो जानेके कारण यदि एक (प्रतिवादी) का पराजय हो जाना इष्ट कर लिया जायगा तो दूसरे (वादी) का भी पराजय क्यों नहीं हो जावेगा। क्योंकि साधनाभासको कहने वाला वादी और दोषोंको नहीं उठानेवाला प्रतिवादी दोनों ही अपने अपने पक्षकी सिद्धिसे रहित होते हुये भी एक (वादी) का जय होना मानोगे तो दोनोंमेंसे बचे हुये अन्य एक (प्रतिवादी) का भी जय क्यों नहीं मान लिया जावे ? और तिस प्रकार होनेपर एक ही वादी या प्रतिवादीके एक समयमें एक साथ जय पराजय दोनों हो जावेंगे। क्योंकि लोकमें जैसे जय पराजयकी व्यवस्था प्रसिद्ध है, उसी प्रकार सभी शास्त्रीय स्थानोंमें भी स्वपक्षकी सिद्धि कर देनेसे जय हो जाना और पक्षसिद्धि नहीं हो जानेसे पराजय प्राप्ति हो जाना व्यवस्थित है। वे जय और पराजय पक्षसिद्धि और पक्षकी असिद्धिस्वरूप ही तो हैं।

तदेकस्य परेणेह निराकरणमेव नः ।
पराजयो विचारेषु पक्षासिद्धिस्तु सा क नुः ॥ ८९ ॥
पराजयप्रतिष्ठानमपेक्ष्य प्रतियोगिनां ।
लोके हि दृश्यते यादृक् सिद्धं शास्त्रेपि तादृशम् ॥ ९० ॥

तिस कारण दूसरे विद्वान् करके एक वादी या प्रतिवादीका निराकरण हो जाना ही हमारे यहां एकका विचारोंमें पराजय माना गया है। ऐसी दशामें किसी एक मनुष्यके पक्षकी वह असिद्धि तो कहां रही ? अपनेसे प्रतिकूल हो रहे प्रतियोगी पुरुषोंकी अपेक्षा कर जिस प्रकार लोकमें पराजय प्राप्तिकी प्रतिष्ठा देखी जा रही है। उसी प्रकार शास्त्रमें भी पराजय प्रतिष्ठा सिद्ध है। इस विषयमें लौकिक मार्ग और शास्त्रीय मार्ग दोनों एकसे हैं।

सिद्ध्यभावः पुनर्दृष्टः सत्यपि प्रतियोगिनि ।
साधनाभावतः शून्ये सत्यपि च स जातुचित् ॥ ९१ ॥

तन्निराकृतिसामर्थ्यशून्ये वादमकुर्वति ।
पराजयस्ततस्तस्य प्राप्त इत्यपरे विदुः ॥ १२ ॥

प्रतिकूल कहनेवाले प्रतियोगी मनुष्यके होनेपर भी पुनः समीचीन हेतुका अभाव हो जानेसे सिद्धिका अभाव देखा गया है । और कभी कभी प्रतियोगीका सर्वथा अभाव हो जानेपर भी वह सिद्धिका अभाव देखा गया है । तिस कारण यह सिद्ध होजाता है कि उस प्रतियोगीके निराकरण करनेकी सामर्थ्यसे शून्य होनेपर वादको नहीं करनेवाले मनुष्यके होनेपर उससे उसका पराजय प्राप्त हो जाता है । भावार्थ—दूसरेको अन्यके निराकरणकी सामर्थ्यसे रहित कर दिया जाय, वह मनुष्य वाद करने योग्य नहीं रहे, तब उसका पराजय माना जावेगा । इस प्रकार कोई दूसरे विद्वान् अपने मनमें समझ बैठे हैं । अब आचार्य महाराज इनका समाधान करते हैं ।

तत्रेदं चिंत्यते तावत्तन्निराकरणं किमु ।
निर्मुखीकरणं किं वा वाग्भिस्तत्तत्त्वदूषणम् ॥ १३ ॥
नात्राद्यकल्पना युक्ता परानुग्राहिणां सतां ।
निर्मुखीकरणावृत्तेर्बोधिसत्त्वादिवत्क्वचित् ॥ १४ ॥

उन अपर विद्वानोंके उक्त अभिमतपर अब यह विचार चलाया जाता है कि उन्होंने जो पहिले यह कहा था कि दूसरे करके एकका निराकरण हो जाना ही हमारे यहां पराजय माना गया है । इसमें हमारा यह प्रश्न है कि उसके निराकरणका अर्थ क्या, उसको बोलनेवाले मुखसे रहित (चुप) कर देना है ? अथवा क्या समुक्त वचनोंद्वारा उसके अभीष्ट तत्त्वमें दूषण प्रदान करना है ? बताओ । इन दोनों पक्षोंमेंसे आदिके पक्षकी कल्पना करना तो युक्तिपूर्ण नहीं है । क्योंकि शान्तिप्रेमी विद्वान् माने गये बोधिसत्त्व आदिक विद्वानोंके समान दूसरोंके ऊपर अनुग्रह करनेवाले सज्जन पुरुषोंकी कहीं भी किसीको चुप करनेके लिये प्रवृत्ति नहीं होती है । अर्थात्—बौद्धोंके यहां बोधिसत्त्व आदिक पुरुषोंकी प्रवृत्ति सर्व प्राणियोंके साथ वात्सल्यभाव रखनेवाली स्वीकार की है । उसी प्रकार सर्व कृपालु तत्त्व निर्णायकोंकी प्रवृत्ति प्राणियोंके ज्ञान सम्पादनार्थ है । जैसे तैसे किसी भी उपायसे दूसरोंका मुख रोकने (बन्द) के लिये नहीं होती है ।

द्वितीयकल्पनायां तु पक्षसिद्धेः पराजयः ।
सर्वस्य वचनैस्तत्त्वदूषणे प्रतियोगिनाम् ॥ १५ ॥

सिद्ध्यभावस्तु योगिनामसति प्रतियोगिनि ।
साधनाभावतस्तत्र कथं वादे पराजयः ॥ १६ ॥

यदि युक्तिपूर्ण वचनोंकरके उसके माने हुये तत्त्वोंमें दूषण देना इस प्रकार दूसरे पक्षकी कल्पना करनेपर तो यह जैनसिद्धान्त ही प्राप्त हो जाता है कि स्वकीय पक्षकी सिद्धि करनेसे और समीचीन वचनों करके दूसरे प्रतिकूल वादियोंके माने हुये तत्त्वोंमें दूषण देनेपर ही अन्य सबका पराजय हो सकता है। अर्थात्-अपने पक्षकी सिद्धि और दूसरेके तत्त्वोंमें दोष देनेपर ही अपना जय और दूसरेका पराजय होना व्यवस्थित है। यही अकलंकसिद्धान्त है। आपने जो " सिद्ध्यभाव पुनर्द्वेषः सत्यपि प्रतियोगिनि " इस कारिकाद्वारा कहा था, उसमें हमारा यह कहना है कि प्रतियोगी प्रतिवादीके नहीं होनेपर योग रखनेवाले वादियोंके पास समीचीन साधनका अभाव होजानेसे तो वादीके पक्षकी सिद्धिका अभाव है। उस दशामें वादीके द्वारा प्रतिवादीका वादमें भला पराजय कैसे हो सकता है ? अर्थात्-नहीं।

यदैव वादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः ।
राजन्वति सदेकस्य पक्षासिद्धिस्तथैव हि ॥ १७ ॥
सा तत्र वादिना सम्यक् साधनोक्तेर्विभाव्यते ।
तूष्णींभावाच्च नान्यत्र नान्यदेत्यकलंकवाक् ॥ १८ ॥

जिस ही कालमें समुचित राजाके सभापति होनेपर समीचीन राजा, प्रजासे, युक्त हो रहे देशमें वादी और प्रतिवादीके पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह हो रहा है। वहां एक वादीके समीचीन पक्षकी सिद्धि हो जानेपर उसी समय दूसरे प्रतिवादीका तिस ही प्रकार पक्ष असिद्ध हो जाता है, ऐसा नियम है। उस अवसरपर वादीके द्वारा समीचीन साधनका कथन करनेसे और प्रतिवादीके चुप हो जानेसे वह प्रतिवादीके पक्षकी असिद्धि विचार की जाती है। अन्य स्थलोंमें और अन्य कालोंमें पक्षकी असिद्धि नहीं, इस प्रकार श्री अकलंकदेव स्वामीका निर्दोष सिद्धान्त वाक्य है।

तूष्णींभावोथवा दोषानासक्तिः सत्यसाधने ।
वादिनोक्ते परस्येष्टा पक्षसिद्धिर्न चान्यथा ॥ १९ ॥

वादीके द्वारा कहे गये सत्य हेतुमें प्रतिवादीका चुप रह जाना अथवा सत्य हेतुमें दोषोंका प्रसंग नहीं उठाना ही दूसरे वादीकी पक्ष सिद्धि इष्ट की गयी है। अन्य प्रकारोंसे कोई पक्षसिद्धिकी व्यवस्था नहीं मानी गयी है।

कस्य चित्तत्त्वसंसिध्द्यप्रतिक्षेपो निराकृतेः ।
कीर्तिः पराजयोवश्यमकीर्तिकृदिति स्थितम् ॥ १०० ॥

यों माननेपर किसी भी वादी या प्रतिवादीके अभीष्ट तत्त्वोंकी भले प्रकार सिद्धि करनेमें कोई आक्षेप नहीं आता है। दूसरेके पक्षका निराकरण करनेसे एककी यशस्कीर्ति होती है, और दूसरेका पराजय होता है, जो कि अवश्य ही अपकीर्तिको करनेवाला है। अतः स्वपक्षकी सिद्धि करना और परपक्ष का निराकरण करना ही जयका कारण है। इस कर्त्तव्यको नहीं करने माके वादी या प्रतिवादीका निग्रहस्थान हो जाता है। यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ।

असाधनांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः ।
न युक्तं निग्रहस्थानं संधाहान्यादिवत्ततः ॥ १०१ ॥

तिस कारणसे यह बात आई कि बौद्धोंके द्वारा माना गया असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन दोनोंका निग्रहस्थान यह उनका कथन युक्त नहीं है। जैसे कि नैयायिकों द्वारा माने गये प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर आदिक निग्रह स्थानोंका उठाया जाना समुचित नहीं है। भावार्थ—वादीको अपने पक्षसिद्धिके अंगोंका कथन करना आवश्यक है। यदि वादी साधनके अंगोंको नहीं कह रहा है, अथवा असाधनके अंगोंको कह रहा है, तो वह वादीका निग्रहस्थान है तथा प्रतिवादीका कार्य वादीके हेतुओंमें दोष उत्थापन करना है। यदि प्रतिवादी अपने कर्त्तव्यसे विमुख होकर दोषोंको नहीं उठा रहा है, या नहीं लागू होनेवाले कुदोषोंको उठा रहा है, तो यह प्रतिवादीका निग्रह स्थान है। अब आचार्य कहते हैं कि यह बौद्धों द्वारा मानी गयी निग्रहस्थानकी व्यवस्था किसी प्रकार प्रशस्त नहीं है। जैसे कि नैयायिकोंके निग्रहस्थानोंकी व्यवस्था ठीक नहीं है।

के पुनस्ते प्रतिज्ञाहान्यादय इमे कथ्यंते ? प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञांतरं, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वंतरं, अर्थांतरं, निरर्थकं, अविज्ञातार्थं, अपार्थकं, अप्राप्तकालं, पुनरुक्तं, अननुभाषणं, अज्ञानं, अप्रतिभा, पर्यनुयोज्यानुपेक्षणं, निरनुयोज्यानुयोगः, विक्षेपः, मतानुज्ञा, न्यूनं, अधिकं, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासः, छलं, जातिरिति। तत्र प्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थानं कथमयुक्तमित्याह।

किसी विनीत शिष्यका प्रश्न है कि वे पुनः नैयायिकों द्वारा कल्पित किये गये प्रतिज्ञाहानि आदिक निग्रहस्थान कौनसे हैं ? इसके उत्तरमें आचार्य महाराज कहते हैं कि वे निग्रहस्थान हमारे द्वारा अनुवाद रूपसे ये कहे जा रहे हैं। सो सुनो, प्रतिज्ञाहानि १ प्रतिज्ञान्तर २ प्रतिज्ञाविरोध ३ प्रतिज्ञासन्यास ४ हेत्वन्तर ५ अर्थान्तर ६ निरर्थक ७ अविज्ञातार्थ ८ अपार्थक ९

अप्राप्तकाल १० पुनरुक्त ११ अननुभाषण १२ अज्ञान १३ अप्रतिभा १४ पर्यनुयोज्यानुपेक्षणं १५ निरनुयोज्यानुयोग १६ विक्षेप १७ मतानुज्ञा १८ न्यून १९ अधिक २० अपसिद्धान्त २१ हेत्वाभास २२ छल २३ जाति २४ इस प्रकार हैं। नैयायिकोंने प्रमाण, प्रमेय, आदि सोलह मूल पदार्थ माने हैं। उनमें हेत्वाभास, छल, और जाति पदार्थ भी परिगणित हैं। छल और जातिका पृथक् व्याख्यान कर तथा हेत्वाभासको निग्रहस्थानोंके प्रतिपादक सूत्रमें गिना देनेसे निग्रहस्थान बाईस समझे जाते हैं। इनके लक्षणोंका निरूपण स्वयं ग्रन्थकार अग्रिम ग्रन्थमें कहेंगे। उन निग्रहस्थानोंमें पहिले नैयायिकों द्वारा कहा गया प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान किस प्रकार अयुक्त है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी इस प्रकार समाधान कहते हैं।

प्रतिदृष्टांतधर्मस्य यानुज्ञा न्यायदर्शने।
स्वदृष्टांते मता सैव प्रतिज्ञाहानिरैश्वरैः ॥ १०२ ॥

सृष्टिके कर्त्ता ईश्वरकी उपासना करनेवाले नैयायिकोंने अपने गौतमीय न्यायदर्शनमें प्रतिज्ञाहानिका लक्षण यों माना है कि अपने दृष्टान्तमें प्रतिकूल पक्ष सम्बन्धी दृष्टान्तके धर्मकी जो स्वीकारता कर लेना है वही प्रतिज्ञाहानि है। इसका व्याख्यान स्वयं ग्रन्थकार करेंगे।

प्रतिदृष्टांतधर्मानुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिरित्यक्षपादवचनात्। एवं सूत्रमनूद्य परीक्षणार्थं भाष्यमनुवदति।

गौतम ऋषिके बनाये हुये न्यायदर्शनके पांचवे अध्यायका दूसरा सूत्र अक्षपादने यों कहा है कि " प्रतिदृष्टान्तधर्मानुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः " इस प्रकार गौतमके सूत्रका अनुवाद कर गौतमसूत्रपर वात्स्यायनऋषि द्वारा किये गये भाष्यकी परीक्षा करनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी अनुवाद करते हैं। गौतम ऋषिका ही दूसरा नाम अक्षपाद है। न्यायकोषमें अक्षपादकी कथामें यों लिखी हुई है कि गौतमने अपने द्वैत प्रतिपादक मतका खण्डन करनेवाले वेदव्यासके आंखोंसे नहीं दर्शन करने (देखने) की प्रतिज्ञा लेली थी। किन्तु कुछ दिन पश्चात् अद्वैतवादका आदरणीय रहस्य गौतमको प्रतीत हुआ तो वे वेदव्यासका दर्शन करनेके लिये आकुलित हुये। किन्तु प्रतिज्ञा अनुसारसे वदनास्थित चक्षुओंसे व्यासजीका दर्शन नहीं कर सकते थे। अतः उन्होंने तपस्याके बलसे पांवोंमें चक्षु बनाईं। इन चक्षुओंसे व्यासका दर्शन किया "अक्षिणी अथवा अक्षे पादयोः यस्य स अक्षपादः" इस प्रकार अक्षपाद शब्दका व्यधिकरण बहुव्रीहि समास किया है। यह केवल किम्बदन्ती है। जैन सिद्धान्त अनुसार विचारा जाय तो पांवोंमे आंखे नहीं बन सकती हैं। आंखोंकी निर्वृत्ति और उपकरण वदनप्रदेशमें ही सम्भवते हैं। यों देशावधि (विभङ्ग) से भले ही कोई अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कर ले, यह बात दूसरी है।

साध्यधर्मविरुद्धेन धर्मेण प्रत्यवस्थिते ।
अन्यदृष्टांतधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुजानतः ॥ १०३ ॥
प्रतिज्ञाहानिरित्येव भाष्यकाराग्रहो न वा ।
प्रकारांतरोप्यस्याः संभवाच्चित्तविभ्रमात् ॥ १०४ ॥

" न्यायभाष्य " में लिखा है कि " साध्यधर्मं प्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थिते प्रतिदृष्टान्तधर्मस्वदृष्टान्तेऽभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः " अपने अभीष्ट साध्यस्वरूप धर्मसे विरुद्ध हो रहे धर्मकरके प्रत्यवस्थान (दूषण) उठानेपर अन्य प्रतिकूल दृष्टान्तके धर्मको अपने इष्ट दृष्टान्तमें स्वीकार कर लेनेवाले वादीका प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान हो जाता है । यह कथंचित् उचित है । किन्तु इस ही प्रकार प्रतिज्ञाहानि हो सकती है । अन्य कोई उपाय नहीं, ऐसा भाष्यकार वात्स्यायनका आग्रह करना ठीक नहीं है । क्योंकि वक्ताके चित्तमें विभ्रम हो जानेसे या अन्य प्रकारों करके भी इस प्रतिज्ञाहानिके हो जानेकी सम्भावना है । सच पूछो तो यह दृष्टान्तहानि है । बहुतसे मनुष्य अपने पक्षकी तो अक्षुण्णरक्षा करते हैं । किन्तु यहां वहांके प्रकरणोंकी मस्तिष्कको पचानेवाले वावदूकोंके सन्मुख उपेक्षापूर्वक स्वीकारता देदेते हैं । तभी उनसे पिंड छूटता है ।

विनश्वरस्वभावोयं शब्द ऐन्द्रियकत्वतः ।
यथा घट इति प्रोक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते ॥ १०५ ॥
दृष्टमैंद्रियकं नित्यं सामान्यं तद्वदस्तु नः ।
शब्दोपीति स्वलिंगस्य ज्ञानात्तेनापि संमतं ॥ १०६ ॥
कामं घटोपि नित्योस्तु सामान्यं यदि शाश्वतं ।
इत्येवं भाष्यमाणेन प्रतिज्ञोत्पाद्यते कथम् ॥ १०७ ॥

प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थानका उदाहरण यों है कि यह शब्द (पक्ष) विनाश हो जाने स्वभाववाला है (साध्य) इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय होनेसे (हेतु) जैसे कि घडा (दृष्टान्त) । इस प्रकार वादीके द्वारा भले प्रकार कह चुकनेपर दूसरा प्रतिवादी प्रत्यवस्थान करता है कि इन्द्रियजन्य ज्ञानका विषय सामान्य तो नित्य देखा जा रहा है । उसीके समान शब्द भी हमारे यहां नित्य हो जाओ, पश्चात् इस प्रकार अपने कहे ऐन्द्रियिकत्व लिंगके हेत्वाभासपनेका ज्ञान हो जानेसे उस वादीने भी वादका अन्त नहीं कर यों सम्मत कर लिया कि अच्छी बात है । यदि सामान्य (जाति) नित्य है तो यथेष्ट रूपसे घट भी नित्य हो जाओ । अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहने-

वाला वादी अपने दृष्टान्त घटका नित्यपन स्वीकार करता हुआ निगमन पर्यन्त पक्षको छोड दे रहा प्रतिज्ञाकी हानि कर देता है। इस ढंगसे सूत्रका भाष्य कह रहे वात्स्यायनके द्वारा भला प्रतिज्ञा-हानि कैसे उपजाई जाती है ? " प्रतिज्ञा हाप्यते कथं " पाठ अच्छा दीखता है। भावार्थ-आचार्य कहते हैं कि वादीने प्रतिदृष्टान्तके धर्मको स्वदृष्टान्तमें स्वीकार कर लिया है। प्रतिज्ञाको तो नहीं छोडा है ऐसी दशामें यह प्रतिज्ञाहानि भला कहां रही ? नैयायिकोंने ऐन्द्रियक पदार्थोंमें रहनेवाले जातिका भी इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष होना अभीष्ट किया है।

दृष्टांतस्य परित्यागात्स्वहेतोः प्रकृतक्षतेः।
निगमांतस्य पक्षस्य त्यागादिति मतं यदि ॥ १०८ ॥
तथा दृष्टांतहानिः स्यात्साक्षादियमनाकुला।
साध्यधर्मपरित्यागाद् दृष्टांते स्वेष्टसाधने ॥ १०९ ॥

यदि भाष्यकार वात्स्यायनका मन्तव्य यों होय कि " न खल्वयं ससाधनस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसजन्निगमनान्तमेव पक्षं जहाति पक्षं जहत् प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात् पक्ष-स्येति " यह साधन वादी हेतुसे सहित हो रहे घट दृष्टान्तके नित्यपनेके प्रसंगको स्वीकार करता हुआ निगमनपर्यन्त ही पक्षको छोड देता है। यही नहीं समझना, किन्तु पक्षका परित्याग करता हुआ प्रतिज्ञाकी हानि कर देता है। क्योंकि पक्षके आश्रयपर प्रतिज्ञा उठी रहती है। पक्षके छूट जानेपर प्रतिज्ञा छूट जाती है। भाष्यकार मानते हैं कि दृष्टान्तका परित्याग होजानेसे अपने हेतुसे प्रकरणप्राप्त साध्यकी क्षति हो जाती है। अतः निगमनपर्यन्त पक्षका त्याग हो जानेसे यह प्रतिज्ञाहानि है। अर्थात्-दृष्टान्तकी हानि हो जानेसे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, पांचोंकी हानि हो जाती है। अब आचार्य कहते हैं कि तब तो साक्षात् आकुलता रहित होती हुई यह दृष्टान्तकी हानि होगी। क्योंकि अपने इष्ट साधनद्वारा साध लिये गये घटरूपी दृष्टान्तमें ही अनित्यत्वस्वरूप साध्य धर्मका परित्याग कर दिया गया है। प्रतिज्ञाका तो त्याग नहीं किया है। अर्थात्-इसको प्रतिज्ञाहानि नहीं कहकर दृष्टान्तहानि कहना चाहिये था।

पारंपर्येण तु त्यागो हेतूपनययोरपि।
उदाहरणहानौ हि नानयोरस्ति साधुता ॥ ११० ॥
निगमस्य परित्यागः पक्षबाधेपि वा स्वयं।
तथा च न प्रतिज्ञातहानिरेवेति संगतत् ॥ १११ ॥

यदि भाष्यकारका यह अभिप्राय होय कि साक्षात् रूपसे भले ही यह दृष्टान्तहानि होय किन्तु परम्परासे प्रतिज्ञाका भी त्याग हो चुका है । अतः यह प्रतिज्ञाहानि कही जा सकती है । इस प्रकार कहनेपर आचार्य कहते हैं कि यों तो हेतु और उपनयकी हानि भी कही जानी चाहिये क्योंकि उदाहरण (दृष्टान्त) की हानि हो जानेपर नियमसे इन हेतु और उपनयकी समीचीनता स्थिर नहीं रहपाती है । प्रतिज्ञास्वरूप पक्षका बाधा हो जानेपर स्वयं निगमनका परित्याग भी हो जाता है । अतः निगमन हानि भी हुई और तिस प्रकार हो जानेपर प्रतिज्ञा किये गये की ही हानि है । इस प्रकार भाष्यकारका एकान्त आग्रह करना संगत नहीं है ।

पक्षत्यागात्प्रतिज्ञायास्त्यागस्तस्य तदाश्रितेः ।
पक्षत्यागोपि दृष्टान्तत्यागादिति यदीष्यते ॥ ११२ ॥
हेत्वादित्यागतोपि स्यात् प्रतिज्ञात्यजनं तदा ।
ततः पक्षपरित्यागाविशेषान्नियमः कुतः ॥ ११३ ॥

यदि भाष्यकार वात्स्यायन यों इष्ट करें कि पक्षका त्याग हो जानेसे प्रतिज्ञाका भी त्याग हो जाता है । क्योंकि वह उसके आश्रित है, दृष्टान्तका त्याग हो जानेसे पक्षका त्याग भी हो गया है । इसपर आचार्य कहते हैं कि तब तो हेतु, उपनय आदिके त्यागसे भी प्रतिज्ञाका त्याग हो जावेगा । क्योंकि उस हेतु आदिकके त्यागसे पक्षका परित्याग कर देना यहां वहां विशेषताओंसे रहित हैं । ऐसी दशा हो जानेसे भाष्यकार द्वारा किया गया नियम कैसे रक्षित रह सकता है ? अर्थात्—जब हेतु आदिकके त्यागसे भी प्रतिज्ञा की हानि सम्भवती है तो पक्षके त्यागसे ही प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान हो जाता है । यह नियम तो नहीं रहा ।

साध्यधर्मप्रत्यनीकधर्मेण प्रत्यवस्थितः प्रतिदृष्टांतधर्मं स्वदृष्टांतेनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः । यथा अनित्यः शद्बः ऐंद्रियकत्वात् घटवदिति ब्रुवन् परेण दृष्टमैंद्रियकं सामान्यं नित्यं कस्मान्न तथा शद्ब इत्येवं प्रत्यवस्थितः । प्रयुक्तस्य हेतोराभासतामवस्यन्नपि कथावसानमकुर्वन्निश्चयमतिलंघ्य प्रतिज्ञात्यागं करोति, यद्यैंद्रियकं सामान्यं नित्यं कामं घटोपि नित्योस्तु इति । स खल्वयं ससाधनस्य दृष्टांतस्य नित्यत्वं प्रसज्जन्निगमांतमेव पक्षं च परित्यजन् प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात्पक्षस्येति भाष्यकारमतमालूनविस्तीर्णमादर्शितम् ।

न्यायभाष्यका लेख भी है कि साध्यस्वरूप धर्मके प्रतिकूल (उल्टा) धर्म करके प्रत्यवस्थानको प्राप्त हुआ वादी यदि प्रतिकूल दृष्टान्तके धर्मको अपने इष्ट दृष्टान्तमें स्वीकार करलेनेकी

अनुमति दे देता है तो वह अपनी पूर्वमें की गयी प्रतिज्ञाको छोड देता है। इस कारण यह वादीका प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान है। जैसे कि शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा) इन्द्रिय जन्य ज्ञान करके ग्रहण करने योग्य होनेसे (हेतु) घटके समान (अन्वयदृष्टान्त), इस प्रकार वादी कह रहा है। ऐसी दशामें दूसरे प्रतिवादी करके यों प्रत्यवस्थान दिया गया यानी वादीको प्रतिकूल पक्ष पर अवस्थित करनेके लिये दोष उठाया गया कि नित्य होकर अनेकोंमें समवाय सम्बन्धसे वर्त रहा सामान्य पदार्थ देखो। इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा देखा जा रहा है। जब वह सामान्य नित्य है तो तिस ही प्रकार शब्द भी नित्य क्यों नहीं हो जावे ? इस प्रकार कटाक्ष युक्त कर दिया गया वादी अपने द्वारा प्रयुक्त किये गये ऐन्द्रियकत्व हेतुके व्यभिचारी हेत्वाभासपनेको जानता हुआ भी वाद कथाके अन्तको नहीं करता हुआ स्वकीय निश्चयका उल्लंघन कर यों प्रतिज्ञाका त्याग कर देता है कि इन्द्रियजन्य ज्ञानसे जाना जा रहा सामान्य यदि नित्य है तो घट भी भले ही नित्य हो जाओ। हमारा क्या बिगडता है ? निश्चयसे इस प्रकार कह रहा सो यह वादी हेतुसे सहित हो रहे दृष्टान्तके नित्यपनका प्रसंग कराता हुआ और निगमन पर्यन्त ही पक्षको छोड रहा संता प्रतिज्ञाका त्याग कर रहा है, यह कहा जाता है, क्योंकि पक्षके आश्रय प्रतिज्ञा है। इस प्रकार भाष्यकार वात्स्यायनका लम्बा चौडा मन्तव्य उक्त ग्रन्थ द्वारा चारों ओरसे छिन्न भिन्न कर बखेर दिया गया आचार्य महाराजने दिखला दिया है।

प्रतिज्ञाहानिसूत्रस्य व्याख्यां वार्तिककृत्पुनः।
करोत्येवं विरोधेन न्यायभाष्यकृतः स्फुटम् ॥ ११४ ॥
दृष्टश्चांते स्थितश्चायमिति दृष्टांत उच्यते।
स्वदृष्टांतः स्वपक्षः स्यात् प्रतिपक्षः पुनर्मतः ॥ ११५ ॥
प्रतिदृष्टांत एवेति तद्धर्ममनुजानतः।
स्वपक्षे स्यात्प्रतिज्ञानमिति न्यायाविरोधतः ॥ ११६ ॥
सामान्यमैंद्रियं नित्यं यदि शद्वोपि तादृशः।
नित्योस्त्विति ब्रुवाणस्यानित्यत्वत्यागनिश्चयात् ॥ ११७ ॥

न्यायवार्तिक ग्रन्थको करनेवाले " उद्योतकर " पण्डितजी प्रतिज्ञाहानिके प्रतिपादक लक्षण-सूत्रकी व्याख्याको न्यायभाष्यकार वात्स्यायनका विरोधकरके यों स्पष्टरूपसे करते हैं। अर्थात्— " प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः " इस सूत्रका अर्थ जो न्यायभाष्यकारने किया है, वह ठीक नहीं। किन्तु उसके विरुद्ध इस प्रकार उसका तात्पर्य है कि देखा हुआ होता संता जो

विचारके अन्तमें स्थित हो रहा है, इस प्रकार यह दृष्टान्त कहा जाता है। अतः दृष्टान्तका अर्थ पक्ष हुआ। स्वदृष्टान्तका अर्थ स्वपक्ष होगा और फिर इसी प्रकार प्रतिदृष्टान्तका अर्थ प्रतिपक्ष ही माना गया। इस प्रकार उस प्रतिपक्षके धर्मको स्वपक्षमें स्वीकार करनेवाले पुरुषके न्यायके अविरोधसे जो इस प्रकार प्रतिज्ञा कर लेना है कि इन्द्रियग्राह्य सामान्य यदि नित्य है तो तैसा इन्द्रियग्राह्य होता हुआ शब्द भी नित्य हो जाओ, इस प्रकार कह रहे वादीके शब्दके नित्यत्वकी प्रतिज्ञाका त्याग हो गया है, ऐसा निश्चय है। अर्थात्--शब्दके अनित्यपनकी प्रतिज्ञाको छोड देनेवाले वादीके प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान मानना चाहिये। भाष्यकारने जो घट भी नित्य हो जाओ, इस प्रकार दृष्टान्तके छोड देनेसे प्रतिज्ञाहानि बतलायी है। वह न्यायसिद्धान्तसे विरुद्ध पडती है।

इत्येतच्च न युक्तं स्यादुद्योतकरजाड्यकृत्।
प्रतिज्ञाहानिरित्थं तु यतस्तेनावधार्यते ॥ ११८ ॥
सा हेत्वादिपरित्यागात् प्रतिपक्षप्रसाधना।
प्रायः प्रतीयते वादे मंदबोधस्य वादिनः ॥ ११९ ॥
कुतश्चिदाकुलीभावादन्यतो वा निमित्ततः।
तथा तद्वाचि सूत्रार्थो नियमान्न व्यवस्थितः ॥ १२० ॥

अब आचार्य महाराज कहते हैं कि चिन्तामणिके ऊपर उद्योत नामक टीकाको करनेवाले उद्योतकर का इस प्रकार यह कहना युक्त नहीं है। विचारा जाय तो ऐसा कहना उद्योतकरकी जडताको व्यक्त करनेवाला है। उद्योत करनेवाला चन्द्रमा शीतल जलमय स्वभाववाला है, कविजन " रलयोर्डलयोश्चैव शषयोर्बवयोस्तथा " इस नियमके अनुसार ल और ड का एकत्वारोप कर लेते हैं अतः उद्योतकरमें जडता स्वभावसे प्राप्त हो जाती है। जिस कारणसे कि उस उद्योतकर करके इस ही प्रकारसे प्रतिज्ञाहानिका होना जो नियमित किया जाता है, सो ठीक है। क्योंकि हेतु, दृष्टान्त आदिके परित्यागसे भी वह प्रतिज्ञाहानि हो सकती है। जबतक कि प्रतिवादीद्वारा अपने प्रतिपक्ष की भले प्रकार सिद्धि नहीं की जायगी, तबतक वादीका निग्रहस्थान नहीं हो सकता है। प्रायः अनेक स्थलोंपर वादमें प्रतीत हो रही है कि मन्दज्ञानवाले वादीकी किसी भी कारणसे आकुलता हो जानेके करण अथवा अन्य किसी भय आदिक निमित्तकारणोंसे जिस प्रकार वह वादी आतुर होकर झट अपनी प्रतिज्ञाको छोडकर विपरीत प्रतिज्ञाको कर बैठता है। ऐसी दशामें नियमसे उनके कहे गये वचनोंमें सूत्रका अर्थ यथार्थ व्यवस्थित नहीं हो सका। आप्तके ही वचन यथार्थ व्यवस्थित हो सकते हैं, अज्ञानियोंके नहीं।

यथाह उद्योतकरः दृष्टाश्चासावंते च व्यवस्थित इति दृष्टांतः स्वपक्षः, प्रतिदृष्टांतः प्रतिपक्षः प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहाति । यदि सामान्यमैंद्रियकं नित्यं शब्दोप्येवमस्त्विति तदेतदपि तस्य जाड्यकारि संलक्ष्यते । इत्थमेव प्रतिज्ञाहानेरवधारयितुमशक्तेः । प्रतिपक्षप्रसाधनाद्धि प्रतिज्ञायाः किल हानिः संपद्यते सा तु हेत्वादिपरित्यागादपि कस्यचिन्मंदबुद्धेर्वादिनो वादे प्रायेण प्रतीयते न पुनः प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेभ्युनुजानत एव येनायमेकप्रकारः प्रतिज्ञाहानौ स्यात् । तथा विक्षेपादिभिराकुलीभावात् प्रकृत्या सभाभीरुत्वादन्यमनस्कत्वादेर्वा निमित्तात् । किंचित्साध्यत्वेन प्रतिज्ञाय तद्विपरीतं प्रतिजनिरुपलभ्यत एव पुरुषभ्रांतेरनेककारणत्वोपपत्तेः । ततो नात्रोपज्ञमेवेदं सूत्रं भाष्यकारस्य वार्तिककारस्य च व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात् युक्त्यागमविरोधात् ।

उद्योतकर जो सूत्रका अर्थ इस प्रकार कह रहे हैं कि इष्ट होता हुआ जो वह विचार धर्म कोटिमें व्यवस्थित हो रहा है, इस प्रकार निरुक्ति करनेसे दृष्टान्तका अर्थ स्वकीय पक्ष है । और सूत्रमें कहे गये प्रतिदृष्टान्त शद्बका अर्थ प्रतिपक्षके धर्मकी स्वपक्षमें अच्छी अनुमति करता हुआ वादी प्रतिज्ञाका हान कर देता है कि ऐन्द्रियिक जाति यदि नित्य है तो इस प्रकार शद्ब भी नित्य हो जाओ । यहांतक उद्योतकर विद्वान्‌के कह चुकनेपर, अब आचार्य कहते हैं कि उद्योतकरका यह प्रसिद्ध कहना भी उसके जडपनेको करनेवाला भले प्रकार दीख रहा है । क्योंकि इस ही प्रकारसे यानी प्रतिपक्षके धर्मका स्वपक्षमें स्वीकार कर लेनेसे ही प्रतिज्ञाहानि हो जानेका नियम नहीं किया जा सकता है । कारण कि प्रतिपक्षकी अच्छी सिद्धि कर देनेसे ही प्रतिज्ञाकी हानिका संपादन होना सम्भवता है । यह हानि तो हेतु आदिके परित्यागसे भी किसी किसी मन्द बुद्धिवाले वादीके प्रायः करके हो रही वादमें प्रतीत हो जाती है । किन्तु फिर प्रतिपक्षके धर्मको स्वपक्षमें स्वीकार कर लेनेसे ही प्रतिज्ञाहानि नहीं है, जिससे कि प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थानमें प्रतिपक्षके धर्मको स्वपक्षमें स्वीकार कर लेना यह एक ही प्रकार होय । अर्थात्-प्रतिज्ञाहानि अनेक प्रकारसे हो सकती है । तिस प्रकार तिरस्कार, फटकार, गौरव दिखा देना, घटाटोप करना, विक्षेप, आदि करके वादीके आकुलित परिणाम हो जानेसे अथवा स्वभावसे ही सभामें भयभीतपनेकी प्रकृति होनेसे या वादीका चित्त इधर इधर अन्य प्रकरणोंमें लग जाने आदि निमित्तोंसे किसी धर्मको साध्यपने रूपसे प्रतिज्ञा कर उस साध्यसे विपरीत धर्मको कुछ देरके लिये स्वीकार करनेकी प्रतिज्ञा कर लेना देखा ही जाता है । क्योंकि पुरुषको भ्रान्तज्ञान होनेके अनेक कारण बन जाते हैं । तिस कारणसे सिद्ध होता है कि यह गौतम ऋषिका कहा गया सूत्र यथार्थ वक्ता आप्तके द्वारा कहा गया नहीं है । क्योंकि भाष्यकार और वार्तिककारको अभीष्ट हो रहे सूत्रार्थकी व्यवस्था नहीं की जा सकती है । युक्ति और आगमसे विरोध आता है । आद्य ज्ञानको उपज्ञा कहते हैं, जो त्रिकालत्रिलोकदर्शी सर्वज्ञ देवकी आम्ना-

यसे चले आ रहे सूत्र हैं। वे ही युक्ति और आगमसे विरोध नहीं पडनेके कारण आप्तोपज्ञ हैं। अतः प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थानका प्रतिपादक सूत्र और उसका वार्तिक या भाष्यमें किया गया व्याख्यान निर्दोष नहीं है।

अत्र धर्मकीर्तेर्दूषणमुपदर्श्य परिहरन्नाह।

अब यहां बौद्धगुरु धर्मकीर्तिके द्वारा दिये गये दूषणको दिखलाकर श्री विद्यानन्द आचार्य उस दोषका परिहार करते हुये स्पष्ट व्याख्यान करते हैं, सो सुनिये।

यस्त्वाहैंद्रियकत्वस्य व्यभिचाराद्विनश्वरे।
शब्दे साध्ये न हेतुत्वं सामान्येनेति सोप्यधीः ॥ १२१ ॥
सिद्धसाधनतस्तेषां संधाहानेश्च भेदतः।
साधनं व्यभिचारित्वात्तदनंतरतः कुतः ॥ १२२ ॥
सास्त्येव हि प्रतिज्ञानहानिर्दोषः कुतश्चन।
कस्यचिन्निग्रहस्थानं तन्मात्रात्तु न युज्यते ॥ १२३ ॥

यहां जो धर्मकीर्ति बौद्ध यों कह रहा है कि शब्दको (में) विनश्वरपना साध्य करनेपर ऐन्द्रिकत्व हेतुका सामान्य पदार्थकरके व्यभिचार हो जानेसे वह ऐन्द्रियिकत्व हेतु समीचीन नहीं है। व्यभिचारी हेत्वाभास है। इस प्रकार कह रहा वह धर्मकीर्ति भी बुद्धिमान नहीं है। क्योंकि यों कहनेपर तो उन नैयायिक विद्वानोंके यहां सिद्धसाधन हो जावेगा। अर्थात्-धर्मकीर्तिके ऊपर नैयायिक सिद्धसाधन दोष उठा सकते हैं। प्रतिज्ञाहानि नामक दोषसे भेद होनेके कारण वादीका हेतु किसी भी कारणसे उसके अव्यवहित कालमें व्यभिचारी भी हो जाय तो इसमें नैयायिकोंकी कोई क्षति नहीं है। एतावता वह प्रतिज्ञाहानि दोष तो किसी न किसी कारणसे है ही। किन्तु बात यह है कि केवल उस प्रतिज्ञाहानिसे ही किसी भी वादीका निग्रहस्थान कर देना तो युक्तिपूर्ण नहीं है।

येषां प्रयोगयोग्यास्ति प्रतिज्ञानुमितीरणे।
तेषां तद्धानिरप्यस्तु निग्रहो वा प्रसाधने ॥ १२४ ॥
परेण साधिते स्वार्थे नान्यथेति हि निश्चितं।
स्वपक्षसिद्धिरेवात्र जय इत्याभिधानतः ॥ १२५ ॥

बौद्ध जन जब प्रतिज्ञावाक्यका अनुमानमें प्रयोग करना योग्य नहीं मानते हैं, उनके यहां प्रतिज्ञाहानि दोष नहीं सम्भवता है। हां, जिनके यहां अनुमितिके कथन करनेमें प्रतिज्ञा वाक्य प्रयोग करने योग्य माना गया है, उनके यहां उस प्रतिज्ञाकी हानि भी निग्रहस्थान हो जाओ। किन्तु प्रतिवादी अपने पक्षकी सिद्धि करदेना रूप प्रयोजनको प्रकृष्ट रूपसे साधनेपर वादीका निग्रह कर सकता है। जब कि दूसरे प्रतिवादीने स्वकीय सिद्धान्त अर्थकी समीचीन हेतुओं द्वारा साधना कर दी है, तभी प्रतिवादी करके वादीका निग्रह संभव है। अन्यथा नहीं। अर्थात्—प्रतिवादी अपने पक्षको तो नहीं साधे और वादीके ऊपर केवल प्रतिज्ञाहानि उठादे, इतनेसे ही वादीका निग्रह नहीं हो सकता है। यह सिद्धान्त नियमसे निश्चित करलेना चाहिये। क्योंकि स्वकीय पक्षकी सिद्धि कर देनेसे ही यहां जयव्यवस्था मानी गयी है। वस्तुतः स्वपक्षकी सिद्धि कर देना ही जय है। यह श्री अकलंक देव आदि महर्षियोंने कथन किया है।

गम्यमाना प्रतिज्ञा न येषां तेषां च तत्क्षतिः।
गम्यमानैव दोषः स्यादिति सर्वं समंजसम् ॥ १२६ ॥

और जिन विद्वानोंके यहां प्रतिज्ञा गम्यमान मानी गयी है, अर्थात्—शब्दों द्वारा नहीं कही जाकर सामर्थ्यसे या अभिप्रायसे प्रतिज्ञा समझली जाती है, उन पण्डितोंके यहां तो उस प्रतिज्ञाकी कोई क्षति (हानि) नहीं। जब प्रतिज्ञा गम्यमान है तो उस प्रतिज्ञाकी हानि भी अर्थापत्तिसे गम्यमान होती हुई ही दोष होवेगा। इस प्रकार उक्त अकलंक सिद्धान्त स्वीकार करनेपर तो सम्पूर्ण व्यवस्थानीति युक्त बन जाती है। हां, नैयायिक और बौद्धोंके विचारानुसार व्यवस्था तो नीतिमार्गसे बहिर्भूत है।

न हि वयं प्रतिज्ञाहानिर्दोष एव न भवतीति संगिरामहे अनैकांतिकत्वात् साधनदोषात् पश्चात् तद्भावात् ततो भेदेन प्रसिद्धेः। प्रतिज्ञां प्रयोज्यां सामर्थ्यगम्यां वा वदतस्तद्धानेस्तथैवाभ्युपगमनीयत्वात् सर्वथा तामनिच्छतो वादिन एवासंभवात् केवलमेतस्मादेव निमित्तात् प्रतिज्ञाहानिर्भवति प्रतिपक्षसिद्धिमंतरेण च कस्यचिन्निग्रहाधिकरणमित्येतन्न सम्यते तत्त्वव्यवस्थापयितुमशक्तेः।

आचार्य कहते हैं कि प्रतिज्ञाहानि नामका कोई दोष ही नहीं है, इस प्रकार हम प्रतिज्ञापूर्वक अंगीकार नहीं करते हैं। यदि वादी अपनी अंगीकृत प्रतिज्ञाकी हानिको कर देता है, यह उसकी बडी त्रुटी है। वादीके हेतुका दोष अनैकान्तिक हो जानेसे पीछे उस प्रतिज्ञाहानिका सद्भाव हो रहा है। अतः उस प्रतिज्ञाहानिकी उस व्यभिचार दोषसे भिन्नपनकरके प्रसिद्ध है। जो विद्वान् शब्दों द्वारा प्रयोग करने योग्य उच्यमान अथवा शब्दोंसे नहीं कहकर अर्थापत्ति द्वारा सामर्थ्यसे गम्य-

मान कथन कर रहे हैं, उनके यहां उस प्रतिज्ञाकी हानि भी तिस ही प्रकार लभ्यमान या गम्यमान स्वीकार कर लेनी चाहिये। सभी प्रकारोंसे उस प्रतिज्ञाको नहीं चाहनेवाले वादीका तो जगत्में असम्भव ही है। अब हमको यहां केवल इतना ही कहना है कि केवल इतने छोटे निमित्तसे ही प्रतिज्ञाहानि होती है, और प्रतिवादी द्वारा प्रतिपक्षकी सिद्धि किये विना ही चाहे जिस किसी भी वादीको निग्रहस्थान प्राप्त हो जाय, इस व्यवस्थाको हम जैन नहीं सह सकते हैं। ऐसा अन्धेर नगरीका न्याय हमको अभीष्ट नहीं है। क्योंकि ऐसे पोले या पक्षपातग्रस्त नियमोंसे तत्त्वोंकी व्यवस्था नहीं करायी जा सकती है। यह पक्की बात है, उसको गाठमें बांध लो।

प्रतिज्ञांतरमिदानीमनुवदति।

नैयायिकों द्वारा माने गये दूसरे प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थानका श्री विद्यानन्द आचार्य इस समय अनुवाद करते हैं।

प्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थस्य धर्मविकल्पतः।
योसौ तदर्थनिर्देशस्तत्प्रतिज्ञांतरं किल ॥ १२७ ॥

गौतम सूत्रके अनुसार दूसरे निग्रहस्थानका लक्षण यों है कि प्रतिज्ञा किये जा चुके अर्थका निषेध करनेपर धर्मके विकल्पसे जो वह साध्यसिद्धिके लिये उसके अर्थका निर्देश करना है, वह प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थान सम्भवता है।

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञांतरं तल्लक्षणसूत्रमनेनोक्तमिदं व्याचष्टे।

वादी द्वारा प्रतिज्ञात हो चुके अर्थका प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध करनेपर वादी उस दूषणको उद्धार करनेकी इच्छासे धर्मका यानी धर्मान्तरका विशिष्ट कल्प करके उस प्रतिज्ञात अर्थका अन्य विशेषणसे विशिष्टपने करके कथन कर देता है, यह प्रतिज्ञान्तर है। इस कथन करके गौतम ऋषि द्वारा किये गये उस प्रतिज्ञान्तरके लक्षणसूत्रका कथन हो चुका है। इसीका श्री विद्यानन्द आचार्य व्याख्यान करते हैं।

घटोऽसर्वगतो यद्वत्तथा शद्बोप्यसर्वगः।
तद्वदेवास्तु नित्योयमिति धर्मविकल्पनात् ॥ १२८ ॥
सामान्येनैंद्रियत्वस्य सर्वगत्वोपदर्शितं।
व्यभिचारेपि पूर्वस्याः प्रतिज्ञायाः प्रसिद्धये ॥ १२९ ॥

शब्दोऽसर्वगतस्तावदिति सन्धांतरं कृतम् ।
तच्च तत्साधनाशक्तमिति भाष्ये न निग्रहः ॥ १३० ॥

शब्द अनित्य है ऐन्द्रियिक होनेसे घटके समान, इस प्रकार वादीके कहनेपर प्रतिवादीद्वारा अनित्यपनेका निषेध किया गया। ऐसी दशामें वादी कहता है कि जिस प्रकार घट असर्वगत है, उसी प्रकार शब्द भी अव्यापक हो जाओ और उस ऐन्द्रियक सामान्यके समान यह शब्द भी नित्य हो जाओ। इस प्रकार धर्मकी विकल्पना करनेसे ऐन्द्रियिकत्व हेतुका सामान्य नामको धारनेवाली जाति करके व्यभिचार हो जानेपर भी वादीद्वारा अपनी पूर्वकी प्रतिज्ञाकी प्रसिद्धिके लिये शब्दके सर्वव्यापकपना विकल्प दिखलाया गया कि तब तो शब्द असर्वगत हो जाओ। इस प्रकार वादीने दूसरी प्रतिज्ञा की। किन्तु वह दूसरी प्रतिज्ञा तो उस अपने प्रकृत पक्षको साधनेमें समर्थ नहीं है। इस प्रकार भाष्यग्रन्थमें वादीका निग्रह होना माना जाता है। किन्तु यह प्रशस्त मार्ग नहीं है। भावार्थ—दृष्टान्त-घट और प्रतिदृष्टान्त सामान्यके सधर्मापनका प्रयोग होनेपर धर्मभेदसे यों विकल्प उठाया जाता है कि इन्द्रियोंसे ग्राह्य सामान्य सर्वव्यापक है, और इन्द्रियोंसे ग्राह्य घट अल्पदेशी है। ऐसे धर्मविकल्पसे अपनी साध्यकी सिद्धिके लिये वादी दूसरी प्रतिज्ञा कर बैठता है कि यदि घट असर्वगत है, तो शब्द भी घटके समान अव्यापक हो जाओ। इस प्रकार वादीका निन्द्य प्रयत्न उसका निग्रहस्थान करा देता है। आचार्य महाराज आगे चलकर इसका निषेध दूसरे ढंगसे करेंगे।

अनित्यः शब्दः ऐंद्रियकत्वाद्घटवदित्येकः सामान्यमैंद्रियकं नित्यं कस्माच्च तथा शब्द इति द्वितीयः। साधनस्यानैकांतिकत्वं सामान्येनोद्भावयति तेन प्रतिज्ञातार्थस्य प्रतिषेधे सति तं दोषमनुद्धरन् धर्मविकल्पं करोति, सोयं शब्दोऽसर्वगतो घटवदाहोस्वित्सर्वगतः सामान्यवदिति ? यद्यसर्वगतो घटवत्तदा तद्वदेवानित्योस्त्विति ब्रूते। सोयं सर्वगतत्वासर्वगतत्वधर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञांतरं अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञातोऽसर्वगतो अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाया अन्यत्वात्। तदिदं निग्रहस्थानं साधनसामर्थ्यापरिज्ञानाद्वादिनः। न चोत्तरप्रतिज्ञापूर्वप्रतिज्ञां साधयत्यतिप्रसंगात् इति परस्याकूतं।

शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य) बहिरंग इन्द्रियोंद्वारा ग्राह्य होनेसे (हेतु) घटके समान (अन्वय दृष्टान्त) इस प्रकार कोई एक वादी कह रहा है। तथा इन्द्रियजन्य ज्ञानोंसे ग्रहण करने योग्य सामान्य यदि नित्य है तो क्यों नहीं शब्द भी तिस ही प्रकार नित्य हो जावे, इस प्रकार दूसरा प्रतिवादी कह रहा है। वह वादीके ऐन्द्रियिकत्व हेतुका सामान्य करके व्यभिचार दोष हो जानेको उठा रहा है। ऐसी दशामें वादीके प्रतिज्ञात अर्थका उस प्रतिवादीद्वारा निषेध हो जाने पर वादी उस व्यभिचार दोषका तो उद्धार नहीं करता है। किन्तु एक न्यारे धर्मके विकल्पको कर

देता है कि जो यह प्रसिद्ध शब्द क्या घटके समान अव्यापक है ? अथवा क्या सामान्य पदार्थके समान सर्वव्यापक है ? इसका तुम प्रतिवादी उत्तर दो। यदि घटके समान शब्द असर्वगत है, तब तो उस घटके समान ही वह शद्ब अनित्य हो जाओ, इस प्रकार वादी कह रहा है। आचार्य कहते हैं अथवा भाष्यकार कहते हैं कि सो यह वादी शद्बके व्यापकपन और अव्यापकपन धर्मोके विकल्पसे उस प्रतिज्ञात अर्थका कथन करता है। यह कथन वादीका दूसरी प्रतिज्ञा करना हुआ। क्योंकि शद्ब अनित्य है, इस प्रतिज्ञासे अव्यापक अनित्य शद्ब है, इस प्रतिज्ञाका भेद है। तिस कारण यह वादीका निग्रहस्थान है। क्योंकि वादीको अपने प्रयुक्त हेतुकी सामर्थ्यका परिज्ञान नहीं है। उत्तरकालमें की गयी दूसरी प्रतिज्ञा तो पहिली प्रतिज्ञाको नहीं साध देती है। यदि ऐसा होने लगे तो अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात्—चाहे जो भिन्न प्रतिज्ञा चाहे जिस साध्यको साध देवेगी और यों शद्बके अनित्यपनकी प्रतिज्ञा पर्वतमें अग्निको भी साध देवे। अतः सिद्ध होता है कि प्रतिज्ञान्तर करना वादीका निग्रहस्थान है। इस प्रकार दूसरे नैयायिक विद्वानोंकी अपने सिद्धान्त अनुसार चेष्टा हो रही है।

अत्र धर्मकीर्तेः दूषणमुपदर्शयति।

यहां प्रतिज्ञान्तरमें धर्मकीर्तिके द्वारा दिये गये दूषणको श्री विद्यानन्द आचार्य निम्नलिखित वार्तिकों द्वारा दिखलाते हैं।

नात्रेदं युज्यते पूर्वप्रतिज्ञायाः प्रसाधने।
प्रयुक्तायाः परस्यास्तद्भावहानेन हेतुवत् ॥ १३१ ॥
तदसर्वगतत्वेन प्रयुक्तादैंद्रियत्वतः।
शद्बानित्यत्वमाहार्यमिति हेत्वंतरं भवेत् ॥ १३२ ॥
न प्रतिज्ञांतरं तस्य क्वचिदप्यप्रयोगतः।
प्रज्ञावतां जडानां तु नाधिकारो विचारणे ॥ १३३ ॥
विरुद्धादिप्रयोगस्तु प्राज्ञानामपि संभवात्।
कुतश्चिद्विभ्रमात्तत्रेत्याहुरन्ये तदप्यसत् ॥ १३४ ॥

धर्मकीर्ति बौद्ध कहते हैं कि यहां प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थानमें यह नैयायिकोंका कथन करना युक्त नहीं पडता है। क्योंकि पहिली प्रतिज्ञाके द्वारा अच्छा साध्य साधन करनेपर पुनः प्रयुक्त की गयी उत्तरवर्तिनी दूसरी प्रतिज्ञाको उस प्रतिज्ञापनेकी हानि हो जाती है, जैसे कि विरुद्ध

दूसरे हेतुके प्रयुक्त किये जानेपर पूर्वके हेतुको हेतुपनेकी हानि हो जाती है। हां, बौद्ध अनुमानमें प्रतिज्ञाका प्रयोग करना आवश्यक नहीं मानते हैं। यह वादी अपने प्रयुक्त किये गये इन्द्रियज्ञान-ग्राह्यत्व हेतुसे उस असर्वगतपने करके शद्बके अनित्यत्वपनेको कहता है। इस प्रकार कहनेसे तो हेत्वन्तर यानी दूसरा हेतु हो जायगा,प्रतिज्ञान्तर तो नहीं हुआ। क्योंकि विचारशालिनी प्रज्ञाको धारनेवाले विद्वानोंके यहां प्रतिज्ञा या प्रतिज्ञान्तरका कहीं भी प्रयोग करना नहीं देखा जाता है। जो अर्थापत्ति या सामर्थ्यसे प्रतिज्ञावाक्यको नहीं समझ सकते हैं, उन जड बुद्धियोंका तो तत्त्वोंके विचार करनेमें अधिकार नहीं है। हां, विरुद्ध, व्यभिचार, आदि हेत्वाभासोंका प्रयोग करना तो विशिष्ट विद्वानोंके यहां -भी किसी एक विभ्रमके हो जानेसे वहां सम्भव जाता है। इस प्रकार कोई अन्य बौद्ध कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि उन बौद्धोंका वह कहना भी प्रशंसनीय नहीं है कारण कि:—

प्रतिज्ञातार्थसिद्ध्यर्थं प्रतिज्ञायाः समीक्षणात्।
भ्रांतैः प्रयुज्यमानायाः विचारे सिद्धहेतुवत् ॥ १३५ ॥
प्राज्ञोपि विभ्रमाद्ब्रूयाद्वादेऽसिद्धादिसाधनम्।
स्वपक्षसिद्धिर्येन स्यात्सत्त्वमित्यतिदुर्घटम् ॥ १३६ ॥

भ्रान्त पुरुषोंकरके प्रतिज्ञा किये गये पदार्थकी सिद्धिके लिये विचारकोटिमें मुख द्वारा प्रयुक्त की गयी अन्य प्रतिज्ञा भी बोली जा रही देखी जाती है। जैसे कि पूर्वहेतुकी सिद्धिके लिये दूसरा सिद्धहेतु कह दिया जाता है। बुद्धिमान् पुरुष भी कदाचित् विभ्रम हो जानेसे वादमें असिद्ध, विरुद्ध, आदि हेतुको कह बैठेगा। किन्तु जिस हेतु करके स्वपक्षकी सिद्धि होगी, उस हेतुका प्रशस्तपना निर्णीत किया जावेगा। इस कारण बौद्धोंका कहना कथमपि घटित नहीं हो पाता है, अत्यन्त दुर्घट है।

ततो प्रतिपत्तिवत्प्रतिज्ञांतरं कस्यचित्साधनसामर्थ्यापरिज्ञानात् प्रतिज्ञाहानिवत्।

तिस कारण किसी एक वादीको साधनकी सामर्थ्यका परिज्ञान नहीं होनेसे प्रतिज्ञाहानिके समान प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थानकी प्रतिपत्ति नहीं हो पाती है। अप्रतिपत्तिका अर्थ आरम्भ करने योग्य कार्यको अज्ञानप्रयुक्त नहीं करना या पक्षको स्वीकार कर उसकी स्थापना नहीं करना अथवा दूसरे सन्मुखस्थित विद्वान्के द्वारा स्थापित किये गये पक्षका प्रतिषेध नहीं करना और प्रतिषेध किये जा चुके स्वपक्षका पुनः उद्धार नहीं करना, इतना है। " अविज्ञातार्थ " या अज्ञान-निग्रहस्थानस्वरूप अप्रतिपत्तिका अर्थ कर पुनः उपमानमें वति प्रत्यय करना तो क्लिष्ट कल्पना है।

आगे प्रतिज्ञाहानिवत् पडा ही हुआ है। बात यह है कि बौद्धोंके अनुसार प्रतिज्ञान्तरके निषेधकी व्यवस्था युक्त नहीं है।

तर्हि कथमिदमयुक्तमित्याह।

किसीका प्रश्न है कि तो आप आचार्य महाराज ही बताओ, यह प्रतिज्ञान्तर किस प्रकार अयुक्त है ? ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

ततोनेनैव मार्गेण प्रतिज्ञांतरसंभवः।
इत्येतदेव निर्युक्तिस्ताद्धि नानानिमित्तकं ॥ १३७ ॥
प्रतिज्ञाहानितश्चास्य भेदः कथमुपेयते।
पक्षत्यागविशेषेपि योगैरिति च विस्मयः ॥ १३८ ॥

तिस कारणसे नैयायिकोंने जो मार्ग बताया है, उस ही मार्ग करके प्रतिज्ञान्तर नामका निग्रहस्थान सम्भवता है, इस प्रकार ही यह आग्रह करना तो युक्तिरहित है। क्योंकि वह प्रतिज्ञान्तर अन्य अनेक निमित्तोंसे भी सम्भव जाता है। हम जैन नैयायिकोंसे पूछते हैं कि आप इस प्रतिज्ञान्तरका प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थानसे भिन्नपना कैसे स्वीकार करते हैं ? बताओ। जब कि पक्षस्वरूप प्रतिज्ञाका त्याग प्रतिज्ञाहानिमें है और प्रतिज्ञान्तरमें भी कोई अन्तर नहीं है, तो फिर नैयायिकोंकरके प्रतिज्ञान्तर न्यारा निग्रहस्थान मान लिया गया है। इस बातपर हमको बडा आश्चर्य आता है।

प्रतिदृष्टांतधर्मस्य स्वदृष्टांतेभ्यनुज्ञया।
यथा पक्षपरित्यागस्तथा संधांतरादपि ॥ १३९ ॥
स्वपक्षसिद्धये यद्वत्संधांतरमुदाहृतं।
भ्रांत्या तद्वच्च शद्बोपि नित्योस्त्विति न किं पुनः ॥ १४० ॥
शद्बानित्यत्वसिद्ध्यर्थं नित्यः शद्ब इतीरणं।
स्वस्थस्य व्याहतं यद्वत्तथाऽसर्वगशद्बवाक् ॥ १४१ ॥

नैयायिकोंके यहां जिस प्रकार प्रतिकूल दृष्टान्तके धर्मकी स्वकीय दृष्टान्तमें अनुमति देदेनेसे वादीके पक्षका परित्याग (प्रतिज्ञाहानि) हो जाता है, उसी प्रकार प्रतिज्ञान्तरसे भी वादीके पक्षका परित्याग हो जाता है। तथा जिस ही प्रकार वादीने अपने पक्षकी सिद्धिके लिये भ्रमके

वश होकर प्रतिज्ञान्तरका कथन कर दिया है, उस ही के समान वादीने प्रतिज्ञाहानिके अवसर पर शद्ब भी नित्य हो जाओ ऐसा कह दिया है। अतः प्रतिज्ञान्तरको प्रतिज्ञाहानि ही फिर क्यों नहीं मानलिया जाय ? तिसरी बात यह है कि शद्बके अनित्यपनकी सिद्धिके लिये स्वस्थ (विचारशील अपने होशमें विराज रहे) वादीका जिस प्रकार शद्ब नित्य हो जाओ, यह प्रतिज्ञाहानिके अवसर पर कथन करना व्याघात युक्त है, उसी प्रकार प्रतिज्ञान्तरके समय स्वस्थवादीका शद्बके असर्वगतपनेकी दूसरी प्रतिज्ञाका कथन करना भी व्याघातदोषसे युक्त है। अर्थात्—विचारशील विद्वान् वादी न प्रतिज्ञाहानि करता है, और न प्रतिज्ञान्तर करता है। स्थूलबुद्धिवाले अस्वस्थ वादियोंकी बात न्यारी है। सङ्गतिपूर्वक कहनेवाला पण्डित पूर्वापर विरुद्ध या असंगत बातोंको कह कर वदतोव्याघात दोषसे युक्त हो जाय यह अलीक है।

ततः प्रतिज्ञाहानिरेव प्रतिज्ञांतरं निमित्तभेदात्तद्भेदे निग्रहस्थानांतराणां प्रसंगात्। तेषां तत्रांतर्भावे प्रतिज्ञांतरस्येति प्रतिज्ञाहानावन्तर्भावस्य निवारयितुमशक्तेः।

आचार्य कहते हैं कि तिस कारणसे सिद्ध हुआ कि थोडेसे निमित्तके भेदसे प्रतिज्ञाहानि ही तो प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान हुआ। प्रतिज्ञान्तरको न्यारा निग्रहस्थान नहीं मानना चाहिये। यदि उन निमित्तोंका स्वल्पभेद हो जानेपर न्यारे न्यारे निग्रहस्थान माने जावेंगे, तब तो बाईस या चौबीस निग्रहस्थानोंसे न्यारे अनेक अनिष्ट निग्रहस्थानोंके हो जानेका प्रसंग हो जावेगा। उन अतिरिक्त निग्रहस्थानोंका यदि उन परिसंख्यात निग्रहस्थानोंमें ही अन्तर्भाव किया जायगा, तब तो प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थानका इस प्रकार प्रतिज्ञाहानिमें अन्तर्भाव हो जानेका निवारण नहीं किया जा सकता है। अतः नैयायिकोंकरके प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थानका स्वीकार करना हम समुचित नहीं समझते हैं।

प्रतिज्ञाविरोधमनूद्य विचारयन्नाह।

अब श्री विद्यानन्द आचार्य प्रतिज्ञाविरोध नामक तीसरे निग्रहस्थानका अनुवाद कर विचार चलाते हुये कहते हैं।

प्रतिज्ञाया विरोधो यो हेतुना संप्रतीयते।
स प्रतिज्ञाविरोधः स्यादित्येतच्च न युक्तिमत् ॥ १४२ ॥

प्रयुक्त किये गये हेतुके साथ प्रतिज्ञावाक्यका जो विरोध अच्छा प्रतीत हो रहा है, वह प्रतिज्ञाविरोध नामका तीसरा निग्रहस्थान होगा। किन्तु यह नैयायिकोंका कथन युक्तिसहित नहीं है।

" प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोध " इति सूत्रं। यत्र प्रतिज्ञा हेतुना विरुध्यते हेतुश्च प्रतिज्ञायाः स प्रतिज्ञाविरोधो नाम निग्रहस्थानं, यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं भेदेनाग्रहणादिति न्यायवार्तिकं। तच्च न युक्तिमत्।

प्रतिज्ञावाक्य और हेतुवाक्यका विरोध हो जाना प्रतिज्ञाविरोध है। इस प्रकार गौतम ऋषिका बनाया हुआ न्यायदर्शनका सूत्र है। जहां हेतुकरके प्रतिज्ञाका विरोध हो जाय और प्रतिज्ञासे हेतु विरुद्ध पड जाय वह प्रतिज्ञाविरोध नामका निग्रहस्थान है। जैसे कि द्रव्य (पक्ष) गुणोंसे भिन्न है (साध्य), क्योंकि भिन्नपनेसे ग्रहण नहीं होता है (हेतु)। अर्थात्–द्रव्यसे गुण भिन्न पने करके नहीं दीखता है। इस प्रकार न्यायवार्तिक ग्रन्थ है। यहां द्रव्यसे गुण भिन्न है, इस प्रतिज्ञाका गुण और द्रव्यका भिन्न भिन्न ग्रहण नहीं होना इस हेतुके साथ परस्परमें विरोध है। अतः वादीको "प्रतिज्ञाविरोध" निग्रहस्थान प्राप्त हुआ। किन्तु यह न्यायवार्तिकका कथन युक्तियोंसे सहित नहीं है।

प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञात्वे हेतुना हि निराकृते।
प्रतिज्ञाहानिरेवेयं प्रकारांतरतो भवेत् ॥ १४३ ॥

आचार्य कहते हैं कि जब विरुद्ध हेतुकरके प्रतिज्ञाका प्रतिज्ञापन निराकृत हो चुका है, तो यह एक दूसरे प्रकारसे प्रतिज्ञाहानि ही हो जावेगी। न्यारा निग्रहस्थान नहीं ठहरा।

द्रव्यं भिन्नं गुणात्स्वस्मादिति पक्षेभिभाषिते।
रूपाद्यर्थांतरत्वेनानुपलब्धेरितीर्यते ॥ १४४ ॥
येन हेतुर्हतस्तेनासंदेहं भेदसंगरः।
तदभेदस्य निर्णीतेस्तत्र तेनेति बुध्यताम् ॥ १४५ ॥

भाष्यकार कहते हैं कि यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिर्नोपपद्यते, अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः। गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति नोपपद्यते, गुणव्यतिरिक्तञ्च द्रव्यं रूपादिभ्यश्चार्थान्तरस्यानुपलब्धिरिति विरुध्यते व्याहन्यते न सम्भवतीति"। द्रव्य (पक्ष) अपने गुणोंसे भिन्न है (साध्य), क्योंकि रूप, रस, आदि गुणोंसे भिन्न अर्थपने करके द्रव्यकी उपलब्धि नहीं हो रही है। इस प्रकार वादीद्वारा पक्षका कथन कर चुकनेपर यों कहा जाता है कि यदि हेतुकी रक्षा करते हो तो गुणभेदस्वरूप साध्यकी रक्षा नहीं बन सकती है। और यदि साध्यकी रक्षा करते हो तो रूपादिकसे भिन्नकी अनुपलब्धि होना यह हेतु नष्ट हुआ जाता है। जिस कारण से कि हेतु व्यवस्थित है, उससे भेद सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा निस्सन्देह नष्ट हो जाती है। क्योंकि वहां उस हेतुकरके द्रव्यके साथ उन गुणोंके अभेदका निर्णय हो रहा है, यह समझ लेना चाहिये।

हेतोर्विरुद्धता वा स्याद्दोषोयं सर्वसंमतः।
प्रतिज्ञादोषता त्वस्य नान्यथा व्यवतिष्ठते ॥ १४६ ॥

अथवा यह हेतुका विरुद्धता नामक दोष है, जो कि सभी वादियोंके यहां भले प्रकार मान लिया गया है। आप नैयायिकोंके यहां भी विरुद्धहेत्वाभास माना गया है। इस प्रतिज्ञाविरोधको अन्य प्रकारोंसे प्रतिज्ञासम्बन्धी दोषपना तो नहीं व्यवस्थित होता है। अर्थात्—यह हेतुका विरुद्ध नामक दोष है। प्रतिज्ञाका दोष नहीं है। हेत्वाभासोंकी निग्रहस्थानोंमें गणना करना प्रस्तुत है। फिर " प्रतिज्ञाविरोध " नामका तीसरा निग्रहस्थान व्यर्थ क्यों माना जा रहा है ?

यदपि उद्योतकरेणाभ्यधायि एतेनैव प्रतिज्ञाविरोधोप्युक्तः, यत्र प्रतिज्ञा स्ववचनेन विरुध्यते यथा " श्रमणा गर्भिणी " नास्त्यात्मेति वाक्यांतरोपप्लवादिति, तदपि न युक्तमित्याह।

जो भी वहां उद्योतकर पण्डितने यह कहा था कि इस उक्त कथन करके ही प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान भी कहा जा चुका है। जहां अपने वचन करके ही अपनी प्रतिज्ञा विरुद्ध हो जाती है। जैसे कि " तपस्विनी या दीक्षिता स्त्री गर्भवती है " " अपना आत्मा नहीं है। " "मैं चिल्लाकर कह रहा हूं कि मैं चुप हूं " इत्यादिक प्रयोग स्वकीय वचनोंसे ही विरुद्ध पड जाते हैं। जो तपस्विनी है, वह पुरुष संयोग कर गर्भ धारण नहीं कर सकती है और जो गर्भधारणा कर रही है, वह तपस्विनी नहीं है। गर्भधारणके पश्चात् वैराग्य हो जाय तो भी उस स्त्रीको बालक प्रसव और शुद्धि होनेके पीछे ही दीक्षा दी जा सकती है। तपस्या करती हुयी भ्रष्ट होकर यदि गर्भिणी हो जायगी तब तो उसकी तपस्या अवस्था ही नष्ट होगई समझी जायगी। यों प्रतिज्ञाविरोधके लक्षणमें जहां प्रतिज्ञा स्ववचनसे विरुद्ध हो जाय वहां इतना अन्य वाक्यका उपस्कार करलेना चाहिये। यहांतक उद्योतकर कह चुके। अब आचार्य कहते हैं कि वह कहना भी उद्योतकरका युक्तिसहित नहीं है। इस बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

प्रतिज्ञा च स्वयं यत्र विरोधमधिगच्छति।
नास्त्यात्मेत्यादिवत्तत्र प्रतिज्ञाविधिरेव न ॥ १४७ ॥

जिस प्रकरणमें अपने वचनकरके ही धर्म और धर्मीका समुदाय वचनस्वरूप प्रतिज्ञा स्वयं विरोधको प्राप्त हो जाती है जैसे कि कोई जीव यों कह रहा है कि आत्मा नहीं है, अथवा एक पुरुष यों कहता है कि मेरी माता वन्ध्या है, या कोई पुत्र यों कहे कि मैं किसी भी मां, बापका अपत्य नहीं हूं इत्यादिक प्रतिज्ञायें स्वयं विरोधको प्राप्त हो रही हैं। उन प्रकरणोंमें सच पूछो तो प्रतिज्ञाकी विधि ही नहीं हुई है। अर्थात्—स्ववचनोंसे बाधित हो रहे प्रतिज्ञा वाक्यके स्थलपर वादी स्वयं अपनी प्रतिज्ञाकी हानि कर बैठता है।

तद्विरोधोद्भावनेन त्यागस्यावश्यंभावित्वात् । स्वयमत्यागान्नेयं प्रतिज्ञाहानिरिति चेत् न, तद्विरुद्धत्वप्रतिपत्तेरेव न्यायबलात्त्यागरूपत्वात् । यत्किंचिदवदतोपि प्रतिज्ञाकृत्तिसिद्धेर्वदतोपि दोषत्वेनैव तत्त्यागस्य व्यवस्थितेः ।

कारण कि प्रतिवादीके द्वारा उस वादीकी प्रतिज्ञामें विरोध दोष उठादेनेसे वादीकी प्रतिज्ञाका त्याग अवश्य ही हो जावेगा। अतः प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान तो प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान ही ठहरा । यदि यहां कोई यों कहे कि प्रतिवादीके द्वारा विरोध दोष उठा देनेपर वादीने स्वयं कंठोक्त तो अपनी प्रतिज्ञाकी हानि नहीं की है । हां, वादी स्वयं प्रतिज्ञाका त्याग कर देता तब तो प्रतिज्ञाहानिमें प्रतिज्ञाविरोधका अन्तर्भाव हो जाता, अन्यथा नहीं । अतः यह प्रतिज्ञाहानि नहीं है । अब आचार्य महाराज कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि प्रतिवादी करके विरोध दोष उठानेपर वादीको उस स्वकीय प्रतिज्ञा वाक्यके विरुद्धपनेका मनमें निर्णय हो जाना ही तो न्यायमार्गकी सामर्थ्यसे प्रतिज्ञाका त्याग करदेना स्वरूप है । स्ववचनविरुद्ध वाक्यको वादीने कहा, प्रतिवादीने विरोध उठाया, ऐसी दशामें वादी यदि कुछ भी नहीं कहकर चुप बैठ गया है, अपनी प्रतिज्ञाका विरोध स्वमुखसे स्वीकार नहीं करता है तो भी उस वादीकी प्रतिज्ञाका छेद हो जाना सिद्ध हो जाता है (कृती छेदने) । हां, यदि वादी जो कुछ भी अण्ट सण्ट पुनः बक रहा है तो भी वादीके कथनका दोषसहितपना हो जाने करके ही उस प्रतिज्ञाके त्यागकी व्यवस्था करदी जाती है । अतः कथंचित् अल्पीयान् अन्तरके होनेपर भी प्रतिज्ञाहानिसे प्रतिज्ञाविरोधको न्यारा निग्रहस्थान मानना समुचित प्रतीत नहीं होता है ।

यदपि. तेनोक्तं हेतुविरोधोपि प्रतिज्ञाविरोध एव एतेनोक्तो यत्र हेतुः प्रतिज्ञया बाध्यते यथा सर्वं पृथक् समूहे भावशब्दप्रयोगादिति, तदपि न साधीय इत्याह ।

तथा उस उद्योतकर पण्डितजीने यह भी कहा था कि इस पूर्वोक्त कथन करके हेतुका विरोध होना भी प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान ही कह दिया गया समझ लेना, अर्थात्—हेतुविरोधको न्यारा निग्रहस्थान नहीं मानकर प्रतिज्ञाविरोधमें ही उसका अन्तर्भाव कर लेना चाहिये । जिस प्रकरणमें प्रतिज्ञा वाक्य करके हेतुवाक्य बाधित हो जाता है, जैसे कि सम्पूर्ण पदार्थ (पक्ष) पृथक् पृथक् हैं (साध्य), समुदायमें भाव या पदार्थशब्दका प्रयोग होनेसे (हेतु) इस अनुमानमें पृथग्भावको साध रही प्रतिज्ञाकरके भाव शब्द द्वारा समुदायका कथन करनारूप हेतु विरुद्ध पडता है । अर्थात्—पदार्थोंका अमिश्रण साधलेनेपर पुनः उनका मिश्रण कथन करना विरुद्ध है । यह भी एक ढंगसे वादीका प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान हुआ ठहरा । माता, पिताके, पाप जैसे कुछ सन्तानको भुगतने पडते हैं, वैसे हेतुके दोष भी प्रतिज्ञापर आ गिरते हैं । अब श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि उद्योतकरका वह कहाना भी बहुत अच्छा नहीं है । इस बातका ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा स्पष्ट निरूपण करते हैं सो सुनिये ।

हेतुः प्रतिज्ञया यत्र बाध्यते हेतुदुष्टता ।
तत्र सिद्धान्यथा संधाविरोधोतिप्रसज्यते ॥ १४८ ॥

हेतु जहां प्रतिज्ञा करके बाधित कर दिया जाता है, वहां हेतुका दुष्टपना सिद्ध है। भला प्रतिज्ञा तो दूषित नहीं हो सकती है। निर्दोषको व्यर्थमें दोष लगाना सर्वथा अन्याय है। अन्यथा चाहे जिसके दोषको चाहे जिस किसीके माथे यदि मढ दिया जायगा तो प्रतिज्ञाविरोधका भी अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात्– प्रतिज्ञाविरोधको भी हेतुविरोधमें गर्भित कर सकते हैं। या दृष्टान्त, उपनय, निगमनके, विरोधदोष भी निर्दोष प्रतिज्ञापर चढ बैठेंगे। यों तो प्रतिज्ञाविरोधका क्षेत्र बहुत बढ जायगा। कई निग्रहस्थान इसीमें समा जायेंगे।

सर्वं पृथक्समुदाये भावशद्वप्रयोगतः ।
इत्यत्र सिद्धया भेदसंधया यदि बाध्यते ॥ १४९ ॥
हेतुस्तत्र प्रसिद्धेन हेतुना सापि बाध्यता ।
प्रतिज्ञावत्परस्यापि हेतुसिद्धेरभेदतः ॥ १५० ॥
भावशद्वः समूहं हि यस्यैकं वक्ति वास्तवं ।
तस्य सर्वं पृथक्त्वमिति संधाभिहन्यते ॥ १५१ ॥

सम्पूर्ण पदार्थ न्यारे न्यारे हैं, (प्रतिज्ञा)। क्योंकि समुदायमें भाव शद्वका प्रयोग होता है। इस प्रकार इस अनुमानमें प्रसिद्ध हो रही भेदसिद्धिकी प्रतिज्ञाकरके यदि समुदायमें भाव शद्वका बोला जाना यह हेतु बाधित कर दिया जाता है, तो प्रमाणोंसे सिद्ध हो रहे हेतुकरके वह प्रतिज्ञा भी बाधित कर दी जाओ। क्योंकि पदार्थोंको भिन्न भिन्न साध रही प्रतिज्ञाकी सिद्धि जैसे नैयायिकोंके यहां प्रमाणसे हो रही है, उसीके समान दूसरे अद्वैतवादियोंके यहा अथवा परसंग्रहनयकी अपेक्षा जैनोंके यहां भी पदार्थोंके समुदायरूप हेतुकी प्रमाणोंसे सिद्धि हो रही है। कोई भेद (विशेषता) नहीं है। अथवा समुदायको साधनेपर पदार्थोंके पृथग्भाव इस हेतुकरके समुदायको साधनेवाली प्रतिज्ञाका विरोध हो जाता है। एक बात यह भी है, जैनेंद्री नीतिके अनुसार कथंचित् शब्द लगा देनेसे पृथग्भाव करके समुदायका कोई विरोध नहीं पडता है। यह अतिप्रसंग हुआ। अतः उद्योतकरका कहना प्रशस्त नहीं है। जिस अद्वैतवादीके यहां भावशब्द या सत् शब्द वस्तुभूत एक समुदायको कह रहा है, उसके यहां सम्पूर्ण तत्त्व पृथक् पृथक् हैं। इस प्रकारकी प्रतिज्ञा चारों ओरसे नष्ट हो जाती है। अतः प्रसिद्ध हेतुकरके प्रतिज्ञाका बाधा प्राप्त हो जाना भी प्रतीतिसिद्ध है।

विरुद्धसाधनाद्वायं विरुद्धो हेतुरागतः ।
समूहावास्तवे हेतुदोषो नैकोपि पूर्वकः ॥ १५२ ॥
सर्वथा भेदिनो नानार्थेषु शब्दप्रयोगतः ।
प्रकल्पितसमूहेष्वित्येवं हेत्वर्थनिश्चयात् ॥ १५३ ॥
तथा सति विरोधोयं तद्धेतोः संधया स्थितः ।
संधाहानिस्तु सिद्धेयं हेतुना तत्प्रबाधनात् ॥ १५४ ॥

अथवा यह वादी द्वारा कहा गया हेतु प्रतिज्ञासे विरुद्ध साध्यको साधनेवाला होनेसे विरुद्ध हेत्वाभास है, यह बात आयी । अतः प्रतिवादी करके वादीके ऊपर विरुद्ध हेत्वाभास उठाना चाहिये । बौद्धजन समुदायको वास्तविक नहीं मानते हैं । उनके यहां संतान, समुदाय, अवयवी ये सब कल्पित माने गये हैं । नैयायिक, जैन, मीमांसक, विद्वान् समुदायको वस्तुभूत मानते हैं । ऐसी दशामें हमारा प्रश्न है कि वादीकरके कहे गये हेतुमें पडा हुआ समुदाय क्या वास्तविक है ? अथवा कल्पित है ? बताओ । यदि समुदायको अवास्तविक कल्पित माना जायगा, तब तो पूर्ववर्त्ती एक भी हेतुका दोष वादीके ऊपर लागू नहीं होता है । क्योंकि सौत्रान्तिक बौद्धोंके यहां सम्पूर्ण पदार्थ सर्वथा भेदसे सहित हो रहे हैं । उनके यहां मिथ्यावासनाओं द्वारा अच्छे ढंगसे कल्पना कर लिये गये समूहस्वरूप वास्तविक भिन्न भिन्न अनेक अर्थोंमें भावशब्दका प्रयोग हो रहा है । इस प्रकार हेतुके अर्थका निश्चय हो जानेसे कोई दोष नहीं आता है । हां, यदि समुदाय वास्तविक पदार्थ है, तैसा होनेपर यह उस हेतुका प्रतिज्ञावाक्यकरके विरोध हो जाना स्थित होगया । हां, यह प्रतिज्ञाहानि तो सिद्ध है । क्योंकि हेतुकरके उस प्रतिज्ञावाक्यकी अच्छे ढंगसे बाधा हो चुकी है । अतः हेतुविरोधको ही प्रतिज्ञाविरोध कहना ठीक नहीं है ।

यदप्यभिहितं तेन, एतेन प्रतिज्ञया दृष्टांतविरोधो वक्तव्यो हेतोश्च दृष्टांतादिभिर्विरोधः प्रमाणविरोधश्च प्रतिज्ञाहेत्वोर्यथा वक्तव्य इति, तदपि न परीक्षाक्षममित्याह ।

और भी जो उन उद्योतकर पण्डितजीने कहा था कि इस पूर्वोक्त विचारके द्वारा प्रतिज्ञा करके दृष्टान्तका विरोध भी कहना चाहिये । और हेतुका दृष्टान्त, उपनय, इत्यादि करके विरोध भी कह देना चाहिये । तथा अन्य प्रमाणोंसे बाधा प्राप्त हो जाना भी वक्तव्य है। जैसे कि प्रतिज्ञा और हेतुका विरोध कथन करने योग्य है, उसी प्रकार अन्य विरोध भी वक्तव्य हैं । सूत्रोक्त प्रमेय से जहां अधिक बात कहनी होती है, वहां वक्तव्यं, वाच्यं, इष्यते, या उपसंख्यानं, ऐसे प्रयोग

कहे जाते हैं । आचार्य कहते हैं कि यह उद्योतकरका कहना भी परीक्षाभारको सहन करनेमें समर्थ नहीं है । इसीको ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा स्पष्ट कहते हैं ।

दृष्टान्तस्य च यो नाम विरोधः संधयोदितः ।
साधनस्य च दृष्टान्तप्रमुखैर्मानबाधनम् ॥ १५५ ॥
प्रतिज्ञादिषु तस्यापि न प्रतिज्ञाविरोधता ।
सूत्रारूढतयोक्तस्य भांडालेख्यनयोक्तिवत् ॥ १५६ ॥

दृष्टान्तका प्रतिज्ञा करके और भी जो कोई विरोध कहा गया है तथा दृष्टान्त प्रभृतिकरके हेतुका विरोध कहा गया है, एवं प्रतिज्ञा आदिकोंमें प्रमाणोंके द्वारा बाधा या विरोध आ जाना निरूपण किया है, उसको भी " प्रतिज्ञाविरोध-निग्रहस्थानपना " नहीं है । क्योंकि गौतम सूत्रमें प्रतिज्ञा और हेतुके विरोधको प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान रूपसे आरूढपने करके कहा गया है । जैसे कि मिट्टी पाषण या धातुके बने हुये वर्तन भाण्डोंमें जो प्रथमसे उकेर दिया जाता है, वह चिरकाल तक स्थिर रहता है, इस नीतिके कथन समान सूत्रमें आरूढपने करके कहे गये तत्वको ही प्रतिज्ञाविरोधमें लेना चाहिये, अधिकको नहीं ।

प्रतिज्ञानेन दृष्टांतबाधने सति गम्यते ।
तत्प्रतिज्ञाविरोधः स्याद्द्विष्ठत्वादिति चेन्मतम् ॥ १५७ ॥
हंत हेतुविरोधोपि किं नैषोभीष्ट एव ते ।
दृष्टांतादिविरोधोपि हेतोरेतेन वर्णितः ॥ १५८ ॥

यदि उद्योतकरका यह मन्तव्य होय कि प्रतिज्ञा करके दृष्टान्तकी बाधा हो जानेपर स्वयं अर्थापत्तिसे यह जान लिया जाता है कि वह प्रतिज्ञाविरोध है । तिस कारण दृष्टान्तविरोध, प्रमाणविरोधको, प्रतिज्ञाविरोधमें ही वक्तव्य कहा गया है । क्योंकि विरोध पदार्थ दोमें ठहरता है । दृष्टान्त और प्रतिज्ञाका विरोध तो दृष्टान्त और प्रतिज्ञा दोनोंमें समाजाता है । अतः दृष्टान्तविरोधको " प्रतिज्ञाविरोध " कह सकते हैं । साझेकी दूकानका आधिपत्य एक व्यक्तिके लिये भी व्यवहृत हो जाता है । इस प्रकार उद्योतकरका मन्तव्य होनेपर तो आचार्य महाराज कहते हैं कि हमको खेदके साथ कहना पडता है कि यह हेतुविरोध भी तुम्हारे यहां क्यों अभीष्ट कर लिया गया है । तथा हेतुका दृष्टान्त आदिके साथ विरोध भी स्वतंत्र रूपसे न्यारा निग्रहस्थान क्यों नहीं मान लिया गया है । इस कथनसे यह भी वर्णनायुक्त (कथित) कर दिया गया है । जब कि प्रतिज्ञा-

हानि, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञान्तर इनको थोडासा अन्तर हो जानेसे ही न्यारा निग्रहस्थान मान लिया गया है, तो प्रतिज्ञाविरोधके समान हेतुविरोध, दृष्टान्तविरोधको, स्वतंत्र निग्रहस्थान मान लेना चाहिये ।

निग्रहस्थानसंख्यानविघातकृदयं ततः ।
यथोक्तनिग्रहस्थानेष्वंतर्भावविरोधतः ॥ १५९ ॥

और तैसा होनेसे यह कई निग्रहस्थानोंका बढ जाना तुम्हारे अभीष्ट हो रहे निग्रहस्थानोंकी नियत संख्याका विघात करनेवाला होगा। क्योंकि नैयायिकोंकी आम्नाय अनुसार कहे गये निग्रहस्थानोंमें अन्तर्भाव हो जानेका तो विरोध है। अथवा हेतुविरोध, दृष्टान्तविरोध, आदिका यदि प्रतिज्ञाविरोधमें गर्भ किया जायगा तो प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञासंन्यास, इनका भी प्रतिज्ञाहानिमें अन्तर्भाव कर लेनेसे कोई विरोध नहीं पडता है।

प्रत्यक्षादिप्रमाणेन प्रतिज्ञाबाधनं पुनः ।
प्रतिज्ञाहानिरायाता प्रकारांतरतः स्फुटम् ॥ १६० ॥
निदर्शनादिबाधा च निग्रहांतरमेव ते ।
प्रतिज्ञानश्रुतेस्तत्राभावात्तद्बाधनात्ययात् ॥ १६१ ॥

यदि फिर प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंकरके प्रतिज्ञाकी बाधाको प्रतिज्ञाविरोध कहा जायगा, तब तो यह सर्वथा स्पष्टरूपेण एक दूसरे प्रकारसे प्रतिज्ञाहानि ही कही गयी आयी। प्रतिज्ञा विरोधको न्यारा दूसरे निग्रहस्थान माननेपर तो दृष्टान्त विरोध, हेतुविरोध, उपनयविरोध, निगमन विरोध, प्रत्यक्षविरोध, अनुमानविरोध, आदिक भी तुम्हारे यहां न्यारे न्यारे ही निग्रहस्थान मानने पडेंगे। प्रतिकूल ज्ञानके श्रवणका वहां अभाव है। अतः उन दृष्टान्तविरोध आदि निग्रहस्थानोंके अवसरपर उनके बाधा प्राप्त होनेके अभाव है।

यदप्यवादि तेन परपक्षसिद्धेन गोत्वादिनानैकांतिकचोदनाविरुद्धेति यः परपक्षसिद्धेन गोत्वादिना व्यभिचारयति तद्विरुद्धमुत्तरं वेदितव्यम् । अनित्यः शब्दः ऐंद्रियकत्वात् घटवदिति केनचिद्बौद्धं प्रयुक्तं, नैयायिकप्रसिद्धेन गोत्वादिना सामान्येन हेतोरनैकांतिकत्वचोदना हि विरुद्धमुत्तरं सौगतस्यानिष्टसिद्धेरिति । तदपि न विचारार्हमित्याह ।

और भी उस उद्योतकरने जो यह कहा था कि दूसरे नैयायिक या वैशेषिकोंके पक्षमें प्रसिद्ध हो रहे गोत्व, घटत्व, अश्वत्व, आदि नित्य जातियों करके व्यभिचारी हेत्वाभासपनेका कुचोद्य उठाना

तो विरुद्ध है । इसका अर्थ यों है कि जो दूसरोंके पक्षपातसे आक्रान्त दर्शनमें प्रसिद्ध हो रहे गोत्व, महिषत्व आदि नित्य सामान्योंकरके हेतुका व्यभिचार उठा रहा है, वह उसका उत्तर विरुद्ध समझ लेना चाहिये । किसी भले मनुष्यने बौद्धोंके प्रति यों कहा कि शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य), ऐन्द्रियिकपना होनेसे (हेतु) घटके समान (दृष्टान्त) यों कह चुकनेपर नैयायिकोंके यहां प्रसिद्ध हो रहे गोत्व आदि सामान्य करके ऐन्द्रियिकत्व हेतुके व्यभिचारीपनकी कुतर्कणा उठाना तो नियमसे बौद्धोंका विरुद्ध उत्तर है । क्योंकि बौद्धोंको इससे अनिष्टकी सिद्धि हो जावेगी । बौद्धजन घटके समान सामान्यको भी अनित्य माननेके लिये संनद्ध हैं । अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार उद्योतकरका वह कहना भी विचार करनेमें योग्य नहीं ठहरता है । इस बातको ग्रन्थकार स्पष्ट कर कहते हैं ।

गोत्वादिना स्वसिद्धेन यानैकांतिकचोदना ।
परपक्षविरुद्धं स्यादुत्तरं तदिहेत्यपि ॥ १६२ ॥
न प्रतिज्ञाविरोधेंतर्भावमेति कथंचन ।
स्वयं तु साधिते सम्यग्गोत्वादौ दोष एव सः ॥ १६३ ॥
निराकृतौ परेणास्यानेकांतिकसमानता ।
हेतोरेव भवेत्तावत् संधादोषस्तु नेष्यते ॥ १६४ ॥

बैलपना, सिंहत्व, आदिक जातियां स्वकीय पक्षके अनुसार बौद्धोंके यहां अनित्य मानी जा रही हैं । अतः अपने यहां सिद्ध हो रहे गोत्व आदिक करके जो व्यभिचारीपनका चोद्य उठाया जायगा वह उत्तर भी तो यहां दूसरोंके पक्षसे विरुद्ध पडेगा, अतः वह व्यभिचार दोष किसी भी प्रकारसे प्रतिज्ञा विरोधनामक निग्रहस्थानमें अन्तर्भावको प्राप्त नहीं हो सकता है । हां, स्वयं अपने यहां भले प्रकार गोत्व, अश्वत्व, आदिके साध चुकनेपर तो वह दोष ही है । किन्तु दूसरे प्रतिवादी करके इस वादीके पक्षका निराकरण कर देनेपर वह हेतुका ही अनैकान्तिक हेत्वाभासपना दोष होगा । फिर प्रतिज्ञाका तो दोष वह कथमपि नहीं माना जा सकता है ।

यदप्यभाणि तेन, स्वपक्षानपेक्षं च तथा यः स्वस्वपक्षानपेक्षं हेतुं प्रयुंक्ते अनित्यः शब्द ऐंद्रियकत्वादिति स स्वसिद्धस्य गोत्वादेरनित्यत्वविरोधाद्विरुद्ध इति । तदप्यपेशलमित्याह ।

और भी जो उस उद्योतकर महाशयने कहा था कि " स्वपक्षानपेक्षं च " इसका अर्थ यह है कि तथा जो नैयायिक अपने निजपक्षकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले हेतुका प्रयोग करता है, जैसे

कि इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा ग्राह्य होनेसे शद्ब अनित्य है। इस प्रकार अपने नैयायिक या वैशेषिकके मतमें प्रसिद्ध हो रहे गोत्व, अश्वत्व, आदि जातियोंके अनित्यपनका विरोध हो जानेसे यह हेतु विरुद्ध है। भावार्थ—कोई नैयायिक व्यभिचारस्थलमें पडे हुये अपने अभीष्ट नित्य सामान्यकी अपेक्षा नहीं कर यों समझता हुआ कि बौद्धके यहां तो सामान्यको अवस्तु या अनित्य माना गया है। यदि बौद्धके प्रति ऐन्द्रियिकत्व हेतुसे शद्बका अनित्यपना सिद्ध करने लगे तो भी नैयायिकका हेतु विरुद्ध पड जायगा। क्योंकि नैयायिक या वैशेषिकोंके यहां जातियोंके अनित्यपनका विरोध है। इस प्रकार उद्योतकरका अभिप्राय है। आचार्य कहते हैं कि उनका यह कहना भी चातुर्यपूर्ण नहीं है। इसको वार्त्तिककार स्वयं स्पष्ट कर कह देते हैं।

हेतावैन्द्रियकत्वे तु निजपक्षानपेक्षिणि।
स प्रसिद्धस्य गोत्वादेरिति तत्त्वविरोधतः ॥ १६५ ॥
स्याद्विरोध इतीदं च तद्वदेव न भिद्यते।
अनैकांतिकतादोषात्तदभावाविशेषतः ॥ १६६ ॥

अपने पक्षकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले ऐन्द्रियिकत्व हेतुके होनेपर तो नैयायिकको विरोध दोष लागू होगा। क्योंकि उसके यहां प्रसिद्ध हो रहे गोत्व आदि सामान्यको उस अनित्यपनका विरोध है। अतः यह हेतु प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थानका प्रयोजक होगा, इस प्रकार उद्योतकरका अभिप्राय हमको प्रशस्त नहीं जचता है। धूम, व्यापकपन आदिको साधनेके लिये दिये गये अग्नि, प्रमेयत्व, आदि प्रसिद्ध व्यभिचारी हेत्वाभासोंके समान यह ऐन्द्रियिकत्व हेतुके ऊपर उठाया गया विरुद्ध दोष तो अनैकान्तिक दोषसे भिन्न नहीं माना जाता है। क्योंकि हेतुके ठहर जानेपर उस साध्यके नहीं ठहरनेकी अपेक्षा यहां कोई विशेषता नहीं है। अतः इसको प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान नहीं मानकर क्लृप्त (आवश्यक दोष रूपसे माने गये) अनैकान्तिक दोषमें अन्तर्भाव करलेना चाहिये।

वादीतरप्रतानेन गोत्वेन व्यभिचारिता।
हेतोर्यथा चैकतरसिद्धेनासाधनेन किम् ॥ १६७ ॥
प्रमाणेनाप्रसिद्धो तु दोषाभावस्तदा भवेत्।
सर्वेषामपि तेनायं विभागो जडकल्पितः ॥ १६८ ॥

जिस प्रकार कि वादी और प्रतिवादी दोनोंके यहां प्रसिद्ध हो रहे गोत्व, सामान्य करके हेतुका व्यभिचार दोष है, उसी प्रकार वादी या प्रतिवादी दोनोंमेंसे किसी भी एकके यहां प्रसिद्ध हो रही गोत्व जाति करके भी व्यभिचार हो सकता है। अर्थात्—उद्योतकरका यह अभिप्राय प्रतीत

होता है कि वादी, प्रतिवादी, दोनोंके यहां प्रमाणोंसे सिद्ध किये पदार्थ करके तो व्यभिचार दोष वादीके ऊपर उठाया जायगा और किसी एकके यहां ही प्रसिद्ध हो रहे पदार्थकरके तो वादीके ऊपर प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान उठाया जायगा। इसपर आचार्योंका यह कहना है कि एक हीके यहां प्रसिद्ध हो रहे नित्य गोत्वकरके भी वादीके ऊपर व्यभिचार दोष ही उठाना चाहिये। साध्यको नहीं साधनेवाले ऐसे खोटे हेतुसे क्या कार्य होगा ? यानी कुछ नहीं। हां, दोनोंके यहां जो पदार्थ प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं है, उस पदार्थकरके उस व्यभिचार दोष उठानेकी प्रेरणा करना तो दोष नहीं है, किन्तु सभीके यहां दोषाभास ही उस समय माना गया है। तिस कारणसे यह विभाग करना जडपुरुषोंके द्वारा कल्पित किया गया ही समझा जाता है। उद्योतकर (चंद्रविमान) स्वयं जड है। उसके द्वारा वादी और प्रतिवादी दोनोंके यहां प्रसिद्ध हो रहे पदार्थकरके तो व्यभिचार दोषका उठाया जाना और एकके यहां प्रसिद्ध हो रहे पदार्थकरके प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान का उठाया जाना, इस प्रकार जो विभाग किया है, वह जडकी कल्पना कहनी पडती है। नैयायिकोंने ज्ञानसे सर्वथा भिन्न कह कर आत्माको अज्ञ मान किया है। अतः नैयायिक जीव जड हुये।

सोयमुद्योतकरः स्वयमुभयपक्षसंप्रतिपन्नस्त्वनैकांतिक इति प्रतिपद्यमानो वादिनः प्रतिवादिन एव प्रमाणतः सिद्धेन गोत्वादिनानैकांतिकचोदनेन हेतोर्विरुद्धमुत्तरं ब्रुवाणमतिक्रमेत कथं न्यायवादी ? अप्रमाणसिद्धेन तु सर्वेषां तच्चोदनं दोषाभास एवेति तद्विभागं कुर्वन् जडत्वमात्मनो निवेदयति।

आचार्य कहते हैं कि यह प्रसिद्ध हो रहा उद्योतकर विद्वान् स्वयं इस तत्त्वको समझ रहा है कि वादी, प्रतिवादी, दोनोंके पक्षोंमें जो भले प्रकार व्यभिचारीपनेसे निर्णीत कर लिया गया है, वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। किन्तु यहां केवल वादीके ही पक्षमें अथवा प्रतिवादीके ही दर्शनमें प्रमाणसे सिद्ध हो रहे गोत्व आदि सामान्यकरके हेतुके व्यभिचार दोषकी तर्कणा करनेसे विरुद्ध उत्तरको कहनेवालेका अतिक्रमण करेगा। भला ऐसी दशामें वह न्यायपूर्वक कहनेवाला कैसे हो सकता है ? अर्थात्–दोनों या एकके भी यहां प्रसिद्ध हो रहे नित्य गोत्व करके ऐन्द्रियिकत्व हेतुका व्यभिचारीपना नहीं मानकर दोष उठानेवालेके उत्तरको विरुद्ध कह देना यह उद्योतकरका न्याय करना उचित नहीं है। हां, जो पदार्थ दोनों वादी प्रतिवादियोंके यहां अथवा एकके भी यहां प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं, उस पदार्थ करके अनैकांतिकपनेका कुचोद्य उठाना तो सब दार्शनिकोंके यहां दोषाभास ही माना गया है। इस कारण उस विरुद्ध उत्तररूप प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान और अनैकान्तिकपनके विभागको कह रहा उद्योतकर पण्डित अपने आप अपना जडपना व्यक्त करनेका विज्ञापन दे रहा है। यानी जडपनेका इससे अधिक और निवेदन क्या हो सकता है ?

अत्र प्रतिज्ञावचनादेवासाधनांगवचनेन वादिनिगृहीते प्रतिज्ञाविरुद्धस्यानिग्रहत्वमेवेति धर्मकीर्तिनोक्तं दूषणमसंगतं गम्यमानः प्राह।

यहां धर्मकीर्ति नामक बौद्धगुरु कहते हैं कि प्रतिज्ञाका कथन कर देनेसे ही असाधनांगका वादीद्वारा कथन हो जाने करके वादीके निग्रह प्राप्त हो जानेपर पुनः उसके ऊपर प्रतिज्ञाविरुद्ध दोष उठाना तो उचित नहीं है। अतः प्रतिज्ञाविरोधको निग्रहस्थान नहीं मानना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि प्रतिज्ञाविरोधके ऊपर धर्मकीर्ति द्वारा कहा गया यह दूषण असंगत है। इस बातको समझाते हुये ग्रन्थकार स्वयं भले प्रकार स्पष्ट कहते हैं।

प्रतिज्ञावचनेनैव निगृहीतस्य वादिनः।
न प्रतिज्ञाविरोधस्य निग्रहत्वमितीतरे॥ १६९॥
तेषामनेकदोषस्य साधनस्याभिभाषणे।
परेणैकस्य दोषस्य कथनं निग्रहो यथा॥ १७०॥
तथान्यस्यात्र तेनैव कथनं तस्य निग्रहः।
किं नेष्टो वादिनोरेवं युगपन्निग्रहस्तव॥ १७१॥

प्रतिज्ञाके वचन करके ही निग्रहस्थानको प्राप्त हो चुके वादीके ऊपर पुनः प्रतिज्ञाविरोधका निग्रहस्थानपना ठीक नहीं है। अर्थात्—हम बौद्धोंके यहां साध्यको नहीं साधनेवाले अंगोंका वादीद्वारा कथन करना वादीका असाधनांग वचन नामक निग्रहस्थान हो जाता माना गया है। हमारे यहां समर्थन युक्त हेतुका निरूपण कर देना ही साध्यका साधक अंग माना गया है। प्रतिज्ञाका कथन करना, दृष्टान्तका निरूपण करना ये सब असाधन अंगोंका कथन है। अतः वादी जब शब्द अनित्य है, ऐसी प्रतिज्ञा बोल रहा है, एतावता ही वादीका निग्रह हो चुका तो पुनः उसके ऊपर दूसरा निग्रहस्थान उठाना मरे हुये को पुनः मारनेके समान ठीक नहीं है। अतः प्रतिज्ञाविरोध नामका कोई निग्रहस्थान नहीं है। इस प्रकार कोई दूसरे धर्मकीर्ति आदि बौद्ध विद्वान् कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि उन बौद्धोंके यहां अनेक दोषवाले साधनका कथन करनेपर वादीका दूसरे प्रतिवादीकरके जैसे एक दोषका कथन कर देना ही निग्रहस्थान है, तिस ही प्रकार यहां भी उस ही वादीकरके साधनके अंगोंसे भिन्न अंगका कथन करना उस वादीका निग्रह क्यों नहीं इष्ट कर लिया जाय ? । भावार्थ—वादीके ऊपर प्रतिवादी द्वारा दोषोंका नहीं उठाया जाना प्रतिवादीका अदोषोद्भावन निग्रहस्थान है। वादीने यदि व्यभिचार, असिद्ध, बाधित, सत्प्रतिपक्ष इन कई दोषोंसे युक्त अनुमानका प्रयोग किया कि आकाश गन्धवान् है (प्रतिज्ञा), स्नेहगुण

होनेसे (हेतु) यहां प्रतिवादी यदि एक ही बाधित या असिद्ध किसी दोषको उठा देता है, तो प्रतिवादीका निग्रह है। अर्थात् प्रतिवादीको सभी दोष उठाने चाहिये। उसी प्रकार वादीके ऊपर एकके सिवाय अन्य निग्रहस्थानोंका उत्थापन करना समुचित है। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार होनेपर तुम्हारे यहां वादी या प्रतिवादी दोनोंका एक ही समयमें निग्रह हो जावेगा। क्योंकि वादी तो असाधनके अंगोंका कथन कर रहा है। और प्रतिवादी अपने कर्तव्यरूपसे माने गये सम्पूर्ण दोष उत्थापनके करनेमें प्रमादी हो रहा है। अतः धर्मकीर्ति महाशयका विचार धर्मपूर्वक यशको बढानेवाला नहीं है।

साधनावयवस्यापि कस्यचिद्वचने सकृत्।
जयोस्तु वादिनोन्यस्यावचने च पराजयः ॥ १७२ ॥

किसी भी एक साधनके अवयवका कथन करनेपर एक ही समयमें वादीका जय और अन्य (दूसरे) साधन अवयवका नहीं कथन करनेपर वादीका पराजय हो जाना चाहिये। अर्थात्—किसी स्थलमें साधनके अवयव यदि कई हैं, और वादीने यदि एक ही साधनांगका निरूपण किया है, और दूसरे साधनांगोंका कथन नहीं किया है। ऐसी दशामें साधनाङ्गके कहने और साधनाङ्गके नहीं कहनेसे वादीका एक साथ जय और पराजय प्राप्त हो जानेका प्रसंग आजावेगा।

प्रतिपक्षाविनाभाविदोषस्योद्भावने यदि।
वादिनि न्यक्कृतेन्यस्य कथं नास्य विनिग्रहः ॥ १७३ ॥
तदा साध्याविनाभावि साधनावयवेरणे।
तस्यैव शक्त्युभयाकारेन्यस्यवाक् च पराजयः ॥ १७४ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि प्रतिकूल पक्षके अविनाभावी दोषका प्रतिवादी द्वारा उत्थापन हो जानेपर वादीका तिरस्कार हो जाता है, तब तो हम कहते हैं कि साध्यके साथ अविनाभाव रखनेवाले साधनरूप अवयवका कथन करनेपर वादी द्वारा इस अन्य प्रतिवादीका विशेष रूपसे निग्रह क्यों नहीं हो जावेगा ? जब कि उस साध्याविनाभावी हेतुके कथन करनेसे ही दूसरे प्रतिवादीका पराजय हो जाता है। इस कारिकाका उत्तरार्ध कुछ अशुद्ध प्रतीत होता है। विद्वान् जन समझकर व्याख्यान करलेवें।

विरुद्धोद्भावनं हेतोः प्रतिपक्षप्रसाधनं।
यथा तथाविनाभाविहेतूक्तिः स्वार्थसाधना ॥ १७५ ॥

साधनावयवोनेकः प्रयोक्तव्यो यथापरः।
तथा दोषोपि किं न स्यादुद्भाव्यस्तत्र तत्त्वतः ॥ १७६ ॥
तस्मात्प्रयुज्यमानस्य गम्यमानस्य वा स्वयं।
संगरस्याव्यवस्थानं कथाविच्छेदमात्रकृत् ॥ १७७ ॥

जिस प्रकार कि वादीके हेतुका विरुद्ध दोष उठा देना प्रतिवादीके पक्षकी अच्छी सिद्धि हो जाना है, उसी प्रकार वादी द्वारा अविनाभावी हेतुका कथन करदेना वादीके स्वार्थकी सिद्धि हो जाना है। जिस प्रकार कि वादीद्वारा साधनके अनेक दूसरे अवयवोंका प्रयोग करना उचित है, उसी प्रकार प्रतिवादी द्वारा वास्तविक रूपसे अनेक दोषोंका उत्थापन करना भी समुचित क्यों नहीं होगा ? तिस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि चाहे प्रतिज्ञा स्वयं कंठोक्त प्रयुक्त की जा रही होय अथवा बौद्धोंके यहां विना कहे यों ही (अर्थापत्ति द्वारा) जान की गयी होय, उस प्रतिज्ञाकी जो उक्त तीन निग्रहस्थानोंद्वारा व्यवस्था नहीं होने देना है। वह केवल निग्रहस्थान देकर वादमें विघ्न डाल देना मात्र है। यों केवल कथाका विच्छेद कर देनेसे प्रतिवादीद्वारा वादीका पराजय होना सम्भव नहीं है।

संगरः प्रतिज्ञा तस्य वादिना प्रयुज्यमानस्य पक्षधर्मोपसंहारवचनसामर्थ्याद्गम्यमानस्य वा यदव्यवस्थानं स्वदृष्टांते प्रतिदृष्टांतधर्मानुज्ञानात् प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधेन धर्मविकल्पात् तदर्थनिर्देशाद्वा प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधाद् प्रतिज्ञाविरोधाद्वा प्रतिवादिनापचेत तत्कथाविच्छेदमात्रं करोति न पुनः पराजयं वादिनः स्वपक्षस्य प्रतिवादिनावश्यं साधनीयत्वादिति न्यायं बुध्यामहे।

कोषके अनुसार संगरका अर्थ प्रतिज्ञा है। उस प्रतिज्ञा वचन नामक संगरका वादीकरके कंठोक्त प्रयोग किया जा रहा होय, अथवा पक्षमें हेतुरूप धर्मके उपसंहार (घेर देना जैसे बाडेमें पशुओंको घेर दिया जाता है) करनेके कथनकी सामर्थ्यसे अर्थापत्तिद्वारा यों विना कहे उसको जान लिया गया होय, ऐसी प्रतिज्ञाकी जो ठीक ठीक व्यवस्था नहीं होने देना है, वह केवल छेडी हुई वाद कथाका अवसान कर देना है। इसमें रहस्य कुछ नहीं है। भले ही स्वकीय दृष्टान्त में वादीद्वारा प्रतिवादीके प्रतिकूल दृष्टान्तके धर्मकी स्वीकारता करनारूप प्रतिज्ञाहानिसे प्रतिज्ञाकी अव्यवस्था कर दो और चाहे प्रतिज्ञात अर्थका निषेध कर धर्मान्तरके विकल्पसे उस प्रतिज्ञातार्थका निर्देश करना स्वरूप दूसरे प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थानसे वादीकी प्रतिज्ञाका अव्यवस्थान कर दो, अथवा प्रतिज्ञा और हेतुके विरोधस्वरूप तीसरे प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थानसे प्रतिवादी द्वारा वादीके

प्रतिज्ञावाक्यकी अव्यवस्था कर दी जाय। वह तीनों प्रकारसे आपादन करना केवल कथाके विच्छेदको करता है। एतावता पुनः वादीका पराजय नहीं हो जाता है। क्योंकि प्रतिवादीको जय प्राप्त करनेके लिये अपने पक्षका साधन करना अत्यावश्यक है। हम तो इसी सिद्धान्तको न्यायस्वरूप समझ रहे हैं। भावार्थ—चातुर्य, छल, प्रतिभा, आदिक दुर्गुण, सद्गुणोंसे परिपूर्ण हो रहे जगत्में अनेकान्तोंको धारनेवाली वस्तुकी सामर्थ्यसे चाहे जो कोई चाहे जिस किसी प्रतिज्ञाका खण्डन कर सकता है। कोई हितोपदेशी यदि शिष्यके प्रति ज्ञान सम्पादन करनेको साध रहा है तो " मूर्खः सुखी जीवति " इस सिद्धान्तकी पुष्टि कर पूर्व प्रतिज्ञाकी हानि करायी जा सकती है। धन उपार्जन करना चाहिये इस प्रतिज्ञाका " नंगा सोवे चौडेमें, धनके सैकडों शत्रु हैं " आदि वाक्यों द्वारा विरोध किया जा सकता है। " धर्मः सेव्यः " इस पक्षका आज कल जो अधिक धर्म सेवन करता है, वह दुःखी रहता है, आदि कुयुक्तिपूर्ण वाक्यों द्वारा प्रत्याख्यान किया जा सकता है। विवाहित पुरुषोंकी अपेक्षा क्वारे पुरुष निश्चिन्त होकर आनन्दमें रहते हैं, क्वारोंकी अपेक्षा विवाहित पुरुष भोग उपभोगमें लीन रहते हैं। अभिमानसे भरपूर हो रही सासु बार बार जलका आदर कर रही पुत्रवधू पर क्रुद्ध भी हो सकती है, चाहे तो प्रेम भी कर सकती है। इत्यादिक अनेक लौकिक विषय भी अपेक्षाओंसे सिद्ध हो सकते हैं। फिर भी प्रतिस्पर्धा रखनेवाले वादी प्रतिवादी, एक दूसरेकी प्रतिज्ञाका खण्डन कर देते हैं। तथा आपेक्षिक प्रतिकूल सिद्धान्तको पूर्वपक्षवाला कदाचित् स्वीकार भी करलेता है। किन्तु इतनेसे ही भले मानुष वादीका पराजय नहीं हो जाता है। तथा केवल चोद्य उठा कर कुछ बातको स्वीकार करा लेनेसे ही प्रतिवादी जीतको नहीं लूट सकता है। हां, प्रतिवादी यदि अपने पक्षको परिपूर्ण रूपसे सिद्ध कर दे तो जयी हो सकता है। यही न्यायमार्ग है।

प्रतिज्ञावचनं तु कथाविच्छेदमात्रमपि न प्रयोजयति तस्यासाधनांगत्वाव्यवस्थितेः पक्षधर्मोपसंहारवचनादिवदित्युक्तं प्राक्। केवलं स्वदर्शनानुरागमात्रेण प्रतिज्ञावचनस्य निग्रहस्थानत्वेनोद्भावनेपि सौगतैः प्रतिज्ञाविरोधादिदोषोद्भावनं नानवसरमनुमंतव्यं, अनेकसाधनवचनवदनेकदूषणवचनस्यापि विरोधाभावात् सर्वथा विशेषाभावादिति विचारितमस्माभिः।

बौद्धोंने जो यह कहा था कि अर्थ या प्रकरणसे ही जो प्रतिज्ञा जानी जा सकती थी, उस प्रतिज्ञाको कंठोक्त व्यर्थ कहना वादीका निग्रहस्थान है। इसपर हमारा यह कहना है कि प्रतिज्ञाका वचन तो कथाके विच्छेदमात्रका भी प्रयोजक नहीं है। अर्थात्—प्रतिवादी तो ऐसी चेष्टा कर रहा है कि जिससे कथाका विच्छेद होकर वादका अन्त हो जाय और मैं सेंतमेंतमें जयको लूटता हुआ झुक कर कुप्पा होके लब्धप्रतिष्ठ हो जाऊं। किन्तु वादी कंठोक्त प्रतिज्ञा वाक्यको बोलता हुआ कथाका विच्छेद नहीं कर रहा है। क्योंकि वह प्रतिज्ञाका वचन साध्यसिद्धिका अंग नहीं। यह

बौद्धोंका मन्तव्य प्रमाणोंसे व्यवस्थित नहीं हो सका है। स्वयं बौद्धोंने सत्त्व हेतुसे शद्बका क्षणिकपना सिद्ध करते समय " संश्च शद्बः " ऐसा पक्षमें हेतुधर्मका उपसंहार कहा है। जो कि उपनय वाक्य विना कहे भी प्रकरण द्वारा जाना जा सकता था। कहीं निगमन भी कहा है। जो कि प्रतिज्ञावाक्यकी उपयोगिताको साध देता है, इस बातको हम विशदरूपसे पूर्व ग्रन्थमें कह चुके हैं। यहां हमको केवल इतना ही निर्णय करना है कि अपने बौद्धदर्शनकी कोरी श्रद्धामात्रसे बौद्धों करके वादीके ऊपर प्रतिज्ञाकथनका निग्रहस्थानपने करके उत्थापन करनेपर भी पुनः प्रतिज्ञाविरोध, व्यभिचार, विरुद्ध, आदि दोषोंका उठाया जाना असमय (बेमौके) का नहीं मानना चाहिये। विचारने पर यही प्रतीत होता है कि अनेक साधनोंके वचन समान अनेक दूषणोंके कथन करनेका भी कोई विरोध नहीं है। अर्थात्—जैसे प्रतिपाद्यको समझानेके अनेक हेतुओंद्वारा साध्यको साधा जाता है, उसी प्रकार दूसरेके पक्षको अधिक निर्बल बनानेके लिये अनेक दोषोंका प्रयोग भी किया जा सकता है। यहां साधन और दूषण देनेमें अनेक सहारोंके लेनेकी अपेक्षा सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है। इस बातका हमने पहिले अन्यत्र ग्रन्थमें बहुत विस्तृत विचार कर दिया है।

सम्प्रति प्रतिज्ञासंन्यासं विचारयितुमुपक्रममाह।

अब नैयायिकोंके चौथे प्रतिज्ञासन्न्यास नामक निग्रहस्थानका विचार करनेके लिये श्री विद्यानन्द आचार्य उपायपूर्वक प्रक्रमको वार्तिकद्वारा कहते हैं।

प्रतिज्ञार्थापनयनं पक्षस्य प्रतिषेधने।
न प्रतिज्ञानसंन्यासः प्रतिज्ञाहानितः पृथक् ॥ १७८ ॥

वादीके पक्षका दूसरे प्रतिवादीद्वारा प्रतिषेध किये जानेपर यदि वादी उसके परिहारकी इच्छासे अपने प्रतिज्ञा किये गये अर्थका निन्हव (छिपाना) करता है, वह वादीका " प्रतिज्ञासंन्यास" नामक निग्रहस्थान है। आचार्य कहते हैं कि यह चौथा प्रतिज्ञासंन्यास तो पहिले "प्रतिज्ञाहानि" निग्रहस्थानसे पृथक् नहीं मानना चाहिये। यों निग्रहस्थानोंकी संख्या बढाकर व्यर्थमें नैयायिकोंका घटाटोप बांधना भेदकतावच्छेदकावच्छिन्न और अभेदकतावच्छेदकावच्छिन्न विषयमें स्वकीय अज्ञानताको दिखलाना है।

ननु " पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः " इति सूत्रकारवचनात् यः प्रतिज्ञातमर्थं पक्षप्रतिषेधे कृते परित्यजति स प्रतिज्ञासंन्यासो वेदितव्यः उदाहरणं पूर्ववत्। एतत्साधनस्य सामान्येनैकान्तिकत्वाद्धेतोः कृते ब्रूयादेक एव महानित्य शब्द इति। एतत्साधनस्य सामसामान्येनैकांतिकत्वाद्धेतोः कृते ब्रूयादेक एव महान्नित्य शब्द इति। एतत्साधनस्य प्रतिज्ञार्थापरिच्छेदाद्विप्रतिपत्तितो निग्रहस्थानमित्युद्योतकरवचनाच्च प्रतिज्ञासंन्यासस्तस्य प्रतिज्ञाहानेर्भेद एवेति मन्यमानं प्रत्याह।

नैयायिक अपने पक्षका अवधारण करते हैं कि पक्षका प्रतिषेध करनेपर प्रतिज्ञात अर्थका वादी द्वारा हटाया जाना वादीका प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान है। इस प्रकार न्यायदर्शनके सूत्रोंको बनानेवाले गौतमऋषिने " न्यायदर्शन " के पांचवे अध्यायके पांचवे सूत्र द्वारा कहा है। इसका अर्थ यों है कि जो प्रतिवादी द्वारा पक्षका निषेध करनेपर उस पक्षको परित्याग कर देता है, वह प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थानसे सहित समझलेना चाहिये। इसका उदाहरण पूर्वके समान ही है। जैसे कि शब्द अनित्य है, ऐंद्रियिक होनेसे घटके समान, यों वादीके कह चुकने पश्चात् प्रतिवादी द्वारा नित्य सामान्य करके वादीके ऐन्द्रियिकत्व हेतुका व्यभिचारीपना कर देनेपर पुनः वादी अपने पक्षका परित्याग कर यों कह देवेगा कि अच्छी बात है कि मीमांसकोंके मन्तव्य समान एक ही महान्, व्यापक, शब्द नित्य हो जाओ। यहां हेतुकी सामार्थ्यका ज्ञान नहीं होनेसे और निग्रहस्थानकी प्रयोजक विविधप्रतिपत्ति या विरुद्धप्रतिपत्ति हो जानेसे यह चौथा निग्रहस्थान प्रतिज्ञासंन्यास है। उद्योतकर पण्डितका वचन भी इसी प्रकार है। उस चौथे निग्रहस्थानका प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थानसे भेद ही है। इस प्रकार मान रहे नैयायिकके प्रति आचार्य महाराज समाधान करते हुये कहते हैं।

एक एव महान्नित्यः शब्द इत्यपनीयते।
प्रतिज्ञार्थः किलानेन पूर्ववत्पक्षदूषणे ॥ १७९ ॥
हेतोरैंद्रियकत्वस्य व्यभिचारप्रदर्शनात्।
तथा चापनयो हानिः संधाया इति नार्थभित् ॥ १८० ॥

पूर्व उदाहरणके समान वादीके ऐन्द्रियिकत्व हेतुका प्रतिवादी द्वारा व्यभिचार प्रदर्शन करानेसे वादीके पक्षका दूषण हो जानेपर इस वादी करके एक ही महान् शब्द नित्य हो जाओ, इस प्रकार अपना पूर्व प्रतिज्ञात अर्थ दूर कर दिया गया है। यह सम्भाव्य है और तिस प्रकार होनेपर प्रतिज्ञात अर्थका अपनय यानी हानि ही हुई इस कारण प्रतिज्ञाकी हानि और प्रतिज्ञाके संन्यास इनमें कोई अर्थका भेद नहीं है। अभिप्राय एक ही है।

प्रतिज्ञाहानिरेवैतैः प्रकारैर्यदि कथ्यते।
प्रकारांतरतोपीयं तदा किं न प्रकथ्यते ॥ १८१ ॥
तन्निमित्तप्रकाराणां नियमाभावतः क नु।
यथोक्ता नियतिस्तेषा नासोपज्ञं वचस्ततः ॥ १८२ ॥

आप नैयायिक यदि प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, इन भिन्न भिन्न प्रकारों करके प्रतिज्ञाहानिको कह रहे हैं, जो कि प्रकार तुम्हारे यहां भिन्न भिन्न निग्रहस्थानोंके प्रयोजक हैं, तब तो हम तुमसे पूंछते हैं कि यह प्रतिज्ञाहानि अन्य दूसरे प्रकारोंसे भी क्यों नहीं भले प्रकार कह दी जाती है। क्योंकि उस प्रतिज्ञाहानिके निमित्त हो रहे प्रकारोंका कोई नियम नहीं है। दृष्टान्तकी हानिसे, उपनयकी हानिसे, मूर्खतासे, विक्षिप्ततासे, राजनीतिकी चालाकीसे आदि प्रकारोंसे भी प्रतिज्ञाकी हानि करायी जा सकती है। उन प्रकारोंकी इयत्ता नियत नहीं है। ऐसी दशामें उन निग्रहस्थानोंकी आपके द्वारा कही गयी बाईस या चौबीस संख्याका नियत परिमाण कहां रहा ? यों छोटे छोटे अनेक प्रकारोंके भेदसे तो पचासों निग्रहस्थान मानकर भी संख्याकी पूर्णता नहीं हो सकती है। तिस कारणसे उन नैयायिकोंके वचन आप्तद्वारा ज्ञात होकर कहे गये नहीं हैं। जिस दर्शनका सर्वज्ञकरके आप्तज्ञान होकर उपदेश दिया जाता है, वे वचन आप्तोपज्ञ हैं, अन्य नहीं।

पक्षस्य प्रतिषेधे हि तूष्णींभावो धरेक्षणं।
व्योमेक्षणं दिगालोकः खात्कृतं चपलायितम् ॥ १८३ ॥
हस्तास्फालनमाकंपः प्रस्वेदाद्यप्यनेकधा।
निग्रहांतरमस्यास्तु तत्प्रतिज्ञांतरादिवत् ॥ १८४ ॥

देखिये प्रतिज्ञाकी हानि करनेके ये अन्य भी अनेक प्रकार हैं। प्रतिवादी द्वारा वादीके पक्षका नियमसे प्रतिषेध कर देनेपर वादीका चुप रह जाना या पृथ्वीको देखने लग जाना, ऊपर आकाश को देखते रहना, इधर उधर पूर्व आदि दिशाओंका अवलोकन करना, खकारना, भागने दौडने लग जाना अथवा बकवाद करना, कषायपूर्वक उद्वेगमें आकर हाथोंको फटकारना, शरीरका चारों ओरसे कम्प होना, पसीना आजाना, व्यर्थ गाने लग जाना, चंचल चेष्टा करने लग जाना, बच्चोंको खिलाने लग जाना, अन्य कार्योंमें व्यग्र हो जाना आदिक अनेक प्रकारके अन्य निग्रहस्थान इस नैयायिकके यहां बन बैठेंगे। जैसे कि स्वल्पभेदके ही कारण उन प्रतिज्ञाहानिसे न्यारे प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञासंन्यास आदिको मान लिया गया है। यदि भूमिके देखने आदि प्रकारोंको नियत निग्रहस्थानोंमें गर्भित करोगे तो प्रतिज्ञासंन्यासको भी प्रतिज्ञाहानिमें गर्भित कर लेना चाहिये। अतिरिक्त निग्रहस्थानोंका व्यर्थमें बोझ बढाना अनुचित है।

हेत्वंतरं विचारयन्नाह।

पांचमे हेत्वन्तर नामके निग्रहस्थानका विचार करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिकोंका प्रतिपादन करते हैं।

अविशेषोदिते हेतौ प्रतिषिद्धे प्रवादिना ।
विशेषमिच्छतः प्रोक्तं हेत्वंतरमपीह यत् ॥ १८५ ॥
तदेवमेव संभाव्यं नान्यथेति न निश्चयः ।
परस्मिन्नपि हेतौ स्यादुक्ते हेत्वंतरं यथा ॥ १८६ ॥
यथा च प्रकृते हेतौ दोषवत्यपि दर्शिते ।
परस्य वचनं हेतोर्हेत्वंतरमुदाहृतम् ॥ १८७ ॥
तथा निदर्शनादौ च दृष्टांताद्यंतरं न किम् ।
निग्रहस्थानमास्थेयं व्यवस्थाप्यातिनिश्चितम् ॥ १८८ ॥

न्याय दर्शनके अनुसार इस प्रकरणमें हेत्वन्तरका लक्षण यों बढिया कहा गया है कि वादीके द्वारा विशेषोंकी अपेक्षा नहीं कर सामान्यरूपसे हेतुका कथन करदेने पर पुनः प्रतिवादी करके वादीके हेतुका प्रतिषेध हो चुकनेपर विशेष अंश या हेतुमें कुछ विशेषण लगा देनेकी इच्छा रखनेवाले वादीका हेत्वन्तर निग्रहस्थान हुआ बताया गया है। इसपर आचार्य महाराजका यह कहना है कि यहां नैयायिकोंने जो हेत्वन्तर निग्रहस्थान माना है, वह इस ही प्रकारसे सम्भवता है। सूत्रोक्त लक्षणसे अन्य प्रकारों करके हेत्वन्तर नहीं सम्भवता है, ऐसा निश्चय करना ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार नैयायिकोंके यहां विशेषणसहित दूसरे भी हेतुके कह देनेपर हेत्वन्तर निग्रहस्थान हो जाना कहा गया है, और जिस प्रकार वादीके प्रकरणप्राप्त हेतुको दोषयुक्त भी प्रतिवादी द्वारा दिखला देनेपर दूसरे नवीन हेतुका कथन करना वादीका हेत्वन्तर निग्रहस्थान कहा गया है, उसी प्रकार वादी करके प्रकृत साध्यको साधनेके लिये दृष्टान्त, उपनय, निगमन कहे गये पुनः प्रतिवादीने उन दृष्टान्त आदिको दोषयुक्त कर दिया, वादीने पश्चात् अधिक निश्चित किये गये दृष्टान्त आदिकोंको व्यवस्थापित कर कह दिया, ऐसी दशामें हेत्वन्तरके समान दृष्टान्तान्तर, निगमनान्तर आदिको न्यारा निग्रहस्थान क्यों नहीं श्रद्धान कर लिया जावे? बात यह है कि कभी कोई बात सामान्य रूपसे भी कही जाती है। वहां सुननेवालोंमेंसे कोई लघुपुरुष कुचोद्य उठा देता है। और दूसरे गंभीर पुरुष विशेष अंशोंकी कल्पना करते हुये वक्ताके यथार्थ अभिप्रायको समझ लेते हैं। गृह अधिपतिने भृत्यको आज्ञा दी कि अमुक अतिथिको भोजन करा दो, चतुर सेवक तो अतिथिके स्नान, दन्तधावन, भोजन, दुग्धपान, शयन आदि सबका प्रबन्ध कर देता है। किन्तु अज्ञ नौकर तो अतिथिको केवल भोजन करा देगा। जलपान, दुग्धपान भी नहीं करायेगा। वक्ताके अभिप्रायका श्रोताको सर्वथा लक्ष्य रखना चाहिये, तभी तो अत्यल्प संख्यात शद्ब ही असंख्यात,

अनन्त प्रमेयका क्षयोपशम अनुसार प्रबोध करा देते हैं। नैयायिकोंने हेत्वन्तरका उदाहरण यों दिया है कि यह सम्पूर्ण जगत् (पक्ष) मूलमें एक त्रिगुणात्मक प्रकृतिको कारण मानकर प्रकट हुआ है (साध्य) क्योंकि घट, पट, आदि विकारोंका परिणाम देखा जाता है (हेतु)। इस प्रकार कपिल मतानुसार वादीके कहनेपर प्रतिवादी द्वारा नाना प्रकृतिवाले विवर्तोंसे व्यभिचार दिखाकर प्रत्यवस्थान दिया गया। इस दशामें वादीद्वारा एक प्रकृतिके साथ समन्वय रखते हुये यदि इतना हेतुका विशेषण दे दिया जाय तो वादीका हेत्वन्तर निग्रहस्थान है। अथवा प्रकृत उदाहरणमें शब्द अनित्य है, (प्रतिज्ञा) बाह्य इन्द्रियोंसे जन्य प्रत्यक्षज्ञानका विषय होनेसे (हेतु), यहां किसी प्रतिवादीने सामान्यकरके व्यभिचार दिया। क्योंकि बहिरिन्द्रिय ग्राह्य पदार्थोंमें ठहरनेवाली, नित्य, व्यापक, जाति भी उन्हीं बहिरंग इन्द्रियोंसे जान ली जाती है, ऐसा प्रतिवादीने मान रक्खा है। ऐसी दशामें वादी हेतुका सामान्यसे सहित होते हुये इतना विशेषण लगा देवें। क्योंकि सामान्यमें पुनः दूसरा सामान्य रहता नहीं है। अतः सामान्यवान् सामान्य नहीं, यों सामान्यकरके हुआ व्यभिचार टल जाता है, तो वादीका हेत्वन्तर निग्रहस्थान मान लिया जाता है। इसमें आचार्योंका यह कहना है कि हेतुकी त्रुटि होनेपर जैसे विशेषण लगाकर या अन्य हेतुका प्रयोग कर देनेपर हेत्वन्तर हो जाता है, उसी प्रकार जो जो बाह्य इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्षका विषय है, वह वह अनित्य है। वादीके इस प्रकार उदाहरणमें भी न्यूनता दिखलायी जा सकती है। बाह्य इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षका विषय शब्द है। उस उपनयमें भी प्रतिवादी द्वारा त्रुटि कही जा सकती है। अतः ये भी न्यारे न्यारे निग्रहस्थान या हेत्वन्तरके प्रकार मानने पडेंगे।

यदि हेत्वंतरेणैव निगृहीतस्य वादिनः।
दृष्टांताद्यंतरं तस्यात्कथायां विनिवर्तनात् ॥ १८९ ॥
तदानैकांतिकत्वादिहेतुदोषेण निर्जिते।
मा भूद्धेत्वंतरं तस्य तत एवाविशेषतः ॥ १९० ॥
यथा चोद्भाविते दोषे हेतोर्यद्वा विशेषणं।
ब्रूयात्कश्चित्तथा दृष्टांतादेरपि जिगीषया ॥ १९१ ॥

यदि आप नैयायिक यों कहें कि अकेले हेत्वन्तरकरके ही निग्रहको प्राप्त हो चुके वादीके ऊपर पुनः दृष्टान्तांतर आदिका उठाना तो उतनेसे ही हो जायगा। तिस कारण वाद कथामें उनकी विशेषरूपसे निवृत्ति कर दी गयी है। तब तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारण प्रतिवादीद्वारा अनेकान्तिकपन, विरोध, असिद्धि, आदिक हेतुके दोषोंके उठा देनेसे ही वादीके

पराजित हो जानेपर पुनः हेत्वन्तर भी नहीं उठाया जाओ। क्योंकि उस हेत्वन्तरका उन दृष्टान्तान्तर आदिकोंसे कोई विशेष नहीं है। दूसरी बात यह है कि दोषके उत्थान कर चुकनेपर कोई कोई वादी हेतुके विशेषणको व्यक्त कह देवेगा, उसी प्रकार दृष्टान्त आदिके दोष उठानेकी इच्छासे दृष्टांत आदिके विशेषणोंको भी प्रकट कह देगा। अतः दृष्टान्तान्तर आदि भी तुमको न्यारे निग्रहस्थान मानने पड़ेंगे।

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वंतरमिति सूत्रकारवचनात् द्वित्वव-न्निग्रहस्थानं साधनांतरोपादाने पूर्वस्यासामर्थ्यख्यापनात्। सामर्थ्ये वा पूर्वस्य हेत्वंतरं व्यर्थमित्युद्योतकरो व्याचक्षाणो गतानुगतिकतामात्मसात्कुरुते प्रकारांतरेणापि हेत्वंतरवच-नदर्शनात्। तथा अविशेषोक्ते दृष्टांतोपनयनिगमने प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो दृष्टांताद्यंतरो-पादाने पूर्वस्यासामर्थ्यख्यापनात्। सामर्थ्ये वा पूर्वस्य प्रतिदृष्टांताद्यंतरं व्यर्थमिति वक्तुं शक्यत्वात्। अत्राक्षेपसमाधानानां समानत्वात्।

विशेषोंका लक्ष्य नहीं रख सामान्य रूपसे हेतुके कह चुकनेपर पुनः प्रतिवादी द्वारा हेतुके प्रतिषिद्ध हो जानेपर विशेष अंशको विवक्षित कर रहे वादीका हेत्वन्तर निग्रहस्थान हो जाता है। इस प्रकार " न्यायसूत्र " कार गौतमऋषिका वचन है। यहां उसी हेतुमें अन्य विशेषणका प्रक्षेप कर देनेसे अथवा अन्य नवीन हेतुका प्रयोग करदेनेसे दोनों भी हेत्वंतर निग्रहस्थान कहे जाते हैं। उद्योतकर पण्डितका यह अभिप्राय है कि अन्य साधनका ग्रहण करनेपर वादीके पूर्व हेतुकी असामर्थ्य प्रकट हो जाती है। अतः वादीका निग्रह हो जाता है। यदि वादीका पूर्वकथित हेतु समर्थ होता तो वादीका अन्य ज्ञापक हेतु उठाना व्यर्थ है। आचार्य कहते हैं कि वादीका यदि पहला हेतु अपने साध्यको साधनेमें समर्थ था तो वादीने दूसरा हेतु व्यर्थमें क्यों पकड़ा ? इस प्रकार व्याख्यान कर रहा उद्योतकर तो गतानुगतिकपनेको अपने अधीन कर रहा है। अर्थात्— बापका कुआं समझकर दिन रात उसी कुएका खारा पानी पीते रहना अथवा लोटा डुबकानेके लिये एक रेतकी ढेरी बनानेपर सैकड़ों मूढ गंगा यात्रियों द्वारा धर्मान्ध होकर अनेक ढेरी बना देना जैसे विचार नहीं कर कोरा गमन करनेवालेके पीछे गमन करना है, उसी प्रकार अक्षपादके कहे अनुसार भाष्यकारने वैसाका वैसा कह दिया और उद्योतकरने भी वैसा ही आलाप गा दिया, परीक्षा प्रधानियोंको युक्तियोंके विना यों ही अन्धश्रद्धा करते हुये तत्त्वनिरूपण करना अनुचित है। क्योंकि अन्य प्रकारोंकरके भी हेत्वन्तरका वचन देखा जाता है। तिसी प्रकार (हेत्वन्तरके समान) वादी द्वारा अविशेषरूपसे दृष्टान्त, उपनय और निगमनके कथन करनेपर प्रतिवादी द्वारा उनका प्रतिषेध किया जा चुका। पुनः दृष्टान्त आदिमें विशेषणोंकी इच्छा रखनेवाले वादीके द्वारा अन्य दृष्टान्त, दूसरे उपनय आदिका ग्रहण करनेपर पूर्वके दृष्टान्त आदिकोंकी असामर्थ्यको प्रकट करदेनेसे

वादीका निग्रहस्थान हो जावेगा। अथवा पूर्वकथित दृष्टान्त आदिकी योग्य सामर्थ्य होनेपर पुनः वादी द्वारा प्रतिदृष्टान्त, प्रत्युपनय आदिक उच्चारण करना व्यर्थ है, यह भी कहा जा सकता है। इसमें नैयायिक यदि आक्षेप करेंगे तो हम भी उनके हेत्वान्तरपर आक्षेप उठा देंगे तथा हेत्वन्तर निग्रहस्थानकी रक्षा करनेके लिये नैयायिक जो समाधान करेंगे तो दृष्टान्तान्तर, उपनयान्तर, आदि न्यारे निग्रहस्थानोंका आपादन करनेके लिये हम भी वही समाधान कर देवेंगे। उनके और हमारे आक्षेप समाधानोंकी समानता है।

यदप्युपादेशि प्रकृतादर्थादप्रतिसंबद्धार्थमर्थांतरमभ्युपगमार्थासंगतत्वान्निग्रहस्थानमिति तदपि विचारयति।

और भी जो न्यायदर्शनमें गौतम ऋषिने छटे " अर्थान्तर " निग्रहस्थानका लक्षण करते हुये उपदेश दिया था कि प्रकरण उपयोगी अर्थसे असम्बद्ध अर्थका कथन करना अर्थान्तर नामका निग्रहस्थान है। अर्थात्–" प्रासादात् प्रेक्षते " के समान ल्यप् प्रत्ययका लोप होनेपर यहां प्रकृतात् यह पंचमी विभक्तिवाला पद है। अतः प्रकरणप्राप्त अर्थकी उपेक्षा कर प्रकृतमें नहीं आकांक्षा किये गये अर्थका कथन करना अर्थान्तर है। यह स्वीकार किये गये अर्थकी असंगति हो जानेसे निग्रहस्थान माना गया है। इस प्रकार न्यायदर्शनकर्त्ताका उपदेश है। अब श्री विद्यानन्द आचार्य उसका भी वार्तिकों द्वारा विचार करते हैं।

प्रतिसंबंधशून्यानामर्थानामभिभाषणम्।
यत्पुनः प्रकृतादर्थादर्थांतरसमाश्रितम् ॥ १९२ ॥
क्वचित्किंचिदपि न्यस्य हेतुं तच्छद्वसाधने।
पदादिव्याकृतिं कुर्याद्यथानेकप्रकारतः ॥ १९३ ॥

जो फिर प्रकरणप्राप्त अर्थसे प्रतिकूल अनुपयोगी अन्य अर्थका आश्रय रखता हुआ निरूपण करना है, जो कि सन्मुख स्थित विद्वानोंके प्रति सम्बन्धसे शून्य हो रहे अर्थोंका प्ररूपण है, वह अर्थान्तर है। जैसे कि कहीं भी पक्षमें किसी भी साध्यको स्थापित कर वादी द्वारा विवक्षित हेतुको कहा गया, ऐसी दशामें वादी उस हेतु शद्बके सिद्ध करनेमें पद, कारक, धात्वर्थ, इत्यादिकका अनेक प्रकारोंसे व्युत्पादन करने लग जाय कि स्वादि गणकी " हि गतौ वृद्धौ च " धातुसे तुन् प्रत्यय करनेपर कृदन्तमें हेतु शद्ब निष्पन्न होता है। सुबन्त, तिङन्त, यों द्विविध पद होते हैं। उपसर्ग तो क्रियाके अर्थके द्योतक होते हैं। अकर्मक, सकर्मक यों दो प्रकारकी धातुऐं है, इत्यादि कई प्रकारोंसे अप्रकृत बातोंके निरूपण करनेवाले वादीका निरर्थक निग्रहस्थान हो जाता है। क्योंकि

वादी.प्रतिवादियोंको न्यायपूर्वक सार्थक प्रकृतोपयोगी वाक्य कहने चाहिये। इस प्रकार सामान्य विषयके होते हुये पक्ष और प्रतिपक्षके परिग्रह करनेमें हेतु द्वारा साध्यकी सिद्धि करना प्रकरण प्राप्त हो रहा है। ऐसी दशामें कोई वादी या प्रतिवादी प्रकृत हेतुका प्रमाणकी सामर्थ्यसे समर्थन करनेके लिये मैं असमर्थ हूं, ऐसा निश्चय रखता हुआ वादको नहीं छोडता हुआ प्रकृत अर्थको छोडकर अर्थांतर का कथन कर देता है कि शब्दको नित्यत्व साधनेमें अस्पर्शवत्त्व हेतु प्रयुक्त किया है। हेतु शब्द हिनोति धातुसे तु प्रत्यय करनेपर बनता है। स्वादिगणकी साधू धातुसे साध्य शब्द बनता है। इत्यादिक व्याख्यान करना अर्थान्तर निग्रहस्थान प्राप्त करादेनेका प्रयोजक है।

तत्रापि साधनेशक्ते प्रोक्तेर्थांतरवाक् कथम्।
निग्रहो दूषणे वापि लोकवद्विनियम्यते ॥ १९४ ॥
असमर्थे तु तत्र स्यात्कस्यचित्पक्षसाधने।
निग्रहोर्थांतरं वादे नान्यथेति विनिश्चयः ॥ १९५ ॥

उस अर्थान्तरनामक निग्रहस्थानके प्रकरणमें भी हमको नैयायिकोंके प्रति यह कहना है कि वादीके द्वारा साध्यको साधनेमें समर्थ हो रहे अच्छे प्रकार साधनके कह चुकनेपर पुनः वादी करके अप्रकृत बातोंका कहना वादीको अर्थान्तर निग्रहस्थानमें गिरानेके लिये उपयोगी होगा। अथवा क्या वादीके द्वारा साध्य सिद्धिके लिये असमर्थ हेतुका कथन कर चुकनेपर पुनः असम्बद्ध अर्थवाले वाक्योंके कहनेपर प्रतिवादीकरके वादीका अर्थान्तर निग्रहस्थान निरूपण किया जायगा ? बताओ। साथमें दूसरा विकल्प यों भी है कि वादीने पक्षका परिग्रह किया और प्रतिवादीने दूषण देकर असम्बन्ध वाक्योंको कहा, ऐसी दशामें वादीद्वारा प्रतिवादीके ऊपर अर्थान्तर निग्रहस्थान उठाया जाता है। यह प्रश्न है कि वादीके पक्षका खण्डन करनेमें समर्थ हो रहे दूषणके कह चुकनेपर प्रतिवादीके ऊपर वादी अर्थान्तर उठावेगा ? अथवा क्या वादीके पक्षका खण्डन करनेमें असमर्थ हो रहे दूषणके देनेपर पुनः प्रतिवादी यदि असंगत अर्थवाले वाक्योंको बोल रहा है। उस दशामें वादीकरके प्रतिवादीका निग्रहकर दिया गया माना जावेगा ? बताओ। पूर्वोक्त वादीद्वारा समर्थसाधन कहनेपर या प्रतिवादीद्वारा समर्थदूषण देदेनेपर तो निग्रहस्थान नहीं मिलना चाहिये। क्योंकि अपने कर्तव्य साध्यको भले प्रकार साधकर अप्रकृत वचन तो क्या यदि कोई नाचे तो भी कुछ दोष नहीं है। जैसे कि लोकमें अपने अपने कर्तव्यको साधकर चाहे कुछ भी कार्य किया जा सकता है। इसमें कोई दोष नहीं देता है। अतः लौकिक व्यवस्थाके अनुसार विशेषरूपसे नियम किया जाता है, तब तो अर्थान्तर निग्रहस्थान नहीं है। हां, वादी या प्रतिवादी द्वारा असमर्थ साधन या दूषणके कहनेपर तो किसीका भी वह निग्रहस्थान नहीं होगा। वादमें किसी भी एकके पक्षकी

सिद्धि हो जानेपर दूसरे असम्बद्धभाषीका अर्थान्तर निग्रहस्थान होगा। अन्य प्रकारोंसे निग्रहस्थान हो जानेकी व्यवस्था नहीं है। पहिले प्रकरणोंमें इसका विशेषरूपसे निश्चय कर दिया गया है।

निरर्थकं विचारयितुमारभते।

अब सातवें " निरर्थक " नामक निग्रहस्थानका विचार करनेके लिये श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज प्रारम्भ करते हैं।

वर्णक्रमस्य निर्देशो यथा तद्वन्निरर्थकं।
यथा जबझभेत्यादेः प्रत्याहारस्य कुत्रचित् ॥ १९६ ॥

क, ख, ग, घ आदि वर्णमालाके अक्षरोंके क्रमका निर्देश करना जिस प्रकार निरर्थक है, उसी प्रकार निरर्थक अक्षरोंका प्रयोग करनेसे प्रतिपादकका निरर्थक निग्रहस्थान हो जाता है। जैसे कि किसी एक स्थलपर शद्बकी नित्यता सिद्ध करनेके अवसरमें व्याकरणके " ज ब ग ड द श्, झ भ घ ढ ध ष्, यों अल्, हल्, जश् आदि प्रत्याहारोंका निरूपण करनेवाला पुरुष निगृहीत हो जाता है।

यदुक्तं वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकं। तद्यथा–नित्यः शद्बो जबगडदश्त्वाज्झभघढध-षवदिति।

जो ही न्यायदर्शनमें गौतमऋषि द्वारा कहा गया है। वर्णोंके क्रमका नाममात्र कथन करनेके समान निरर्थक निग्रहस्थान होता है। उसको उदाहरण द्वारा यों दिखलाया गया है कि शद्ब (पक्ष) नित्य है (साध्य) ज ब ग ड द श्पना होनेसे (हेतु) झ भ घ ढ धष्के समान (दृष्टान्त)। इस प्रकार वाच्यवाचक भावके नहीं बननेपर अर्थका ज्ञान नहीं होनेसे वर्ण ही क्रमसे किसी पोंगा पण्डितने कह दिये हैं। अतः वह निगृहीत हो जाता है।

तत्सर्वथार्थशून्यत्वात् किं साध्यानुपयोगतः।
द्वयोरादिविकल्पोऽत्रासंभवादेव तादृशः ॥ १९७ ॥
वर्णक्रमादिशद्बस्याप्यर्थवत्त्वात्कथंचन।
तद्विचारे क्वचिदनुकार्येणार्थेन योगतः ॥ १९८ ॥

इसपर आचार्य महाराज विचार करते हैं कि वह निरर्थक निग्रहस्थान क्या सभी प्रकारों करके अर्थसे शून्यपना होनेसे वक्ताका निग्रह करानेके लिये समर्थ हो जायगा? अथवा क्या प्रकृत साध्यके साधनेमें उपयोगी नहीं होनेसे निरर्थक वचन वक्ताका निग्रह करा देवेंगे? बताओ। इन दो

विकल्पोंमें आदिका विकल्प तो यहां असम्भव हो जानेसे ही योग्य नहीं है । अतः तिस सरीखा यानी निरर्थक सदृश है । क्योंकि जगत्में सभी प्रकार अर्थोंसे शून्य होय ऐसे शद्बोंका असम्भव है । वर्णक्रम, रुदन करना, कीट भाषा, अट्टहास, आदि शद्बोंको भी किसी अपेक्षासे अर्थ सहितपना है । सूक्ष्म दृष्टिसे उसका विचार करनेपर कहीं कहीं अनुकरण कराना रूप अर्थकरके वे शद्ब अर्थवान् हैं । किसी न किसी रूपमें सभी शद्बोंका अर्थके साथ योग हो रहा है । छोटे बालकोंको पढाते समय वर्णमालाके अक्षरोंका वैसाका वैसा ही उच्चारण करा कर अनुकरण (नकल) कराया जाता है । अशुद्ध या अवाच्य शब्द बोलनेवाले अज्ञ जीवके उच्चारणका पुनः आवश्यकता अनुसार अनुवाद करते समय श्रेष्ठवक्ताको भी निकृष्ट शब्द बोलने पडते हैं । काक, पिक आदिके शब्द तो अन्य भी अर्थोंको धारण करते हैं । व्याकरणमें तो प्रायः शब्दोंके अनुकरण कहने पडते हैं । अग्नि शब्दकी सुसंज्ञा है । वैश्वानर, आनुपूर्वीकी नहीं । अतः सर्वथा अर्थोंसे शून्य तो कोई शब्द ही नहीं है, पहिला विकल्प गया ।

द्वितीयकल्पनायां तु सर्वमेव निरर्थकम् ।
निग्रहस्थानमुक्तं स्यात्सिद्धवन्नोपयोगवत् ॥ १९९ ॥
तस्मान्नेदं पृथग्युक्तं कक्षापिहितकादिवत् ।
कथाविच्छेदमात्रं तु भवेत्पक्षांतरोक्तिवत् ॥ २०० ॥

हां, दूसरे पक्षकी कल्पना करनेपर पूर्वमें कहे जा चुके सभी निग्रहस्थान निरर्थक निग्रहस्थान ही हो जावेंगे, यों कह दिया गया समझो । प्रसिद्ध हो रहे निरर्थक निग्रहस्थानके समान वे प्रतिहानि आदिक भी कोई साध्यको साधनेमें उपयोगशाले नहीं है ? अथवा साध्यसिद्धिमें अनुपयोगी होनेसे सभी तेईसों निग्रहस्थानोंका निरर्थकमें अन्तर्भाव कर देना चाहिये । तिस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि यह निग्रहस्थान पृथक् मानना युक्त नहीं है । जैसे कि खांसना, कांपना, हाथ फटकारना आदिक कोई भी वक्ताकी क्रियायें साध्य उपयोगी नहीं हैं, निरर्थक हैं, फिर भी वे न्यारी निग्रहस्थान नहीं मानी गयी है । थोडीसी विशेषताओंसे यदि भिन्न भिन्न निग्रहस्थान माने जावेंगे तो काख खुजाना या धोतीकी काछ ढंकना, थूकना, शिर हिलाना आदिकको भी न्यारा निग्रहस्थान मानना पडेगा । वर्णक्रमके समान ये भी साध्यसिद्धिके उपयोगी नहीं है । हां, इस प्रकार निरर्थक बातोंके बकते रहनेसे वादकथाका केवल विच्छेद तो अवश्य हो जायगा । जैसे कि प्रतिज्ञान्तर, या शब्द नित्य है, इस पक्षको छोडकर आत्मा व्यापक है, इस अन्य पक्षका कथन करना, केवल वादको बिगाडनेवाला है । इतनेसे ही किसीका जय, पराजय, नहीं हो सकता है ।

तथाहि-अवक्ता साध्यं न साधनं जानीते असाध्यसाधनं चोपादत्ते इति निगृह्यते स्वपक्षं साधयतान्येन नान्यथा, न्यायविरोधात् ।

इसी बातको स्पष्टकर कहते हैं कि निरर्थक शब्दोंको कहनेवाला मनुष्य साध्य और साधनको नहीं जानता है। जो साध्यके साधक नहीं है, उन व्यर्थ शब्दोंको पकड बैठा है। इस कारण वह निगृहीत हो जाता है। किन्तु बात यह है कि अपने पक्षको अच्छे प्रकार साध रहे दूसरे विद्वान् करके उसका निग्रह किया जावेगा। अन्य प्रकारोंसे उस निरर्थक शब्दवादीका निग्रह नहीं हो सकेगा। क्योंकि न्याय करनेसे विरोध पडता है। नीति मार्ग यही बताता है कि अपने पक्षको साधकर दूसरेका जय कर सकते हो। निर्दोष दो आंखोंवाला पुरुष भले ही दोष दृष्टिसे कानेको काणा कह दे, किन्तु काणा पुरुष तो दूसरे एकाक्षको निन्दापूर्वक काणा नहीं कह सकता है।

यदप्युक्तं, " परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थं भाष्ये चोदाहृतमसामर्थ्ये सम्वरणान्निग्रहस्थानं ससामर्थ्ये चाज्ञानमिति, तदिह विचार्यते।

अब श्री विद्यानन्द स्वामी " अविज्ञातार्थ " निग्रहस्थानका विचार करते हैं। जो भी अविज्ञातार्थका लक्षण न्यायदर्शनमें गौतमऋषिने यों कह दिया है कि वादी द्वारा तीन बार कहे हुयेको भी यदि सभाजन और प्रतिवादी करके नहीं विज्ञात किया जाय तो वादीका अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान हो जाता है। भावार्थ—वादीने एक बार पूर्व पक्ष कहा, किन्तु परिषद्के मनुष्य और प्रतिवादीने उसको समझा नहीं, पुनः वादीने दुबारा कहा, फिर भी दोनोंने नहीं समझा, पुनरपि वादीने तिबारा कहा, तो भी सभ्यजन और प्रतिवादीने उसको नहीं समझ पाया, तो वादीका "अविज्ञातार्थ" निग्रहस्थान हो जायगा। क्योंकि वादी धोका दे रहा है कि सभ्य और प्रतिवादीको अज्ञान करा देनेसे मेरा जय हो जावेगा। न्यायभाष्यमें यों ही उदाहरण देकर कहा है। "यद्वाक्यं परिषदा प्रतिवादिना च त्रिरभिहितमपि न विज्ञायते श्लिष्टशब्दमप्रतीतप्रयोगमतिद्रुतोच्चारितमित्येवमादिना कारणेन तदविज्ञातमविज्ञातार्थमसामर्थ्यसंवरणाय प्रयुक्तमिति निग्रहस्थानम् " जो वादीका वाक्य तीन बार कहा जा चुका भी यदि प्रतिवादी और सभ्य पुरुषों करके नहीं जाना जा रहा है, वहां वादीद्वारा श्लेषयुक्त शब्दोंका प्रयोग किया गया दीखता है, या जिनकी प्रतीति नहीं हो सके, ऐसे वाक्योंका उच्चारण हो रहा है, जैसे कि शब्दके नित्यत्वकी सिद्धिका प्रकरण है वहां " तळलीनमधुगविमलं धूमसिलागा विचोरभयमेरु, तटहरखझसा होंति हु माणुसपज्जत्तसंखंका ॥ सुहमणिवातेआभू वाते आपुणि पदिट्ठिदं इदरं । वितिचपमादिल्लाणं एयाराणं तिसेढीय ॥ इगु हीणं विक्खंभं चउ गुणिदिग्गुणाहदेदुजीवकदी, बाणकदिं छहिं गुणिदे तच्छजुदे घणुकदी होदि " अथवा अत्यन्त शीघ्र शीघ्र उच्चारण करना, जय लूटनेके लिये गूढ अर्थवाले पदोंका प्रयोग करना, इत्यादि कारणोंकरके अपनी असामर्थ्यको छिपा देनेका कुत्सित प्रयत्न करनेसे वादीका अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान हो जाता है। और यदि वादी साध्यको साधनेमें समर्थ है तो

भी गूढ पदप्रयोग करनेसे, या शीघ्र बोलनेसे, उसका अज्ञान समझा जाता है। इस प्रकरणमें उस अविज्ञातार्थका श्री विद्यानन्द स्वामी विचार चलाते हैं।

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरुक्तमपि वादिना।
अविज्ञातमविज्ञातार्थं तदुक्तं जडात्मभिः ॥ २०१ ॥
यदा मंदमती तावत्परिषत्प्रतिवादिनौ।
तदा सत्यगिरोपेते निग्रहस्थानमापयेत् ॥ २०२ ॥

ज्ञानसे सर्वथा भिन्न अतएव जड हो रही आत्माको माननेवाले नैयायिकोंने जो अविज्ञातार्थ का लक्षण यह कहा था कि वादीके द्वारा तीन बार कहे हुये को भी यदि सभाजन और प्रतिवादियोंने नहीं समझा है तो इससे वादीका "अविज्ञातार्थ" निग्रहस्थान है। इसी प्रकार प्रतिवादीके तीन बार कहे हुये को भी यदि वादी और सभ्य जनोंने नहीं जान पाया तो प्रतिवादीका भी अविज्ञातार्थ (अज्ञान) निग्रहस्थान है। यहां सबसे पहिले हमको यह कहना है कि जब प्रतिवादी और सभाजन मन्दबुद्धिवाले हैं, तब तो समीचीन वाणीसे सहित हो रहे वादीमें भी निग्रहस्थान करा देवेंगे। यानी प्रकाण्ड विद्वान्‌को पोंगा लोग निग्रहस्थानमें गिरा देवेंगे। यों तो ग्रामीण ठाकुर या गंवारोंमें चार वेद और चार वेदिनी इस प्रकार आठ वेदोंको बखाननेवाला ग्रामीण धूर्त पण्डित भी वेदोंको चार कहनेवाले उद्भट विद्वान्‌को जीतकर उसकी पुस्तकें और यश लेता हुआ कृती हो जायगा। बीस वर्षतक अनेक ग्रन्थोंको पढ चुका, महा विद्वान् निगृहीत कर दिया जावेगा।

यदा तु तौ महाप्राज्ञौ तदा गूढाभिधानतः।
द्रुतोच्चारादितो वा स्यात्तयोरनवबोधनम् ॥ २०३ ॥
प्राग्विकल्पे कथं युक्तं तस्य निग्रहणं सताम्।
पत्रवाक्यप्रयोगेपि वक्तुस्तदनुषंगतः ॥ २०४ ॥

और जब वे परिषद् और प्रतिवादी बडे भारी विचारशील विद्वान् हैं, तब तो हम पूंछते हैं कि उन विचक्षणोंको वादीके तीन बार कहे हुये का भी अविज्ञान क्यों होयगा? क्या वादीने गूढपदोंका प्रयोग किया था? अथवा क्या वादी शीघ्र बड बड कह जाता है, खांसते हुये बोलता है, इत्यादि कारणोंसे वे नहीं समझ पाये? बताओ। पूर्वका विकल्प स्वीकार करनेपर तो सज्जन पुरुषोंके सन्मुख उस वादीका निग्रहस्थान कर देना भला कैसे युक्त हो सकता है? अर्थात्—नहीं। क्योंकि यों निग्रहस्थान कर देनेपर तो पत्रवाक्यके प्रयोगमें भी वक्ताको उस अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान

की प्राप्तिका प्रसंग हो जावेगा। "प्रसिद्धावयववाक्यं स्वेष्टार्थस्य हि साधकं, साधुगूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलं"। जहां गूढ पदोंको पत्रमें लिखकर शास्त्रार्थ किया जाता है, वहां गूढ कथन करनेसे प्रकृष्ट विद्वान्का निग्रह तो नहीं हो जाता है।

पत्रवाक्यं स्वयं वादी व्याचष्टेन्यैरनिश्चितम्।
यथा तथैव व्याचष्टां गूढोपन्यासमात्मनः ॥ २०५ ॥
अव्याख्याने तु तस्यास्तु जयाभावो न निग्रहः।
परस्य पक्षसंसिद्ध्यभावादेतावता ध्रुवम् ॥ २०६ ॥

यदि कोई न्यायवादी यों कहे कि अन्य विद्वानों करके नहीं निश्चित किये गये पत्रवाक्यका जिस प्रकार वादी स्वयं व्याख्यान करता है। जैसे कि "उभान्तवाक्" का अर्थ विश्व किया जाता है। सर्व, विश्व, उभ, उभय आदि सर्वादि गणमें विश्वके अन्तमें उभ शद्बका निर्देश है। एवं सैन्यळडभाक् इत्यादिक गूढपदोंका व्याख्यान वादी कर देता है। अतः सभाजन और प्रतिवादीको अर्थका विज्ञान हो जाता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि अच्छी बात है कि वह वादी तिस ही प्रकार अपने उच्चारण किये गये गूढकथनका भी व्याख्यान कर देवे। हां, यदि वादी कषाय वश अपने गूढ शद्बोंका व्याख्यान नहीं करता है, तो उसका जय प्राप्त करनेका अभाव हो जायगा। किन्तु इतनेसे ही कठिन संस्कृत वाणीको बोलनेवाले वादीका कदाचित् भी अविज्ञानी पुरुषों करके निग्रहस्थान तो नहीं हो सकता है। क्योंकि दूसरे प्रतिवादीके पक्षकी समीचीन रूपसे सिद्धि होनेका अभाव है। यह निश्चित मार्ग है।

द्रुतोच्चारादितस्त्वेतौ कथंचिदवगच्छतौ।
सिद्धांतद्वयतत्त्वज्ञैस्ततो नाज्ञानसंभवः ॥ २०७ ॥
वक्तुः प्रलापमात्रे तु तयोरनवबोधनम्।
नाविज्ञातार्थमेतत्स्याद्वर्णानुक्रमवाद्वत् ॥ २०८ ॥

द्वितीय विकल्प अनुसार वादीके शीघ्र शीघ्र उच्चारण करना, अथवा श ष स एवं ड ळ या त ट आदिका विवेक नहीं कर अव्यक्त कहना, खांसी श्वास चलना, दांतोंमें त्रुटि होना, ऐसे रोगोंके वश होकर अप्रकट बोला जाना आदि कारणोंसे तो ये प्रतिवादी और सभाजन कुछ न कुछ थोडा बहुत तो अवश्य समझ जावेंगे। क्योंकि मध्यस्थ या सभाजन तो वादी और प्रतिवादी दोनोंके सिद्धान्त किये गये तत्त्वोंको समझनेवाले हैं। तिस कारण वादीके अभिप्रेत अर्थका इनको अज्ञान

होना सम्भव नहीं है। हां, यदि वक्ता वादी साध्यके अनुपयोगी शद्बोंका यों ही केवल अनर्थक वचन कर रहा है, ऐसी दशामें उन दोनों समाजन प्रतिवादियोंको वादीके कथित अर्थका ज्ञान नहीं होना तो वह अविज्ञातार्थ नहीं है। यानी परिषद् और प्रतिवादीके नहीं समझनेपर व्यर्थ वचन बोलनेवाले वादीके ऊपर तो अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान नहीं उठाना चाहिये। जैसे कि ज ब ग ड द श् आदि वर्णोंके अनुक्रमका निर्देश कर व्यर्थ कथन करनेवाले वादीके ऊपर अविज्ञातार्थ निग्रह नहीं उठाया जाता है। हां, सभ्यजनोंके सन्मुख प्रतिवादी द्वारा स्वपक्षकी सिद्धि हो जानेपर तो यों ही असंगत प्रलाप करने वाले वादीके ऊपर भले ही निरर्थक निग्रहस्थानका आरोप कर दो, अविज्ञातार्थको न्यारा निग्रहस्थान माननेकी आवश्यकता नहीं।

ततो नेदमविज्ञातार्थं निरर्थकाद्भिद्यते।

तिस कारणसे यह अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान पूर्वमें मान किये गये निरर्थक निग्रहस्थानसे भिन्न होता हुआ नहीं सिद्ध होपाता है।

नाप्यपार्थकमित्याह।

तथा नौवां निग्रहस्थान "अपार्थक" भी निरर्थकसे भिन्न नहीं सिद्ध हो सकता है। इस बातको स्वयं ग्रन्थकार स्पष्ट कहते हैं।

प्रतिसंबंधहीनानां शद्बानामभिभाषणं।
पौर्वापर्येण योगस्य तत्राभावादपार्थकम् ॥ २०९ ॥
दाडिमानि दशेत्यादिशद्बवत्परिकीर्तनम्।
ते निरर्थकतो भिन्नं न युक्त्या व्यवतिष्ठते ॥ २१० ॥

"पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम्" शद्बोंके पूर्व अपरपने करके संगतिरूप योगका वहां अभाव हो जानेसे शाद्बबोधके जनक आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा ज्ञान आदिके अभाव हो जानेके कारण सम्बन्धहीन शद्बोंका लम्बा चौडा कथन करना अपार्थक निग्रहस्थान है। जैसे कि दश अनार हैं, छह पूआ हैं, बकरीका चमडा है, बम्बई नगर बहुत बडा है, माष वातुल होता है, इत्यादिक शद्ब बोलनेके समान असंगत शद्बोंका उच्चारण वादीका अपार्थक निग्रहस्थान हो जाना तुम नैयायिकोंके यहां कहा गया है। युक्तिद्वारा विचार करनेपर वह अपार्थक तो निरर्थक निग्रहस्थानसे पृथग्भूत व्यवस्थित नहीं हो पाता है। क्योंकि निरर्थकमें भी वर्णरूपी शद्ब निरर्थक हैं। और यहां भी असंगतपद निरर्थक हैं।

नैरर्थक्यं हि वर्णानां यथा तद्वत्पदादिषु ।
नाभिधेतान्यथा वाक्यनैरर्थक्यं ततोपरम् ॥ २११ ॥

जिस ही प्रकार निरर्थक निग्रहस्थानमें ज व ग ड आदि वर्णोंका निरर्थकपना है, उसीके समान यहां पद आदिमें भी वर्णोंके समुदाय पदोंका साध्य उपयोगी अर्थसे रहितपना है। अतः निरर्थक निग्रहस्थानसे अपार्थक निग्रहस्थान भिन्न नहीं माना जावेगा। अन्यथा यानी वर्णोंकी निरर्थकतासे पदोंकी निरर्थकताको यदि न्यारा निग्रहस्थान माना जावेगा तब तो उनसे न्यारा वाक्योंका निरर्थकपना स्वरूप वाक्यनैरर्थक्य नामक निग्रहस्थान भी पृथक् मानना पडेगा। जो कि तुम नैयायिकोंने न्यारा माना नहीं है।

न हि परस्परमसंगतानि पदान्येव न पुनर्वाक्यानीति शक्यं वक्तुं, तेषामपि पौर्वापर्येण प्रयुज्यमानानां बहुलमुपलम्भात्। " शंखः कदल्यां कदली च भेर्यां तस्यां च भेर्यां सुमहद्विमानं। तच्छंखभेरी कदली विमानमुन्मत्तगंगप्रतिमं बभूव ॥ " इत्यादिवत्। यदि पुनः पदनैरर्थक्यमेव वाक्यनैरर्थक्यं पदसमुदायत्वाद्वाक्यस्येति मतिस्तदा वर्णनैरर्थक्यमेव पदनैरर्थक्यमस्तु वर्णसमुदायत्वात्पदस्येति मन्यतां।

परस्परमें संगतिको नहीं रखनेवाले पद ही होते हैं। किन्तु फिर परस्परमें असम्बद्ध हो रहे कोई वाक्य तो नहीं हैं। तुम नैयायिक यों नियम नहीं कर सकते हो। क्योंकि पूर्व अपर सम्बन्ध करके नहीं प्रयोग किये जारहे उन वाक्योंका भी बहुत स्थानोंपर उपलम्भ हो रहा है। देखिये, शंख केलामें है और नगाडेमें केला है। उस नगाडेमें अच्छा लम्बा चौडा विमान है। वे शंख, नगाडे, केला, और विमान जिस देशमें गंगा उन्मत्त है, उसके समान हो गये। तथा " जरद्गवः कम्बलपाणिपादः, द्वारि स्थितो गायति मंगलानि तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन्नुखायां लशुनस्य कोऽर्थः" हाथ पैरोंमें कम्बलको बांधे हुये बुड्ढा बैल द्वारपर खडा है। मंगल गीतोंको गा रहा है। पुत्रप्राप्तिकी इच्छा रखनेवाली ब्राह्मणी उससे पूंछती है कि हे राजन्! कसेंडीमें लहसनका क्या प्रयोजन? इत्यादिक निरर्थक वाक्योंका अनेक प्रकारोंसे श्रवण हो रहा है। यदि फिर आप नैयायिक यों कहें कि पदोंका निरर्थकपना ही तो वाक्योंका निरर्थकपना है। क्योंकि पदोंका समुदाय ही तो वाक्य है। अतः अपार्थकसे भिन्न " वाक्यनिरर्थक " नामका निग्रहस्थानको न्यारा माननेकी हमें आवश्यकता नहीं। इस प्रकार नैयायिकोंका मन्तव्य होनेपर तो हम कहेंगे कि वर्णोंका निरर्थकपना ही पदका भी निरर्थकपना हो जाओ। क्योंकि वर्णोंका समुदाय ही तो पद है। अतः अपार्थकको भी निरर्थकसे भिन्न न्यारा निग्रहस्थान नहीं मानना चाहिये।

वर्णानां सर्वत्र निरर्थकत्वात्पदस्य निरर्थकत्वप्रसंग इति चेत्, पदस्यापि निरर्थकत्वात्तत्समुदायात्मनो वाक्यस्यापि निरर्थकत्वानुषंगः पदार्थापेक्षया सार्थकं पदमिति चेत् वर्णापेक्षया वर्णः सार्थकोस्तु। प्रकृतिप्रत्ययादिवर्णवत् न प्रकृतिः केवला पदं प्रत्ययो वा, नापि तयोरनर्थकत्वमभिव्यक्तार्थाभावादनर्थकत्वे पदस्याप्यनर्थकत्वं। यथैव हि प्रकृत्यर्थः प्रत्ययेनाभिव्यज्यते प्रत्ययार्थः स्वप्रकृत्या तयोः केवलयोरप्रयोगार्हत्वात्। तथा देवदत्तस्तिष्ठतीत्यादिप्रयोगेषु सुबंतपदार्थस्य तिङंतपदेनाभिव्यक्तेः तिङंतपदार्थस्य च सुबंतपदेनाभिव्यक्तेः केवलस्याप्रयोगार्हत्वादभिव्यक्तार्थाभावो विभाव्यत एव। पदांतरापेक्षत्वे सार्थकत्वमेवेति तत्प्रकृत्यपेक्षस्य प्रत्ययस्य तदपेक्षस्य च प्रकृत्यादिवत्तस्य सार्थकत्वं साधयत्येव सर्वथा विशेषाभावात्। ततो वर्णानां पदानां वा संगतार्थानां निरर्थकत्वमिच्छता वाक्यानामप्यसंगतार्थानां निरर्थकत्वमेषितव्यं। तस्य ततः पृथक्त्वेन निग्रहस्थानत्वानिष्टौ वर्णपदनिरर्थकत्वयोरपि तथा निग्रहाधिकरणत्वं मा भूत्।

यदि नैयायिक यों कहें कि वर्ण तो सर्वत्र ही निरर्थक होते हैं। क, ख, आदि अकेले अकेले वर्णोंका कहीं भी कोई अर्थ नहीं माना गया है। अतः निरर्थक वर्णोंके समुदायरूप पदको भी यों निरर्थकपनेका प्रसंग हो जायगा, तब तो हम कहेंगे कि अकेले अकेले घटं या आनय आदि पदका भी निरर्थकपना हो जानेसे, उन पदोंके समुदायरूप वाक्यको भी निरर्थकपनका प्रसंग बन बैठेगा। यदि इसका उत्तर आप नैयायिक यों देवें कि प्रत्येक पदके केवल शुद्ध पदके अर्थकी अपेक्षासे पद भी सार्थक है। अतः इस अपार्थक निग्रहस्थानमें ही वाक्यनिरर्थकपनका अन्तर्भाव हो जायगा। यों कहनेपर तो हम जैन भी कह देंगे कि प्रत्येक वर्णके स्वकीय केवल अर्थकी अपेक्षासे वर्ण भी सार्थक बना रहो। एकाक्षरी कोष अनुसार वर्णोंका अर्थ प्रसिद्ध ही है। अतः निरर्थक निग्रहस्थानमें अपार्थक निग्रहस्थान अन्तर्भूत हो जावेगा। जैसे कि प्रकृति, प्रत्यय आदिक वर्णका निजी गांठका अर्थ न्यारा है। घट प्रकृतिका अर्थ कम्बु ग्रीवादिमान् व्यक्ति है। और सु विभक्तिका अर्थ एकत्व संख्या है। पच् प्रकृतिका अर्थ पाक है। तिप्का अर्थ एकत्व स्वतंत्रकर्ता आदिक हैं। पुष्पेभ्यः यहां अर्थवान् शद्बस्वरूप प्रातिपदिकका अर्थ फूल है। और भ्यस् प्रत्ययका अर्थ बहुत्व तादर्थ्य हैं। अतः वर्ण भी अपना स्वतंत्र न्यारा अर्थ रखते हैं। केवल प्रकृति ही प्रत्यययोगके विना नहीं बोली जाती है। तथा केवल पद अथवा प्रत्यय भी केवल नहीं कहा जा सकता है। बच्चोंको समझानेके लिये भले ही व्याकरणमें यों कह दो कि घट शद्ब है। सु विभक्ति आये, उकार इत्संज्ञक है, स का विसर्ग हो गया। घटः बन गया। यह प्रयोगोंको केवल साधु बतानेकी प्रक्रिया मात्र है। न कुछ जाता है, और न कहींसे कुछ आता है। वस्तुतः देखा जाय तो केवल घट या सु प्रत्यय उच्चारण

करने योग्य नहीं है। पहिलेसे ही " घट " ऐसा बना बनाया सुबन्त पद है। एतावता उन प्रकृति या प्रत्ययको अनर्थकपना नहीं है। यदि आप नैयायिक यों कहें कि अधिक प्रकट हो रहे अर्थके नहीं होनेसे केवल प्रकृति या केवल प्रत्यय तो अर्थशून्य है, तब तो हम कहेंगे कि इस प्रकार केवल पदको भी अनर्थकपना है। ऐसी दशामें अकेले निरर्थक निग्रहस्थानसे ही कार्य चल जायगा। अपार्थकका क्यों व्यर्थमें बोझ बढाया जाता है। जिस ही प्रकार प्रत्ययकरके प्रकृतिका अर्थ प्रकट कर दिया जाता है और स्वकीय प्रकृतिसे प्रत्ययका अर्थ व्यक्त हो जाता है, तिप् प्रत्ययसे भू धातुका अर्थ सद्भाव प्रकट हो जाता है और भू धातुसे तिप्का अर्थ कर्त्ता, एकत्व, वर्तमान कालमें ये प्रकट हो जाते हैं, केवल प्रकृति या केवल प्रत्ययका तो प्रयोग करना युक्त नहीं है। " न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः "। तिस ही प्रकार यानीं प्रत्ययकी अपेक्षा रखनेवाली प्रकृति और प्रकृतिकी अपेक्षा रखनेवाले प्रत्ययके समान ही देवदत्त बैठा हुआ है। जिनदत्त जाग रहा है, मोदक खाया जाता है, इत्यादिक प्रयोगोंमें सु और जस् आदिक प्रत्ययोंको अन्तमें धारण कर रहे देवदत्त, जिनदत्त, मोदक आदि पदोंके अर्थकी तिप्, तस्, झि, त, आताम्, झ, आदिक तिङ्, प्रत्ययोंको अन्तमें धारण करनेवाले तिष्ठति, जागर्ति, भुज्यते आदिक तिङन्त पदोंकरके अभिव्यक्ति हो जाती है। तथा तिङन्त पदोंके अर्थकी सुबन्त पदोंकरके प्रकटता हो जाती है। केवल तिङन्त या सुबन्त पदका प्रयोग करना उचित नहीं है। केवल सुबन्त या तिङन्त पदका अर्थ प्रकट नहीं है। यह यहां भी विचार किया ही जाता है। यदि नैयायिक यों कहें कि अन्य पदकी अपेक्षा रखते हुये तो प्रकृत पदको सार्थकपना ही है, इस प्रकार कहनेपर तो हम कहेंगे कि वह सार्थकपना तो प्रकृतिकी अपेक्षा रखते हुये प्रत्ययको और प्रत्ययकी अपेक्षा रखते हुये प्रकृति आदिके समान स्वके सार्थकपन को साध ही देता है। सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है। भावार्थ—परस्परमें अपेक्षा रखनेवाले प्रत्यय और प्रकृतिके समान एक पदको भी दूसरे पदकी अपेक्षा रखना अनिवार्य है। तभी तो " वर्णानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदं " परस्परमें सापेक्ष हो रहे वर्णोंका पुनः अन्यकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला समुदाय पद है और " पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षसमुदायो वाक्यं " परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले पदोंका निरपेक्ष समुदाय वाक्य है। तिस कारणसे कहना पडता है कि संगतिसहित अर्थोंको नहीं धारनेवाले असंगत वर्णों या पदोंका निरर्थकपना चाहने-वाले नैयायिक करके असंगत अर्थवाले वाक्योंका भी निरर्थकपना इष्ट लेना चाहिये। यदि नैयायिक उस असंगत अर्थवाले वाक्योंके निरर्थकपनको उस अपार्थक निग्रहस्थानसे पृथक्पने करके दूसरा निग्रहस्थानपना इष्ट नहीं करेंगे तब तो हम कहते हैं कि वर्णोंका निरर्थकपन और पदोंका निरर्थकपनके अनुसार हुये। निरर्थक और अपार्थकको भी तिस ही प्रकार न्यारे न्यारे निग्रहस्थानकी पात्रता नहीं होओ। अतः सिद्ध होता है कि अपार्थकको न्यारा निग्रहस्थान नहीं माना जावे।

यदप्युक्तं अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालं अवयवानां प्रतिज्ञादीनां विपर्ययेणाभिधानं निग्रहस्थानमिति। तदपि न सुघटमित्याह।

और जो भी नैयायिकोंने दशमें निग्रहस्थान अप्राप्तकालका यह लक्षण कहा था कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन इनके क्रमका उल्लंघन कर विपर्यासरूपसे कथन करना अप्राप्तकाल निग्रहस्थान है। अर्थात्—वादी द्वारा अनुमानके अवयव प्रतिज्ञा, हेतु, आदिका विपर्यय करके कथन किया जाना वादीका अप्राप्तकाल निग्रहस्थान है। सभाको देखकर क्षोभ हो जानेसे या अज्ञानता छाजानेसे वादी अवयवोंको उल्टा कह बैठता है। वादी प्रतिवादियोंके वक्तव्यका क्रम यों है कि पहिले ही वादी करके साधनको कह कर स्वकीय कथनमें सामान्यरूपसे हेत्वाभासोंका निराकरण करना चाहिये, यह एक पाद है। प्रतिवादीको वादीके कथनमें उलाहना देना चाहिये, यह दूसरा पाद है। प्रतिवादीको अपने पक्षकी सिद्धि करना और उसमें हेत्वाभासोंका निराकरण करना यह तृतीय पाद है। जय पराजयकी व्यवस्था कर देना चौथा पाद है। यह वादका क्रम है। इसका विपर्यास करनेसे या प्रतिज्ञा, हेतु, आदिकके क्रमसे वचन करनेकी व्यवस्था हो चुकनेपर आगे पीछे कह देनेसे निग्रह हो जावेगा, इस प्रकार वह नैयायिकोंका कहना भी भले प्रकार घटित नहीं होता है। इस बातको ग्रन्थकार वार्तिकों द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

संधाद्यवयवान्न्यायाद्विपर्यासेन भाषणम्।
अप्राप्तकालमाख्यातं तच्चायुक्तं मनीषिणाम्॥ २१२॥
पदानां क्रमनियमं विनार्थाध्यवसायतः।
देवदत्तादिवाक्येषु शास्त्रेष्वेवं विनिर्णयात्॥ २१३॥

प्रतिज्ञा, हेतु, आदि अवयवोंके कथन करनेके न्यायमार्गसे विपरीतपने करके भाषण करना वक्ताका अप्राप्तकाल निग्रहस्थान हो चुका बखाना गया है। किन्तु वह न्यायबुद्धिको रखनेवाले गौतम ऋषिका कथन बुद्धिमानोंके सन्मुख समुचित नहीं पडता है। क्योंकि पदोंके क्रमकी नियतिके विना भी अर्थका निर्णय हो जाता है। देवदत्त (कर्त्ता) लड्डूको (कर्म) खाता है (क्रिया)। लड्डूको देवदत्त खाता है या खाता है (क्रिया) देवदत्त (कर्त्ता) लड्डूको (कर्म), अथवा लड्डूको खाता है देवदत्त, इत्यादिक लौकिक वाक्योंमें पदोंका व्युत्क्रम हो जानेसे भी अर्थकी प्रतिपत्ति हो जाती है। इसी प्रकार शास्त्रोंमें भी कर्त्ता, कर्म, क्रिया या प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदिका क्रमभंग हो जानेपर भी अर्थका विशेषरूपसे निर्णय हो जाता है। पद्य आत्मक छन्दोंमें आगे पीछे कहे गये पदोंको सुनकर भी संगत अर्थकी झटिति यथार्थ प्रतिपत्ति हो जाती है। प्रौढ विद्वान् श्लोकोंको पढते जाते हैं, झट अर्थको साथ साथ समझते जाते हैं। अतः अप्राप्तकाल निग्रहस्थान नहीं मानना चाहिये।

यथापशब्दतः शब्दप्रत्ययादर्थनिश्चयः ।
शब्दादेव तथाश्वादिव्युत्क्रमाच्च क्रमस्य वित् ॥ २१४ ॥
ततो वाक्यार्थनिर्णीतिः पारंपर्येण जायते ।
विपर्यासात्तु नैवेति केचिदाहुस्तदप्यसत् ॥ २१५ ॥

यहां कोई नैयायिक यों कह रहे हैं कि जिस प्रकार अशुद्ध या अपभ्रष्ट शब्दोंसे समीचीन शब्दोंका ज्ञान होकर पुनः शुद्ध शब्दोंसे जो अर्थका निर्णय हुआ है, वह शुद्ध शब्दोंसे ही वाक्यार्थ ज्ञान हुआ मानना चाहिये । गाय, गैया, काऊ, (Cow) आदि अपभ्रंश शब्दोंको सुन कर गो शब्दकी प्रतिपत्ति हो जाती है । पश्चात् शुद्ध गोशब्दसे ही सींग और सास्नावाली व्यक्तिका प्रतिभास होता है । तिस ही प्रकार अश्व, देवदत्त आदि पदोंके अक्रमसे उच्चारण करनेपर प्रथम तो पदोंके क्रमका ज्ञान होता है और उसके पीछे वाक्यके अर्थका निर्णय परम्परासे उत्पन्न किया जाता है । पदोंके विपर्ययसे तो कैसे भी वाक्य अर्थकी प्रतिपत्ति नहीं हो पाती है । अनुष्टुभ् आदिक शब्दोंमें या लड्डूको देवदत्त खाता है, आदिक क्रमरहित वाक्योंमें पहिले उन पदोंको सुनकर कर्त्ता, कर्म, क्रियारूप क्रम बना लिया जाता है । पश्चात् वाक्यार्थ निर्णय किया जाता है । " धूमवत्त्वात् वन्हिमान् पर्वतः " इस प्रकार अवयवोंके क्रमसे रहित दूषित वाक्यको सुनकर पहिले " पर्वतो वन्हिमान् धूमात् " यह शुद्धवाक्य जान लिया जाता है । पश्चात् अवयवोंके क्रमसे सहित उस सत्यवाक्यसे अर्थकी प्रतिपत्ति परम्परासे उपजती है । अशुद्ध वाक्योंसे साक्षात् अर्थज्ञप्ति नहीं हो सकती है । इस प्रकार कोई नैयायिक कह रहे हैं । आचार्य कहते हैं कि उनका वह कहना भी प्रशस्त नहीं है ।

व्युत्क्रमादर्थनिर्णीतिरपशब्दादिवेत्यपि ।
वक्तुं शक्तेस्तथा दृष्टेः सर्वथाप्यविशेषतः ॥ २१६ ॥

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार क्रमयोजनाकी प्रतीति नहीं होती है, जैसे अपभ्रंश या अशुद्ध शब्दोंसे क्रम नहीं होते हुये भी शिशु गंवार या असभ्य पुरुषों अथवा द्विभाषियोंको अर्थका निर्णय हो जाता है, उसी प्रकार कर्त्ता, कर्म या प्रतिज्ञा हेतु आदिका क्रमरहितपन हो जानेसे भी अर्थप्रतिपत्ति हो जाती है, यह भी हम कह सकते हैं । क्योंकि उच्चारित किये जिस शब्दसे जिस अर्थमें प्रतीति हो रही देखी जाती है, वही शब्द उसका वाचक है, अन्य नहीं । अन्यथा हम यों भी कह सकते हैं कि संस्कृत शब्दसे अपशब्द या व्युत्क्रमपनेमें स्मरण किया जाकर उससे अर्थकी प्रतीति होती है । तिसी प्रकार क्रमभिन्न पदोंसे भी शाब्दबोध हो रहा देखा जाता है ।

इस विषयमें लौकिक मार्ग और शास्त्रीय मार्गमें सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है। छोराको दूध पिआदे, मैंटो जामन मरणकूं, तन्नमामि परंज्योतिः, धूमात् वन्हिमान् पर्वतः " श्रियं क्रियाद्यस्य, सुरागमे नटत्सुरेन्द्रनेत्रप्रतिबिम्बलाञ्छिता, सभा बभौ रत्नमयी महोत्पलैः कृतोपहारेव स वोऽग्रजो-जिनः " इत्यादि वाक्योंमें पदोंका ठीक ठीक विन्यास नहीं होते हुये भी श्रोताको अर्थका निश्चय अव्यवहित उनसे हो जाता है।

शद्वान्वाख्यानवैयर्थ्यमेवं चेत्तत्त्ववादिनाम् ।
नापशद्वेष्वपि प्रायो व्याख्यानस्योपलक्षणात् ॥ २१७ ॥

यदि नैयायिक यों कहें कि शद्व आदिसे अप शद्व आदिका स्मरण कर अर्थ ज्ञान कर लेना इस प्रकार तो तत्वोंके प्रतिपादन करनेवाले विद्वानोंका पुनः सुशद्वों द्वारा व्याख्यान करना अथवा पुनः पुनः कथनस्वरूप अन्वाख्यान करना व्यर्थ पडेगा। श्लोकाका अन्वय किया जाता है। क्रम भंगसे कहे गये शद्वोंको पुनः क्रमयुक्त कर बखाना जाता है। अतः क्रमसे या शद्वोंसे ही अर्थ प्रतिपत्ति हुई, इस प्रकार कहनेपर तो हम कहते हैं कि यों तो नहीं कहना। क्योंकि अशुद्ध शद्वोंमें भी बाहुल्य करके व्याख्यानका होना देखा जाता है। अर्थात्—त्वम् किं पठसि ? तू क्या पढता है ? इसकी इंग्रेजी बनानेपर क्रिया पहिले आ जाती है। अग्नि, विधि, परिधि, आदि पुल्लिंग शद्वोंका बखान देश भाषामें स्त्रीलिंग रूपसे करना पडता है। ग्रामीणोंको समझानेके लिये संस्कृत शद्वोंका शद्वोंका गंवारू भाषामें पण्डितों द्वारा व्याख्यान करना पडता है। तब कहीं वे समझ पाते हैं। अप-शद्वोंमें भी अन्वाख्यान हो रहा देखा जाता है।

यथा च संस्कृताच्छद्वात्सत्याद्धर्मस्तथान्यतः ।
स्यादसत्यादधर्मः क नियमः पुण्यपापयोः ॥ २१८ ॥

और जिस प्रकार व्याकरणमें प्रकृति प्रत्ययों द्वारा बनाये गये संस्कारयुक्त सत्य शद्वोंसे धर्म उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अन्य ग्रामीण शद्वों या देश भाषाके अशुद्ध किन्तु सत्य शद्वोंमें भी धर्म (पुण्य) होता है। तथा असत्य संस्कृत शद्वोंसे जैसे अधर्म (पाप) उपजता है, वैसे झूठे अपभ्रंष्ट शद्वोंसे भी पाप उपजता है। ऐसी दशामें भला पुण्य, पापका, नियम कहां रहा ? कि संस्कृत शद्व चाहे सचे या झूठे हों उनसे पुण्य ही मिलेगा और असंस्कृत शद्व चाहे सचे ही क्यों नहीं होंय, किन्तु उनसे पापकी ही प्राप्ति होगी। उक्त नियम माननेपर देश भाषाओंके शास्त्र, विनती पद, सब व्यर्थ हो जायंगे। इतना ही नहीं किन्तु पापबन्धके कारण भी होवेंगे। शद्वोंसे ही पुण्य पापकी व्यवस्था माननेपर अन्य उपायोंका अनुष्ठान व्यर्थ पडेगा। उर्दसे मुसी न्यारी है। " कंडसि-पुणुणं स्वेवसिरंगदद्दा। जवं पत्थेसि खादिदुं " " अणत्थ किं फलो वहा तुम्ही इत्थ बुवियाछिंदे,

अंकेच्छेद इकोणिया " " अह्मा दोणं दिभयं दिहादोदि सरामयं तुह्म " आदि असंस्कृत शब्दोंसे भी तत्वज्ञान हो गया माना जाता है । अतः शब्दोंसे पुण्य पापकी उत्पत्तिका नियम नहीं है । अधार्मिक पुरुष भी संस्कृत शब्दोंको बोलते हैं । धर्मात्मा भी अपभ्रंश या व्युत्क्रम कथन करते हैं ।

वृद्धप्रसिद्धितस्त्वेष व्यवहारः प्रवर्तते ।
संस्कृतैरिति सर्वापशब्दैर्भाषास्वनैरिव ॥ २१९ ॥

वृद्ध पुरुषाओंकी परम्परा प्रसिद्धिसे यह व्यवहार प्रवर्त रहा है कि देशभाषाके शब्दोंकरके जैसे अर्थ निर्णय हो जाता है, उसी प्रकार संस्कृत शब्द और सम्पूर्ण अपभ्रंष्ट शब्दोंकरके भी अर्थ प्रतिपत्ति हो जाती है । विशेष यह है कि हां, अनभ्यास दशामें भले ही किसीको शब्दयोजनाके क्रमसे वाच्य अर्थकी ज्ञप्ति होय, किन्तु अत्यधिक अभ्यास हो जानेपर क्रम और अक्रम दोनों प्रकारसे अर्थ निर्णय हो जाता है । बडी कठिनतासे समझे जाय, ऐसे वाक्योंमें शब्दोंके क्रमकी योजना करनी पडती है । किन्तु सरल वाक्योंको व्युत्क्रमसे भी समझ लिया जाता है ।

ततोर्थानिश्चयो येन पदेन क्रमशः स्थितः ।
तद्व्यतिक्रमणाद्दोषो नैरर्थक्यं न चापरम् ॥ २२० ॥

तिस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि प्रतिज्ञा आदि अवयवोंका क्रमसे प्रयोग किया गया होय या अक्रमसे निरूपण किया गया होय, श्रोताके क्षयोपशमके अनुसार दोनों ढंगसे अर्थ निर्णय हो सकता है । हां, क्वचित् जिन पदोंके क्रमसे ही उच्चारण करनेपर अर्थका निश्चय होना व्यवस्थित हो रहा है, उन पदोंका व्यतिक्रमण हो जानेसे श्रोताको अर्थका निश्चय नहीं हो पाता है । यह अवश्य दोष है, एतावता वह निरर्थक दोष ही समझा जायगा । उससे भिन्न अप्राप्तकाल नामक निग्रहस्थान माननेकी आवश्यकता नहीं ।

एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं । यदाहोद्योतकरः " यथा गौरित्यस्य पदस्यार्थे गोणीति प्रयुज्यमानं पदं न वत्कादिमंतमर्थं प्रतिपादयतीति न शब्दान्वाख्यानं व्यर्थं अनेनापशब्देनासौ गोशब्दमेव प्रतिपद्यते गोशब्दाद्वत्कादिमंतमर्थं तथा प्रतिज्ञाद्यवयवविपर्ययेणानुपूर्वीं प्रतिपद्यते तयानुपूर्व्यार्थमिति । पूर्वं हि तावत्कर्मोपादीयते लोके ततोधिकरणादि मृत्पिण्डचक्रादिवत् । तथा नैवायं समयोपि स्वर्थस्यानुपूर्वी । " सोयमर्थानुपूर्वीमन्वाचक्षाणो नाम व्याख्येयात् कस्यायं समय इति । तथा शास्त्रे वाक्यार्थसंग्रहार्थमुपादीयते संगृहीतं स्वयं वाक्येन प्रतिपादयिता प्रयोगकाले प्रतिज्ञादिकयानुपूर्व्या प्रतिपादयतीति सर्वथानुपूर्वीप्रतिपादनाभावादेवाप्राप्तकालस्य निग्रहस्थानत्वसमर्थनादन्यथा परबोधस्यैवमपि सिद्धेः ।

समयानभ्युपगमाद्बहुप्रयोगाच्च नैवावयवविपर्यासवचनं निग्रहस्थानमित्येतस्य परिहर्तुमशक्तेः॥ सर्वार्थानुपूर्वी प्रतिपादनाभावोऽवयवविपर्यासवचनस्य निरर्थकत्वान्न्याय्यः। ततो नेदं निग्रहस्थानांतरं।

आचार्य कहते हैं कि इस कथनसे यह कथन भी खण्डित कर दिया गया समझो जो कि उद्योतकर पण्डित यों कह रहे हैं कि जिस प्रकार गौ इस संस्कृत पदके अर्थमें यदि गोणी, गाव, गव्वा ऐसे पदोंका प्रयोग कर दिया जाय तो वह मुख शृंग सास्ना, आदिसे सहित हो रहे अर्थका प्रतिपादन नहीं कर सकता है। इस कारण अशुद्ध शद्वका संस्कृत शद्वसे व्याख्यान करना व्यर्थ नहीं हैं। इन अशुद्ध शब्दोंको सुनकर वह श्रोता पहिले सत्य गो शब्दको ही समझता है। पश्चात् गो शब्दसे वदन, चतुष्पाद, सींग आदिसे समवेत हो रहे अर्थको जान लेता है। इसी प्रकार प्रतिज्ञा, हेतु, अवयवोंके विपर्यास करके जहां अक्रम शब्दोंका उच्चारण किया गया है, वहां श्रोता प्रथम ही तो पदोंका अनुक्रम बनाकर शब्दोंकी आनुपूर्वीको अन्वित करता हुआ जान लेता है। पीछे सरलतापूर्वक शाब्दबोधको करानेवाली उस आनुपूर्वीसे प्रकृत वाच्य अर्थको जान लेता है। अतः अक्रमसे नहीं होकर पदोंके ठीक क्रमसे ही अर्थनिर्णय हुआ। लोकमें भी यही देखा जाता है कि सबसे पहिले कर्मको कहनेवाले शब्दका ग्रहण किया जाता है। उसके पीछे अधिकरण सम्प्रदान आदिका प्रयोग होता है। जैसे कि घटको बनानेके लिये पहिले मिट्टीकी ढूंढि की जाती है। पुनः चक्र, दण्ड, डोरा आदिका उपादान किया जाता है। कार्योंके अनुसार ही उनकी वाचक योजनाओंका क्रम है। अर्थके अनुसार ही शब्द चलता है। मिट्टीको चाकपर रखकर शीतल जलको लिये घट आकारको बनाओ तथा यह शब्दसंकेत भी अक्रमसे नहीं है। किन्तु वाच्य अर्थकी आनुपूर्वीके अनुसार वाचक शब्दोंका क्रम अवश्य होना चाहिये। वाच्य अर्थोंकी प्रतिपत्तिके क्रम अनुसार पूर्ववर्ती शब्दोंके पीछे अनुकूल शब्दोंका अनुगमन करना शब्दकी आनुपूर्वी है, जो कि परिणमन कर रहे वास्तविक अर्थकी आनुपूर्वीकी सहेली है। इस उद्योतकरके कथनपर आचार्य महाराज कहते हैं कि अर्थकी आनुपूर्वीका शब्दोंद्वारा पीछे पीछे व्याख्यान कर रहा उद्योतकर उस दार्शनिकका नाम बखाने कि यह किसका शास्त्र है, जो कि अर्थकी आनुपूर्वीके साथ ही शब्दयोजनाको स्वीकार करता है। जब कि साहित्यज्ञ विद्वान् अन्वयरहित श्लोकोंको भी पढकर शीघ्र अर्थ लगाते जाते हैं। लोकमें भी भाषा छन्दों या ग्रामीण शब्दोंमें अन्वय योजनाके विना भी झट अर्थकी ज्ञप्ति हो जाती है। तिसी प्रकार शास्त्रमें वाक्य अर्थोंका संग्रह करनेके लिये शद्वोंका उपादान किया जाता है। और संग्रह किये गये अर्थको तो वाक्योंके द्वारा वक्ता प्रयोग करनेके अवसरपर प्रतिज्ञा, हेतु, आदिक, रूप आनुपूर्वीसे कह कर समझा देता है। इस प्रकार सभी प्रकारोंसे आनुपूर्वीका प्रतिपादन नहीं होनेसे ही अप्राप्तकालके निग्रहस्थानपनका समर्थन किया गया है। अन्यथा दूसरोंकी प्रवनमालाकी उस प्रकार प्रयत्न करनेपर भी

प्रसिद्धि बनी रहेगी, जब कि किसी शास्त्रमें ऐसा संकेत नहीं है कि क्रमसे ही वाक्योंको बोलना चाहिये तथा क्रमसे बोलनेमें बहुत शद्बोंका प्रयोग करना पडता है। इस कारणसे भी अवयवोंका विपर्यास रूपसे कथन करना निग्रहस्थान नहीं है। इस कथनका तुम नैयायिक परिहार नहीं कर सकते हो। विशेष यह कहना है कि हां " पर्वतो भुक्तं वन्हिमान् देवदत्तेन " या रोटीको पहिनो अंगरखाको खाओ इत्यादि स्थलोंमें शद्बोंकी ठीक ठीक आनुपूर्वी पर्वतो वन्हिमान्, देवदत्तेन भुक्तं, अंगरखाको पहिनो, रोटीको खाओ, " करनेसे ही अर्थका प्रतिपादन होता है। वहां यदि सभी प्रकारोंसे अर्थकी आनुपूर्वीके प्रतिपादनका अभाव है, ऐसी दशामें अवयवोंके विपर्यास कथनको क्लृप्त हो रहे निरर्थकपनसे ही वादीका निग्रहस्थान कहना न्यायसे अनपेत है। उस निरर्थकसे इस अप्राप्तकालको न्यारा निग्रहस्थान मानना न्याय अनुमोदित नहीं है। आपको नीतिपूर्ण बातें कहनी चाहिये, कच्ची समझकी बातें नहीं।

यच्चोक्तं हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनं। यस्मिन् वाक्ये प्रतिज्ञादीनामन्यतमावयवो न भवति तद्वाक्यं हीनं वेदितव्यं। तच्च निग्रहस्थानसाधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात् प्रतिज्ञादीनां पंचानामपि साधनत्वात्।

और जो नैयायिकोंने हीननिग्रहस्थानका लक्षण यों कहा था कि अनुमानके नियत किये गये अवयवोंमेंसे एक भी अवयवसे जो न्यून कहा जायगा, वह " हीन " नामक निग्रहस्थान होगा। इसका अर्थ यों है कि जिस अनुमान वाक्यमें प्रतिज्ञा आदिकोंमेंसे कोई भी एक अवयव नहीं कहा गया होता है, वह वाक्य हीन समझना चाहिये और ऐसे वाक्यका उच्चारण करनेवाला पण्डित हीन निग्रहस्थानको प्राप्त होता हुआ पराजित हो जायगा। वह हीन तो निग्रहस्थान यों माना गया है कि साधनोंके अभाव होनेपर साध्यकी सिद्धिका अभाव हो जाता है। जब कि प्रतिज्ञा आदिक पांचों भी अवयवोंको अनुमानका साधकपना है, तो एक अवयवके भी कमती बोलनेपर न्यूनता आजाती है।

प्रतिज्ञान्यूनं नास्तीत्येके। तत्र पर्यनुयोज्याः प्रतिज्ञान्यूनं वाक्यं यो ब्रूते स किं निगृह्यते? अथवा नेति, यदि निगृह्यते कथमनिग्रहस्थानं? न हि तत्र हेत्वादयो न संति न च हेत्वादिदोषाः संतीति निग्रहं चाभ्युपैति। तस्मात्प्रतिज्ञान्यूनमेवेति। अथ न निग्रहः न्यूनं वाक्यमर्थं साधयतीति साधनाभावे सिद्धिरभ्युपगता भवति। यच्च ब्रवीषि सिद्धांतपरिग्रह एव प्रतिज्ञेति, तदपि न बुध्यामहे। कर्मण उपादानं हि प्रतिज्ञासामान्यं विशेषतोऽवधारितस्य वस्तुनः परिग्रहः सिद्धांत इति कथमनयोरैक्यं, यतः प्रतिज्ञासाधनविषयतया साधनांगं न स्यादित्युद्योतकरस्याकूतं, तदेतदपि न समीचीनमिति दर्शयति।

अभी नैयायिक ही कहे जा रहे हैं कि हेतु, उदाहरण, आदिसे न्यून हो रहे वाक्यको भले ही हीन कह दिया जाय, किन्तु प्रतिज्ञासे न्यून हो रहे वाक्यको हीन नहीं कहना चाहिये।

क्योंकि प्रतिज्ञा तो कहे विना यों ही प्रकरण द्वारा गम्यमान हो जाती है। गम्यमानका पुनः शब्दों द्वारा उच्चारण नहीं करना चाहिये। इस प्रकार कोई एक विद्वान् हम नैयायिकोंके ऊपर कटाक्ष कर रहे हैं। उनके ऊपर हमको यहां यह प्रश्न उठाना पडता है कि जो विद्वान् प्रतिज्ञासे न्यून हो रहे वाक्यको कह रहा है, वह क्या निग्रहस्थानको प्राप्त होता है ? अथवा नहीं प्राप्त होता है ? इसका उत्तर दो। यदि- प्रथमपक्षके अनुसार वह निग्रहको प्राप्त हो जाता है तो वह प्रतिज्ञान्यून किस प्रकार निग्रहस्थान नहीं है ? यानी प्रतिज्ञासे न्यून कहना अवश्य वादीका निग्रहस्थान है। प्रतिज्ञासे न्यून हो रहे उस वाक्यमें हेतु, उदाहरण आदिक नहीं है, अतः वह निगृहीत हो जाता है, यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि उस वाक्यमें हेतु आदिक प्रतीत हो रहे हैं। तथा तुम यों कह दो कि उस प्रतिज्ञान्यून वाक्यमें हेतु उदाहरण आदिके दोष पाये जाते हैं। इस कारण वादी निग्रहको प्राप्त हो जाता है। प्रतिज्ञाकी न्यूनता कोई दोष नहीं, सो भी तुम नहीं स्वीकार कर सकते हो। क्योंकि वहां निर्दोष हेतु आदिक देखे जा रहे हैं। तिस कारणसे वहां प्रतिज्ञान्यून ही निग्रहस्थान मानना आवश्यक है। अन्य कोई त्रुटि नहीं है। द्वितीय पक्ष अनुसार प्रतिज्ञान्यून वाक्यको कह रहे वादीका यदि निग्रह नहीं माना जायगा तब तो तुम्हारे यहां न्यून हो रहा वाक्य अर्थकी सिद्धि करा देता है। इस कारण साधनके नहीं होनेपर साध्यकी सिद्धि स्वीकार कर ली गयी समझी जाती है, जो कि न्यायनियमसे विरुद्ध है। वाचक शब्दोंके विना वाच्य अर्थकी और साधन वाक्योंके विना साध्य अर्थकी सिद्धि कथमपि नहीं हो सकती है। और जो तुम एक विद्वान् यों कहते हो कि स्वकीय सिद्धान्त कहनेका परिग्रह करना ही तो प्रतिज्ञा है। इस कारण उसको पुनः पुनः कहनेकी क्या आवश्यकता है ? विद्वानोंको गम्भीर वाक्योंका प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार तुम्हारी उस बातको भी हम नहीं कुछ समझ पाते हैं। भला विचारो तो सही सिद्धान्तका परिग्रह करना कैसे प्रतिज्ञा हो सकती है ? साधने योग्य कर्मका ग्रहण करना तो नियमसे प्रतिज्ञा सामान्य है। और विशेषरूपसे निर्णय की जा चुकी वस्तुका परिग्रह करना सिद्धान्त है। इस प्रकार भला इनका एकपना कैसे समझा जा सकता है, जिससे कि साध्यसिद्धिका उपयोगी विषय होनेसे प्रतिज्ञावाक्य साध्यको साधनेका अंगभूत नहीं होती, अर्थात्–प्रतिज्ञा साध्यसिद्धिका अंग है। उसको नहीं कहनेवाला वादी अवश्य निगृहीत हो जावेगा। इस प्रकार उद्योतकर पण्डितकी न्यूनको निग्रहस्थान सिद्ध करनेकी चेष्टा हो रही है। अब आचार्य महाराज कहते हैं कि यह उनका अकाण्ड ताण्डवके समान चेष्टा करना भी अच्छा नहीं है। इस बातको ग्रन्थकार स्वयं वार्तिक द्वारा दिखाते हैं।

हीनमन्यतमेनापि वाक्यं स्वावयवेन यत्।
तन्न्यूनमित्यसत्स्वार्थे प्रतीतेस्तादृशादपि ॥ २२१ ॥

नैयायिकोंने गौतम सूत्र अनुसार यों कहा है कि जो वाक्य प्रतिज्ञा आदिक अवयवोंमेंसे एक भी अपने अवयव करके हीन होता है, वह न्यून निग्रहस्थान है । इस प्रकार नैयायिकोंका कहना माननीय नहीं है । क्योंकि तिस प्रकारके न्यून हो रहे वाक्यसे भी परिपूर्ण स्वकीय अर्थमें प्रतीति हो रही देखी जाती है । " पुष्पेभ्यः " इतना मात्र कह देनेसे ही " स्पृहयति का " उपस्कार फूलोंके लिये अभिलाषा करता है, यह अर्थ निकल पडता है । " जीमो " कह देनेसे ही रसवतीका अध्याहार होकर पूरे स्वार्थकी प्रतिपत्ति हो जाती है । अतः पाण्डित्यपूर्ण स्वल्प, गम्भीर, निरूपण करनेवालोंके यहां न्यून कोई निग्रहस्थान नहीं मानना चाहिये ।

यावदवयवं वाक्यं साध्यं साधयति तावदवयवमेव साधनं न च पंचावयवमेव साध्यं साधयति क्वचित्प्रतिज्ञामंतरेणापि साधनवाक्यस्योत्पत्तेर्गम्यमानस्य कर्मणः साधनात् । तथोदाहरणहीनमपि साधनवाक्यमुपपन्नं साधर्म्यवैधर्म्योदाहरणविरहेपि हेतोर्गमकत्वसमर्थनात् । तत एवोपनयनिगमनहीनमपि वाक्यं च साधनं प्रतिज्ञाहीनवत् विदुषः प्रति हेतोरेव केवलस्य प्रयोगाभ्युपगमात् । धूमोत्र दृश्यते इत्युक्तेपि कस्यचिदग्निप्रतिपत्तेः प्रवृत्तिदर्शनात् ।

उपयोगी हो रहे जितने अवयवोंसे सहित हो रहा वाक्य प्रकृत साध्यको साध देता है, उतने ही अवयवोंसे युक्त हो रहे वाक्यको साध्यका साधक माना जाता है । पांचो ही अवयव कहे जांय तभी साध्यको साधते हैं, ऐसा तो नियम नहीं है । देखिये, कहीं कहीं प्रतिज्ञा वाक्यके विना भी हेतु आदिक चार अवयवोंके वाक्यको अनुमान वाक्यपनेकी उपपत्ति है, या प्रतिज्ञाके विना भी चार अवयवोंद्वारा साधनवाक्यकी उपपत्ति हो जाती है । क्योंकि विना कहे यों ही जान लिये गये साध्यस्वरूप कर्मकी सिद्धि कर दी जाती है । प्रतिज्ञा वाक्यके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । तिसी प्रकार उदाहरणसे हीन हो रहे भी अनुमेति साधनवाक्यकी उपपत्ति हो चुकी समझनी चाहिये । हेतु और साध्यके सधर्मापनको धार रहे अन्वयदृष्टान्त एवं हेतु और साध्यके विधर्मापनको धार रहे व्यतिरेक दृष्टान्तके विना भी हेतुके गमकपनका समर्थन कर दिया गया है । कहीं तो समर्थन कर दिया गया हेतु ही अकेला साध्यको साधनेमें पर्याप्त हो जाता है । तिस ही कारणसे उपनय और निगमनसे हीन हो रहा वाक्य भी परार्थ अनुमानका साधन हो जाता है, जैसे कि प्रतिज्ञाहीन वाक्यसे साध्यकी सिद्धि हो जाती है । क्योंकि विद्वानोंके प्रति केवल हेतुका ही प्रयोग करना स्वीकार किया गया है । यहां धुआं दीख रहा है । इतना कहे जा चुकनेपर भी किसी किसी उदास विद्वान्को अग्निकी प्रतिपत्ति हो जाती है । और उससे यथार्थ अग्निको पकडनेके लिये उसकी प्रवृत्ति हो रही देखी जाती है ।

सामर्थ्याद्गम्यमानास्तत्र प्रतिज्ञादयोपि संतीति चेत्, तर्हि प्रयुज्यमाना न संतीति तैर्विनापि साध्यसिद्धेः न तेषां वचनं साधनं साध्याविनाभाविसाधनमंतरेण साध्यसिद्धेरसंभवात्। तद्वचनमेव साधनमतस्तन्न्यूनं न निग्रहस्थानं परस्य स्वपक्षसिद्धौ सत्यामित्येतदेव श्रेयः प्रतिपद्यामहे।

यदि तुम नैयायिक यों कहो कि प्रतिज्ञासे न्यून उदाहरणसे न्यून उपनयसे न्यून और निगमनसे न्यून हो रहे उन वाक्योंमें प्रतिज्ञा आदिक भी गम्यमान हो रहे विद्यमान हैं। अतः पांचों अवयवोंसे साध्यका साधन हुआ, न्यूनसे नहीं। यों कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि वे प्रतिज्ञा आदिक वहां कंठोक्त प्रयोग किये जा रहे तो नहीं हैं। इस कारण उनके विना भी साध्यकी सिद्धि होगई, यह हमको कहना है। दूसरी बात यह भी है कि उनका कथन करना आवश्यकरूपसे साध्य सिद्धिमें प्रयोजक नहीं है। केवल हेतुका वचन अनिवार्य है। क्योंकि साध्यके साथ अविनाभाव रखनेवाले साधनके विना साध्यसिद्धिका असम्भव है। अतः उस ज्ञापक हेतुका कथन करना ही अनुमानका प्रधान साधन है। इस कारण उस हेतुसे न्यून हो रहे वाक्यको भले ही वादीकी न्यूनता कह दो, किन्तु वह न्यून नामक त्रुटि वादीका निग्रहस्थान नहीं करा सकती है। हां, दूसरे विद्वान्के निजपक्षकी सिद्धि होनेपर तो " न्यून " वादीका निग्रहस्थान कहा जा सकता है। पहिलेसे हम इसी सिद्धान्तको श्रेष्ठ समझते चले आ रहे हैं। अथवा न शब्दको निकाल देनेपर यों अर्थ किया जाता है कि पक्ष और हेतुका कथन किये विना साध्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। अतः उन दोसे न्यून रहे वाक्यको ही न्यून निग्रहस्थान मानो। किन्तु दूसरे अगले विद्वान्को स्वपक्षकी सिद्धि करना आवश्यक है। अन्यथा वादीका निग्रहस्थान नहीं, जयाभाव भले ही कहलो।

प्रतिज्ञादिवचनं तु प्रतिपाद्याशयानुरोधेन प्रयुज्यमानं न निवार्यते तत एवासिद्धो हेतुरित्यादिप्रतिज्ञावचनं हेतुदूषणोद्भावनकाले कस्यचिन्न विरुध्यते तद्वचननियमानभ्युपगमात्।

समझाने योग्य शिष्यके अभिप्रायकी अनुकूलता करके कण्ठोक्त शब्दोंद्वारा प्रयुक्त किये जा रहे प्रतिज्ञा हेतु आदिके कथन करनेका तो निवारण हम नहीं करते हैं। तिस ही कारणसे तो हेतुके दूषण उठानेके अवसरपर किसी एक विद्वान्का यह हेतु असिद्ध है, यह हेतु विरुद्ध है, इस अनुमानमें उपनय वाक्य नहीं बोला गया है, इत्यादिक प्रतिज्ञावाक्यका कथन करना विरुद्ध नहीं पडता है। हेतुरूप पक्षमें विरुद्धपनको साध्य करनेरूप यह हेतु विरुद्ध है। यह धर्म और धर्मीका समुदायरूप प्रतिज्ञावाक्य बन जाता है। प्रतिज्ञाके उच्चारण विना भी साध्यसिद्धि हो सकती है, (हेतु) अतः प्रतिज्ञा (पक्ष) नहीं कहनी चाहिये (साध्य), यह भी प्रतिज्ञा है। अतः प्रतिज्ञावाक्यके विना जो शिष्य नहीं समझ सकता है, उसको समझानेके लिए प्रतिज्ञा कहना योग्य है। जो दृष्टान्तके विना नहीं समझ सकता है, उसके प्रति (सन्मुख) दृष्टान्तका कहना भी

आवश्यक है। किन्तु सभी विद्वानोंके प्रति उन पांचों अवयवोंका प्रयोग करना यह नियम नहीं स्वीकार किया जाता है। " सब धान पांच पसेरी " नहीं करो।

तर्हि यथाविधान्न्यूनादर्थस्य सिद्धिस्तथाविधं तन्निग्रहस्थानमित्यपि न घटत इत्याह।

तब तो नैयायिक कहते हैं कि अच्छा, नहीं सही, किन्तु जिस प्रकारके न्यून कथनसे अभिप्रेत अर्थकी भले प्रकार सिद्धि नहीं हो सकती है। उस प्रकार वह न्यून कथन तो वक्ताका निग्रहस्थान हो जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह भी नैयायिकोंका मन्तव्य युक्तियोंसे घटित नहीं होता है। इस बातको ग्रन्थकार वार्तिकद्वारा कहते हैं।

यथा चार्थाप्रतीतिः स्यात्तन्निरर्थकमेव ते।
निग्रहांतरतोक्तिस्तु तत्र श्रद्धानुसारिणाम् ॥ २२२ ॥

हां, जिस प्रकारके न्यून कथनसे अर्थकी प्रतीति नहीं हो सकेगी, वह तो तुम्हारे यहां निरर्थक निग्रहस्थान ही हो जायगा। पुनः उस न्यूनमें न्यारा निग्रहस्थानपनका कथन करना तो अपने दर्शनकी अन्धश्रद्धाके अनुसार चलनेवाले नैयायिकोंको ही शोभा देता है। शब्द स्वल्प और अर्थका गाम्भीर्य रखनेवाले विचारशाली विद्वानोंके यहां छोटे छोटे अन्तरोंसे न्यारे न्यारे निग्रहस्थान नहीं गढे जाते हैं।

यच्चोक्तं, हेतूदाहरणादिकमधिकं यस्मिन् वाक्ये द्वौ हेतू द्वौ वा दृष्टान्तौ तद्वाक्यमधिकं निग्रहस्थानं आधिक्यादिति तदपि न्यूनेन व्याख्यातमित्याह।

जो भी नैयायिकोंने बारहवें " अधिक " नामक निग्रहस्थानका लक्षण यों कहा था कि वादी द्वारा हेतु, उदाहरण, आदि और प्रतिवादी द्वारा दूषण निग्रह आदिक अधिक कहे जायेंगे वह " अधिक " नामका निग्रहस्थान है। इसका अर्थ यों है कि जिस वाक्यमें दो हेतु अथवा दो दृष्टान्त कह दिये जावेंगे वह वाक्य अधिक निग्रहस्थान है। जैसे कि पर्वत अग्निमान् है। धूम होनेसे और आगकी झलका उजीता होनेसे (हेतु २) रसोई घरके समान, अवियानेके समान (अन्वय दृष्टान्त २) यहां दो हेतु या दो उदाहरण दिये गये। अतः आधिक्य कथन होनेसे वक्ता का निग्रहस्थान है, यह नैयायिकोंका मन्तव्य है। अब आचार्य कहते हैं कि वह भी न्यून निग्रहस्थानका विचार कर देनेसे व्याख्यान कर दिया गया है। भावार्थ–प्रतिपाद्यके अनुसार कहीं कहीं हेतु आदिक अधिक भी कह दिये जाते हैं। विना प्रयोजन ही अधिकोंका कथन करना है, वह निरर्थक निग्रहस्थान ही मान लिया जाय। हां, दूसरे विद्वानको अपने पक्षकी सिद्धि करना अनिवार्य होगा। व्यर्थमें अधिकको निग्रहस्थान माननेकी आवश्यकता नहीं, इस बातको ग्रन्थकार वार्तिकों द्वारा कहते हैं।

हेतूदाहरणाभ्यां यद्वाक्यं स्यादधिकं परैः ।
प्रोक्तं तदधिकं नाम तच्च न्यूनेन वर्णितम् ॥ २२३ ॥
तत्त्वापर्यवसानायां कथायां तत्त्वनिर्णयः ।
यदा स्यादधिकादेव तदा का नाम दुष्टता ॥ २२४ ॥

जो दूसरे विद्वान् नैयायिकों द्वारा अपने विचार अनुसार यह बहुत अच्छा कहा गया है, कि जो वाक्य हेतु और उदाहरणों करके अधिक है वह अधिक नामका निग्रहस्थान है, उपलक्षणसे उपनय, निगमन, भी पकड सकते हैं । अब आचार्य कहते हैं कि वह तो न्यून नामक निग्रहस्थानकी वर्णनासे ही वर्णित हो चुका है । अधिकके लिये उससे अधिक विचारनेकी आवश्यकता नहीं । एक बात यह है कि वादकथामें अन्तिम रूपसे तत्त्वोंका निर्णय नहीं होनेपर जब अधिक कथनसे ही तत्त्वोंका निर्णय होगा तो ऐसी दशामें अधिक कथनको भला क्या निग्रहस्थान रूपसे दूषितपना हो सकता है ? अर्थात्—थोडे कथनसे जब तत्त्वोंका निर्णय नहीं हो पाता है, तो अधिक और अत्यधिक कहकर समझाया जाता है । अनेक स्थलोंपर अधिक कथनसे साधारण जन सरलतापूर्वक समझ जाते हैं । अतः अधिकका निरूपण करना गुण ही है । दोष नहीं ।

स्वार्थिके केधिके सर्वं नास्ति वाक्याभिभाषणे ।
तत्प्रसंगात्ततोर्थस्यानिश्चयात्तन्निरर्थकम् ॥ २२५ ॥

सम्पूर्ण पदार्थ नित्य नहीं है । कृतक होनेसे यहां, कृत एव कृतकः इस प्रकार कृत शद्बके स्वकीय अर्थमें ही " क " प्रत्यय हो गया है । क प्रत्ययका कोई अधिक अर्थ नहीं है । स्वार्थमें किये गये प्रत्ययोंका अर्थ प्रकृतिसे अतिरिक्त कुछ नहीं होता है । अतः कृतक, देवता, शैली, भैषज्य इत्यादि स्वार्थिक प्रत्ययवाले पदोंसे समुदित हो रहे वाक्योंके कथन करनेपर वक्ताको उस अधिक निग्रहस्थानकी प्राप्तिका प्रसंग हो जायगा । हां, जहां कहीं उस अधिक व्यर्थ बकवादसे अर्थका निश्चय नहीं हो पाता है, सर्वथा व्यर्थ जाता है, इससे तो वह अधिक कथन निरर्थक निग्रहस्थान हो जायगा । व्यर्थमें अधिकको न्यारा अधिक निग्रहस्थान माननेकी आवश्यकता नहीं ।

सोपमुद्योतकरः, साध्यस्यैकेन ज्ञापितत्वाद्व्यर्थमभिधानं द्वितीयस्य, प्रकाशिते प्रदीपांतरोपादानवदनवस्थानं वा, प्रकाशितेपि साधनांतरोपादाने परापरसाधनांतरोपादानप्रसंगादिति ब्रुवाणः प्रमाणसंप्लवं समर्थयत इति कथं स्वस्थः ?

सो यह उद्योतकर पण्डित अधिकको निग्रहस्थानका समर्थन करनेके लिये इस प्रकार कह रहा है कि दो हेतुओंको कहनेवाला वादी अधिक कथन करनेसे निगृहीत है । कारण कि जब

एक ही हेतुकरके साध्यका ज्ञापन किया जा चुका है, तो दूसरे हेतुका कथन करना व्यर्थ है। जैसे कि एक दीपकके द्वारा भले प्रकार प्रकाश किया जा चुकनेपर पुनः अन्य दीपकोंका उपादान करना निष्प्रयोजन है। यदि कृतकृत्य हो चुकनेपर भी पुनः कारक, ज्ञापक, व्यंजक, हेतुओंका ग्रहण किया जायगा तो कृतका करण, चर्वितका चर्वण, इनके समान अनवस्था भी हो जायगी। क्योंकि हेतु द्वारा या प्रदीप द्वारा पदार्थोंके प्रकाश युक्त हो चुकनेपर भी यदि अन्य साधनोंका उपादान किया जायगा तो उत्तरोत्तर अन्य साधनोंके ग्रहण करनेका प्रसंग हो जानेसे कहीं दूर चलकर भी अवस्थिति नहीं हो पावेगी। इस प्रकार उद्योतकर प्रमाण संप्लवका समर्थन कर रहा है। ऐसी दशामें वह स्वस्थ (होशमें) कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात्–एक ही अर्थमें बहुतसे प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होनेको प्रमाणसंप्लव कहते हैं। नैयायिक, जैन, मीमांसक, ये सभी विद्वान् प्रमाण संप्लवको स्वीकार करते हैं। किन्तु हमको आश्चर्य है कि अधिक नामका निग्रह हो जानेके भयसे उद्योतकर नैयायिक प्रकाशित कर पुनः प्रकाशन नहीं करना चाहते हैं। वे उद्योतकर एक प्रमाणसे जान लिये गये अर्थका पुनः द्वितीय प्रमाण द्वारा उद्योत करना तो स्वीकार नहीं करेंगे। एक ओर उद्योतकर पंडित प्रकाशितका पुनः प्रकाश नहीं मानते हुये दूसरी ओर प्रमाणसंप्लवको मान बैठे हैं। ऐसे पूर्वापरविरुद्ध वचनको कहनेवाला मनुष्य मूर्च्छाग्रसित है। स्वस्थ (होश) अवस्थामें नहीं है।

कस्यचिदर्थस्यैकेन प्रमाणेन निश्चयेपि प्रमाणांतरविषयत्वेपि न दोषो दार्ढ्यादिति चेत् किमिदं दार्ढ्यं नाम ? सुतरां प्रतिपत्तिरिति चेत् किमुक्तं भवति, सुतरामिति सिद्धेः। प्रतिपत्तिर्द्वाभ्यां प्रमाणाभ्यामिति चेत्, तर्ह्याद्येन प्रमाणेन निश्चितेर्थे द्वितीयं प्रमाणं प्रकाशितप्रकाशनवद्व्यर्थमनवस्थानं वा निश्चितेपि परापरप्रमाणान्वेषणात्। इति कथं प्रमाणसंप्लवः ?

यदि उद्योतकर यों कहें कि एक प्रमाण करके किसी अर्थका निश्चय हो जानेपर भी अन्य प्रमाण द्वारा उसको विषय करनेमें भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि पहिले प्रमाणसे जाने हुये अर्थकी पुनः दूसरे प्रमाण द्वारा दृढतासे प्रतिपत्ति हो जाती है। इस प्रकार उद्योतकरके कहनेपर तो हम पूंछते हैं कि तुम्हारी मानी हुयी यह दृढता भला क्या पदार्थ है ? बताओ। स्वयं अपने आप विना परिश्रमके प्रतिपत्ति हो जानेको यदि ज्ञानकी दृढता मानोगे तब तो हम कहेंगे कि दूसरे प्रमाण द्वारा भला क्या कहा जाता है ? पदार्थकी प्रतिपत्ति तो स्वयं उक्त प्रकारसे सिद्ध हो चुकी है। अतः दूसरे प्रमाणका उत्थापन व्यर्थ पडता है। यदि दो प्रमाणोंसे पक्की प्रतिपत्ति हो जाना दृढता है, तब तो हम कहेंगे कि आदिके प्रमाण करके ही जब अर्थका निश्चय हो चुका था तो दूसरा प्रमाण उठाना प्रकाशितका प्रकाशन करनेके समान व्यर्थ हो जाता है। दूसरी बात यह है कि

अधिक निग्रहस्थानका समर्थन करते समय तुम्हारे द्वारा उठायी गयी अनवस्थाके समान प्रमाणसंप्लवमें भी अनवस्था दोष होगा। क्योंकि निश्चित किये जा चुके पदार्थके पुनः पुनः निर्णय करनेके लिये उत्तरोत्तर अनेक प्रमाणोंका ढूंढना बढता ही चला जायगा। ऐसी दशामें तुम नैयायिक भला " प्रमाणसंप्लवको " कैसे स्वीकार कर सकते हो ?

यदि पुनर्बहूपायप्रतिपत्तिः दार्ढ्यमेकत्र भूयसा प्रमाणानां प्रवृत्तौ संवादसिद्धिश्चेति मतिस्तदा हेतुना दृष्टांतेन वा केनचिज्ज्ञापितेर्थे द्वितीयस्य हेतोर्दृष्टांतस्य वा वचनं कथमनर्थकं तस्य तथाविधदार्ढ्यत्वात् । न चैवमनवस्था, कस्यचित्क्वचिन्निराकांक्षतोपपत्तेः प्रमाणांतरवत् ।

यदि फिर तुम्हारा यह मन्तव्य होवे कि ज्ञप्तिके बहुतसे उपायोंकी प्रतिपत्ति हो जाना दृढपना है। तथा एक विषयमें बहुत अधिक प्रमाणोंकी प्रवृत्ति हो जानेपर पूर्वज्ञानमें सम्वादकी सिद्धि हो जाती है। सम्वादी ज्ञान प्रमाण माना गया है। अतः हमारे यहां प्रमाणसंप्लव सार्थक है। तब तो हम जैन कहेंगे कि प्रकरणमें एक हेतु अथवा किसी एक दृष्टान्तकरके अर्थकी ज्ञप्ति करा चुकनेपर पुनः दूसरे हेतु अथवा दूसरे दृष्टान्तका कथन करना भला क्यों व्यर्थ होगा ? क्योंकि उस दूसरी, तीसरी बार कहे गये हेतु या दृष्टान्तोंको भी तिस प्रकार दृढतापूर्वक प्रतिपत्ति करा देना घट जाता है। बहुतसे उपायोंसे अर्थकी प्रतिपत्ति पक्की हो जाती है और अनेक हेतु और दृष्टांतोंके प्रवर्तनेपर पूर्वज्ञानोंको सम्वादकी सिद्धि हो जानेसे प्रमाणता आ जाती है। यहां कोई नैयायिक यों कटाक्ष करे कि उत्तर उत्तर अनेक हेतु या बहुतसे दृष्टान्तोंको उठाते उठाते अनवस्था हो जायगी, आचार्य कहते हैं कि सो तो नहीं कहना। क्योंकि किसी न किसीको कहीं न कहीं आकांक्षा रहितपना सिद्ध हो जाता है। चौथी, पांचवी, कोटिपर प्रायः सबकी जिज्ञासा शान्त हो जाती है। प्रमाणसंप्लववादियोंको या सम्वादका उत्थान करनेवालोंको भी अन्य प्रमाणोंका उत्थापन करते करते कहीं छठवीं, सातवीं, कोटिपर निराकांक्ष होना ही पडता है। उसीके समान यहां भी अधिक हेतु या दृष्टान्तोंमें अनवस्था नहीं आती है। अतः अधिकको निग्रहस्थान मानना समुचित प्रतीत नहीं होता है।

कथं कृतकत्वादिति हेतुं क्वचिद्वदतः स्वार्थिकस्य कप्रत्ययस्य वचनं यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टमिति व्याप्तिं प्रदर्शयतो यत्तद्वचनमधिकं नाम निग्रहस्थानं न स्यात्, तेन विनापि तदर्थप्रतिपत्तेः ।

अधिक कथन करनेको यदि वक्ताका निग्रहस्थान माना जायगा तो किसी स्थलपर " शद्बोऽनित्यः कृतकत्वात् " इस अनुमानमें कृतत्वात्के स्थानमें स्वार्थवाचक प्रत्ययको बढाकर " कृतकत्वात् " इस प्रकार हेतुको कह रहे वादीके द्वारा कृतके निज अर्थको ही कहनेवाली

स्वार्थिक क प्रत्ययका कथन करना वादीका " अधिक " निग्रहस्थान क्यों नहीं हो जावेगा ? तथा उक्त अनुमानमें जो जो कृतक होता है, वह वह पदार्थ अनित्य देखा गया है, इस प्रकार व्याप्ति का प्रदर्शन करा रहे वादीके द्वारा यत् और तत् यानी जो जो वह वह शद्वका वचन करना भला उस वादीका अधिक नामक निग्रहस्थान क्यों नहीं हो जावेगा ? क्योंकि उन यत् तत् शद्वोंके कथन बिना भी उस व्याप्तिप्रदर्शनरूप अर्थकी प्रतिपत्ति हो जाती है। यानी कृतक पदार्थ अनित्य हुआ करता है। इतना कहना ही व्याप्तिप्रदर्शनके लिये पर्याप्त है।

सर्वत्र वृत्तिपदप्रयोगादेव चार्थप्रतिपत्तौ संभाव्यमानायां वाक्यस्य वचनं कमर्थं पुष्णाति ? येनाधिकं न स्यात्।

सभी स्थानोंपर कृदन्त, तद्धित, समास, आदि वृत्तियोंसे युक्त हो रहे पदोंके प्रयोगसे ही अर्थकी प्रतिपत्ति होना सम्भव हो रहा है तो खण्डकर वाक्यका वचन करना भला किस नवीन अर्थको पुष्ट कर रहा है ? जिससे कि अधिक निग्रहस्थान नहीं होवे। अर्थात्–" इत्वरी " इस प्रकार कृदन्त लघुपदसे जब कार्य निकल सकता है, तो परपुरुषगमनका स्वभाव रखनेवाली पुंश्चली स्त्री यह लम्बा वाक्य क्यों कहा जाता है ? " स्थाष्णु " से कार्य निकल सकता है तो स्थिति शील क्यों कहा जाता है। या " दाक्षि " इस लघुपदके स्थानपर दक्षका अपत्य नहीं कहना चाहिये। " धर्म्य " के स्थानपर धर्मसे अनपेत हो रहा है, यह वाक्य नहीं बोलना चाहिये। क्योंकि अधिक पडता है। तथा " उन्मत्तगंगं " के स्थानपर जिस देशमें गंगा उन्मत्त हो रही है, यह वाक्य कुछ भी विशेषता नहीं रखता। " शाकप्रिय " के बदले जिस मनुष्यको शाक प्यारा है, इस वाक्यका कोई नया अर्थ नहीं दीखता है। पितरौ इस शब्दकी अपेक्षा " माता पिता हैं " इस वाक्यका अर्थ अतिरिक्त नहीं है। किन्तु शब्दोंकी भरमार अधिक है। अतः वक्ताको अधिक निग्रहस्थान मिलना चाहिये।

तथाविधवचनस्यापि प्रतिपत्त्युपायत्वान्न निग्रहस्थानमिति चेत्, कथमनेकस्य हेतोर्दृष्टांतस्य वा प्रतिपत्त्युपायभूतस्य वचनं निग्रहाधिकरणं ? निरर्थकस्य तु वचनं निरर्थकमेव निग्रहस्थानं न्यूनवन्न पुनस्ततोन्यत्।

यदि आप नैयायिक यों कहें कि तिस प्रकार स्वार्थिक प्रत्ययों या पदोंका खण्ड खण्ड करते हुये वाक्य बनाकर कथन करना भी प्रतिपत्तिका उपाय है। अपनी उत्पत्तिमें अन्य कारणोंकी अपेक्षा रखनेवाले भावको कृतक कहते हैं। जिस पुरुषने कृतक ही शद्वका उक्त अर्थके साथ संकेत ग्रहण किया है, उस पुरुषके लिये कृत शद्वका उच्चारण नहीं कर कृतक शद्वका प्रयोग करना चाहिये, जो स्थूल बुद्धि श्रोता कठिनवृत्ति पदोंद्वारा अर्थप्रतिपत्ति नहीं कर सकते हैं, उनके प्रति खण्ड वाक्योंका प्रयोग करना उपादेय है। अतः वे अधिक कथन तो निग्रहस्थान नहीं हैं।

यों कहनेपर तो हम जैन कह देंगे कि प्रतिपत्तिके उपायभूत हो रहे अनेक हेतु अथवा अनेक दृष्टान्तोंका कथन करना भी वक्ताका निग्रहस्थान भला क्यों होगा ? अर्थात्–नहीं, हां, कालयापन करनेके लिये निरर्थक हेतु आदिकोंका अधिक कथन करना तो निरर्थक निग्रहस्थान ही है। अधिक नामक न्यारा निग्रहस्थान नहीं है। जैसे कि जिस प्रकारके न्यून कथन करनेसे अर्थकी प्रतीति नहीं हो पाती है। वह न्यून कोई न्यारा निग्रहस्थान नहीं होकर निरर्थक ही है उसीके समान फिर यह अधिक भी उस व्यक्त निरर्थकसे भिन्न कोई न्यारा निग्रहस्थान नहीं है, यह समझे रहो।

पुनरुक्तं निग्रहस्थानं विचारयितुकाम आह ।

नैयायिकों द्वारा स्वीकार किये गये तेरहवें पुनरुक्त निग्रहस्थानका विचार करनेकी इच्छा रखनेवाले श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकोंको कहते हैं।

पुनर्वचनमर्थस्य शद्धस्य च निवेदितम् ।
पुनरुक्तं विचारेन्यत्रानुवादात्परीक्षकैः ॥ २२६ ॥

गौतम सूत्र अनुसार परीक्षकों करके पुनरुक्तका लक्षण यह निवेदन किया गया है कि विचार करते समय जो उसी शद्ध और अर्थका पुनः कथन करना है, वह पुनरुक्त निग्रहस्थान है, हां, अनुवादके स्थलको छोड देना चाहिये। अर्थात्–अनुवाद करनेके सिवाय अर्थ–पुनरुक्त और शद्ध–पुनरुक्त दो निग्रहस्थान हैं। समान अर्थवाले पूर्व पूर्व उच्चारित शद्धोंका पीछे भी निष्प्रयोजन प्रयोग करना शद्धपुनरुक्त है। और समान अर्थवाले भिन्न भिन्न अनुपूर्वीको धार रहे अन्य शद्धोंका निरर्थक कथन करना अर्थपुनरुक्त है। जैसे कि घटः घटः यह पहिला शद्ध पुनरुक्त है। घट शद्ध द्वारा घट अर्थको कह कर पुनः कलश शद्ध द्वारा उसी अर्थको कहना अर्थपुनरुक्त है। हम तुम्हारे कथनको समझ गये हैं, इस बातका प्रतिपादन करनेके लिये अनुवादमें जो सप्रयोजन व्याख्यान किया जाता है, वह पुनरुक्त कथन दोष नहीं समझा जाता है।

तत्राद्यमेव मन्यंते पुनरुक्तं वचोर्थतः ।
शद्धसाम्येपि भेदेऽस्यासंभवादित्युदाहृतम् ॥ २२७ ॥
हसति हसति स्वामिन्युच्चैरुदत्यतिरोदिति ।
कृतपरिकरं स्वेदोद्गारि प्रधावति धावति ॥
गुणसमुदितं दोषापेतं प्रणिंदति निंदति ।
धनलवपरिक्रीतं यंत्रं प्रनृत्यति नृत्यति ॥ २२८ ॥ (हरिणी छन्द)

आचार्य महाराज कहते हैं कि उस पुनरुक्तके प्रकरणमें आद्यके ही अर्थपुनरुक्तको विद्वान् लोक दोष मान रहे हैं। जो वचन अर्थकी अपेक्षा पुनरुक्त है वह पुनरुक्त निग्रहस्थान कहा गया है। क्योंकि शद्बोंकी समानता होनेपर भी अर्थका भेद हो जानेपर इस पुनरुक्त निग्रहस्थानका असम्भव है। इसका उदाहरण हरिणीछन्द द्वारा यों दिया गया है कि एक अनुकूल नायिका है। वह स्वामीके हंसनेपर उच्च स्वरसे हंसती है, और स्वामीके रोनेपर अधिक रोती है। या खाटका ग्रहण कर (खटपाटी लेकर) अत्यन्त रोने लग जाती है। तथा स्वामीके पसीनाको बहानेवाले भले प्रकार दौडनेपर वह स्त्री भी दौडने लग जाती है। इस वाक्यमें कृतपरिकर और स्वेदोद्गारि ये दोनों क्रियाविशेषण हैं, तथा स्वामीके द्वारा गुणोंके समुदायसे युक्त और दोषोंसे सर्वथा रहित ऐसे भी पुरुषकी भले प्रकार निन्दा करते सन्ते वह स्त्री भी ऐसे सज्जनपुरुषकी निन्दा करने लग जाती है। एवं थोडे धन (कुछ पैसों) से मोल लिये गये यंत्र (खिलौना) का स्वामीके द्वारा अच्छा नृत्य करानेपर वह भी खिलौनेको नचाने लग जाती है। अथवा यंत्रके साथ स्वामीके नाचनेपर वह भी नाचने लग जाती है। तथा चाटुकारता (खुशामद) द्वारा ही प्रसन्न होनेवाले स्वामीके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाले अविचारी स्वार्थी सेवकका भी उक्त उदाहरण सम्भव जाता है। यहां पहिले कहे गये हसति, रुदति, प्रधावति, इत्यादिक शद्ब तो शतृ प्रत्ययान्त होते हुये सति अर्थमें सप्तमी विभक्तिवाले हैं। दूसरे हसति, रोदिति, धावति इत्यादिक तिङन्त शद्ब लट् लकारके क्रियारूप हैं। " कामिनीरहितायते कामिनीरहितायते। कामिनी रहितायते कामिनी रहितायते, एवं " महाभारतीते महाभाऽरतीतेत्यपि द्योततेऽच्छमहाभारतीते " रम्भारामा कुरवक कमलारं भारामा कुरवक कमला, रम्भारामाकुरवककमला रम्भा रामा कुरवक माला " इत्यादिक श्लोकोंमें शद्बोंके समान होनेपर भी अर्थभेद होनेके कारण पुनरुक्त दोष नहीं है। अतः शद्बोंके विभिन्न होनेपर या समान होनेपर यदि पुनः दूसरे बार अर्थका भेद प्रतीत नहीं होय तो " अर्थ पुनरुक्त " ही स्वीकार करना चाहिये। जहां शद्ब भी सदृश हैं, और अर्थ भी वही एक है, वहां तो अर्थपुनरुक्तदोष समझो ही।

सभ्यप्रत्यायनं यावत्तावद्वाच्यमतो बुधैः।
स्वेष्टार्थवाचिभिः शद्बैस्तैश्चान्यैर्वा निराकुलम् ॥ २२९ ॥
तदप्रत्यायिशद्बस्य वचनं तु निरर्थकम्।
सकृदुक्तं पुनर्वेति तात्विकाः संप्रचक्षते ॥ २३० ॥

जितनेभर भी शद्बोंके द्वारा सभासद पुरुषोंका व्युत्पादन हो सके उतने भरपूर शद्ब विद्वानों करके कहने चाहिये। अतः अपने अभीष्ट अर्थका कथन करनेवाले उन्हीं शद्बोंकरके अथवा अन्य भी वहां यहांके दूसरे दूसरे शद्बों करके आकुलतारहित हो कर भाषण करना उपयोगी है।

अर्थात्--लाघवके लोभमें पडकर शद्बोंका संकोच करनेसे भारी अर्थकी हानि उठानी पडती है। सभामें मन्दबुद्धि, मध्यबुद्धि, तीव्रक्षयोपशम, प्रकृष्ट प्रतिभा, आदिको धारनेवाले सभी प्रकारके जीव हैं। समझाने समझनेमें आकुलता नहीं हो, इस ढंगसे श्रेष्ठ वक्ताको व्याख्यान करना चाहिये। किसी प्रकृष्ट बुद्धिवाले प्रतिपाद्यकी अपेक्षा वक्ताका पुनर्वचन इतना भयावह नहीं है, जितना कि बहुतसे मन्दबुद्धिवालोंका अज्ञानि बना रहना हानिकर है। मैंने (माणिकचन्द) भाषा टीका लिखते समय अनेक स्थलोंपर दो दो बार तीन तीन बार कठिन प्रमेयको समझानेका प्रयास किया है क्योंकि प्रकृष्टबुद्धिशाली विद्वानोंके लिये तो मूलग्रन्थ ही उपादेय है। हां, जो साधारण बुद्धिवाले पुरुष श्री विद्यानन्द स्वामीकी पंक्तियोंको समझनेके लिये असमर्थ हैं, या अर्द्धसमर्थ हैं, उनके लिये देश भाषा लिखी गयी है। यानी, अर्थात्, भावार्थ, जैसे, आदि प्रतीकों करके अनेक स्थलोंपर पुनरुक्ति हो गई है, किन्तु वे सब परिभाषण मन्दक्षयोपशमवाले शिष्योंको समझानेके लिये हैं। उस पुनरुक्त कथन द्वारा विशिष्ट क्षयोपशमको उठा कर विद्वान् भी सम्भवतः कुछ लाभ उठा सके, जैसे कि कठिनश्लोक् या पंक्तिको कई बार उसी शद्ब आनुपूर्वीसे बांचनेपर प्रतिभाशाली विचक्षण धीमान् चमत्कारक अर्थको निकाल लेते हैं। दो तीन बार पानी, पानी, पानी, कह देनेसे श्रोता अतिशीघ्र जलको ले आता है। कई बार सांप, सांप, कह देनेसे पथिक सतर्क हो कर सर्पसे अपनी झटिति संरक्षा कर लेता है। मरा मरा मरा, पिचा पिचा पिचा, अधिक पीडा है, बहुत पीडा है, पकडो पकडो पकडो इत्यादिक शद्ब भी अनेक अवसरोंपर विशेष प्रयोजनको साध देते हैं। अतः क्वचित् पुनुरुक्त भी दोष नहीं है। महर्षियोंके व्यर्थ दीख रहे वचन तो न जाने कितना अपरिमित अर्थ निकाल कर धर देते हैं। " गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः " सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च " परस्परोपग्रहो जीवानां " इन सूत्रोंमें पडे हुये उपग्रह शद्ब तो विलक्षण अर्थोंको कह रहे हैं। प्रकरणमें अब यह कहना है कि वक्ताको श्रोताओंके प्रत्यय करानेका लक्ष्य भरपूर रखना चाहिये। हां, उन सभ्योंको कुछ भी नहीं समझानेवाले शद्बोंका कथन तो निरर्थक ही है। भले ही वह व्यर्थ कथन एक बार कहा जाय या पुनः कहा जाय निरर्थक निग्रहस्थानमें ही अन्तर्भूत हो जायगा। इसके लिये न्यारे " पुनरुक्त " निग्रहस्थान माननेकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार तत्त्ववेत्ता विद्वान् भले प्रकार बढिया निरूपण कर रहे हैं।

सकृद्वादे पुनर्वादोनुवादोर्थविशेषतः।
पुनरुक्तं यथा नेष्टं क्वचित्तद्वदिहापि तत् ॥ २३१ ॥

एक बार वाक्कथा कह चुकनेपर प्रयोजनकी विशेषताओंसे पुनः कथन करनारूप अनुवाद जिस प्रकार कहीं कहीं पुनुरुक्त दोषसे दूषित अभीष्ट नहीं किया गया है, उसीके समान यहां भी अर्थकी विशेषता होनेपर वह पुनुरुक्त दोष नहीं है।

अर्थादापद्यमानस्य यच्छब्देन पुनर्वचः ।
पुनरुक्तं मतं यस्य तस्य स्वेष्टोक्तिबाधनम् ॥ २३२ ॥

जिस नैयायिकके यहां अर्थप्रकरणसे ही गम्यमान हो रहे अर्थका पुनः शब्दों करके कथन करना जो पुनरुक्त माना गया है। गौतम सूत्रमें लिखा है कि " अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं "। उत्पत्ति धर्मवाला पदार्थ अनित्य होता है, इतना कहनेसे ही अर्थापत्तिके करके यों जान लिया जाता है कि उत्पत्तिधर्मसे रहित हो रहा सत् पदार्थ नित्य होता है। जीवित देवदत्त घरमें नहीं है। इतना कह देनेसे ही घरसे बाहर देवदत्तका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। अतः अर्थसे आपादन किये जा रहे अर्थका स्ववाचक शब्दोंकरके पुनः कथन करना भी पुनरुक्त है। इसपर आचार्योंका कहना है कि उक्त सिद्धान्त माननेपर उन नैयायिकोंके यहां अपने अभीष्ट कथनसे ही बाधा उपस्थित हो जाती है। नैयायिकोंने अनेक स्थलोंपर विना कहे ही जाने जा रहे प्रतिज्ञा आदिकोंका निरूपण किया है। विद्वानोंको स्ववचनबाधित कथन नहीं करना चाहिये।

योप्याह, शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तमिति च. तस्य प्रतिपन्नार्थप्रतिपादकत्वेन वैयर्थ्यान्निग्रहस्थानमिति मतं न पुनरन्यथा। तथा च निरर्थकान्न विशिष्यते, स्ववचनविरोधश्च। स्वयमुद्देशलक्षणपरीक्षावचनानां प्रायेणाभ्युपगमादर्थाद्गम्यमानस्य प्रतिज्ञादेर्वचनाच्च।

जो भी गौतमसूत्र अनुसार नैयायिक यों कह रहा है, शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् और अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तं " इन दो सूत्रोंका अर्थ यों कहा जा चुका है कि अनुवाद करनेसे अतिरिक्त स्थलोंपर शब्द और अर्थका जो पुनः कथन करना है, वह पुनरुक्त निग्रहस्थान है। तथा अर्थापत्तिद्वारा अर्थसे गम्यमान हो रहे प्रमेयका पुनः स्वकीय पर्यायवाचक शब्दोंसे पुनः कथन करना भी पुनरुक्त है। उस सूत्रके अनुयायी नैयायिकोंके यहां जाने हुये ही अर्थका प्रतिपादक होनेसे व्यर्थ हो जानेके कारण पुनरुक्तको निग्रहस्थान माना गया है, यह उनका अभीष्ट सिद्धान्त है। पुनः अन्य प्रकारोंसे पुनरुक्त निग्रहस्थान स्वीकृत नहीं किया है। और तिस प्रकार होनेपर वह पुनरुक्त निग्रहस्थान तो निरर्थक निग्रहस्थानसे कुछ भी विशेषताओंको नहीं रखता है। अतः निग्रहस्थानोंकी व्यर्थ संख्या बढानेसे कोई लाभ नहीं है। दूसरी बात यह है कि नैयायिकोंको अपने कथनसे ही अपना विरोध आजानारूप दोष उपस्थित होगा। क्योंकि नैयायिकोंने ग्रन्थोंमें उद्देश, लक्षण निर्देश और परीक्षाके पुनरुक्त वचनोंको बाहुल्यसे स्वीकार किया है। नाममात्र कथनको उद्देश कहते हैं। असाधारण धर्मके कथनको लक्षण कहते हैं। विरुद्ध नाना

युक्तियोंके प्रबलपन और दुर्बलपनके निर्णय करनेके लिये प्रवर्त रहे विचारको परीक्षा कहते हैं। गौतमसूत्रमें ही पहिले प्रमाण, प्रमेय, संशय आदि सोलह पदार्थोंका उद्देश किया है। पुनः उनके लक्षण या भेदोंको कहा है। पश्चात्–उनकी परीक्षा की गयी है। वैशेषिक दर्शनमें भी प्रथम अध्यायके पांचवें सूत्र अनुसार पृथ्वीका उद्देश कर पुनः रूप, रस, गन्धस्पर्शवती पृथिवी ऐसा द्वितीय अध्यायके प्रथमसूत्रद्वारा लक्षण किया है। पीछे परीक्षा की गयी है, तथा अनेक स्थलोंपर शब्दोंके प्रयोग विना ही गम्यमान हो रहे प्रतिज्ञा, दृष्टान्त, आदिका कण्ठोक्त शब्दोंद्वारा निरूपण किया है। ऐसी दशामें उनको अपने इष्ट पुनरुक्त निग्रहस्थानसे भय क्यों नहीं लगा? अतः सिद्ध होता है कि पुनरुक्त कोई निग्रहस्थानके लिये उचित दोष नहीं है। यदि कुछ थोडासा है भी तो वह निरर्थक-रूपसे ही वक्ताका निग्रह करा देगा। पुनरुक्तको स्वतन्त्र न्यारा निग्रहस्थान मानना निरर्थक है।

यदप्युक्तं, विज्ञातस्य परिषदा त्रिभिरभिहितस्याप्रत्युच्चारणमननुभाषणं निग्रहस्थानमिति तदनूद्य विचारयन्नाह।

और भी जो नैयायिकोंने चौदहवें अननुभाषण निग्रहस्थानका लक्षण गौतमसूत्रमें इस प्रकार कहा था कि सभाजनोंकरके विशेषरूपसे जो जान लिया गया है, ऐसे वाक्यार्थके वादी करके तीन बार कह दिये गये का भी जो प्रत्युत्तर कोटिके रूपमें प्रतिवादीद्वारा उच्चारण नहीं करना है, वह प्रतिवादीका अननुभाषण निग्रहस्थान है। इस प्रकार उस नैयायिकके वक्तव्यका अनुवाद कर विचार करते हुये श्री विद्यानंद आचार्य व्याख्या करते हैं।

त्रिर्वादिनोदितस्यापि विज्ञातस्यापि संपदा।
अप्रत्युच्चारणं प्राह परस्याननुभाषणम् ॥ २३२ ॥

वादीकरके तीन बार कहे हुये का भी अत एव विद्वत् परिषद करके भी भले प्रकार जान लिये गये पदार्थका जो दूसरे प्रतिवादीद्वारा प्रत्युत्तर रूपसे उच्चारण नहीं किया जाना है, वह पर वादीका अननुभाषण निग्रहस्थान है।

तदेतदुत्तरविषयापरिज्ञानान्निग्रहस्थानमप्रत्युच्चारयतो दूषणवचनविरोधात्। तत्रेदं विचार्यते, किं सर्वस्य वादिनोक्तस्याननुच्चारणं किं वा यन्नांतरीयका साध्यसिद्धिरभिमता तस्य साधनवाक्यस्याननुच्चारणमिति।

तिस कारण यह अननुभाषण, प्रतिवादीको उत्तर विषयक परिज्ञान नहीं होनेसे उस प्रति-वादीका निग्रहस्थान माना गया है। क्योंकि प्रतिवादीका कर्तव्य है कि वादीके कहे हुये पक्षमें दोष निरूपण करे। जब कि प्रतिवादी कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं कर रहा है तो ऐसे चुप्पे प्रतिवादी द्वारा दूषण वचन कहे जानेका विरोध है। भाष्यकार इसके ऊपर खेद प्रकट करते हैं कि कुछ भी

नहीं कह रहा यह वादी (प्रतिवादी) भला किसका अवलम्ब लेकर परपक्षके प्रतिषेधको कहे। अतः निगृहीत हो जाता है। अब उस अननुभाषण निग्रहस्थानके विषयमें श्री विद्यानन्द आचार्य यह विचार उठाते हैं कि वादीद्वारा कहे गये सभी वक्तव्य का उच्चार नहीं करना क्या प्रतिवादीका अननुभाषण नामक निग्रहस्थान है ? अथवा क्या जिस उच्चारणके साथ साध्यसिद्धिका अविनाभाव अभीष्ट किया गया है, साध्यको साधनेवाले उस वाक्यका उच्चारण नहीं करना प्रतिवादीका अननुभाषण निग्रहस्थान है ? बताओ।

यन्नांतरीयका सिद्धिः साध्यस्य तदभाषणं।
परस्य कथ्यते कैश्चित् सर्वथाननुभाषणं॥ २३३॥

द्वितीय पक्षके अनुसार किन्हींका कहना है कि जिस उच्चारणके विना प्रकृत साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है, सभी प्रकारोंसे उस वक्तव्यका नहीं कहना दूसरे प्रतिवादीका अननुभाषण निग्रहस्थान हुआ, किन्हीं विद्वानों करके कह दिया जाता है।

प्रागुपन्यस्य निःशेषं परोपन्यस्तमंजसा।
प्रत्येकं दूषणे वाच्ये पुनरुच्चार्यते यदि॥ २३४॥
तदेव स्यात्तदा तस्य पुनुरुक्तमसंशयम्।
नोच्चार्यते यदा त्वेतत्तदा दोषः क गद्यते॥ २३५॥
तस्माद्यद्दूष्यते यत्तत्कर्मत्वादि परोदितम्।
तदुच्चारणमेवेष्टमन्योच्चारो निरर्थकः॥ २३६॥

प्रथम पक्ष अनुसार वादी द्वारा कह दिये गये सभीका उच्चारण करना प्रतिवादीके लिये उचित समझा जाय यह तो युक्त नहीं है। क्योंकि अगले वादीके सम्पूर्ण कहे गये का प्रत्युच्चारण नहीं भी कर रहे प्रतिवादी द्वारा दूषणका वचन उठानेमें कोई व्याघात नहीं पडता है। अन्यथा प्रतिवादीको बडी आपत्ति आ जायगी। प्रथम तो प्रतिवादीको अगले द्वारा कहे गये सम्पूर्ण कथनका तात्त्विक रूपसे शीघ्र उपन्यास करना पडेगा, पुनः प्रत्येकमें दूषण कथन करनेके अवसरपर उनका प्रतिवादी द्वारा उच्चारण यदि किया जायगा तब उस प्रतिवादीका वह पुनः कथन ही संशयरहित होकर पुनरुक्त निग्रहस्थान हो जायगा और जब वादीके कहे गये का प्रतिवादी उच्चारण नहीं करता है, तब तो तुम नैयायिक अननुभाषण दोष उठा देते हो, ऐसी दशामें प्रतिवादी भला कहां क्या कहे ? तिस कारणसे सिद्ध होता है कि वादीके सर्व कथनका उच्चारण करना प्रतिवादीको आवश्यक नहीं।

हां दूसरे वादीके द्वारा कहे गये जिस जिस साध्य, हेतु, आदिमें प्रतिवादी द्वारा दूषण उठाया जाय उसका उच्चारण करना ही प्रतिवादीका कर्तव्य अभीष्ट करना चाहिये। प्रतिवादी यदि अन्य इधर उधरकी बातोंका उच्चारण करता है, तो उसका " निरर्थक " निग्रहस्थान हो जायगा।

उक्तं दूषयतावश्यं दर्शनीयोत्र गोचरः।
अन्यथा दूषणावृत्तेः सर्वोच्चारस्तु नेत्यपि ॥ २३७ ॥
कस्यचिद्वचनं नेष्टनिग्रहस्थानसाधनं।
तस्याप्रतिभयैवोक्तैरुत्तराप्रतिपत्तितः ॥ २३८ ॥

बौद्ध गुरु धर्मकीर्तिका मन्तव्य है कि उपर्युक्त अननुभाषण दूषणको उठा रहे विद्वान् करके यहां दूषणका आधार साध्य, हेतु, आदि विषय अवश्य दिखलाना चाहिये। अन्य प्रकारोंसे दूषणोंकी प्रवृत्ति नहीं हो पाती है हां। वादीसे प्रतिपादित सर्वका उच्चारण तो नहीं किया जाय। आचार्य कहते हैं कि यह भी किसी धर्मकीर्तिका कथन अपने अभीष्ट निग्रहस्थानका साधक नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रतिवादीको स्वकीय भाषणों करके उत्तरकी प्रतिपत्ति नहीं होनेके कारण अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान करके ही उस प्रतिवादीका निग्रह कर दिया जाता है।

तदेतद्धर्मकीर्तेर्मतमयुक्तमित्याह।

आचार्य कहते हैं, सो यह धर्मकीर्तिका मन्तव्य तो अयुक्त है। इस बातको ग्रन्थकार स्पष्टरूपसे प्रतिपादन करते हैं।

प्रत्युच्चारासमर्थत्वं कथ्यतेऽननुभाषणं।
तस्मिन्नुच्चारितेप्यन्यपक्षविक्षिप्त्यवेदनम् ॥ २३९ ॥
ख्याप्यतेऽप्रतिभान्यस्येत्येतयोर्नैकतास्थितिः।
साक्षात्संलक्ष्यते लोकैः कीर्तेरन्यत्र दुर्गतेः ॥ २४० ॥

प्रतिवादीका प्रत्युत्तरके उच्चारण करनेमें समर्थ नहीं होना तो अननुभाषण निग्रहस्थान कहा जाता है। और उस प्रत्युत्तरके उच्चारण किये जानेपर भी पर पक्षके द्वारा किये गये विक्षेप (प्रतिषेध) का ज्ञान नहीं होना तो अन्य प्रतिवादीका अप्रतिभा निग्रहस्थान बखाना जाता है। इस कारण इन अननुभाषण और अप्रतिभामें एकपनेकी व्यवस्था नहीं है, भेद है। उत्तरकी प्रतिपत्ति होनेपर भी सभा क्षोभ आदिसे प्रतिवादीका अननुभाषण सम्भव जाता है। और उत्तरको नहीं समझनेपर अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान होता है। क्वचित् सांकर्य हो जाने मात्रसे दोनोंका अभेद

नहीं हो सकता है। लोकों करके यह प्रत्यक्ष रूपसे भले प्रकार देखा जा रहा है। धर्मकीर्तिकी अन्यत्र दुर्गति हो जानेसे भले ही उनको नहीं दीखे इसके लिये हम क्या करें, वे भुगतें।

ततोऽननुभाषणं सर्वस्य दूषणविषयमात्रस्य वान्यदेवाप्रतिभायाः केवलं तन्निग्रहस्थानमयुक्तं, परोक्तिमप्रत्युच्चारयतोपि दूषणवचनन्याय्यात्। तद्यथा—सर्वं प्रतिक्षणविनश्वरं सत्त्वादिति केनचिदुक्ते तदुक्तमप्रत्युच्चारयन्नेव परो विरुद्धत्वं हेतोरुद्भावयति, सर्वमनेकांतात्मकं सत्त्वात्। क्षणक्षयाद्येकांते सर्वथार्थक्रियाविरोधात् सत्त्वानुपपत्तेरिति समर्थयते च तावता परोपन्यस्तहेतोर्दूषणात् किं प्रत्युच्चारणेन।

तिस कारणसे सिद्ध होता है कि दूषण देनेके विषय हो रहे केवल साध्य, हेतु, आदि सब का उच्चारण नहीं करना प्रतिवादीका अननुभाषण है, जो कि अप्रतिभा निग्रहस्थानसे न्यारा ही है। धर्मकीर्तिद्वारा दोनों निग्रहस्थानोंका एक कर देना उचित नहीं है। हम जैनोंको नैयायिकोंके प्रति केवल यहां इतना ही कहना है कि उस अननुभाषणको निग्रहस्थान मानना युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि दूसरे विद्वान्के द्वारा कहे गये का प्रत्युच्चारण नहीं कर रहे भी प्रतिवादीके द्वारा दूषण वचन कहा जाना न्यायमार्ग है। कोई व्याघात नहीं है। उसको इस प्रकार समझ लीजिये कि सभी पदार्थ (पक्ष) प्रत्येक क्षणमें नष्ट हो जाने स्वभाववाले हैं (साध्य) सत्पना होनेसे (हेतु) इस प्रकार किसी वादीने अनुमानवाक्य कहा। उस कहे गये का प्रतिकूल पक्षमें उच्चारण नहीं करता हुआ भी दूसरा विद्वान् वादीके हेतुका विरुद्धहेत्वाभासपना दोष उठा देता है कि सभी पदार्थ (पक्ष) नित्यपन, अनित्यपन अनेक धर्मस्वरूप हैं (साध्य), सत् होनेसे (हेतु। इस प्रकार क्षणिकत्वसे विरुद्ध अनेकान्तात्मकपनके साथ सत्त्व हेतु व्याप्त हो रहा है। एक क्षणमें ही नष्ट हो जाना, कूटस्थ नित्य बने रहना आदि एकान्तोंमें सभी प्रकारोंसे अर्थक्रिया होनेका विरोध हो जानेसे सत्पना नहीं बन पाता है। इस प्रकार प्रतिवादीने सत्त्व हेतुका विपक्षमें बाधक प्रमाण दिखलाते हुये समर्थन भी कर दिया है। बस, केवल इतनेसे ही अगले वादीद्वारा कहे गये हेतुका दूषण हो जाता है, तो उस वादीके कहे गये का पुनः प्रत्युच्चारण करनेसे क्या लाभ है। अतः द्वितीयपक्ष मानना ही अच्छा दीखता है। जिसके विना अपने अभीष्ट साध्यकी सिद्धि नहीं होवे, उसीका प्रति उच्चारण नहीं करना प्रतिवादीका अननुभाषण निग्रहस्थान मानना चाहिये।

अथैवं दूषयितुमसमर्थः शास्त्रार्थज्ञानपरिणतिविशेषरहितत्वात् तदायमुत्तराप्रतिपत्तेरेव तिरस्क्रियते न पुनरप्रत्युच्चारणात्। सर्वस्य पक्षधर्मत्वादेर्वानुवादे पुनरुक्तत्वानिष्टेः प्रत्युच्चारणेपि तत्रोत्तरमप्रकाशयन् न हि न निगृह्यते स्वपक्षं साधयता यतोऽप्रतिभैव निग्रहस्थानं न स्यात्।

अब इस प्रकार हेतुका उच्चारण किया जा चुकनेपर यदि प्रतिवादी शास्त्रार्थका ज्ञान रखनेवाले विशेष परिणामोंसे रहित होनेके कारण उस हेतुको दूषित करनेके लिये असमर्थ है, तब तो उत्तरकी अप्रतिपत्तिरूप अप्रतिभासे ही यह प्रतिवादी तिरस्कार करने योग्य है। किन्तु फिर प्रत्युच्चारण नहीं करना स्वरूप अननुभाषणसे प्रतिवादीका निग्रह नहीं करना चाहिये। सभी वादियोंके यहां " संश शद्वः " " तथा च धूमवान् " ऐसे पक्षवृत्तित्व आदिका अनुभाषण माना गया है। अनुवादम ता पुनुरुक्त दोषपना किसीको अभीष्ट नहीं है। कहना यह है कि प्रत्युच्चारण करनेवाला भी वादी उस साध्यसिद्धिमें यदि समीचीन उत्तरका प्रकाश नहीं कर रहा है, तो निगृहीत नहीं होय यों नहीं समझना। किन्तु अपने पक्षको भले प्रकार साध रहे वादी करके उसका निग्रह अवश्य हो जायगा। भले ही वह वादी द्वारा कहे गयेका उच्चारण कर दे, यों होता क्या है ? जिससे कि उस अवसरपर प्रतिवादीका अप्रतिभा नामक ही निग्रहस्थान नहीं होवे। अतः अप्रतिभा या अज्ञानमें गर्भित हो जानेसे इस अननुभाषणको स्वतंत्र निग्रहस्थान मानना अच्छा नहीं दीखता है।

यदप्युक्तं, अविज्ञातं चाज्ञानमिति निग्रहस्थानं, तदपि न प्रतिविशिष्टमित्याह।

और भी जो नैयायिकोंने गौतम सूत्र द्वारा पन्द्रहवें निग्रहस्थानका यों लक्षण किया कि वादीके कथनका परिषद् द्वारा विज्ञान किये जा चुकनेपर यदि प्रतिवादीको विज्ञान नहीं हुआ है, तो प्रतिवादीका " अज्ञान " इस नामका निग्रहस्थान होगा। आचार्य कहते हैं कि अज्ञान भी कोई विलक्षण विशेषताओंको रखता हुआ बढिया निग्रहस्थान नहीं है। जैसे अन्य कई निग्रहस्थानोंमें कोरा वचन आडम्बर है, वैसा ही कूडा इसमें भरा है। इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकों द्वारा कहते हैं।

अज्ञातं च किलाज्ञानं विज्ञातस्यापि संसदा।
परस्य निग्रहस्थानं तत्समानं प्रतीयते ॥ २४१ ॥
सर्वेषु हि प्रतिज्ञानहान्यादिषु न वादिनोः।
अज्ञानादपरं किंचिन्निग्रहस्थानमांजसम् ॥ २४२ ॥
तेषामेतत्प्रभेदत्वे बहुनिग्रहणं न किम्।
अर्थाज्ञानादिभेदानां बहुधात्रावधारणात् ॥ २४३ ॥

वादीके द्वारा कहे गये वाक्यका परिषद् करके विज्ञान हो चुका है। फिर भी प्रतिवादी करके जो कुछ भी नहीं समझा जाना है, वह नैयायिकोंके यहां दूसरे प्रतिवादीका अज्ञान नामक

निग्रहस्थान सम्भव रहा माना गया है। कुछ नहीं समझ रहा प्रतिवादी भला किसका प्रतिषेध करे। न्यायभाष्यकारने खेद प्रकट करते हुये प्रतिवादीके ऊपर करुणा भी दिखा दी। हारे हुये के भी कोई भगवान् सहायक हो जाते हैं, ऐसा प्राम्यप्रवाद है। अब आचार्य कहते हैं, वह अज्ञान भी अननुभाषण या अपार्थकके समान ही प्रतीत हो रहा है। कोई विलक्षणता नहीं है, तात्विक दृष्टिसे विचारनेपर ज्ञात हो जाता है कि सम्पूर्ण ही प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, पुनरुक्त, अपार्थक, अधिक, आदि निग्रहस्थानोंमें वादी या प्रतिवादीका अज्ञानसे भिन्न और दूसरा निग्रहस्थान नहीं है। अतः अज्ञान भी वैसा ही है। कोई चमत्कार युक्त नहीं है। यहां भी अज्ञान ही सम्भव रहा है। यदि उन प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थानोंको इस अज्ञानके भेद प्रभेदस्वरूप मानकर पृथक् निरूपण किया जावेगा तब तो निग्रहस्थानोंकी प्रतिनियत संख्याके अभाव होनेका प्रसंग होगा। तुम नैयायिकोंके यहां यों भेदप्रभेदस्वरूप पचासों, सैकडों, बहुतसे, निग्रहस्थान क्यों नहीं हो जावेंगे। क्योंकि वादीद्वारा कहे गये का आधा ज्ञान नहीं होना, चतुर्थ अंशका ज्ञान नहीं होना, या आधा विपरीत, आधा समीचीन (सुपरीत) ज्ञान होना, आदि भेद प्रभेदोंका बहुत प्रकारसे यहां अवधारण किया जा सकता है।

उत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभेत्यपि निग्रहस्थानमस्य नाज्ञानादन्यदित्याह।

अब आचार्य महाराज नैयायिकोंके सोलहमें निग्रहस्थानका विचार करते हैं। नैयायिकोंने गौतम सूत्रमें " अप्रतिभा " नामक निग्रहस्थानका लक्षण यों किया है कि दूसरे विद्वान्के द्वारा कहे गये तत्त्वको समझकर भी उत्तर देनेके अवसरपर उत्तरको नहीं देता है, तो प्रतिवादीका अप्रतिभा निग्रहस्थान हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि नैयायिकके द्वारा इस प्रकार माना गया यह अप्रतिभा निग्रहस्थान भी अज्ञान नामक निग्रहस्थानसे न्यारा नहीं है। इस बातको स्वयं ग्रन्थकार स्पष्ट कहते हैं।

उत्तराप्रतिपत्तिर्या परैरप्रतिभा मता।
साप्येतेन प्रतिव्यूढा भेदेनाज्ञानतः स्फुटम् ॥ २४४ ॥

जो दूसरे नैयायिक विद्वानों करके श्रोताको उत्तरकी प्रतिपत्ति नहीं होना अप्रतिभा मानी गयी है, वह भी इस उक्त अज्ञान निग्रहस्थानके विचार करनेसे ही खण्डित कर दी गयी है, क्योंकि अज्ञान निग्रहस्थानसे अप्रतिभाका व्यक्त रूपसे कोई भेद प्रतीत नहीं होता है। अज्ञान और उत्तरकी अप्रतिपत्तिमें कोई विशेष अन्तर नहीं है।

यदप्युक्तं, निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणं निग्रहस्थानमिति, तदपि न साधीय इत्याह।

और भी जो नैयायिकोंने सत्रहवें निग्रहस्थानका लक्षण गौतमसूत्रमें यों कहा था कि निग्रहको प्राप्त हो चुके भी पुरुषका पुनः निग्रहस्थान नहीं उठाया जाना यह पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थान है। अर्थात्-करुणाका फल हिंसा है, (नेकीका दर्जा बदी है।) कोई वादी यदि निगृहीत हो चुके प्रतिवादीके ऊपर कृपाकर निग्रहस्थान नहीं उठाता है, तो ऐसी दशामें वह वादी अपने आप अपने पावोंमें कुल्हाडी मार रहा है। क्योंकि जीतनेवालेका ही निकट भविष्यमें पर्यनुयोज्योपेक्षण द्वारा निग्रहस्थान होनेवाला है। इस निग्रहस्थानका तात्पर्य पर्यनुयोज्यकी उपेक्षा कर देना है। सुवक्ताको निग्रहकी प्राप्तिसे सन्मुख बैठा हुआ पुरुष प्रेरणा करने योग्य था। किन्तु सुवक्ता उसकी उपेक्षा कर गया। सुवक्ताके किये परिपाकमें यही आपत्तिका बीज बन बैठा है। नीतिकारका कहना ठीक है कि " व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः। प्रविश्य हि घ्नंति शठास्तथा विधानसंवृताङ्गान् निशिता इवेषवः "। इस प्रकार नैयायिकोंने यह पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थान माना है। आचार्य कहते हैं कि वह निग्रहस्थान भी बहुत अच्छा नहीं है। इस बातको ग्रन्थकार वार्तिकद्वारा स्पष्ट कहते हैं।

यः पुनर्निग्रहप्राप्तेप्यनिग्रह उपेयते।
कस्यचित्पर्यनुयोज्योपेक्षणं तदपि कृतम् ॥ २४५ ॥

जो नैयायिकोंने निग्रहस्थानको प्राप्त हो रहेमें भी पुनः निग्रह नहीं उठाना किसीका पर्यनुयोज्योपेक्षण नामक निग्रहस्थान स्वीकार किया है, वह भी उक्त विचारोंकरके ही न्यारा निग्रहस्थान नहीं किया जा सकता है। अज्ञान या अप्रतिभामें ही उसका अन्तर्भाव हो जावेगा। अधिक व्याख्यान करनेसे कोई विशेष लाभ नहीं है।

स्वयं प्रतिभया हि चेत्तदंतर्भावनिर्णयः।
सभ्यैरुद्भावनीयत्वात्तस्य भेदो महानहो ॥ २४६ ॥
वादेप्युद्भावयन्नैतन्न हि केनापि धार्यते।
स्वं कौपीनं न कोपीह विवृणोतीति चाकुलम् ॥ २४७ ॥
उत्तराप्रतिपत्तिं हि परस्योद्भावयन्स्वयं।
साधनस्य सदोषत्वमाविर्भावयति ध्रुवम् ॥ २४८ ॥
संभवत्युत्तरं यत्र तत्र तस्यानुदीरणम्।
युक्तं निग्रहणं नान्यथेति न्यायविदां मतम् ॥ २४९ ॥

निर्दोषसाधनोक्तौ तु तूष्णींभावाद्विनिग्रहः।
प्रलापमात्रतो वेति पक्षसिद्धेः स आगतः ॥ २५० ॥

यदि नैयायिक यों कहें कि अप्रतिमासे निगृहीत हो रहे पुरुषमें प्रतिभा नहीं है। और पर्यनुयोज्योपेक्षणसे निगृहीत हो रहेमें प्रतिमा विद्यमान है। दूसरी बात यह है कि स्वयं वक्ता अप्रतिमाको उठाता है। और यह पर्यनुयोज्योपेक्षण तो मध्यस्थ सभासदोंकरके उत्थापन करने योग्य है। भाष्यकार कहते हैं कि " एतच्च कस्य पराजय इत्यनुयुक्तया परिषदा वचनीयं, न खलु निग्रहं प्राप्तः स्वकौपीनं विवृणुयादिति "। अतः हम नैयायिक आश्चर्यपूर्वक कहते हैं कि अप्रतिमासे उस पर्यनुयोज्योपेक्षणका महान् भेद है। वादमें भी इसको कोई वादी या प्रतिवादी यदि उठा देवे तो किसी करके भी वह निग्रहस्थान मनोनुकूल लेका नहीं जाता है। पक्का जीतनेवाला पुनः पराजित नहीं होना चाहता, पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थानको उठानेवाला अपना निग्रह पहिले हो चुका, यह अवश्य स्वीकार कर लेता है। निग्रहको प्राप्त हो चुका कोई भी पुरुष इस लोकमें अपने आप अपनी गुप्त जननइन्द्रियको नहीं खोल देता है। " अपनी जांघ उघाडिये आप ही मरिये लाज "। इस प्रकार पर्यनुयोज्योपेक्षण उठानेके लिये निगृहीतको बडी आकुलता उपस्थित हो जाती है। तभी तो मध्यस्थोंके ऊपर यह कर्त्तव्य (बला) टाल दिया गया है। जो पण्डित दूसरेके उत्तरकी अप्रतिपत्तिको स्वयं उठा रहा है, वह स्वयं अपने साधनका दोष सहितपना निश्चय से प्रकट करा रहा है। हां, जिस स्थलपर जो उत्तर सम्भव रहा है, उसका वहां कथन नहीं करना तो अप्रतिमा निग्रहस्थान है, यह मानना युक्त है। अन्य प्रकारोंसे निग्रह नहीं हो सकता है। इस प्रकार न्याय शास्त्रोंको जाननेवालोंका मन्तव्य है। इसपर हम जैनोंका यह कहना है कि वादी द्वारा निर्दोष हेतुके कथन कर चुकनेपर प्रतिवादीका चुप रहनेसे तो विशेष रूपसे निग्रह होगा अथवा केवल व्यर्थ बकवाद करनेसे प्रतिवादीका निग्रह होगा। इस कारण अपने पक्षकी सिद्धि कर देनेसे ही दूसरेका वह निग्रहस्थान होना आया। कोरा दोष उठा देनेसे अथवा निगृहीतका निग्रह कथन नहीं कर देनेसे यों ही किसीका निग्रह नहीं हो जाता है। हम तो ऐसे न्यायमार्गको अन्याय ही समझते हैं, जहां कि दयामार्गोंकी हत्या की जाती है। हां, यदि सन्मुख स्थितके निगृहीत हो जानेका जिस पण्डितको सर्वथा ज्ञान नहीं हुआ है, उस पण्डितके ऊपर अज्ञान निग्रहस्थान उठाया जा सकता है। किन्तु हमें तो वह भी अनुचित दीखता है तो भी अज्ञानसे पर्यनुयोज्योपेक्षणको पृथक् नहीं मानना चाहिये।

यदप्यभ्यधायि, स्वपक्षदोषाभ्युपगमात्परपक्षे दोषप्रसंगो मतानुज्ञा। यः परेण चोदितं दोषमनुद्धृत्य भवतोप्ययं दोष इति ब्रवीति सा मतानुज्ञास्य निग्रहस्थानमिति, तदप्यपरीक्षितमेवेति परीक्ष्यते।

न्यायदर्शनमें निग्रहस्थानोंके आगे पीछेका क्रम यहां कुछ दूसरा होगया है। अस्तु, जो भी नैयायिकोंने मतानुज्ञाका लक्षण यह कहा था कि दूसरे द्वारा प्रेरणा किये गये दोषको स्वीकार कर उसका उद्धार नहीं करते हुये परपक्षमें भी उसी दोषका प्रसंग दे देना मतानुज्ञा निग्रहस्थान है। दूसरेके मतको पीछे स्वीकार कर लेना यह मतानुज्ञा शब्दकी निरुक्ति है। जैसे मीमांसकने कहा कि शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), श्रवण इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होनेसे (हेतु) यों कह चुकनेपर नैयायिकने मीमांसकके यहां मानीं गयीं वायुस्वरूप ध्वनियों करके श्रावणत्व हेतुमें व्यभिचार हेत्वाभास उठाया। ऐसी दशामें मीमांसकने अपने ऊपर आये दोषका उद्धार तो नहीं किया, किन्तु नैयायिकोंके शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे, इस अनुमानमें भी हेत्वाभास उठा दिया ऐसी दशामें यह मीमांसक "मतानुज्ञा" नामक निग्रहस्थानसे निगृहीत हो जाता है। न्यायभाष्यकार यों ही बखानते हैं, कि जो दाक्षिणात्य शास्त्री दूसरेके द्वारा कह दिये गये दोषका उद्धार नहीं कर आपके यहां भी यही दोष समान रूपसे लागू हो जाता है, इस प्रकार कह देता है इसका वह मतानुज्ञा निग्रहस्थान हो जाता है। इस प्रकार नैयायिकोंका कहना है। आचार्य कहते हैं कि वह निग्रहस्थान भी परीक्षा किया जा चुका या परीक्षामें निर्णीत हो चुका नहीं है। इस कारण हम उसकी परीक्षा करते हैं। सो आप नैयायिक सुन लीजियेगा।

स्वपक्षे दोषमुपयन् परपक्षे प्रसंजयन्।
मतानुज्ञामवाप्नोति निगृहीतिं न युक्तितः॥ २५१॥
द्वयोरेवं सदोषत्वं तात्त्विकैः स्थाप्यते यतः।
पक्षसिद्धिनिरोधस्य समानत्वेन निर्णयात्॥ २५२॥

"स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षदोषप्रसंगो मतानुज्ञा" इस गौतमसूत्रके अनुसार दूसरेके द्वारा कहे गये दोषका अपने पक्षमें स्वीकार कर उसका उद्धार नहीं करता हुआ जो वादी दूसरेके पक्षमें भी समान रूपसे उसी दोषको उठा रहा है, वह पण्डित मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थानको प्राप्त हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह नैयायिकोंका मन्तव्य युक्तियोंसे निर्णीत नहीं हो सका। क्योंकि इस प्रकार तो दोनों ही वादी प्रतिवादियोंका दोषसहितपना तत्त्ववेत्ता विद्वानोंकरके व्यवस्थापित कराया जाता है। कारण कि दोनोंके यहां अपने अपने पक्षकी सिद्धि नहीं करना समानपनेसे निश्चय की जा रही है। श्रवण इन्द्रियसे ग्राह्य होना हेतुसे शब्दके नित्यपनको मीमांसक सिद्ध नहीं कर सका है। जबतक किसी एकके पक्षकी सिद्धि नहीं होयगी, तबतक वह जयी नहीं हो सकता है।

अनैकांतिकतैवैवं समुद्भाव्येति केचन।
हेतोरवचने तच्च नोपपत्तिमदीक्ष्यते॥ २५३॥

तथोत्तराप्रतीतिः स्यादित्यप्याग्रहमात्रकं ।
सर्वस्याज्ञानमात्रत्वापत्तेर्दोषस्य वादिनोः ॥ २५४ ॥
संक्षेपतोन्यथा क्वायं नियमः सर्ववादिनाम् ।
हेत्वाभासोत्तराविची कीर्तेः स्यातां यतः स्थितेः ॥ २५५ ॥

कोई विद्वान् मतानुज्ञाके विषयमें यों विचार करते हैं कि इस प्रकार तो हेतुका अनैकान्तिकपना ही भले प्रकार उठाना चाहिये । पुरुषपना होनेसे यह हिंसक है, जैसे कि कसाई हिंसक होता है । इस प्रकार कहनेपर जो यों कह रहा है कि तू भी हिंसक है । वह पुरुषत्व हेतुके व्यभिचार दोषको उठा रहा है । अतः मतानुज्ञा निग्रहस्थान उचित नहीं है । ऐसे किन्हींके कथनपर आचार्य कहते हैं कि हेतुका कथन नहीं किये जानेपर यह अनैकान्तिकपन उठाना तो युक्ति युक्त नहीं देखा जाता है । अर्थात्-जहां हेतु नहीं कहा गया है और मतानुज्ञाका अवसर है,वहां केचित्‌की परीक्षा करना उपयोगी नहीं ठहरेगा । यदि कोई यों कह देवेंगे कि तिस प्रकारके अवसरपर उत्तरकी प्रतिपत्ति हो जायगी । अतः अप्रतिभा या अज्ञान निग्रह उठा दिया जायगा । आचार्य कहते हैं कि यह भी उनका केवल आग्रह ही है । क्योंकि यों तो वादी प्रतिवादियोंके प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, अननुभाषण, अप्रतिभा आदि सभी दोषोंको केवल अज्ञानपनेका ही प्रसंग हो जावेगा । अनेक दोषोंकी गिनती करना व्यर्थ पडेगा । अन्यथा सम्पूर्ण वादियोंके यहां संक्षेपसे यह नियम करना कहां बनेगा कि दोषोंकी गणना करनेसे यशकी अपेक्षा हेत्वाभास और उत्तराप्रतिपत्ति दो दोष समझे जावें । जिससे कि उपर्युक्त व्यवस्था हो जाय । अर्थात्–सभी वादियोंके यहां संक्षेपसे दोषोंके हेत्वाभास और उत्तराप्रतिपत्ति-दो भेद कल्पित कर लिये गये हैं । वादी प्रतिवादियोंके लिये दो ही पर्याप्त हैं । नैयायिकोंने भी अप्रतिपत्तिको निग्रहस्थानके सामान्य लक्षणमें डाल दिया है । पश्चात् उनके भेद, प्रभेद, कर दिये जाते हैं । अतः संक्षेपसे विचार करने पर तो कोई विद्वान्‌के द्वारा मतानुज्ञाकी परीक्षा करना कथमपि समुचित हो सकता है । अन्यथा हमारी परीक्षा ही ठीक है ।

ननु चाज्ञानमात्रेपि निग्रहेति प्रसज्यते ।
सर्वज्ञानस्य सर्वेषां साहश्यानामसंभवात् ॥ २५६ ॥
सत्यमेतदभिप्रेतवस्तुसिद्धिप्रयोगिनोः ।
ज्ञानस्य यदि नाभावो दोषोन्यस्यार्थसाधने ॥ २५७ ॥
सत्स्वपक्षप्रसिद्ध्यैव निग्राह्योन्य इति स्थितम् ।
समासतोनवद्यत्वादन्यथा तदयोगतः ॥ २५८ ॥

यहां कोई शंका करता है कि सभी निग्रहस्थानोंको केवल अज्ञानमें ही गर्भित करनेपर भी तो अतिप्रसंग हो जाता है। क्योंकि सब जीवोंके सभी ज्ञानोंकी सदृशताओंका असम्भव है। अतः भेद प्रभेद करनेपर ही सन्तोष हो सकेगा। अब आचार्य कहते हैं कि यह तुम्हारा कहना सत्य है। किन्तु विशेषता यह है कि अभिप्रेत हो रहे साध्य वस्तुकी सिद्धि करनेके लिये प्रयोग किये जा रहे ज्ञानका यदि अभाव नहीं है तो ऐसी दशामें अपने अभीष्ट अर्थके साधन करनेपर ही दूसरे सन्मुख स्थित पण्डितका दोष कहा जायगा। और तभी स्वपक्षको साधकर अन्य वक्ताका निग्रह करता हुआ वह जीतनेवाला कहा जायगा। संक्षेपसे यह सिद्धान्त निर्दोष होनेके कारण व्यवस्थित हो चुका है कि अपने पक्षकी प्रमाणोंद्वारा समीचीन सिद्धि करके ही दूसरा पुरुष निग्रह कराने योग्य है। अन्यथा यानी अपने पक्षको साधे बिना दूसरेको उस निग्रहप्राप्तिका अयोग है।

तस्करोयं नरत्वादेरिति हेतुर्यदोच्यते।
तदानैकांतिकत्वोक्तित्वमपीति न वार्यते॥ २५९॥
वाचोयुक्तिप्रकाराणां लोके वैचित्र्यदर्शनात्।
नोपालंभस्तथोक्तौ स्याद्विपक्षे हेतुदर्शनम्॥ २६०॥
दोषहेतुमभिगम्य स्वपक्षे परपक्षताम्।
दोषमुद्भाव्य पश्चात्वे स्वपक्षं साधयेज्जयी॥ २६१॥

यह (पक्ष) चोट्टा है (साध्य), मनुष्यपना होनेसे, भोजन करनेवाला होनेसे, वक्ता होनेसे,इत्यादिक हेतुओंसे तस्करपना सिद्ध किया और प्रसिद्ध चोरको दृष्टान्त बनाया गया, इस प्रकार वादीके कहनेपर यदि प्रतिवादी अब यों कह दे कि तब तो हेतुओंके घटित हो जानेसे तू वादी भी पक्का चोट्टा हो गया, ऐसी दशामें नैयायिक प्रतिवादीके ऊपर वादी द्वारा मतानुज्ञा निग्रहस्थानका उठाया जाना वादीका कर्त्तव्य समझते हैं। किन्तु वस्तुतः विचारा जाय तो यह वादीके हेतुका अनैकान्तिक दोष है। "उल्टा चोर राजाको दंडे" यहां यह परिभाषा चरितार्थ हो जाती है। अथवा जो वादी दूसरे प्रतिवादी करके आरोपे गये दोषका अपने पक्षमें उद्धार नहीं कर कह देता है कि आपके पक्षमें भी यही दोष समानरूपसे लागू होता है। इस प्रकार अपने पक्षमें दोष स्वीकार कर लेनेसे परकीय पक्षमें दोषका सम्बन्ध करा रहा मतानुज्ञाको प्राप्त हो जाता है। "यह तस्कर है, पुरुष होनेसे प्रसिद्ध डाकूके समान" यों कह चुकनेपर तू भी तस्कर है। इस प्रकार हेतुका व्यभिचार दोष ही कहा गया। वह अपने हेतुका स्वयं अपनेसे ही व्यभिचारको देखकर झट कह देता है कि तुम्हारे पक्षमें भी यह दोष समान है। तू भी पुरुष है, इस प्रकार व्यभिचार

दोषका ही उत्थापन किया जाता है। अतः मतानुज्ञाका हेत्वाभासोंमें अन्तर्भाव कर लेना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि जब यों कहा जाता है तो अनैकान्तिकपनका कथन करना भी हमारे द्वारा नहीं रोका जाता है। क्योंकि जगत्में वचनोंकी युक्तियोंके प्रकारोंका विचित्रपना देखा जाता है। कहीं निषेध मुखसे कार्यके विधानकी प्रेरणा की जाती है। और कहीं विधिमुखसे निषेध किया जा रहा है। कोई हितैषी कि भाई तुम नहीं पढोगे कह कर शिष्यको पढनेमें उत्तेजित कर रहा है। कोई बहुत ऊधम मचाओ कह कर छात्रोंको उपद्रव नहीं करनेमें प्रेरित कर रहा है। सकटाक्ष या दक्षता पूर्ण बातोंके अवसरपर वचन प्रयोगोंकी विचित्रताका दिग्दर्शन हो जाता है। यहां प्रकरणमें भी कण्ठोक्त नहीं कह कर तिस प्रकार वचनभंगी द्वारा विपक्षमें हेतुको दिखलाते हुये अनैकान्तिकपनेके कहनेपर कोई उलाहना नहीं आता है। अपने पक्षमें हेतुके दोषको समझकर पुनः परपक्षपनके दोषको उठाकर पीछे वादी यदि अपने पक्षको साध देवेगा तो वह जयी हो जावेगा। अन्यथा दोनोंके भी जय की सम्भावना नहीं है। न्यायदर्शनमें पंचम अध्यायके प्रथम आन्हिकके अन्तमें भी इसका विचार किया है। किन्तु वह सब घटाटोप मात्र है। अतः उसकी परीक्षणा करनेमें हमारा अधिक आदर नहीं है।

यदप्यभिहितमनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निरनुयोज्यानुयोगो निग्रहस्थानमिति तदप्यसदित्याह।

और भी जो नैयायिकोंने इक्कीसवें निग्रहस्थानका लक्षण यों कहा था कि निग्रहस्थान नहीं उठानेके अवसरपर निग्रहस्थानका उठा देना वक्ताका " निरनुयोज्यानुयोग " नामक निग्रहस्थान है। इस प्रकार न्यायदर्शनका वह लक्षण सूत्र भी समीचीन नहीं है। इस बातको स्वयं ग्रन्थकार सूत्रका अनुवाद करते हुये कहते हैं।

> यदात्वनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानमुच्यते ।
> तदा निरनुयोज्यानुयोगाख्यो निग्रहो मतः ॥ २६२ ॥
> सोप्यप्रतिभयोक्तः स्यादेवमुत्तरविकृतेः ।
> तत्प्रकारपृथग्भावे किमेतैः स्वल्पभाषितैः ॥ २६३ ॥

जिस समय वादी निग्रहस्थानके योग्य नहीं हो रहे प्रतिवादीके ऊपर मिथ्याज्ञानवश किसी निग्रहस्थानको कह बैठता है, उस समय तो वादीका " निरनुयोज्यानुयोग " नामक निग्रहस्थान हुआ माना गया है। आचार्य कहते हैं कि वह नैयायिकोंका निग्रहस्थान भी अप्रतिभा करके ही विचारित किया कह दिया गया समझना चाहिये। उत्तर देनेमें विकार हो जानेसे यह एक प्रकार

का निग्रहस्थान ही है। यदि उन अप्रतिभा या अज्ञानके भेद प्रभेदरूप प्रकारोंका पृथक् पृथक् निग्रहस्थानरूपसे सद्भाव माना जावेगा तो अत्यन्त थोडी बाईस चौवीस संख्याओंमें कहे गये इन प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थानोंसे भला क्या पूरा पडेगा ? निग्रहस्थानोंके पचासों भेद बन बैठेंगे। तुमको ही महान् गौरव हो जानेका दोष उठाना पडेगा। अतः जो नियत निग्रहस्थानोंमें गर्भित हो सकते हैं, उनको न्यारा निग्रहस्थान नहीं मानो। भले पुरुषोंकी बात भी स्वीकार कर लेनी चाहिये।

यच्चोक्तं कार्यव्यासंगात्कथाविच्छेदो विक्षेपः यत्र कर्तव्यं व्यासज्यकथां विच्छिनत्ति प्रतिश्यायः कलामेकां क्षणोति पश्चात्कथयिष्यामीति स विक्षेपो नाम निग्रहस्थानं तथा तेनाज्ञानस्याविष्करणादिति तदपि न सदित्याह।

और भी जो नैयायिकोंने बीसवे निग्रहस्थानका लक्षण गौतमसूत्रमें यों कहा है कि जहां कर्तव्य कार्यसे वादकथाका विच्छेद कर दिया जाता है, वह विक्षेप निग्रहस्थान है। अर्थात्-अन्य कालोंमें करनेके लिये असम्भव हो रहे कार्यका इसी कालमें करने योग्यपनको प्रकट कर व्याक्षिप्तमना होकर चालू कथाका विच्छेद कर देता है। अपने साधने योग्यअर्थकी सिद्धि करनेको अशक्य समझकर समय बितानेके लिये कोई एक झूंठे मूठे कर्त्तव्यका प्रकरण उठाकर उसमें मनोयोगको लगाता हुआ दिखला रहा वादी वादकथामें विघ्न डालता है, कि यह मेरा अवश्यक कर्त्तव्य कार्य नष्ट हो रहा है। अतः उस कार्यके कर चुकनेपर पीछे मैं वाद करूंगा। इस प्रकार अज्ञानप्रयुक्त निर्बलताको दिखाते हुये वादी या प्रतिवादीका विक्षेप नामक निग्रहस्थान हो जाता है। हां, वास्तविकरूपसे किसी राज्य अधिकारी (आफिसर) द्वारा बुलाये जानेपर या कुटुम्बी जनोंद्वारा आवश्यक कार्यके लिये टेरे जानेपर अथवा वक्ताके घरमें आग लग जानेपर एवं शिरःशूल, अपस्मार (मृगी) उदर पीडा आदि रोगों करके प्रतिबन्ध हो जानेपर तो विक्षेप नामका निग्रह नहीं हो सकता है। जैसे कि मल्लको भिरी (कुश्ती) भिडनेके अवसरपर कोई आवश्यक सत्य विघ्न उपस्थित हो जाता है तो प्रतिमल्लकरके मल्लका का निग्रह हुआ नहीं समझा जाता है। जगत्के प्राणियोंको प्रायः अनेक कार्योंमें बलवान् विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। क्या किया जाय, परवशता है। हां, अज्ञान छल कोरा अभिमान (शेखी) सिलविछापन आदि हेतुओंसे कथाका विच्छेद कर देना अवश्य दोष है। भाष्यकार कहते हैं कि ऐसा पुरुष कर्तव्यका व्यासंग कर प्रारम्भे हुये वादका विघात कर रहा है। वह कह देता है कि श्लेष्म (जुकाम) या पीनस रोग मुझको एक कलातक पीडित करता है। ५४० पांच सौ चालीस निमेष कालतक तुम ठहरो। शरीर प्रकृतिके स्वस्थ होनेपर पीछे मैं शास्त्रार्थ करूंगा। नैयायिक कहते हैं कि इस प्रकार उसका वह विक्षेप नामका निग्रहस्थान है। क्योंकि तिस प्रकार उस व्याकुलित मनवालेने अपने अज्ञानको ही प्रकट किया है। इस प्रकार नैयायिकोंके कह

चुकनेपर आचार्य कहते हैं कि वह नैयायिकों द्वारा माना गया विक्षेप नामक निग्रहस्थान समीचीन नहीं है। इस बातको स्वयं ग्रन्थकार वार्तिकोंद्वारा अनुवाद कर स्पष्ट कहे देते हैं।

सभां प्राप्तस्य तस्य स्यात्कार्यव्यासंगतः कथा।
विच्छेदस्तस्य निर्दिष्टो विक्षेपो नाम निग्रहः॥ २६४ ॥
सोपि नाप्रतिभातोस्ति भिन्नः कश्चन पूर्ववत्।
तदेवं भेदतः सूत्रं नाक्षपादस्य कीर्तिकृत्॥ २६५ ॥

शास्त्रार्थ करनेके लिये सभाको प्राप्त हो चुके वादीका कार्यमें व्याक्षेप हो जानेसे जो कथाका विच्छेद कर देना है, वह उसका विक्षेप नामक निग्रहस्थान हुआ कह दिया जायगा। यहां आचार्य महाराज विचार करते हैं कि वह विक्षेप भी पूर्व कहे गये मतानुज्ञा, निरनुयोज्यानुयोग, आदि निग्रहस्थानोंके समान अप्रतिभा या अज्ञान निग्रहस्थानसे कोई भिन्न निग्रहस्थान नहीं है। तिस कारण इस प्रकार भिन्न भिन्न रूपसे निग्रहस्थानोंके लक्षण सूत्र बनाना अक्षपाद (गौतम) की कीर्तिको करनेवाला नहीं है। गम्भीर और स्वल्प शब्दोंमें तत्त्वोंको प्रतिपादन करनेवाले सूत्रोंका निर्णय करनेसे दार्शनिक उपज्ञ विद्वान्का यश बढता है। निस्तत्त्व वाग् आडम्बरसे यशःकीर्तन नहीं हो पाता है।

यदप्युक्तं सिद्धांतमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसंगोपसिद्धान्तः प्रतिज्ञातार्थव्यतिरेकेणाभ्युपेतार्थपरित्यागान्निग्रहस्थानमिति, तदपि विचारयति।

स्वकीय सिद्धान्तको स्वीकार कर प्रतिज्ञातार्थके विपर्यय रूप अनियमसे कथाका प्रसंग उठाना अपसिद्धान्त निग्रहस्थान है। यह गौतम सूत्रमें लिखा है प्रतिज्ञा किये जा चुके अर्थकी विभिन्नता करके स्वीकृत किये गये अर्थका परित्याग हो जाने (कर देने) से यह निग्रहस्थान माना गया है। स्वीकृत आगमके विरुद्ध अर्थका साधन करने लग जाना अपसिद्धान्त है। उस निग्रहस्थानका भी आचार्य महाराज विचार चलाते हैं।

स्वयं नियतसिद्धांतो नियमेन विना यदा।
कथा प्रसंजयेत्तस्यापसिद्धांतस्तथोदितः॥ २६६ ॥
सोप्ययुक्तः स्वपक्षस्यासाधनेनेन तत्त्वतः।
असाधनांगवचनाद्दोषोद्भावनमात्रवत्॥ २६७ ॥

जिस समय वादी अपने सिद्धान्तको स्वयं नियत कर चुका है, पुनः उस नियतिका लक्ष्य रक्खे विना यदि वाद कथाका प्रसंग लावेगा तिस प्रकार होनेपर उसके अपसिद्धान्त नामका निग्रह-

स्थान हुआ कह दिया जायगा, आचार्य महाराज परीक्षा करते हैं कि वह अपसिद्धान्त भी निग्रह करानेके लिये युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो निग्रहस्थानको उठाकर परिश्रमके विना ही जीतनेके इच्छा रखनेवाले इस पण्डितंमन्यने अपने पक्षका साधन नहीं किया है। साध्यके साधक अंगोंका कथन नहीं करनेसे किसीको जयप्राप्ति नहीं होती है। जैसे कि केवल दोषोंका उत्थापन कर देनेसे ही कोई जयी नहीं हो जाता है। अतः वक्ताके ऊपर अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान उठानेवालेको अपने पक्षकी सिद्धि करना अनिवार्य है।

तत्राभ्युपेत्य शब्दादीन्नित्यानेव पुनः स्वयम्।
ताननित्यान् ब्रुवाणस्य पूर्वसिद्धांतबाधनम् ॥ २६८ ॥
तथैव शून्यमास्थाय तस्य संवेदनोक्तितः।
पूर्वस्योत्तरतो बाधा सिद्धान्तस्यान्यथा क तत् ॥ २६९ ॥

उस अपसिद्धान्तमें ये निम्न लिखित उदाहरण दिये जा सकते हैं कि मीमांसक प्रथम ही शब्द, आत्मा, आदिको नित्य ही स्वीकार कर चुका है। शास्त्रार्थ करते करते पुनः उन शब्द आदिकोंको अनित्य कह बैठता है। ऐसी दशामें उस मीमांसकको अपने पूर्वसिद्धान्तकी बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः अपसिद्धान्त हुआ। उसी प्रकार शून्यवाद या तत्त्वोपप्लव वादकी प्रतिज्ञा पूर्वक श्रद्धा कर पुनः उसके सम्वेदन हो जानेका कथन करनेसे पूर्व अंगीकृत सिद्धान्तकी उत्तरकालवर्ती कथनसे बाधा उपस्थित हो जाती है। अन्यथा वह विरुद्ध कथन भला कहां हो सकता था? अर्थात्–शून्यतत्त्वका ज्ञान माननेपर ज्ञान पदार्थ ही वस्तुभूत सिद्ध हो जाता है। फिर पहिला सभी शून्य है, जगत्में कुछ नहीं है, यह सिद्धान्त कहां रक्षित रहा?

प्रधानं चैवमाश्रित्य तद्विकारप्ररूपणम्।
तादृगेवान्यथा हेतुस्तत्र न स्यात्समन्वयः ॥ २७० ॥

इसी प्रकार कपिल मत अनुसार एक प्रकृति तत्त्वका ही आश्रय लेकर पुनः उस प्रकृतिके महान्, अहंकार, तन्मात्रायें, इन्द्रियां, पञ्चभूत, इनको विकार कथन करना भी उस ही प्रकार है। यानी अपसिद्धान्त निग्रह है। भाष्यकारने यही दृष्टान्त दिया है कि सत्का विनाश और असत्का उत्पाद होता नहीं है। इस सिद्धान्तको स्वीकार कर "एकप्रकृतीदं व्यक्तं विकाराणामन्वयदर्शनात्" जैसे मिट्टीके विकार घडा, घडी, मोलुआ आदिमें मृत्तिका अन्वय है। तिसी प्रकार अहंकार, इन्द्रिय आदि भिन्न भिन्न व्यक्तोंमें सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणके कार्य हो रहे सुख, दुःख, मोहका अन्वय देखा जाता है। इस प्रकार सांख्योंका कहना पूर्व अपर विरुद्ध पड जाता है। अन्यथा वह

समन्वयरूप हेतु नहीं ठहर सकेगा " भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य " ये हेतु प्रधानके सर्वथा एकपनके बाधक हैं। अत अपसिद्धान्त हुआ।

ब्रह्मात्माद्वैतमप्येवमुपेत्यागमवर्णनं।
कुर्वन्नाम्नायनिर्दिष्टं बाध्योन्योप्यनया दिशा ॥ २७१ ॥
स्वयं प्रवर्तमानाश्च सर्वथैकांतवादिनः।
अनेकांताविनाभूतव्यवहारेषु तादृशाः ॥ २७२ ॥

इसी प्रकार परमब्रह्म, आत्माके अद्वैतवादको स्वीकार कर पुनः अनादि कालके गुरुपरम्परा प्राप्त आम्नायसे कहे गये वेद आगमकी प्रमाणताका वर्णन कर रहा ब्रह्माद्वैत वादी बाधित हो जाता है। अतः उसका अपसिद्धान्त निग्रह हुआ अर्थात्-अकेले ब्रह्मको मानकर उससे भिन्न शब्द स्वरूप आगमको प्रमाण कर रहा वादी अपने अद्वैत सिद्धान्तसे च्युत हो जाता है। इसी संकेत (इशारा) से उपलक्षण द्वारा अन्य भी अपसिद्धान्तोंको समझ लेना चाहिये। अर्थात्-ज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत या जीवतत्त्वको स्वीकार कर पुनः द्वैतवाद या जडवादका निरूपण करने लग जाना अपसिद्धान्त है। इसी प्रकार अन्य भी अपसिद्धान्तके निदर्शन सम्भव जाते हैं। अनेकान्तके साथ अविनाभावी हो रहे व्यवहारोंमें स्वयं प्रवृत्ति कर रहे सर्वथा एकान्तवादी पुरुष भी वैसे ही एक प्रकारके अपसिद्धांती हैं। अर्थात्-सर्वथा क्षणिकवाद या कूटस्थवाद अथवा गुणगुणीके सर्वथा भेद या अभेदके माननेपर कैसे भी अर्थक्रिया नहीं हो पाती है। क्षणमात्र ही ठहरनेवाला घट जलधारण नहीं कर सकता है। हिंसा करनेवाला क्षणिक आत्मा वही पीछे नरकमें नहीं पहुंच सकता है। कूटस्थ आत्मा सदा वैसा ही बना रहेगा। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है। अतः खाना, पीना, बोलना स्वर्गजाना परिणामी कुछ कालतक ठहरनेवाले अनेकान्त पदार्थोंमें होती हैं। कहांतक कहा जाय जगत्के सम्पूर्ण व्यवहार पदार्थोंमें अनेक धर्मोंको माने विना नहीं सध सकते हैं। इस बातका अनुभव करते हुए भी सर्वथा एकान्तके पक्षको ही बके जा रहे एकान्तवादी अपने सिद्धान्त नियमका लक्ष्य नहीं रखकर प्रवृत्तियां कर रहे हैं। अतः एक प्रकारसे उनका अपसिद्धान्त निग्रहस्थान हुआ समझो।

यदप्यवादि, हेत्वाभासाश्च यथोक्ता इति तत्राप्याह।

और भी जो नैयायिकोंने गौतमसूत्रमें कहा था कि " हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः " इस का अर्थ यों है कि जिस प्रकार प्रथम अध्यायके द्वितीय आन्हिकमें हेत्वाभासोंको पहिले कहा है, उस ही स्वरूपकरके उनको निग्रहस्थानपना है। अतः हेत्वाभासोंके अन्य लक्षणोंकी अपेक्षा नहीं है। न्यायभाष्यकार कहते हैं कि " हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि किं पुनर्लक्षणान्तरयोगात्, हेत्वाभासाः निग्रहस्थानत्वमापन्नाः यथा प्रमाणानि प्रमेयत्वमित्यत आह यथोक्ता इति। हेत्वाभासलक्षणेनैव निग्रह-

स्थानमाव इति । त इमे प्रमाणादयः पदार्था उद्दिष्टा लक्षिता, परीक्षिताश्चेति" । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कहे हुये उन हेत्वाभासोंमें भी ग्रन्थकारको यह विशेष कहना है, सो सुनिये ।

हेत्वाभासाश्च योगोक्ताः पंच पूर्वमुदाहृताः ।
सप्तधान्यैः समाख्याता निग्रहाधिकृतां गताः ॥ २७३ ॥

प्रमाण, आदि सोलह पदार्थोंके सामान्य रूपसे लक्षण करनेके अवसरपर नैयायिकके द्वारा पांच हेत्वाभास पूर्वमें कहे जा चुके हैं । भाष्यकार और वृत्तिकार द्वारा उनके उदाहरण भी दिये जा चुके हैं । प्रथम ही पांच हेत्वाभासोंका उद्देश्य यों किया है कि " सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकाला हेत्वाभासाः " उनमेंसे " अनैकान्तिकः सव्यभिचारः " अनैकान्तिक दोषको सव्यभिचार कहा गया है । जैसे कि शब्द नित्य है, स्पर्शरहित होनेसे, यहां बुद्धि, संयोग, चलना आदि अनित्योंमें भी हेतुके ठहर जानेसे नित्यपना भी एक अन्त (धर्म) है । और अनित्यपना भी एक धर्म है । एक ही अन्तमें जो हेतु अविनाभाव रूपसे सहचरित रहता है, वह ऐकान्तिक है । उसका विपरीत होनेसे दोनों अन्तोंमें व्याप रहा अनैकान्तिक दोष है । व्यभिचारी हेत्वाभासके साधारण, असाधारण, अनुपसंहारी ये तीन भेद माने गये हैं । " यः सपक्षे विपक्षे च भवेत् साधारणस्तु सः " जो हेतु सपक्ष विपक्ष दोनोंमें रह जाता है वह साधारण है । जैसे कि घट अनित्य है, प्रमेय होनेसे, यहां प्रमेयत्व हेतु अनित्य पुस्तक, वस्त्र, मीठा, खट्टा, चलना, घूमना आदि सपक्षोंमें ठहर रहा है । यह हेतुका गुण है किन्तु नित्य हो रहे आकाश, आत्मा, परमाणु आदि विपक्षोंमें भी रह जाता है । विपक्षसे मिले रहना भारी दोष है । अतः प्रमेयत्व हेतु साधारण हेत्वाभास है । " यस्तूभयस्माद् व्यावृत्तः स त्वसाधारणो मतः " और जो हेतु सपक्ष विपक्ष दोनोंमें नहीं ठहर पाता है, वह असाधारण है । जैसे कि शब्द अनित्य है, शब्दपना होनेसे, यहां अनित्य घट, पट आदि सपक्षोंमें भी शब्दत्व नहीं रहता है । यह छोटासा दोष है तथा आत्मा आदि विपक्षोंमें भी शब्दत्व हेतु नहीं वर्तता है । भले ही यह गुण है । अतः शब्दत्व हेतु असाधारण हेत्वाभास है । " तथैवानुपसंहारी केवलान्वयिपक्षकः " व्यतिरेक नहीं पाया जाकर जिसका केवल अन्वय ही वर्तता है, उसको पक्ष या साध्य बनाकर जिस अनुमानमें हेतु दिये जाते हैं, वे हेतु अनुपसंहारी हेत्वाभास हैं । जैसे कि सम्पूर्ण पदार्थ शब्दों द्वारा कथन करने योग्य हैं, प्रमेय होनेसे, यहां सबको पक्षकोटिमें लेनेसे " हेतुमन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्य " स्वरूप अन्वय व्याप्तिको ग्रहण करनेके लिये कोई स्थल (सपक्ष) अवशिष्ट नहीं रह जाता है । या केवलान्वयीको साध्य बनानेपर साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूप व्यतिरेक व्याप्तिके नहीं बननेसे अनुमिति नहीं हो पाती है । कोई नैयायिक असाधारण और अनुपसंहारीको हेत्वाभास नहीं मानते

हैं। सपक्षमें वृत्ति नहीं होते हुये भी विपक्षव्यावृत्ति द्वारा व्याप्तिको बनाकर शद्वत्वसे शद्वका अनित्यपना साधा जा सकता है। और पक्षके एक देशमें भी व्याप्ति बनायी जा सकती है। उसी प्रकार पक्षके एक देशमें व्याप्तिको बनाकर प्रमेयत्व हेतु भी सद्धेतु बन सकता है। नैयायिकोंके यहां अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य इति ईश्वरेच्छा संकेतरूपा शक्ति इस ढंगसे शद्वोंकी शक्तिको मानकर सम्पूर्ण पदार्थोंको अभिधान करने योग्य मान लिया है। नैयायिकोंने ईश्वरको शक्तिमान् माना है। कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्यः। किन्तु जैन सिद्धान्त अनुसार सम्पूर्ण पदार्थोंका अनन्तानन्तवां भाग शद्वों द्वारा वाच्य माना है। शद्व संख्याते ही हैं। अतः संकेत ग्रहण द्वारा वे संख्यात अर्थोंको ही कह सकते हैं। हां, अविनाभावया अभेद वृत्तिसे भले ही अधिक अर्थोंको कह दें। सच बात तो यह है कि असंख्याते अर्थोंकी प्रतिपत्ति तो शद्वों द्वारा नहीं होकर श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होती है। हां, उस ज्ञानभण्डारकी ताली (कुंजी) प्रतिपादकके शद्व ही हैं। तभी तो जैन विद्वान् भगवान् अर्हन्तपरमेष्ठीके ज्ञान, वीर्य, सुख दर्शनको अनन्त ही मानते हैं। सर्वज्ञ भी शद्वों द्वारा परिमित अर्थोंको ही कहते हैं। सम्पूर्ण पदार्थोंको नहीं कह सकते हैं। यदि नैयायिक ईश्वरके सर्व शक्तियां मानते हैं, तो क्या ईश्वर आकाशमें रुपया, जड घटमें ज्ञानका समवाय करा सकते हैं ! यानी कभी नहीं। अतः सर्व शक्तिमत्ताकी कोरी श्रद्धा है ! अभिधेयपन और प्रमेयपनकी समव्याप्तिको हम इष्ट नहीं करते हैं। कहीं कहीं अनैकान्तिकके संदिग्ध अनैकान्तिक और निश्चित अनैकान्तिक दो भेद माने गये हैं। नैयायिकोंने दूसरा हेत्वाभास " सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः " सिद्धान्तको स्वीकार कर उस साध्यसे विरुद्ध हो रहे धर्मके साथ व्याप्ति रखनेवाला हेतु विरुद्ध हेत्वाभास माना है। जैसे कि यह वन्हिमान् है, सरोवरपना होनेसे। यहां वन्हिसे विरुद्ध जलसहितपनके साथ व्याप्ति रखनेवाला होनेसे ह्रदत्व हेतु विरुद्ध है। एवं तीसरा हेत्वाभास गौतमसूत्रमें " यस्मात् प्रकरणचिन्तासनिर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः" जिनका निश्चय नहीं हो चुका इसी कारण विचारमें प्राप्त हो रहे पक्ष और प्रतिपक्ष यहां प्रकरण माने गये हैं, उस प्रकरणकी चिन्ता करना यानी विचारसे प्रारम्भ कर निर्णयसे पहिलेतक परीक्षा करना उसके निर्णयके लिये प्रयुक्त किया गया प्रकरणसम हेत्वाभास है। जैसे कि पर्वत अग्निसे रहित है, पाषाणका विकार होनेसे। इस हेतुका पर्वत अग्निवाला है, धूम होनेसे, यों प्रतिपक्षसाधक हेतु खडा हुआ है। अतः पाषाणमयत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष है। चौथा हेत्वाभास " साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः " । पर्वतो वन्हिमान् वन्हिमत्त्वात् ' ह्रदो वन्हिमान् धूमत्वात् ' कांचनमयो पर्वतो वन्हिमान् इत्यादिक साध्यसम, स्वरूपासिद्ध आश्रयासिद्ध व्याप्यत्वासिद्ध ये सब इसी असिद्धके प्रकार हैं। पांचवां हेत्वाभास " कालात्ययापदिष्टः कालातीतः " साधन कालके अभाव हो जानेपर प्रयुक्त किया गया हेतु कालात्ययापदिष्ट है। जैसे कि आग शीतल है, कृतक होनेसे। यहां प्रत्यक्ष बाधित हो जानेसे कृतकत्व हेतु बाधित हेत्वाभास है। इस ढंगसे पूर्वमें पांच हेत्वाभास कहे गये हैं। निग्रहस्थानोंके आधिक्यको प्राप्त कर रहे अन्य विद्वानोंने

हेत्वाभासोंकी सात प्रकार भी भले प्रकार संख्या बखानी है। अनैकान्तिकके दो भेदोंको बढाकर या असिद्धके दो भेदोंको अधिक कर सात संख्या पूरी की जा सकती है।

हेत्वाभासत्रयं तेपि समर्थं नातिवर्तितुं।
अन्यथानुपपन्नत्ववैकल्यं तच्च नैककम् ॥ २७४ ॥
यथैकलक्षणो हेतुः समर्थः साध्यसाधने।
तथा तद्विकलाशक्तो हेत्वाभासोनुमन्यताम् ॥ २७५ ॥
यो ह्यसिद्धतया साध्यं व्यभिचारितयापि वा।
विरुद्धत्वेन वा हेतुः साधयेन्न स तन्निभः ॥ २७६ ॥

वे पांच प्रकार या सात प्रकार हेत्वाभासोंको माननेवाले नैयायिक भी बौद्धों द्वारा माने गये तीन हेत्वाभासोंका उल्लंघन करनेके लिये समर्थ नहीं हैं। और वह तीन हेत्वाभासोंका कथन भी अन्यथानुपपत्तिसे रहितपन इसी एक हेत्वाभासका उल्लंघन करनेके लिये समर्थ नहीं है। भावार्थ-नैयायिक या वैशेषिकोंके यहां पांच या सात प्रकारके हेत्वाभास माने गये हैं। वे बौद्धोंके यहां माने गये असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक इन हेत्वाभासोंमें ही गर्भित हो सकते हैं। बौद्धोंने हेतुका पक्षवृत्तित्व गुण असिद्ध दोषके निवारण अर्थ कहा है। और हेतुका सपक्षमें रहनापन गुण तो विरुद्ध हेत्वाभासके निराकरण अर्थ प्रयुक्त किया है। तथा हेतुका विपक्षव्यावृत्ति नामका गुण तो व्यभिचार दोषको हटानेके लिये बोला है। अतः इन तीनों हेत्वाभासोंमें ही पांचों सातोंका गर्भ हो सकता है। तथा बौद्धोंके ये तीन हेत्वाभास भी एक अविनाभावविकलता नामक हेत्वाभासमें ही गर्भित हो सकते हैं। सम्पूर्ण दोषोंके निवारण अर्थ रसायन औषधिके समान हेतुका एक अविनाभाव गुण ही पर्याप्त है। जितने ही सुधारक होते हैं, उतनी ही विघ्न कारणोंकी संख्या है। इस नियम अनुसार हेतुके दोषोंकी संख्या भी केवल एक अन्यथानुपपत्तिकी विकलता ही है। अतः जैन सिद्धान्त अनुसार हेत्वाभासका एक ही भेद अन्यथानुपपत्तिरहितपन मानना चाहिये। जिस प्रकार कि एक अविनाभाव ही लक्षणसे युक्त हो रहा हेतु साध्यको साधनेमें समर्थ है, उसी प्रकार अकेले अविनाभावसे विकल हो गया हेतु तो साध्यको साधनेमें अशक्त है। अतः वह एक ही हेत्वाभास स्वीकार करलेना चाहिये। एक ही हेत्वाभास अनुमिति या उसके कारण व्याप्तिज्ञान, परामर्श आदिका विरोध करता हुआ साध्यसिद्धिमें प्रतिबन्धक हो जाता है। जो भी हेतु पक्षमें नहीं रहनारूप असिद्धपने दोष करके साध्यको नहीं साधेगा वह अविनाभावविकल होनेसे हेत्वाभास समझा जायगा अथवा जो हेतु विपक्षवृत्तिरूप व्यभिचारीपन दोष करके साध्यको नहीं साध सकेगा वह भी

अन्यथानुपपत्तिविकल होनेसे उस हेतुसरीखा किन्तु हेतुके लक्षणसे रहित हो रहा हेत्वाभास माना जावेगा तथा जो हेतु साध्यसे विपरीतके साथ व्याप्ति रखना स्वरूप विरुद्धपन दोषसे साध्यसिद्धिको नहीं कर सकेगा वह भी अन्यथानुपपत्तिरहितपन, दोषसे आक्रान्त है। अतः हेत्वाभास है। बौद्धोंको हेतुके तीन दोष नहीं मानकर एक अविनाभाव विकलता ही हेत्वाभास मान लेना चाहिये।

असिद्धादयोपि हेतवो यदि साध्याविनाभावनियमलक्षणयुक्तास्तदा न हेत्वाभासा भवितुमर्हंति। न चैवं, तेषां तदयोगात्। न ह्यसिद्धः साध्याविनाभावनियतस्तस्य स्वयमसत्त्वात्। नाप्यनैकांतिको विपक्षेपि भावात्। न च विरुद्धो विपक्ष एव भावादित्यसिद्धादिप्रकारेणाप्यन्यथानुपपन्नत्ववैकल्यमेव हेतोः समर्थ्यते। ततस्तस्य हेत्वाभासत्वमिति संपादेक एव हेत्वाभासः प्रतीयते अन्यथानुपपन्नत्वनियमलक्षणैकहेतुवत्। अतस्तद्वचं वादिनो निग्रहस्थानं परस्य पक्षसिद्धाविति प्रतिपत्तव्यं।

असिद्ध, व्यभिचारी आदिक हेतु भी यदि साध्यके साथ नियमपूर्वक अविनाभाव रखना रूप लक्षणसे युक्त हैं, तब तो वे कथमपि हेत्वाभास होनेके लिये योग्य नहीं हैं। किन्तु असिद्ध आदि हेत्वाभासोंके कदाचित् भी इस प्रकार अविनाभावनियमसहितपना नहीं है। क्योंकि उन असिद्ध आदि असद्धेतुओंके उस अविनाभावका योग नहीं है। जैसे कि क्रूरहिंसकके दयाका योग नहीं है, जो क्रूर कषायी है, वह दयावान् नहीं है, और जो करुणाशील है, वह तीव्र कषायी नहीं है, उसी प्रकार जो हेतु अविनाभावविकल है, वह सत् हेतु नहीं और जो अविनाभाव सहित सत् हेतु हैं वो असिद्ध आदि रूप हेत्वाभास नहीं है। देखिये, जो असिद्ध हेत्वाभास है, वह साध्यके साथ अविनाभाव रखना रूप नियमसे युक्त नहीं है। क्योंकि वह स्वयं पक्षमें विद्यमान नहीं है। " शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात् " यहां पक्षमें ठहर कर चाक्षुषत्व हेतुका अनित्यत्वके साथ अविनाभाव नहीं देखा जाता है। इस प्रकार अनैकान्तिक हेत्वाभास भी साध्यके साथ अविनाभाव रखनेवाला नहीं है। क्योंकि वह विपक्षमें भी वर्त रहा है। तथा विरुद्ध भी साध्याविनाभावी नहीं है। क्योंकि वह विपक्ष ही में विद्यमान रहता है। इस कारण असिद्ध, व्यभिचारी आदि प्रकारों करके भी हेतुकी अन्यथानुपपत्तिसे विकलताका ही समर्थन किया गया है। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि उस अकेली अन्यथानुपपत्तिविकलताको ही हेत्वाभासपना है। इस कारण संक्षेपसे एक ही हेत्वाभास प्रतीत हो रहा है। जैसे कि अन्यथानुपपत्तिरूप नियम इस एक ही लक्षणको धारनेवाले सद्धेतुका प्रकार एक ही है। अतः उस एक ही प्रकारके हेत्वाभासका कथन करना वादीका निग्रहस्थान होगा। किन्तु दूसरे प्रतिवादीके द्वारा अपने पक्षकी सिद्धि कर चुकनेपर ही वादीका निग्रह हुआ निर्णीत किया जायगा। अन्यथा दोनों एकसे कोरे बैठे रहो। जय कोई ऐसी सेंत मेतकी वस्तु (चीज) नहीं है, जो कि यों ही थोडीसी अशुद्धि निकालने मात्रसे प्राप्त हो जाय। उस जयके लिये सयुक्ति

बुद्धिबल, तपोबल, वाग्मित्व, सभाचातुर्य, प्रत्युत्पन्नमतित्व, शास्त्रहृदय परिशीलन, प्रतिभा, पापभीरुता, हितमितगम्भीरभाषण, प्रकाण्डविद्वत्ता आदि गुणोंकी आवश्यकता है । यह समझ लेना चाहिये ।

तथा च संक्षेपतः " स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोन्यस्य वादिन " इति व्यवतिष्ठते । न पुनर्विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्ती तद्भावेपि कस्यचित्स्वपक्षसिद्धाभावे परस्य पराजयानुपपत्तेरसाधनांगवचनादोषोद्भावनमात्रवत् छलवद्वा ।

और तिस प्रकार सिद्धान्तनिर्णीत हो जानेपर यह अकलंक व्यवस्था बन जाती है कि वादी प्रतिवादी दोनोंसे एकके निज पक्षकी प्रमाणों द्वारा सिद्धि हो जाना ही दूसरे अन्य वादीका निग्रह हो गया समझा जाता है । किन्तु फिर नैयायिकोंके यहां माने गये सामान्य लक्षण विप्रतिपत्ति और अविप्रतिपत्ति तो निग्रहस्थान नहीं है । क्योंकि उन विपरीत या कुत्सित प्रतिपत्तिके होनेपर और अप्रतिपत्तिके होनेपर भी यदि किसी भी एक वादी या प्रतिवादीके निज पक्षकी सिद्धि नहीं हो पाती है, तो ऐसी दशामें दूसरेका पराजय होना कथमपि नहीं बन सकता है । केवल असाधनांगका वचन कह देनेसे किसीका पराजय नहीं हो सकता है । जैसे कि केवल दोषका उठा देना मात्र अथवा तू छल करनेवाला है, केवल इतना कह देनेसे कोई जयको झट नहीं लूट सकता है । भावार्थ-नैयायिकोंके न्याय दर्शन ग्रन्थके पहिले अध्यायकका साठवां सूत्र है कि " विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् " इसका वात्स्यायन भाष्य यों है कि " विपरीता कुत्सिता वा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिः । विप्रतिपद्यमानः पराजयं प्राप्नोति निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः । अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषये न प्रारम्भः । परेण स्थापितं न प्रतिषेधति प्रतिषेधं वा नोद्धरति, असमासाच्च नैते एव निग्रहस्थाने इति " निग्रहस्थानोंका बीज विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति (प्रकरण प्राप्तका अज्ञान) है । इनकी नाना कल्पनाओंसे निग्रहस्थानके चौबीस भेद हो जाते हैं । तिनमें अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, ये तो अप्रतिपत्ति हैं । और शेष प्रतिज्ञाहानि आदिक तो विप्रतिपत्ति हैं । यदि निग्रहस्थानदाता निग्रहस्थान पात्रके विरुद्ध अपने पक्षकी सिद्धि नहीं कर रहा है, तो वह उसको जीत नहीं सकता है । यह नैयायिकोंके ऊपर हमको कहना है । तथा बौद्धोंके यहां असाधनांग वचन और अदोषोद्भावन ये दो वादी प्रतिवादियोंके निग्रहस्थान माने गये हैं । किन्तु यहां भी जय प्राप्तिकी अभिलाषा रखनेवालेको अपने पक्षकी सिद्धि करना अनिवार्य है । अथवा नैयायिकोंने छलको निरूपण कर देनेवाले वादी करके छलप्रयोक्ता प्रतिवादीका पराजय इष्ट किया है । यह भी मार्ग प्रशस्त नहीं है । छल उठानेवाले विद्वान्को सन्मुख स्थित छलप्रयोक्ताके विरुद्ध अपने पक्षकी सिद्धि कर देना अत्यावश्यक है । अन्यथा चतुर, विचक्षण, विद्वानोंको छली बताते हुये भोंदू मूढ पुरुष जय लूट ले जायंगे । अतः छलोंको दृष्टान्त बना कर आचार्योंने निग्रहस्थानोंको पराजय प्राप्त करानेका प्रयोजक नहीं साधने दिया है ।

किं पुनश्छलमित्याह।

ऊपर विवरणमें श्री विद्यानन्द स्वामीने छलका दृष्टान्त दिया है, जो कि नैयायिकोंके यहां माने गये मूलतत्त्व सोलह पदार्थोंमें परिगणित किया गया है। और जिसको श्री विद्यानन्द स्वामीने प्रतिज्ञाहानि आदिमें पहिले गिना दिया है। अब वह छल क्या पदार्थ है ? इस प्रकार शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य नैयायिकोंके अनुसार छलका लक्षण कहते हुये विचार करते हैं।

योर्थारोपोपपत्त्या स्याद्विघातो वचनस्य तत् ।
छलं सामान्यतः शक्यं नोदाहर्तुं कथंचन ॥ २७७ ॥
विभागेनोदितस्यास्योदाहृतिः स त्रिधा मतः ।
वाक्सामान्योपचारेषु छलानामुपवर्णनात् ॥ २७८ ॥

गौतम सूत्रके अनुसार छलका साधारण लक्षण यह है कि वादी द्वारा स्वीकृत किये अर्थका जो विरुद्ध कल्प है, यानी अर्थान्तरकी कल्पना है, उसकी उपपत्ति करके जो वादी द्वारा कहे गये अर्थका प्रतिवादी करके विघात है, वह उस प्रतिवादीका छल है। सामान्य रूपसे उस छलका उदाहरण कैसे भी नहीं दिया जा सकता है। " निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् " न्यायभाष्यकार कहते हैं कि " न सामान्यलक्षणे छलं शक्यमुदाहर्त्तुमविभागे तूदाहरणानि " हां, विभाग करके कह दिये गये इस छलका उदाहरण सम्भव जाता है। और वह छलोंका विभाग वाक्छल, सामान्य छल, उपचार छल इन भेदोंमें वर्णना कर देनेसे तीन प्रकारका माना गया है।

अर्थस्यारोपो विकल्पः कल्पनेत्यर्थः तस्योपपत्तिः घटना तया यो वचनस्य विशेषेणाभिहितस्य विघातः प्रतिपादकादभिप्रेतादर्थात् प्रच्यावनं तच्छलमिति लक्षणीयं, 'वचनविघातोर्थविकल्पोपपत्त्या छलं' इति वचनात्। तच्च सामान्यतो लक्षणे कथमपि न शक्यमुदाहर्तुं विभागेनोक्तस्य तच्छलस्योदाहरणानि शक्यंते दर्शयितुं। स च विभागस्त्रिधा मतोऽक्षपादस्य तु त्रिविधमिति वचनात्। वाक्सामान्योपचारेषु छलानां त्रयाणामेवोपवर्णनात् वाक्छलं, सामान्यछलं, उपचारछलं चेति।

छलके प्रतिपादक गौतमसूत्रका व्याख्यान इस प्रकार है, कि वादीके अभीष्ट अर्थका आरोप यानी विकल्प इसका अर्थ तो अर्थान्तरकी कल्पना है। उस आरोपकी उपपत्ति यानी घटित करना उस करके जो वादीके वचनका यानी विशेष अभिप्राय करके कहे गये वक्तव्यका विशेष युक्तिकरके विघात कर देना अर्थात्—प्रतिपादकसे अभिप्रेत हो रहे अर्थसे वादीको प्रच्युत करा देना, इस प्रकार छलका सामान्य रूपसे लक्षण करने योग्य है। मूल गौतमसूत्रमें इसी प्रकार कथन है कि अर्थके

विकल्पकी उपपत्तिसे वचनविघात कर देना छल है। और वह छल सामान्यसे लक्षण करनेपर कैसे भी उदाहरण करने योग्य नहीं है। सामान्य गाय दूध नहीं दे सकती है। हां, विभाग करके कह दिये गये उस छलके उदाहरण दिखलाये जा सकते हैं। और वह विभाग तो अक्षपाद गौतमके यहां तीन प्रकार माना गया है। इस प्रकार गौतमसूत्रमें कहा गया। "तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यछलमुपचारछलं च" इस कथनसे वाक्, सामान्य, उपचार इन भेदोंमें तीन प्रकारके छलोंका ही वर्णन किया गया है। वाक् छल, सामान्य छल और उपचार छल, इस प्रकार छलके तीन विभाग हैं।

तत्र किं वाक्छलमित्याह।

उन तीन छलोंमें पहिला वाक्छल क्या है? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य नैयायिकोंका अनुवाद करते हुये वाक्छलका लक्षण कहते हैं।

तत्राविशेषदिष्टेर्थे वक्तुराकूततोन्यथा।
कल्पनार्थांतरस्येष्टं वाक्छलं छलवादिभिः॥ २७९॥

"अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलं" अविशेष रूपसे वक्ता द्वारा कहे गये अर्थमें वक्ताके अभिप्रायसे दूसरे अर्थान्तरकी कल्पना करना और कल्पना कर उस दूसरे अर्थका असम्भव दिखा कर निषेध करना छलवादी नैयायिकों करके छलका लक्षण स्थित किया है। जिनका स्वभाव छलपूर्वक कथन करनेका हो गया है, उनको इस प्रकार छलका लक्षण करना शोभता है।

तेषामविशेषेण दिष्टे अभिहितेर्थे वक्तुराकूतादभिप्रायादन्यथा स्वाभिप्रायेणार्थांतरस्य कल्पनमारोपणं वाक्छलमिष्टं तेषामविशेषाभिहितेर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थांतरकल्पना वाक्छलं इति वचनात्।

सामान्यरूपसे अभिहित यानी कथित किये गये अर्थमें वक्ताके आकूत यानी अभिप्रायसे अपने अभिप्राय करके दूसरे प्रकार अर्थान्तरकी कल्पना करना अर्थात्—वक्ताके ऊपर विपरीत आरोप धर देना उन नैयायिकोंके यहां वाक्छल अभीष्ट किया गया है। उनके यहां गौतमसूत्रमें इस प्रकार कहा गया है कि विशेषरूपोंको उठाकर किये जाने योग्य आक्षेपोंके निराकरणकी नहीं अपेक्षा करके सामान्यरूपसे वचन व्यवहारमें प्रसिद्ध हो रहे अर्थके वादीद्वारा कह चुकनेपर यदि प्रतिवादी वक्ता वादीके अभिप्रायसे अन्य अर्थोंकी कल्पना कर प्रत्यवस्थान देता है तो प्रतिवादीका वाक्छल है। अतः वादी करके प्रतिवादीका पराजय हो जाता है। क्योंकि लोकमें सामान्यरूपसे प्रयोग किये गये शब्द अपने अभीष्ट विशेष अर्थोंको कह देते हैं, जैसे कि छिरियाको गाव ले जाओ, घीको लाओ, ब्राह्मणको खवाओ, शास्त्रको पढ़ो, आजकल

मनुष्योंमें अनीति बढती जाती है, इत्यादिक स्थलोंपर सामान्यशब्द अर्थविशेषोंको ही कहते हैं। क्योंकि केवल सामान्यमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। प्रतिवादीको उचित था कि वादीके द्वारा प्रयुक्त किये गये सामान्यवाचक शब्दके अभीष्ट हो रहे विशेष अर्थका प्रबोध कर पुनः दोष उठाता। किन्तु कपटी प्रतिवादीने जानबूझकर अनुपपद्यमान अर्थान्तरकी कल्पना की। अतः छली प्रतिवादीको सभ्योंके सन्मुख पराजित होना पडा। काठ की हांडी एक बार भी नहीं चढती, धोखा सर्वत्र धोखा ही है।

अस्योदाहरणमुपदर्शयति।

नैयायिकोंके मन्तव्यका अनुवाद करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य इस वाक्छलके उदाहरण को वार्त्तिकोंद्वारा दिखलाते हैं।

आढ्यो वै देवदत्तोयं वर्तते नवकंबलः।
इत्युक्ते प्रत्यवस्थानं कुतोस्य नवकंबलाः॥ २८०॥
यस्मादाढ्यत्वसंसिद्धिर्भवेदिति यदा परः।
प्रतिब्रूयात्तदा वाचि छलं तेनोपपादितम्॥ २८१॥

यह देवदत्त अवश्य ही अधिक धनवान् वर्त रहा है। क्योंकि नवकंबलवाला है। इस प्रकार वादीद्वारा कथन कर चुकनेपर प्रतिवादीद्वारा प्रत्यवस्थान उठाया जाता है कि इसके पास नौ संख्या वाले कंबल कहां है? जिससे कि हेतुके पक्षमें वर्तजानेसे धनीपनकी भले प्रकार सिद्धि हो जाती। अर्थात्—वादी जब इसके पांच और चार नौ कंबल बता रहा है किन्तु इसके पास एक ही नैपाली कंबल है। इस प्रकार दूसरा प्रतिवादी जब प्रत्युत्तर कहेगा, तब उस प्रतिवादीके वचनोंमें छलकी उपपत्ति करायी। अतः प्रतिवादी छल दोषसे ग्रसित हुआ विचारशीलोंकी दृष्टिमें गिर जाता है।

नवकंबलशद्धे हि वृत्त्या प्रोक्ते विशेषतः।
नवोऽस्य कंबलो जीर्णो नैवेत्याकूतमाजसम्॥ २८२॥
वक्तुः संभाव्यते तस्मादन्यस्यार्थस्य कल्पना।
नवास्यकंबला नाष्टावित्यस्यासंभवात्मनः॥ २८३॥
प्रत्यवस्थातुरन्यायवादितामानयेद्ध्रुवं।
संतस्तत्त्वपरीक्षायां कथं स्युश्छलवादिनः॥ २८४॥

कोई कहता है कि " आढ्यो वै वैधवेयोयं वर्तते नवकंबलः " यह मालदार विधवाका छोकरा बहुत धनवान् है, नव कंबल (बढिया दुशाला) वाला होनेसे। यहां इस अनुमानमें नव और कम्बल शद्वकी कर्मधारय नामक समास वृत्ति करके विशेष रूपसे " नवकंबल " शद्व कहा गया है कि इसके पास नवीन कंबल रहता है। फटा, टूटा, पुराना कम्बल कभी देखनेमें आता नहीं है। इस प्रकारका ही वक्ताका अभिप्राय तात्त्विक रूपसे संभव रहा है। किन्तु प्रतिवादी कषायवश उस अभिप्रेत अर्थसे अन्य अर्थकी कल्पना कर दोष देनेके लिये बैठ जाता है, कि नव कंबल शद्व द्वारा इसके नौ संख्यावाले कंबल होने चाहिये, आठ भी नहीं, इस प्रकार असंभव स्वरूप अर्थकी कल्पना कर प्रत्यवस्थान उठा रहे प्रतिवादीके ऊपर अन्याय पूर्वक बोलनेकी चांटको निश्चित ही प्राप्त करा देना चाहिये अर्थात्–प्रतिवादीको अन्याय वादी माना जाय (करार दिया जाय) तत्त्वोंकी परीक्षा करनेमें सज्जन पुरुष अधिकार प्राप्त हो रहे हैं। छलपूर्वक कहनेवाले भला तत्त्वोंकी परीक्षा कैसे कर सकेंगे ? अथवा जो सज्जन हैं, वे स्वभावसे छलपूर्वक वाद करनेवाले कैसे हो जायंगे ? अर्थात्–कभी नहीं।

कथं पुनरनियमविशेषाभिहितोर्थः वक्तुरभिप्रायादर्थांतरकल्पना वाक्छलाख्या प्रत्यवस्थातुरन्यायवादितामानयेदिति चेत् छलस्यान्यायरूपत्वात्। तथाहि–तस्य प्रत्यवस्थानं सामान्यशद्वस्यानेकार्थत्वे अन्यतराभिधानकल्पनाया विशेषवचनाद्दर्शनीयमेतत् स्यात् विशेषाज्जानीमोऽयमर्थस्त्वया विवक्षितो नवास्य कंबला इति, न पुनर्नवोस्य कंबल इति। स च विशेषो नास्ति तस्मान्मिथ्याभियोगमात्रमेतदिति। प्रसिद्धश्च लोके शद्वार्थसंबंधोभिधानाभिधेयनियमनियोगोस्याभिधानस्यायमर्थोभिधेय इति समानार्थः सामान्यशद्वस्य, विशिष्टोर्थो विशेषशद्वस्य। प्रयुक्तपूर्वाश्चामी शद्वाः प्रयुज्यंतेऽर्थेषु सामर्थ्याच्च प्रयुक्तपूर्वाः प्रयोगश्चार्थः अर्थसंप्रत्ययाद्व्यवहार इति तत्रैवमर्थवत्यर्थशद्वप्रयोगे सामर्थ्यात्सामान्यशद्वस्य प्रयोगनियमः। अजां नय ग्रामं, सर्पिराहर, ब्राह्मणं भोजयेति सामान्यशद्वाः संतोर्थावयवेषु प्रयुज्यंते सामर्थ्यात्। यत्रार्थे क्रियाचोदना संभवति तत्र वर्तते, न चार्थसामान्ये अजादौ क्रियाचोदना संभवति। ततोजादिविशेषाणामेवानयनादयः क्रियाः प्रतीयंते न पुनस्तत्सामान्यस्यासंभवात्। एवमयं सामान्यशद्वो नवकंबल इति योर्थः संभवति नवः कंबलोस्येति तत्र वर्तते, यस्तु न संभवति नवास्य कंबला इति तत्र न वर्तते प्रत्यक्षादिविरोधात्। सोयमनुपपद्यमानार्थकल्पनया परवाक्योपालंभत्वेन कल्प्यते, तत्त्वपरीक्षायां सतां छलेन प्रत्यवस्थानायोगात्। तदिदं छलवचनं परस्य पराजय एवेति मन्यमानं न्यायभाष्यकारं प्रत्याह।

कोई आचार्य महाराजके ऊपर प्रश्न करता है कि आप फिर यह बताओ कि विशेष नियम किये विना ही वक्ताका सामान्यरूपसे कह दिया गया अर्थ (कर्त्ता) वक्ताके अभिप्रायसे

अर्थान्तरकी कल्पना करना वाक्छल नामको धारता हुआ भला प्रत्यवस्थान उठानेवाले प्रतिवादीको कैसे अन्यायपूर्वक कहनेकी टेवको प्राप्त करा देगा ? समाधान करो । इस प्रकार कहनेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि छल जब अन्यायस्वरूप है तो छलप्रयोक्ता मनुष्य अन्यायवादी अवश्य हुआ। इस बातको और भी स्पष्ट कर कह देते हैं कि इस प्रतिवादीका दूषण उठाना अन्यायरूप है। सामान्य वाचक शब्दोंके जब अनेक अर्थ प्रसिद्ध हो रहे हैं तो उनमें किसी भी एक अर्थके कथन की कल्पनाका विशेष कथनसे यह उस वादीका प्रत्यवस्थान दिखलाया गया होना चाहिये । विशेष रूपसे हम यह जान पाये हैं कि इसके पास संख्यामें नौ कम्बल हैं । यह अर्थ तुम वादीद्वारा विवक्षा प्राप्त है। किन्तु इसका कंबल नवीन है, यह अर्थ तो फिर विवक्षित नहीं है । और वह नौ संख्यावाला विशेष अर्थ यहां देवदत्तमें घटित नहीं होता है । तिस कारणसे यह मेरे ऊपर झूंठा अभियोग (जुर्म लगाना) है । इस प्रकार विपरीत समर्थन करना छलवादीके ही सम्भवता है । आचार्य महाराज न्यायभाष्यका अनुवाद कर रहे हैं कि लोकमें शब्द और अर्थका सम्बन्ध तो अभिधान और अभिधेयके नियमका नियोग करना प्रसिद्ध हो रहा है । इस शब्दका यह अर्थ अभिधान करने योग्य है । इस प्रकार सामान्य शब्दका अर्थ समान है और विशेष शब्दका अर्थ विशिष्ट है । उन शब्दोंका पूर्वकालमें भी लोकव्यवहारार्थ प्रयोग कर चुके हैं । वे ही शब्द अर्थप्रतिपादनमें समर्थ होनेके कारण इस समय अर्थोंमें प्रयोग किये जाते हैं । वे शब्द पहिले वचनव्यवहारोंमें प्रयोग नहीं किये गये हैं । यह नहीं समझना शब्दोंके प्रयोगका व्यवहार तो वाच्य अर्थका भले प्रकार ज्ञान हो जानेसे हो जाता है । अर्थका भले प्रकार ज्ञान करानेके लिये शब्दप्रयोग है और अर्थके सम्यग्ज्ञानसे लोकव्यवहार है । तहां इस प्रकार अर्थवान् शब्दके होनेपर अर्थमें शब्दका प्रयोग करना नियत हो रहा है । छिरियाको गांवको ले जाओ, घृतको लाओ, ब्राह्मणको भोजन कराओ इत्यादिक शब्द सामान्यके वाचक होते हुये भी सामर्थ्य द्वारा अर्थविशेषोंमें प्रयुक्त किये जाते हैं । जिस विशेष अर्थमें अर्थक्रियाकी प्रेरणा होना सम्भवता है । उसी अर्थमें वाचकपनसे वर्त रहे हैं । अर्थ सामान्य छिरिया, ब्राह्मण आदि सामान्योंमें किसी भी क्रियाकी प्रेरणा नहीं सम्भवती है । विशेषोंसे रहित छिरियासामान्य या ब्राह्मणसामान्य कुछ पदार्थ नहीं है । तिस ही कारणसे छिरिया, ब्राह्मण घोडा आदि विशेष पदार्थों ही की लाना, ले जाना, भोजन कराना आदि क्रियायें प्रतीत हो रही हैं । किन्तु फिर उनके विशेषरहित केवल सामान्यके तो किसी भी अर्थ क्रियाके हो जाने की सम्भावना नहीं है । और न कोई सामान्यका लक्ष्य कर उसमें अर्थ क्रिया करनेका उपदेश ही देता है । इसी प्रकार यह " नवकंबल " शब्द सामान्य शब्द है । नवसंख्या नव संख्यावान् और नवीन इन दोनों विशेषोंमें नवपना सामान्य अन्वित है । इस प्रकार नवका जो अर्थ यहां पक्षमें सम्भव रहा है कि इस देवदत्तका दुशाला नवीन है, उस विशेष अर्थमें यह नव शब्द वर्त रहा है । और जो अर्थ यहां सम्भवता नहीं है कि इसके पास संख्यामें नौ कम्बल

विद्यमान हैं। इस प्रकार उस अर्थमें यह नव शद्व नहीं वर्तता है, क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिसे विरोध आता है। तिस कारण यह नहीं सम्भव रहे अर्थकी कल्पना करके दूसरोंके वाक्योंके ऊपर उलाहना देना उस छलवादीने कल्पित किया है। जो कि वह इष्टसिद्धि करानेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि तत्त्वोंकी परीक्षा करनेमें सज्जन पुरुषोंके द्वारा छल, कपट, करके परपक्ष निषेध करना समुचित नहीं है। तिस कारण यह छलपूर्वक कथन करना दूसरे प्रतिवादीका पराजय ही है। इस प्रकार वात्स्यायन ऋषि अपने न्यायभाष्य ग्रन्थमें मान रहे हैं। अब आचार्य महाराज उक्त प्रकार मान रहे न्यायभाष्यकर्त्ताके प्रति समाधान वचन कहते हैं, सो आगे सुनिये।

एतेनापि निगृह्येत जिगीषुर्यदि धीधनैः।
पत्रवाक्यमनेकार्थं व्याचक्षाणो निगृह्यताम् ॥ २८५ ॥
तत्र स्वयमभिप्रेतमर्थं स्थापयितुं नयैः।
योऽसामर्थ्योऽपरैः शक्तैः स्वाभिप्रेतार्थसाधने ॥ २८६ ॥
योर्थसंभावयन्नर्थः प्रमाणैरुपपद्यते।
वाक्ये स एव युक्तोस्तु नापरोतिप्रसंगतः ॥ २८७ ॥

सच पूछो तो वे नैयायिक तत्त्वपरीक्षा करनेके अधिकारी नहीं हैं। कारण कि यदि जीतनेकी इच्छा रखनेवाला विद्वान् केवल अनेक अर्थोंका प्रतिपादन करनेसे ही यदि बुद्धिरूप धनको धारनेवालों करके निग्रह प्राप्त कर दिया जायगा तब तो अनेक अर्थवाले पत्रवाक्यका व्याख्यान कर रहा प्रकाण्ड विद्वान् भी निग्रहको प्राप्त कर दिया जाओ। किन्तु इस प्रकार कभी होता नहीं है। भावार्थ—अत्यन्त गूढ अर्थवाले कठिन कठिन वाक्योंको लिखकर जहां पत्रोंद्वारा लिखित शास्त्रार्थ होता है, वहां भी उद्भट विद्वान्के ऊपर छलदोष उठाया जा सकता है। क्योंकि पत्रमें अनेक अर्थवाले गूढपदोंका विन्यास है। किन्तु ऐसा कभी होता नहीं। श्रोताको उचित है कि वह समीचीन गूढपदोंका अर्थ ठीक ठीक लगा लेवें। तहां स्वयं अभीष्ट हो रहे अर्थको हेतुस्वरूप नयों करके स्थापन करनेके लिये जो वादी सामर्थ्ययुक्त नहीं है, वह अपने अभिप्रेत अर्थको साधनेमें समर्थ हो रहे दूसरे विद्वानोंकरके पराजित कर दिया जाय। हां, अर्थकी सम्भावनासे जो अर्थ वहां प्रमाणोंकरके सिद्ध हो जाता है, वही अर्थ वाक्यमें लगाना युक्त होवेगा। दूसरा असंभवित अर्थ कल्पित कर नहीं लगाना चाहिये। यों करनेसे अतिप्रसंग दोष हो जावेगा। गो शब्दका प्रायः बहुत व्यवहार होता है। किन्तु उसके वाणी, दिशा, पृथिवी आदि अनेक अर्थ माने गये हैं। अतः संभवित अर्थ ही पकडना चाहिये। हां, जिस धनीपनको साधनेके

लिये नव शब्दके नौ और नया ये दोनों अर्थ संभव रहे हैं, वहां प्रतिवादीका छल बताना न्यायमार्ग नहीं है। सो तुम स्वयं विचार लो।

> यत्र पक्षे विवादेन प्रवृत्तिर्वादिनोरभूत्।
> तत्सिद्ध्यैवास्य धिकारोन्यस्य पत्रे स्थितेन चेत् ॥ २८८ ॥
> कैवं पराजयः सिद्ध्येच्छलमात्रेण ते मते।
> संधाहान्यादिदोषैश्च दात्राऽऽदात्रोः स पत्रकम् ॥ २८९ ॥

नैयायिक कहते हैं कि वादी और प्रतिवादीकी पत्रमें स्थित हो रहे विवाद द्वारा जिस पक्षमें प्रवृत्ति हुई है, उस पक्षकी सिद्धि कर देनेसे ही इसका जय और अन्यका धिक्कार होना संभवता है, अन्यथा नहीं, इस प्रकार कहनेपर तो आचार्य कहते हैं, कि यह तुम्हारा मन्तव्य बहुत अच्छा है। किन्तु इस प्रकार माननेपर तुम्हारे मतमें केवल छलसे ही प्रतिवादीका पराजय भला कहां कैसे सिद्ध हो जावेगा? तथा प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर आदि दोषों करके भी पराजय कहां हुआ, जबतक कि अपने पक्षकी सिद्धि नहीं की जायगी तथा गूढपदवाले पत्रके दाता और पत्रके गृहीताका वह पराजय कहां हुआ? अतः इसी भित्तिपर दृढ बने रहो कि अपने पक्षकी सिद्धि करनेपर ही वादीका जय और प्रतिवादीका पराजय होगा, अन्यथा नहीं।

यत्र पक्षे वादिप्रतिवादिनोर्विप्रतिपत्त्या प्रवृत्तिस्तत्सिद्धेरेवैकस्य जयः पराजयोन्यस्य, न पुनः पत्रवाक्यार्थानवस्थापनमिति ब्रुवाणस्य कथं छलमात्रेण प्रतिज्ञाहान्यादिदोषैश्च स पराजयः स्यात् पत्रं दातुरादातुश्चेति चिंत्यताम्।

जिस पक्षमें वादी और प्रतिवादीकी विप्रतिपत्ति (विवाद) करके प्रवृत्ति हो रही है, उसकी सिद्धि हो जानेसे ही एकका जय और अन्यका पराजय माना जाता है। किन्तु फिर पत्रमें स्थित हो रहे वाक्यके अर्थकी व्यवस्था नहीं होने देना कोई किसीका जय पराजय नहीं है। अथवा केवल अनेक अर्थपनका प्रतिपादन कर देना ही जय, पराजय, नहीं। इस प्रकार भले प्रकार बखान रहे नैयायिकके यहां केवल छल कह देनेसे और प्रतिज्ञाहानि आदि दोषों करके पत्र देनेवाले और लेने-वालेका वह पराजय कैसे हो जावेगा? इसकी तुम स्वयं चिन्तना करो अर्थात्—जब स्वकीय पक्षकी सिद्धि और असिद्धि जय पराजयव्यवस्थाका प्राण है, तो केवल प्रतिवादी द्वारा छल या निग्रह-स्थान उठा देनेसे ही गूढ अर्थवाले पत्रको देनेवाले वादीका पराजय कैसे हो जायगा? और क्या सहजका मठा (छाछ) है, जो कि लिखित गूढ पत्रको ले रहा प्रतिवादी झट जयको लूट लेवे। विचार करनेपर यह वाक्छलकी उपपत्ति ठीक नहीं जमी।

न हि पत्रवाक्यविदर्थे तस्य वृत्तिस्तत्सिद्धेश्च पत्रं दातुर्जय आदातुः पराजयस्तन्निराकरणं वा तदादातुर्जयो दातुः पराजय इति च द्वितीयार्थेपि तस्य वृत्तिसंभवात्, प्रमाणतस्तथापि प्रतीतेः समानप्रकरणादिकत्वाद्विशेषाभावात्।

नैयायिक यदि यों कहें कि गूढ पत्रद्वारा समझाने योग्य जिस अर्थमें उस वादीकी वृत्ति है, उसकी सिद्धि कर देनेसे तो गूढ पत्रको देनेवाले वादीका जय होगा और पत्रका ग्रहण करनेवाले प्रतिवादीका पराजय हो जायगा। तथा उस पत्रलिखित अर्थका प्रतिवादी द्वारा निराकरण कर देनेपर उस पत्रको लेनेवाले प्रतिवादीका जय हो जायगा और पत्रको देनेवाले वादीका पराजय हो जायगा। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि गूढ पत्रके कई अर्थ सम्भव जाते हैं। अतः दूसरे अर्थमें भी उस वादीकी वृत्ति होना सम्भव जाता है। क्योंकि प्रकरणोंसे तिस प्रकार भी प्रतीत हो रहा है। प्रकरण, तात्पर्य, अवसर, आकांक्षा आदिकी समानता भी मिल रही है। कोई विशेषता नहीं है कि यही अर्थ पकडा जाय, दूसरा नहीं किया जाय। भावार्थ—कोई कोई दक्ष (चालाक) वादी अपने गूढपत्रमें कतिपय अर्थोंका सन्निवेश कर देता है। वह मनमें विचार लेता है कि यदि प्रतिवादी इस विवक्षित अर्थका निराकरण करेगा, तो मैं अपने गूढपत्रका उससे न्यारा दूसरा अर्थ अभीष्ट कर लूंगा। इसका खण्डन कर देगा तो उसको अभीष्ट कर लूंगा। पदार्थ अपने पेटमें विरुद्ध सदृश हो रहे अनेक अर्थोंको धार रहा है। प्रमाण भी उन अनेक अर्थोंको साधनेमें हमारे सहायक हो जायेंगे। प्रकरण, योग्यता आदिक भी अनेक अर्थोंके बहुत मिल जाते हैं। अतः स्वपक्षकी सिद्धि कर देनेसे ही जय होना मानो, अन्य प्रकारोंका मानना प्रशस्त नहीं है। श्री प्रभाचन्द्राचार्यने परीक्षामुखकी टीका प्रमेयकमलमार्तण्डमें पत्रके विषयमें यों कथन किया है कि परीक्षामुख मूल ग्रन्थको रचनेवाले श्री माणिक्यनन्दी आचार्यने " सम्भवदन्यद् विचारणीयं " इस अन्तिम सूत्रद्वारा पत्रका लक्षण भी अन्य प्रकरणोंके सदृश विचारवान् पुरुषोंकरके विचारणीय सम्भावित कहा है। लिखित शास्त्रार्थके अवसरपर चतुरंग वादमें पत्र देने लेनेका आलम्बन करना अपेक्षणीय है। अतः उस पत्रका लक्षण अवश्य कहना चाहिये। जबतक उसका स्वरूप नहीं जाना जायगा, तबतक पत्रका सहारा लेना जय करानेके लिये समर्थ नहीं हो सकता है। " स्वाभिप्रेतार्थसाधनानवद्यगूढपदसमूहात्मकं प्रसिद्धावयवलक्षणं वाक्यं पत्रम् " यह पत्रका लक्षण है। अपने अभीष्ट अर्थको साधनेवाले निर्दोष और गूढ पदोंके समुदायस्वरूप तथा अनुमानके प्रतिज्ञा आदिक अवयवोंसे सहित हो रहे वाक्यको पत्र कहते हैं। जो वाक्य अपने अभिप्रेत अर्थका साधक नहीं है, या दोषयुक्त है, अथवा अधिक स्पष्ट अर्थवाले सरल पदोंसे युक्त हैं, ऐसा पत्र निर्दोष पत्र नहीं है। अन्यथा सभी चिट्ठी, पत्री, कहानी, बही, उपन्यास, सरल काव्य, आदिक पत्र हो जायेंगे, जो कि इष्ट नहीं है। जिन काव्योंमें क्रियापद गूढ है, अथवा चक्रबन्ध, पद्मबंध

नागपाशबन्ध, ऐसे पद्य हैं, यदि उनमें अनुमानके प्रतिज्ञा आदि अवयव पाये जावें या उनको परार्थानुमान वाक्य बना दिया जाय तो ऐसे काव्य भी पत्रके नामसे कहे जा सकते हैं। जैसे कि " जानक्या, रघुनाथस्य कंठे कमलमालिका, भ्रमन्ति पण्डिताः सर्वे प्रत्यक्षेपि क्रियापदे " यहां प्रति उपसर्ग पूर्वक क्षिप् धातुसे कर्ममें लुङ् लकारकी क्रिया " प्रत्यक्षेपि " गूढ हो रही है। " नयमान क्षमामान नमामार्यार्ति नाशन, नशनादस्यनो येन नयेनोरोरिमापन " पल्लवकमहिता, " अनयो कुप्यदशयः अककेमोहो नष्टोमियोमापः " इत्यादि काव्योंके भी अनुमान वाक्य बना देनेपर पत्रपना वहां घटित हो जाता है। यदि कोई यों प्रश्न करे जब कि गूढ अर्थवाले पदोंके समुदाय और अपने इष्ट अर्थको साधनेवाले तथा प्रसिद्ध अवयववाले अबाधित वाक्यको पत्र कहते हैं, तो लिखे हुये पत्रे (कागज) को पत्रपना कैसे आ सकता है। वह मुख्यपत्र तो कानोंसे ही सुना जा सकता है। हाथमें नहीं लिया जा सकता है। और आंखोंसे भी नहीं देखा जा सकता है। इसके उत्तरमें आचार्य महाराज कहते हैं, कि यह उपचार किये गयेका पुनः दुबारा उपचार है। वर्ण समुदाय आत्मक पदोंके समूहविशेषस्वरूप और कानोंसे सुनने योग्य वाक्यका लिखनेस्वरूप लिपिमें मनुष्यों करके आरोप कर देनेसे उपचार किया गया है। अर्थात्–उच्चारणके पीछे लिखने योग्य वर्णलिपिमें पहिला वाक्यपनेका उपचार है। और लिपिमें उपचार किये गये वाक्यका भी उस पत्र (कागज) में स्थित रहनेके कारण दूसरा उपचार किया गया है। जैसे कि कुएमें गिराने योग्य पापको कौपीन कहते हैं। पापके कारण लिंगको भी उपचारसे कौपीन कह देते हैं। उस लिंगके आच्छादनका वस्त्र होनेसे लंगोटीको भी उपचरित उपचारसे " कौपीन " कह दिया जाता है। अथवा सौधर्म इन्द्रसे न्यारे हो रहे पुरुषको इन्द्र नामसे कह देते हैं। और पुनः वस्त्र या कागजपर लिखे गये इन्द्र चित्र (तसवीर) को भी इन्द्र कह दिया जाता है। अथवा अकारान्त पदसे नाम धातुमें रूप बनाकर क्विप् प्रत्यय करनेपर पुनः " अतः " इस सूत्रसे अकारका लोप करनेपर दकारान्त पद शब्द बन जाता है। या पद गतौ धातुसे क्विप् प्रत्यय करनेपर दकारान्त पद शब्द बना लिया जाय " पदानि त्रायंते गोप्यन्ते रक्षन्ते परेभ्यः यस्मिन् वाक्ये तद् पत्रं " पद+त्र (त्रैङ् पालने) इस व्युत्पत्तिसे मुख्य ही वाक्यको पत्रपना कह दिया जाता है। दूसरी बात यह है कि जैसे रत्नोंकी रक्षा संदूक या तिजौरीमें हो जाती है, उसी प्रकार पदोंकी रक्षा कागजमें लिख जानेपर हो जाती है। तभी तो हजारों, सैकडो वर्ष पुराने आचार्यवाक्योंकी आजतक भी लिखित ग्रन्थोंमें रक्षा हो सकी है। ऐसे पत्रके कहीं दो ही अवयव प्रयुक्त किये जाते हैं। उतनेसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाती है। उसको यों समझ लीजियेगा "स्वान्तभासितभूत्याद्यन्त्यात्मतदुभान्तवाक् । परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीत स्वात्मकत्वतः "(अनुष्टुप् छन्द) इस अनुमानमें प्रतिज्ञा और हेतु दो ही अवयव कहे गये हैं। इस गूढवाक्यका अर्थ इस प्रकार है कि स्वार्थमें अण् प्रत्यय कर अन्त ही आन्त कहा जाता है। प्र, परा, अप, सम्, अनु आदि उपसर्गोंके पाठकी अपेक्षा सु उपसर्गके अन्तमें उत् उपसर्ग पढा गया है। उस

उत् उपसर्गकरके द्योतित भूतिको उद्भूति कहते हैं। सिद्धान्तमें निपातोंको द्योतक माना गया है। वह उद्भूति जिनके आदिमें है वे तीन धर्म स्वान्तभासित भूत्याद्याः इस शब्दसे कहे जाते हैं। इसका तात्पर्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीन धर्म हो जाते हैं। वे उन तीनस्वरूप धर्मोंको जो व्याप्त कर रहा है, वह स्वान्तभासितभूत्याद्यत्र्यन्तात्मतत् हैं। यह साध्य है, उभान्त वाक् " यहां पक्ष है। सर्व, विश्व, उभ, उभय, आदि सर्वादिगणमें उभ जिस शब्दके अन्तमें पड़ा है, वह विश्वशब्द है, विश्वका अर्थ सम्पूर्ण पदार्थ हैं। उस विश्वरूप पक्षमें पहिले कहा गया साध्य धर्म रखा गया है। इसका तात्पर्य सम्पूर्ण पदार्थ (पक्ष) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीन स्वभावोंको व्याप रहे हैं (साध्य) यह निकलता है। हेतुवाचक गूढपद यों है कि प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव्, निस्, निर् आदि उपसर्गोंमें परा उपसर्ग जिसके अन्तमें है, ऐसा उपसर्ग प्र है। उपसर्गोंको धात्वर्थ का द्योतक माना गया है। इस कारण उस प्र उपसर्ग करके द्योतित की गई, जो मिति उसकरके विषयरूपसे प्राप्त किया गया जिसका स्वात्मा है, वह " परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मक " कहा गया। भावमें त्व प्रत्यय करनेपर उसके भावको परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मकत्व कहते हैं। इसका अर्थ प्रमेयत्व ऐसा फलित होता है। प्रमाणके विषयको प्रमेयपना व्यवस्थित है। इस प्रकार हेतुस्वरूप धर्मका गूढपदद्वारा कथन है। दृष्टान्त, उपनय आदिके बिना भी हेतुका अपने साध्यके प्रति प्रतिपादकपना श्री माणिक्यनन्दी आचार्यने " एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं " इस सूत्रमें समर्थन प्राप्त कर दिया है। अकेली अन्यथानुपपत्तिकी सामर्थ्यसे ही हेतुका गमकपना साधा जा चुका है। वह अन्यथानुपपत्ति तो इस अनुमानमें है ही। क्योंकि केवल उत्पाद ही या व्यय ही अथवा ध्रौव्य ही अकेले धर्मसे युक्त हो रही सर्वथा कूटस्थ नित्य अथवा क्षणिक वस्तुका प्रमाणोंद्वारा विषय नहीं हो जानेपनसे समर्थन कर दिया गया है। हां, बालकोंके उचित बुद्धिको धारनेवाले शिष्यके अभिप्रायोंकी अधीनता से तो अनुमानके तीन, चार, आदिक अवयव भी पत्रवाक्यमें लिख दिये जाते हैं। उसीको स्पष्टरूपसे यों देख लीजियेगा कि "चित्राद्यदन्तराणीयमारेकान्तात्मकत्वतः। यदित्थं न तदित्थं न यथाऽकिञ्चिदिति त्रयः॥१॥ तथा चेदमिति प्रोक्तौ चत्वारोऽवयवा मताः। तस्मात्तथेति निर्देशे पञ्च पत्रस्य कस्यचित्॥ २॥ इस गूढ वाक्यका अर्थ इस प्रकार है कि चित्र यानी एक अनेक रूपोंको जो सर्वदा अनुगमन करता है, वह चित्रात् है। इसका अभिप्राय एक अनेक रूपोंमें व्यापनेवाला है। अनेक धर्मात्मकपन इसका तात्पर्य है। यदन्तका अर्थ विश्व (संपूर्ण पदार्थ) है। क्योंकि किसी किसी व्याकरणमें सर्व, विश्व, यत्, इत्यादि रूपसे सर्वादि गणमें सर्वनाम शद्ब पढे गये हैं। इस कारण जिसके अन्तमें यत् शद्ब है, इस बहुव्रीहि समासगर्भित व्युत्पत्ति करनेसे यदन्तका अर्थ विश्व हो जाता है। उस विश्व शद्बकरके जो राणीय यानी कहने योग्य है, वह चित्राद्यदन्तराणीय है। रै शद्ब धातुसे अनीय प्रत्यय कर कृदन्तमें राणीय शद्ब बनाया है। यहांतक संपूर्ण पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं। यह प्रतिज्ञा वाक्य प्राप्त हुआ। आरेकान्तात्मकत्वतः यह हेतु है। नैया-

यिकोंके सोलह मूल तत्त्वोंको कहनेवाला " प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्ताऽवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः यह दर्शनसूत्र है। आरेकाका अर्थ कोषमें संशय माना गया है। उक्त सूत्रमें वह संशय जिसके अन्तमें पढा गया है। वह प्रमेय तत्त्व है। वह प्रमेय जिसकी आत्मा है, वह आरेकान्तात्मक हुआ। भावमें त्वल प्रत्यय करनेपर और उस पञ्चमी विभक्ति ङसि प्रत्ययान्त पदसे तसिल् प्रत्यय करनेपर आरेकान्तात्मकत्वतः पद बन जाता है। इसका अर्थ प्रमेयत्वात् हो जाता है। यह अनुमानके हेतु धर्मका कथन किया गया है। जो इस प्रकारके साध्य धर्मसे युक्त नहीं है। यानी चित्रात् नहीं है वह इस प्रकार हेतुमान् भी नहीं है, यानी आरेकान्तात्मक (प्रमेय) नहीं है। जैसे कि कुछ भी वस्तु नहीं हो रहा खरविषाण अथवा सर्वथा एकांतवादियोंके द्वारा माना गया एकांत तत्त्व। ये व्यतिरेकदृष्टान्त हैं। इस प्रकार किसी पत्रमें तीन अवयव भी प्रयुक्त किये जाते हैं। तिस प्रकार हेतुवाला यह पक्ष है। इस ढंगसे पक्षमें हेतु धर्मके उपसंहारका कथन करनेपर उपनयसहित चार अवयव भी हो जाते हैं। तिस कारणसे तिस प्रकार साध्यवान् पक्ष है। यों संपूर्णको अनेकांतव्यापी कह देनेपर निगमनसहित अनुमानके पांच अवयव भी लिख दिये जाते हैं। इस प्रकारके लिखित पत्र जैनोंकी ओरसे प्रतिवादियोंके प्रति भेज दिये जाते हैं। नैयायिकोंकी ओरसे भी स्वपक्षसिद्धिके लिये जैनोंके प्रति यों लिखकर पत्र भेज दिया जाता है। " सैन्यलक्ष्मागनाऽनन्तरानर्थार्थप्रस्वापकृदाऽऽशैटश्यतोऽनीट्क्नेम ऋड्युक्कुलोद्भवो वैषोप्यनै श्यतापस्तमऽनूरङ्कड्जुद् परापरतत्त्ववित्तदन्योऽनादिरवायनीयत्वत एवं यदीदृक्तत्सकलविद्वर्गवदेतचैव-मेवं तत् " इसका अर्थ शरीर इन्द्रियां, भुवन, सूर्य आदिक किसी बुद्धिमान् कारण (ईश्वर) से उत्पन्न होते हैं। कार्य होनेसे, पटके समान आदि। इस प्रकार पांच अवयवोंसे युक्त यह अनुमान है। ऐसे गूढ अर्थवाले पत्र परस्परवादी प्रतिवादियोंमें शास्त्रार्थ करनेके लिये दिये लिये जाते हैं।

तथाढ्यो वै देवदत्तो नवकंबलत्वात्सोमदत्तवत् इति प्रयोगेपि यदि वक्तुर्नवः कंबलोस्येति नवास्य कंबला इति वार्थद्वयं नवकंबलशब्दस्याभिप्रेतं भवति तदा कुतोस्य नव कंबला इति प्रत्यवतिष्ठमानो हेतोरसिद्धतामेवोद्भावयति न पुनश्छलेन प्रत्यवतिष्ठते। तत्परिहाराय च चेष्टमानस्तदुभयार्थसमर्थनेन तदेकतरार्थसमर्थनेन वा हेतुसिद्धिमुपदर्शयति नवस्तावदेकः कंबलोस्य प्रतीतो भवताऽन्येस्याष्टौ कंबला गृहे तिष्ठंतीत्युभयथा नवकंबलत्वस्य सिद्धेः नासिद्धतोद्भावनीया। नवकंबलयोगित्वस्य वा हेतुत्वेनोपादानात्सिद्ध एव हेतुरिति स्वपक्षसिद्धौ सत्यामेव वादिनो जयः परस्य च पराजयो नान्यथा।

तथा जो वाक्छलके प्रकरणमें अनुमान कहा गया है कि देवदत्त (पक्ष) अवश्य ही धनवान् है (साध्य)। नव कंबलवाला होनेसे (हेतु) सोमदत्तके समान (दृष्टान्त) इस अनुमान

प्रयोगमें भी यदि वक्ताको नव कंबल शब्दके दोनों ही अर्थ अभीष्ट है कि इसके निकट नवीन कंबल है, और इसके यहां नौ संख्यावाले कंबल है, तब तो जो प्रतिवादी यों कह कर दूषण उठा रहा है कि इस देवदत्तके पास एक कम दश कंबल तो नहीं हैं। हम कहते हैं कि वह प्रत्यवस्थान करनेवाला प्रतिवादी तो वादीद्वारा प्रयुक्त किये हेतुके असिद्धपनको ही उठा रहा है। किन्तु फिर छलकरके तो दूषण नहीं दे रहा है। अतः उस प्रतिवादीको छली बनाकर पराजय देना उचित नहीं। हां, प्रतिवादीद्वारा लगाये गये उस असिद्ध दोषके परिहारके लिये चेष्टा कर रहा वादी उन दोनों अर्थोंका समर्थन करके अथवा उन दोनोंमेंसे किसी एक अर्थका समर्थन करके अपने नवकंबलत्व (नवः कम्बलो यस्य) हेतुकी सिद्धिको दिखलाता है कि हे प्रतिवादिन्! नवीन एक कंबल तो इसके पास आपने देखकर निर्णीत ही कर लिया है। शेष अन्य आठ कंबल भी इसके घरमें रखे हुये हैं। जिसके पास दश पगडियां, पचीस टोपियां, पांच जोडी जूते, चार छतरियां, बीस धोतियां, नौ कंबल, सात घडियां आदिक भोग, उपभोगकी सामग्री विद्यमान हैं, वह एक ही समयमें सबका उपभोग तो नहीं कर सकता है। हां, हाथी, घोडे, बग्घी, गाडी, मोटर, विद्यालय, औषधालय, अन्नसत्र, भूषण, वसन आदिका आधिपत्य तो श्रेष्ठी देवदत्तमें सर्वदा विद्यमान है। अतः नवीन और नौ संख्या इन दोनों अर्थोंके प्रकारसे मेरा नवकंबलत्व हेतु सिद्ध हो जाता है। तिस कारण मेरे ऊपर तुमको असिद्धपना नहीं उठाना चाहिये। दूसरी बात यह भी है, कि नवकंबल योगीपनको जब हेतुपन करके ग्रहण किया जायगा तो मेरा हेतु व्याख्यान किये बिना ही सरलतासे सिद्ध हो जाता है। नवकंबलका योगीपन कहनेसे ओढे हुये कंबलमें नवीनता अर्थको पुष्टि मिल जाती है। "युज् समाधौ" या युजिर् योगे, किसी भी धातुसे योगी शब्दको बनानेपर नूतन कंबलका संयोगीपना हेत्वर्थ हो जाता है। जो कि पक्षमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे वर्त रहा दीखता है। योगी शब्द लगा देनेसे नवका अर्थ नौ संख्या नहीं हो सकता है। अन्तमें तत्त्व यही निकलता है कि अपने पक्षकी सिद्धि हो जानेपर ही वादीका जय और दूसरे प्रतिवादीका पराजय होगा। अन्य प्रकारोंसे जय पराजयकी व्यवस्था नहीं मानी जाती है, समझो भाई!

तदेवं वाक्छलमपास्य सामान्यछलमनूद्य निरस्यति।

तिस कारण इस प्रकार वाक्छलका निराकरण कर अब श्री विद्यानंद आचार्य दूसरे सामान्यछलका अनुवाद कर खण्डन करते हैं। नैयायिकोंने वाक्छलको दूषित करनेवाला बीज ठीक नहीं माना है। यद्यपि वादी, प्रतिवादियोंके परस्पर हो रही तत्त्वपरीक्षामें छल करना किसीको भी उचित नहीं है। फिर भी आचार्य कहते हैं कि जयव्यवस्थामें छलके ऊपर बल नहीं रक्खो। किन्तु स्वपक्षसिद्धिको जयप्राप्तिका अवलम्ब बनाओ। सामान्यछलके विचारमें भी यह बात पकडी रहनी चाहिये।

यत्र संभवतोर्थस्यातिसामान्यस्य योगतः ।
असद्भूतपदार्थस्य कल्पना क्रियते बलात् ॥ २९० ॥
तत्सामान्यछलं प्राहुः सामान्यविनिबंधनं ।
विद्याचरणसंपत्तिर्ब्राह्मणे संभवेदिति ॥ २९१ ॥
केनाप्युक्ते यथैवं सा व्रात्येपि ब्राह्मणे न किम् ।
ब्राह्मणत्वस्य सद्भावाद्भवेदित्यपि भाषणम् ॥ २९२ ॥
तदेतन्न छलं युक्तं सपक्षेतरदर्शनात् ।
तल्लिंगस्यान्यथा तस्य व्यभिचारोखिलोस्तु तत् ॥ २९३ ॥

जहां यथायोग्य सम्भव रहे अर्थका अतिक्रान्त हुये सामान्यके योगसे अर्थविकल्प उपपत्तिकी सामर्थ्य करके जो नहीं विद्यमान हो रहे पदार्थकी कल्पना की जाती है, नैयायिक उसको बहुत अच्छा सामान्यछल कहते हैं। जो विवक्षित अर्थको बहुत स्थानोंमें प्राप्त कर लेता है, और कहीं कहीं उस अर्थका अतिक्रमणकर जाता है, वह अतिसामान्य है, यह दूसरा सामान्यछल तो सामान्य रूपसे प्रयुक्त किये गये अर्थके विगमको कारण मानकर प्रवर्तता है। जैसे कि किसीने जिज्ञासा-पूर्वक आश्चर्यसहित इस प्रकार कहा कि वह ब्राह्मण है। इस कारण विद्यासम्पत्ति और आचरण-सम्पत्तिसे युक्त अवश्य होना चाहिये। अर्थात्--जो ब्राह्मण (ब्रह्म वेत्तीति ब्राह्मणः) है, वह विद्वान् और आचरणवान् होना चाहिये। यों किसीके भी द्वारा कहने पर कोई छलको हृदयमें धारता हुआ कहता है कि इस प्रकार वह विद्या, आचरण संपत्ति तो ब्राह्मण कहे जा रहे संस्कारहीन व्रात्यमें भी क्यों नहीं हो जावेगी ? क्योंकि ब्राह्मण माता पिताओंका तीन चार वर्षका लडका भी ब्राह्मण है। उसका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ नहीं है। वह ब्राह्मणका छोरा व्रात्य है, किन्तु उसके कोई व्याकरण, साहित्य, सिद्धांत, आदि विषयोंका ज्ञान नहीं है। विशेष उच्च कोटिके ज्ञानको ज्ञान संपत्ति शब्दसे लिया जाता है। इसी प्रकार उस छोरेमें अभक्ष्यत्याग, ब्रह्मचर्य, सत्संग, इन्द्रियविजय, अहिंसाभाव, सत्यवाद, विनयसंपत्ति, संसारभीरुता, वैराग्य परिणाम आदि व्रतस्वरूप आचरण भी नहीं पाये जाते हैं। आठ वर्षके प्रथम जब छोटा भी व्रत नहीं है, तो उसमें उच्च कोटिकी आचरण संपत्ति तो भला कहां पायी जा सकती है ? इस प्रकार अर्थविकल्पकी उपपत्तिसे असद्भूत अर्थकी कल्पना कर दूषण उठानेवाला प्रतिवादी कपटी है। अतः ऐसी दशामें वक्ता वादीका जय और प्रतिवादीका पराजय करा दिया जाता है। इस प्रकार नैयायिक अपने छल प्रतिपादक सूत्रका भाष्य करते हुये कथन कर रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि वह उनके ग्रन्थमें

प्रसिद्ध हो रहा यह नैयायिकोंका छल भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस हेतुका सपक्ष और विपक्षमें दर्शन हो जानेसे प्रतिवादी द्वारा व्यभिचार दोष दिखलाया गया है। अन्यथा यानी विपक्षमें हेतुके दिखलानेको यदि छल प्रयोग बताया जायगा तब तो संपूर्ण व्यभिचार दोष उस छलस्वरूप हो जावेंगे और ऐसी दशामें ब्राह्मणत्व हेत्वाभासको कहनेवाला वादी विना मूल्य (मुफ्त) ही जयको लूट लेगा और ब्राह्मणत्व हेतुका ब्रात्यमें व्यभिचार उठानेवाले प्रतिवादी विद्वान्को छली बनाकर पराजित कर दिया जायगा, यह तो अंधेर है। किसी विद्वान्के ऊपर छलका लांछन लगाना उसका भारी अपमान करना है। प्रायः विद्वान् कपट रहित होते हैं।

क्वचिदेति तथात्येति विद्याचरणसंपदं ।
ब्राह्मणत्वमिति ख्यातमतिसामान्यमत्र चेत् ॥ २९४ ॥
तथैवास्पर्शवत्त्वादि शब्दे नित्यत्वसाधने ।
किं न स्यादतिसामान्यं सर्वथाप्यविशेषतः ॥ २९५ ॥
तन्नभस्येति नित्यत्वमत्येति च सुखादिषु (सुखे क्वचित्)
तेनानैकांतिकं युक्तं सपक्षेतरवृत्तितः ॥ २९६ ॥

यदि नैयायिक यहां यों कहें कि यहां सूत्रमें अति सामान्यका अर्थ इस प्रकार है। जो ब्राह्मणपन उद्भटाविद्या और सदाचारको धारनेवाले किन्हीं विद्वानोंमें तो विद्या, आचरण, संपत्तिको प्राप्त करा देता है। और किसी ब्राह्मणके छोरामें वह ब्राह्मणपना उस विद्या चारित्र सम्पत्तिका अतिक्रमण करा देता है। यहां प्रकरणमें सामान्यरूपसे ब्राह्मणमें विद्या, आचरण सम्पत्तिरूप अर्थकी सम्भावना कही गयी थी। किन्तु कपटी पण्डितने अभिप्रायको नहीं समझकर असद्भूत अर्थकी कल्पनासे दोष उठाया है। अतः यह छल किया गया है। इस प्रकार नैयायिकोंके कहनेपर आचार्य महाराज कहते हैं कि तिस ही प्रकार शब्दो नित्यः अस्पर्शवत्त्वात्। शब्दः अनित्यः प्रमेयत्वात्। पर्वतो धूमवान् वन्हेः, इत्यादिक स्थलोंपर सुख, परमाणु, अंगार आदिसे व्यभिचार उठाना भी छल हो जायगा। अतः शब्दमें नित्यपनको साधनेके निमित्त दिये गये स्पर्शरहितपन गुणपन आदि हेतुओंका प्रयोग भी तिस ही प्रकार अतिसामान्य क्यों नहीं हो जाओ। सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है। अर्थात्-छल या व्यभिचार दोषकी अपेक्षा ब्राह्मणत्व और अस्पर्शवत्व दोनों एकसे हैं। वह छल है तो यह भी छल हो जायगा। और यहां व्यभिचार दोष उठाया गया माना जायगा, तो वहां भी प्रतिवादीद्वारा व्यभिचार दोषका उठाना तुम्हें स्वीकार करना पडेगा। देखिये, आपके ब्राह्मणत्व हेतुके समान अस्पर्शवत्वमें भी अतिसामान्य घटित हो जाता है। वह अस्पर्शवत्त्व भी

कहीं आकाशमें नित्यपनको प्राप्त करा देता है । तथा कहीं सुख, बुद्धि रूप आदिक गुण और चलना, घूमना आदि क्रियाओंमें नित्यपनका अतिक्रमण कर देता है । तिस कारण सपक्ष और विपक्षमें वृत्ति हो जानेसे अस्पर्शवत्त्व हेतुको व्यभिचारी मानना युक्त पडता है । तथा ब्राह्मणत्व हेतु जैसे सुशील विद्वान् ब्राह्मणमें ज्ञान, चारित्र,सम्पत्तिको प्राप्त करा देता है । और ब्राह्मणके,छोटे बच्चेमें साध्यस्वरूप उस सम्पत्तिको घटित नहीं करा पाता है, उसी प्रकार शब्दके अनित्यपनको साधनेके लिये प्रयुक्त किया गया प्रमेयत्व हेतु भी कहीं घटादिकमें अनित्यपनको धर देता है और कहीं आकाश, परमाणु आदि विपक्षोंमें उस साध्यके नहीं रहनेपर भी विद्यमान रह जानेसे अनित्यपनका अतिक्रमण करा देता है । इसी प्रकार प्रकरणमें भी ब्राह्मणत्व हेतुका अनैकान्तिकपन उठाया गया है प्रतिवादीने कोई छल नहीं किया । ऐसा हमारे विचारमें आया है । व्यर्थमें किसीकी भर्त्सना करना न्याय नहीं ।

विद्याचरणसंपत्तिविषयस्य प्रशंसनं ।
ब्राह्मणस्य यथा शालिगोचरक्षेत्रवर्णनम् ॥ २९७ ॥
यस्येष्टं प्रकृते वाक्ये तस्य ब्राह्मणधर्मिणि ।
प्रशस्तत्वे स्वयं साध्ये ब्राह्मणत्वेन हेतुना ॥ २९८ ॥
केनानैकांतिको हेतुरुद्भाव्यो न प्रसह्यते ।
क्षेत्रे क्षेत्रत्ववच्छालियोग्यत्वस्य प्रसाधने ॥ २९९ ॥

यदि नैयायिकोंका यह मन्तव्य होय कि छलप्रयोगी प्रतिवादीने वादीके विवक्षित हेतुको नहीं समझ कर यों ही प्रत्यवस्थान उठा दिया है । वास्तवमें देखा जाय तो यह वाक्य उस पुरुषकी प्रशंसा करनेके लिये कहा गया था । तिस कारणसे यहां असंभव हो रहे अर्थकी कल्पना नहीं हो सकती थी । ऐसी दशामें प्रतिवादीने असंभव अर्थकी कल्पना की है । अतः उसने छलप्रयोग किया है । जैसे कि कलम आदिक शालिधान्योंके प्रवृत्ति विषय खेतकी प्रशंसाका वर्णन करना है कि इस खेतमें धान्य अच्छा होना चाहिये, इसी प्रकार ब्राह्मणमें विद्या, आचरण, संपत्तिरूप विषयकी वादी द्वारा प्रशंसा की गयी है । प्रतिवादी द्वारा उस प्रशंसा अर्थकी हत्या नहीं करनी चाहिये । यों नैयायिकोंके अभीष्ट करनेपर आचार्य कहते हैं कि जिस नैयायिकको प्रकरण प्राप्त वाक्यमें यों इष्ट है, कि ब्राह्मण स्वरूप पक्षमें ब्राह्मणपन हेतु करके प्रशस्तपना साध्य करनेपर वादी द्वारा स्वयं अनुमान कहा गया माना है । उसके यहां हेतुका अनैकान्तिक दोष उठाने योग्य है । यह किसीके द्वारा भला नहीं सहा जावेगा । जैसे कि खेतमें धान्यके योग्यपनका क्षेत्रत्व हेतु करके प्रशंसनीय साधन करने

पर क्षेत्रत्व हेतुका व्यभिचार उठा दिया जाता है। अर्थात्-नैयायिकों द्वारा अनैकान्तिकपनका परिहार करनेके प्रयत्नसे प्रतीत हो जाता है कि वे ऐसे स्थलोंपर व्यभिचार दोषको स्वीकार करते हुये ही न्यायमार्गका अवलंब करनेवाले नैयायिक कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं।

यत्र संभवतोर्थस्यातिसामान्यस्य योगादसद्भूतार्थकल्पना हठात् क्रियते तत्सामान्यनिबन्धनत्वात् सामान्यछलं प्राहुः। संभवतोर्थस्यातिसामान्ययोगादसद्भूतार्थकल्पना सामान्यछलमिति वचनात्। तद्यथा-अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इत्युक्ते केनचित्कश्चिदाह संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति, तं प्रत्यस्य वाक्यस्य विघातोर्थविकल्पोपपत्त्याऽसद्भूतार्थकल्पनया क्रियते। यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपत्संभवति व्रात्येपि संभवात्। व्रात्येपि ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्नोस्तु। तदिदं ब्राह्मणत्वं विवक्षितमर्थं विद्याचरणसंपल्लक्षणं क्वचिद्ब्राह्मणे तादृश्येति क्वचिद्व्रात्येत्येति तदभावेपि भावादित्यतिसामान्यं तेन योगाद्वक्तुरभिप्रेतादर्थात् सद्भूतादन्यस्यासद्भूतस्यार्थस्य कल्पना सामान्यछलं। तच्च न युक्तं। यस्मादविवक्षिते हेतुकस्य विषयार्थवादः प्रशंसार्थत्वाद्वाक्यस्य तत्रासद्भूतार्थकल्पनानुपपत्तिः। यथा संभवत्यस्मिन् क्षेत्रे शालय इत्यत्राविवक्षितं शालिबीजमनिराकृतं च तत्प्रवृत्तिविषयक्षेत्रं प्रशस्यते। सोयं क्षेत्रार्थवादो नास्मिन् शालयो विधीयंत इति। बीजात्तु शालिनिर्वृत्तिः सती न विवक्षिता। तथा संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति सत्याद्विषयो ब्राह्मणत्वं न संपद्धेतुर्न चात्र तद्धेतुर्विवक्षितस्तद्विषयार्थवादस्त्वयं प्रशंसार्थत्वाद्वाक्यस्य सति ब्राह्मणत्वे संपद्धेतुः समर्थ इति विषयश्च प्रशंसता वाक्येन यथा हेतुतः फलनिर्वृत्तिर्न प्रत्याख्यायते तदेवं सति वचनविघातोसद्भूतार्थकल्पनया नोपपद्यते इति परस्य पराजयस्तथा वचनादित्येवं न्यायभाष्यकारो ब्रुवन्नायं वेत्ति, तथा छलव्यवहारानुपपत्तेः।

उक्त कारिकाओंका विवरण इस प्रकार है कि जहां सम्भव रहे अर्थके अतिसामान्यका योग हो जानेसे असद्भूत अर्थकी कल्पना हठसे करली जाती है, उसको नैयायिक सामान्य कथनकी कारणतासे सामान्यछल अच्छा कह रहे हैं। गौतमऋषिके बनाये हुये न्यायदर्शनमें इस प्रकार कथन है कि "सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्" सम्भावनापूर्वक कहे गये अर्थके अतिसामान्यका योग हो जानेसे असम्भूत अर्थकी कल्पना करना सामान्य छल है। उसी सूत्रका भाष्य वात्स्यायन ऋषिद्वारा न्यायभाष्यमें यों किया गया है कि विस्मयपूर्वक अवधारण सहित यों सम्भावनारूप कल्पना करनी पडती है कि यह मनुष्य ब्राह्मण है तो विद्यासम्पत्ति और आचरणसम्पत्तिसे युक्त अवश्य होगा। इस प्रकार किसी वक्ता करके परबोधनार्थ कह चुकनेपर कोई

एक प्रतिवादी कह बैठता है कि ब्राह्मणके सम्भव होते हुये विद्या, चारित्र, सम्पत्ति है। इस प्रकार उस वादीके प्रति इस वाक्यका विघात तो अर्थविकल्पकी उपपत्तिरूप असद्भूत अर्थकी कल्पना करके यों किया जाता है जो कि छलका सामान्य लक्षण है कि ब्राह्मण होनेके कारण उस पुरुषमें विद्या आचरण सम्पत्ति सम्भव रही है। नवसंस्कारहीन कृषक ब्राह्मण (बामन) या बहुतसे पहाडी पंजाबी, बामन अथवा ब्राह्मण बालक भी तो ब्राह्मण हैं। वे भी विद्या, आचरण सम्पत्तिको धारने वाले हो जावेंगे। तिस कारण यह ब्राह्मणपना (कर्त्ता) विवक्षा प्राप्त हो रहे विद्या, चारित्र, सम्पत्ति स्वरूप अर्थको किसी सपक्ष हो रहे ज्ञान चारित्रवाले तिस प्रकार ब्राह्मणमें प्राप्त करा देता है। और किसी विपक्षरूप व्रात्यमें विद्या, आचरण सम्पत्तिको अतिक्रान्त कर जाता है। क्योंकि उस विद्या, आचरण सम्पत्तिके विना भी वहां व्रात्यमें ब्राह्मणत्वका सद्भाव है। यह अतिसामान्यका अर्थ है। उस अतिसामान्यके योग करके वक्ताको अभिप्रेत हो रहे सद्भूत अर्थसे अन्य असद्भूत अर्थकी कल्पना करना सामान्य छल है। नैयायिक कहते हैं कि वह छल करना तो प्रतिवादीको उचित नहीं है। जिस कारणसे कि हेतुके विशेषोंकी नहीं विवक्षा कर वादीने ब्राह्मणरूप विषयके स्तुति परक अर्थका अनुवाद कर दिया है। क्योंकि अनेक वाक्य प्रशंसाके लिये प्रयुक्त किये जाते हैं। जैसे कि विद्यार्थी विनयशाली होना चाहिये। पुत्र माता पिता गुरुओंका सेवक होता है। स्त्री अनुचरी होती है। ये सब वाक्य प्रशंसा करनेमें तत्पर हो रहे अर्थवाद (स्तुतिवाद) हैं। वहां किसी एक दुष्ट विद्यार्थी या कुपूत अथवा निकृष्ट स्त्रीके द्वारा अशिष्ट व्यवहार कर देनेपर असद्भूत अर्थकी कल्पना करना नहीं बनता है। जैसे कि इस खेतकी भूमिमें शालि चावल अच्छे चाहिये, यहां शालि बीजके जन्मकी विवक्षा नहीं की गयी है। और उसका निराकरण भी नहीं कर दिया है। हां, उस शालिके प्रवृत्तिका विषय हो रहा क्षेत्र प्रशंसित किया जाता है। अतः यह यहां क्षेत्रकी प्रशंसाको करनेवाला वाक्य है। इतने ही से इस खेतमें शाली चावलोंका विधान नहीं हो जाता है। हां, बीजके कह देनेसे तो शालियोंकी निवृत्ति होती संती हमको विवक्षित नहीं है। तिस ही प्रकार प्रकरणमें ब्राह्मणकी संभावना होनेपर विद्या, आचरण, संपत्ति होगी, इस ढंगसे संपत्तिका प्रशंसक ब्राह्मणपना तो संपत्तिका हेतु नहीं है। अयम् (पक्ष) विद्याचरणसम्पन्नः (साध्य) ब्राह्मणत्वात् (हेतु) श्रोत्रियशालि जिनदत्तवत् (दृष्टान्त) इस वाक्यमें वह ब्राह्मणपना व्याप्य हेतु रूपसे विवक्षित नहीं है। हां, केवल उन ब्राह्मणोंके विषयमें प्रशंसा करनेवाले अर्थका अनुवाद मात्र तो यह है। लोकमें अनेक वाक्य प्रशंसाके लिये हुआ करते हैं। ब्राह्मणपना होते संते विद्या, आचरण संपत्तिका समर्थहेतु संभव रहा है। इस प्रकार विषयकी प्रशंसा करनेवाले वाक्य करके जिस प्रकार हेतुसे साध्यरूप फलकी निवृत्ति नहीं खण्डित कर दी जाती है। अर्थात्–संभावनीय हेतुओंसे संभावनीय साध्यको साधनेपर अद्भूत अर्थद्वारा व्यभिचार उठाना छल है। लोकमें प्रसिद्ध है कि जगत्के कार्य विश्वाससे होते हैं। यदि किसी भृत्य या मुनीमने धनपतिका माल चुरा कर विश्वास-

घात किया, एतावता ही अन्य विश्वास्य पुरुषों द्वारा होने योग्य कार्योंका प्रत्याख्यान नहीं कर देना चाहिये। तिस कारण ऐसी व्यवस्था होनेपर प्रतिवादी करके असद्भूत अर्थकी कल्पना द्वारा वादीके वचनका विघात करना नहीं बन पाता। इस कारण तिस प्रकारके असद्भूत अर्थकी कल्पनाके अन्याय पूर्ण कथन करनेसे दूसरे प्रतिवादीका पराजय हो जाता है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार उक्त कथनको कह रहे न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ऋषि यह नहीं समझते हैं कि तिस प्रकारसे छलका व्यवहार नहीं बनता है। थोडा विचार कीजियेगा जिस प्रकार कि वादीकी वचनभंगी अनेक प्रकार है, उसीके समान प्रतिवादीके प्रति वचनोंका ढंग अनेक संदर्भोंको लिये हुये होता है।

हेतुदोषस्यानैकांतिकत्वस्य परेणोद्भावनाच्च न चानैकांतिकत्वोद्भावनमेव सामान्यछलमिति शक्यं वक्तुं सर्वत्र, तस्य सामान्यछलत्वप्रसंगात्। शब्दो नित्योऽस्पर्शवत्त्वादाकाशवदित्यत्र हि यथा शब्दनित्यत्वे साध्ये अस्पर्शवत्त्वमाकाशे नित्यत्वमेति सुखादिष्वत्येतीति व्यभिचारित्वादनैकांतिकमुच्यते न पुनः सामान्यछलं, तथा प्रकृतमपीति न विशेषः कश्चिदस्ति।

आचार्य महाराज अब नैयायिकोंके छलकी परीक्षा करते हैं कि दूसरे प्रतिवादीने छल व्यवहार नहीं किया है। प्रत्युत दूसरे प्रतिवादीने वादीके अनुमानमें हेतुके अनेकान्तिक दोषका उत्थापन किया है। हेतुके व्यभिचारीपन दोषका उठाना ही सामान्य छल है। यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि यों तो सभी व्यभिचारस्थलोंपर उस व्यभिचार दोषके उठानेको सामान्य छलपनेका प्रसंग हो जावेगा। देखिये, शब्द (पक्ष) नित्य है (साध्य), स्पर्शरहितपना होनेसे (हेतु) आकाशके समान (अन्वय दृष्टान्त) इस प्रकार इस अनुमानमें जैसे शब्दका नित्यपन साधनेमें कहा गया अस्पर्शवत्त्व हेतु कहीं आकाशरूप सपक्षमें नित्यपनको अन्वित कर रहा है, किन्तु कहीं सुख, रूप, आदि विपक्षोंमें नित्यत्वका उल्लंघन करा रहा है। " निर्गुणाः गुणाः " " गुणादिर्निर्गुणक्रिया " गुणोंमें पुनः स्पर्श आदि गुण नहीं ठहरते हैं। इस कारण व्यभिचारी हो जानेसे, अस्पर्शत्व हेतु अनेकान्तिक हेत्वाभास कहा जाता है। किन्तु फिर यह प्रतिवादीका हेत्वाभास उठाना सामान्य छल नहीं बखाना जाता है। तिस ही प्रकार प्रकरणप्राप्त ब्राह्मणत्व हेतु भी व्यभिचारी है। साध्यके विना ही व्रात्यमें वर्त जाता है। इस प्रकार अस्पर्शवत्त्व और ब्राह्मणत्व हेतुके व्यभिचारीमें कोई विशेषता नहीं है, दोनों एकसे हैं।

सोयं ब्राह्मणे धर्मिणि विद्याचरणसंपद्विषये प्रशंसनं ब्राह्मणत्वेन हेतुना साध्यते, यथा शालिविषयक्षेत्रे प्रशंसा क्षेत्रत्वेन साक्षान्न पुनर्विद्याचरणसंपत्सत्ता साध्यते येनातिप्रसज्यत इति स्वयमनैकांतिकत्वं हेतोः परिहरन्नपि तन्नानुमन्यत इति कथं न्यायवित्।

नैयायिकोंने प्रथम यों कहा था कि ब्राह्मण पक्षमें विद्या, आचरण सम्पत्तिके विषयमें ब्राह्मणत्व हेतु करके प्रशंसा करना साधा जारहा है। जैसे कि शाली धानकोंके विषय हो रहे खेतमें क्षेत्रत्व हेतु करके साक्षात् प्रशंसाके गीत गाये जाते हैं। किन्तु फिर ब्राह्मणपने करके विद्या, आचरण, सम्पत्तिकी सत्ता तो नियमसे नहीं साधी जाती है। जिससे कि संस्कारहीन बामनमें अतिप्रसंग हो जाय। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार हेतुके अनैकान्तिकपनका स्वयं परिहार कर रहा भी यह प्रसिद्ध नैयायिक उस प्रतिवादी द्वारा उठाये गये अनैकान्तिकपनको स्वीकार नहीं कर छलप्रयोग बता रहा है। ऐसी दशामें वह न्यायशास्त्रका वेत्ता कैसे कहा जा सकता है। नैयायिक यह केवल उसका नामनिर्देश है। अन्वर्थसंज्ञा नहीं है। नहीं तो न्याय की गद्दी पर बैठकर ऐसी अनीति क्यों करता। हां, वास्तवमें जो छलपूर्ण व्यवहार कर रहा है, उसको कपटी, मायाचारी, भले ही कह दो, किन्तु जयकी प्राप्ति तो अपने पक्षकी भले प्रकार सिद्धि कर देनेसे ही अंकगत होगी। अन्यथा टापते रह जाओगे।

तथोपचारछलमनूद्य विचारयन्नाह।

तिस ही प्रकार नैयायिकों द्वारा माने गये तीसरे उपचार छलका अनुवाद कर विचार करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकोंको कहते हैं।

> धर्माध्यारोपनिर्देशे सत्यर्थप्रतिषेधनम्।
> उपचारछलं मंचाः क्रोशंतीत्यादिगोचरम् ॥ ३०० ॥
> मंचा क्रोशंति गायंतीत्यादिशब्दप्रयोजनम्।
> आरोप्य स्थानिनां धर्मं स्थानेषु क्रियते जनैः ॥ ३०१ ॥
> गौणं शब्दार्थमाश्रित्य सामान्यादिषु सत्त्ववत्।
> तत्र मुख्याभिधानार्थप्रतिषेधश्छलं स्थितम् ॥ ३०२ ॥

" धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थ सद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् " यह न्यायदर्शनका सूत्र है। इसके भाष्यका अर्थ विवरणमें किया जायगा। सामान्य कथन वार्तिकयोग्य यों है कि धर्मके विकल्प यानी अध्यारोपका सामान्य रूपसे कथन करनेपर अर्थके सद्भावका प्रतिषेध कर देना उपचार छल है। जैसे कि " मंचाः क्रोशंति " " गंगायां घोषः " नीलो घटः "अग्निर्माणवकः" इत्यादिकको विषय करनेवाले वाक्यके उच्चारण करनेपर अर्थका निषेध करनेवाला पुरुष छलका प्रयोक्ता है। मंच शब्दका अर्थ मचान (बडी खाट) या खेतोंकी रक्षाके लिये चार खम्भोंपर बांध लिया गया मेहरा है। मचानपर बैठे हुये मनुष्य गा रहे हैं। इस अर्थमें मचान गा रहे हैं। इस शब्दका प्रयोग हो रहा

देखा जाता है। बम्बई प्रान्तमें उपजनेवाले आम्रफलको बम्बई आम कह देते हैं। अधिक लड्डू खानेवाले या मोदकमें प्रीति रखनेवाले विद्यार्थीको लड्डूविद्यार्थी कह देते हैं। गंगाके किनारेपर ग्वालोंका गांव है। इस अर्थमें गंगामें घोष है, ऐसा शब्द प्रयोग हो रहा है। यहां स्थानोंमें ठहरनेवाले आधेय स्थानियोंके धर्मका आधारभूत स्थानोंमें आरोपकर मनुष्योंकरके शब्द व्यवहार कर लिया जाता है। शब्दके गौण अर्थका आश्रय कर मंचमें मंचस्थपनेका आरोप है। जैसे कि सामान्य विशेष आदि पदार्थोंमें गौणरूपसे सत्ता मान ली जाती है। अन्यथा उन सामान्य, विशेष, समवाय पदार्थोंका सद्भाव ही उठ जायगा। अर्थात्-नैयायिक या वैशेषिकोंने द्रव्य, गुण, कर्ममें तो मुख्यरूपसे सत्ता जातिको समवेत माना है और सामान्य, विशेष, समवाय, पदार्थोंमें गौणरूपसे सत्ता [अस्तित्व] धर्मको अभीष्ट किया है। उसी प्रकार मंचका मुख्य अर्थ तो मचान हैं। और गौण अर्थ मंचपर बैठे हुये मनुष्य हैं। तहां वादी द्वारा प्रसिद्ध हो रहे गौण अर्थको कहनेवाला मंच शद्बका मंचस्थ अर्थमें प्रयोग किये जानेपर यदि वहां शद्बके मुख्य अर्थका प्रतिषेध कर देना नैयायिकोंके यहां उपचारछल व्यवस्थित किया गया है। मचान तो गीतोंको नहीं गा सकते हैं। मचान पर बैठनेवाले भले ही चिल्लावें, यह प्रतिवादीका व्यवहार छलपूर्ण है। अतः वादीका जय और छली प्रतिवादीका पराजय होना अवश्यम्भावी है।

न चेदं वाक्छलं युक्तं किंचित्साधर्म्यमात्रतः।
स्वरूपभेदसंसिद्धेरन्यथातिप्रसंगतः ॥ ३०३ ॥
कल्पनार्थांतरस्योक्ता वाक्छलस्य हि लक्षणं।
सद्भूतार्थनिषेधस्तूपचारछललक्षणम् ॥ ३०४ ॥

नैयायिक ही कहते जा रहे हैं, कि यह तीसरा उपचारछल केवल कुछ थोडासा समानधर्मापन मिल जानेसे पहिले वाक्छलमें गर्भित कर लिया जाय, यह तो किसीका कथन युक्तिसहित नहीं है, क्योंकि उनके लक्षण भेद प्रतिपादक भिन्न भिन्न स्वरूपोंकी भले प्रकार सिद्धि हो रही है। अन्यथा यानी स्वरूपभेद होनेपर भी उससे पृथक् नहीं मानोगे तो अतिप्रसंग हो जावेगा। तीनों छल एक बन बैठेंगे। अग्नि, जल, सूर्य, चन्द्रमा, मूर्ख, विद्वान, ये सब एकम एक सांकर्यग्रस्त हो जायंगे, जब कि वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न दूसरे अर्थकी कल्पना करना तो पहिले वाक्छलका लक्षण किया गया, और विद्यमान हो रहे सद्भूत अर्थका निषेध कर देना तो अब उपचार छलका लक्षण सूत्रकार द्वारा कहा गया है, अतः ये दोनों न्यारे न्यारे है। नैयायिकोंने शक्ति और लक्षणा यों शद्बोंकी दो वृत्तियां मानी हैं। शद्बकी वाचकशक्तिसे जो अर्थ निकलता है, वह शक्यार्थ है, और तात्पर्यकी अनुपपत्ति होनेपर शक्यार्थके संबंधी अन्य अर्थको लक्ष्यार्थ कहते हैं। जैसे कि गंगाका

जलप्रवाह अर्थ तो अभिधाशक्तिसे प्राप्त होता है । और घोषपदका समभिव्यवहार हो जानेपर गंगा तीर अर्थ करना लक्षणावृत्तिसे निकलता है । जिस शब्दके शक्यार्थ दो हैं, वहां एक शक्यार्थके निर्णय करानेवाले विशेषका अभाव होनेसे प्रतिवादी द्वारा वादीके अनिष्ट हो रहे शक्यार्थकी कल्पना करके दूषण कथन करना तो वाक्छल है । जैसे कि नवकंबलका अर्थ नौ संख्यावाले कंबल गढ कर प्रत्यवस्थान दिया तथा शक्ति और लक्षणा नामक वृत्तियोंमेंसे किसी एक वृत्ति द्वारा शब्दके प्रयोग किये जानेपर पुनः प्रतिवादी द्वारा जो निषेध किया जाना है, वह उपचार छल है । जैसे कि मचान गा रहे हैं, यहां वादीको लक्षणा वृत्तिसे मंचका अर्थ मंचस्थ पुरुष अभीष्ट है । शक्यार्थ मचान अर्थ अभीष्ट नहीं है । लोकमें भी वही अर्थ प्रसिद्ध है । ऐसी दशामें प्रतिवादी द्वारा मचान अर्थ कर निषेध उठाया जाता है । वहां अर्थान्तरकी कल्पना है और यहां अर्थ सद्भावका प्रतिषेध किया गया है। " वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् " इस सूत्रद्वारा पूर्वपक्ष उठाकर " न तदर्थान्तरभावात् " अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः " इन दो सूत्रोंसे उत्तरपक्षको पुष्ट किया है ।

अत्राभिधानस्य धर्मो यथार्थप्रयोगस्तस्याध्यारोपो विकल्पः अन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र प्रयोगः मंचाः क्रोशंति गायंतीत्यादौ शब्दप्रयोगवत् । स्थानेषु हि मंचेषु स्थानिनां पुरुषाणां धर्ममाक्रोष्टित्वादिकं समारोप्य जनैस्तथा प्रयोगः क्रियते गौणशब्दार्थश्रयणात् । सामान्यादिष्वस्तीति शब्दप्रयोगवत्, तस्य धर्माध्यारोपनिर्देशे सत्यर्थस्य प्रतिषेधनं न मंचाः क्रोशंति मंचस्थाः पुरुषाः क्रोशंतीति । तदिदमुपचारच्छलं प्रत्येयं । धर्मविकल्पनिर्देशे अर्थ सद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलं इति वचनात् ।

यहां न्यायभाष्यकार कहते हैं कि शब्दका धर्म यथार्थ प्रयोग करना है, यानीं जैसा अर्थ अभीष्ट हो उसीके अनुसार शब्दका प्रयोग आवश्यक है । उसका विकल्प करना यानी अन्यत्र देखे का दूसरे अन्य स्थानोंपर प्रयोग करना यह आरोप है । उसका निर्देश करनेपर अर्थके सद्भावका निषेध कर देना उपचार छल है । जैसे कि मचान चिल्ला रहे हैं, गा रहे हैं, घुला रहे हैं, रो रहे हैं, अथवा देवदत्त नित्य है, इस वाक्यपर कोई कटाक्ष करे कि माता पितासे उत्पन्न हुआ देवदत्त भला नित्य कैसे हो सकता है ? गंगायां घोषः कहनेपर गंगाजलके प्रवाहमें गांवके सद्भावका निषेध करने लगे यह भी उपचार छल है । तथा श्लेषयुक्त पदोंके प्रयोग करनेपर भी उपचारछल किया जा सकता है । जैसे कि " जिनेंद्रस्तवनं यस्य तस्य जन्म निरर्थकं । जिनेन्द्रस्तवनं नास्य सफलं जन्म तस्य हि " इसका स्थूल रीतिसे अर्थ व्यक्त ही है कि जिस मनुष्यके जिनेंद्रकी स्तुति विद्यमान है, उसका जन्म व्यर्थ जा रहा है । और जिसके जिनेन्द्रदेवका स्तवन करना नहीं पाया जाता है, उसका जन्म निश्चयसे सफल है । किन्तु यह किसी पक्के जिनभक्तका बनाया हुआ पद्य है । उस भक्तने दिवादि गणकी यसु प्रयत्ने, तसु उपक्षये, असु क्षेपणे इन धातुओंसे कोट् लकारके मध्यम

पुरुषमें श्य विकरण करनेपर एकवचनके रूप यस्य, तस्य, अस्य बनाकर यों अर्थ किया है कि हे भव्य, जिनेन्द्रभगवान् के स्तवन करनेका प्रयत्न करो। साथ ही अबतक (स्तवनसे पूर्वकालतक) व्यर्थ हो रहे जन्मका नाश करो। तुम जिनेंद्रके स्तवनको कभी नहीं फेंको, यदि जिनेंद्रस्तवनका निरादर करोगे तो सफल हो रहे जन्मको नष्ट करोगे। इस प्रकार वक्ताके अभिप्रायसे कहे गये गौण शब्दार्थका पुनः प्रसिद्ध हो रहे प्रधानभूत अर्थकी कल्पना कर प्रतिषेध करना उपचार छल है। "नाथ मयूरो नृत्यति तुरगाननवक्षसः कुतो नृत्यं। ननु कथयामि कलापिनमिह सुकलापी प्रिये कोऽस्ति" अङ्गुल्याः कः कपाटं घटयति कुटिलो (प्रश्न) माधवः (उत्तर) किम् वसन्तो (कटाक्ष) नो चक्री (उत्तर) किं कुलालो (प्रश्न) न हि धरणिधरः (उत्तर) किं द्विजिह्वः फणीन्द्रः (प्रश्न)॥ नाहं घोराहिमर्दी (उत्तर) किमुत खगपतिः (प्रश्न) नो हरिः (समाधान) किं कपीन्द्रः (आक्षेप) इत्येवं सत्यभामाप्रतिवचनजितः पातु वश्चक्रपाणिः॥ २॥ तन्वन्कुवलयतुष्टिं वारिजोल्लासमाहरन्। कलानिधिरसौ रेजे समुद्रपरिवृद्धिदः॥ ३॥ कस्त्वं (प्रश्न) शूली (उत्तर) मृगय भिषजं (कटाक्ष) नीलकण्ठः प्रियेऽहम् (समाधान)। केकामेकां वद (कटाक्ष) पशुपतिः (उत्तर) नैवदृष्टे विषाणे (कटाक्ष)॥ भिक्षुर्मुग्धे (स्वनिवेदन) न वदति तरु (आक्षेप) जीवितेशः शिवायाः (स्वपरिचय) गच्छाटव्यां (कटाक्ष) इति हतवचा पातु वश्चन्द्रचूडः॥ ४॥ इत्यादि प्रकारके श्लेषयुक्त पदोंके प्रयोगसे भी उपचारछल किया जा सकता है। लाक्षणिक या श्लिष्ट अथवा ध्वनियुक्त शब्दोंके प्रयोगसे वादीका ही अपराध समझा जाय यों तो नहीं कहना। क्योंकि उस उस अर्थके बोधकपने करके प्रसिद्ध हो रहे शब्दोंका प्रयोग करनेमें वादीका कोई अपराध नहीं है। चूं कि यहां प्रकरणमें अधिकरण या स्थानस्वरूप हो रहे मचानोंमें स्थानवाले आधेय पुरुषोंके धर्म गाना, गाली देना, रोना आदिका अच्छा आरोप कर व्यवहारी मनुष्योंकरके तिस प्रकार शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। जैसे कि "सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्याः" द्रव्य, गुण, कर्म, तीन तो सत्ता जातिके समवाय सम्बन्धवाले हैं। शेष सामान्य, विशेष, समवायोंमें गौणरूपसे अस्ति शब्दका प्रयोग माना गया। उसी प्रकार शब्दके गौण अर्थका आश्रय कर मंच शब्द कहा गया है। वादीद्वारा उसके धर्मका अध्यारोप कथन करनेपर पुनः प्रतिवादीद्वारा शब्दके प्रधान अर्थका आश्रय कर उस अर्थका निषेध किया जा रहा है कि मचान तो नहीं गा रहे हैं। किन्तु मचानोंपर बैठे हुये मनुष्य गा रहे हैं। तिस कारण लक्षण सूत्रका अर्थ करके यह उपचारछल समझ लेना चाहिये। गौतमऋषिका इस प्रकार वचन है कि धर्मके विकल्पका कथन करनेपर अर्थके सद्भावका प्रतिषेध कर देना उपचारछल है।

का पुनरत्रार्थविकल्पोपपत्तिर्यथा वचनविघातश्छलमिति, अन्यथा प्रयुक्तस्याभिधानस्यान्यथार्थपरिकल्पनं। भक्त्या हि प्रयोगोऽयं मंचाः क्रोशंतीति तात्स्थ्यात्तच्छब्दो-

पचारात् प्राधान्येन तस्य परिकल्पनं कृत्वा परेण प्रत्यवस्थानं विधीयते। कः पुनरुपचारो नाम ? साहचर्यादिना निमित्तेन तदभावेपि तद्वदभिधानमुपचारः।

न्याय भाष्यकार यों ऊहापोह कर रहे हैं कि यहां उपचार छलमें फिर अर्थ विकल्पकी उपपत्ति क्या है ? जिससे कि वचनका विघात होकर यह छल समझा जाय। अर्थात्—"वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलं" यह छलका सामान्य लक्षण है। उपचार छलमें अर्थविकल्पकी उपपत्तिसे वादीके वचनका विघात होना यह सामान्य कथन अवश्य घटित होना चाहिये ? इसका उत्तर न्यायभाष्यकार स्वयं यों कहते हैं कि अन्य प्रकारों करके प्रयुक्त किये गये शब्दका दूसरे भिन्न प्रकारोंसे अर्थकी परिकल्पना करना अर्थ विकल्पोपपत्ति है। जब कि मचान गा रहे हैं, यह प्रयोग गौणरूपसे किया गया है। क्योंकि तत्र स्थितमें तत्को कहनेवाले शब्दका उपचार है। "तात्स्थात्ताच्छब्द्यं"। जैसे कि सहारनपुरमें स्थित हो रहे इक्षुदण्ड (पौंडा) में सहारनपुरपन धर्मकी कल्पना कर ली जाती है, इस प्रकार गौण अर्थोंमें शब्दोंकी लोकप्रसिद्धि होनेपर प्रधानपन करके उस अर्थकी सब ओरसे कल्पना कर दूसरे कपटी प्रतिवादी द्वारा दोष उत्थापन किया जा रहा है। पुनः न्यायभाष्यकारके प्रति किसीका प्रश्न है कि उपचार छलमें उपचारका अर्थ क्या है ? बताओ। उसका उत्तर वे देते हैं कि सहचारीपन, कारणता, क्रूरता, शूरता, चंचलता आदि निमित्तों करके उससे रहित अर्थमें भी प्रयोजनवश उसवालेका कथन करना उपचार है। निमित्त और प्रयोजनके अधीन उपचार प्रवर्तता है। मंचाः क्रोशन्ति, यहां सहचारी होनेसे मंचस्थको मंच कह दिया जाता है। " अन्नं वै प्राणाः " प्राणके कारण अन्नको प्राण कह दिया जाता है। धनं प्राणाः प्राणके कारण अन्न और अन्नके कारण धनको उपचरितोपचारसे प्राण मान किया जाता है। " पुरुषः सिंहः " क्रूरता, शूरताके निमित्तसे मनुष्यमें सिंहपनेका उपचार हो जाता है। चंचल बच्चेको अग्नि कह दिया जाता है। अग्निर्माणवकः। ऐसे उपचारको विषय करनेवाला छल उपचारछल है।

यद्येवं वाक्छलादुपचारछलं न भिद्यते अर्थांतरकल्पनाया अविशेषात्। इहापि हि स्थान्यर्थो गुणशब्दः प्रधानशब्दः स्थानार्थ इति कल्पयित्वा प्रतिषिध्यते नान्यथेति। नैतत्सारं। अर्थान्तरकल्पनातोर्थसद्भावप्रतिषेधस्यान्यथात्वात्, किंचित्साधर्म्यात्तयोरेकत्वे वा त्रयाणामपि छलानामेकत्वप्रसंगः।

न्यायभाष्यकारके ऊपर किसीका आक्षेप है कि यदि आप इस प्रकार मानेंगे तब तो वाक्छलसे उपचार छलका कोई भेद नहीं ठहर पायगा। क्योंकि अन्य अर्थकी कल्पना करना दोनोंमें एकसी है। कोई विशेषता नहीं है। अर्थात्—वाक्छलमें भी प्रतिवादी द्वारा अर्थान्तरकी कल्पना की गयी है। और उपचार छलमें भी प्रतिवादीने अन्य प्रकारसे दूसरे अर्थकी कल्पना कर दोष उठाया है। देखिये मचान गा रहे हैं। यहां भी मञ्च शब्दका

स्थानी (आधेय पुरुष) अर्थ गौण है और स्थान अर्थ (अधिकरण) प्रधान है। इस प्रधान अर्थ प्रतिपादक शब्दकी कल्पना कर प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध किया जा रहा है। अन्य प्रकारोंसे तो निषेध हो नहीं सकता था, वहां भी नव शब्दका दूसरा अर्थ नौ संख्यावाला प्रतिवादीद्वारा किया गया है। दोनोंमें इस एक प्रकारके अतिरिक्त कोई दूसरा प्रकार नहीं है। इस कारण दोनों छलोंमें कोई भेद नहीं है। अब वात्स्यायन ऋषि गौतमसूत्र अनुसार उत्तर कहते हैं कि यह आक्षेप तो निःसार है। " न तदर्थान्तरभावात् " उस अर्थसद्भावके प्रतिषेधका पृथग्भाव है। इसका अर्थ यों है कि अर्थान्तरकी कल्पना करनास्वरूप वाक्छलसे अर्थके सद्भावका प्रतिषेध कर देना स्वरूप उपचारछलको विभिन्न प्रकारपना है। दोनों छलोंका प्रयोजक धर्म न्यारा न्यारा है। गौतमऋषि कहते हैं कि " अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसंगः " कुछ थोडेसे समान धर्मापनसे यदि उन वाक्छल और उपचार छलको एकपना अभीष्ट किया जायगा, तब तो तीनों भी छलोंके एकपनका प्रसंग हो जावेगा। तथा मुख और चन्द्रमा या हंसी और कीर्ति एवं गौ और गवय इनका भी कई समान धर्मोके मिल जानेसे अभेद हो जावेगा। सादृश्य और तादात्म्य में तो महान् अन्तर है।

अथ वाक्छलसामान्यछलयोः किंचित्साधर्म्यं सदपि द्वित्वं न निवर्तयति, तर्हि तयोरुपचारछलस्य च किंचित्साधर्म्यं विद्यमानमपि त्रित्वं तेषां न निवर्तयिष्यति, वचनविघातस्यार्थविकल्पोपपत्त्या त्रिष्वपि भावात्। ततोन्यदेव वाक्छलादुपचारछलं। तदपि परस्य पराजयायावकल्पते यथावक्त्रभिप्रायमप्रतिषेधात्। शद्बस्य हि प्रयोगो लोके प्रधानभावेन गुणभावेन च प्रसिद्धः। तत्र यदि वक्तुर्गुणभूतोर्थोऽभिप्रेतस्तदा तस्यानुज्ञानं प्रतिषेधो वा विधीयते, प्रधानभूतश्चेत्तस्यानुज्ञानप्रतिषेधौ कर्तव्यौ प्रतिवादिना न छन्दत इति न्यायः। यदात्र गौणमात्रं वक्ताभिप्रैति प्रधानभूतं तु तं परिकल्प्य परः प्रतिषेधति तदा तेन स्वमनीषा प्रतिषिद्धा स्यान्न परस्याभिप्राय इति न तस्यायमुपालंभः स्यात्। तदनुपालंभाच्चासौ पराजीयते तदुपालंभापरिज्ञानादिति नैयायिका मन्यंते।

अब भी नैयायिकोंके सिद्धान्तका ही अनुवाद किया जा रहा है कि वाक्छल और सामान्यछल इन दोनोंमें कुछ समानधर्मापन यद्यपि विद्यमान है, तो भी वह उनके दोपनकी निवृत्ति नहीं करा पाता है। इस प्रकार किसीका प्रश्न होनेपर हम नैयायिक उत्तर देवेंगे कि तब तो उन सामान्य छल, वाक्छल, और उपचारछलका कुछ कुछ समधर्मापन विद्यमान हो रहा भी उन छलोंके तीनपनकी निवृत्ति नहीं करा सकेगा। अर्थविकल्पकी उपपत्तिसे वादीप्रतिपादित वचनका विघात, इस छलोंके सामान्य लक्षणका भले ही तीनों भी छलोंमें सद्भाव पाया जाता है, "प्रमिति करणं प्रमाणं"। इस सामान्य लक्षणके सम्पूर्ण प्रमाणके भेद प्रभेदोंमें घटित हो जानेपर ही प्रत्यक्ष, अनुमान या

इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान, परार्थानुमान आदिमें प्रमाणविशेष लक्षणोंका समन्वय करनेपर उन विशेषोंका पृथग्भाव बन पाता है । तिस कारणसे सिद्ध होता है कि वाक्छलसे उपचारछल भिन्न ही है । किन्तु उक्त दो छलोंके समान प्रवृत्त किया गया वह उपचारछल भी दूसरे प्रतिवादीका पराजय करानेके लिये चारों ओरसे समर्थ हो जाता है, क्योंकि प्रतिवादीने वक्ताके अभिप्रायोंके अनुसार प्रतिषेध नहीं किया है । वक्तुरभिप्रायः वक्त्रभिप्रायः वक्त्रभिप्रायमनतिक्रम्य इति यथावक्त्रभिप्रायः (अव्ययीभाव) जब कि शद्बका प्रयोग करना लोकमें प्रधानभाव और गौणभाव दोनों प्रकारोंसे प्रसिद्ध हो रहा है, तो वहां वक्ताको यदि गौण अर्थ अभीष्ट हो रहा है, तब तो उसी गौण अर्थका वादीके विचार अनुसार प्रतिवादीको स्वीकार करना चाहिये और उसी गौण अर्थका प्रतिवादीको प्रतिषेध करना उचित है । तथा वादीको शद्बका यदि प्रधानभूत अर्थ अभिप्रेत हो रहा है, तब उस प्रधान अर्थका ही प्रतिवादी करके अनुज्ञान और प्रतिषेध करना चाहिये, न छन्दतः, अपनी इच्छा अनुसार स्वच्छन्दतासे अनुज्ञान और प्रतिषेध नहीं करना चाहिये । यही न्याय मार्ग है । यहां प्रकरणमें जिस समय वक्ता शद्बके केवल गौण अर्थको अभीष्ट कर रहा है, उस समय शद्बके प्रधानभूत हो रहे उस अर्थकी परिकल्पना कर यदि दूसरा प्रतिवादी प्रतिषेध करता है, तब तो समझिये कि उस प्रतिवादीने अपनी विचारशालिनी बुद्धिका ही प्रतिषेध कर डाला, यों समझा जायगा । इतनेसे दूसरे वादीके अभिप्रायका प्रतिषेध करना नहीं माना जा सकता है । अर्थात्—जो गौण अर्थके स्थानपर प्रधानभूत अर्थकी कल्पना करता है, वह अपनी बुद्धिके पीछे लट्ठ लेकर पड़ा है । इस कारण उस प्रतिवादीका वादीके ऊपर यह उलाहना नहीं हुआ । प्रत्युत प्रतिवादीके उपर ही उलाहना गिर पड़ा और वादीके ऊपर उपालम्भ होना नहीं बननेसे वह प्रतिवादी पराजित हो जाता है, क्योंकि प्रतिवादीको उस वादीके ऊपर उठाने योग्य उपालम्भोंका परिज्ञान नहीं है । इस प्रकार छलवादी नैयायिक स्वकीय दर्शन अनुसार मान रहे हैं । छल प्रकरणके आठ गौतमीय सूत्रोंपर किये गये वात्स्यायन भाष्यका अनुवाद श्री विद्यानन्द स्वामीने उक्त ग्रन्थ द्वारा प्रायः कह दिया है ।

तदेतस्मिन् प्रयुक्ते स्यान्निग्रहो यदि कस्यचित् ।
तदा यौगो निगृह्येत प्रतिषेधात् प्रमादिकम् ॥ ३०५ ॥
मुख्यरूपतया शून्यवादिनं प्रति सर्वथा ।
तेन संव्यवहारेण प्रमादेरुपवर्णनात् ॥ ३०६ ॥

अब श्री आचार्यमहाराज छलोंका विशेषरूपसे तो खण्डन नहीं करते हैं । क्योंकि छल व्यवहार सबको अनिष्ट है । विशेषकर सिद्धान्त ग्रन्थमें तो छलप्रवृत्ति कथमपि नहीं होनी चाहिये ।

अतः केवल नैयायिकोंके छलोंकी परीक्षा कर विशेष अभिमतको संक्षेपसे बताये देते हैं कि नैयायिकों का यह उक्त कथन भी विचार नहीं करनेपर तो रमणीय (सुन्दर) प्रतीत होता है, अन्यथा नहीं। हमको यहां नैयायिकोंके प्रति यह बतला देना है कि इस प्रकार प्रयुक्त किये जानेपर यानी गौण अर्थके अभिप्रेत होनेपर मुख्य अर्थके निषेधमात्रसे ही यदि किसी एक प्रतिवादीका निग्रह होना मान लिया जायगा, तब तो नैयायिक भी शून्यवादीके प्रति मुख्यरूपकरके प्रमाण, प्रमेय आदिका सर्वथा प्रतिषेध हो जानेका कटाक्ष कर देनेसे निग्रह प्राप्त हो जावेगा। क्योंकि लौकिक समीचीन व्यवहार करके प्रमाण, प्रमिति आदि पदार्थोंको उस शून्यवादीने स्वीकार किया है। अर्थात्-संवृति यानी उपचारसे प्रमाण आदिक तत्त्वोंको माननेवाले शून्यवादीका प्रतिषेध यदि नैयायिक मुख्य प्रमाण आदिको मनवानेके लिये करते हैं। क्योंकि प्रमाण हेतु आदिको वस्तुभूत माने बिना साधन या दूषण देना नहीं बन सकता है, तो यह नैयायिकोंका छल है। ऐसी दशामें नैयायिकोंके छल-लक्षण अनुसार शून्यवादीकरके नैयायिकका निग्रह हो जाना चाहिये। यह स्वयं कुठाराघात हुआ। तत्त्वोपप्लववादियोंने भी विचार करनेके प्रथम प्रमाण आदि तत्त्वोंको मान लिया है।

सर्वथा शून्यतावादे प्रमाणादेर्विरुध्यते।
ततो नायं सतां युक्त इत्यशून्यत्वसाधनात् ॥ २०७ ॥
योगेन निग्रहः प्राप्यः स्वोपचारच्छलेपि चेत्।
सिद्धः स्वपक्षसिद्ध्यैव परस्यायमसंशयम् ॥ २०८ ॥

जब कि वाद करनेमें प्रमाण, प्रमाता, द्रव्य, गुण आदिका सभी प्रकारोंसे शून्यपना विरुद्ध पडता है, अर्थात्-जो उपचार और मुख्य सभी प्रकारोंसे प्रमाण, हेतु, वाचकपद, श्रावणप्रत्यक्ष, आदिको नहीं मानेगा, वह वादी शास्त्रार्थके लिये काहेको मुंह बायेगा। अतः सिद्ध है कि शून्यवादी उपचारसे प्रमाण आदिको स्वीकार करता है तो फिर नैयायिकोंको प्रमाण आदिका प्रतिषेध उसके प्रति मुख्यरूपसे नहीं करना चाहिये। किन्तु नैयायिक उक्त प्रकार दूषण दे रहे हैं। तिस कारण अशून्यपनेकी सिद्धि हो जानेसे यह नैयायिकोंके ऊपर छल उठाना तो सज्जनोंको समुचित नहीं है, और नैयायिकोंके ऊपर विचारे शून्यवादी निग्रह उठाते भी नहीं है। यदि "जैसा बोया जाता है, वैसा काटा जाता है" इस नीतिके अनुसार नैयायिक स्वके द्वारा उपचार छल प्रवृत्त हो जानेपर भी शून्यवादीकरके निग्रहको प्राप्त कर दिये जायंगे, यानी नैयायिकोंकरके निग्रह प्राप्त कर लिया जायगा, इस प्रकार कहनेपर तो हमारा वही पूर्वका सिद्धान्त प्रसिद्ध हो गया कि अपने पक्षकी भले प्रकार सिद्धि कर देनेसे ही दूसरे प्रतिवादीका पराजय होता है। यह राद्धान्त संशय रहित होकर सिद्ध हो जाता है, तभी तो शून्यवादीका पक्ष पुष्ट हो चुकनेपर उस नैयायिकका निग्रह

किया। हां, छल या निग्रहस्थान दोष अवश्य हैं। किन्तु पराजय करानेके लिये पर्याप्त नहीं। थोडीसी पेटकी पीडा गुहेरी, फुंसी, काणापन ये दोष साक्षात् मृत्युके कारण नहीं है। तीव्र शस्त्राघात, सन्निपात, शूल, हृद्गतिका रुकना आदिसे ही मृत्यु होना संभव है। अतः जय और पराजयकी व्यवस्था देनेके लिये बडे विचारसे काम लेना चाहिये। इसमें जीवन, मरणके प्रश्न समान अनेक पुरुषोंका कल्याण और अकल्याण सम्बन्धित हो रहा है। अतः स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष निराकरणसे ही जयव्यवस्था माननी चाहिये। अन्यको जयका प्रधान उपाय नहीं मानो। छोटे दोषोंको महान् दोषोंमें नहीं गिनना चाहिये।

अथ जातिं विचारयितुमारभते।

यहांतक आचार्य महाराजने नैयायिकोंके छलप्रकरणकी परीक्षा कर दी है। अब असत् उत्तरस्वरूप जातियोंका विचार करनेके लिये ग्रन्थकार विशेष प्रकरणका प्रारम्भ करते हैं। नित्य होकर अनेक द्रव्य, गुण, या कर्मोंमें समवाय संबंधसे वर्तनेवाली सामान्यस्वरूप जाति न्यारी है। यह जाति तो दोष है।

स्वसाध्यादविनाभावलक्षणे साधने स्थिते।
जननं यत्प्रसंगस्य सा जातिः कैश्चिदीरिता ॥ ३०९ ॥

अपने साध्यके साथ अविनाभाव रखना इस हेतुके लक्षणसे युक्त हो रहे ज्ञापक साधनके व्यवस्थित हो जानेपर जो पुनः प्रसंग उत्पन्न करना है, यानी वादीके ऊपर प्रतिवादी द्वारा दूषण कथन करना है, उसको किन्हीं नैयायिकोंने जाति कहा है। ईरिता शब्दसे यह ध्वनि निकलती है, कि जातिकी योग्यता नहीं होनेपर भी बलात्कारसे उसको जाति मनवानेकी नैयायिकोंने प्रेरणा की है। किन्तु बलात्कारसे कराये गये असमंजस कार्य अधिक कालतक स्थायी नहीं होते हैं।

" प्रयुक्ते हेतौ यः प्रसंगो जायते सा जातिः " इति वचनात्।

" साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः " इस गौतमसूत्रके भाष्यमें वात्स्यायनने यों कथन किया है कि हेतुका प्रयोग कर चुकनेपर जो प्रतिवादीद्वारा प्रसंग जना जाता है, वह जाति है। दिवादि गणकी " जनी प्रादुर्भावे " धातुसे भावमें क्ति प्रत्यय करनेपर जाति शब्द बनता है। अतः कुछ उपपदोंका अर्थ लगाकर निरुक्ति करनेसे जाति शब्दका यथार्थ नामा अर्थ निकल आता है। शब्दकी निरुक्तिसे ही लक्षणस्वरूप अर्थ निकल आवे, यह श्रेष्ठ मार्ग है।

कः पुनः प्रसंग ? इत्याह।

किसी शिष्यका प्रश्न है कि भाष्यकारद्वारा कहे गये जातिके लक्षणमें पडे हुये प्रसंग शब्दका यहां फिर क्या अर्थ है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानंदस्वामी वार्तिकद्वारा समाधानको कहते हैं।

प्रसंगः प्रत्यवस्थानं साधर्म्येणेतरेण वा ।
वैधर्म्योक्तेऽन्यथोक्ते च साधने स्याद्यथाक्रमम् ॥ ३१० ॥

न्यायभाष्यमें यों लिखा है कि " स च प्रसंगः साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानमुपालम्भः प्रतिषेध इति उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुरित्यस्योदाहरणसाधर्म्येण प्रत्यवस्थानं । उदाहरणवैधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुरित्यस्योदाहरणं वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम् । प्रत्यनीकभावाज्जायमानोऽर्थो जातिरिति " तदनुसार प्रसंगका अर्थ यह है कि उदाहरणके वैधर्म्यसे साध्यको साधनेवाले हेतुका कथन करचुकने पर पुनः प्रतिवादीद्वारा साधर्म्यकरके प्रतिषेध देना यानी दूषण उठाना प्रसंग है । अथवा अन्य प्रकार यानी उदाहरणका साधर्म्य दिखाकर हेतुका कथन करचुकनेपर पुनः प्रतिवादीद्वारा वैधर्म्यकरके प्रत्यवस्थान (उलाहना) देना प्रसंग है, यथाक्रमसे ये दो ढंग प्रसंगके हैं ।

उदाहरणवैधर्म्येणोक्ते साधनं साधर्म्येण प्रत्यवस्थानमुदाहरणसाधर्म्येणोक्ते वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानमुपालंभः प्रतिषेधः प्रसंग इति विज्ञेयं " साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः " इति वचनात् ।

इसका तात्पर्य यों समझ लेना चाहिये कि वादीद्वारा व्यतिरेकदृष्टान्तरूप उदाहरणके विधर्मापनकरके ज्ञापकहेतुका कथन करचुकनेपर प्रतिवादीद्वारा साधर्म्यकरके प्रतिषेध किया जाना प्रसंग है और वादीद्वारा अन्वयदृष्टान्तस्वरूप उदाहरणके समानधर्मापनकरके ज्ञापकहेतुका कथन किये जाने पर पुनः प्रतिवादीद्वारा विधर्मापनकरके प्रत्यवस्थान यानी उलाहना देना, अर्थात्—वादीके कहे गयेका प्रतिषेध कर देना भी प्रसंग है । गौतम सूत्रमे जातिका मूल लक्षण साधर्म्य और वैधर्म्य करके उलाहना उठाना जाति है, यों कहा गया है ।

एतदेवाह

इस ही सूत्र और भाष्यका अनुवाद करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य उक्त कथनको ही वार्तिकों द्वारा उनकी परिभाषामें कहते हैं ।

उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यस्यार्थस्य साधनं ।
हेतुस्तस्मिन् प्रयुक्तेन्यो यदा प्रत्यवतिष्ठते ॥ ३११ ॥
उदाहरणवैधर्म्यात्तत्र व्याप्तिमखंडयत् ।
तदासौ जातिवादी स्याद्दूषणाभासवाक्ततः ॥ ३१२ ॥

साध्य अर्थका साधन करनेवाला हेतु ही है । उदाहरणके सधर्मापनसे उस हेतुका प्रयोग किये जानेपर जिस समय अन्य प्रतिवादी उस अनुमानके हेतुमें व्याप्तिका खण्डन नहीं कराता

हुआ यदि उदाहरणके वैधर्म्यसे जब उलाहना उठा रहा है, उस समय वह असत् उत्तरको कहने वाला जातिवादी कहा जावेगा, जब कि वह वादीके कहे गये हेतुका प्रत्याख्यान नहीं कर सका है, तिस कारणसे उस प्रतिवादीके वचन दूषणाभास हैं। अर्थात्–वस्तुतः दूषण नहीं होकर दूषण सदृश दीख रहे हैं। प्रतिवादीको समीचीन दूषण उठाना चाहिये, जिससे कि वादीके पक्षका या हेतुका खण्डन हो जाय। जब वादीका हेतु अक्षुण्ण बना रहा तो प्रतिवादीका दोष उठाना कुछ भी नहीं। किसी कविने अच्छा कहा है " किं कवेस्तस्य काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः, परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः" उस कविके काव्यसे क्या ? और उस धनुषधारीके बाण करके क्या ? जो कि दूसरेके हृदयमें प्रविष्ट हो कर आनन्द और वेदनासे उसके शिरको नहीं घुमा देवे। मद्यपीके शिर समान आनन्द या दुःखमें शिरका हिलोरें लेना घूर्णना कही जाती है। प्रत्युत कहीं कहीं ऐसे दोषाभास गुणस्वरूप हो जाते हैं। जैसे कि चन्द्रप्रभ चरित काव्यमें लिखा है कि " स यत्र दोषः परमेव वेदिका शिरः शिखाशायिनि मानमञ्जने, पतत्कुले कूजति यत्र जानते रसं स्वकान्तानुनयस्य कामिनः॥ १ ॥ तथा अमरसिंहो हि पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत् " अमरकोषको बनानेवाला अमरसिंह बडा भारी पापी था, जो कि सम्पूर्ण भाष्य आदि महान् ग्रन्थोंको चुरा बैठा, यह व्याज निन्दा है। जिससे कि बहुतसे गुण व्यक्त हो जाते हैं। दूषणाभासोंसे कोई यथार्थमें दूषित नहीं हो सकता है।

तथोदाहृतिवैधर्म्यात्साध्यस्यार्थस्य साधनं।
हेतुस्तस्मिन् प्रयुक्तेपि परस्य प्रत्यवस्थितिः॥ ३१३॥
साधर्म्येणेह दृष्टांते दूषणाभासवादिनः।
जायमाना भवेज्जातिरित्यन्वर्थं प्रवक्ष्यते॥ ३१४॥

तथा उदाहरणके वैधर्म्यसे साध्य अर्थको साधनेवाला हेतु होता है। वादीद्वारा उस हेतुके भी प्रयुक्त किये जानेपर दूसरे प्रतिवादीके द्वारा दृष्टान्तमें साधर्म्यकरके जो यहां प्रत्यवस्थान देना है, वह दूषणाभासको कहनेवाले प्रतिवादीकी प्रसंगको उपजा रही जाति होगी। इस प्रकार जाति शब्दका निरुक्तिद्वारा धात्वर्थ अनुसार अर्थ करनेपर भले प्रकार उक्त लक्षण कह दिया जावेगा। अतः असत् उत्तरको कहनेवाले जातिवादी प्रतिवादीका पराजय हो जाता है। और समीचीन को कहनेवाले वादीकी जीत हो जाती है।

उद्योतकरस्त्वाह–जातिर्नामस्थापनाहेतौ प्रयुक्ते यः प्रतिषेधासमर्थो हेतुरिति सोपि प्रसंगस्य परपक्षप्रतिषेधार्थस्य हेतोर्जननं जातिरित्यन्वर्थसंज्ञामेव जातिं व्याचष्टेऽन्यथा न्यायभाष्यविरोधात्।

उद्योतकर पण्डित तो इस प्रकार कहते हैं कि भला जातिका लक्षण तो इस नामसे ही निकल पडता है। अपने पक्षकी स्थापना करनेवाले हेतुके वादीद्वारा प्रयुक्त किये जानेपर पुनः प्रतिवादीद्वारा जो उस पक्षका प्रतिषेध करनेमें नहीं समर्थ हो रहा हेतुका उपजाया जाना है, वह जाति कही जाती है। अब आचार्य कहते हैं कि यों कह रहा वह उद्योतकर पण्डित भी प्रसंगका यानी परपक्षका निषेध करनेके लिये कहे गये हेतुका उपजना जाति हैं, इस प्रकार यौगिक अर्थके अनुसार अन्वर्थ नाम संकीर्तनको धारनेवाली जातिका ही बखान कर रहा है। अन्यथा न्यायभाष्य ग्रन्थसे विरोध हो जावेगा। अर्थात्–दूसरे रूढि या योगरूढि अर्थ अनुसार जातिसंज्ञा यदि मानी जायगी तो उद्योतकरके कथनका वात्स्यायनके कथनसे विरोध पडेगा।

कथमेवं जातिबहुत्वं कल्पनीयमित्याह।

कोई जातिवादी नैयायिकोंके प्रति प्रश्न उठाता है कि जब साधर्म्य और वैधर्म्यकरके दूषण उठानारूप जाति एक ही है तो फिर इस प्रकार जातिका बहुतपना यानी चौवीस संख्यायें किस प्रकारसे कल्पना कर ली जावेगी ? प्रयत्नके विना ही लोकमें जातिका एकपना प्रसिद्ध हो रहा है। जैसे कि गेहूं, चना, गाय, घोडा, आदि जातिवाचक शब्द एकवचन हैं। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर नैयायिकोंके उत्तरका अनुवाद करते हुए श्री विद्यानन्दस्वामी अब समाधानको कहते हैं।

सधर्मत्वविधर्मत्वप्रत्यवस्थाविकल्पतः।
कल्प्यं जातिबहुत्वं स्याद्व्यासतोऽनंतशः सताम् ॥ ३१५ ॥

समानधर्मापन और विधर्मापन करके हुये दोष प्रसंगके विकल्पसे जातियोंका बहुतपना कल्पित कर लिया जाता है। अधिक विस्तारकी अपेक्षासे तो सज्जनोंके यहां जातियोंके अनन्तवार विकल्प किये जा सकते हैं। जैनोंके यहां भी अधिक प्रभेदोंकी विवक्षा होनेपर पदार्थोंके संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हो जाते हैं। गौतम सूत्रमें कहा है कि " तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् " यहां तत् पदसे " साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः " "विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्" इन जाति और निग्रहस्थानके लक्षणोंका परामर्श हो जाता है। अतः उक्त अर्थ निकल आता है।

यथा विपर्ययज्ञानाज्ञाननिग्रहभेदतः।
बहुत्वं निग्रहस्थानस्योक्तं पूर्वं सुविस्तरम् ॥ ३१६ ॥
तत्र ह्यप्रतिभाज्ञानाननुभाषणपर्यनु–।
योज्योपेक्षणविक्षेपा लभंतेऽप्रतिपत्तिताम् ॥ ३१७ ॥

शेषा विप्रतिपत्तित्वं प्राप्नुवंति समासतः ।
तद्विभिन्नस्वभावस्य निग्रहस्थानमीक्षणात् ॥ ३१८ ॥

जिस प्रकार कि विप्रतिपत्ति यानी विपर्ययज्ञान और अप्रतिपत्ति यानी अज्ञानस्वरूप निग्राहकोंके भेदसे निग्रहस्थानोंका बहुतपना पूर्व प्रकरणोंमें बहुत अच्छा विस्तार पूर्वक कह दिया गया है। अनेक कल्पनाएं करना अथवा अनेक प्रकारकी कल्पना करना यहां विकल्प समझा जाता है। न्याय भाष्यकार कहते हैं कि उन निग्रहस्थानोंमें अप्रतिभा, अज्ञान, अननुभाषण, पर्यनुयोज्योपेक्षण, विक्षेप, मतानुज्ञा ये निग्रहस्थान तो अप्रतिपत्तिपनको प्राप्त हो रहे हैं। अर्थात्–आरम्भके अवसरपर प्रारंभ नहीं करना या दूसरे विद्वान् करके स्थापित किये गये पक्षका प्रतिषेध नहीं करता है, अथवा प्रतिषेध किये जा चुकेका उद्धार नहीं करता है, इस प्रकारके अज्ञानसे अप्रतिभा आदिक निग्रहस्थानोंका पात्र बनना पडता है। तथा शेष बचे हुये प्रतिज्ञाहानि, आदिक निग्रहस्थान तो विपरीत अथवा कुत्सित प्रतिपत्ति होना रूप विप्रतिपत्तिपनको प्राप्त हो जाते हैं। संक्षेपसे विचार किये जानेपर उन विप्रतिपत्ति और अविप्रतिपत्ति इन दो निग्रहस्थानोंसे विभिन्न स्वभाववाले तीसरे निग्रहस्थानका किसीको भी कभी आलोचन नहीं होता है। हां, विस्तारसे भेदकथन करनेकी अपेक्षा तो अनेक निग्रहस्थानोंका विभाग किया जा सकता है। निग्रहस्थानका अर्थ पराजय प्रयोजक वस्तु या अपराधोंकी प्राप्ति हो जाना है। प्रतिज्ञा आदिक अवयवोंका अवलम्ब लेकर तत्त्ववादी और अतत्त्ववादी पण्डित परस्परमें वाद करते हैं। त्रुटि हो जानेपर पराजयको प्राप्त हो जाते हैं।

तत्रातिविस्तरेणानंतजातयो न शक्या वक्तुमिति विस्तरेण चतुर्विंशतिर्जातयः प्रोक्ता इत्युपदर्शयति।

उस जातिके प्रकरणमें यह कहना है कि अत्यन्त विस्तार करके तो असत् उत्तर स्वरूप अनन्त जातियां है-जो कि शद्बों द्वारा नहीं कहीं जा सकती हैं, हां मध्यम विस्तार करके वे जातियां चौवीस भले प्रकार न्यायदर्शनमें कहीं हैं। इसी भाष्यकारकी बातको ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा प्रायः दिखलाते हैं।

प्रयुक्ते स्थापनाहेतौ जातयः प्रतिषेधिकाः ।
चतुर्विंशतिरत्रोक्तास्ताः साधर्म्यसमादयः ॥ ३१९ ॥

प्रकृत साध्यकी स्थापना करनेके लिये वादी द्वारा हेतुके प्रयुक्त किये जानेपर पुनः प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध करानेके कारण वे जातियां यहां साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा आदिक चौवीस कहीं गयीं हैं।

तथा चाह न्यायभाष्यकारः। साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिबहुत्वमिति संक्षेपेणोक्तं, तद्विस्तरेण विभज्यते। ताश्च खल्विमा जातयः स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते चतुर्विंशतिः प्रतिषेधहेतव " साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसंगप्रतिदृष्टांतानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः " इति सूत्रकारवचनात्।

और तिसी प्रकार न्यायभाष्यको बनानेवाले वात्स्यायन ऋषि इसी बातको अपने शब्दोंसे न्यायभाष्यमें पंचम अध्यायके प्रारम्भमें यों कह रहे हैं कि साधर्म्य और वैधर्म्य करके हुये प्रत्यवस्थानके भेदसे जातियोंका बहुत्व हो जाता है। इस प्रकार संक्षेपसे तो एक ही प्रत्यवस्थान रूप जाति कही गयी है, हां, उस साधर्म्य और वैधर्म्य करके हुये प्रत्यवस्थानके विस्तार कर देनेसे तो जातिके विभाग कर दिये जाते हैं। तथा वे जातियां निश्चय करके स्थापना हेतुके प्रयुक्त किये जानेपर पुनः प्रतिषेधके कारण हो रहीं ये वक्ष्यमाण चौवीस हैं। उनको गिनिये १ साधर्म्यसमा २ वैधर्म्यसमा ३ उत्कर्षसमा ४ अपकर्षसमा ५ वर्ण्यसमा ६ अवर्ण्यसमा ७ विकल्पसमा ८ साध्यसमा ९ प्राप्तिसमा १० अप्राप्तिसमा ११ प्रसंगसमा १२ प्रतिदृष्टान्तसमा १३ अनुत्पत्तिसमा १४ संशयसमा १५ प्रकरणसमा १६ अहेतुसमा १७ अर्थापत्तिसमा १८ अविशेषसमा १९ उपपत्तिसमा २० उपलब्धिसमा २१ अनुपलब्धिसमा २२ नित्यसमा २३ अनित्यसमा २४ कार्यसमा। इस प्रकार जातियोंके चौवीस भेद न्यायसूत्रोंको बनानेवाले गौतमऋषिने पांचवें अध्यायके आदिमें कहे हैं। इन जातियोंका लक्षणीय अर्थ यद्यपि निरुक्तिसे लब्ध हो जाता है तो भी शिष्य बुद्धिवैशद्यार्थ गौतमऋषिने सूत्रोंमें न्यारे न्यारे लक्षण कहे हैं।

यत्राविशिष्यमाणेन हेतुना प्रत्यवस्थितिः।
साधर्म्येण समा जातिः सा साधर्म्यसमा मता ॥ ३२० ॥
निर्वक्तव्यास्तथा शेषास्ता वैधर्म्यसमादयः।
लक्षणं पुनरेतासां यथोक्तमभिभाष्यते ॥ ३२१ ॥

भाष्यमें लिखा है कि " साधर्म्येण प्रत्यवस्थानमविशिष्यमाणं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमः, अविशेषं तत्र तत्रोदाहरिष्यामः एवं वैधर्म्यसमप्रभृतयोऽपि निर्वक्तव्या " जहां विशेषको नहीं प्राप्त किये गये हेतुकरके साधर्म्यद्वारा प्रत्यवस्थान दिया जाता है, वह नैयायिकोंके यहां साधर्म्यसमाजाति मानी गयी है। तथा उसी प्रकार शेष बची हुई उन वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा आदि जातियोंकी भी शब्दोंद्वारा निरुक्ति कर लेना चाहिये। हां, फिर इन साधर्म्यसमा आदिक जातियोंका न्यायदर्शन ग्रन्थके अनुसार कहा गया लक्षण तो यथावसर ठीक ढंगसे भाषण कर दिया जाता है।

अर्थात्--गौतमसूत्र और वात्स्यायनभाष्यके अनुसार जातिके सामान्य लक्षणको घटित करते हुये साधर्म्यसमा आदिका लक्षण अब बखाना जाता है ।

अत्र जातिषु या साधर्म्येण प्रत्यवस्थितिरविशिष्यमाणं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमा जातिः । एवमविशिष्यमाणस्थापनाहेतुतो वैधर्म्येण प्रत्यवस्थितिः वैधर्म्यसमा । तथोत्कर्षादिभिः प्रत्यवस्थितयः उत्कर्षादिसमा इति निर्वक्तव्याः । लक्षणं तु यथोक्तमभिभाष्यते ।

इन जातियोंमें जो साधर्म्यकरके कह चुकनेपर प्रत्यवस्थान देना है, जो कि साध्यकी स्थापना करनेवाले हेतुसे विशिष्टपनेको नहीं रख रहा है, वह दूषण साधर्म्यसमा जाति है । इसी प्रकार वैधर्म्यसे उपसंहार करनेपर स्थापना हेतुसे विशिष्टपनको नहीं कर रहा, जो प्रत्यवस्थान देना है, वह वैधर्म्यसमा जाति है । तथा स्थापना हेतुओंसे उत्कर्ष, अपकर्ष, वर्ण्य, अवर्ण्य आदि करके जो प्रत्यवस्थान देने हैं, वे उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, आदिक जातियां हैं । इस प्रकार प्रकृति, प्रत्यय, आदि करके अर्थोंको निकालते हुए उक्त जातियोंकी निरुक्ति कर लेनी चाहिये । हां, उनका लक्षण तो नैयायिकोंके सिद्धांत अनुसार कहा गया उन उन प्रकरणोंमें भाष्य या विवरणसे परिपूर्ण कह दिया जावेगा । यहां "जाति" स्त्रीलिङ्ग शद्ब विशेष्य दलमें पडा हुआ है । अतः समा शद्ब स्त्रीलिङ्ग है, ऐसा कोई मान रहे हैं । भाष्यकार तो पुल्लिंग " सम " शद्बको अच्छा समझ रहे हैं । जो कि घञ् प्रत्ययान्त प्रतिषेध शद्बके साथ विशेषण हो जाता है । सम शद्ब और समा शद्ब दोनोंका जस्में " समाः " बनता है अतः पंचम अध्यायके पहिले और चौथे सूत्रअनुसार सम और समा दोनों पुल्लिंग और स्त्रीलिंग शद्बोंकी कल्पना की जा सकती है । हां, अग्रिम लक्षणसूत्रोंमें तो पुल्लिंग सम शद्ब होनेका कोई विवाद नहीं रह जाता है । अर्थात्--आगेके सूत्रोंमें मूलग्रन्थकारने पुल्लिंग सम शद्बका स्पष्ट प्रयोग किया है ।

तत्र ।

उन चौवीस जातियोंमें पहिली साधर्म्यसमा जातिका लक्षण तो इस प्रकार है । सो सुनिये ।

साधर्म्येणोपसंहारे तद्धर्मस्य विपर्ययात् ।
यस्तत्र दूषणाभासः स साधर्म्यसमो मतः ॥ ३२२ ॥
यथा क्रियाभृदात्मायं क्रियाहेतुगुणाश्रयात् ।
य ईदृक्षः स ईदृक्षो यथा लोष्ठस्तथा च सः ॥ ३२३ ॥
तस्मात्क्रियाभृदित्येवमुपसंहारभाषणे ।
कश्चिदाहाक्रियो जीवो विभुद्रव्यत्वतो यथा ॥ ३२४ ॥

व्योम तथा न विज्ञातो विशेषस्य प्रसाधकः ।
हेतुः पक्षद्वयेप्यस्ति ततोयं दोषसन्निभः ॥ ३२५ ॥
साध्यसाधनयोर्व्याप्तेर्विच्छेदस्यासमर्थनात् ।
तत्समर्थनतंत्रस्य दोषत्वेनोपवर्णनात् ॥ ३२६ ॥

गौतम सूत्र है कि " साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ " इस सूत्रमें साधर्म्यसमा और वैधर्म्यसमा दोनोंका लक्षण किया गया है । तिनमें साधर्म्यसमाका लक्षण यों है कि वादी द्वारा साधर्म्य करके हेतुका पक्षमें उपसंहार करचुकनेपर उस साध्यधर्मके विपर्यय धर्मकी उपपत्ति करनेसे जो वहां दूषणभास उठाया जाता है, वह साधर्म्यसम प्रतिषेध माना गया है । उसका उदाहरण यों समझिये कि यह आत्मा (पक्ष) हलन, चलन, आदि क्रियाओंको धारनेवाला है (साध्य), क्रियाओंके कारण हो रहे गुणोंका आश्रय होनेसे (हेतु) जो इस प्रकार होता हुआ क्रियाके हेतुभूत गुणोंका आधार है, वह इस प्रकारका क्रियावान् अवश्य है । जैसे कि फेंका जा रहा ढेल (अन्वय दृष्टान्त) और तिस प्रकारका क्रिया हेतु गुणाश्रय यह आत्मा है (उपनय) तिस कारणसे गमन भ्रमण, उत्पतन, आदि क्रियाओंको यह आत्मा धारण कर रहा है (निगमन) । ढेलमें क्रियाका कारण संयोग, वेग या कहीं गुरुत्व ये गुण विद्यमान हैं और आत्मामें अदृष्ट (धर्म अधर्म) प्रयत्न, संयोग, ये गुण क्रियाके कारण वर्त रहे हैं । अतः आत्मामें उनका फल क्रिया होनी चाहिये । इस प्रकार उपसंहार कर वादीद्वारा समीचीन हेतुके कहे जानेपर कोई प्रतिवादी इसके विपर्ययमें यों कह रहा है कि जीव (पक्ष) क्रियारहित है (साध्य), व्यापकद्रव्यपना होनेसे (हेतु) जैसे कि आकाश (अन्वयदृष्टान्त) " सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम् " सम्पूर्ण पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन इन मूर्त द्रव्योंके साथ संयोग धरनेवाले पदार्थ व्यापक माने जाते हैं । जब कि आकाश विभु है, अतः निष्क्रिय है, उसी प्रकार व्यापक आत्मा भी क्रियारहित है । जब कोई स्थान ही रीता नहीं बचा है तो व्यापक आत्मा भला क्रिया कहां करें ? क्रियाको साधने वाले पहिले पक्ष और क्रियारहितपनको साधनेवाले दूसरे पक्ष इन दोनों भी पक्षोंमें कोई विशेषता का अच्छा साधन करनेवाला हेतु तो नहीं जाना गया है । नैयायिक कहते हैं कि तिस कारणसे यह पिछला पक्ष वस्तुतः दोष नहीं होकर दोषके सदृश हो रहा दूषणाभास है । क्योंकि यह पिछला कथन पहिले कहे गये साध्य और हेतुको व्याप्तिके विच्छेद करनेकी सामर्थ्यको नहीं रखता है । उस साध्य और साधनकी व्याप्तिके विच्छेदका समर्थन करना जिसके अधीन है, उसको लोक और शास्त्रमें दोषपने करके कहा गया है । अतः यह प्रतिवादीका कथन साधर्म्यसमा जातिस्वरूप दोषाभास है ।

नास्त्यात्मनः क्रियावत्त्वे साध्ये क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वस्य साधनस्य स्वसाध्येन व्याप्तिर्विभुत्वान्निष्क्रियत्वसिद्धौ विच्छिद्यते, न च तदविच्छेदे तद्दूषणत्वं साध्यसाधनयोर्व्याप्तिविच्छेदसमर्थनतंत्रस्यैव दोषत्वेनोपवर्णनात् । तथा चोक्तं न्यायभाष्यकारेण- " साधर्म्येणोपसंहारे साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमः प्रतिषेध " इति । निदर्शनं, क्रियावानात्मा द्रव्यस्य क्रियाहेतुगुणयोगात् । द्रव्यं लोष्ठः स च क्रियाहेतुगुणयुक्तः क्रियावांस्तथा चात्मा तस्मात्क्रियावानित्येवमुपसंहृत्य परः साधर्म्येणैव प्रत्यवतिष्ठते । निष्क्रिय आत्मा विभुनो द्रव्यस्य निष्क्रियत्वात् । विभ्वाकाशं निष्क्रियं तथा चात्मा तस्मान्निनिष्क्रिय इति । न चास्ति विशेषः क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यं न पुनर्निष्क्रियसाधर्म्यात् अक्रियेणेति विशेषहेत्वभावात्साधर्म्यसमदूषणाभासो भवति ।

देखिये कि आत्माको क्रिया सहितपना साध्य करनेपर क्रियाहेतुगुणश्रयत्व हेतुकी अपने नियत साध्यके साथ जो व्याप्ति बन चुकी है, वह व्यापकपन हेतुसे आत्माका क्रियारहितपना साधनेपर टूट (नष्ट) नहीं जाती है । और जबतक उस पहिली व्याप्तिका विच्छेद नहीं होगा तबतक वह उत्तरवर्ती कथन उस पूर्वकथनका दूषण नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि साध्य और साधनकी व्याप्तिके विच्छेदका समर्थन करना जिसका अधीन कार्य है, उसको (का) दोषपने करके निरूपण किया जाता है । और तिस ही प्रकार न्यायभाष्यको करनेवाले वात्स्यायन ऋषिने स्वकीय भाष्यमें यों कहा है कि अन्वयदृष्टान्तके साधर्म्य करके हेतुका पक्षमें उपसंहार करचुकनेपर पुनः प्रतिवादी द्वारा साध्यधर्मके विपरीत हो रहे धर्मकी उपपत्ति करनेसे साधर्म्य करके ही दूषण उठाना साधर्म्यसम नामका प्रतिषेध है । इस साधर्म्यसमका उदाहरण यों है कि आत्मा (पक्ष) क्रियावान् है । (साध्य) द्रव्यके उचित क्रियाके हेतु गुणोंका समवाय संबन्धवाला होनेसे (हेतु) जैसे मिट्टीका डेल या कंकड़, पत्थर द्रव्य है । और वह क्रियाके हेतु गुणोंसे समवेत हो रहा संता क्रियावान् है । तिस ही प्रकार अदृष्ट या संयोग, प्रयत्न इन क्रियाके हेतु हो रहे गुणोंको धारनेवाला आत्मा है । तिस कारणसे वह क्रियावान सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार यों वादी पण्डित द्वारा उपसंहार कर चुकनेपर दूसरा प्रतिवादी साधर्म्यकरके ही यों दूषण उठा रहा है कि आत्मा निष्क्रिय है । क्योंकि विभुद्रव्य क्रियारहित हुआ करते हैं । देखिये, व्यापक आकाश द्रव्य क्रियारहित है और तिस ही प्रकार व्यापक द्रव्य यह आत्मा है । तिस कारणसे आत्मा क्रियारहित है । इस प्रकार उक्त दोनों सिद्धान्तोंमें कोई अन्तर नहीं है, जिससे कि क्रियावान् डेलके सधर्मापन क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वसे आत्मा क्रियावान् तो हो जाय, किन्तु फिर क्रियारहित आकाशके साधर्म्य हो रहे विभुत्वसे निष्क्रिय नहीं हो सके । इस प्रकार कोई विशेष हेतुके नहीं होनेसे यह साधर्म्यसम नामक दूषणाभास हो जाता है ।

अत्र वार्तिककार एवमाह—साधर्म्येणोपसंहारे तद्विपरीतसाधर्म्येणोपसंहारे तत्साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमः। यथा अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात्। उत्पत्तिधर्मकं कुंभाद्यनित्यं दृष्टमिति वादिनोपसंहृते परः प्रत्यवतिष्ठते। यद्यनित्यघटसाधर्म्यादयमनित्यो नित्येनाप्यस्याकाशेन साधर्म्यममूर्तत्वमस्तीति नित्यः प्राप्तः, तथा अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात् यत्पुनरनित्यं न भवति तन्नोत्पत्तिधर्मकं यथाकाशमिति प्रतिपादिते परः प्रत्यवतिष्ठते। यदि नित्याकाशवैधर्म्यादनित्यः शब्दस्तदा साधर्म्यमप्यस्याकाशेनास्त्यमूर्तत्वमतो नित्यः प्राप्तः। अथ सत्यप्येतस्मिन् साधर्म्ये न नित्यो भवति, न तर्हि वक्तव्यमनित्यघटसाधर्म्यान्नित्याकाशवैधर्म्याद्वा अनित्यः शब्द इति।

साधर्म्यसमा जातिके विषयमें यहां न्यायवार्तिकको बनानेवाले पण्डित गौतमसूत्रका अर्थ इस प्रकार कहते हैं कि अन्वय दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे साधर्म्य करके उपसंहार करनेपर अथवा व्यतिरेक दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे उस साध्यधर्मके विपरीत हो रहे अर्थका समानधर्मापनकरके उपसंहार कर चुकनेपर पुनः प्रतिवादीद्वारा उस साधर्म्य करके दूषण उठाना साधर्म्यसम नामका प्रतिषेध है। जैसे कि शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य) उत्पत्तिनामक धर्मको धारण करनेवाला होनेसे (हेतु) उत्पत्ति नामके धर्मको धारकर उपज रहे घडा, कपडा, पोथी आदिक पदार्थ अनित्य देखे गये हैं। इस प्रकार वादीकरके स्वकीय प्रतिज्ञाका उपसंहार किया जा चुकनेपर दूसरा प्रतिवादी यों प्रत्यवस्थान (दूषणाभास) दे रहा है कि अनित्य हो रहे घटके साधर्म्यसे यदि यह शब्द अनित्य है, तब तो नित्य हो रहे आकाशके साथ भी इस शब्दका साधर्म्य अमूर्तपना है। अपकृष्ट परिणामको धारनेवाले द्रव्योंको मूर्त द्रव्य कहते हैं। वैशेषिकोंके यहां पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन ये पांच द्रव्य ही मूर्त माने गये हैं। शेष आकाश काल, दिशा, आत्मा ये चार द्रव्य अमूर्त हैं। गुणोंमें गुण नहीं रहते हैं। शब्द नामक गुणमें परिमाण या रूप आदिक दूसरे गुण नहीं पाये जाते हैं। इस कारण शब्द और आकाश दोनों अमूर्त हैं। अतः अमूर्तपना होनेसे आकाशके समान शब्दको नित्यपना प्राप्त हुआ। यह साधर्म्यकरके उपसंहार किये जानेपर साधर्म्यसमका एक प्रकार हुआ तथा दूसरा प्रकार विपरीत साधर्म्यकरके उपसंहार किये जानेपर यों है कि शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा) उत्पन्न होना धर्मसे सहितपना होनेसे (हेतु) जो पदार्थ फिर अनित्य नहीं है, वह उत्पत्तिधर्मवान् नहीं बनता है। जैसे कि आकाश (व्यतिरेक दृष्टान्त) इस प्रकार वादीद्वारा प्रतिपादन किया जा चुकनेपर दूसरा प्रतिवादी प्रत्यवस्थान देता है कि नित्य आकाशके विधर्मापनसे यदि शब्द अनित्य माना जा रहा है, तब तो आकाशके साथ भी इस शब्दका अमूर्तपना साधर्म्य है। इस कारण यों तो शब्दका नित्यपना प्राप्त हुआ जाता है। फिर भी यदि कोई यों कहना प्रारम्भ करे कि इस अमूर्तत्व साधर्म्यके होते संते भी शब्द नित्य नहीं होता है। तब तो हम कहेंगे कि यों तो अनित्य हो रहे घटके साधर्म्यसे अथवा नित्य हो रहे

आकाशके वैधर्म्यसे शब्दका अनित्यपना भी नहीं कहना चाहिये । यह न्यायवार्तिक ग्रन्थका अभिप्राय है । न्यायसूत्रवृत्तिको रचनेवाले श्री विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्यका भी ऐसा मिलता, जुलता, अभिप्राय गंभीर अर्थवाले सूत्र अनुसार साधर्म्य और वैधर्म्यको दोनों वादी प्रतिवादीयोंकी ओर लगाया जा सकता है ।

सेयं जातिः विशेषहेत्वभावं दर्शयति विशेषहेत्वभावाच्चानैकांतिकचोदनाभासो गोत्वाद्गोसिद्धिवदुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यत्वसिद्धिः । साधर्म्यं हि यदन्वयव्यतिरेकि गोत्वं तस्मादेव गौः सिध्यति न सत्त्वादेस्तस्य गोरित्यत्राभावादावपि भावादव्यतिरेकित्वात् । एवमगोवैधर्म्यमपि गोः साधनं नैकशफत्वादित्यस्याव्यतिरेकित्वादेव पुरुषादावपि भावात् । गोत्वं पुनर्गवि दृश्यमानमन्वयव्यतिरेकि गोः साधनमुपपद्यते तद्वदुत्पत्तिधर्मकत्वं घटादावनित्यत्वे सति भावादाकाशादौ चाऽनित्यत्वाभावे अभावादन्वयव्यतिरेकि शब्दे समुपलभ्यमानमनित्यत्वस्य साधनं, न पुनरनित्यघटसाधर्म्यमात्रसत्त्वादिनाप्याकाशवैधर्म्यमात्रममूर्तत्वादि तस्यान्वयव्यतिरेकित्वाभावात् । ततस्तेन प्रत्यवस्थानमयुक्तं दूषणाभासत्वादिति ।

नैयायिक अपने सिद्धान्त अनुसार यों कहते हैं तिस कारण वह असत् उत्तर स्वरूप हो रही जाति (कर्त्ता) परीक्षकोंके सन्मुख विशेष हेतुके अभावको दिखला देती है । अर्थात्–इस प्रकार असमीचीन उत्तरको कहनेवाले प्रतिवादीके यहां अपने निजपक्षका साधक कोई विशेष हेतु नहीं है । और विशेष हेतुके नहीं होनेसे यह प्रतिवादीका कथन प्रेरा गया व्यभिचारकी देशनाका आभास है । अथवा न्यायवार्तिक ग्रन्थके अनुसार सत्प्रतिपक्षकी देशनाका आभास है । जब कि क्रियाहेतुगुणाश्रयत्व हेतुसे आत्मामें क्रिया सिद्ध हो जाती है, तो विभुत्व हेतु निष्क्रियत्वको साध नहीं सकता है । व्यभिचार या संदिग्धव्यभिचार दोष खडा हो जायगा । अथवा उत्पत्तिधर्मकत्व हेतुसे शब्दका अनित्यपना सिद्ध हो चुका तो अमूर्तत्व हेतुसे शब्दमें नित्यपना साधा जाना व्यभिचारदोषग्रस्त है । उक्त दोनों अनुमानके हेतुओंमें सत्प्रतिपक्षदोष नहीं है । फिर भी प्रतिवादीद्वारा सत्प्रतिपक्ष दोष कोरी ऐंठसे ढकेला जा रहा है । अतः यह सत्प्रतिपक्ष दूषणका आभास है । बात यह है कि " गोत्वाद्गोसिद्धिवत् तत्सिद्धिः " इस गोतमसूत्र अनुसार गोत्वहेतुसे गौकी सिद्धिके समान उत्पत्तिधर्मसहितपन हेतुसे अनित्यपन साध्यकी सिद्धि हो जाती है । कारण कि गोत्व जिसके साथ अन्वय और व्यतिरेकको धारण कर रहा है । उस ही से गायकी सिद्धि होती है । किन्तु अन्वय व्यतिरेकोंको नहीं धारनेवाले सत्त्व, प्रमेयत्व, कृतकत्व आदि व्यभिचारी हेतुओंसे गौकी सिद्धि नहीं हो पाती है । क्योंकि उन सत्त्व आदि हेतुओंका जिस प्रकार यहां गौ, बैलोंमें सद्भाव है, वैसे ही घोडा, हाथी, मनुष्य, घट, पट आदि विपक्षोंमें भी सद्भाव पाया जाता है । अतः सत्त्व आदि हेतुओंमें व्यतिरेकिपना नहीं बनता है । इसी प्रकार गोभिन्न पदार्थोंका विधर्मापन भी गौका

ज्ञापक हेतु हो जाता है । " गवेतरासमवेतत्वे सति सकल गोसमवेतत्वं गोत्वं" माना गया है । सींग और सास्ना दोनोंसे सहितपन यह गोभिन्नका वैधर्म्य है । अतः सींग, सास्ना, सहितपनसे भी गोत्वकी सिद्धि हो सकती है । किन्तु एक खुरसहितपनातो गोभिन्नका वैधर्म्य नहीं है । गो भिन्न अश्व, गधा, मनुष्य, इनमें भी एकशफसहितपना विद्यमान है । यानी गाय, भैंस, छिरियाके दो खुर होते हैं । घोडे, गधेके एक खुर होता है । अतः पुरुष, घोडा, गधा, हाथी आदि विपक्षोंमें भी एक खुरसहितपनके ठहरजानेसे वह हेतु व्यतिरेकको धारनेवाला नहीं हुआ । इसी कारण एकखुरसहितपना, पशुपना, जीवत्व, आदि हेतु गौके साधक नहीं हैं । जिस हेतु में गौका साधर्म्य और अगो (गो भिन्न) का वैधर्म्य घटित हो जायगा, वह साधर्म्य वैधर्म्य प्रयुक्त गौका साधक अवश्य बन बैठेगा । इसी दृष्टान्तके अनुसार प्रकरणमें वादीके यहां साधर्म्य और वैधर्म्यसे उपसंहार कर दिया जाता है । हां, गौपना तो फिर गाय, बैलोंमें ही ही देखा जा रहा है । अतः उसके होनेपर होना उसके नहीं होनेपर नहीं होना, इस प्रकार अन्वय व्यतिरेकोंको धारता हुआ वह गोत्व गाय, बैलका, ज्ञापक हेतु बन जाता है । बस उसीके समान उत्पत्ति धर्मसहितपन हेतु भी घट, पत्र, कटोरा, आदि सपक्षोंमें अनित्यपनके होते संते विद्यमान रहता है और आकाश, परम महापरिमाण आदि विपक्षोंमें अनित्यत्वके अभाव होनेपर उत्पत्तिसहितपन हेतुका भी अभाव है । इस प्रकार अन्वय व्यतिरेकोंको धारनेवाला उत्पत्तिधर्मसहितपन हेतु शब्दमें भले प्रकार देखा जा रहा है । अतः अनित्यत्वका साधक है । किन्तु फिर अनित्य घटके साथ साधर्म्यमात्रको धारनेवाले सत्त्व, प्रमेयत्व, आदिक व्यभिचारी हेतुओंकरके शब्दमें अनित्यत्वकी सिद्धि नहीं होती है । अन्वय घट जानेपर भी उनमें व्यतिरेक नहीं घटित होता है । विधर्मपनको प्राप्त हो रहे आकाशके साथ भले ही शब्दका अमूर्तत्व आदि करके साधर्म्य है । किन्तु सर्वदा, सर्वत्र व्यतिरेकके नहीं घटित होनेपर अमूर्त्तत्व, अचेतनत्व आदिक हेतु शब्दके नित्यपनको नहीं साध सकते हैं । तिस कारण उस अन्वय व्यतिरेक सहितपनके नहीं घटित हो जानेसे प्रतिवादीद्वारा यह दूषण उठाना युक्त नहीं है । क्योंकि अन्वय व्यतिरेकोंको नहीं धारनेवाले हेतुओंका साधर्म्य वैधर्म्य नहीं बन पाता है । अतः वे प्रतिवादीके आक्षेप कोरे दूषणाभास हैं ।

एतेनात्मनः क्रियावत्साधर्म्यमात्रं निष्क्रियवैधर्म्यमात्रं वा क्रियावत्त्वसाधनं प्रत्याख्यातमनन्वयव्यतिरेकित्वात् अन्वयव्यतिरेकिण एव साधनस्य साध्यसाधनसामर्थ्यात् ।

नैयायिकोंका ही मन्तव्य पुष्ट हो रहा है कि इस उक्त कथन करके हमने इसका भी प्रत्याख्यान कर दिया है कि जो विद्वान् केवल क्रियावान् पदार्थोंके साथ समानधर्मपनको आत्माके क्रियावत्त्वका साधक मान बैठे हैं, अथवा क्रियारहित पदार्थोंके केवल विधर्मपनको आत्माके क्रियावत्त्वका ज्ञापक हेतु मान बैठे हैं । बात यह है कि इन क्रियावत्साधर्म्य और निष्क्रिय वैधर्म्यमें अन्वय, व्यतिरेकोंका सद्भाव नहीं पाया जाता है । सिद्धान्तमें अन्वय व्यतिरेकवाले हेतुकी ही साध्यको

साधनेमें सामर्थ्य मानी गयी है। हां, इनमें कुछ विशेषण लगा देनेसे आत्माके क्रियाकी सिद्धि हो सकती है। प्रकृतमें जब क्रिया हेतुगुणाश्रयत्वहेतु आत्माके क्रियावत्त्वको साधनेमें समर्थ है, तो प्रतिवादीके सम्पूर्ण कथन दूषणाभास हो जाते हैं। अर्थात्–जैन सिद्धान्त अनुसार विशेष बात यह है कि क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वका क्रियावत्त्व हेतुके साथ अविनाभाव ठीक ठीक घटित नहीं होता है। देखिये, पुण्यशाली जीवोंका यहां स्वर्गपुरमें बैठे हुये आत्माके साथ बन्धको प्राप्त हो रहा पुण्यकर्म सैकडों, हजारों, कोस, दूर स्थित हो रहे वस्त्र, चांदी, सोना, फल, मेवा, यंत्र, पान, आदि पदार्थोंका आकर्षण कर लेता है। पापी जीवोंका पाप कांटे, विसैली वस्तु आदिमें क्रिया उत्पन्न कर निकटमें धर देता है। कालद्रव्य स्वयं क्रियारहित होता हुआ भी अनेक जीव, पुद्गलोंकी क्रियाको करनेमें उदासीन कारण बन जाता है। अप्राप्य आकर्षक चुम्बक पाषाण दूरवर्ती लोहेमें गतिको करा रहे क्रियाहेतुगुण आकर्षकत्वका आश्रय बना हुआ है। शरीरमें कई धातु, उपधातुएं, स्वयं क्रियारहित भी होती हुई उस समय अन्य रक्त, वायु, नसें आदिकी क्रियाका कारण हो ही जाती हैं। क्रियाके हेतु गुणको धारनेवाले पदार्थोंको एकान्तसे क्रियावान् माननेपर अनवस्था दोष भी हो जाता है। अस्तु. यहां नैयायिक जो कुछ कह रहे हैं, एक बार उनकी सम्पूर्ण बातोंको सुन लेना चाहिये।

> तत्रैव प्रत्यवस्थानं वैधर्म्येणोपदर्श्यते।
> यः क्रियावान्स दृष्टोत्र क्रियाहेतुगुणाश्रयः ॥ ३२७ ॥
> यथा लोष्ठो न चात्मैवं तस्मान्निष्क्रियः एव सः।
> पूर्ववद्दूषणाभासो वैधर्म्यसम ईक्ष्यताम् ॥ ३२८ ॥

साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, जातिको कहनेवाले गौतम सूत्रके उत्तरदल अनुसार दूसरी वैधर्म्यसम जातिका लक्षण यह है कि तहां आत्मा क्रियावान् है, क्रियाके हेतु हो रहे गुणका आश्रय होनेसे, जैसे कि डेल। इस अनुमानमें ही साध्यके विधर्मापन करके प्रतिवादी द्वारा दूषण दिखलाया जाता है कि जो क्रियाके कारण हो रहे गुणका आश्रय यहां देखा गया है, वह क्रियावान् अवश्य है, जैसे कि फेंका जा रहा डेल है। किन्तु आत्मा तो इस प्रकार क्रियाके कारण बन रहे गुणका आश्रय नहीं है। तिस कारणसे वह आत्मा क्रियारहित ही है। नैयायिक कहते हैं कि यह प्रतिवादीका कथन भी पूर्व साधर्म्यसम जातिके समान हो रहा वैधर्म्यसम नामका दोषाभास ही देखा जायगा। क्रियावान्के साधर्म्यसे आत्मा क्रियावान् पदार्थके वैधर्म्यसे आत्मा क्रियारहित नहीं होय, इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है। यह प्रतिवादीका वैधर्म्यसम प्रतिषेध है।

क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वाल्लोष्ठवदित्यत्र वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं, यः क्रियाहेतुगुणाश्रयो लोष्ठः स क्रियावान् परिच्छिन्नो दृष्टो न च तथात्मा तस्मान्न लोष्ठवत्क्रिया-

वानिति निष्क्रिय एवेत्यर्थः। सोऽयं साधर्म्येणोपसंहारे वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानात् वैधर्म्यसमः प्रतिषेधः पूर्ववद्दूषणाभासो वेदितव्यः।

आत्मा चलना, उतरना, चढना, मर कर अन्यत्र स्थानमें जाकर जन्म लेना, आदि क्रियाओंसे युक्त है। क्योंकि वह क्रियाके प्रेरक हेतु हो रहे प्रयत्न पुण्य, पाप, संयोग इन गुणोंको धारण कर रहा है। जैसे कि फेंका हुआ ढेल क्रियाके कारण संयोग, वेग, गुरुत्व गुणोंको धारण कर रहा सन्ता क्रियावान् है। इस अनुमानमें वैधर्म्यकरके असत् दूषण उठाया जाता है कि जो क्रियाहेतुगुणका आश्रय ढेल है, वह क्रियावान् होता हुआ अपकृष्ट परिमाणवाला परिमित देखा गया है। आत्मा तो तिस प्रकार मध्यपरिमाणवाला नहीं है। तिस कारणसे लोष्ठके समान क्रियावान् आत्मा नहीं, इस कारण आत्मा क्रियारहित ही है, यह अर्थ प्राप्त हो जाता है। नैयायिक यों कहते हैं कि यह प्रत्यवस्थान भी साधर्म्य करके वादी द्वारा उपसंहार किये जानेपर पुनः प्रतिवादी द्वारा वैधर्म्य करके प्रत्यवस्थान उठा देनेसे वैधर्म्यसम नामका प्रतिषेध है। यह भी पूर्वके समान दूषणाभास समझ लेना चाहिये। अर्थात्—गोत्वसे या अश्व आदिके वैधर्म्यसे जैसे गायकी सिद्धि कर ली जाती है, उसी प्रकार यहां भी समीचीन क्रिया हेतु गुणाश्रयत्व हेतुसे क्रियावत्त्व साध्यकी सिद्धि कर दी जाती है। जो दोष साध्य और साधनकी व्याप्तिका विच्छेद नहीं कर सकता है, वह दोष नहीं है किन्तु दोषाभास है।

का पुनर्वैधर्म्यसमा जातिरित्याह।

न्यायभाष्यके अनुसार दूसरे प्रकारकी वैधर्म्यसमा जाति फिर क्या है ? इस प्रकारकी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उन ग्रन्थोंका अनुवाद करते हुये स्पष्ट कथन करते हैं।

वैधर्म्येणोपसंहारे साध्यधर्मविपर्ययात्।
वैधर्म्येणेतरेणापि प्रत्यवस्थानमिष्यते ॥ ३२९ ॥
या वैधर्म्यसमा जातिरिदं तस्या निदर्शनम्।
नरो निष्क्रिय एवायं विभुत्वात्सक्रियं पुनः ॥ ३३० ॥
विभुत्वरहितं दृष्टं लोष्ठादि न तथा नरः।
तस्मान्निष्क्रिय इत्युक्ते प्रत्यवस्था विधीयते ॥ ३३१ ॥
वैधर्म्येणैव सा तावत्कैश्चिन्निग्रहभीरुभिः।
द्रव्यं नभः क्रियाहेतु गुणरहितं समीक्षितं ॥ ३३२ ॥

नैवमात्मा ततो नायं निष्क्रियः संप्रतीयते ।
साधर्म्येणापि तत्रैवं प्रत्यवस्थानमुच्यते ॥ ३३३ ॥
क्रियावानेव लोष्ठादिः क्रियाहेतुगुणाश्रयः ।
दृष्टास्तादृक्स जीवोपि तस्मात्सक्रिय एव सः ॥ ३३४ ॥
इति साधर्म्यवैधर्म्यसमयोर्दूषणोद्भवात् ।
सधर्मत्वविधर्मत्वमात्रात्साध्यप्रसिद्धितः ॥ ३३५ ॥

वादीद्वारा वैधर्म्यकरके पक्षमें साध्य व्याप्य हेतुका उपसंहार किया जा चुकनेपर पुनः प्रतिवादीद्वारा साध्यधर्मके विपर्ययकी उपपत्ति हो जानेसे वैधर्म्य करके और उससे दूसरे हो रहे साधर्म्यकरके भी जो प्रत्यवस्थान दिया जाता है, वह वैधर्म्यसमा जाति इष्ट की गयी है । उसका दृष्टान्त यह है कि यह आत्मा (पक्ष) क्रियारहित ही है (साध्य) । क्योंकि आत्मा सर्वत्र व्यापक है (हेतु) । जो भी कोई पदार्थ फिर क्रियासहित देखा गया है, वह व्यापकपनसे रहित है । जैसे कि ढेल, बाण, बन्दूककी गोली, दौड रहा घोडा आदि पदार्थ मध्यम परिमाणवाले अव्यापक हैं । तिस प्रकारका अव्यापक आत्मा नहीं है । तिस कारणसे आत्मा क्रियारहित है । इस प्रकार वादीद्वारा वैधर्म्यकरके उपसंहार कह चुकनेपर निग्रह (पराजय) स्थानसे भय खा रहे किन्हीं प्रतिवादियोंके द्वारा वैधर्म्यकरके ही जो दूषण देना रूप क्रिया की जाती है कि आकाश द्रव्य तो क्रियाहेतुगुणोंसे रहित भले प्रकार देखा गया है । इस प्रकारका आत्मा द्रव्य तो क्रियाहेतु गुणरहित नहीं है । तिस कारणसे यह आत्मा क्रिया रहित नहीं है । यों भले प्रकार प्रतीत हो रहा है । क्रियावान्के वैधर्म्यसे आत्मा निष्क्रिय तो हो जाय, किन्तु फिर क्रियारहितके वैधर्म्यसे आत्मा क्रियावान् नहीं होय इसका नियामक कोई वादीके पास विशेष हेतु नहीं है । यों प्रतिवादी कटाक्ष झाड रहा है, यह वादीद्वारा वैधर्म्य करके आत्माके क्रियारहितपनका विभुत्वहेतुसे उपसंहार किया जा चुकनेपर प्रतिवादीद्वारा वैधर्म्यकरके आत्माको सक्रिय साधनेवाले वैधर्म्यसमका उदाहरण हुआ । अब साधर्म्यकरके प्रतिवादीद्वारा प्रत्यवस्थान उठाये जानेका उदाहरण कहा जाता है कि उस ही वादीके अनुमानमें यानी आत्मा क्रियारहित है, व्यापक होनेसे, यहां प्रतिवादीद्वारा साधर्म्यकरके भी इस प्रकार प्रत्यवस्थान कहा जाता है, क्रियावान् हो रहे ही ढेल, गोली आदिक पदार्थ क्रियाहेतुगुणोंके आधार देखे जाते हैं, उसी प्रकार वह प्रसिद्ध आत्मा भी क्रिया हेतु गुणोंका आश्रय है । तिस कारण वह आत्मा क्रियावान् ही है । इसमें कोई विशेषता नहीं है कि वादी करके कहे गये क्रियावान्के वैधर्म्य विभुत्वसे आत्मा आकाशके समान निष्क्रिय तो होजाय किन्तु फिर प्रतिवादी करके कहे गये

क्रियावान्‌के साधर्म्य क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वसे आत्मा डेलके समान क्रियावान् नहीं होवे, इस पक्षपात ग्रस्तके नियमको बनानेके लिये वादीके पास कोई विशेष हेतु नहीं है। यह सूत्र और भाष्यके अनुसार पहिले साधर्म्यसमा और अब वैधर्म्यसमा जातिका उदाहरणसहित लक्षण कह दिया गया है। नैयायिक इन दोनों जातियोंमें अनेक दूषणोंके उत्पन्न हो जानेसे इनको असत् उत्तर मानते हैं। क्योंकि किसीके केवल सदृशधर्मापन या विसदृश धर्मापनसे ही किसी साध्यकी भले प्रकार सिद्धि नहीं हो जाती है। अतः प्रतिवादीका उत्तर प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता है।

अथोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमा साभासा विधीयंते।

इन दो जातियोंके निरूपण अनन्तर अब गौतमसूत्र अनुसार दोष आभास सहित हो रहीं उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा साध्यसमा, इन छह जातियोंका कथन किया जाता है। अर्थात्—पहिले इन जातियोंका कथन कर पश्चात् साथ ही (लगे हाथ) इन प्रतिवादीके द्वारा दिये गये दूषणोंका दूषणाभासपना भी सिद्ध करदिया जायगा। नैयायिकोंको हमने कहनेका पूरा अवसर दे दिया है। वे अपने मनो अनुकूल जातियोंका असमीचीन उत्तरपना बखान रहे हैं। हम जैन भी शिष्योंकी बुद्धिको विशद करनेके लिये वैसाका वैसा ही यहां श्लोकवार्तिक ग्रन्थमें कथन कर देते हैं। सो सुनलीजियेगा।

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुद्भयसाध्यता।
सद्भावाच्च मता जातिरुत्कर्षेणापकर्षतः ॥ ३३६ ॥
वर्ण्यावर्ण्यविकल्पैश्च साध्येन च समाः पृथक्।
तस्याः प्रतीयतामेतल्लक्षणं सनिदर्शनम् ॥ ३३७ ॥

साध्य और दृष्टान्तके विकल्पसे अर्थात्—पक्ष और दृष्टान्तमेंसे किसी भी एकमें धर्मकी विचित्रतासे तथा उभयके साध्यपनका सद्भाव हो जानेसे उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा ये छह जातियां पृथक् पृथक् मान ली गयी हैं। अर्थात्—पक्ष और दृष्टान्तके धर्मविकल्पसे तो पहिली पांच जातियां उठायी जाती हैं। और पक्ष, दृष्टान्त, दोनोंके हेतु आदिक धर्मोको साध्यपना करनेसे छठी साध्यसमाजाति उत्थित होती है। प्रकृतमें साध्य और साधनेमें से किसी भी एक विकल्पसे यानी सद्भावसे जो अविद्यमान हो रहे धर्मका पक्षमें आरोप करना है, वह उत्कर्षसमा है। जैसे कि शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य)। कृतक होनेसे (हेतु) घटके समान (अन्वय दृष्टान्त) इस प्रकार वादी द्वारा स्थापना होनेपर प्रतिवादी कहता है कि घटमें अनित्यपनके साथ जो कृतकत्व रहता है, वह

तो रूपके साथ ठहरा हुआ है। अतः दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे शब्द भी रूपवान् हो जायगा और तैसा हो जानेपर विवक्षित पदार्थसे विपरीत अर्थका साधन हो जानेसे यह हेतु विशेष विरुद्ध हो जायगा। यह कथन विरुद्ध हेत्वाभास रूप हुआ। इसी प्रकार श्रवण इन्द्रियसे जाने जा रहे शद्बके साधर्म्य हो रहे कृतकत्व धर्मसे घट भी कर्ण इन्द्रियग्राह्य हो जाओ। कोई विशेषता नहीं है। यों पक्ष (शद्ब) दृष्टान्त (घटमें) विशेष धर्मोंके बढा देनेसे उत्कर्षसमा जाति हो जाती है। तथा अपकर्षसमा जातिमें तो साध्य और दृष्टान्तके सहचरित धर्मका विकल्प यानी असत्त्व दिखाया जाता है। तिस कारणसे अपकर्षसमा जाति तो हेतु और साध्यमेंसे अन्यतरके अभावका प्रसंग देना स्वरूप है। जैसे कि शद्ब अनित्य है। कृतक होनेसे इस प्रकार वादी द्वारा कह चुकनेपर प्रतिवादी कहता है कि घटमें अनित्यपनके साथ वर्त रहे कृतकत्व धर्मसे यदि शद्बको अनित्य साधा जाता है, तब तो घटके कृतकत्व और अनित्यत्वके सहचारी रूप गुणकी शद्बमें व्यावृत्ति हो जानेसे शद्बमें कृतकत्व और अनित्यत्वकी भी व्यावृत्ति हो जावेगी। कृतकत्वकी व्यावृत्ति हो जानेसे हेतु स्वरूपासिद्ध हो जायगा और शद्बमें अनित्यत्वकी व्यावृत्ति हो जानेसे बाध हेत्वाभास भी सम्भवता है। यह पक्षमें धर्मका विकल्प किया गया है। इसी प्रकार अपकर्षसमाके लिये दृष्टान्तमें धर्मका विकल्प यों करना चाहिये कि शद्बमें कृतकत्वके साथ श्रवणइन्द्रियग्राह्यत्व धर्म रहता है। और संयोग, विभाग आदिमें अनित्यत्व और कृतकत्वके साथ गुणत्व रहता है। किन्तु घटमें श्रावणत्व और गुणत्व दोनों नहीं हैं। तिस कारण घटमें अनित्यत्व और कृतकत्व भी व्यावृत्त हो जायंगे। इस प्रकार दृष्टान्तमें साध्य धर्मकी विकलता और साधन धर्मकी विकलतारूप देशनाभास यह जाति हुई। यदि कोई यों कहे कि वैधर्म्यसमाका इस अपकर्षमासमें ही अन्तर्भाव हो जायगा। इसपर नैयायिक यों उत्तर देते हैं कि दोषवान् पदार्थके एक होनेपर भी उसमें दोष अनेक सम्भव जाते हैं। उपाधियुक्तका सांकर्य होनेपर भी उपाधियोंका सांकर्य नहीं है। वर्ण्यसमामें उक्त दृष्टान्त अनुसार यों कहा जाता है कि यदि शब्द अनित्य है, इस प्रकार वर्णन करने योग्य साधा जा रहा है, तब तो घट आदि दृष्टान्त भी साध्य यानी पक्ष हो जाओ। इस प्रकार साध्यधर्मका संदेह हो जानेसे साध्य और दृष्टान्तमें धर्मके विकल्पसे यह पांच जातियोंका मूललक्षण यहां भी घटित हो जाता है। साध्यके वर्ण्यत्वको यानी पक्षके संदिग्धसाध्यकत्वको दृष्टान्तमें आपादन करना वर्ण्यसमा है। इसका अर्थ यह है कि पक्षमें वृत्ति जो हेतु होगा वही तो साध्यको समझानेवाला ज्ञापकहेतु हो सकेगा। किन्तु पक्ष तो यहां सन्दिग्ध साध्यवान् है। और तिसी प्रकार सन्दिग्धसाध्यवालेमें वर्तरहा हेतु तुमको दृष्टान्तमें भी स्वीकार करना चाहिये। और तिस प्रकार होनेपर दृष्टान्तको भी सन्दिग्ध साध्यवान्पना हो जानेके कारण हेतुकी सपक्ष और विपक्षमें वृत्तिताका निश्चय नहीं होनेसे यह असाधारण हेत्वाभास है। यह नियम है कि दृष्टान्तमें हेतु निश्चित साध्यके साथ ही रहना

चाहिये । किन्तु जब यह हेतु सन्दिग्धसाध्यवालेमें वर्त रहा है तो दृष्टान्त साध्यसद्भाव संशयग्रस्त होगया । तथा सन्दिग्धसाध्यवान् में वर्तरहा हेतु यदि दृष्टान्तमें नहीं है, तब तो गमक हेतुका अभाव हो जानेसे दृष्टान्त साधनविकल हो जायगा । यह दोष है । यों प्रतिवादीका अन्तरंग अभिप्राय है । अवर्ण्यसमामें तो जैसे घट आदिक व्यापनीय नहीं है वैसे ही शद्व भी अवर्ण्य रहो । कोई विशेषता नहीं है । इस प्रकार साध्य यानी शद्व आदि पक्षमें दृष्टान्तवृत्ति हेतुका सर्वथा सादृश्य आपादन किया जाता है । अर्थात्—साध्यकी सिद्धिवाले दृष्टान्तमें जो हेतु है, यदि वही हेतु पक्षमें नहीं वर्तेगा तो ज्ञापक हेतुके नहीं ठहरनेसे स्वरूपासिद्ध दोष हो जायगा । अतः तिस प्रकारका (हूबहू) हेतु पक्षमें स्वीकार करलेना चाहिये और तैसा होनेपर संदिग्ध साध्यवान् पक्ष यह पक्षका लक्षण घटित नहीं होता है । अतः वादीका हेतु आश्रयासिद्धि दोषसे दूषित हुआ समझा जायगा । वृत्तिकारका स्पष्ट कथन यह है कि निश्चितरूपसे सिद्ध हो रहे साध्यको धारनेवाले दृष्टान्तमें जो धर्म यानी हेतु है, उसके सद्भावसे शद्व आदि पक्षमें असंदिग्ध साध्यवान्पनेका आपादन कर अवर्ण्यसमा है । दृष्टान्तमें जैसे (निश्चित साध्यवान् वृत्ति) हेतु होगा वैसा हेतु ही पक्षमें ठहर कर साध्यका गमक हो सकेगा । यदि दृष्टान्तमें जो हेतु निश्चित साध्यवालेमें वर्त रहा है, वह हेतु पक्षमें नहीं माना जायगा तो स्वरूपासिद्धि दोष लग बैठेगा और हेतुके मान लेनेपर संदिग्ध साध्यवान् पक्ष नहीं बननेसे आश्रयासिद्धि दोष लग जाता है । तथा पांचवी (यहां) सातवीं (पहिलीसे) विकल्पसमा जातिमें तो मूललक्षण यों घटाना चाहिये कि पक्ष और दृष्टान्तमें जो धर्म उसका विकल्प यानी विरुद्ध कल्प व्यभिचारीपन आदिकसे प्रसंग देना है, यह विकल्पसमाके उत्थानका बीज है । चाहे जिस किसी भी धर्मका कहीं भी व्यभिचार दिखलाने करके धर्मपनकी अविशेषतासे प्रकरण प्राप्त हेतुका भी प्रकरणप्राप्त साध्यके साथ व्यभिचार दिखला देना विकल्पसमा है । जैसे कि शद्व अनित्य है, कृतक होनेसे, इस प्रकार वादीके कह चुकनेपर यहां प्रतिवादी कहता है कि कृतकत्वका गुरुत्वके साथ व्यभिचार देखा जाता है । घट, पट, पुस्तक, आदिमें कृतकत्व है । साथमें भारीपन भी है । किन्तु बुद्धि, दुःख, द्वित्व, भ्रमण, मोक्ष, आदिमें कृतकपना होते हुये भी गुरुत्व (भारीपन) नहीं है और गुरुत्वका अनित्यके साथ व्यभिचार देखा जाता है । यद्यपि नैयायिक वैशेषिक सिद्धान्त अनुसार गुरुत्वका अनित्यत्वके साथ व्यभिचार दिखलाना कठिन है । " गुरुणी द्वे रसवती " पृथ्वी और जलमें ही गुरुत्व माना गया है । भले ही पृथ्वी परमाणु और जलीय परमाणुओंमें अनित्यत्वके नहीं रहते हुये भी गुरुत्व मान किया जाय । वस्तुतः विचारनेपर परमाणुओंमें गुरुत्व नहीं सिद्ध हो सकेगा । अस्तुः । तथा अनित्यत्वका मूर्तत्वके साथ मन या पृथ्वी, जल आदिकी परमाणुओंमें व्यभिचार देखा जाता है । जब कि धर्मपनकी अपेक्षा कृतकत्व, अनित्यत्वमें कोई विशेषता नहीं है, तो कृतकत्व भी अनित्यत्वका व्यभिचार कर लेवें । इस प्रकार यह वादीके हेतुपर विकल्पसमामें अनेकान्तिक हेत्वाभास चक्र देकर प्रतिवादीद्वारा उठाया गया है । छट्ठी या आठवी साध्यसमा जाति तो साध्यधर्मका दृष्टान्तमें

प्रसंग देनेसे अथवा पक्ष और दृष्टान्त दोनोंके धर्म हेतु आदिके साध्यपनसे उठादी जाती है। उसका उदाहरण यों है कि जैसे घट है, तैसा शब्द है, तब तो जैसा यह शब्द है, तैसा घट भी अनित्य हो जाय। यह कह दिया जाय यदि शब्द साध्य है, तिस प्रकार घट भी साध्य हो जाओ। यदि घडा अनित्य साधने योग्य नहीं है, तो शब्द भी अनित्य साधने योग्य नहीं होवे। अथवा कोई अन्तर दिखलाओ। यह साध्यसम है, एक प्रकार आश्रयासिद्ध हेत्वाभास समझना चाहिये। इस ढंगसे नैयायिकोंके यहां उत्कर्षकरके अपकर्षकरके वर्ण्यकरके अवर्ण्यकरके विकल्पकरके और साध्यकरके सम हो रही पृथक् पृथक् छह जातियां हैं। उनका लक्षण दृष्टान्तसहित यह समझ लेना चाहिये। श्री विश्वनाथ पंचाननने स्वकीय वृत्तिमें उक्त प्रकार विवरण किया है।

यदाह, साध्यदृष्टांतयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमा इति।

जो ही न्यायसूत्रकार गौतमने उत्कर्षसमा आदि छह जातियोंके विषयमें यों सूत्र कहा है कि साध्य और दृष्टान्तमें धर्मका विकल्प करनेसे अथवा उभयको साध्यपना करनेसे उत्कर्षसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा इस प्रकार छह जातियोंका लक्षण बन जाता है।

तत्रोत्कर्षसमा तावल्लक्षणतो निदर्शनतश्चापि विधीयते।

उन छहोंमें पहिले पढी गयी उत्कर्षसमा जातिका लक्षणसे और दृष्टान्त कथन करनेसे भी अब विधान किया जाता है।

दृष्टांतधर्मं साध्यार्थे समासंजयतः स्मृता।
तत्रोत्कर्षसमा यद्वत्क्रियावज्जीवसाधने ॥ ३३८ ॥
क्रियाहेतुगुणासंगी यद्यात्मा लोष्ठवत्तदा।
तद्वदेव भवेदेष स्पर्शवानन्यथा न सः ॥ ३३९ ॥

न्यायभाष्यकार उत्कर्षसमाका लक्षण दृष्टान्तसहित यों कहते हैं कि दृष्टान्तके धर्मको अधिकपने करके साध्यरूप अर्थमें भले प्रकार प्रसंग करा रहे प्रतिवादीके ऊपर उत्कर्षसमा जाति उठायी जाय, यह प्रक्रिया प्राचीन ऋषि आम्नायसे चली आ रही है। जिस प्रकार कि उस ही प्रसिद्ध अनुमानमें जीवको क्रियावान् साधनेपर यों प्रसंग उठाया जाता है कि क्रियाके हेतु हो रहे गुणोंका सम्बन्धी आत्मा यदि डेलके समान क्रियावान् है, तो उस ही डेलके समान यह आत्मा स्पर्शगुणवाला भी प्राप्त हो जाता है। अन्यथा यानी आत्मा डेलके समान यदि स्पर्शवान् नहीं है, तो वह आत्मा डेलके समान क्रियावान् भी नहीं हो सकेगा, यह उत्कर्षसमा जाति है।

दृष्टांतधर्मं साध्ये समासंजयतः स्मृतोत्कर्षसमा जातिः स्वयं, यथा क्रियावानात्मा-क्रियाहेतुगुणयोगाल्लोष्ठवत् इत्यत्र क्रियावज्जीवसाधने प्रोक्ते सति परः प्रत्यवतिष्ठते। यदि क्रियाहेतुगुणासंगी पुमांल्लोष्ठवत्तदा लोष्ठवदेव स्पर्शवान् भवेत्। अथ न स्पर्शवांल्लोष्ठवदात्मा क्रियावानपि न स स्यादिति विपर्यये वा विशेषो वाच्य इति।

वार्तिकोंमें कहे गये न्यायभाष्य उक्तका ही विवरण जैनों द्वारा इस प्रकार लिखा जाता है कि दृष्टान्तके अतिरिक्त धर्मका साध्य (पक्ष) में भले प्रकार प्रसंग दे रहे प्रतिवादीके ऊपर स्वयं उत्कर्षसमा जाति उठ बैठी यानी चली आ रही है। जैसे कि आत्मा (पक्ष) क्रियावान् है (साध्य)। क्रियाके सम्पादक कारण गुणोंका संसर्गी होनेसे (हेतु) उछलते, गिरते हुये डेलके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार यहां अनुमानमें वादी द्वारा जीवके क्रियासहितपनका भले प्रकार साधन कह चुकनेपर दूसरा प्रतिवादी प्रत्यवस्थान उठाता है कि क्रिया हेतु गुणोंका सम्बन्धी आत्मा यदि डेलके समान क्रियावान् है,तो डेलके समान ही स्पर्शवान् हो जाओ। अब वादी यदि आत्माको डेलके समान स्पर्शवान् नहीं मानना चाहेगा तब तो वह आत्मा उसी प्रकार क्रियावान् भी नहीं हो सकेगा। ऐसी दशामें भी यदि वादी आत्माको क्रियावान् ही अकेला माने स्पर्शवान् स्वीकार नहीं करे तो इस विपरीत मार्गके अवलम्बमें उस वादीको कोई विशेष हेतु कहना चाहिये। यहांतक उत्कर्षसमा जाति न्यायभाष्य अनुसार कह दी गयी।

का पुनरपकर्षसमेत्याह।

फिर यह बताओ कि वह अपकर्षसमा जाति क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी न्यायभाष्य अनुसार अनुवाद करते हुये वार्तिकको कहते हैं।

साध्यधर्मिणि धर्मस्याभावं दृष्टांततो वदन्।
अपकर्षसमां वक्ति जातिं तत्रैव साधने ॥ ३४० ॥
लोष्ठः क्रियाश्रयो दृष्टोऽविभुः कामं तथास्तु ना।
तद्विपर्ययपक्षे वा वाच्यो हेतुर्विशेषकृत् ॥ ३४१ ॥

साधने योग्य साध्यविशिष्ट धर्मीमें दृष्टान्त की सामर्थ्यसे अविद्यमान हो रहे धर्मके अभावको कह रहा प्रतिवादी अपकर्षसमा नामकी जातिको स्पष्ट कह रहा है। जैसे कि उस ही प्रसिद्ध अनुमानमें आत्माका क्रियासहितपना वादी द्वारा साधे जानेपर दूसरा प्रतिवादी प्रत्यवस्थान उठाता है कि क्रियाका आश्रय डेल तो अव्यापक देखा गया है। उसी प्रकार आत्मा भी तुम्हारे मनोनुकूल अव्यापक हो जाओ। यदि तुमको विपरीत पक्ष अभीष्ट है, यानी कि डेल दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे

आत्मामें अकेली क्रिया ही तो मानी जाय, किन्तु अव्यापकपना नहीं माना जाय, इसमें विशेषताको करनेवाला कोई हेतु तुमको कहना चाहिये। विशेषक हेतुके नहीं कहनेपर आत्माका अव्यापकपन टल नहीं सकेगा, जो कि अव्यापकपन सम्भवतः तुमको अभीष्ट नहीं पडेगा।

तत्रैव क्रियावज्जीवसाधने प्रयुक्ते सति साध्यधर्मिणि धर्मस्याभावं दृष्टांतात् समासंजयन् यो वक्ति सोपकर्षसमाजातिं वदति। यथा लोष्ठः क्रियाश्रयोऽसर्वगतो दृष्टस्तद्वदात्मा सदाप्यसर्वगतोस्तु विपर्यये वा विशेषकृद्धेतुर्वाच्य इति।

वहां ही परार्थानुमानमें वादीद्वारा समीचीन या असमीचीन हेतुकरके क्रियावान् जीवके साधनेका प्रयोग प्राप्त होनेपर जो प्रतिवादी साध्य धर्मीमें धर्मके अभावको दृष्टान्तसे भले प्रकार प्रसंग करा रहा बक रहा है, वह अपकर्षसमाजातिको स्पष्टरूपसे यों कह रहा है। जैसे कि लोष्ठ क्रियावान् हो रहा अव्यापक देखा गया है, उसीके समान आत्मा भी सर्वदा असर्वगत हो जाओ अथवा विपरीत माननेपर कोई विशेषताको करनेवाला कारण बतलाना चाहिये। जिससे कि डेलका एक धर्म तो आत्मामें मिलता रहे और डेलका दूसरा धर्म आत्मामें नहीं ठहर सके। यहांतक अपकर्षसमा जाति कह दी गयी।

वर्ण्यावर्ण्यसमौ प्रतिषेधौ कावित्याह।

अब वर्ण्यसम और अवर्ण्यसम प्रतिषेध कौन है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर इन दो प्रतिषेधों (जाति) को श्री विद्यानन्द आचार्य स्वकीय वार्त्तिकोंद्वारा इस प्रकार कहते हैं, सो सुनिये।

ख्यापनीयो मतो वर्ण्यः स्यादवर्ण्यो विपर्ययात्।
तत्समा साध्यदृष्टान्तधर्मयोरत्र साधने ॥ ३४२ ॥
विपर्यासनतो जातिर्विज्ञेया तद्विलक्षणा।
भिन्नलक्षणतायोगात्कथंचित्पूर्वजातिवत् ॥ ३४३ ॥

चतुरंगवादमें प्रसिद्ध कर कथन करने योग्य ख्यापनीय तो यहां वर्ण्य माना गया है। और ख्यापनीयके विपर्ययसे जो अवर्णनीय धर्म है, वह अवर्ण्य माना जाता है। जैसे कि यहां अनुमानमें जीवका क्रियासहितपना साधनेपर साध्य और दृष्टान्तके धर्मोंका विपर्यास कर देनेसे उस वर्ण्यकरके और अवर्ण्यकरके सम यानी प्रतिषेधको प्राप्त हो रही वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जाति समझनी चाहिये। ये दोनों जातियां उस उत्कर्षसमा और अपकर्षसमासे विभिन्न हो रही विलक्षण हैं। क्योंकि कथंचित् भिन्न भिन्न लक्षणोंका सम्बन्ध होजानेसे पूर्वकी साध्यसमा वैधर्म्यसमा जातियां इन उत्कर्षसमा, अपकर्षसमासे विभिन्न हैं।

ख्यापनीयो वर्ण्यस्तद्विपर्ययादख्यापनीयः पुनरवर्ण्यस्तेन वर्ण्येनावर्ण्येन च समा जाति-र्वर्ण्यसमावर्ण्यसमा च विज्ञेया । अत्रैव साधने साध्यदृष्टान्तधर्मयोर्विपर्यासनात् । उत्कर्षा-पकर्षसमाभ्यां कुतोनयोर्भेद इति चेत्, लक्षणभेदात् । तथाहि—अविद्यमानधर्मव्यापक उत्कर्षः विद्यमानधर्मापनयोऽपकर्षः । वर्ण्यस्तु साध्योऽवर्ण्योऽसाध्य इति तत्प्रयोगाज्जातयो विभि-न्नलक्षणाः साधर्म्यवैधर्म्यसमवत् ।

न्यायभाष्यकार कहते हैं कि ख्यापनीय यहां वर्ण्य है । और उसके विपरीतपनेसे अख्याप-नीय तो फिर अवर्ण्य कहा गया है । उस वर्ण्य और अवर्ण्यकरके जो समीकरण करनेके लिये प्रयोग है, वह वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जाति विशेषरूपसे जान लेनी चाहिये । यहां ही आत्मा क्रियावान् है, ऐसा साधनेपर साध्य और दृष्टान्तके धर्मके विपर्याससे उक्त जातियां हो जाती है । यदि कोई यहां यों पूछे कि इन जातियोंका पहिले उत्कर्षसमा और अपकर्षसमासे भेद भला किस कारणसे है ? इस प्रकार प्रश्न उठानेपर तो नैयायिकोंका उत्तर यों है कि लक्षणोंका भेद होनेसे इनका उनका भेद प्रसिद्ध ही है । उसीको स्पष्ट कर यों समझ लीजियेगा कि पक्षमें अविद्यमान हो रहे धर्मको पक्षमें व्याप्त करनेका प्रसंग देना उत्कर्ष है । और विद्यमान हो रहे धर्मका पक्षमेंसे अलग कर देना अपकर्ष है । किन्तु वर्ण्य तो साधने योग्य होता है और अवर्ण्य असाध्य है । अर्थात्—दृष्टान्तमें संदिग्धसाध्यसहितपनेका आपादन करना वर्ण्यसमा है । और पक्षमें असंदिग्ध साध्यसहितपनका प्रसंग देना अवर्ण्यसमा है । इस प्रकार इनमें अन्तर है । उन भिन्न लक्षणोंका प्रकृष्ट सम्बन्ध हो जानेसे जातियां भी भिन्न भिन्न अनेक लक्षणोंको धारती हुई साधर्म्यसम और वैधर्म्यसमके समान न्यारी न्यारी मानी जाती हैं । सभी दार्शनिकोंने भिन्न लक्षणपनेको विभिन्नताका साधन इष्ट किया है ।

साध्यधर्मविकल्पं तु धर्मांतरविकल्पतः ।
प्रसंजयत इष्येत विकल्पेन समा बुधैः ॥ ३४४ ॥
क्रियाहेतुगुणोपेतं किंचिद्गुरु समीक्ष्यते ।
परं लघु यथा लोष्ठो वायुश्चेति क्रियाश्रयं ॥ ३४५ ॥
किंचित्तदेव युज्येत यथा लोष्ठादि निष्क्रियं ।
किंचिन्न स्याद्यथात्मेति विशेषो वा निवेद्यताम् ॥ ३४६ ॥

न्यायभाष्यकारने विकल्पसमाका लक्षण यों किया है कि साधनधर्मसे युक्त हो रहे दृष्टान्तमें

धर्मान्तरके विकल्पसे साध्यधर्मके विकल्पका प्रसंग हो रहे प्रतिवादीके ऊपर तो विद्वानों करके विकल्पसमा जातिका उठाया जाना इष्ट किया गया है। उसका दृष्टान्त यों है कि हेतु गुणोंसे युक्त हो रहा कोई एक पदार्थ तो भारी देखा जाता है। जैसे कि ढेल या गोली है। और क्रिया हेतु गुणके आश्रय कोई कोई पदार्थ गुरु नहीं देखा जाता है। यानी हलका विचार किया जाता है। जैसे कि वायु है। उसीके समान कोई पदार्थ क्रियाहेतुगुणाश्रय होते हुये क्रियावान् हो जायंगे, जैसे कि लोष्ठ आदिक हैं। और कोई कोई क्रियाहेतुगुणाश्रय होते हुये भी क्रियारहित बने रहेंगे,जैसे कि आत्मा है। यह युक्त प्रतीत होता है। यदि कोई वादीको इसमें विशेषता दीख रही होय और वे आत्माको निष्क्रिय नहीं कहना चाहें तो वे विशेषहेतुका निवेदन करें। अन्यथा उनकी बात नहीं मानी जा सकेगी। भावार्थ–ढेल और वायुका हलके, भारीपनसे द्वैविध्य माननेवालेको ढेल और आत्माका सक्रिय, निष्क्रियपनेसे द्वैविध्य मानना स्वतः प्राप्त हो जाता है। यहां जैनोंका अभिमत इतना अधिक जान लेना चाहिये कि नैयायिक तो पृथ्वी और जलमें ही गुरुत्वको मानते हैं। किन्तु जैन विद्वान् स्कन्धस्वरूप अग्नि और वायुमें भी भारीपन अभीष्ट करते हैं। विज्ञान भी इस विषयका साक्षी है।

विकल्पो विशेषः साध्यधर्मस्य विकल्पः साध्यधर्मविकल्पस्तं धर्मांतरविकल्पात्प्रसंजयतस्तु विकल्पसमा जातिः तत्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते। क्रियाहेतुगुणोपेतं किंचिद्गुरु दृश्यते यथा लोष्ठादि किंचित्तु लघु समीक्ष्यते यथा वायुरिति। तथा क्रियाहेतुगुणोपेतमपि किंचित्क्रियाश्रयं युज्यते यथा लोष्ठादि, किंचित्तु निष्क्रियं यथात्मेति वर्ण्यावर्ण्यसमाभ्यामियं भिन्ना तत्रैवं प्रत्यवस्थानाभावात् वर्ण्यावर्ण्यसमयोर्ह्येवं प्रत्यवस्थानं, यथात्मा क्रियावान् वर्ण्यः साध्यस्तदा लोष्ठादिरपि साध्योस्तु। अथ लोष्ठादिरवर्ण्यस्तर्ह्यात्माप्यवर्ण्योस्तु, विशेषो वा वक्तव्य इति। विकल्पसमायां तु क्रियाहेतुगुणाश्रयस्य गुरुलघुविकल्पवत्सक्रियनिष्क्रियत्वविकल्पोस्त्विति प्रत्यवस्थानं। अतोसौ भिन्ना।

उक्त वार्तिकोंमें कही गयी विकल्पसमाका मूल व्याख्यान इस प्रकार न्यायभाष्यमें लिखा है कि विकल्पसमा जातिमें पड़े हुये विकल्प शब्दका अर्थ विशेष है। साध्यधर्मका जो विकल्प है। वह साध्यधर्मविकल्प कहा जाता है। उस साध्यधर्म विकल्पको अन्य धर्मके विकल्पसे प्रसंग कर प्रत्यवस्थान उठानेवाले प्रतिवादीके तो विकल्पसमा जाति लागू हो जाती है। जैसे कि वहां ही आत्माके क्रियावत्त्वको साधनेके लिये हेतुका प्रयोग किये जानेपर दूसरा प्रतिवादी प्रत्यवस्थान देता है कि क्रिया हेतुगुणसे युक्त हो रहा कोई पदार्थ तो भारी देखा जाता है। जैसे कि ढेल, इञ्जन, बाण, आदिक हैं और क्रियाहेतु गुणोंसे युक्त हो रहा तो कोई कोई पदार्थ हलका देखा जा रहा है। जैसे कि

वायु है । तिस ही प्रकार क्रियाहेतुगुणोंसे सहित हो रहा भी कोई पदार्थ तो क्रियावान् हो जाय यह ठीक है । जैसे कि ढेल आदि हैं । क्रियाहेतुगुणसे उपेत होता संता भी कोई पदार्थ क्रियारहित बना रहो । जैसे कि आत्मा है । यह विकल्पसमा जाति हुई । यह विकल्पसमा जाति पहिली वर्ण्यसमा जातियोंसे पृथक् ही है । क्योंकि वहां इस प्रकारका प्रत्यवस्थान देना नहीं पाया जाता है । देखिये, वर्ण्यसमा अवर्ण्यसमामें तो इस प्रकारका प्रत्यवस्थान है कि आत्मा क्रियावान्, यों वर्णनीय होता हुआ, यदि साध्य बनाया गया है तो ढेल, गोला आदि दृष्टान्त भी साध्य बना लिये जाओ । अब लोष्ठ आदिक तो वर्णनीय नहीं है, तो आत्मा भी अख्यापनीय बना रहो । अथवा आत्मा और ढेलमें कोई विपरीतपनकी विशेषता होय तो उस विशेषको सबके सन्मुख (सामने) कहना चाहिये । किन्तु इस विकल्पसमामें तो क्रियाहेतुगुणोंके अधिकरण हो रहे द्रव्योंके भारीपन, हलकापन पन विकल्पोंके समान क्रियासहितपन और क्रियारहितपनका विकल्प हो जाओ । इस प्रकार प्रत्यवस्थान उठाया गया है । इस कारणसे यह (वह) विकल्पसमा जाति उन वर्ण्यसमासे भिन्न ही है ।

का पुनः साध्यसमेत्याह ।

साध्यसमा जाति फिर क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज न्याय भाष्यका अनुवाद करते हुए समाधान कहते हैं ।

हेत्वादिकागसामर्थ्ययोगी धर्मोवधार्यते ।
साध्यस्तमेव दृष्टांते प्रसंजयति यो नरः ॥ ३४७ ॥
तस्य साध्यसमा जातिरुद्भाव्या तत्त्ववित्तकैः ।
यथा लोष्टस्तथा चात्मा यथात्मायं तथा न किम् ॥ ३४८ ॥
लोष्ठः स्यात्सक्रियश्चात्मा साध्यो लोष्ठोपि तादृशः ।
साध्योस्तु नेति चेल्लोष्ठो यथात्मापि तथा कथं ॥ ३४९ ॥

साध्यमें साध्यका अर्थ तो हेतु, पक्ष, आदिक अनुमानांगोंकी सामर्थ्यसे युक्त हो रहा धर्म निर्णीत किया जाता है । उस ही साध्यको जो प्रतिवादी मनुष्य दृष्टान्तमें प्रसंग देनेकी प्रेरणा करता है, उस मनुष्यके ऊपर जिनके विद्या ही धन है, अथवा जो प्रकाण्ड तत्त्ववेत्ता विद्वान् हैं, उन करके साध्यसमा जाति उठानी चाहिये । वह मनुष्य कहता है कि यदि जिस प्रकारका लोष्ठ है, उस प्रकारका आत्मा प्राप्त हो जाता है, तो जैसा आत्मा है वैसा लोष्ठ क्यों नहीं हो जावे ? यदि आत्मा क्रियावान् होता हुआ साध्य हो रहा है, तो ढेल भी तिस प्रकारका क्रियावान् साध लिया जाओ ।

यदि लोष्ठको क्रियावान् साधने योग्य जिस प्रकार नहीं कहोगे, तब तो तिस प्रकार आत्मा भी भला कैसे क्रियावान् साधने योग्य हो सकेगा ? अर्थात्-नहीं ।

हेत्वाद्यवयवसामर्थ्ययोगी धर्मः साध्योऽवधार्यते तमेव दृष्टान्ते प्रसंजयति यो वादी तस्य साध्यसमा जातिस्तत्त्वपरीक्षकैरुद्भावनीया । तद्यथा-तत्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवस्थानं करोति यदि यथा लोष्ठस्तथात्मा, तदा यथात्मा तथायं लोष्ठः स्यात् सक्रिय इति, साध्यश्चात्मा लोष्ठोपि साध्योस्तु सक्रियः इति । अथ लोष्ठ क्रियावान् न साध्यस्तर्ह्यात्मापि क्रियावान् साध्यो मा भूत्, विशेषो वा वक्तव्य इति ।

न्यायभाष्यकार यहां साध्यका अर्थ यों निर्णीत करते हैं कि अनुमानके हेतु, व्याप्ति, आदिक अवयवों या उपाङ्गोंकी सामर्थ्यका सम्बन्धी हो रहा धर्म साध्य है । उसका सम यानी उस ही साध्य का जो वादी दृष्टान्तमें प्रसंग दे रहा है, तत्त्वोंकी परीक्षा करनेवाले विद्वानों करके उस वादीके ऊपर साध्यसमा जाति उठानी चाहिये । उसका दृष्टान्त यों है कि वहां ही प्रसिद्ध अनुमानमें आत्माके क्रियासहितपनको साध्य करनेके लिये हेतुका प्रयोग कर चुकनेपर उससे न्यारा दूसरा वादी प्रत्यवस्थानका विधान करता है कि जिस प्रकारका लोष्ठ है यदि उसी प्रकारका आत्मा है, तब तो जैसा आत्मा है वैसा यह डेल क्रियासहित हो जाओ । दूसरी बात यह है कि यदि आत्मा साध्य है तो डेल भी यथेच्छ इस प्रकार क्रियासहित साध्य हो जाओ । अब यदि डेल क्रियावान् साध्य नहीं है, तो आत्मा भी क्रियावान् साधने योग्य नहीं होवे । हां, आत्मा या डेलमें कोई विशेषता होय तो वह तुमको यहां कहनी चाहिये । लज्जा करनेकी कोई बात नहीं है ।

कथमासां दूषणाभासत्वमित्याह ।

साध्यसमा और वैधर्म्यसमा जातियां दूषणाभास हैं, यह पहिले ही समझा दिया गया था । अब यह बताओ कि इन उत्कर्षसमा आदिक छल जातियोंको दूषणाभासपना किस प्रकार है ? ऐसी शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य न्यायमत अनुसार समाधानको कहते हैं ।

दूषणाभासता त्वत्र दृष्टान्तादिसमर्थना ।
युक्ते साधनधर्मेपि प्रतिषेधमलब्धितः ॥ ३५० ॥
साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुपवर्णितात् ।
वैधर्म्यं गवि सादृश्ये गवयेन यथा स्थिते ॥ ३५१ ॥
साध्यातिदेशमात्रेण दृष्टान्तस्योपपत्तितः ।
साध्यत्वासंभवाच्चोक्तं दृष्टान्तस्य न दूषणं ॥ ३५२ ॥

ये जातियां समीचीन दूषण नहीं हैं। दूषणसदृश दीख रही दूषणाभास हैं। इनमें दूषणाभासपना तो यों समझा जाता है कि दृष्टान्त आदिककी सामर्थ्यसे युक्त हो रहे अथवा विपक्षमें हेतुकी व्यावृत्ति करते हुये पक्षमें हेतुका ठहरना रूप समर्थन और दृष्टान्त आदिसे युक्त हो रहे समीचीन हेतुरूप धर्मके वादीद्वारा प्रयुक्त किये जानेपर भी पुनः साध्य और दृष्टान्तके व्याख्यान किये जा चुके, केवल धर्मविकल्पसे तो प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है। गौतमसूत्र है कि "किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः" कुछ थोडासा दृष्टान्त और पक्षका व्याप्तिसहित साधर्म्य मिल जानेसे वादीद्वारा उपसंहारकी सिद्धि हो जानेसे पुनः प्रतिवादीद्वारा व्याप्ति निरपेक्ष उसके वैधर्म्यसे ही निषेध नहीं किया जा सकता है। जैसे कि गायमें गवय (रोझ) के साथ सादृश्य व्यवस्थित हो जानेपर पुनः किसी सास्ना धर्म करके हो रहा विधर्मपना तो धर्मविकल्पका कुचोद्य उठानेके लिये नहीं प्राप्त किया जाता है। अतः उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा ये उठाये गये दूषण समीचीन नहीं हैं। वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, साध्यसमा, ये तीन जातियोंके असत् उत्तरपनको पुष्ट करनेवाला दूसरा समाधान भी यों है। गौतम सूत्रमें लिखा है कि "साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः" उपमान या शाब्दबोधमें वृद्धवाक्य या सहज योग्यतावश संकेतपूर्वक वाच्यवाचकशक्तिके ग्राहक वाक्यको अतिदेश वाक्य कहते हैं। केवल साध्यके अतिदेशसे ही दृष्टान्तका दृष्टान्तपन जब सिद्ध हो चुका, अतः दृष्टान्तको पुनः साध्यपना असम्भव है। इस कारण प्रतिवादीद्वारा कहा जा चुका दृष्टान्तका दूषण उचित नहीं है। दृष्टान्तके सभी धर्म पक्षमें नहीं मिल जाते हैं। वृत्तिकारके अनुसार इन दो सूत्रोंको छेऊ जातियोंमें या तीन जातियोंमें यों घटा लेना चाहिये। उत्कर्षसमामें साध्यसिद्धिके वैधर्म्य यानी व्याप्तिनिरपेक्ष साधर्म्य मात्रसे ही प्रतिवादीद्वारा प्रतिषेध यानी अविद्यमान धर्मका आरोप नहीं किया जा सकता है। अतः शब्दमें रूपसहितपन और घटमें श्रवण इन्द्रियद्वारा ग्राह्यपना अधिक नहीं धरा जा सकता है। अन्यथा प्रमेयत्वरूप असाधक धर्मके साधर्म्यसे तुम्हारा दूषण भी असमीचीन हो जायगा। प्रतिषेध को नहीं साध सकेगा। जब कि अनित्यत्वके साथ व्याप्य हो रहे कृतकत्वसे शब्दमें अनित्यपनका उपसंहार कर दिया है, तो ऐसी दशामें कृतकपना तो रूपका व्याप्य नहीं है। जिससे कि शब्दमें रूपका भी अधिक हो जाना आपादन किया जा सके। इसी प्रकार अपकर्षसमामें प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है। जिससे कि शब्दमें रूपका निषेध हो जानेसे अनित्यपनका अभाव भी ठोंक दिया जाय। यानी गांठके अनित्यपनकी भी हानि कर दी जाय। वर्ण्यसमामें भी कुछ साधर्म्य मिल जानेसे समीचीन हेतुसे यदि साध्यसिद्धि की जा सकी है, तो तैसे हेतुसे सहितपना ही दृष्टान्तपनेका प्रयोजक है। किन्तु पक्षमें जितने विशेषणोंसे युक्त हेतु होय दृष्टान्तमें उतने सम्पूर्ण विशेषणोंसे युक्त हो रहे हेतुसे सहितपना दृष्टान्तपनका प्रयोजक नहीं है। अन्यथा तुमको भी दूषण योग्य पदार्थका दृष्टान्त करना चाहिये। यह भी दृष्टान्तके

सभी धर्मोंके नहीं मिलनेसे दृष्टान्त नहीं हो सकेगा। अतः दृष्टान्तमें वर्ण्यपनेका यानी सन्दिग्धसाध्यसहितपनका आपादन करना उचित नहीं। इसी प्रकार अवर्ण्यसमामें भी वैधर्म्यसे यानी निश्चितसाध्यवाले दृष्टान्तके वैधर्म्य हो रहे संदिग्ध साध्य सहितपनेसे पक्षमें प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है। दृष्टान्तमें देखे गये व्याप्तियुक्त हेतुका पक्षमें सद्भाव हो जानेसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाती है। किन्तु दृष्टान्तमें वर्त रहे हेतुके परिपूर्ण धर्मोसे युक्त हो रहे हेतुका पक्षमें सद्भाव मानना उचित नहीं है। अतः आत्मा, शब्द, आदि पक्षोंमें दृष्टान्तके समान निश्चित साध्ययुक्तपनका आपादन नहीं किया जा सकता है, जिससे कि स्वरूपासिद्ध या आश्रयासिद्ध दोष हो सकें। इसी प्रकार विकल्पसमामें भी प्रकरण प्राप्त साध्यके व्याप्य हो रहे प्रकृत हेतुसे साध्यसिद्धि जब हो चुकी है, तो उसके वैधर्म्यसे यानी किसी एक अनुपयोगी धर्मका कहीं व्यभिचार उठा देने मात्रसे प्रतिवादी द्वारा किया गया प्रतिषेध नहीं संभवता है। यों कृतकत्व, गुरुत्व, अनित्यत्व, मूर्त्तत्वका टेडा मेडा मिलाकर चाहे जिस किसीसे व्यभिचार दिखला देनेसे ही प्रकृत हेतु साध्यका असाधक नहीं हो जाता है। अति प्रसंग हो जायगा, देखिये। जगत्में जो अधिक आवश्यक होता है, उसका मूल्य अधिक होता है। किन्तु शरीर स्वस्थताके लिये भोज्य पदार्थोंसे जल और जलसे वायु अधिक आवश्यक है। किन्तु मूल्य इनका उत्तरोत्तर न्यून है। भूषण, वस्त्र, अन्नमें, भी यही दशा है। तथा लोकमें देवदत्तका स्वामी देवदत्तको मान्य है। संभव है वह प्रभु देवदत्तके पुत्र जिनदत्तको भी मान्य होय। एतावता जिनदत्तको माननीय समझनेवाले इन्द्रदत्तको या इन्द्रदत्तके छोटे भाईको भी वह स्वामी माननीय होय ऐसा नियम नहीं देखा जाता है। लौकिक नातोंके अनुसार जमाताका सत्कार किया जाता है। किन्तु जामाताका जामाता और उसका भी जामाता (जमाई) यों त्रैराशिक विधिके अनुसार अत्यधिक सत्कार करने योग्य नहीं बन बैठता है। कहीं कहीं तो उत्तरोत्तर मान्यता बढते बढते चौथी पांचवीं कोटिपर जाके नातेमें विशेष हलकी पड जाती है। जीजाका जीजा उसका भी जीजा पुनः उसका भी जीजा तीसरी चौथी कोटिपर सालेका साला और उसका भी साला या उसका भी साला हो जाता है। तथा लडकी की ननद और उसकी भी ननद कहीं पुत्रवधू हो जाती है। शिष्योंके शिष्य कहीं गुरुजीके जामाता बन बैठते हैं। न्यायालयमें अधिकारी देवदत्तके सन्मुख देवदत्तके पिताके अधिक उम्रवाले मान्य मित्रको विनीत होकर वक्तव्य कहनेके लिये बाध्य होना पडता है। उपकारीका उपकारी मनुष्य क्वचित् प्रकृत मनुष्यका अपकार कर बैठता है। बात यह है कि खण्ड रूपसे दोष या गुणके मिल जानेपर परिपूर्ण रूपसे वह नियम नहीं बना लिया जाता है। जिससे कि यों बादरायण संबन्ध घटाकर अनैकान्तिक दोष हो सके। इसी प्रकार साध्यसमा जातिमें भी प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है। जब कि व्याप्य हेतुसे पक्षमें साध्यकी सिद्धि हो जाती है, तो पुनः पक्ष, दृष्टान्त, आदिक भी इस वादी करके नहीं साधे जाते हैं। यदि ऐसा माना जायगा तो कहीं भी साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। प्रतिवादीका दूषण उठाना भी नष्ट भ्रष्ट हो जावेगा। वहां भी

दूषणका लक्षण और घटकावयव पदोंकी सिद्धि करते करते उकता जाओगे। तुम दूषण देना भी भूल जाओगे। वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा और साध्यसमामें यह समाधान भी लागू हो जाता है कि साध्यके अतिदेशसे दृष्टान्तमें साध्यका अतिदेश है। उतनेसे ही दृष्टान्तपना बन जाता है। सम्पूर्ण धर्म सर्वथा नहीं मिल जाते हैं। अन्यथा पक्ष, दृष्टान्तका अभेद हो जायगा। अतः वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जाति उठाना ठीक नहीं है। साध्यसमामें सूत्रपठित दृष्टान्तका अर्थ पक्ष करना चाहिये अथवा दृष्टान्त ही अर्थ बना रहो। बात यह है कि दृष्टान्त या साध्यके आधारभूत पक्षको साध्य नहीं बनाया जाता है। अतः ये उत्कर्षसमा आदिक प्रतिषेध दूषणाभास हैं। ऐसा नैयायिक बखान रहे हैं।

क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वाल्लोष्ठवदित्यादौ दृष्टांतादिसमर्थनयुक्ते साधनधर्मे प्रयुक्ते सत्यपि साध्यदृष्टांतयोर्धर्मविकल्पादुपवर्णितद्वैधर्म्येण प्रतिषेधस्य कर्तुमलब्धेः किंचित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेः। तदाह न्यायभाष्यकारः। "अलभ्यः सिद्धस्य निन्हवः सिद्धं च किंचित्साधर्म्यादुपमानं यथा गौस्तथा गवय" इति। तत्र न लभ्यो गोगवययोर्धर्मविकल्पश्चोदयितुं। एवं साधनधर्मे दृष्टांतादिसामर्थ्ययुक्ते सति न लभ्यः साध्यदृष्टांतयोर्धर्मविकल्पाद्वैधर्म्यात् प्रतिषेधो वक्तुमिति।

आत्मा क्रियावान् है। क्रियाके हेतु हो रहे गुणोंका आश्रय होनेसे, ढेलके समान, या शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे, अथवा पर्वत वन्हिमान् है, धूम होनेसे, इत्यादिक अनुमान वाक्योंमें दृष्टान्त आदि सम्बन्धी समर्थनसे युक्त हो रहे साधनधर्मके प्रयुक्त होते संते भी साध्य और दृष्टान्तके उक्त वर्णन किये जा चुके विकल्पसे वैधर्म्य करके प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध किया जाना नहीं प्राप्त हो सकता है। क्योंकि कुछ एक सधर्मापनके मिल जानेसे उपसंहार पूर्वक साध्यकी सिद्धि हो चुकी है। उसी बातको न्यायभाष्यकार वात्स्यायन "किंचित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः" इस सूत्रके भाष्यमें अलभ्यसे प्रारम्भ कर वक्तुमिति तक यों स्पष्ट कहते हैं कि सिद्धि हो चुके पदार्थका अपलाप या अविश्वास करना अलभ्य है। जब कि कुछ थोडेसे सधर्मापनसे उपमान सिद्ध हो चुका है। देखिये, जैसे गौ है वैसा गवय (रोझ) है। इस प्रकार उपमान उपमेय भाव बन चुकने पर और गवयके धर्मोंका विकल्प उठाकर पुनः कुचोद्य किसीके ऊपर नहीं ढकेल दिया जाता है। इसी प्रकार दृष्टान्त, व्याप्ति, पक्षधर्मता आदिकी सामर्थ्यसे युक्त हो रहे साध्य, ज्ञापक हेतु, स्वरूप धर्मके प्रयुक्त हो चुकनेपर पुनः प्रतिवादीद्वारा साध्य और दृष्टान्तके धर्मविकल्पसे वैधर्म्यकरके प्रतिषेध कहा जाना प्राप्त नहीं हो सकता है।

साध्यातिदेशमात्राच्च दृष्टान्तस्योपपत्तेः साध्यत्वासंभवात्। यत्र हि लौकिकपरीक्षकाणां बुद्धेरभेदस्तेनाविपरीतोर्थः साध्येऽतिदिश्यते प्रज्ञापनार्थं। एवं च साध्यातिदेशाद् दृष्टान्ते क्वचिदुपपद्यमाने साध्यत्वमनुपपन्नमिति। तथोद्योतकरोप्याह। दृष्टांतः साध्य इति

वचनासंभवात्तावता भवता न दृष्टान्तलक्षणं व्यज्ञायि । दृष्टान्तो हि नाम दर्शनयोर्विहितयोर्विषयः । तथा च साध्यमनुपपन्नं । अथ दर्शनं विहन्यते तर्हि नासौ दृष्टान्तो लक्षणाभावादिति ।

गौतमसूत्र है कि " साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः " साध्यके अतिदेश मात्रसे दृष्टान्तका दृष्टान्तपन बन जाता है । उपमान प्रमाणसे जानने योग्य पदार्थकी ज्ञप्ति करनेमें अतिदेशवाक्य साधक हो जाता है । जैसे कि जैसी मूंग होती है, वैसी मुद्गपर्णी होती है । और मुद्गपर्णीके सदृश हो रही औषधि विषविकारको नष्ट कर देती है । इस प्रकार आप्तवाक्य रूप अतिदेशद्वारा अवधारण कर कहीं वनमें उपमानसे संज्ञासंज्ञीके सम्बन्धको समझता हुआ उस औषधिको चिकित्साके लिये ले आता है अथवा अधिक लम्बी ग्रीवावाला पशु ऊंट होता है, बहुत बड़ी नासिकासे युक्त हो रहा पशु हाथी कहा जाता है, ऐसे वाक्योंको अतिदेशवाक्य कहते हैं । उनका स्मरण रखना पड़ता है । प्रकरण प्राप्त सूत्रमें अतिदेश शब्द है, सामान्यरूपसे साध्यका अतिदेश कर देना दृष्टान्तमें पर्याप्त है । एतावता दृष्टान्तका साध्यपना तो असम्भव है । इस सूत्रका भाष्य यों है कि जिस पदार्थ लौकिक और परीक्षक पुरुषोंकी बुद्धिका अभेद यानी साम्य दिखलाया जाता है, वह दृष्टान्त है । उससे विपरीत नहीं हो रहा अर्थ तो समझानेके लिये साध्यमें अतिदेश कर दिया जाता है और ऐसा होनेपर साध्यके अतिदेशसे किसी एक व्यक्तिका दृष्टान्तपना बन चुकनेपर पुनः उस दृष्टान्तको साध्यपना नहीं बन सकता है । इसी बातको तिस प्रकार उद्योतकर पण्डित भी यों विशद कर कहते हैं कि जो आप प्रतिवादी साध्यसमामें दृष्टान्तको ही साध्य कह रहे हैं, यह आपका कथन करना असम्भव है । तिस प्रकारके कथनसे हमको प्रतीत होता है कि आपने दृष्टान्तका लक्षण ही नहीं समझ पाया है । देखिये, दृष्टान्त नाम उसका निश्चय किया गया है जो कि लौकिक या परीक्षक पुरुषों करके विधान किये गये प्रत्यक्ष आत्मक दर्शनोंका विषय होय । " दृष्टः अन्तो यत्र स दृष्टान्तः । " जब कि दर्शनों द्वारा वादी, प्रतिवादी, सभ्य पुरुषों करके दृष्टान्त प्रत्यक्षित हो गया है, तो तिस प्रकार उसको साध्य कोटिमें लाना असिद्ध है । हां, अब यदि दृष्टान्त बनानेके लिये उसके पेटमें घुसे हुये दर्शनका विघात किया जायगा अर्थात्–तुम यों कह दो कि वादीने भले ही वहां धर्म देख लिये होंय किन्तु मुझ प्रतिवादीने तो उसमें धर्मोंका दर्शन नहीं किया है, तब तो हम उद्योतकरको कहना पड़ेगा कि वह दृष्टान्त ही नहीं बन सका । क्योंकि दृष्टान्तका वहां लक्षण घटित ही नहीं होता है । वादी, प्रतिवादी, दोनोंके दर्शनोंका विषयभूत व्यक्ति तो दृष्टान्त हो सकता है । अकेले वादी द्वारा देखे गये धर्मवान् पदार्थको दृष्टान्त नहीं माना जा सकता है । अतः प्रतिवादीने उसको दृष्टान्त मान लिया यह उसकी भूल है । यहांतक दूषणाभासपनेसे सहित हो रहीं उत्कर्षसमा आदि छह जातियोंका विचार कर दिया गया है ।

प्राप्त्या यत्प्रत्यवस्थानं जातिः प्राप्तिसमैव सा ।
अप्राप्त्या पुनरप्राप्तिसमा सत्साधनेरणे ॥ ३५३ ॥
यथायं साधयेद्धेतुः साध्यप्राप्त्यान्यथापि वा ।
प्राप्त्या चेद्युगपद्भावात्साध्यसाधनधर्मयोः ॥ ३५४ ॥
प्राप्तयोः कथमेकस्य हेतुतान्यस्य साध्यता ।
युक्तेति प्रत्यवस्थानं प्राप्त्या तावदुदाहृतम् ॥ ३५५ ॥
अप्राप्य साधयेत्साध्यं हेतुश्चेत्सर्वसाधनः ।
सोस्तु दीपो हि नाप्राप्तपदार्थस्य प्रकाशकः ॥ ३५६ ॥
इत्यप्राप्त्यावबोद्धव्यं प्रत्यवस्थानिदर्शनम् ।
तावेतौ दूषणाभासौ निषेधस्यैवमत्ययात् ॥ ३५७ ॥
प्राप्तस्यापि दंडादेः कुंभसाधकतेक्ष्यते ।
तथाभिचारमंत्रस्याप्राप्तस्यासातकारिता ॥ ३५८ ॥

न्यायसूत्र और भाष्यके अनुसार दो जातियोंका लक्षण इस प्रकार है कि हेतुकी साध्यके साथ प्राप्ति करके जो प्रत्यवस्थान दिया जाता है,वह प्राप्तिसमा ही जाति है। और अप्राप्ति करके जो फिर प्रत्यवस्थान दिया जाता है, वह अप्राप्तिसमा जाति है। जैसे कि पर्वतो वन्हिमान् धूमात्,शब्दो अनित्यः कृतकत्वात्, इत्यादिक समीचीन हेतुका वादी द्वारा कथन किये जा चुकनेपर प्रतिवादी दोष उठाता है कि यह हेतु क्या साध्यको प्राप्त होकर साध्यकी सिद्धि करावेगा ? अथवा क्या दूसरे प्रकारसे भी ? यानी साध्यको नहीं प्राप्त होकर हेतु साध्यकी सिद्धि करा देगा ? बताओ। प्रथम पक्ष अनुसार साध्यके साथ संबन्ध हो जाना रूप प्राप्तिसे यदि साध्यकी सिद्धि मानी जायगी तब तो साध्य और हेतु इन दोनों धर्मोंका एक काल एक साथ ही सद्भाव हो जानेसे उनमें हेतुपन और साध्यपनकी कोई नियामक कोई विशेषता नहीं ठहर पाती है। साध्य और हेतु जब दोनों ही एक स्थानमें प्राप्त हो रहे हैं, तो गायके डेरे और सूधे सींग समान भला उनमेंसे एकको हेतुपना और दूसरेको साध्यपना कैसे युक्त हो सकता है ? विनिगमनाविरहसे दोनों ही हेतु बन जायंगे या दोनों धर्म साध्य बन बैठेंगे। झगडा मच जायगा। इस प्रकार प्रतिवादी द्वारा प्राप्ति करके दिये गये पहिले प्रत्यवस्थानका उदाहरण यहांतक दिया जा चुका। अब द्वितीय विकल्प अनुसार अप्राप्तिसमाका उदाहरण यों समझिये कि वादीका हेतु

यदि साध्यको नहीं प्राप्त होकर साध्यका साधक होगा तब तो सभी हेतु प्रकृत साध्यके साधन बन बैठेंगे अथवा वह प्रकृत हेतु अकेला ही सभी साध्यको साध डालेगा। इस प्रसंगका दूर करना वादी द्वारा अप्राप्तिका पक्ष लेनेपर असम्भव है। लोकमें भी देखा गया है कि व्यंग्य पदार्थोंके साथ नहीं प्राप्त (सम्बद्ध) हो रहा दीपक उन पदार्थोंका प्रकाशक नहीं है। इस प्रकार अप्राप्ति करके प्रत्यवस्थान देना यह अप्राप्तिसमा जातिका उदाहरण समझ लेना चाहिये। किन्तु यह प्रतिवादीका उत्तर समीचीन नहीं है। नैयायिक कहते हैं कि वस्तुतः विचारनेपर ये प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसमा, दोनों ही दूषणाभास हैं। क्योंकि इस प्रकार प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध करनेका भी प्रलय हो जावेगा प्रतिवादी द्वारा किये गये प्रतिषेधमें भी प्राप्ति और अप्राप्तिका विकल्प उठाकर उस प्रतिषेधकी असिद्धि कर दी जायगी, यों प्रतिपक्षको साधनेवाले प्रतिवादीका हेतु भी असाधक हो जायगा। बात यह है कि साधनीयके साथ प्राप्त हो रहे भी दण्ड, चक्र, कुलाल, आदिको घटका साधकपना देखा जाता है। तथा मारण, उच्चाटन आदि हिंसा कर्म करानेवाले अभिचार मंत्रोंको अप्राप्त हो कर भी शत्रुके लिये असाताका कारकपना देखा जाता है। " शत्रुपीडनकामः श्येनेनाभिचरेत् " यहां बैठे बैठे हजारों कोश दूरके कार्योंका मंत्रो द्वारा साध्य कर लिया जाता है। इस प्रकार प्राप्त और अप्राप्त सभी पदार्थोंका अन्वय व्यतिरेक द्वारा कार्यकारण भाव नियत हो रहा है। अतः प्राप्ति करके प्रतिषेध देना प्रतिवादीका अनुचित प्रयास है। ये दूषण नहीं होते हुये दूषणसरिखे दूषणाभास हैं।

नन्वत्र कारकस्य हेतोः प्राप्तस्याप्राप्तस्य च दंडादेरभिचारमंत्रादेश्च स्वकार्यकारितोपदर्शिता ज्ञापकस्य तु हेतोः प्राप्तस्याप्राप्तस्य वा स्वसाध्याप्रकाशिता चोदितेति न संगतिरस्तीति कश्चित्। तदसत्। कारकस्य ज्ञापकस्य चाऽविशेषेण प्रतिक्षेपोयमित्येवं ज्ञापनार्थत्वात्कारकहेतुव्यवस्थापनस्य। तेन ज्ञापकोपि हेतुः कश्चित्प्राप्तः स्वसाध्यस्य ज्ञापको दृष्टो यथा संयोगी धूमादिः पावकादेः। कश्चिदप्राप्तो विश्लेषे, यथा कृत्तिकोदयः शकटोदयस्येत्यपि विज्ञायते। अथायं सर्वोपि पक्षीकृतस्तर्हि येन हेतुना प्रतिषिध्यते सोपि प्रतिषेधको न स्यादुभयथोक्तदूषणप्रसंगादित्यप्रतिषेधस्ततो दूषणाभासाविमौ प्रतिपत्तव्यौ।

यहां नैयायिकके ऊपर प्रतिवादीकी ओर लेनेवाले किसी विशारदकी शंका है कि " घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः " इस सूत्रमें प्राप्त हो रहे दण्ड आदिक और अप्राप्त हो रहे उच्चाटक, मारक, पीडक, अभिचार मंत्र, चुम्बक पाषाण आदिक इन कारक हेतुओंको स्वकार्य साधकपना दिखलाया गया है। किन्तु प्रतिवादीने तो स्वकीय साध्यके साथ प्राप्त हो रहे अथवा अप्राप्त हो रहे ज्ञापक हेतुओंकी स्वकीय साध्यकी ज्ञापकताका प्रतिषेधरूप प्रत्यवस्थान देनेकी प्रेरणा की थी। इस कारण दृष्टान्त और दार्ष्टान्तकी संगति नहीं है। हां, यदि आप ज्ञापक हेतुओंकी प्राप्ति, अप्राप्ति होनेपर स्वसाध्यप्रकाशकता दिखलाते तो प्रतिवादीका कहना दूषणाभास है

सकता था, अन्यथा नहीं । इस प्रकार कोई कह रहा है । नैयायिकोंकी ओरसे कहा जाता है कि वह उनका कहना सत्य नहीं है । क्योंकि प्राक् असत् कार्योंको बनानेवाला भले ही कारक हेतु होय अथवा सत्की ज्ञप्ति करानेवाला ज्ञापक हेतु होय, दोनोंमें कोई विशेषता नहीं करके हमने यह प्रतिवादीके ऊपर आक्षेप किया है । इस बातको समझानेके लिये यहां दृष्टान्त देकर कारक हेतुकी व्यवस्था करा दी गयी है । एक बात यह भी है कि कारक हेतु भी व्यवस्थाके ज्ञापक हो जाते हैं । और ज्ञापक हेतु भी ज्ञप्तिके कारक बन बैठते हैं । तिस कारणसे कोई कोई ज्ञापक हेतु भी प्राप्त होकर अपने नियत साध्यका ज्ञापक हो रहा देखा जाता है । जैसे कि अग्निके साथ संयोग सम्बन्धको धारनेवाला धूम हेतु या रूपके साथ एकार्थसमवायको धारनेवाला रस हेतु आदिक भी अग्नि, रूप, आदिके ज्ञापक हैं । तथा दैशिक या कालिक विभाग हो जानेपर कोई कोई हेतु अप्राप्त होकर भी स्वकीय साध्यका ज्ञापक जाना जाता है । जैसे कि कृत्तिकाका उदय यह हेतु मुहूर्त पीछे शकटके उदयका साधक हो जाता है । अधो देशमें नदी पूरके देखनेसे ऊपर देशमें वृष्टिका अनुमान अप्राप्त हेतुद्वारा कर लिया जाता है । यह ज्ञापक हेतुओंकी प्राप्ति और अप्राप्तिसे स्वसाध्यके प्रति साधकता भी समझ लीजियेगा । अब तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्त सर्वथा विषम नहीं रहे । अब यदि प्रतिवादीका पक्षपात करनेवाला कोई विद्वान् यों कहे कि यह सब भी पक्षकोटिमें कर लिया जावेगा । अर्थात्—धूम प्राप्त होकर यदि अग्निका प्रकाशक है, तो धूम और अग्नि दोनोंमेंसे एकका साध्यपन और दूसरेका हेतुपन कैसे युक्त हो सकता है ? तथा अप्राप्त कृत्तिकोदय यदि रोहिणी उदयको साध देवेगा, तो सभी अप्राप्तोंका वह साधक बन बैठेगा । इस प्रकार यहां भी प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसमा जातियां उठायी जा सकती हैं । अब समाधान कर्त्ता बोलते हैं कि तब जिस हेतु करके वादीको अभिप्रेत हो रहे साध्यका प्रतिवादीद्वारा प्रतिषेध किया जायगा, वह प्रतिवादीका हेतु भी प्रतिषेध करनेवाला नहीं ठहर सकेगा । क्योंकि यहां भी प्राप्ति और अप्राप्तिके विकल्प उठाकर दोनों प्रकारसे वैसे ही दूषण उठा देनेका प्रसंग हो जायगा । इस कारण प्रतिवादीद्वारा प्रतिषेध नहीं हो सका । तिस कारण सिद्ध हुआ कि ये प्राप्तिसम और अप्राप्तिसम दोनों दूषणाभास हैं । यह विद्वानोंको समझ लेना चाहिये ।

वक्तव्यं साधनस्यापि साधनं वादिनेति तु ।
प्रसंगवचनं जातिः प्रसंगसमतां गता ॥ ३५९ ॥
क्रियाहेतुगुणोपेतः क्रियावांल्लोष्ठ इष्यते ।
कुतो हेतोर्विना तेन कस्यचिन्न व्यवस्थितिः ॥ ३६० ॥

एवं हि प्रत्यवस्थानं न युक्तं न्यायवादिनां ।
वादिनोर्यत्र वा साम्यं तस्य दृष्टांततास्थितिः ॥ ३६१ ॥
यथारूपं दिदृक्षूणां दीपादानं प्रतीयते ।
स्वयं प्रकाशमानं तु दीपं दीपांतराग्रहात् ॥ ३६२ ॥
तथा साध्यप्रसिद्ध्यर्थं दृष्टांतग्रहणं मतं ।
प्रज्ञातात्मनि दृष्टांते त्वफलं साधनांतरम् ॥ ३६३ ॥

अब प्रसंगसमा जातिको कहते हैं कि वादीने जिस प्रकार साध्यका साधन कहा है, वैसे ही साधनका भी साधन करना या दृष्टान्तकी भी सिद्धि करना वादीको कहना चाहिये, इस प्रकार तो प्रतिवादी द्वारा जो प्रसंगका कथन किया जाता है, प्रसंगपनेको प्राप्त हुयी वह प्रसंगसमा जाति है। उसका उदाहरण यों है कि क्रियाके हेतुभूत गुणोंका संबन्ध रखनेवाला डेल क्रियावान् किस हेतुसे माना जाता है ? बताओ। दृष्टान्तकी भी साध्यसे विशिष्टपने करके प्रतिपत्ति करनेमें वादीको हेतु कहना चाहिये। उस हेतुके बिना तो किसी भी प्रमेयकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। अब न्यायसिद्धान्ती इस प्रतिवादीके कथनका असमीचीन उत्तरपना बताते हैं कि न्याय पूर्वक कहनेकी टेव रखनेवाले पण्डितोंको इस प्रकार दूषण उठाना तो युक्त नहीं है। कारण कि जिस पदार्थमें वादी अथवा प्रतिवादियोंके विचार सम होते हैं, उसको दृष्टान्तपना प्रतिष्ठित किया जाता है। और प्रसिद्ध दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे वादी द्वारा प्रतिवादीके प्रति असिद्ध हो रहे साध्यकी ज्ञप्ति करा दी जाती है। जैसे कि रूप या रूपवान्का देखना चाहनेवाले पुरुषोंको दीपक, आलोक आदिका ग्रहण करना प्रतीत हो रहा है। किन्तु स्वयं प्रकाशित हो रहे प्रदीप आदिका देखना चाहनेवाले पुरुषोंको पुनः उसके लिये अन्य दीपकोंका ग्रहण करना नहीं देखा गया है। तिस ही प्रकार अज्ञात हो रहे साध्यकी प्रसिद्धिके लिये दृष्टान्तका ग्रहण माना गया है। किन्तु जिस दृष्टान्तका आत्मस्वरूप सबको भले प्रकार ज्ञात हो चुका है, उसको अन्य साधनोंसे साधना तो व्यर्थ है। यहां आत्माके क्रियासहितपन साध्यकी सिद्धि करानेके लिये प्रसिद्ध डेलका दृष्टान्तरूपसे ग्रहण किया था। किन्तु फिर उस डेलकी सिद्धिके लिये ही तो अन्य ज्ञापक हेतुओंका वचन करना आवश्यक नहीं है। वादी प्रतिवादी दोनोंके समानरूपसे अविवादास्पद दृष्टान्तको दृष्टान्तपना उचित है। उसके लिये अन्य हेतु उठाना निष्फल है। "प्रदीपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः" इस न्यायसूत्रके भाष्यमें उक्त अभिप्राय ही पुष्ट किया गया है।

प्रतिदृष्टांतरूपेण प्रत्यवस्थानमिष्यते ।
प्रतिदृष्टांततुल्येति जातिस्तत्रैव साधने ॥ ३६४ ॥
क्रियाहेतुगुणोपेतं दृष्टमाकाशमक्रियं ।
क्रियाहेतुगुणो व्योम्नि संयोगो वायुना सह ॥ ३६५ ॥
संस्कारापेक्षणो यद्वत्संयोगस्तेन पादपे ।
स चायं दूषणाभासः साधनाप्रतिबंधकः ॥ ३६६ ॥
साधकः प्रतिदृष्टांतो दृष्टांतोपि हि हेतुना ।
तेन तद्वचनाभावात् सदृष्टांतोस्तु हेतुकः ॥ ३६७ ॥

प्रतिदृष्टान्तसमा जातिका लक्षण यों है कि वादीद्वारा कहे गये दृष्टान्तके प्रतिकूल दृष्टान्तस्वरूपकरके प्रतिवादीद्वारा जो दूषण उठाया जाता है, वह प्रतिदृष्टान्तसमा जाति इष्ट की गयी है। उसका उदाहरण यों है कि उस ही आत्माके क्रियावत्त्व साधनेमें प्रयुक्त किये गये दृष्टान्तके प्रतिकूल दृष्टान्तकरके दूसरा प्रतीवादी प्रत्यवस्थान देता है कि क्रियाके हेतुभूत गुणके युक्त हो रहा आकाश तो निष्क्रिय देखा गया है। उस ही के समान आत्मा भी क्रियारहित हो जाओ। यदि यहां कोई पण्डित उस प्रतिवादीके ऊपर यों प्रश्न करे कि क्रिया करानेका हेतु हो रहा, फिर आकाशका (में) कौनसा गुण है ? बताओ तो सही। प्रतिवादीकी ओरसे उक्त प्रश्नका उत्तर यों है कि वायुके साथ आकाशका जो संयोग है, वह क्रियाका कारण गुण है। जैसे कि वेग नामक संस्कारकी अपेक्षा रखता हुआ, वृक्षमें वायुका संयोग क्रियाका कारण हो रहा है। उसी " वायु-वनस्पतिसंयोग " के समान वायु आकाशका संयोग है। संयोग द्विष्ठ होता है। अतः आकाशमें ठहर गया। अतः आकाशके समान आत्मा क्रियाहेतु गुणके सद्भाव होनेपर भी क्रियारहित हो जाओ। अब सिद्धान्ती कहते हैं कि यह प्रतिवादीका कथन तो दूषणाभास है। क्योंकि वादीके क्रियावत्त्व साधनेका कोई प्रतिबन्धक नहीं है। प्रतिदृष्टान्तको कहनेवाले प्रतिवादीने भी कोई विशेष हेतु नहीं कहा है कि इस प्रकार करके मेरा प्रतिदृष्टान्त तो निष्क्रियत्वका साधक है और वादीका दृष्टान्त सक्रियत्वका साधक नहीं है। प्रतिदृष्टान्त हो रहा आकाश यदि निष्क्रियत्वका साधक माना जायगा तो वादीका ढेल दृष्टान्त भी उस क्रियाहेतुगुणाश्रयत्व हेतुसे सक्रियत्वका साधक हो जावेगा। ऐसी दशामें उस प्रतिदृष्टान्तके निरूपणका अभाव हो जानेसे वह ढेल दृष्टान्त ही हेतुरहित हो जाओ। अर्थात्–प्रतिदृष्टान्त जैसे हेतुके बिना ही स्वपक्षका साधक है, अन्यथा अनवस्था होगी, तैसे दृष्टान्त ढेल भी क्रियावत्त्वका स्वतःसाधक है। अतः वह ढेल ही प्रतिवादीका भी दृष्टान्त हो जाओ

और आत्माके क्रियावत्त्वका साधक बन बैठे फिर तुमने प्रतिदृष्टान्त आकाश क्यों पकड रक्खा है ? अतः यह प्रतिदृष्टान्तसमा जाति असमीचीन दूषण है। " प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः " इस गौतमसूत्रके भाष्यका अभिप्राय इसी प्रकार है। श्री विद्यानन्द आचार्य इन वार्त्तिकोंके विवरणमें इसका दूषणाभासपना विशद रीतिसे ऊहापोहपूर्वक लिखेंगे।

एवं ह्याह, दृष्टांतस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टांतेन प्रसंगप्रतिदृष्टांतसमौ। तत्र साधनस्यापि दृष्टान्तस्य साधनं कारणं प्रतिपत्तौ वाच्यमिति प्रसंगेन प्रत्यवस्थानं प्रसंगसमः प्रतिषेधः तत्रैव साधने क्रियाहेतुगुणयोगात् क्रियावांल्लोष्ठ इति हेतुर्नापदिश्यते, न च हेतुमंतरेण कस्यचित्सिद्धिरस्तीति। सोयमेव वदन्दूषणाभासवादी न्यायवादिनामेवं प्रत्यवस्थानस्यायुक्तत्वात्। यत्र वादिप्रतिवादिनोः बुद्धिसाम्यं तस्य दृष्टांतत्वव्यवस्थितेः। यथाहि रूपं दिदृक्षूणां तेषां तद्ग्रहणात्। तथा साध्यस्यात्मनः क्रियावत्त्वस्य प्रसिध्यर्थं दृष्टांतस्य लोष्ठस्य ग्रहणमभिप्रेतं न पुनर्दृष्टांतस्यैव प्रसिध्यर्थं साधनांतरस्योपादानं प्रज्ञातस्वभावदृष्टांतत्वोपपत्तेः तत्र साधनांतरस्याफलत्वात्।

इस ही प्रकार गौतम ऋषिने न्यायदर्शनमें सूत्र कहा है कि साध्यसिद्धिमें उपयोगी हो रहे दृष्टान्तके कारणका विशेष कथन नहीं करनेसे प्रत्यवस्थान देनेकी अपेक्षा प्रसंगसम प्रतिषेध हो जाता है और प्रतिकूल दृष्टान्तके उपादानसे प्रतिदृष्टान्तसम प्रतिषेध हो जाता है। उस सूत्रके भाष्यमें वात्स्यायन विद्वान्ने कहा है कि साध्यके साधक हो रहे दृष्टान्तकी भी प्रतिपत्तिके निमित्त साधन यानी कारण कहना चाहिये। इस प्रकार प्रसंगकरके प्रतिवादीद्वारा प्रत्यवस्थान यानी दूषण उठाया जाना प्रसंगसम नामका प्रतिषेध है। जैसे कि वहां ही चले आ रहे अनुमानमें क्रिया हेतुगुणके योगसे आत्माका क्रियावत्त्व साधन करनेपर लोष्ठ दृष्टान्त दिया था। किन्तु डेलको क्रियावान् साधनेमें तो कोई इस प्रकार हेतु नहीं कहा गया है और हेतुके विना किसी भी साध्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। इस प्रकार प्रतिवादीका दूषण है। अब सिद्धान्ती कहते हैं कि इस प्रकार कह रहा यह प्रतिवादी तो प्रसिद्ध रूपसे दूषणभासको कहनेकी टेव रखनेवाला है। न्यायपूर्वक कहनेका स्वभाव रखनेवाले विद्वानोंको इस प्रकार प्रत्यवस्थान देना समुचित नहीं है। यहां सिद्धान्तमें " लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः" जहां वादी प्रतिवादियोंकी या लौकिक जन और परीक्षक विद्वानोंकी बुद्धि सम हो रही है, उस अर्थको दृष्टान्तपना व्यवस्थित हो रहा है। जिस प्रकार कि रूपका देखना चाहनेवाले पुरुषोंको दीपक ग्रहण करना प्रतीत हो रहा है। किन्तु फिर स्वयं प्रकाश रहे प्रदीपका देखना चाहनेवाले उन मनुष्योंको अन्य दीपकोंका ग्रहण करना आवश्यक नहीं है। अन्यथा अनवस्था हो जायगी तिसी प्रकार आत्माके साध्य स्वरूप हो रहे क्रियावत्त्वकी प्रसिद्धिके लिये लोष्ठ

दृष्टान्तका ग्रहण करना अभीष्ट किया गया है। किन्तु फिर दृष्टान्तकी प्रसिद्धिके लिये तो अन्य हेतुओंका उपादान करना आवश्यक नहीं है। क्योंकि प्रायः सभीके यहां प्रसिद्ध रूपसे जान लिये गये स्वभावोंको धारनेवाले अर्थका दृष्टान्तपना माना जा रहा है। उस दृष्टान्तमें भी पुनः अन्य साधनोंका कथन करना निष्फल है। " प्रदीपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः " इस सूत्रके भाष्यमें उक्त विषयको पुष्ट किया गया है।

तथा प्रतिदृष्टान्तरूपेण प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिस्तत्रैव साधने प्रयुक्ते कश्चित् प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवतिष्ठते क्रियाहेतुगुणाश्रयमाकाशं निष्क्रियं दृष्टमिति। कः पुनराकाशस्य क्रियाहेतुर्गुणः संयोगो वायुना सह, स च संस्कारापेक्षो दृष्टो यथा पादपे वायुना संयोगः कालत्रयेप्यसंभवादाकाशे क्रियायाः कथं क्रियाहेतुर्वायुना संयोग इति न शंकनीयं, वायुना संयोगेन वनस्पतौ क्रियाकारणेन समानधर्मत्वादाकाशे वायुसंयोगस्य, यत्त्वसौ तथाभूतः क्रियां न करोति तन्नाकारणत्वादपि तु प्रतिबंधनान्महापरिमाणेन। यथा मंदवायुनानानंतानां लोष्ठादीनामिति। यदि च क्रिया दृष्टा क्रियाकारणं वायुसंयोग इति मन्यसे तदा सर्वं कारणं क्रियानुमेयं भवतः प्राप्तं। ततश्च कस्यचित्कारणस्योपादानं न प्राप्नोति क्रियार्थिनां किमिदं करिष्यति किं वा न करिष्यति संदेहात्। यस्य पुनः क्रियासमर्थत्वादुपादानं कारणस्य युक्तं तस्य सर्वमाभाति।

तिसी प्रकार साध्यके प्रतिकूलको साधनेवाले दूसरे प्रतिदृष्टान्त करके प्रत्यवस्थान देना प्रतिदृष्टान्तसमा जाति है। जैसे कि वहां ही अनुमानमें आत्माके क्रियावत्त्वको साधनेमें हेतु प्रयुक्त कर चुकनेपर कोई प्रतिवादी प्रतिकूल दृष्टान्त करके प्रत्यवस्थान उठा रहा है कि क्रिया हेतुगुणका आश्रय हो रहा आकाश तो क्रियारहित देखा गया है। इस प्रत्यवस्थाता प्रतिवादीका तात्पर्य यह है कि क्रियाहेतु गुणका आश्रय हो रहा भी आकाश जैसे निष्क्रिय है, वैसे ही क्रियाहेतुगुणका आश्रय हो रहा आत्मा भी क्रियारहित बना रहो। यदि यहां कोई प्रतिवादीके ऊपर यों प्रश्न करे कि तुम्हारे माने गये प्रतिकूल दृष्टान्त आकाशमें कौनसा क्रियाका हेतुगुण है ? थोडा बताओ तो, तब प्रतिवादी की ओरसे इसका उत्तर यों दिया जा सकता है कि वायुके साथ आकाशका संयोग हो रहा है। और वह संस्कारकी अपेक्षा रखता हुआ क्रियाहेतुगुण देखा गया है। जैसे कि वायुके साथ वृक्षमें हो रहा संयोग नामक गुण उस वृक्षके कम्पनका कारण है। उसी वायुवृक्ष संयोगके समान धर्मवाला वायुआकाश संयोग है। संयोग गुण दोमें रहता है। वृक्षवायुके संयोगने जैसे वृक्षमें क्रिया पैदा कर दी थी, उसीके समान वायु आकाश संयोग भी आकाशमें क्रियाको उत्पन्न करानेकी योग्यता रखता है। यदि यहां कोई छात्र प्रतिवादीके ऊपर पुनः शंका करे कि तीनों कालोंमें भी आकाशमें

क्रियाका होना असम्भव है। तो तुमने वायुके साथ हो रहे आकाशके संयोगको आकाशमें क्रिया सम्पादनका कारण भला कैसे कह दिया था ? बताओ। प्रतिवादीकी ओर लेकर सिद्धान्ती समाधान करें देते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि वायुके साथ वनस्पतिका संयोग तो वृक्षमें क्रियाका कारण होता हुआ प्रसिद्ध हो रहा है। आकाशमें हो रहा वायुके साथ संयोग भी उस वृक्ष वायुके संयोगका समानधर्मा है। अर्थात्—समान धर्मवाले वृक्षवायुसंयोग और आकाशवायुसंयोगकी जाति एक ही है। अब यह कटाक्ष शेष रह जाता है कि उस क्रियाके कारण संयोग करके वृक्षमें जैसे क्रिया हो जाती है, उसी प्रकार आकाशमें भी उस संयोग करके देशसे देशान्तर हो जाना रूप क्रिया क्यों नहीं हो जाती है ? कारण है तो कार्य अवश्य होना चाहिये। इसका समाधान प्रतिवादीकी ओरसे यों कर दिया जाता है कि जो वह वायु आकाशसंयोग इस प्रकार क्रियाका कारण हो चुका भी वहां आकाशमें क्रियाको नहीं कर रहा है, वह तो अकारणपनसे क्रियाका असम्पादक है, यह नहीं समझ बैठना। किन्तु महापरिमाण करके आकाशमें क्रिया उपजनेका प्रतिबन्ध हो जाता है। सर्वत्र ठसाठस भर रहा आकाश भला कहां जाय ? अर्थात्—बात यह कि कारणोंका बहुभाग फलको उत्पन्न किये बिना यों ही नष्ट हो जाता है। सहकारी सामग्री मिलनेपर यानी अन्य कारणोंकी विकलता नहीं होनेपर और प्रतिबन्धकोंके द्वारा कारणोंकी सामर्थ्यका प्रतिबंध नहीं होनेपर अल्पभाग कारण ही स्वजन्य कार्योंको बनाया करते हैं। प्रतिबन्धकोंके आ जानेपर यदि कारणोंसे कार्य नहीं हुआ तो एतावता कारण अकारण नहीं हो जाता है। बत्ती, तेल, दियासलाई ये दीपकलिकाके कारण हैं। किन्तु प्रबल वायु (आंधी) के चलने पर उन कारणोंसे यदि दीपकलिका नहीं उपजसकी तो एतावता बत्ती, आदिकी कारणता समूल नष्ट नहीं हो जाती है। उसी प्रकार आकाशका वायुके साथ हो रहा संयोग भी आकाशमें क्रिया सम्पादनकी स्वरूपयोग्यता रखता है। किन्तु क्या करें कि वह संयोग आकाशमें समवेत हो रहे क्रियाप्रतिबन्धक परम महापरिमाण गुणकरके प्रतिबन्ध प्राप्त कर दिया गया है। अतः फलोपधायक नहीं होनेसे उस संयोगके क्रियाकारणपनका अभाव नहीं हो जाता है। अतः आकाशमें क्रियासम्पादनकी योग्यता रखनेवाला गुण वायु आकाश संयोग है। प्रतिबन्धक पदार्थके होनेसे यदि वहां क्रिया नहीं उपज सके, इसका उत्तरदायित्व (जिम्मेदारी) हम (प्रतिवादी) पर नहीं है। जैसे कि मन्दवायु करके अनन्त डेल, डेली, कंकडियों, वालुकाकणोंमें क्रिया नहीं हो पाती है। गुरुत्व या आधार आधेय दोनोंमें वर्त रहा आकर्षकपन धर्म तो क्रियाका प्रतिबन्धक हो जाता है। हां, तीव्र वायु होनेपर वे प्रतिबन्धक पदार्थ डेल आदिकी क्रियाको नहीं रोक पाते हैं। और यदि तुम शंकाकार यों मान बैठो हो कि आकाशमें क्रियाका कारण यदि वायुसंयोग माना जाता है, तो वहां क्रिया हो जाना दीख जाना चाहिये। इसपर हम सिद्धान्तियोंको यों उत्तर देना है कि तब तो आपके यहां सभी कारण अपनी अपनी क्रियाके द्वारा ही अनुमान करने योग्य हो

सकेंगे। यह प्रसंग प्राप्त होता है। और तैसा हो जानेसे अर्थक्रियाके अभिलाषी जीवोंके किसी एक विशेष कारणका ही उपादान करना नहीं प्राप्त होता है। चाहे कोई भी सामान्य कारण हमारी अभीष्ट क्रियाको साध देगा। तुम्हारे मन्तव्य अनुसार सभी कारण अपनी क्रियाओंको करते ही हैं। तो फिर लौकिक जनोंको अनेक कारणोंमें इस प्रकार जो संशय हो जाता है कि न जाने यह कारण हमारी अभीष्ट क्रियाको करेगा ? अथवा नहीं करेगा ? यह सन्देह क्यों हुआ। हां, जिस शंकाकारके यहां सभी समर्थकारण या असमर्थ कारण आवश्यकरूपसे यदि क्रियाको करनेमें समर्थ हो रहे हैं। तब तो चाहे किसी भी कारण (असमर्थ) का ग्रहण किया जा सकता है। क्योंकि उसके यहां सभी कारण स्वयोग्य क्रियाओंको करनेके लिये उचित प्रतीत हो रहे हैं। अथवा जिस विचारशील प्रतिवादीके यहां पुनः क्रियाको करनेमें भले प्रकार समर्थ होनेसे उसी विशेष कारणका उपादान करना माना जाता है, उसीके यहां तो सभी सिद्धान्त उचित दीख जाता है। भावार्थ—क्रिया कर देनेसे ही कारणपनेका निर्णय नहीं हुआ करता है। बहुभाग बीज यों ही पीसने, खाने, भूंजने, सडने, गलनेमें नष्ट हो जाते हैं। एतावता अंकुर उत्पन्न करनेमें उन बीजोंका कारणपना नहीं मेंठ दिया जाता है। वृक्षोंमें बासोंमें, लठधारी ग्रामीणोंके हाथमें या दण्डधारी नागरिकोंके मृदुकरोंमें डण्डा, लठियां, कुबडिया विद्यमान हैं। ये सभी घटको बनानेमें कारणपनेकी योग्यता रखती हैं। किन्तु कुम्हारके हाथमें लगा हुआ, भौंडा डण्डा ही चाकको घुमाता हुआ घडेका फलोपधायक कारण माना जाता है। एतावता अन्य यष्टियोंकी स्वरूपयोग्य कारणता दूर नहीं फेंक दी जाती है। विधवा हो जानेसे युवति कुलस्त्रीकी सन्तान उत्पादन कारणता नहीं मर जाती है। बात यह है कि क्रियाओंको उत्पन्न करें तभी वे कारण माने जांय, यह नियम नहीं मानना चाहिये। देखिये। किसान किन्हीं अपरीक्षित बीजोंमें सुबीज कुबीजपनेका संशय करते हैं। तभी तो परीक्षाके लिये मोलुआमें थोडेसे बीज बोकर सुबीज कुबीजपनका निर्णय कर लेते हैं। जब कि सभी बीजोंमें अङ्कुर उत्पादन क्रियाकी योग्यता थी तभी तो किसानोंको संशय हुआ, भले ही उनमेंसे अनेक बीज अंकुरोंको नहीं उपजा सकें। छात्रोंको पढाने वाला अध्यापक उत्तीर्ण होने योग्य समझकर बीस छात्रोंको वार्षिक परीक्षामें बैठा देता है। उसमें बारह छात्र उत्तीर्ण हो जाते हैं। और आठ छात्र अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। कभी कभी तो उत्तीर्ण होने योग्य छात्र गिर जाते हैं। और अनुत्तीर्ण होने योग्य विद्यार्थी चाटुकारतासे प्रविष्ट हो कर उत्तीर्ण होनेकी बाजीको जीत लेते हैं। बात यह कि क्रियाकी योग्यता मात्रसे कारणपनेका ज्ञान कर लिया जाता है। भविष्यमें होनेवाली सभी क्रियायें भला किस किसको दीखती हैं। किन्तु क्रियाओंके प्रथम ही अर्थोंमें कारणपनेका अवभास कर लिया जाता है। हां, प्रतिबंधकोंका अभाव होनेपर और अन्यसहकारी कारणोंकी परिपूर्णता होनेपर समर्थकारण अवश्य ही क्रियाको करते हैं। किन्तु लाखों कारणोंमेंसे सम्भवतः एक ही भाग्यशाली कारणको उपर्युक्त योग्यता मिलती है। शेष

कारण तो उत्तरवर्ती पर्यायमात्रको बनाकर या जीवोंके ज्ञानमें अवलम्ब कारण बन कर नाममात्रके कारण होते हुये जगतसे यों ही अपनी सत्ताको उठा ले जाते हैं। मुझ भाषा टीकाकारका तो ऐसा विचार है कि जगत्‌के सम्पूर्ण पदार्थ अपने करने योग्य सभी क्रियाओंको कर ही नहीं पाते हैं। सज्जन मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी, मांसभक्षण, कुशील, पैशून्य, अपकार आदि दुष्टताओंको कर सकते हैं। दुष्टजीव भी अहिंसा, सत्य, आदि व्रतोंको पाल सकते हैं। राजा महाराजा या धनपतियोंके यहां यान, वाहन, वस्त्र, उपवन,दास, आदि व्यर्थ पडे हुये हैं। वे ठलुआ पदार्थ साधारण पुरुषोंके काम आ सकते हैं। किन्तु उनकी निमित्तकारण शक्तियां बहुभाग व्यर्थ जाती हैं। बिच्छू, सांप, संखिया, आदि विषैले पदार्थ असंख्य जीवोंको मार सकते हैं। किन्तु सभी अपनी मरणशक्तिका उपयोग नहीं कर पाते हैं। बहुभाग विषयों ही व्यर्थ अपना ओज खो देते हैं। वन की अनेक वनस्पतियां रोगोंको दूर कर सकती हैं। क्यों जी,क्या वे सभी औषधियां अपना पूरा कार्य (जौहर) दिखलाती हैं? मस्तिष्क या शरीरसे कितना भारी कार्य किया जा सकता है। क्या सभी जीव उन कार्योंको कर डालते हैं? "मरता क्या न करता" घिरनेपर या किसीसे लडनेका अवसर आनेपर मृत्युसे बचनेके लिये जीवनपर खेलकर मनुष्य बहुत पुरुषार्थ कर जाता है। किन्तु सदा व्यवहारमें उससे चौथाई या आठवां भाग भी पुरुषार्थ करनेके लिये नानीकी स्मृति आ जाती है। सभी अग्नियां, बिजलियां, तेजाव, ये शरीरको जला सकते हैं। सभी पानी प्यासको बुझा सकते हैं। सभी सोने, चांदी, लोहके जूते या चूल्हे बन सकते हैं। सभी उदार पुरुष तुच्छता करनेपर उतर सकते हैं। सभी युवा, स्त्री, पुरुष, व्यभिचार कर सकते हैं। सभी धनाढ्य पुरुष इन दीन सेवकोंके निन्द्य कार्यको कर सकते हैं। किन्तु इनमेंसे कितने अत्यल्प कारण अपने योग्य कार्योंको कर पाते हैं इस बातको आप सरलतासे समझ सकते हैं। एक अध्यापक मल्ल, सेवक, या योद्धा अपनी पूरी शक्तियोंका व्यय नहीं कर देता है। सिद्धान्त यह निकलता है कि सभी कारणोंका निर्णय पीछे होनेवाली क्रियाओंसे ही नहीं करना चाहिये। प्रकरणमें प्रतिवादीकी ओरसे यह कहना उचित प्रतीत होता है कि आकाशमें क्रिया हो जानेका कारण वायु आकाश संयोग विद्यमान है। किन्तु महापरिमाणसे क्रियाका प्रतिबन्ध हो जानेसे क्रिया नहीं हो पाती है। जैसे कि बडी शिलामें अधिक गुरुत्वसे प्रतिबन्ध हो जानेके कारण मुक्का संयोग बिचारा सरक जाना, गिरजानारूप क्रियाको नहीं पैदा कर सकता है। क्रिया करनेकी स्वरूपयोग्यता सभी समर्थ असमर्थ, कारणोंमें माननी चाहिये। कारणोंमें योग्यता देख ली जाती है। भविष्यमें होनेवाले फलोंका अल्पज्ञोंको प्रत्यक्ष नहीं हो जाता है।

अथ क्रियाकारणवायुवनस्पतिसंयोगसदृशो वाय्वाकाशसंयोगोन्यथान्यत् क्रियाकारणमिति मन्यसे, तर्हि न कश्चिद्धेतुरनैकांतिकः स्यात्। तथाहि। अनित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्सुखादिवदित्यत्रामूर्तत्वहेतुः शब्देन्योन्यश्चाकाशे तत्सदृश इति कथमस्याकाशेनानैकां-

तिकत्वं सर्वानुमानाभावप्रसंगश्च भवेत्, अनुमानस्यान्येन दृष्टस्यान्यत्र दृश्यादेव प्रवर्तनात्। न हि ये धूमधर्माः क्वचिद्धूमे दृष्टास्त एव धूमांतरेष्वपि दृश्यंते तत्सदृशानां दर्शनात्। ततोऽनेन कस्यचिद्धेतोरनैकांतिकत्वमिच्छता क्वचिदनुमानात्प्रवृत्तिं च स्वीकुर्वता तद्धर्मसदृशस्तद्धर्मोनुमंतव्य इति क्रियाकारणवायुवनस्पतिसंयोगसदृशो वाय्वाकाशसंयोगोपि क्रियाकारणमेव। तथा च प्रतिदृष्टान्तेनाकाशेन प्रत्यवस्थानमिति प्रतिदृष्टान्तसमप्रतिषेधवादिनोभिप्रायः।

अब यदि कोई यों कहें कि यह वायुका आकाशके साथ हो रहा संयोग तो क्रियाके कारण वायुवनस्पति संयोगसे केवल सादृश्य रखता है। वस्तुतः भिन्न है। क्रियाका कारण हो रहा संयोग न्यारा है। और क्रियाको नहीं करने वाला संयोग भिन्न है। इन दोनों संयोगोंकी एक जाति नहीं है। अतः प्रतिवादीद्वारा प्रतिकूल दृष्टान्त हुये निष्क्रिय आकाश करके प्रत्यवस्थान देना उचित नहीं दीखता है। सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि इस प्रकार मानोगे तब तो कोई भी हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास नहीं हो सकेगा। इसी बातको दृष्टान्त द्वारा यों स्पष्ट समझ लीजिये कि शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य), अमूर्त होनेसे (हेतु) सुख, घट, इच्छा, आदिके समान (अन्वय दृष्टान्त) इस अनुमानमें दिये गये अमूर्तत्व हेतुका व्यभिचारस्थल आकाश माना गया है। किन्तु तुम्हारे विचार अनुसार यों कहा जा सकता है कि शब्दमें वर्त रहा अमूर्तत्व हेतु भिन्न है। और आकाशमें उस अमूर्तत्वके सदृश दूसरा भिन्न अमूर्तत्व वर्त रहा है। ऐसी दशामें इस अमूर्तत्व हेतुका आकाशकरके व्यभिचारीपना कैसे बताया जा सकता है ? वही शब्दनिष्ठ अमूर्त यदि आकाशमें रह जाता, तब तो व्यभिचार दिया जा सकता था। तुमने जैसे वायुवृक्ष संयोग और वायु आकाश संयोग इनकी न्यारी न्यारी जाति कर दी है, वैसे ही अमूर्तत्व भी भिन्न भिन्न हैं, तो फिर केवल शब्दमें ही वर्त रहा वह अमूर्तत्व विपक्षमें नहीं ठहरा। अतः व्यभिचारहेत्वाभास जगत्से उठ जायगा। शब्दजन्य शाब्दबोध (श्रुतज्ञान) भी नहीं हो सकेंगे। " वृत्तिर्वाच्यामपर सदृशी " वचनोंका प्रवृत्तिव्यवहार दूसरे शब्दोंके सादृश्यपर निर्भर है। किन्तु तुम्हारे मन्तव्य अनुसार उपालम्भ दिया जा सकता है कि संकेतकालका शब्द न्यारा है। और व्यवहारकालका शब्द उसके सदृश हो रहा सर्वथा भिन्न है। ऐसी दशामें शब्दोंके द्वारा वाच्य अर्थकी प्रतिपत्ति होना दुरूह है। तुम्हारे यहां सभी अनुमानोंके अभावका प्रसंग हो जावेगा। अनुमान तो सादृश्यसे ही प्रवर्तता है। अन्यके साथ व्याप्ति युक्त देखे हुये पदार्थका अन्यत्र दर्शनीय हो जानेसे ही अनुमान का प्रवर्तन माना गया है। रसोईघरमें अग्नि और धूम न्यारे हैं, तथा पर्वतमें वे भिन्न हैं। फिर भी सादृश्यकी शक्तिसे पर्वतमें वर्त रहे धूमकरके अग्निका अनुमान कर लिया जाता है। जो ही धूंएके तृणसम्बन्धिपन, परोसम्बन्धीपना बनकटीसम्बन्धीपन, कंडासम्बन्धीपन आदिक धर्म कहीं रसोई घर,

अविद्वाना आदि में वर्त रहे धूममें देखे जाते हैं। वे ही धूमके धर्म तो दूसरे धूओंमें यानी पक्ष हो रहे पर्वत आदिके धूमोंमें भी नहीं देखें जा रहे हैं। हां, उन महानस धूम धर्मोंके समान हो रहे अन्य धर्मोंका ही पर्वत आदिके धूमोंमें दर्शन हो रहा है। तुम्हारे विचार अनुसार महानसीय धूमोंसे ही अग्निका अनुमान किया जा सकता है। सदृश पदार्थोंको तुम सर्वथा भिन्न जातिवाला मानते हो और महानसमें अग्निका प्रत्यक्षज्ञान ही हो रहा है। अतः सादृश्य या एकजातिवान्‌की भित्तिपर प्रवर्तनेवाले सभी अनुमानोंका अभाव हो जावेगा"। इस दशामें तुम्हारे यहां हेतु व्यभिचारी नहीं बन सका और अनुमान ज्ञानकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकी। अब यदि यह या तुम किसी एक प्रमेयत्व, अग्नि, आदि हेतुओंके अनैकान्तिकपनको चाहते हो और कहीं अग्नि आदिमें अनुमान ज्ञानसे प्रवृत्ति होनेको स्वीकार करते हो तो सिद्धान्ती कहते हैं कि तब तो इस (तुम) भले मानुष पण्डितकरके उस सजातीय पदार्थके धर्मोंके सदृश ही अन्य उन सजातीय पदार्थोंके धर्म सविनय स्वीकार करने पडेंगे। ऐसा होनेपर क्रियाके कारण हो रहे वायु वनस्पति संयोगके समान जातिवाला ही वायु आकाशसंयोग भी क्रियाका कारण ही है। और तैसा हो जानेपर प्रतिकूल दृष्टान्त हो रहे आकाश करके प्रतिवादी द्वारा वादीके ऊपर प्रत्यवस्थान उठाया जा सकता है। ऐसा प्रतिदृष्टान्त समप्रतिषेधको कहनेवाले जाति वादीका अभिप्राय है।

स चायुक्तः। प्रतिदृष्टान्तसमस्य दूषणाभासत्वात् प्रकृतसाधनाप्रतिबंधित्वात्तस्य, प्रतिदृष्टान्तो हि स्वयं हेतुः साधकः साध्यस्य न पुनरन्येन हेतुना तस्यापि दृष्टांतांतरापेक्षायां दृष्टांतांतरस्य वा परेण हेतुना साधकत्वे परापरदृष्टांतहेतुपरिकल्पनायामनवस्थाप्रसंगात्। तथा दृष्टान्तोपि न परेण हेतुना साधकः प्रोक्तानवस्थानुषंगसमानत्वात्ततो दृष्टान्तेपि प्रतिदृष्टान्त इव हेतुवचनाभावाद्भवतो दृष्टान्तोस्तु हेतुक एव।

न्यायसिद्धान्ती अब उक्त जातिका असत् उत्तरपना बताते हैं कि प्रतिवादी द्वारा वह प्रतिदृष्टान्तसम प्रतिषेध उठाना तो समुचित नहीं है। क्योंकि प्रतिदृष्टान्तसमा जाति तो समीचीन दूषण नहीं होती हुई दूषणसदृश दीख रही दूषणाभास है। वह प्रकरण प्राप्त साधनकी प्रतिबंधिका नहीं हो सकती है। प्रकृतके साधनको बिगाडता नहीं है। वह दूषण नहीं है। किसी मनुष्यकी सुंदरताको अन्य पुरुषका काणापन नहीं बिगाड देता है। बगिगामें उपज रहे नीबका कडुआपन बोरी में रखी हुई खाण्डके मीठेपनका प्रतिबंधक नहीं है। प्रतिवादी द्वारा दिया गया प्रतिदृष्टान्त आकाश तो दूसरे किसीकी नहीं अपेक्षा कर स्वयं ही नित्यत्व साध्यका साधक माना जायगा। पुनः अन्य हेतु करके तो वह प्रतिदृष्टान्त साध्यका साधक नहीं है। अन्यथा उस अन्य साध्यसाधक दृष्टान्तरूप हेतुको भी दृष्टान्तोंकी अपेक्षा हो जानेपर उस अन्य दृष्टान्तको भी तीसरे, चौथे, आदि भिन्न भिन्न दृष्टान्तरूप हेतुओं करके साधकपना मानते मानते उत्तरोत्तर दृष्टान्तस्वरूप हेतुओंकी कल्पनाओंका चारों ओरसे परिवार बढते संते अनवस्था दोषका प्रसंग होगा। अतः प्रतिदृष्टान्त स्वतः ही

साध्यका साधक है। तिसी प्रकार दृष्टान्त ढेल भी दूसरे हेतु या दृष्टांत करके साध्यका साधक नहीं है। किंतु स्वतः सामर्थ्यसे अनित्यत्वका साधक है। अन्यथा पहिले भले प्रकार कह दी गयी अनवस्थाका प्रसंग समान रूपसे लागू हो जायगा। तिस कारण प्रतिवादीके हो रहे आपके कहे गये आकाश दृष्टांतमें जैसे उसके समर्थक हेतुका कथन करना आवश्यक नहीं है, उसी प्रकार वादीके दृष्टान्तमें भी हेतु वचनकी आवश्यकता नहीं है। अतः आपके यहां वह ढेल भी साधकका हेतु ही हो रहा अच्छा दृष्टान्त हो जाओ। जब प्रतिवादीने ढेलको दृष्टान्त स्वीकार कर लिया तो प्रतिवादी आकाशको अब प्रतिदृष्टान्त नहीं बना सकता है। " प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः " इस सूत्रके भाष्यमें भाष्यकार कहते हैं कि प्रतिदृष्टान्तको कहनेवाले प्रतिवादीने कोई विशेष हेतु तो कहा नहीं है कि इस प्रकारसे मेरा प्रतिदृष्टान्त आकाश तो आत्माके निष्क्रिय साध्यका साधक है। और वादीका ढेल दृष्टान्त आत्माके सक्रियत्वका साधक नहीं है। इस प्रकार प्रतिदृष्टान्त हेतुपने करके वादीका दृष्टान्त अहेतुक नहीं है। यह सूत्र अभिमत सध जाता है। किन्तु वह प्रतिवादीका दृष्टान्त अहेतुक क्यों नहीं होगा। जब कि वादीके साधकका उससे निषेध नहीं किया जा चुका है। अतः ऐसे युक्ति रहित दूषण उठाना प्रतिवादीका उत्तर प्रशस्त नहीं है।

तदाहोद्योतकरः। प्रतिदृष्टान्तस्य हेतुभावं प्रतिपद्यमानेन दृष्टांतस्यापि हेतुभावोऽभ्युपगंतव्यः। हेतुभावश्च साधकत्वं स च कथमहेतुर्न स्यात्। यद्यप्रतिषिद्धः स्यात् अप्रतिषिद्धश्चायं साधकः।

उसी बातको उद्योतकर पण्डित यों कह रहे हैं कि अपने प्रतिदृष्टान्तको साध्यकी हेतुतारूपसे समझ रहे प्रतिवादीकरके वादीके दृष्टान्तको भी स्वसाध्यकी हेतुता स्वीकार कर लेनी चाहिये। हेतुभाव ही तो साध्यका साधकपन है। वह भला अन्य कारणोंकी अपेक्षा रखे बिना ही अहेतु क्यों नहीं होगा ? अर्थात्—वादीका दृष्टान्त या हेतुकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ प्रकृत साध्यका साधक हो जाता है। यदि वह प्रतिवादीके दृष्टान्तसे प्रतिषिद्ध नहीं हुआ है, जब बाल बाल बच गया है तो अप्रतिषिद्ध हो रहा यह आत्माके सक्रियत्वका साधक हो ही जायगा। ऐसी दशामें प्रतिवादीका उत्तर समीचीन नहीं है।

किं च, यदि तावदेवं ब्रूते यथायं त्वदीयो दृष्टांतो लोष्ठादिस्तथा मदीयोप्याकाशादिरिति तदा दृष्टांतस्य लोष्ठादेरभ्युपगमान्न दृष्टान्तत्वं व्याघातत्वात्।

प्रतिदृष्टान्तसमके दूषणाभासपनमें दूसरी उपपत्ति यह भी है कि यह जातिवादी यदि निर्लज्ज होकर पहिले ही इस प्रकार स्पष्ट कह बैठे कि जिस प्रकार यह तेरा (वादीका) ढेल, गोली आदि दृष्टांत है, तिसी प्रकार मेरा (प्रतिवादीका) भी आकाश, चुम्बकपाषाण, काक, आदिक दृष्टान्त है। यों कहनेपर तो सिद्धान्ती कहते हैं कि तब तो प्रतिवादीने लोष्ठ, गोला आदि दृष्टान्तोंको

समीचीन दृष्टान्तपनसे स्वीकार कर लिया है। ऐसी दशामें आकाश आदिको प्रतिपक्षका साधक दृष्टान्तपना नहीं बन सकता है। क्योंकि इसमें व्याघात दोष आता है। "पर्वतो वन्हिमान् धूमात्" यहां रसोई घरको बढिया अन्वय दृष्टान्त मान रहा पण्डित सरोवरको अन्वयदृष्टान्त नहीं कह सकता है। रसोई घरको दृष्टान्त कहते ही सरोवरके अन्वयदृष्टान्तपनका विघात हो जाता है। फिर भी चलाकर सरोवरको अन्वयदृष्टान्त यदि कह देगा तो उसके ऊपर व्याघात दोष लागू हो जायगा। जैसे कि किसी पुरुषको मनुष्य कहकर उसको अमनुष्य कहनेवालेके ऊपर ग्रहके समान व्याघात दोष लग बैठता है। उसी प्रकार साध्य सिद्धिमें अनुकूल, प्रतिकूल, हो रहे ढेल, या आकाशमेंसे एकका दृष्टान्तपना स्वीकार कर चुकनेपर बचे हुये दूसरेका अदृष्टान्तपन ही सिद्ध हो जाता है। एक साथ अनुकूल, प्रतिकूल, दोनोंके समीचीन दृष्टान्तपनका तो विरोध है। जब कि यहां जैसा तेरा दृष्टान्त है, वैसा मेरा दृष्टान्त है। यह प्रतिवादीने स्वमुखसे कह दिया है। एतावता उसने वादीके दृष्टान्तको अंगीकार कर लिया है। ऐसी दशामें प्रतिवादी अब प्रतिकूल दृष्टान्तको कथमपि नहीं बोल सकता है। व्याघात दोष उसके मुखको मसोस देवेगा।

अथैवं ब्रूते यथायं मदीयो दृष्टान्तस्तथा त्वदीय इति तथापि न दृष्टान्तः कश्चित् व्याघातादेव दृष्टान्तयोः परस्परं व्याघातः समानबलत्वात्। तयोरदृष्टान्तत्वे तु। प्रतिदृष्टान्तस्य ह्यदृष्टान्तत्वे दृष्टान्तस्यादृष्टान्तत्वव्याघातः प्रतिदृष्टान्ताभावे तस्य दृष्टान्तत्वोपपत्तेः दृष्टान्तस्य चादृष्टान्तत्वे प्रतिदृष्टान्तस्यादृष्टान्तत्वव्याघातः दृष्टान्ताभावे तस्य प्रतिदृष्टान्ततोपपत्तेः। न चोभयोर्दृष्टांतत्वं व्याघातादिति न प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं युक्तं।

सिद्धान्ती ही कहते हैं कि अब यदि प्रतिवादी इस प्रकार कह बैठे कि जैसा यह आकाश मेरा दृष्टान्त है, उसी प्रकार तुझ वादीका ढेल दृष्टान्त है। यों कहनेपर भी व्याघातदोष आता है। अतः तो भी दोनोंमेंसे कोई दृष्टान्त नहीं हो सकता है। बात यह है कि पहिले प्रतिवादीने जैसा तेरा दृष्टान्त है, वैसा मेरा दृष्टान्त है, यों कहा था और अब जैसे मेरा दृष्टान्त है, वैसे तेरा दृष्टान्त है, इस प्रकार कहा है। यों कह देनेपर पहिला दिया हुआ वादीके पक्षको पुष्ट करनेवाला व्याघातदोष तो निर्बल पड जाता है। तो भी क्या हुआ। व्याघात दोष तदवस्थ रहेगा। आत्माके क्रियावत्त्वको साधनेमें प्रतिकूल हो रहे अपने आकाश दृष्टान्तको समीचीन दृष्टान्त कह रहा प्रतिवादी पुनः लगे हाथ क्रियावत्त्व साधनेमें अनुकूल हो रहे वादीके ढेल दृष्टान्तको दृष्टान्त नहीं कह सकता है। यदि कह देगा तो पूर्वापरविरुद्ध कथन करनेसे इसमें व्याघात दोष आता है। अथवा "यथायं मदीयो न दृष्टान्तस्तथा त्वदीयोपीति" ऐसा पाठ होनेपर पर यों अर्थ कर लेना कि जैसे आत्माके क्रियारहितपनको साधनेमें मेरा आकाश दृष्टान्त प्रयोजक नहीं है, उसी प्रकार तुम वादीका कोई ढेल दृष्टान्त भी आत्माके क्रियावत्त्वका प्रयोजक नहीं है। सिद्धान्ती कहते हैं कि तो व्याघात

दोष हो जानेके कारण ही कोई दृष्टान्त नहीं हो सकता है। क्योंकि दृष्टान्त भी इनका समानवक सहितपना होनेके कारण परस्परमें "सुन्दउपसुन्द" न्याय अनुसार व्याघात और प्रतिदृष्टांत जायगा, जैसे कि यहां घट नहीं और अघट भी नहीं, ऐसा कहनेपर व्याघात है। सत्का निषेध करते ही उसी समय असत्का विधान हो जाता है। और असत्का निषेध करनेपर उसी समय सत्की विधि हो जाती है। परस्परविरुद्ध हो रहे दो धर्मोंका युगपत् निषेध करना असंभव है। क्योंकि व्याघात दोष मुंह फाडे खडा हुआ है। विरुद्ध हो रहे डेळ, आकाश, इन दोनोंमें एक साथ ही दृष्टान्तपना नहीं बन पाता है। प्रतिदृष्टान्त आकाशको अदृष्टान्त माननेपर उसी समय डेळ दृष्टान्तके अदृष्टान्तपनाका व्याघात (निराकरण) हो जाता है। क्योंकि आकाशका प्रतिदृष्टान्तपना निषेध किये जानेपर उस डेळको दृष्टान्तपना सुकमरीतिसे सध जाता है। घटरहितपनका प्रत्याख्यान कर देनेसे घटसहितपना सुकमतया रक्षित हो जाता है। तथा डेळ दृष्टान्तका अदृष्टान्तपना मान चुकनेपर पुनः प्रतिदृष्टान्त आकाशके अदृष्टान्तपन कथन करनेमें व्याघात दोष आवेगा, क्योंकि डेळको दृष्टान्तपना नहीं बननेपर उसी समय उस आकाशको प्रतिदृष्टान्तपना युक्तिसिद्ध हो जाता है। आकाश और डेळ दोनोंका दृष्टान्तपना तो व्याघातदोष हो जानेसे नहीं बन पाता है। इस कारण प्रतिवादीको प्रतिदृष्टान्त आकाश करके प्रत्यवस्थान उठाना समुचित नहीं है। अतः यह प्रतिदृष्टान्तसमा जाति कहना प्रतिवादीका समीचीन उत्तर नहीं है।

कारणाभावतः पूर्वमुत्पत्तेः प्रत्यवस्थितिः।
यानुत्पत्त्या परस्योक्ता सानुत्पत्तिसमा भवेत् ॥ ३६८ ॥
शब्दो विनश्वरो मर्त्यप्रयत्नानन्तरोद्भवात्।
कर्दंबादिवदित्युक्ते साधने प्राह कश्चन ॥ ३६९ ॥
प्रागुत्पत्तेरनुत्पन्ने शब्देऽनित्यत्वकारणं।
प्रयत्नानंतरोत्थत्वं नास्तीत्येषोऽविनश्वरः ॥ ३७० ॥
शाश्वतस्य च शब्दस्य नोत्पत्तिः स्यात्प्रयत्नतः।
प्रत्यवस्थेत्यनुत्पत्त्या जातिर्न्यायातिलंघनात् ॥ ३७१ ॥
उत्पन्नस्यैव शब्दस्य तथाभावप्रसिद्धितः।
प्रागुत्पत्तेर्न शब्दोस्तीत्युपालंभः किमाश्रयः ॥ ३७२ ॥

सत एव तु शब्दस्य प्रयत्नानंतरोत्थता ।
कारणं नश्वरत्वेस्ति तन्निषेधस्ततः कथम् ॥ ३७३ ॥

उत्पत्तिके पहिले तालु आदि कारणोंके अभावसे जो अनुत्पत्ति करके प्रत्यवस्थान उठाया जाता है, वह दूसरे प्रतिवादीकी अनुत्पत्तिसमा नामकी जाति कही गयी समझनी चाहिये। जैसे कि शब्द (पक्ष) विनाशस्वभाववाला है (साध्य), मनुष्यके प्रयत्न द्वारा अव्यवहित उत्तर कालमें उत्पत्तिवाला होनेसे (हेतु) कदंब वृक्ष, लडुआ, घडा, कपडा आदिके समान (अन्वय दृष्टान्त), यों वादी द्वारा साधन करनेपर कोई एक प्रतिवादी आटोप सहित कहता है कि उत्पत्तिके पहिले नहीं उत्पन्न हो चुके शब्दमें अनित्यपनेका कारण प्रयत्न अनन्तर उपजना तो नहीं है। इस कारण यह शब्द अविनश्वर (नित्य) हो गया अर्थात्—उत्पत्तिके पहिले जब शब्दका कोई उत्पादक कारण ही नहीं है,तो अकारणवान् शब्द नित्य सिद्ध हो गया और ऐसी दशामें नित्य हो रहे शब्दकी प्रयत्न द्वारा उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इस प्रकार यह अनुत्पत्ति करके दूषण उठाना अनुत्पत्तिसमा जाति है। सिद्धान्ती कहते हैं, जो कि असत् उत्तर है दूषणाभास है। क्योंकि प्रतिवादीने न्यायमार्गका अधिक उल्लंघन किया है। कारण कि उत्पन्न हो चुके ही धर्मी हो रहे शब्दके तिस प्रकार प्रयत्न अनन्तर भवन अथवा उत्पत्तिसहितपन ये धर्म प्रसिद्ध हो रहे सम्भवते हैं। जब कि उत्पत्तिके पहिले शब्द ही विद्यमान नहीं हैं, तो यह प्रतिवादीका अनुत्पत्ति रूपकरके उलाहना देना किस अधिकरणमें ठहरेगा ? विद्यमान हो रहे ही शब्दके तो नाशशील सहितपनमें कारण हो रहा प्रयत्नअंतर उत्पाद होना हेतु सिद्ध है। तिस कारणसे उस नश्वरत्वका प्रतिषेध प्रतिवादी द्वारा कैसे किया जा सकता है ? यानी उक्त दूषण उठाना सर्वथा अनुचित है।

उत्पत्तेः पूर्वं कारणाभावतो या प्रत्यवस्थितिः परस्यानुत्पत्तिसमा जातिरुक्ता भवेत् " प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसम " इति वचनात्। तद्यथा-विनश्वरः शब्दः पुरुषप्रयत्नोद्भवात् कदंबादिवदित्युक्ते साधने सति पर एवं ब्रवीति प्रागुत्पत्तेरनुत्पन्ने शब्दे विनश्वरत्वस्य कारणं यत्प्रयत्नानंतरीयकत्वं तन्नास्ति ततोयमविनश्वरः, शाश्वतस्य च शब्दस्य न प्रयत्नानंतरं जन्मेति सेयमनुत्पत्त्या प्रत्यवस्था दूषणाभासो न्यायातिलंघनात्। उत्पन्नस्यैव हि शब्दधर्मिणः प्रयत्नानंतरीयकत्वमुत्पत्तिधर्मकत्वं वा भवति, नानुत्पन्नस्य प्रागुत्पत्तेः शब्दस्य चासत्त्वे किमाश्रयोयमुपालंभः। न ह्ययमनुत्पन्नोऽसन्नेव शब्द इति वा प्रयत्नानंतरीयक इति वा अनित्य इति वा व्यपदेष्टुं शक्यः। शब्दे तु सिद्धमेव प्रयत्नानंतरीयकत्वं कारणं नश्वरत्वे साध्ये ततः कथमस्य प्रतिषेधः।

साधनके अङ्ग हो रहे पक्ष, हेतु, दृष्टान्तोंकी उत्पत्तिके पहिले साध्यके ज्ञापक कारणका अभाव हो जानेसे जो दूसरे प्रतिवादीके द्वारा प्रत्यवस्थान उठाया जाता है, वह उसकी अनुत्पत्तिसमा जाति कह दी जावेगी। गौतमऋषिने न्यायदर्शनमें ऐसा ही मूलसूत्र कहा है कि उत्पत्तिके पहिले कारणका अभाव दिखला देनेसे अनुत्पत्तिसम नामका प्रतिषेध है। इसी बातको न्यायभाष्य अनुसार उदाहरणसहित स्पष्ट यों कह देते हैं कि शब्द (पक्ष) विनाश स्वभाववान् है (साध्य) पुरुषके कंठ, तालु, अभ्यन्तर प्रयत्न, बाह्य प्रयत्न आदि व्यापारोंकरके उत्पन्न होना हो जानेसे (हेतु)। कदम्ब या कटक, केयूर, घडा, आदि के समान (दृष्टान्त) इस प्रकार वादीकरके साध्यका साधन कर चुकनेपर प्रतिवादी इस ढंगसे बोलता है कि उत्पत्तिसे पहिले नहीं उत्पन्न हो चुके शब्दमें विनश्वरपनेका कारण जो प्रयत्नानंतरीयकत्व कहा था वह वहां नहीं है। तिस कारणसे यह शब्द अविनाशी प्राप्त हुआ और अविनाशी नित्य हो रहे शब्दकी पुनः पुरुषप्रयत्नके अव्यवहित उत्तर कालमें उत्पत्ति होती नहीं है। इस कारण अनुत्पत्तिकरके दूषण देना अनुत्पत्ति प्रतिषेध है। अब न्यायसिद्धान्ती कहते हैं कि सो यह अनुत्पत्तिकरके दूषण उठाना तो प्रतिवादीकी ओरसे दूषण नहीं होकर दूषणाभास उठाना समझा जाता है। क्योंकि ऐसा कहनेवाले प्रतिवादीने न्यायमार्गका अति अधिक उल्लंघन कर दिया है। गौतम सूत्र " तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः " के अनुसार समझमें आ जाता है। कारण कि उत्पन्न हो चुके ही धर्मवान् शब्दके प्रयत्नान्तरीयकत्व अथवा उत्पत्तिधर्मकत्व, ये धर्म सम्भवते हैं। नहीं उत्पन्न हुये शब्दके कोई धर्म नहीं ठहरता है। " सति धर्मिणि धर्माणां मीमांसा स्यात् "। उत्पत्तिके पहिले जब शब्द है ही नहीं तो यह प्रतिवादीकरके उलाहना किसका आश्रय लेकर दिया जा रहा है ? तिस प्रकार उत्पन्न हो चुके ही पदार्थको शब्द कहा जाता है। यह शब्द उत्पत्ति नहीं होनेपर तो सत् ही नहीं है। अनुत्पन्न शब्द असत् ही है, जो अश्वविषाणके समान असत् पदार्थ है। वह शब्द है, इस प्रकार अथवा प्रयत्नान्तरीयक है, इस प्रकार अथवा अनित्य है, इस प्रकार व्यवहार करने योग्य नहीं है। जीवितके सब साथी या सहायक हैं। नहीं पैदा हुये या मर चुकेमें कोई धर्म विद्यमान हो रहा नहीं कहा जाता है। हां, शब्दके उपज जानेपर तो नश्वरपने साध्यमें ज्ञापक कारण हो रहा प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु सिद्ध ही है। तिस कारण पुनः इसका प्रतिषेध भला प्रतिवादी द्वारा कैसे किया जा सकता है ? उत्पत्तिके पहिले पदार्थमें हेतुके नहीं ठहरनेसे हेत्वसिद्धि नहीं हो जाती है। अन्यथा तुम्हारे (प्रतिवादीके) हेतुका भी कहीं अभाव हो जानेसे असिद्धि हो जायगी। इसी प्रकार पक्ष,दृष्टान्त आदिकी सिद्धि भी हो जाती है। आत्मलाभ करनेपर ही सब गुण गाये जाते हैं। कदाचित् साध्यके साथ वहां हेतुका सद्भाव हो जानेसे ही दृष्टान्तपना बन जाता है। इसी प्रकार हेतु आदिकोंका जब कभी पक्षमें ठहर जानेसे ही हेतु आदिपना सध जाता है। पक्षमें सर्वत्र, सर्वदा, हेतु आदिकके सद्भावकी अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये। अतः शब्दमें विनश्वरपना साध्य करनेपर वादीका

प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु समीचीन है। प्रतिवादी द्वारा उसका प्रतिषेध नहीं हो सका है। भले प्रकार चल रहे वृषभमें आर चुभोना अन्याय है।

किं चायं हेतुर्ज्ञापको न पुनः कारको ज्ञापके च कारकवत्प्रत्यवस्थानमसंबद्धमेव। ज्ञापकस्यापि किंचित्कुर्वतः कारकत्वमेवेति चेन्न, क्रियाहेतोरेव कारकत्वोपपत्तेरन्यथानुपपत्तिरिति हेतोर्ज्ञापकत्वात्। कारकता हि वस्तूत्पादयति ज्ञापकस्तूत्पन्नं वस्तु ज्ञापयतीत्यस्ति विशेषः कारकविशेषे वा ज्ञापके कारकसामान्यवत्प्रत्यवस्थानमयुक्तं।

दूसरी बात हम सिद्धान्तीको यह भी कहनी है कि यह प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु ज्ञापक हेतु है। यह कारक हेतु तो नहीं है, तो फिर ज्ञापक हेतुमें कारकहेतुके समान अथवा कारक साधनोंमें संभवनेवाले दूषणोंका उठाना असंगत ही है। अर्थात्–उत्पत्तिके पूर्वमें शब्द नहीं है। अतः वहां प्रयत्नजन्यत्व नहीं ठहर पाया। ये सब अव्याप्ति, अन्वय व्यभिचार, आदिक तो कारक हेतुओंके दोष हैं। ज्ञापक हेतुओंके दोष तो व्यभिचार, विरुद्ध, आदिक हैं। ज्ञापकके प्रकरणमें कारकोंके दोष उठाना पूर्वापर सम्बन्धकी अज्ञताको ही प्रकट कर रहा है। यदि यहां कोई यों कहे कि ज्ञापक हेतु भी कुछ न कुछ साध्यको साधना, अनुमान ज्ञानको उपजाना, हेतुज्ञप्ति कराना, आदि कार्योंको कर ही रहा है। अतः ज्ञापक हेतुको भी कारकपना आपाततः सिद्ध हो ही जाता है। अब सिद्धान्ती कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि क्रियाओंके संपादक हेतुको ही कारकपना युक्तिसिद्ध है। और अन्यथा अनुपपत्ति हो जानेसे यानी साध्यके बिना हेतुके सद्भावकी असिद्धि हो जानेसे हेतुका ज्ञापकपना व्यवस्थित है। कारकपना तो प्राक् असत् हो रही वस्तुको उत्पन्न कराता है और ज्ञापक तो उत्पन्न हो चुकी वस्तु का ज्ञानमात्र करा देता है। इस प्रकार इन दंड आदि कारके और धूम आदि ज्ञापक हेतुओंका अंतर माना गया है। अथवा आपके कथनानुसार कुछ न कुछ क्रिया कर देनेसे ज्ञापक हेतुको विशेष जातिका कारक हेतु मान भी लिया जाय तो भी सामान्य कारकोंमें सम्भवनेवाले प्रत्यवस्थानको विशेष कारक हेतुमें उठाना उचित नहीं है। विशेष पदार्थमें सामान्यके दोष नहीं लागू होते हैं। अतः उत्पत्तिके पहिले शब्दमें अनित्यत्वका साधक प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु नहीं रहा, यह दोष अवसर उचित नहीं है।

किं च प्रागुत्पत्तेरप्रयत्नानंतरीयको अनुत्पत्तिधर्मको वा शब्द इति ब्रुवाणः शब्दमभ्युपैति नासतो प्रयत्नानंतरीयकत्वादिधर्म इति तस्य विशेषणमनर्थकं प्रागुत्पत्तेरिति।

तीसरी बात यह भी है कि जो प्रतिवादी यों कह रहा है कि उत्पत्तिके पहिले शब्दमें हेतु साध्य दोनों भी नहीं हैं। अतः शब्द प्रयत्नान्तरीयक नहीं है और उत्पत्ति धर्मवाला अनित्य भी

नहीं है। सिद्धान्ती कहते हैं कि इस प्रकार कह रहा प्रतिवादी शब्दको अवश्य स्वीकार करता है। शश विषाणके समान असत् पदार्थके प्रयत्नान्तरीयकत्व, अनित्यत्व, व्याप्ति आदिक धर्म नहीं हो सकते हैं। इस कारण उत्पत्तिके पहिले यह तुम्हारे विचार अनुसार नित्य हो रहे उस शब्दका विशेषण लगाना व्यर्थ पडा, जो बात यों ही विना कहे प्राप्त हो जाती है, उसको विशेषण लगा कर पुनः कहना निष्प्रयोजन है।

अपरे तु प्राहुः, प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादित्युक्ते अर्थापत्तिसमैवेयमिति प्रागुत्पत्तेः प्रयत्नानंतरीयकत्वस्याभावादप्रयत्नानंतरीयकत्वाच्च इति कृतेऽसत्प्रत्युत्तरं ब्रूते। नायं नियमो अप्रयत्नानंतरीयकत्वं नित्यमिति तु, न हि तस्य गतिः किंचिन्नित्यमाकाशादेव, किंचिद्-नित्यं विद्युदादि, किंचिदसदेवाकाशपुष्पादिति। एतत्तु नापरेषां युक्तमिति पश्यामः। कथमिति ? यत्तावदसत्तदप्रयत्नानंतरीयकत्वं वाजन्मविशेषणत्वात् यस्याप्रयत्नानंतरं जन्म तदप्रयत्नानंतरीयकं न चाभावो विद्यते अतो न तस्य जन्म यच्चासत् किं तस्य विशेषमस्ति एतेन नित्यं प्रयुक्तं, न हि नित्यमप्रयत्नानंतरीयकमिति युक्तं वक्तुं, तस्य जन्माभावादिति जातिलक्षणाभावाच्चेयमनुत्पत्तिसमा जातिरिति चेत्। नानुत्पत्तेरहेतुभिः साधर्म्यात् पटोऽनुत्पन्नैस्तन्तुभिस्तद्यथानुत्पन्नास्तंतवो न पटस्य कारणमिति।

दूसरे विद्वान् तो यहां बहुत अच्छा यों कह रहे हैं कि उत्पत्तिके पहिले ज्ञापक कारणके अभाव हो जानेसे प्रत्यवस्थान देना अनुत्पत्तिसम जाति है। इस प्रकार कह चुकनेपर यह अर्थापत्ति-समा नामकी ही जाति हुई। क्योंकि अर्थापत्ति करके प्रतिकूल पक्षकी सिद्धि कर देनेसे अर्थापत्ति-समा जाति हुई मानी गयी है। जैसे कि अनित्यताके साधक प्रयत्न अनंतरीयकत्वके साधर्म्यसे शब्द अनित्य है, तो नित्यके साधर्म्यसे शब्द नित्य भी हो जायगा। शब्दका नित्यके साथ स्पर्शरहितपन साधर्म्य तो है। अर्थात्—आकाश, आत्मा, जाति, आदिक पदार्थ स्पर्शरहित हो रहे नित्य हैं। गुणमें अन्य गुणोंके नहीं रहनेके कारण इस शब्दगुणमें भी स्पर्श नहीं है। यहां जिस प्रकार अर्थापत्ति-समा जाति है, उसी प्रकार उत्पत्तिके पहिले शब्दमें प्रयत्न अनन्तर भावित्वके नहीं होनेसे और उक्त करके अनुक्तका आक्षेप कर लेना स्वरूप अर्थापत्ति करके शब्दका अप्रयत्नान्तरीयकपना हो जानेसे नित्यत्व प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार कथन करनेपर प्रतिवादी तो जातिस्वरूप असमीचीन प्रत्युत्तर कह रहा है। कारण कि यह तो नियम नहीं है कि जो अप्रयत्नानंतरीयक होय वह पदार्थ नित्य ही माना जाय। अप्रत्नानंतरीयकपनेसे उस नित्यपनेके ज्ञप्ति नहीं हो पाती है। देखिये कि पुरुषप्रयत्नके अव्यवहित उत्तर कालमें नहीं जन्यपना रूप अप्रयत्नान्तरीयकपना होते हुये कोई कोई आकाश काल द्रव्य आदिक पदार्थ तो नित्य ही हैं। और पुरुषप्रयत्नसे अजन्य हो रहे कोई अप्रयत्नानंतरीयक पदार्थ तो अनित्य है। जैसे कि बिजली, मेघ, आंधी, ऋतुपलटना, भूकम्प, आदि हैं।

तथा अप्रयत्नानन्तरीयक शब्दमें प्रथम पक्षका आश्रय करनेपर कोई अप्रयत्नजन्य आकाशपुष्प, अश्वविषाण, वन्ध्यापुत्र आदिक सर्वथा असत् ही हैं। अब न्यायसिद्धान्ती कहते हैं कि इस प्रकार दूसरे विद्वानोंका यह कहना तो युक्तिपूर्ण नहीं है, ऐसा हम देख रहे हैं। किस प्रकारसे उनका कहना युक्तिसहित नहीं है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर हम सिद्धान्ती यों कहते हैं कि जो आपने पूर्वमें सर्वथा असत् आकाशपुष्प आदिको अप्रयत्नानन्तरीयक कहा था, वह उचित नहीं है। क्योंकि अप्रयत्नानन्तरीयकपना तो जन्मका विशेषण है। पुरुषप्रयत्नके विना अन्य कारणस्वरूप अप्रयत्नोंके अनंतर कालमें जिस पदार्थका जन्म होता है, वह अप्रयत्नानन्तरीयक माना जाता है। किन्तु तुच्छ अभाव या असत् पदार्थ तो आत्मलाभ नहीं करता है। अतः उसका जन्म नहीं हो पाता है। दूसरी बात यह है कि जो आकाशपुष्प सर्वथा असत् है, उसका विशेष्य भला क्या हो सकता है ? विशेष्य या विशेषण तो सद्भूत पदार्थोंके हुआ करते हैं। इस कथनसे आकाश, आत्मा, परममहापरिमाण, सामान्य आदि नित्य पदार्थोंका अप्रयत्नानन्तरीयकपना खण्डित कर दिया गया समझ लेना चाहिये। कारण कि नित्य पदार्थ अप्रयत्नान्तरियक हैं, इस प्रकार कहना ही उचित नहीं है। क्योंकि उस नित्य पदार्थका जन्म नहीं होता है। जीव प्रयत्नके बिना अन्य कारणोंसे जन्म ले रहे पदार्थोंमें ही प्रयत्नानन्तरीयकपना सम्भवता है। अतः तुम्हारा मध्यम पक्ष ही ठीक जचता है। यदि कोई यों कहे कि तब तो जातिका असत् उत्तररूप लक्षण यहां घटित नहीं हो पाता है। अतः यह अनुत्पत्तिसमा जाति नहीं हुई। इसपर तो सिद्धान्ती कहते हैं कि यों नहीं कहना चाहिये। क्योंकि उत्पत्तिके पहिले शब्दकी अनुत्पत्ति हो जानेसे हेतुरहित हो रहे नित्य आकाश आदि पदार्थोंके साथ साधर्म्य मिल जानेसे शब्दके नित्यपनकी प्राप्तिका प्रसंग इस अनुत्पत्ति समामें प्रतिवादीद्वारा उठाया जा सकता है। किन्तु वह समीचीन उत्तर नहीं है। अनुत्पन्न तन्तुओं करके नहीं बुनना होनेसे पट नित्य नहीं हो जाता है। उसको स्पष्ट यों समझ लीजिये कि नहीं उत्पन्न हो चुके सूत तो पटके कारण नहीं हैं। यहांतक अनुत्पत्तिसमा जातिका विचार हो चुका है।

सामान्यघटयोस्तुल्ये ऐंद्रियत्वे व्यवस्थिते।
नित्यानित्यत्वसाधर्म्यात् संशयेन समा मता ॥ ३७४ ॥
तत्रैव साधने प्रोक्ते संशयेन स्वयं परः।
प्रत्यवस्थानमाधत्तेऽपश्यन् सद्भूतदूषणम् ॥ ३७५ ॥
प्रयत्नानंतरोत्थेपि शब्दे साधर्म्यमैंद्रिये।
सामान्येनास्ति नित्येन घटेन च विनाशिना ॥ ३७६ ॥

तादृशेनेति सन्देहो नित्यानित्यत्वधर्मयोः ।
स चायुक्तो विशेषेण शद्बानित्यत्वसिद्धितः ॥ ३७७ ॥
यथा पुंसि विनिर्णीते शिरःसंयमनादिना ।
पुरुषस्थाणुसाधर्म्योर्द्ध्वत्वतो नास्ति संशयः ॥ ३७८ ॥
तथा प्रयत्नजत्वेनानित्ये शब्दे विनिश्चिते ।
घटसामान्यसाधर्म्यादैंद्रियत्वान्न संशयः ॥ ३७९ ॥
संदेहेत्यंतसंदेहः साधर्म्यस्याविनाशतः ।
पुंस्थाण्वादिगतस्येति निर्णयः क्वास्पदं व्रजेत् ॥ ३८० ॥

पर, अपर, सामान्य, और घट दृष्टान्तका इन्द्रिय ज्ञान द्वारा ग्राह्यपना तुल्यरूपसे व्यवस्थित हो चुकनेपर नित्यपन और अनित्यपनके साधर्म्यसे संशयसमा जाति हुई। नैयायिकोंके यहां मानी गयी है। जैसे कि तिसी प्रकार वहां ही प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतुसे घटके समान शद्बमें अनित्यपनका भले प्रकार शाद्बबोध कर चुकनेपर दूसरा प्रतिवादी स्वयं समीचीन हो रहे दूषणको नहीं देखता हुआ संशय करके प्रत्यवस्थानका आवान करता है कि पुरुष प्रयत्न व्यापारके अनन्तर भी उत्पन्न हुये बहिः इन्द्रियजन्य ज्ञान ग्राह्य हो रहे शद्बमें नित्य माने गये घटत्व, पटत्व, या शद्बत्व सामान्यों (नित्य जातियां) करके साधर्म्य है। अर्थात्–जिस इन्द्रियसे जो जाना जाता है, उसमें रहनेवाला सामान्य और उसका अभाव भी उसी इन्द्रियसे जाना जाता है। इस नियमके अनुसार घट द्रव्य और घटत्व सामान्य दोनों चक्षु या स्पर्शन इन्द्रियसे जान लिये जाते हैं। शद्बगुण और शद्बत्व जाति दोनों कर्ण इन्द्रियके विषय हो जाते हैं। अतः शद्बका नित्य सामान्यके साथ ऐन्द्रियिकत्व साधर्म्य है। तथा तिस प्रकारके प्रयत्न अनन्तर जन्य हो रहे विनाशी (अनित्य) घटके साथ समानधर्मापन विद्यमान है। इस प्रकार शद्बके नित्यपन, अनित्यपन धर्मोमें संदेह हो जाता है। अब सिद्धान्ती संशयसमा जातिका असमीचीनपना दिखाते हैं कि संशयसमा जातिको कहनेवाले प्रतिवादीका वह संशय उठाकर प्रत्यवस्थान देना तो युक्त नहीं है। क्योंकि विशेष रूपसे प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु द्वारा शद्बके अनित्यपनकी सिद्धि हो चुकी है। जैसे कि शिरको बांधना, चलना, केशोंका बांधना सम्हालना, हाथ पैर हिलाना आदि व्यापारों करके पुरुषका विशेष रूपसे निर्णय हो चुकनेपर पुनः पुरुष और ठूंठके साधर्म्य हो रहे ऊर्ध्वता धर्मसे संशय नहीं हो पाता है। तिसी प्रकार प्रयत्नजन्यत्व हेतु करके शद्बके अनित्यपनका विशेष रूपसे निश्चय हो चुकनेपर पुनः घट और सामान्यके साधर्म्य हो रहे ऐन्द्रियकत्व धर्मसे संशय नहीं हो सकता है। यदि निर्णय हो चुकनेपर

भी केवल ऊर्ध्वता या ऐन्द्रियकत्व मात्रसे संदेह होता रहना स्वीकार करोगे तब तो अत्यन्त संशय होता रहेगा। संशयका अन्त नहीं हो पायेगा। क्योंकि पुरुष और शब्दत्व आदिमें प्राप्त हो रहे ऊर्ध्वता ऐन्द्रियकत्व आदि समर्पापनका कभी विनाश नहीं हो पाता है। ऐसी दशामें निर्णय भला कहां स्थानको प्राप्त कर सकेगा ? अर्थात्—पदार्थोंमें अन्य पदार्थोंके साथ वर्त रहा सर्वदा साधर्म्य बना रहने से सर्वत्र संशय ही होता रहेगा। किसीका निश्चयात्मक ज्ञान कभी नहीं हो सकेगा। न्यायदर्शन और न्यायभाष्यके द्वितीय अध्यायके प्रारम्भमें इसका विवरण कर दिया है।

ननु चैषा संशयसमा साधर्म्यसमा तो न भिद्यते एवोदाहरणसाधर्म्यात् तस्याप्रवर्तनादिति न चोद्यं, संशयसमायास्तूभयसाधर्म्यात्प्रवृत्तेः। साधर्म्यसमाया एकसाधर्म्यादुपदेशात्। ततो जात्यंतरमेव संशयसमा। तथाहि—अनित्यः शब्दः प्रयत्नानंतरीयकत्वात् घटवदिति अत्र च साधने प्रयुक्ते सति परः स्वयं संशयेन प्रत्यवस्थानं करोति सद्भूतं दूषणमपश्यन् प्रयत्नानांतरीयकेपि शब्दे सामान्येन साधर्म्यमैंद्रियकत्वं नित्ये नास्ति घटेन वानित्येनेति संशयः शब्दे नित्यानित्यत्वधर्मयोरित्येषा संशयसमा जातिः। सामान्यघटयोरैंद्रियकत्वे सामान्ये स्थिते नित्यानित्यसाधर्म्यान्न पुनरेकसाधर्म्यात्। सामान्यदृष्टांतयोरैंद्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसम इति वचनात्।

यहां किसीकी शंका है कि यह संशयसमा जाति तो पहिली साधर्म्यसमा जातिसे भिन्न नहीं है। क्योंकि उस साधर्म्यसमाकी प्रवृत्ति भी उदाहरणके साधर्म्यसे ही मानी जा चुकी है। क्रियागुणयुक्त हो रहा आत्मा डेलके समान क्रियावान् है। यों वादीद्वारा उपसंहार कर चुकनेपर पुनः प्रतिवादी साधर्म्यकरके ही प्रत्यवस्थान उठाता है कि व्यापकद्रव्य तो आकाशके समान क्रियारहित होते हैं। अतः व्यापक आत्मा भी क्रियारहित होना चाहिये। क्रियावान् डेलके साधर्म्यसे आत्मा क्रियावान् हो जाय, किन्तु फिर क्रियारहित आकाशके साधर्म्य बने रहनेसे आत्मा क्रियारहित नहीं होय, इसमें कोई विशेषहेतु नहीं है। इस साधर्म्यसमाका संशयसमासे केवल ढंग न्यारा दीखता है। दोनोंमें कोई भिन्न जातिवाला तात्त्विक भेद नहीं है। अब सिद्धान्ती कहते हैं कि यह कटाक्षपूर्वक शंका उठाना तो ठीक नहीं है। क्योंकि दोनोंके साधर्म्यसे संशयसमा जातिकी प्रवृत्ति है। और एकके साधर्म्यसे साधर्म्यसमा जातिकी प्रवृत्तिका उपदेश दिया गया है। अर्थात्—यहां संशयसमामें शब्द और शब्दत्व सामान्य दोनोंके साधर्म्य हो रहे ऐन्द्रियकत्वसे नित्यपन अथवा अनित्यपनका संशय उठाया गया है। और साधर्म्यसमामें एक व्यापक आकाशके निष्क्रियत्वसे ही आत्माके क्रियारहितत्वका आपादन किया गया है। तिस कारण यह संशयसमा उस साधर्म्यसमासे दूसरी जातिकी जाति है। इसी बातको और भी स्पष्ट करते हुये ग्रन्थकार कहते हैं कि शब्द (पक्ष)

अनित्य है (साध्य) प्रयत्नके अव्यवहित उत्तरकालमें उत्पन्न होनेसे (हेतु) घटके समान (अन्वय दृष्टान्त) इस प्रकार वादी द्वारा साध्यसिद्धिके निमित्त हेतुका प्रयोग कर चुकनेपर दूसरा प्रतिवादी अच्छे वास्तविक दूषणोंको नहीं देख रहा संता पुनः संशयकरके प्रत्यवस्थान करता है कि पुरुष-प्रयत्नके उत्तर उत्पन्न हुये भी शब्दमें नित्य हो रहे सामान्यके साथ इन्द्रियजन्य ज्ञानग्राह्यत्व साधर्म्य है और अनित्य हो रहे घटके साथ भी प्रयत्नान्तरीयकत्व साधर्म्य है। इस कारण शब्दमें नित्यपन अनित्यपन धर्मोंका संशय हो जाता है। इस कारण यह संशयसमा जाति तो सामान्य (जाति) और घटके ऐन्द्रियकत्व साधारणपनेकी व्यवस्थिति हो जानेपर नित्य और अनित्यके सधर्मापनसे प्रतिवादी द्वारा उठायी जाती है। किन्तु फिर एक ही सामान्यके साधर्म्यसे संशयसमा जाति नहीं उठायी जा सकी। गौतमसूत्रमें संशयसम प्रतिषेधका मूल लक्षण इसी प्रकार कहा है कि सामान्य (शद्वत्व) और दृष्टान्त (घट) दोनोंके ऐन्द्रियकत्व समान होनेपर नित्य, अनित्योंके साधर्म्यसे संशयसम प्रतिषेध उठा दिया जाता है। और साधर्म्यसमामें एक ही के साधर्म्यसे प्रतिषेध उठा दिया गया था। अतः दोनों जातियां न्यारी न्यारी हैं।

अत्र संशयो न युक्तो विशेषेण शद्वानित्यत्वसिद्धेः। तथाहि—पुरुषे शिरःसंयमनादिना विशेषेण निर्णीते सति न पुरुषस्थाणुसाधर्म्यादूर्द्ध्वत्वात्संशयस्तथा प्रयत्नानंतरीयकत्वेन विशेषेणानित्ये शद्वे निश्चिते सति न घटसामान्यसाधर्म्यादैंद्रियकत्वात्संशयः अत्यंतसंशयः। साधर्म्यस्याविनाशित्वात् पुरुषस्थाण्वादिगतस्येति निर्णयः क्वास्पदं प्राप्नुयात्। साधर्म्यमात्राद्धि संशये कचिद्वैधर्म्यदर्शनान्निर्णयो युक्तो न पुनर्वैधर्म्यात्साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां वा संशये तथात्यंतसंशयात्। न चात्यंतसंशयो ज्यायान् सामान्यात् संशयाद्विशेषदर्शनात् संशयनिवृत्तिसिद्धेः।

भाष्यसहित इस " साधर्म्यात् संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथवा संशयोऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः" गौतम सूत्रके मंतव्य अनुसार अब ग्रन्थकार संशयसमा जातिका असदुत्तरपना बखानते हैं कि यहां प्रतिवादी द्वारा संशय उठाना तो युक्त नहीं है। क्योंकि विशेष रूपसे शद्वके अनित्यपनकी सिद्धि की जा चुकी है। उसीको यों स्पष्ट समझ लीजिये कि यहां संशय स्थलमें जैसे शिरका कम्पन करते हुये सन्हाके रहना, पांवका हिलना, आदि विशेषताओं करके मनुष्यपनका निर्णय कर चुकनेपर पुनः स्थाणु और पुरुषके साधर्म्य हो रहे ऊर्ध्वतामात्रसे संशय नहीं हो पाता है। तिसी प्रकार प्रयत्नके उत्तर जन्यपने करके विशेष रूपसे शद्वके अनित्यत्वका निश्चय हो चुकनेपर पुनः घट और सामान्यके साधर्म्य हो रहे केवल ऐन्द्रियकत्वसे संशय नहीं हो सकता है। फिर भी " साधरणादिधर्मस्य ज्ञानं संशयकारणम् " साधारणधर्मवत् धर्मिज्ञान या असाधारण धर्मवत् धर्मिज्ञानसे संशय उपजना यदि मानते रहोगे तो अत्यन्त (अन्तको अतिक्रान्त

करनेवाला अनन्तकालतक) संशय होता रहेगा। कारण कि पुरुष, स्थाणु आदिमें रहनेवाले और संशयके कारण हो रहे ऊर्ध्वता आदि साधर्म्यका कभी विनाश नहीं होनेका है। ऐसी दशामें भला निर्णय कहां स्थानको पा सकेगा ? बात यह है कि केवल साधर्म्यसे संशय उपजनेपर किसी एकमें वैधर्म्यका दर्शन हो जानेसे विशेष एक पदार्थका निर्णय हो जाना समुचित हो रहा, देखा जाता है किन्तु फिर केवल वैधर्म्य अथवा साधर्म्य और वैधर्म्य दोनोंके द्वारा भी यदि संशय होना माना जावेगा तब तो अत्यन्त रूपसे संशय होता रहेगा और यह अत्यन्त संशय होते रहना तो प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि अनेकोंके समान हो रहे धर्मसे संशय हो जाता है। पश्चात् विशेष धर्मोके दर्शनसे संशयकी निवृत्ति होना सिद्ध है। नैयायिक या वैशेषिकोंने " अनाहार्य अप्रामाण्यज्ञानान्तस्कंदित निश्चयको लौकिक सन्निकर्षजन्यदोष विशेषाजन्य तत्तद्भावप्रकारकतद्वद्विशेष्यक बुद्धिका प्रतिबन्धक माना है। तदभावाप्रकारकतत्प्रकारक निश्चय की सामग्री हो जानेपर पुनः संशयकारणोंसे सदा संशय बनते रहनेका प्रतिबन्ध हो जाता है। अतः संशयसमा जातिका उत्थापन करना प्रतिवादीका समुचित कर्तव्य नहीं है।

अथानित्येन नित्येन साधर्म्यादुभयेन या।
प्रक्रियायाः प्रसिद्धिः स्यात्ततः प्रकरणे समा ॥ ३८१ ॥

अब प्रकरणसमा जातिके कहनेका प्रारम्भ करते हैं, नित्य और अनित्य दोनोंके साथ सधर्मापन होनेसे जो पक्ष और प्रतिपक्षकी प्रवृत्ति होना स्वरूप प्रक्रियाकी प्रसिद्धि होगी। तिस कारणसे वह प्रकरणके होनेपर प्रत्यवस्थान उठाया गया प्रकरणसमा जाति कही गयी है।

उभाभ्यां नित्यानित्याभ्यां साधर्म्याद्या प्रक्रियासिद्धिस्ततः प्रकरणसमा जातिरवसेया " उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमा " इति वचनात्।

दोनों नित्य अनित्यके साधर्म्यसे जो प्रक्रियाकी प्रसिद्धि है। तिस कारणसे वह प्रकरणसमा जाति समझ लेनी चाहिये। गौतम सूत्रमें प्रकरणसमका लक्षण यों कहा है कि उभयके साधर्म्यसे प्रक्रियाकी सिद्धि हो जानेसे प्रकरणसमा जाति है, या प्रकरणसम नामका प्रतिषेध है। कहीं कहीं उभयके वैधर्म्यसे भी प्रक्रियाकी सिद्धि हो जानेसे प्रकरणसम माना गया है।

किमुदाहरणमेतस्या इत्याह।

इस प्रकरणसमा जातिका लक्षण क्या है। ऐसी जिज्ञासा होनेपर न्याय भाष्य अनुसार उत्तर देते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकोंको कहते हैं।

तत्रानित्येन साधर्म्यान्नुः प्रयत्नोद्भवत्वतः।
शब्दस्यानित्यतां कश्चित् साधयेदपरः पुनः ॥ ३८२ ॥

तस्य नित्येन गोत्वादिसामान्येन हि नित्यतां ।
ततः पक्षे विपक्षे च समाना प्रक्रिया स्थिता ॥ ३८३ ॥

तिस प्रकरणसमा जातिके अवसरपर कोई एक वादी तो शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा) मनुष्य के प्रयत्नसे उत्पत्तिवान् होनेसे (हेतु) घटके समान (दृष्टान्त) । इस प्रकार अनित्यके साथ सधर्मापनसे शब्दकी अनित्यताको साध रहा है। यह एक पक्षकी प्रवृत्ति हुई । और दूसरा पण्डित पुनः नित्य हो रहे गोत्व, अश्वत्व, घटत्व आदि सामान्योंकरके उस शब्दके नित्यपनको साध देवेगा। यह दूसरे प्रतिपक्षकी सिद्धि हुई । तिस कारणसे इस प्रकार होनेपर अनित्यत्व साधक पक्षमें और नित्यत्व साधक विपक्षमें समानरूपसे प्रक्रिया व्यवस्थित बन गयी ।

तत्र हि प्रकरणसमायां जातौ कश्चिदनित्यः शब्दः प्रयत्नानांतरीयकत्वाद्घटवदित्यनित्यसाधर्म्यात् पुरुषप्रयत्नोद्भवत्वाच्छब्दस्यानित्यत्वं साधयति । परः पुनर्गोत्वादिना सामान्येन साधर्म्यात्तस्य नित्यतां साधयेत् । ततः पक्षे विपक्षे च प्रक्रिया समानेत्युभयपक्षपरिग्रहेण वादिप्रतिवादिनोर्नित्यत्वानित्यत्वे साधयतः । साधर्म्यसमायां संशयसमायां च नैवमिति ताभ्यां भिन्नेयं प्रकरणसमा जातिः ।

यहां प्रकरणसमा जाति में कोई कोई विद्वान् तो शब्द अनित्य है, पुरुषप्रयत्नके अव्यवहित उत्तरकालमें उत्पन्न होनेसे, घटके समान, इस अनुमानद्वारा अनित्यके साधर्म्य हो रहे पुरुषप्रयत्नजन्य उत्पत्ति होनेसे शब्दकी अनित्यताको साध रहा है और दूसरा प्रतिवादी विद्वान् फिर गोत्व आदि नित्य जातियोंके सधर्मापन ऐन्द्रियकत्वसे उस शब्दकी नित्यताको साध देता है। तिस कारणसे पक्ष और विपक्ष दोनोंमें साधनेकी प्रक्रिया समान है । इस प्रकार दोनों पक्षोंके परिग्रह करके वादी प्रतिवादियोंके यहां नित्यत्व और अनित्यत्व साध दिये जाते हैं । यह प्रकरणकी अतिवृत्ति नहीं करनेसे दूषण उठाना प्रकरणसम प्रतिषेध है । साधर्म्यसमा और वैधर्म्यसमा जातिमें तो इस प्रकार दोनोंके साधर्म्यसे दोनों पक्ष प्रतिपक्षोंकी सिद्धि नहीं की गयी है । साधर्म्यसमामें साधर्म्यकरके प्रतिपक्षसिद्धि की सम्भावना प्रत्यवस्थान उठाया गया है और संशयसमामें उभयके साधर्म्यसे पक्ष, प्रतिपक्षोंके संशय बने रहनेका प्रत्यवस्थान उठाया गया है । किन्तु इस प्रकरणसमामें अन्वय सहचर, और व्यतिरेक सहचरसे पक्ष, प्रतिपक्ष दोनोंकी प्रवृत्ति सिद्ध हो जानेका प्रत्यवस्थान दिया गया है । इस कारण उन दोनोंसे यह प्रकरणसमा जाति भिन्न ही है ।

कथमीदृशं प्रत्यवस्थानमयुक्तमित्याह ।

प्रतिवादी द्वारा इस प्रकारका प्रकरणसम नामक प्रत्यवस्थान उठाना किस प्रकार अयुक्त है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर न्यायसूत्र और न्यायभाष्यके अनुसार श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान कहते हैं ।

प्रक्रियांतनिवृत्त्या च प्रत्यवस्थानमीदृशं ।
विपक्षे प्रक्रियासिद्धौ न युक्तं तद्विरोधतः ॥ ३८४ ॥
प्रतिपक्षोपपत्तौ हि प्रतिषेधो न युज्यते ।
प्रतिषेधोपपत्तौ च प्रतिपक्षकृतिर्ध्रुवम् ॥ ३८५ ॥
तत्त्वावधारणे चैतत्सिद्धं प्रकरणं भवेत् ।
तदभावेन तत्सिद्धिर्येनेयं प्रत्यवस्थितिः ॥ ३८६ ॥

दोनों नित्य, अनित्योंके, साधर्म्यसे प्रक्रिया की सिद्धिको कर रहे प्रतिवादीने यह तो अवश्य मान लिया है कि प्रतिवादीके इष्ट पक्षसे प्रतिकूल हो रहे वादीके पक्षकी प्रक्रिया सिद्ध हो चुकी है। अतः प्रकरणके अवसानसे तत्त्वोंका अवधारण करनेपर उसकी निवृत्तिसे इस प्रकारका प्रत्यवस्थान देना प्रतिवादीका युक्तिपूर्ण कार्य नहीं है । क्योंकि प्रतिवादीके विपक्ष हो रहे वादीके इष्ट अनित्यत्वमें प्रक्रियाकी सिद्धि हो चुकनेपर पुनः प्रतिवादी द्वारा अपने द्वारा अपने पक्षकी सिद्धि मानना उससे विरोध हो जानेके कारण उचित नहीं है। वादीके अभीष्ट और प्रतिवादीके प्रतिकूल पक्षकी सिद्धि हो चुकनेपर नियमसे प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध करना उचित नहीं पडता है। हां, और यदि प्रतिवादीके गांठके प्रतिषेधकी सिद्धि हो जाय तब तो निश्चय करके वादीके निज प्रतिपक्ष (वादी का पक्ष प्रतिवादीकी अपेक्षा प्रतिपक्ष है) की सिद्धि करना नहीं बन पाता है। इसमें तुल्य बलवाला विरोध नामका विप्रतिषेध लग बैठता है। दोनोंमेंसे एक पक्षके अवधारण नहीं करनेसे तो विपरीत पक्षकी प्रक्रिया सध सकती है। यहां प्रतिवादीके तत्त्वका अवधारण कर चुकनेपर यह प्रतिवादीका प्रकरण सिद्ध हो सकता था। जब कि प्रयत्नानन्तरीयकत्वसे वादीके अनित्यत्व पक्षकी सिद्धि हो जानेसे उस नित्यत्व प्रतिपक्षकी सिद्धिका अभाव हो गया है, तो उन दोनोंकी प्रक्रियाकी सिद्धि नहीं हुई, जिससे कि यह प्रकरणसमा जाति नामक प्रत्यवस्थान समीचीन उत्तर बन सके। भावार्थ–जब दोनों विरुद्ध पक्षोंकी प्रक्रिया सिद्ध नहीं हो सकती है, तो लक्षणसूत्रके नहीं घटनेपर यह प्रकरणसम प्रतिषेध अयुक्त प्रतीत होता है। जातिका स्वयं किया गया लक्षण भी तो यहां नहीं वर्तता है।

प्रक्रियांतनिवृत्त्या प्रत्यवस्थानमीदृशमयुक्तं, विपक्षे प्रक्रियासिद्धौ तयोर्विरोधात्। प्रतिपक्षप्रक्रियासिद्धौ हि प्रतिषेधो विरुध्यते,प्रतिषेधोपपत्तौ च प्रतिपक्षप्रक्रियासिद्धिर्व्याहन्यते इति विरुद्धस्तयोरेकत्र संभवः। किं च, तत्त्वावधारणे सत्येवैतत्प्रकरणं सिद्धं भवेन्नान्यथा। न चात्र तत्त्वावधारणं ततोऽसिद्धं प्रकरणं तदसिद्धौ च नैवेयं प्रत्यवस्थितिः संभवति।

दोनोंमेंसे किसी एक प्रकरणके सिद्ध हो जानेपर उसके अन्तमें विपरीत पक्षकी निवृत्ति कर देनेसे इस प्रकारका प्रकरणसम प्रत्यवस्थान उठाना अयुक्त है। क्योंकि एक विपक्षमें प्रक्रियाकी समीचीन सिद्धि हो चुकनेपर पुनः दोनों पक्ष प्रतिपक्षोंकी सिद्धि कहनेका विरोध है। देखिये, प्रतिपक्षकी प्रक्रियाके सिद्ध हो जानेपर तो उस प्रतिपक्षका प्रतिषेध करना नियमसे विरुद्ध पडता है। और प्रतिपक्षके निषेधकी सिद्धि हो चुकनेपर तो प्रतिपक्षकी प्रक्रिया साधनेका व्याघात हो जाता है। इस कारण उन दोनोंका एक स्थलपर सम्भव जाना ही विरुद्ध है। कोई विचारशील विद्वान् घटको सर्वथा नित्य सर्वथा अनित्य एक साथ नहीं साध सकता है। अतः दोनों नित्य, अनित्य पक्षोंकी प्रक्रिया साध देना अनुचित है। दूसरी बात यह है कि दोनों पक्षोंका तात्त्विकपना निर्णीत कर चुकने पर ही यह प्रकरण सिद्ध हो सकता था, अन्यथा यह उभयसाधर्म्यसे होनेवाली प्रक्रिया कैसे भी सिद्ध नहीं हो पायेगी। किन्तु यहां तो विप्रतिषेध होनेके कारण दोनोंका तात्त्विकपना निर्णीत नहीं हो सका है। तिस कारणसे यह प्रकरण सिद्ध नहीं है और उस प्रक्रियाकी सिद्धि नहीं हो चुकने पर यह प्रकरणसमा जाति नहीं सम्भवती है। इसी प्रकार उभयके वैधर्म्यकरके प्रक्रियाको साध कर पुनः प्रत्यवस्थान देना नहीं सम्भवता है। जैसे कि जैनोंने गुण और गुणीका कथंचित् भेद, अभेद सम्बन्ध माना है। यदि कोई दूसरा विद्वान भेद अभेद दोनोंके वैधर्म्यसे प्रक्रियाको साधना चाहे तो वह विप्रतिषेध होनेका कारण प्रकरणको नहीं साध सकता है। कथंचित् भेदाभेद और सर्वथा भेदाभेद दोनोंका वैधर्म्य एक स्थलपर सम्भव नहीं है। अतः प्रकरणसम जाति समीचीन दूषण नहीं है।

का पुनरहेतुसमा जातिरित्याह।

फिर अहेतुसमा नामकी जाति क्या है ? ऐसी जुगुप्सा होनेपर न्यायसूत्र और न्यायभाष्यके अनुवाद अनुसार श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान कहते हैं।

त्रैकाल्यानुपपत्तेस्तु हेतोः साध्यार्थसाधने।
स्यादहेतुसमा जातिः प्रयुक्ते साधने क्वचित्॥ ३८७॥
पूर्वं वा साधनं साध्यादुत्तरं वा सहापि वा।
पूर्वं तावदसत्यर्थे कस्य साधनमिष्यते॥ ३८८॥
पश्चाचेत् किं नु तत्साध्यं साधनेऽसति कथ्यतां।
युगपद्वा क्वचित्साध्यसाधनत्वं न युज्यते॥ ३८९॥

स्वतंत्रयोस्तथाभावासिद्धेर्विन्ध्यहिमाद्रिवत् ।
तथा चाहेतुना हेतुर्न कथंचिद्विशिष्यते ॥ ३९० ॥
इत्यहेतुसमत्वेन प्रत्यवस्थाप्यऽयुक्तिका ।
हेतोः प्रत्यक्षतः सिद्धेः कारकस्य घटादिषु ॥ ३९१ ॥
कार्येषु कुंभकारस्य तन्निवृत्तेस्ततो ग्रहात् ।
ज्ञापकस्य च धूमादेरग्न्यादौ ज्ञप्तिकारिणः ॥ ३९२ ॥
स्वज्ञेये परसंताने वागादेरपि निश्चयात् ।
त्रैकाल्यानुपपत्तेश्च प्रतिषेधे क्वचित्तथा ॥ ३९३ ॥

साध्यस्वरूप अर्थके साधन करनेमें हेतुका तीनों कालोंमें वर्तना नहीं बननेसे प्रत्यवस्थान देने पर तो अहेतुसमा जाति हो जायगी जैसे कि कहीं वादी द्वारा समीचीन साधनका प्रयोग करनेपर दूसरा प्रतिवादी समीचीन दूषणोंको नहीं देखता हुआ यों ही प्रत्यवस्थान उठा देता है कि बताओ, तुम्हारा ज्ञापक हेतु क्या साध्यसे पूर्वकालमें वर्तता है ? अथवा क्या साध्यसे पश्चात् उत्तरकालमें ठहरता है ? अथवा क्या साध्य और साधन दोनों भी समान कालमें साथ साथ रहते हैं ? बताओ। यदि प्रथम पक्षके अनुसार साध्यके पहिले कालमें साधनकी प्रवृत्ति मानी जायगी तब उसको साधनपना नहीं बन सकता। क्योंकि साध्यरूप अर्थके नहीं होते संते पहिले बैठा बैठा वह किसका साधन करेगा ? अर्थात्-किसीका भी नहीं। यदि द्वितीय पक्ष अनुसार साध्यके पीछे साधनकी प्रवृत्ति मानोगे, तब तो उसको साध्यपना नहीं बन पावेगा। साधनके नहीं होनेपर वह साध्य भला कैसा कहा जा सकेगा ? साधनके होनेपर कोई अविनाभावी पदार्थ साध्य कहा जा सकता है। किन्तु साधनके नहीं होते संते वह साधनके पहिले वर्त रहा साध्यका स्वरूप नहीं कहा जा सकता है। साधन द्वारा साधने योग्य पदार्थको साध्य कहते हैं। दश वर्षके पीछे जिसके पुत्र होनेवाला है, वह प्रथमसे ही बाप नहीं बन बैठता है। साध्य जब पहिले ही सिद्ध हो चुका तो इस हेतुने क्या पाथरा कार्य किया ? अर्थात् नहीं। तृतीयपक्ष अनुसार यदि साध्य और साधनका युगपत् सहभाव मानोगे तब तो किसी एक विवक्षितमें ही साध्यपना अथवा साधनपना युक्त नहीं हो सकता है। स्वतंत्रपने करके प्रसिद्ध हो रहे सहकालभावी दोनोंमें किसी एकका तिस प्रकार साध्यपना और शेषका साधनपना असिद्ध है। जैसे कि मध्यभारत और उत्तर प्रान्तमें युगपत् पड़े हुये विन्ध्याचल और हिमालय पर्वतोंमेंसे किसी एकका साधनपना और बचे हुये किसी एक पहाड़का साधनपना असिद्ध है। गायके डेरे और सीधे सींगोंके समान दोनों भी साध्य हो जायंगे अथवा दोनों साधन बन

बैठेंगे और वैसा होनेपर वादीका कहा गया हेतु तो अहेतु या कुत्सित हेत्वाभासके साथ किसी भी प्रकारसे अन्तर रखनेवाला नहीं हो सकेगा। अहेतुओंसे तो साध्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। भावार्थ- पर्वतो वन्हिमान् धूमात् या शद्ब अनित्य है, कृतक होनेसे, इन अनुमानोंमें हेतु विचारा साध्यके पहिले पीछे, या साथ रहेगा ? बताओ। यदि हेतु पहिले रहेगा तो उस समय वह भला किसका साधन होगा ? यदि पीछे रहेगा ? तो साधनके नहीं होनेपर यह वन्हि या अनित्यपन किसीका साध्य कहा जायगा ? हेतु और साध्य दोनोंको युगपत् विद्यमान माननेपर विनिगमनाविरह हो जानेसे कौन किसका साध्य और कौन किसका साधन कहा जाय ? इसी प्रकार कारकपक्षमें भी यह प्रत्यवस्था प्रतिवादी द्वारा उठायी जा सकती है कि दण्ड, चक्र, कुलाल, आदिक कारण यदि घटके पूर्व कालमें रहेंगे तब तो घटका अभाव (प्रागभाव) होनेसे वे किसके कारण माने जा सकेंगे और घटके पीछे कालमें वर्तनेवाले दण्ड आदिक किसके कारण माने जाय या कारणोंको घटके पीछे डालनेपर पहिले वर्त रहा घट किन कारणों द्वारा बनाया जाय ? तथा समान कालमें कार्य, कारणोंकी वृत्ति माननेपर तो एकको कार्यता और दूसरेको कारणता निर्णीत नहीं हो सकती है। लोकमें बाल दुद- पनेके लिये बहुत प्राणी बेटा, भतीजा, बननेको उद्युक्त बैठे हैं। तथा पूज्य बननेके लिये और लडकोंकी कमाई खानेके लिये अनेक व्यक्ति पिता बननेके लिये लार टपकाते फिरते हैं। इस ढंगसे ज्ञापकपक्ष और कारक पक्षमें तीनों कालके सम्बन्धका खण्डन कर देनेसे अहेतुपन करके यह अहेतु- समा जाति है। अब सिद्धान्ती कहते हैं कि इस प्रकार प्रतिवादी द्वारा अहेतुसमपने करके प्रत्यव- स्थान देना भी युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि घट, पट आदि कार्योंमें कुम्हार कोरिया आदि कारकों करके प्रत्यक्षप्रमाणसे ही हेतुपना सिद्ध हो चुका है। अतः जो प्रतिवादीने कहा था कि साध्यके नहीं होनेपर यह किसका साधन होगा और साधनके नहीं होनेपर वह किसके द्वारा सम्पादित हुआ साध्य कहा जायगा ? सिद्धान्ती कहते हैं कि जब उन महान् प्रसिद्ध हो रहे प्रत्यक्षोंसे कार्य कारण भाव या ज्ञाप्य ज्ञापक भावका ग्रहण हो रहा है, तो उस प्रतिवादीके प्रसंगकी निवृत्ति हो जाती है। तथा निज करके जाने जा रहे अग्नि, अनित्यपन, आदि साध्योंमें ज्ञप्तिको करानेवाले धुआं, कृतकत्व, आदि ज्ञापक हो रहे हेतुओंका सभी विद्वानोंको ग्रहण हो रहा है। एवं दूसरे रोगी, मूर्च्छित पुरुषोंमें सजीवपनेकी संतानको साधनेके लिये कहे गये वचनव्यापार, उष्णस्पर्शविशेष, नाडी चलना, आदि हेतुओंसे भी परसंतानका निश्चय हो जाता है। अतः प्रतिवादीका उक्त प्रति- षेध करना समीचीन उत्तर नहीं है। इसी बातको " न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः " इस न्याय सूत्रमें बखान दिया है। तथा अग्रिम सूत्र " प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः " से उसका यह सिद्धान्त खण्डन भी कर दिया है कि इसी प्रकार तुम प्रतिवादीका प्रतिषेध नहीं बन- नेसे प्रतिषेध करने योग्यका प्रतिषेध ही नहीं हो सकता है। अर्थात्-प्रतिवादीके ऊपर वादीका प्रश्न है कि तुम प्रतिषेध करने योग्य पदार्थसे पहिले कालमें, पीछे कालमें, अथवा दोनोंके एक ही कालमें,

प्रतिषेध करोगे ? बताओ। यदि प्रतिषेधके पूर्व कालमें प्रतिषेधक रहेगा तो वह उस समय किसका प्रतिषेध करता हुआ अपने प्रतिषेधकपनकी रक्षा कर सकेगा ? और दूसरा पक्ष लेनेपर प्रतिषेध्यके पीछे कालमें यदि प्रतिषेध्य ठहरेगा तो प्रतिषेधकके बिना वह किसके द्वारा प्रतिषेध्य होकर अपने प्रतिषेध्यपनको रक्षित कर सकेगा ? तृतीय पक्ष लेनेपर एक कालमें वर्त रहे दोनोंमेंसे किसको प्रतिषेध्य और किस दूसरेको प्रतिषेधक माना जाय ? कोई निर्णायक नहीं है। इस प्रकार हेतु फलभावका खण्डन कर देनेपर तुम्हारा प्रतिषेध करना भी नहीं बन सकता है। अतः प्रतिषेध करने योग्य दूसरे वादीके हेतुका प्रतिषेध तुम्हारे बूते नहीं हो सका इस कारण अपनी आंखके बडे टेंटको देखते हुये भी दूसरेकी निर्दोष चक्षुओंमें दोष निहारना प्रतिवादीका प्रशस्त कार्य नहीं है। देखो, कारक हेतु तो कार्यके अव्यवहित पूर्वकालमें रहना चाहिये और ज्ञापकके लिये कोई समय नियत नहीं है। अविनाभाव मात्र आवश्यक है।

समा न कार्यासौ प्रतिषेधः स्याद्वादविद्भिः। कथं पुनस्त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमा जातिरभिधीयते ? अहेतुसामान्यप्रत्यवस्थानात्। यथा ह्यहेतुः साध्यस्यासाधकस्तथा हेतुरपि त्रिकालत्वेनाप्रसिद्ध इति स्पष्टत्वादहेतुसमाजातेर्लक्षणोदाहरणप्रतिविधानानामकं व्याख्यानेन।

श्री विद्यानन्द आचार्य शिष्योंके लिये शिक्षा देते हैं कि स्याद्वादके वेत्ता बुद्धिमानों करके वह अहेतुसमा नामका प्रतिषेध तो कभी नहीं करना चाहिये। यहां किसीका प्रश्न है कि "त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः" इस सूत्र अनुसार हेतुकी तीनों कालमें वृत्तिताके असिद्ध हो जानेसे अहेतुसमा जाति बखानी गयी, फिर कैसे कह दी जाती है ? इसका उत्तर सिद्धान्ती द्वारा यों दिया जाता है कि प्रतिवादीने अहेतुपन सामान्यसे प्रत्यवस्थान दिया है। जिस प्रकार कि विवक्षित पदार्थका हेतु नहीं बन रहा कोई अहेतु पदार्थ उस विवक्षित साध्यका साधक नहीं है, तिसी प्रकार त्रैकालपने करके नहीं प्रसिद्ध हो रहा मनोनीत हेतु भी साध्यका साधक नहीं हो सकेगा। इस प्रकार अहेतुसमा जातिके लक्षण, उदाहरण और उस असदुत्तर हो रही जातिका खण्डन करनेवाले प्रतिविधानोंकी स्पष्टता दृष्टिगोचर हो रही है। अतः उनका पुनरपि व्याख्यान कर देनेसे कुछ विशेष प्रयोजन नहीं सधनेका है। अब विवरण रूपसे विशद हो रहे पदार्थोंका व्याख्यान करनेसे पूरा पडो, पुनरुक्त दोषको हम अवकाश देना नहीं चाहते हैं।

प्रयत्नानन्तरोत्थत्वाद्धेतोः पक्षे प्रसाधिते।
प्रतिपक्षप्रसिद्ध्यर्थमर्थापत्त्या विधीयते ॥ ३९४ ॥

या प्रत्यवस्थितिः सात्र मता जातिविदांवरैः ।
अर्थापत्तिसमैवोक्ता साधनाप्रतिवेदिनी ॥ ३९५ ॥
यदि प्रयत्नजत्वेन शब्दस्यानित्यताभवत् ।
तदार्थापत्तितो नित्यसाधर्म्यादस्तु नित्यता ॥ ३९६ ॥
यथैवास्पर्शवत्त्वं खे नित्ये दृष्टं तथा ध्वनौ ।
इत्यत्र विद्यमानत्वात्समाधानस्य तत्त्वतः ॥ ३९७ ॥
शब्दोऽनित्योस्ति तत्रैव पक्षे हेतोरसंशयम् ।
एष नास्तीति पक्षस्य हानिरर्थात्प्रतीयते ॥ ३९८ ॥

शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य), प्रयत्नके अनन्तर उत्पत्ति होनेसे (हेतु) घटके समान (दृष्टान्त) इस प्रकार प्रयत्नानन्तरजन्यत्व समीचीन हेतुसे शब्दके अनित्यत्व पक्षका अच्छा साधन कर चुकनेपर पुनः प्रतिवादी द्वारा प्रतिपक्ष नित्यत्वकी प्रसिद्धि करनेके लिये अर्थापत्ति करके जो प्रत्यवस्थान किया जाता है, वह यहां जातिवेत्ता विद्वानोंमें श्रेष्ठ हो रहे पुरुषों करके अर्थापत्ति समा जाति ही मानी गयी है। जो कि वादीके साधनको नहीं समझ कर उसके प्रतिकूल पक्षमें कह दी गयी है। उस अर्थापत्तिसम प्रतिषेधका उदाहरण यों हैं कि यदि प्रयत्नजन्यत्व हेतु करके शब्द की अनित्यता सिद्ध हो सकी है, तब तो बिना कहे अर्थापत्ति द्वारा नित्य आकाशके साधर्म्यसे शब्दको नित्यपना हो जाओ, जिस ही प्रकार स्पर्शगुणरहितपना नित्य हो रहे आकाशमें देखा गया है, उसी प्रकार निर्गुण शब्दमें भी स्पर्शरहितपना विद्यमान है। अतः शब्दका नित्य पदार्थके साथ साधर्म्य, अस्पर्शत्व तो है। जब कि अर्थापत्ति ज्ञान उक्त करके अनुक्तका आक्षेप कर लेता है, तो शब्द अनित्य है, इस प्रकार कहनेपर बिना कहे ही अभिप्रायसे निकल आता है कि अन्य घट आदिक अनित्य हैं। ऐसी दशामें अन्वयदृष्टान्त कोई नहीं मिल सकता है। तथा अनुमान प्रमाणसे यदि शब्दका अनित्यपना साधा जाता है, तो अर्थापत्तिसे निकल आता है कि प्रत्यक्ष प्रमाणसे शब्द नित्य सिद्ध हो जायगा और यों तो वादीका हेतु बाधितहेत्वाभास हो जायगा या सत्प्रतिपक्ष हो जायगा। इस प्रकार यह अर्थापत्तिसमा जाति उठायी जाती है। अब सिद्धान्ती कहते हैं कि इस प्रकार यहां प्रतिवादी द्वारा असमीचीन कुचोद्य उठाये जानेपर इसके वास्तविक रूपसे होनेवाले समाधान (उत्तर) हमारे पास विद्यमान हैं। पूर्वमें प्रतिवादी द्वारा कहे गये वे प्रमाणसे अर्थापत्ति आभास है। उनसे शब्दका अनित्यत्व निरस्त नहीं होता है। वहां ही प्रसिद्ध उदाहरणमें कीजिये कि शब्द अनित्य है। इस प्रकार पक्षके समीचीन हेतुसे संशयरहित होकर साध चुकनेपर अर्थापत्ति की

सामर्थ्यसे ही यह शब्द अनित्य नहीं है। इस प्रतिवादीके पक्षकी हानि प्रतीत हो जाती है। तुम्हारे बूंदे हुये गांठके उपायसे ही तुम्हारा निराकरण हो जाता है। यदि नित्य पदार्थके साधर्म्य स्पर्श रहितपनसे आकाशके समान शब्द नित्य है, तो कहे बिना ही अर्थसे प्राप्त हो जाता है कि अनित्य पदार्थके साधर्म्य प्रयत्नजन्यत्व हेतुसे घटके समान शब्द अनित्य है।

यथा च प्रत्यवस्थानमर्थापत्त्या विधीयते।
नानैकांतिकता दृष्टा समत्वादुभयोरपि ॥ ३९९ ॥
ग्राव्णो घनस्य पातः स्यादित्युक्तेर्थान्न सिद्ध्यति।
द्रवात्मनामपां पाताभावोर्थापत्तितो यथा ॥ ४०० ॥
तस्याः साध्याविनाभावशून्यत्वं तद्वदेव हि।
शब्दानित्यत्वसंसिद्धौ नार्थान्नित्यत्वसाधनं ॥ ४०१ ॥

दूसरी बात यह है कि जिस अर्थापत्ति करके प्रतिवादी द्वारा प्रत्यवस्थान किया जा रहा है, वह अर्थापत्ति तो व्यभिचार दोष ग्रस्त है। उससे तुम्हारे अभीष्ट साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। किसी विशेष पदार्थकी विधि कर देनेसे ही शेष पदार्थोंका निषेध नहीं हो जाता है। घट नीला है। यों कह देनेसे शेष सभी कम्बल कमल आदिक पदार्थ अनील नहीं हो जाते हैं। देखिये जिस प्रकार कठिन हो रहे पाषाणका नियमसे पतन हो जाता है यों कह देनेपर अर्थापत्तिसे यह सिद्ध नहीं हो जाता है कि बह रहे पतले द्रव स्वरूप जलोंका पात नहीं होता है। उसीके समान ही उस अर्थापत्तिके उत्थापक अर्थका साध्यके साथ अविनाभाव बने रहनेसे शून्यपना है। और यह अर्थापत्ति तो दोनों भी पक्षोंमें समान रूपसे लागू हो जायगी, जब कि उक्त करके जिस किसी भी ऐरे गैरे अनुक्तका तुम अर्थापत्तिसे आपादन कर देते हो तो तुम्हारे पक्षकी हानि भी आपन्न हो जावेगी। बात यह है कि जब शब्दके अनित्यत्वकी भले प्रकार सिद्धि हो चुकी है, तो व्यभिचार दोषवाली अर्थापत्तिके द्वारा अभिप्राय मात्रसे शब्दका नित्यपन नहीं साधा जा सकता है। अनित्यत्वको साधनेवाले हेतुमें स्वकीय साध्यके साथ अविनाभाव विद्यमान है। किन्तु नित्यत्वका साधक अस्पर्शवत्त्व हेतु तो अविनाभावसे विकल है।

न ह्यर्थापत्त्यानैकांतिक्या प्रतिपक्षः सिध्यति येन प्रयत्नानंतरीयकत्वात् शब्दस्यानित्यत्वे साधितेपि अस्पर्शवत्त्वान्यथानुपपत्त्या तस्य नित्यत्वं सिद्ध्येत्। सुखादिनानैकांतिकी चेयमर्थापत्तिस्ततो न प्रतिपक्षस्य सिद्धिस्तदसिद्धौ च नार्थापत्तिस्तदेव उपपद्यते सत्यनुक्तार्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसम इति वचनात्।

व्यभिचार दोषवाली अर्थापत्ति (प्रमाणाभास) करके प्रतिपक्षकी सिद्धि नहीं हो पाती है। जिससे कि वादी द्वारा प्रयत्नानंतरीयकत्व हेतुसे शद्बका अनित्यपना साध चुकनेपर भी पुनः प्रतिवादी द्वारा अस्पर्शवत्त्वकी अन्यथानुपपत्तिसे उस शद्बका नित्यपन सिद्ध कर दिया जावे अस्पर्शवत्त्व तो नित्यपनके बिना नहीं हो सकता है। इस प्रकारकी यह अर्थापत्ति यों सुख, संख्या, संयोग, विभाग आदि गुणों करके और गमन, भ्रमण, उत्क्षेपण आदि क्रियाओं करके अनैकान्तिक दोषवाली हो रही है। सुख आदिमें नित्यपन नहीं होते हुये भी स्पर्शरहितपना विद्यमान है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार द्रव्योंको छोडकर शेष द्रव्य और गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव, सभी पदार्थोंमें स्पर्शरहितपन वर्त रहा है। अनित्य गुण आदिक व्यभिचार स्थल हैं। अतः अर्थापत्तिसे प्रतिवादीके निज प्रतिपक्षकी सिद्धि नहीं हो पाती है। और उस प्रतिपक्षकी सिद्धि नहीं होनेपर इस ही कारणसे अर्थापत्तिसमा जाति नहीं बन सकती है। न्यायसूत्रमें अर्थापत्तिसमाका यों लक्षणसूत्र कहा है कि अर्थापत्ति करके प्रतिपक्षकी सिद्धि हो जानेसे अर्थापत्तिसम प्रतिषेध माना गया है। व्यभिचार होनेके कारण यह अविनाभाव रहित होनेसे प्रतिवादीकी अर्थापत्ति तो प्रमाणाभास हो गई। ऐसी दशामें यह अर्थापत्तिसमा जाति उत्थापन करना प्रतिवादीका अनुचित कार्य निर्णीत हो जाता है।

का पुनरविशेषसमा जातिरित्याह।

इसके आगेकी फिर अविशेषसमा जाति कौनसी है ? उसका लक्षण और उदाहरण क्या है ? ऐसी मनीषा होनेपर न्यायसिद्धान्त अनुसार शिष्यके प्रति श्रीविद्यानन्द आचार्य समाधानको कहते हैं।

क्वचिदेकस्य धर्मस्य घटनादुररीकृते।
अविशेषेत्र सद्भावघटनात्सर्ववस्तुनः॥ ४०२॥
अविशेषः प्रसंगः स्यादविशेषसमा स्फुटं।
जातिरेवंविधं न्यायप्राप्तदोषासमीक्षणात्॥ ४०३॥

कहीं भी शब्द और घटमें एक धर्मकी घटना हो जानेसे दोनोंका विशेषरहितपना स्वीकार कर चुकनेपर पुनः प्रतिवादीद्वारा सम्पूर्ण वस्तुओंके समान हो रहे सद्भाव (सत्त्व) की घटनासे सबके अन्तर रहितपनका प्रसंग देना तो व्यक्तरूपसे अविशेषसमा जाति कही जावेगी। सिद्धान्ती कहते हैं कि इस प्रकारका प्रसंग देना तो जाति यानी असदुत्तर है। क्योंकि वादीद्वारा साधे गये निर्दोष पक्षमें प्रतिवादीद्वारा झूंठे दोष दिखाना न्यायप्राप्त दोषोंका दिखलाना नहीं है। अर्थात्—जो प्रतिवादीने दोष दिखलाया है वह न्यायमार्गसे प्राप्त नहीं होता है।

एको धर्मः प्रयत्नानंतरीयकत्वं तस्य क्वचिच्छब्दघटयोर्घटनादविशेषे समानत्वे सत्यनित्यत्वे वादिनोररीकृते पुनः सद्भावः सर्वस्य सत्त्वधर्मस्य वस्तुषु घटनादविशेषस्यानित्यत्वप्रसंजनमविशेषसमा जातिः स्फुटं, एवंविधस्य न्यायप्राप्तस्य दोषस्यासमीक्षणात् । "एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसंगात् सद्भावोपपत्तेरविशेषसम " इत्येवंविधो हि प्रतिषेधो न न्यायप्राप्तः ।

न्यायसूत्र और न्यायभाष्यके अनुसार उक्त वार्तिकोंका विवरण यों है कि एक धर्म यहां प्रयत्नान्तरीयकत्व है । कहीं पक्ष किये गये शब्द और घट माने गये दृष्टान्तमें उस धर्मके घटित हो जानेसे समानपन अविशेष होते संते वादी द्वारा शब्द और घटका अनित्यपना स्वीकार कर चुकनेपर पुनः प्रतिवादी द्वारा सद्भावकी उपपत्ति होनेसे यानी संपूर्ण वस्तुओंमें सत्व धर्मके घटित हो जानेसे सबके सद्भावको कहकर अनित्यपनका प्रसंग दिया जाना अविशेषसमा है । सिद्धान्ती कहते हैं कि इस प्रकारके न्यायप्राप्त दोषोंका समीक्षण नहीं होनेसे यह प्रतिवादीका जातिरूप उत्तर स्पष्टरूपसे असत् उत्तर है । न्यायसूत्रमें अविशेषसमाका यह लक्षण है कि विवक्षित पक्ष दृष्टान्त व्यक्तियोंमें एक धर्मकी उपपत्ति हो जानेसे अविशेष हो जानेपर पुनः सद्भावकी उपपत्ति होनेसे संपूर्ण वस्तुओंके अविशेषका प्रसंग देनेसे प्रतिवादीद्वारा अविशेषसम प्रतिषेध उठाया जाता है । किन्तु इस प्रकारका यह प्रतिषेध तो न्यायप्राप्त नहीं है । अन्यायसे चाहे जिसके ऊपर चाहे जितने दोष उठा दो । किन्तु परीक्षा करनेपर वे दोष सब उड जाते हैं ।

कुत इत्याह ।

यह प्रतिवादी द्वारा दिया गया प्रतिषेध न्यायप्राप्त कैसे नहीं है । ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं ।

प्रयत्नानंतरीयत्वधर्मस्यैकस्य संभवात् ।
अविशेषे ह्यनित्यत्वे सिद्धेपि घटशब्दयोः ॥ ४०४ ॥
न सर्वस्याविशेषः स्यात्सत्त्वधर्मोपपत्तितः ।
धर्मांतरस्य सद्भावनिमित्तस्य निरीक्षणात् ॥ ४०५ ॥
प्रयत्नानंतरीयत्वे निमित्तस्य च दर्शनात् ।
न समोयमुपन्यासः प्रतिभातीति मुच्यताम् ॥ ४०६ ॥
सर्वार्थेष्वविशेषस्य प्रसंगात् प्रत्यवस्थितिः ।
विषमोयमुपन्यासः सर्वार्थेष्वु(षू)पपद्यतां ॥ ४०७ ॥

एक प्रयत्नानन्तरीयकत्व धर्मके संभव हो जानेसे पक्ष तथा दृष्टान्त हो रहे घट और शद्बका अनित्यपना यद्यपि अन्तररहित हो कर नियमसे सिद्ध हो चुका है,तो भी सत्त्वधर्मकी उपपत्ति हो जानेसे सम्पूर्ण पदार्थोंके विशेषरहितपनका प्रसंग नहीं होवेगा जिससे कि सम्पूर्ण भावोंमें सद्भाव सध जानेसे अनित्यपन प्राप्त हो जाय और ऐसी दशामें पक्षसे अतिरिक्त अन्य कोई भी उदाहरण नहीं मिल सके। विना उदाहरणके कोई हेतु होता नहीं है। प्रतिज्ञाके एकदेशको उदाहरणपना असिद्ध है। पक्ष ही तो उदाहरण नहीं हो सकता है, यों जाति उठाई जा सके। बात यह है कि सम्पूर्ण वस्तुओंके सद्भावका निमित्त हो रहा दूसरा धर्म देखा जा रहा है। और प्रयत्नानन्तरीयकपनेमें निमित्त हो रहा न्यारा धर्म दीखता है। इस कारण जातिवादीका सम्पूर्ण अर्थोंमें सत्त्व होनेसे विशेषरहितपनका प्रसंग हो जानेसे प्रत्यवस्थान देनेका यह वचन प्रारंभ करना सम नहीं प्रतिभासता है। अतः वह प्रत्यवस्थान उठाना छोड देना चाहिये। इस प्रकारके विषम उपन्यास तो सभी अर्थोंमें प्रसंग प्राप्त किये जा सकते हैं। सामान्य मनुष्यपनका सद्भाव हो जानेसे सभी विद्यार्थी, श्रोता, रंक, निपट मूर्ख, सभी साधरण पुरुष भी माननीय गुरु गोपालदासजीके समान प्रकाण्ड विद्वान् बन बैठेंगे। चाहे कोई भी मनुष्य अपनेको अधिकारी, राजा, अधिपति, आचार्य, मान बैठेगा। विशेष हेतुओं द्वारा अन्तरोंकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अतः प्रतिवादी द्वारा सबके अविशेषपनका प्रत्यवस्थान उठाया जाना दूषणाभास है। यह न्याय उचित मार्ग नहीं है।

न हि यथा प्रयत्नानंतरीयकत्वं साधनधर्मः साध्यमनित्यत्वं साधयति शद्बे तथा सर्ववस्तुनि सत्त्वं यतः सर्वस्याविशेषः स्यात् सत्त्वधर्मोपपत्तितयैव धर्मांतरस्यापि नित्यत्वस्याकाशादौ सद्भावनिमित्तस्य दर्शनात् प्रयत्नानंतरीयकत्वनिमित्तस्य चाऽनित्यत्वस्य घटादौ दर्शनात्। ततो विषमोयमुपन्यासः इति त्यज्यतां सर्वार्थेष्वविशेषप्रसंगात् प्रत्यवस्थानं।

जिस प्रकार कि हेतुधर्म हो रहा प्रयत्नानन्तरीयकपना नियमसे अनित्यपन साध्यको शद्बमें साध देता है, तिस प्रकार सत्त्व धर्म तो सम्पूर्ण पदार्थोंमें विद्यमान हो रहा संता अनित्यपनको नहीं साध पाता है, जिससे कि केवल सत्त्व धर्मकी उपपत्ति कर देनेसे ही सम्पूर्ण वस्तुओंका विशेषरहितपना हो जाय। बात यह है सद्भावका व्यापक रूपसे निमित्त यदि अनित्यपना होता तो प्रतिवादीका प्रत्यवस्थान चल सकता था। किन्तु आकाश, काल, आत्मा आदिमें सद्भावके निमित्त हो रहे न्यारे धर्म नित्यपनका भी साथ दर्शन हो रहा है। और घट पट आदिमें अनित्यत्वके ज्ञापक प्रयत्नांतरीयकत्वके निमित्त कारण अनित्यपनका उपलम्भ हो रहा है। तिस कारण यह प्रतिवादीका अविशेषसमजाति निरूपणरूप उपन्यास करना विषम पडता है। इस कारण प्रतिवादीको संपूर्ण अर्थोंमें अन्तररहितपनके प्रसंगसे प्रत्यवस्थान देनेका विचार छोड देना चाहिये। " कचिद्धर्मानुपपत्तेः

-कचिद्योपपत्तेः प्रतिषेधाभावः " इस सूत्रकी वृत्तिमें विश्वनाथ भट्टाचार्य कहते हैं कि कहीं कृतकत्व प्रयत्नानन्तरीयकत्व, आदिमें हेतुके धर्म व्याप्ति, पक्षधर्मता आदिक विद्यमान हैं, और कहीं सत्त्व, प्रमेयत्व आदि हेतुओंमें अनित्यपन साध्यके उपयोगी व्याप्ति, पक्षवृत्तित्व आदि हेतुधर्म नहीं पाये जाते हैं। अतः प्रतिवादीद्वारा प्रतिषेध होनेका असम्भव है।

यदि तु सर्वेषामर्थानामनित्यता सत्त्वस्य निमित्तमिष्यते तदापि प्रत्यवस्थानादनित्याः सर्वे भावाः सत्त्वादिति पक्षः प्राप्नोति। तत्र च प्रतिज्ञार्थव्यतिरिक्तं कोदाहरणं सम्भवेन्न चानुदाहरणो हेतुरस्तु। उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनत्वं हेतुरिति समर्थनात्। पक्षैकदेशस्य प्रदीपज्वालादेरुदाहरणत्वे साध्यत्वविरोधः साध्यत्वे तूदाहरणं विरुध्यते। न च सर्वेषां सत्त्वमनित्यत्वं साधयति नित्यत्वेपि केषांचित्सत्त्वप्रतीतेः। संप्रति सिद्धार्थानां सर्वेषामनित्यतायां कथं शब्दानित्यत्वं प्रतिषिध्यते सत्त्वैरिति परीक्ष्यतां। सोयं सर्वस्यानित्यत्वं साधयन्नेव शब्दानित्यत्वं प्रतिषेधतीति कथं स्वस्थः ?

भाष्यकार कहते हैं कि तो प्रतिवादीका यदि यह मन्तव्य होय कि सम्पूर्ण अर्थोंके सद्भावकी उपपत्तिका निमित्तकारण अनित्यत्व ही न्यारा धर्म इष्ट किया गया है। सिद्धान्ती कहते हैं कि यों कल्पना करोगे तो भी प्रतिवादीका प्रत्यवस्थान देनेसे यह पक्ष प्राप्त हो जाता है कि सम्पूर्ण पदार्थ सत्पना हो जानेसे अनित्य हैं और इस प्रकार वादीके उस पक्षमें प्रतिज्ञा विषय अर्थसे व्यतिरिक्त हो रहा उदाहरण भला कहां सम्भवेगा ? अर्थात्—सत्त्व हेतुसे सम्पूर्ण पदार्थोंमें अविशेषरूपसे अनित्यपना साधनेपर अन्वयदृष्टान्त या व्यतिरेक दृष्टान्त बनानेके लिये कोई पदार्थ शेष नहीं बचता है और उदाहरणसे रहित कोई हेतु हो जाओ यह ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि उदाहरणके साधर्म्यसे या उदाहरणकी सामर्थ्यसे साध्यका साधकपना हेतुका प्राण है। इस प्रकार समर्थन किया जा चुका है। अन्तर्व्याप्तिका अवलम्ब लेकर प्रतिवादी यदि पक्षके एक देश हो रहे प्रदीपकलिका, अग्निज्वाला, विद्युत् आदिका उदाहरणपना स्वीकार करें, तब तो हम कहते हैं कि सबको पक्षकोटिमें डालकर उन प्रदीप, ज्वाला, आदिके साध्यपनका विरोध हो जावेगा। प्रदीपकलिका आदिको पक्षमें प्रविष्ट कर अनित्यपनसे विशिष्टपना साध्य करनेपर तो उनको अन्वय दृष्टान्त बनाना विरुद्ध पड जायगा। तथा एक बात यह भी है कि सम्पूर्ण पदार्थोंका विद्यमान हो रहा सत्त्व कोई अनित्यत्वको नहीं साध देता है। किन्हीं आकाश आदि पदार्थोंके नित्यपना होते हुये भी सत्त्व प्रतीत हो रहा है। अतः नित्यपन या अनित्यपनको साधनेमें सत्त्व हेतु व्यभिचारी है। नित्योंमें सद्भाव हो जानेसे उस हेतुकरके अनित्यपनकी सिद्धि नहीं हो सकती है। और अनित्य पदार्थोंमें वर्त जानेसे उस हेतु करके नित्यपनकी सिद्धि नहीं हो पाती है। अतः प्रतिवादीका सबको अविशेषपनके प्रसंग देनेका वाक्य कुछ भी अर्थको नहीं रखता है। हां,

वर्तमान कालमें सिद्ध हो रहे सम्पूर्ण पदार्थोंका अनित्यपना यदि साधा जावेगा तब तो अन्य पदार्थोंके सदृश करके प्रतिवादी द्वारा शद्बका अनित्यपना भला कैसे प्रतिषेधा जा सकता है ? अर्थात्-नहीं । इस बातकी प्रतिवादी और उसके साथी भले ही परीक्षा कर देखें, हमको कोई आपत्ति नहीं है । सद्भाव सिद्ध हो जानेसे सम्पूर्ण पदार्थोंके अनित्यपनको कह रहे प्रतिवादी करके जब शद्ब का अनित्यपना स्वीकार ही कर लिया गया है, उस दशामें वादीके पक्षका प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध करना ही नहीं बन पाता है । फिर भी यह प्रसिद्ध प्रतिवादी सबके अनित्यपनको साध रहा संता ही शद्बके अनित्यपनका प्रतिषेध कर रहा है । यों परस्पर विरुद्ध कह रहा वह प्रतिवादी स्वस्थ (होशमें) कैसे कहा जा सकता है ? विचारशील पण्डित तो ऐसे विरुद्ध वचनोंका प्रयोग नहीं करता है । यहांतक अविशेषसमा जातिका विचार कर दिया गया है ।

कारणस्योपपत्तेः स्यादुभयोः पक्षयोरपि ।
उपपत्तिसमा जातिः प्रयुक्ते सत्यसाधने ॥ ४०८ ॥

वादी द्वारा सत्य हेतुका प्रयोग किया जा चुकनेपर पुनः प्रतिवादी द्वारा दोनों भी पक्षोंके यानी पक्षविपक्षोंके या नित्यपनके अनित्यपनके कारण प्रमाणकी उपपत्ति हो जानेसे उपपत्तिसमा जाति हुई प्रतीत कर लेनी चाहिये ।

उभयोरपि पक्षयोः कारणस्योभयोरुपपत्तिः प्रत्येया उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसम इति वचनात् ।

दोनों भी पक्ष विपक्षोंके कारण की दोनों वादी प्रतिवादियोंके यहां सिद्धि हो जाना उपपत्तिसमा जाति समझ लेनी चाहिये । न्यायदर्शनमें गौतम ऋषिने उभय कारणकी उपपत्तिसे उपपत्तिसम प्रतिषेध होता है, ऐसा निरूपण किया है । प्रतिवादी कह देता है कि जैसे तुम वादीके पक्ष हो रहे अनित्यपनमें प्रमाण विद्यमान है, तिसी प्रकार मेरा पक्ष भी प्रमाणयुक्त है । ऐसी दशामें वादीके पक्षका प्रतिरोध हो जाना या बाधित हो जाना सम्भव समझ कर प्रतिवादी उपपत्तिसमा जाति उठानेके लिये उद्युक्त हुआ प्रतीत होता है ।

एतदुदाहरणमाह ।

इस उपपत्तिसमाके उदाहरणको न्यायभाष्य अनुसार श्री विद्यानन्द आचार्य यों वक्ष्यमाण वार्तिकों द्वारा कहते हैं ।

कारणं यद्यनित्यत्वे प्रयत्नोत्थत्वमित्ययं ।
शद्बोऽनित्यस्तदा तस्य नित्यत्वेऽस्पर्शतास्ति तत् ॥ ४०९ ॥

ततो नित्योप्यसावस्तु साधनं नोपपद्यते ।
कारणस्याभ्यनुज्ञाना न नित्यः कथमन्यथा ॥ ४१० ॥

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ऋषि उपपत्तिसमके लक्षण सूत्रका यों व्याख्यान करते हैं कि शद्वके अनित्यपनको साधनेमें कारण प्रयत्नजन्यत्व है । इस कारण यह शद्व यदि अनित्य कहा जाता है, तब तो उस शद्वके नित्यपनमें भी ज्ञापक कारण हो रहा वह स्पर्शरहितपना विद्यमान है । तिस कारणसे वह शद्व नित्य भी उपपन्न हो जाओ, अन्यथा यानी कारण (अस्पर्शत्व) के होनेपर भी यदि साध्य (नित्यत्व) को नहीं साधोगे तो शद्व अनित्य भी कैसे हो सकेगा ? वहां भी प्रयत्नजन्यत्वके होते हुये भी अनित्यपनका साधन नहीं बन सकेगा यदि कारणके । वर्त जानेसे शद्वमें अनित्यपन की सिद्धि कर दोगे तो दूसरे प्रकार अस्पर्शत्व हेतुसे शद्व नित्य भी क्यों नहीं सिद्ध हो जायगा ? अर्थात्–होवेगा ही ।

यद्यनित्यत्वे कारणं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं शद्धस्यास्तीत्यनित्यः शद्बस्तदा नित्यत्वे तस्य कारणमस्पर्शत्वमुपपद्यते । ततो नित्योप्यस्तु कथमनित्योन्यथा स्यादित्युभयस्यानित्यत्वस्य नित्यत्वस्य च कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमो दूषणाभासः ।

इन दो कारिकाओंका विवरण यों है कि यदि शद्वके अनित्यपनको साधनेमें ज्ञापक कारण प्रयत्नानन्तरीयकपना है, अतः शद्व अनित्य है, तब तो उस शद्वके नित्यपनमें भी ज्ञापक कारण स्पर्शगुणरहितपन विद्यमान है । तिस कारणसे शद्व नित्य भी हो जाओ । स्पर्शगुणसे रीता हो रहा आकाश नित्य है । उसी प्रकार गुण होनेसे किसी भी गुणको नहीं धारनेवाला स्पर्शरहित शद्व भी नित्य हो सकता है । कोई बाधा नहीं आती है । अन्यथा वह अनित्य भी कैसे हो सकेगा ? इस प्रकार दोनों ही अनित्यपन और नित्यपनके कारणोंकी उपपत्ति हो जानेसे प्रत्यवस्थान उठाना प्रतिवादीका उपपत्तिसम नामका दूषणाभास है । वस्तुतः दूषण नहीं होकर दूषणके सदृश है ।

इत्येष हि न युक्तोत्र प्रतिषेधः कथंचन ।
कारणस्याभ्यनुज्ञादि यादृशं ब्रुवतां स्वयं ॥ ४११ ॥
शद्वानित्यत्वसिद्धिश्चोपपत्तेरविगानतः ।
व्याघातस्तु द्वयोस्तुल्यः स्वपक्षप्रतिपक्षयोः ॥ ४१२ ॥
साधनादिति नैवासौ तयोरेकस्य साधकः ।
एवं ह्येष न युक्तोत्र प्रतिषेधः कथं मतिः ॥ ४१३ ॥

" उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः " इस सूत्र अनुसार सिद्धान्ती उसका उत्तर कहते हैं कि यहां प्रतिवादी द्वारा यह प्रतिषेध करना कैसे भी युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि दोनोंके कारणोंकी उपपत्ति कह देनेसे शद्बके अनित्यपनकी निर्दोष रूपसे सिद्धि हो चुकी। जिस प्रकारके मन्तव्यको प्रतिवादी स्वयं कह रहा है, उसने शद्बके अनित्यपनको सब ओरसे स्वीकार कर ही लिया है। अनित्यपनके हेतु, उदाहरण, आदिको भी वह मान चुका है। अतः पुनः नित्यत्वको साधते हुये वह प्रतिषेध करना नहीं बनता है। अनित्यपनको मान कर पुनः अनित्यपनका निषेध नहीं किया जा सकता है। व्याघात दोष लग बैठेगा। तथा यदि प्रतिषेध करोगे तो दोनों नित्यत्व, अनित्यत्वके कारणोंकी उपपत्ति नहीं स्वीकार की जा सकेगी। अतः जातिका लक्षण नहीं घटा। और यदि दोनोंके कारणोंकी उपपत्ति कह देनेसे शद्बके अनित्यपनका कारण बन चुकना स्वीकार कर लोगे तो प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है। अपने पक्ष हो रहे शद्बका अनित्यपन और प्रतिवादीके पक्षग्रस्त हो रहे नित्यपन दोनोंकी सिद्धि करनेसे तो उसी प्रकार समान रूपसे व्याघात दोष आ जाता है। इस कारण वह प्रतिवादी उन दोनोंमेंसे एक पक्षका भी साधनेवाला नहीं है। इस प्रकार यह प्रतिवादी द्वारा किया गया प्रतिषेध यहां कैसे भी समुचित नहीं है। "श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयम्" इसकी अपेक्षा नहीं कर कथमपि पाठकर लिया जाय अथवा अनुष्टुप् श्लोकके पदोंमें छठवें अक्षरको गुरु माननेपर "कथं मतिः" पाठ बना लिया जाय। विद्वान् पुरुष अन्य भी विचार कर सकते हैं। वादी कह सकता है कि तुम प्रतिवादीने मेरे पक्षका दृष्टान्त दे करके मेरे पक्षका प्रामाणसहितपना स्वीकार कर लिया है। अतः मेरे ऊपर प्रतिषेध भला कैसे उठाया जा सकता है। यों कथमपि पाठ रहने दो।

कारणस्याभ्यनुज्ञानात् उभयकारणोपपत्तेरिति ब्रुवता स्वयमेवानित्यत्वे कारणं प्रयत्नानंतरीयकत्वं तावदभ्यनुज्ञातमनेनाभ्यनुज्ञानान्नानुपपन्नस्तत्प्रतिषेधः शद्बानित्यत्वसिद्ध्या उपपत्तेरविवादात्। यदि पुनर्नित्यत्वकारणोपपत्तौ सत्यामनित्यत्वकारणोपपत्तेर्व्याघातादनित्यत्वासिद्धेर्युक्तः प्रतिषेध इति मतिस्तदास्त्यनित्यत्वकारणोपपत्तौ सत्यां नित्यत्वकारणोपपत्तिरपि व्याघातान्न नित्यत्वसिद्धिरपीति नित्यत्वानित्यत्वयोरेकतरस्यापि न साधकस्तुल्यत्वादुभयोर्व्याघातस्य।

कारणका अभ्यनुज्ञान करनेसे अर्थात्–सूत्र अनुसार नित्यपन अनित्यपन दोनोंके कारणोंकी उपपत्ति हो जानेसे इस प्रकार कह रहे प्रतिवादीने शद्बमें अनित्यपनके कारण प्रयत्नानन्तरीयकत्वको स्वयं पहिले ही स्वीकार कर लिया है। यों इस प्रतिवादी करके स्वीकृत हो जानेसे पुनः उस अनित्यपनका प्रतिषेध करना नहीं सध सकेगा। क्योंकि शद्बके अनित्यपनकी सिद्धि की उपपत्तिमें प्रतिवादीको कोई विवाद नहीं रहा है। अतः अनित्यपनका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है। यदि फिर

प्रतिवादीका यह मन्तव्य होय कि हमारे यहां प्रथमसे ही शद्बकी नित्यताके कारण अस्पर्शत्वकी उपपत्ति (सिद्धि) हो चुकी है। ऐसा होनेपर वादीके इष्ट शद्बानित्यत्वके कारण प्रयत्नजन्यत्वकी उपपत्तिका व्याघात हो जाता है। अतः अनित्यपनकी असिद्धि हो जानेसे मेरे द्वारा किया गया अनित्यत्वका प्रतिषेध करना युक्त है। अर्थात्–तुम्हारे यहां अनित्यपन सध चुकनेपर पुनः उसका प्रतिषेध करनेसे मेरे ऊपर जैसे व्याघात दोष आता है, उसी प्रकार मेरे यहां शद्बका नित्यपन सध-चुकनेपर पुनः अनित्यपन साधनेमें तुमको भी व्याघात दोष लगेगा। अतः मैं प्रतिवादी उस अनित्यपनका प्रतिषेध कर देता हूं, यह मेरा उचित कार्य है। अब सिद्धान्ती कहते हैं कि यों मानोगे तब तो हम भी कह देंगे कि वादीके यहां प्रथमसे ही अनित्यपनके कारणकी सिद्धि हो चुकनेपर पुनः प्रतिवादीके यहां नित्यपनके कारणकी सिद्धि व्याघात दोष हो जानेसे नहीं बन पाती है। वादीको ही प्रथम बोलनेका अधिकार प्राप्त है। अतः प्रतिवादीके अभीष्ट नित्यपनकी सिद्धि नहीं हुई। बिल्लीके समान दूधको लुढका देनेसे दोनोंमेंसे किसीका भी प्रयोजन नहीं सध पाता है। इस प्रकार नित्यत्व, अनित्यत्व, दोनोंमेंसे किसी एक पक्षकी भी सिद्धि करनेवाला वह साधक नहीं हुआ। कारण कि दोनों भी पक्षोंमें व्याघात दोष तुल्य रूपसे मुंह बाये खडा हुआ है। ऐसी दशामें दोनों पक्षोंके सुन्द उपसुन्द न्यायसे मर जानेपर प्रतिवादी किसकी सामर्थ्यके भरोसेपर प्रतिषेध करनेके लिये उत्साह दिखा रहा है ? अतः यह प्रतिवादी द्वारा किया गया प्रतिषेध युक्त नहीं है।

का पुनरुपलब्धिसमा जातिरित्याह।

चौवीस जातियोंमें उपपत्तिसमा जातिके पीछे गिनाई गयी फिर उपलब्धिसमा जाति कैसी है ? उसका लक्षण और उदाहरण क्या है ? इस प्रकार श्रोताकी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

साध्यधर्मनिमित्तस्याभावेप्युक्तस्य यत्पुनः।
साध्यधर्मोपलब्ध्या स्यात् प्रत्यवस्थानमात्रकम् ॥ ४१४ ॥
सोपलब्धिसमा जातिर्यथा शाखादिभंगजे।
शद्बेस्त्यनित्यता यत्नजत्वाभावेप्यसाविति ॥ ४१५ ॥

शद्ब अनित्य है, (प्रतिज्ञा) जीवके प्रयत्न करके जन्य होनेसे (हेतु) घटके समान, इस अनुमानमें शद्बनिष्ठ अनित्यत्वकी ज्ञाप्ति करानेका निमित्त कारण प्रयत्नजन्यत्व माना गया है। वादी द्वारा कहे जा चुके उस निमित्तके नहीं होनेपर भी प्रतिवादी द्वारा पुनः साध्य धर्मकी उपलब्धि करके जो केवल रीता प्रत्यवस्थान उठाया जायगा वह उपलब्धिसमा जाति है। जैसे कि

वृक्षकी शाखा गुद्दा आदिके टूटनेसे उत्पन्न हुये शद्बमें प्रयत्नजन्यत्वके बिना भी वह अनित्यपना साध्यधर्म विद्यमान है। तिस कारणसे वह हेतु साध्यका साधक नहीं है। अथवा " पर्वतो वन्हिमान् धूमात् " यह अनुमान वन्हिके निर्णयके लिये कहा जाता है। किन्तु वह ठीक नहीं बैठता है। क्योंकि धूमके बिना आलोक, उष्णता, आदिसे भी अग्निकी सिद्धि हो जाती है। अतः अकेले धूऐंसे ही वन्हिमान् नहीं साधना चाहिये तथा धूम हेतुसे वन्हिमान् ही यह साध्य कोटिमें अवधारण नहीं लगाया जाय। क्योंकि धूम हेतुसे द्रव्यत्व, मूर्त्तत्व आदिकी भी सिद्धि हो जाती है। पर्वत ही अग्निमान् है। यह पक्षकोटिमें अवधारण नहीं कर सकते हो। क्योंकि रसोई घर, आवियाना आदिक भी अग्निमान् हैं। पर्वतको ही अग्निमान् माननेपर अन्वयदृष्टान्त भी कोई नहीं बन सकेगा। पर्वतका बहुतसा भाग अग्निरहित हुआ अन्य वनस्पति, शिला, मिट्टी, आदिको धार रहा भी है। इस प्रकार यह उपलब्धिसमा जाति नामक प्रतिषेध प्रतिवादी द्वारा उठाया गया है।

साध्यधर्मस्तावदनित्यत्वं तस्यानिमित्तकारणं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं ज्ञापकं तस्योक्तस्य वादिना क्वचिदभावेपि पुनः साध्यधर्मस्योपलब्ध्या यत्प्रत्यवस्थानमात्रकं सोपलब्धिसमा जातिर्विज्ञेया, " निर्दिष्टकारणाभावेप्युपलंभादुपलब्धिसम " इति वचनात्। तद्यथा-शाखादिभंगजे शद्बे प्रयत्नानन्तरीयकत्वाभावेप्यनित्यत्वमस्ति साध्यधर्मोसाविति।

यहां प्रकरणमें साधने योग्य धर्म तो सबसे पहिले अनित्यपना है। उसका ज्ञापक निमित्त कारण प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु है। वादी द्वारा कहे जा चुके हेतुका अभाव होनेपर भी पुनः साध्य धर्मकी उपलब्धि दिखलानेसे जो सम्पूर्ण व्यापक साध्यकी अपेक्षा मात्र प्रत्यवस्थान उठाया जाता है, वह उपलब्धिसमा जाति समझनी चाहिये। गौतमसूत्रमें इसका लक्षण यों कहा है कि वादी द्वारा कहे जा चुके कारणके अभाव होनेपर भी साध्यधर्मका उपलम्भ हो जानेसे उपलब्धिसम प्रतिषेध है। उसका उदाहरण इस प्रकार है कि शाखा आदिके भंगसे उत्पन्न हुये शद्बमें या घनगर्जन, समुद्रघोष आदि शद्बोंमें प्रयत्नजन्यत्वका अभाव होनेपर भी वह साध्य धर्म हो रहा अनित्यपना वर्त रहा है।

स चायं प्रतिषेधो न युक्त इत्याह।

सिद्धान्ती कहते हैं कि सो यह प्रतिवादी द्वारा किया गया प्रतिषेध तो युक्त नहीं है। इस बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकद्वारा कहते हैं।

कारणांतरतोप्यत्र साध्यधर्मस्य सिद्धितः।
न युक्तः प्रतिषेधोऽयं कारणानियमोक्तितः॥ ४१६॥

" कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः " इस गौतमसूत्रके अनुसार विचार करना पड़ता है कि अन्य कारणोंसे भी यहां साध्यधर्मकी सिद्धि हो सकती है। अतः यह प्रतिवादी द्वारा किया

गया प्रतिषेध उचित नहीं है। सामान्य कार्योंके लिये कोई नियत कारणोंका नियम कहा गया है। बात यह है कि शब्द कार्य है, वह कारणोंसे ही उपजेगा। जीवोंके उच्चार्यमाण शब्दमें प्रयत्नजन्यत्वसे अनित्यपना साध किया जाता है। और शेष शाखाभंगोत्थ मेघगर्जन आदि शब्दोंमें उत्पत्तिमत्त्व, कृतकत्व आदि हेतुओंसे अनित्यत्व साध लिया जायगा। देखो, जैसे कार्य तो अवश्य कारणवान् होते हैं। किन्तु कारण कार्यसहित भी होंय और कार्यवान् नहीं भी होंय, कोई नियम नहीं है। उसी प्रकार ज्ञापक पक्षमें समीचीन हेतु साध्यवाला अवश्य होगा। किन्तु साध्य अवश्य सहचरत्व सम्बन्धसे हेतुमान् होय ऐसा नियम नहीं है। साध्य व्यापक होता है और हेतु व्याप्य होता है। हेतुमें अन्यथानुपपत्ति गुण ठहरता है। साध्यमें अविनाभाव गुण नहीं वर्तता है। साधनके बिना साध्य नहीं होय, ऐसा कोई नियम नहीं कह दिया गया है। अग्निकी अनुमिति अन्य आलोक आदि हेतुओंसे भी हो सकती है। हम हेतु, साध्य, या पक्षमें एवकार लगाकर अवधारण करनेके लिये " पर्वतो वन्हिमान् धूमात् " या " शब्दोऽनित्यः प्रयत्नजन्यत्वात् " इन अनुमानोंका प्रयोग नहीं कर रहे हैं। किन्तु संदेहप्राप्त हो रहे अनित्यत्व, आदिकी सिद्धिके लिये अनुमान वाक्य रच रहे हैं। अन्यथा तुम प्रतिवादीके द्वारा कहा गया वादी कथित पक्षकी असाधकताका साधन भी नहीं बन सकेगा। क्योंकि असाधकताके दूसरे साधक भी वर्त रहे हैं। अतः वादीके पक्षका यों प्रतिषेध नहीं हो सकता है।

प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् कारणादन्यदुत्पत्तिधर्मकत्वादिकारणान्तरमनित्यत्वस्य साध्यधर्मस्य, ततोपि सिद्धिर्न युक्तः प्रतिषेधोयं तत्र कारणानियमवचनात् नाभिज्ञापकमंतरेण ज्ञाप्यं न भवतीति नियमोस्ति, साध्याभावे साधनस्यानियमव्यवस्थितेः इति।

अनित्यपन साध्यधर्मके हेतु हो रहे प्रयत्नानन्तरीयकपन इस ज्ञापककारणके भिन्न (न्यारे) उत्पत्तिधर्मकपन, कृतकपन आदि दूसरे कारण भी विद्यमान हैं। उनसे भी अनित्यपनकी सिद्धि हो सकती है। हम उक्त हेतुसे न्यारे हेतुका अनित्यपनको साधनेके लिए निषेध थोडा ही करते हैं। अतः यह प्रतिवादीका उठाया हुआ, यह प्रतिषेध युक्त नहीं है। वहां हमने कारणोंके नियमका वचन नहीं दे दिया है। अच्छी ज्ञप्ति करानेवाले हेतुके बिना जानने योग्य साध्य नहीं होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। हां, साध्यके नहीं होनेपर तो नियमसे साधनके नहीं ठहरनेकी व्यवस्था है। यहांतक उपलब्धिसमा जातिका विचार कर दिया गया है।–अब इसके आगे अनुपलब्धिसमा जातिकी परीक्षा करते हैं।

तस्मान्न विद्यमानस्यानुपलब्धेः प्रसाधने।
निषेध्यानुपलब्धेश्चाभावस्य साधने कृते ॥ ४१७ ॥

अभावस्य विपर्यासादुपपत्तिः प्रकीर्तिता ।
प्रस्तुतार्थविघातायानुपलब्धिसमानधैः ॥ ४१८ ॥

जिस कारण कि उच्चारणसे पहिले शब्दका उपलम्भ नहीं होता है । यदि कथमपि उच्चारण के प्रथम तिरोभूत हो रहे शब्दका सद्भाव मान भी लिया जाय तो आवरण आदिसे उस शब्दकी उपलब्धि नहीं होना माना जायगा । किन्तु यह तो बनता नहीं है । क्योंकि अनुपलब्धिके कारण आवरण आदिकोंका ग्रहण नहीं होता है । अर्थात्-इस वायु आदिकरके ढक रहा शब्द बोलनेके पहिले पहिले सुनाई नहीं पडता है । या श्रोत्र इन्द्रियके साथ शब्दका सन्निकर्ष पूर्वकालमें नहीं हो सका है । अथवा उच्चारणके पहिले शब्दका इन्द्रियके साथ व्यवधान था । पहिले शब्द सूक्ष्म था । इत्यादिक इन युक्त अनुपलब्धिके कारणोंका ग्रहण नहीं हो रहा है । अतः उच्चारणसे पूर्वमें शब्द नहीं है । आत्माके बोलनेकी इच्छाके साथ प्रतिघात (धक्का लगना) हो जाना ही शब्दका उच्चारण है । न्यायसिद्धान्तके अनुसार लौकिक, वैदिक, या भाषात्मक, घनगर्जन आदिक सभी शब्द अनित्य माने गये हैं । किन्तु मीमांसक शब्दोंको नित्य मानते हैं । उच्चारणके पूर्वकालोंमें भी शब्द अक्षुण्ण विद्यमान हैं । अभिव्यंजक कारणोंके नहीं मिलनेसे उसका श्रावणप्रत्यक्ष नहीं हो पाता है । इसका नैयायिक खण्डन कर देते हैं कि " प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च " पहिले समयोंमें उच्चारण आदिकी अनुपलब्धि हो रही है और आवरण आदिकी अनुपलब्धि हो रही है । यदि शब्द नित्य होता तो उच्चारणसे पहिले भी श्रोत्रके साथ सन्निकर्ष हो जानेसे सुनाई पडता । कोई यहां प्रतिबन्धक तो नहीं है । यदि कोई प्रतिबन्धक है, तो उनका ही दर्शन होना चाहिये । किन्तु आवरण आदिकोंकी अनुपलब्धि है । नैयायिकके यहां माने गये अमूर्त, अक्रिय, शब्दका अन्य देशोंमें उस समय चला जाना भी तो नहीं सम्भवता है । अतीन्द्रिय अनन्त प्रतिबंधक व्यंजक, आवारके या आवारकोंके अपनायक आदिकी कल्पना करनेकी अपेक्षा शब्दके अनित्यपनकी कल्पना करनेमें ही लाघव है । अतः व्यंजक कारणके नहीं होनेसे शब्दका अग्रहण नहीं है । किन्तु अभाव होनेसे ही उच्चारणके प्रथम कालमें शब्दका श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं हो सका है । तिस कारण विद्यमान शब्दकी अनुपलब्धि नहीं है । उस अनुपलब्धिका अच्छा साधन करते संते निषेध करने योग्य शब्दकी अनुपलब्धिसे पूर्वकालीन शब्दके अभावका वादी द्वारा साधन कर चुकनेपर जातिवादी प्रत्यवस्थान उठाता है कि आवरणकी अनुपलब्धिसे आवरणका अभाव यदि सिद्ध हो जाता है, तो आवरणकी अनुपलब्धिके अनुपलम्भसे आवरणानुपलब्धिका भी अभाव सिद्ध हो जायगा । और तैसा होनेपर आवरणानुपलब्धिको प्रमाण मानकर जो आवरणाभाव नैयायिकोंने माना था, वह नहीं बनेगा । किन्तु नित्य शब्दोंके आवरणकी उच्चारण पूर्वकालमें सिद्धि हो जायगी । इस प्रकार शब्दके नित्यपनेमें कहा गया आवरणानुपलब्धिरूप बाधक उठाना वादीका

उचित कार्य नहीं है। अतः उस आवरणकी अनुपलब्धिके अनुपलम्भसे अभावको साधनेपर उस अभावके विपर्ययसे प्रस्तावित अर्थका विघात करनेके लिये उपपत्ति उठाना निर्दोष विद्वानोंद्वारा अनुपलब्धिसमा जाति कही जा चुकी है।

कश्चिदाह, न प्रागुच्चारणाद्विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिस्तदावरणाद्यनुपलब्धेरुत्पत्तेः प्राग्घटादेरिव। यस्य तु दर्शनात् प्राग्विद्यमानस्यानुपलब्धिस्तस्य नावरणाद्यनुपलब्धिः यथा भूम्याद्यावृतस्योदकादेर्नावरणाद्यनुपलब्धिश्च श्रवणात् प्राक् शब्दस्य। तस्मान्न विद्यमानस्यानुपलब्धिरित्यविद्यमानः शब्दः श्रवणात्पूर्वमनुपलब्धेरिति निषेध्य शब्दस्यानुपलब्धिर्या तस्याश्चानुपलब्धेरभावस्य साधने कृते सति विपर्यासादभावस्योपपत्तिरनुपलब्धिसमा जातिः प्रकीर्तितानघैः, प्रस्तुतार्थविघाताय तस्याः प्रयोगात्। तदुक्तं। " तदनुपलब्धेरनुपलंभादभावसिद्धौ विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसम " इति।

कोई वादी कह रहा है कि विद्यमान शब्दका उच्चारणसे पहिले अनुपलम्भ नहीं है। क्योंकि उस शब्दके आवरण (भूमि, भीत आदिके समान) असन्निकर्ष (इन्द्रिय और अर्थका सन्निकर्ष नहीं होना) इन्द्रियघात (कान फूट जाना) सूक्ष्मता (परमाणुओंके समान इन्द्रिय गोचर नहीं होना) मनोनवस्थान (चित्तका अस्थिर रहना) अतिदूरत्व (अधिक दूर देशमें सुमेरु आदिके समान शब्दका पडा रहना) अभिभव (सूर्यके आलोकसे दिनमें चन्द्रप्रभा या तारागणोंके छिपजाने समान शब्दका छिपा रहना) समानाभिहार (भैंसके दूधमें गायके दूधका मिल जाना या लोटेके पानीमें गिलासके पानीका मिल जाना इस प्रकार शब्दका समान गुणवाले पदार्थके साथ मिश्रण होकर पृथक्, पृथक्, दिखाई नहीं पडना) आदिकी अनुपलब्धि हो रही है। अतः उत्पत्तिके पहिले घट आदिका अभाव है। देखो, दर्शनके पहिले विद्यमान हो रहे जिस पदार्थकी अनुपलब्धि है, उसके तो आवरण, असन्निकर्ष, व्यवधान आदिकी अनुपलब्धि नहीं है। जैसे कि भूमिसे ढके हुये सोतजल या थैलीसे ढके हुये रुपये, या सन्दूकसे आवृत हो रहे वस्त्र आदि आवरण अथवा दूरवर्ती नगर, मेला, तीर्थस्थान आदिके साथ हो रहे इन्द्रियोंके असन्निकर्ष आदिकी अनुपलब्धि नहीं है। इसी प्रकार सुननेके पहिले शब्दके आवरण आदिक नहीं दीख रहे हैं। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि विद्यमान हो रहे शब्दोंकी अनुपलब्धि नहीं है। प्रत्युत (बल्कि) सुननेके पूर्व कालमें शब्द विद्यमान ही नहीं है। इस कारण उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है। इस कारण निषेध करने योग्य शब्दकी जो अनुपलब्धि है, उसकी भी अनुपलब्धि हो जानेसे अभावका साधन करनेपर विपर्याससे उस अनुपलब्धिके अभावकी उपपत्ति करना निष्पाप विद्वानोंकरके प्रतिवादीकी अनुपलब्धिसमा जाति बखानी गयी है। वादीके प्रस्तावप्राप्त अर्थका विघात करनेके लिये प्रतिवादीने उस जातिका प्रयोग किया है। वही गौतमऋषिने न्यायदर्शनमें

कहा है कि उन आवरण आदिकोंकी अनुपलब्धि नहीं दीख रही है । अतः अनुपलम्भ होनेसे इस अनुपलब्धिका अभाव सिद्ध हो जाता है । अभावकी सिद्धि हो चुकनेपर हेतुके नहीं रहनेसे उसके विपरीत आवरण आदिकोंका अस्तित्व जान लिया जाता है । अतः जो वादीने कहा था कि उच्चारणके पहिले शद्व विद्यमान नहीं है । इस कारण उसकी उपलब्धि नहीं हो पाती है । यह वादीका कथन सिद्ध नहीं हो सका है । दूसरी बात यह भी है कि जैसे आवरणके अनुपलम्भ प्रत्येक आत्मामें जाने जा रहे हैं, उसी प्रकार आवरणोंकी अनुपलब्धिके अनुपलम्भ भी प्रत्यक्ष आत्मक संविदित हो रहे हैं । " तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः " अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भाववदावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् " तथा जिस प्रकार नहीं दीखते हुये आवरणोंकी अनुपलब्धिसे उनका अभाव मान लिया जाता है, उसी प्रकार अनुपलभ्यमान हो रही आवरणानुपलब्धिका अभाव भी जान लिया जाता है । एतावता आवरणोंका सद्भाव सिद्ध हो जाता है । अतः शद्वको नित्य अभिप्रेत करने वाले प्रतिवादीका यह अनुपलब्धिसम नामका प्रतिषेध है ।

कथमिति श्लोकैरुपदर्शयति ।

उस अनुपलब्धिसम प्रतिषेधका उदाहरण किस प्रकार है ? ऐसी प्रेक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य श्लोकों द्वारा उसको दिखलाते हैं ।

> यथा न विद्यमानस्य शद्वस्य प्रागुदीरणात् ।
> अश्रुतिः स्यात्तदावृत्याद्यदृष्टेरिति भाषिते ॥ ४१९ ॥
> कश्चिदावरणादीनामदृष्टेरप्यदृष्टितः ।
> सैव मा भूत्ततः शद्वे सत्येवाऽश्रवणात्तदा ॥ ४२० ॥
> वृत्याद्यभावसंसिद्धेरभावादिति जल्पति ।
> प्रस्तुतार्थविघातेव नैव संवर्णितः स्वयं ॥ ४२१ ॥

अनुपलब्धिसमा जातिका निदर्शन जिस प्रकार नैयायिकोंने दिखाया है, वह यों है कि उच्चारण, बजना, गर्जना, आदिके पूर्वकालमें शद्व विद्यमान नहीं, अतः विद्यमान हो रहे शद्वकी अनुपलब्धि नहीं । यानी अभाव होते हुये ही शद्वका पहिले कालमें अश्रवण हो रहा है । क्योंकि उस समय शद्वकी अनुपलब्धिके कारण सम्भवनेवाले आवरण, असन्निकर्ष, व्यवधान, आदिका भी ग्रहण नहीं हो रहा है । इस कारण यह कारणोंसे उपजने योग्य शद्व अपनी उत्पत्तिके पहिले समयोंमें विद्यमान ही नहीं है, तब उपलम्भ किसका होय । घटकी उत्पत्तिके पहिले घट नहीं दिखता है । और उसके आवरण भीत, वस्त्र, झोंपडी आदि भी नहीं देखते हैं । इस प्रकार वादी द्वारा

निरूपण कर चुकनेपर कोई प्रतिवादी प्रत्यवस्थान उठाता है कि आवरण आदिकोंके अनुपलम्भका भी तो अनुपलम्भ हो रहा है । अतः यह आवरणोंका अनुपलम्भ ही नहीं माना जाय और ऐसी दशामें आवरणोंका सद्भाव हो जानेसे पूर्वकालमें शद्बके होते संते ही उन आवारकोंसे आवृत हो जानेके कारण उस समय पूर्वकालमें शद्बका सुनना नहीं हो सका है । वस्तुतः शद्ब उस समय विद्यमान था । उसके आवरण आदिकोंके अभावकी भले प्रकार सिद्धि होनेका अभाव है । इस कारण वादीका हेतु प्रस्तावप्राप्त अनित्य अर्थकी विधि करनेमें ही स्वयं भले प्रकार वर्णनायुक्त नहीं हुआ। वादीने जो यह प्रतिज्ञा की थी कि उच्चारणके पहिले विद्यमान माने जा रहे शद्बकी अनुपलब्धि नहीं हो पाता है । अतः शद्बके नित्यपनमें कोई बाधा नहीं आती है । यों जातिको कहने वाला प्रतिवादी जल्प कर रहा है ।

तदीदृशं प्रत्यवस्थानमसंगतमित्यावेदयति ।

यह प्रतिवादीका इस प्रकार प्रत्यवस्थान उठाना संगतिशून्य है । इस बातका श्रीविद्यानन्द आचार्य आवेदन करते हैं ।

तदसंबंधमेवास्यानुपलब्धेः स्वयं सदा- ।
नुपलब्धिस्वभावेनोपलब्धिविषयत्वतः ॥ ४२२ ॥
नैवोपलब्ध्यभावेनाभावो यस्मात्प्रसिद्ध्यति ।
विपरीतोपपत्तिश्च नास्पदं प्रतिपद्यते ॥ ४२३ ॥
शद्बस्यावरणादीनि प्रागुच्चारणतो न वै ।
सर्वत्रोपलभे हंत इत्याबालमनाकुलम् ॥ ४२४ ॥
ततश्चावरणादीनामदृष्टेरप्यदृष्टितः ।
सिद्ध्यत्यभाव इत्येष नोपालंभः प्रमान्वितः ॥ ४२५ ॥

यह प्रतिवादीका कहना पूर्वापर सम्बन्धसे रहित ही है । " अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः " इस गौतमसूत्रके अनुसार उस जातिका दूषणाभासपना या असमीचीन उत्तरपना यों है कि आवरण आदिकोंकी अनुपलब्धि (पक्ष) नहीं है (साध्य), अनुपलम्भ होनेसे (हेतु) इस प्रकार प्रतिवादीके अनुमानमें दिया गया अनुपलम्भ हेतु सद्धेतु नहीं है । जिस कारणसे कि अनुपलब्धिस्वरूप स्वभावकरके सदा अनुपलब्धि स्वयं उपलब्धिका विषय हो रही है, अतः उपलब्धिस्वरूप हो रही आवरण आदिकोंकी अनुपलब्धिके अभावसे आवरणानुपलब्धिका अभाव सिद्ध नहीं

हो पाता है। और उसकी सिद्धि नहीं होनेपर विपरीत हो रहे आवरण सद्भावकी सिद्धि हो जाना कैसे भी प्रतिष्ठा स्थानको प्राप्त नहीं कर सकता है। उच्चारणसे पहिले शद्बको या उसके आवरण आदिकोंको मैं नियमसे सर्वत्र नहीं देख रहा हूं, इस प्रकारका बालक, गंवार, स्त्री या पशुओंतकको आकुलतारहित अनुभव हो रहा है। तिस कारण हर्षके साथ कहना पड़ता है कि आवरण आदि-कोंकी अनुपलब्धिको भी अनुपलब्धिसे आवरण अनुपलब्धिका अभाव सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार यह प्रतिवादीकरके उपालम्भ दिया जाना भ्रमबुद्धिसे अन्वित हो रहा कार्य नहीं है।

न विद्यमानस्य शद्बस्य प्रागुच्चारणादनुपलब्धिरावरणाद्यनुपलब्धेरित्युपपत्तेर्यत्कस्य-चित्प्रत्यवस्थानं तदावरणादीनामनुपलब्धेरप्यनुपलंभात् सैवावरणाद्यनुपलब्धिर्मा भूत् ततः शद्बस्य प्रागुच्चारणात् सत एवाश्रवणं तदावरणाद्यभावसिद्धेरभावादावरणादिसद्भावा-दिति सम्बन्धरहितमेवानुपलब्धेः सर्वदा स्वयमेवानुपलंभस्वभावत्वादुपलब्धिविषयत्वात्। यथैव ह्युपलब्धिर्विषयस्तथानुपलब्धिरपि। कथमन्यथास्ति मे घटोपलब्धिर्नास्ति मे पटोपलब्धि-रिति संवेदनमुपपद्यते यतस्तैवमावरणाद्यनुपलब्धेरनुपलंभाभेवाभावः सिध्यति तदसिद्धौ च विपरीतस्यावरणादिसद्भावस्योपपत्तिश्च नास्पदं प्रतिपद्यते।

उक्त कारिकाओंका विवरण इस प्रकार है कि उच्चारणके प्रथम नहीं विद्यमान हो रहे ही शद्बका अनुपलम्भ है। विद्यमान हो रहे शद्बका अदर्शन नहीं है। क्योंकि आवरण आदिकी उप-लब्धि नहीं हो रही है। इस प्रकार स्वीकार करनेवाले वादीके किये जिस किसी भी प्रतिवादीकी ओरसे यों प्रत्यवस्थान उठाया जाता है कि उस शद्बके आवरण, अन्तराल, आदिकोंके अदर्शनका भी अदर्शन होते रहनेसे वह आवरण आदिकोंकी अनुपलब्धि ही नहीं होवे। तिस कारण उच्चारणसे पहिले विद्यमान हो रहे ही शद्बका सुनना आवरणवश नहीं हो सका है। अनादिकालसे अप्रति-हत चला आ रहा शद्ब सर्वदा सर्वत्र विद्यमान है। उसके आवरण आदिकोंके अभावकी सिद्धिका अभाव हो जानेसे आवरण आदिकोंका सद्भाव सिद्ध हो जाता है। अब सिद्धान्ती कहते हैं कि इस प्रकार प्रतिवादीका कथन करना उन्मत्तप्रलापके समान सम्बन्ध रहित ही है। "नासंगतं प्रयुञ्जीत" जब कि अनुपलब्धि स्वयं अनुपलम्भ स्वभाववाली है, वह अनुपलब्धि उस स्वभावकरके सदा उपलब्धिका विषय हो रही है। जिस प्रकार ज्ञानके द्वारा विषय होती हुई उपलब्धि जानी जाती है, उसी प्रकार अनुपलब्धि भी ज्ञानकरके उपलम्भ कर ली जाती है। यदि ऐसा नहीं मान कर दूसरे प्रकारोंसे मानोगे तो मुझको घटकी उपलब्धि है, और मुझे पटकी उपलब्धि नहीं है। अथवा मुझे घटकी उपलब्धि हो रही है। और उस घटकी अनुपलब्धि तो नहीं हो रही है। इस प्रकारका बाल, वृद्धतकमें प्रसिद्ध हो रहा सम्वेदन भला कैसे युक्तिपूर्ण सिद्ध हो सकेगा? जिससे कि यह प्रतिवादीका कथन शोभाको प्राप्त हो सके कि " इस प्रकार आवरण आदिकोंकी अनुपलब्धिके

अनुपलम्भसे आवरण आदिकोंका अभाव सिद्ध नहीं हो पाता है । और उसकी असिद्धि होनेपर आवरणाभावके विपरीत हो रहे आवरण आदिके सद्भावकी सिद्धि प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो सके "अथवा सिद्धान्ती कहते हैं कि उस अभावकी सिद्धि नहीं होनेपर उसके विपरीत आवरण आदिके सद्भावकी सिद्धि कैसे भी योग्य स्थानको नहीं पा सकती है ।

यतश्च प्रागुच्चारणाच्छद्वस्यावरणादीनि सोहं नैवोपलभे, तदनुपलब्धिमुपलभे सर्वत्रे-त्याबालमनाकुलं संवेदनमस्ति । तस्मादावरणादीनामदृष्टेर्न सिध्यत्यभाव इत्ययमुपालंभो न प्रमाणान्वितः " सर्वत्रोपलंभानुपलंभव्यवस्थित्यभावप्रसंगात् । ततोनुपलब्धेरपि समयाऽनुपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमो दूषणाभास एवेति प्रतिपत्तव्यं ।

दूसरी बात यह भी है, जिस कारणसे कि उच्चारणसे पहिले शद्बके आवरण आदिकोंको वह मैं नहीं प्रत्यक्ष देख रहा हूं और उन आवरण आदिकोंकी अनुपलब्धिका प्रत्यक्ष उपलम्भ मैं कर रहा हूं, इस प्रकार सभी स्थानोंपर बालक, अन्धे, या पक्षियों,तकको आकुलतारहित संवेदन हो रहा है । तिस कारणसे प्रतिवादी द्वारा दिया गया आवरण आदिकोंकी अदृष्टिके भी अदर्शन होनेसे शद्बके आवरणोंका अभाव सिद्ध नहीं हो पाता है । इस प्रकार यह उलाहना प्रमाणज्ञानसे युक्त नहीं है । यों पोंगापनसे उलाहना देनेपर तो सभी स्थलोंपर प्रत्यक्ष हो रही उपलम्भ और उपलम्भकी व्यवस्थाके अभावका प्रसंग हो जायगा । तिस कारणसे तो आवरणकी अनुपलब्धिकी अनुपलब्धिकी तिसरी अनुपलब्धिसे उलाहना देकर आवरणोंका अभाव भी साधा जा सकता है । तथा तुम प्रति-वादीका साधन भी दोषोंकी अनुपलब्धिका अनुपलम्भ होनेसे सदोष ही बन बैठेगा । किन्तु ऐसे भ्रम उत्पादक उपायोंका अवलम्ब हम नहीं लेना चाहते हैं । भाईसाहब ! भाव अभावोंका,उपलम्भ करनेवाले ज्ञान विशेषोंका मनसे अन्तरंग आत्मामें संवेदन हो रहा है । उच्चारणके पहिले शद्बके आवरण मुझको नहीं दीख रहे हैं । यह अनुपलब्धि भी स्वसम्वेद्य है । अतः अनुपलब्धिसमा करके प्रत्यव-स्थान देना प्रतिवादीका अनुपलब्धिसम नामक दूषणाभास ही है । यह दृढताके साथ समझकर सबको मान लेना चाहिये ।

का पुनरनित्यसमा जातिरित्याह ।

फिर इसके पीछे कही गयी बाईसवीं अनित्यसमा जातिका लक्षण उदाहरणसहित क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर न्यायसूत्र और न्यायभाष्यके अनुसार श्रीविद्यानन्द आचार्य समाधानको कहते हैं ।

कृतकत्वादिना साम्यं घटेन यदि साधयेत् ।
शद्बस्यानित्यतां सर्वं वस्त्वनित्यं तदा न किम् ॥ ४२६ ॥

अनित्येन घटेनास्य साधर्म्यं गमयेत्स्वयं ।
सत्त्वेन साम्यमात्रस्य विशेषाप्रतिवेदनात् ॥ ४२७ ॥
इत्यनित्येन या नाम प्रत्यवस्था विधीयते ।
सात्रानित्यसमा जातिर्विज्ञेया न्यायबाधनात् ॥ ४२८ ॥

प्रतिवादी कहता है कि शब्दका घटके साथ कृतकत्व, उत्पत्तिमत्त्व, प्रयत्नजन्यत्व आदि करके हो रहा साधर्म्य यदि वादीके यहां शब्दके अनित्यपनको साध देवेगा तब तो सम्पूर्ण वस्तुयें अनित्य क्यों नहीं हो जावें। क्योंकि अनित्य हो रहे घटके साथ सत्त्व करके केवल समता हो जानेका साधर्म्य तो स्वयं सबका समझ लिया जावेगा। अतः उस सम्पूर्ण वस्तुका सत्पने करके हो रहा साधर्म्य सबका अनित्यपना समझा देवे। कोई अन्तर डालनेवाली विशेषताका निवेदन तो नहीं कर दिया गया है। इस प्रकार सबके अनित्यपनके प्रसंगसे जो प्रत्यवस्थान किया जाता है, वह यहां अनित्यसमा है। लगे हाथ सिद्धान्ती कहें देते हैं कि यह अनित्यसमा जातिस्वरूप होती हुई प्रतिवादीका असत् उत्तर समझना चाहिये। क्योंकि न्यायसिद्धान्त करके उक्त कथनमें बाधा आ जाती है।

अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद्घटवदिति प्रयुक्ते साधने यदा कश्चित्प्रत्यवतिष्ठते यदि शब्दस्य घटेन साधर्म्यात् कृतकत्वादिना कृत्वा साधयेदनित्यत्वं तदा सर्वं वस्तु अनित्यं किं न गम्येत् ? सत्त्वेन कृत्वा साधर्म्ये, अनित्येन घटेन साधर्म्यमात्रस्य विशेषाप्रवेदादिति। तदेवमनित्यसमा जातिर्विज्ञेया न्यायेन बाध्यमानत्वात्। तदुक्तं। "साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसंगादनित्यसमा ॥ इति।

शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), कृतकत्व होनेसे (हेतु) घटके समान (दृष्टान्त) इस प्रकार अनुमानमें समीचीन हेतुका प्रयोग कर चुकनेपर जब कोई प्रतिवादी प्रत्यवस्थान उठाता है कि शब्दका घटके साथ कृतकत्व आदि करके साधर्म्य हो जानेसे यदि शब्दका अनित्यपना साधा जावेगा, तब तो यों साधर्म्यकर सभी वस्तुयें अनित्य क्यों नहीं समझा दी जावेंगी ? क्योंकि अनित्य घटके साथ सत्त्व द्वारा साधर्म्यको मुख्य करके केवल साधर्म्य सर्वत्र वर्त रहा है। घटके सत्त्वमें या अन्य वस्तुओंके सत्त्वमें कोई विशेषताका प्रतिभास तो नहीं हो रहा है। फिर सबके अनित्यपनको साधनेमें विलम्ब क्यों किया जाय ? यों प्रतिवादीके कह चुकनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि यह अनित्यसमा तो दूषणाभास स्वरूप समझनी चाहिये। क्योंकि यह न्यायसिद्धान्तकरके बाधी जा रही है। उसी बाधित हो रही अनित्यसमाका लक्षण न्यायदर्शनमें गौतमऋषिने यों कह दिया है कि साधर्म्यमात्रसे यानी घटदृष्टान्तके साधर्म्य हो रहे कृतकत्वसे तुल्यधर्म सहितपना बन जानेसे यदि शब्दमें अनित्यपना

साथ किया जाता है, तब तो घटके सत्त्व, प्रमेयत्व, आदि रूप साधर्म्य सम्भवनेसे सब पदार्थोके अनित्यपनका प्रसंग हो जायगा। इस ढंगसे प्रत्यवस्थान उठाना अनित्यसम नामका प्रतिषेध है। सबको अनित्यपना हो जानेसे वादीके हेतुमें व्यतिरेक घटित नहीं होगा, यह प्रतिवादीका अभिप्राय है। दृष्टान्तके जिस किसी भी साधर्म्य करके सम्पूर्ण वस्तुओंके साध्य सहितपनका आपादन करना अनित्यसमा है। कोई विद्वान् वैधर्म्यसे भी तुल्यधर्मकी उपपत्ति हो जानेसे अनित्यसम जातिका उठाया जाना स्वीकार करते हैं। जैसे कि आकाशके वैधर्म्य हो रहे कृतकपनेसे यदि शब्द अनित्य है, तो तिसी प्रकार आकाशके वैधर्म्य आकाशभिन्नत्व, शब्दसमवायिकारणविकलत्व, आदिसे सर्व पदार्थोंका अनित्यपना प्रसक्त हो जाओ। यों माननेपर लक्षण सूत्रमें कहे गये साधर्म्यात्के स्थानपर " यत्किंचिद् धर्मेण " जिस किसी भी धर्म करके ऐसा कह देना चाहिये यों उपसंख्यान कर अनुपलब्धिसमाका पेट बढाना चाहते हैं। आस्तां तावदेतत्।

एतच्च सर्वमसमंजसमित्याह।

प्रतिवादीका अनित्यसमा जाति रूप यह सब कथन नीतिमार्गसे बहिर्भूत है। इस बातको श्रीविद्यानन्द आचार्य वार्तिकों द्वारा कहते हैं।

निषेधस्य तथोक्तस्यासिद्धिप्राप्तेः समत्वतः।
पक्षेणासिद्धिनाधेनेत्यशेषमसमंजसं ॥ ४२१ ॥

" साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यासाधर्म्याच्च " असिद्धिको प्राप्त हो रहे प्रतिषेध्य पक्षके साधर्म्यसे प्रतिवादी द्वारा तिस प्रकार कहे गये निषेधकी भी असिद्धि होना समानरूपसे प्राप्त हो जाता है। अर्थात्-यदि जिस किसी भी ऐरे गेरे साधर्म्यसे सबको साध्यसहितपनका आपादन करनेवाले तुमको साधर्म्यका असाधकपना अभीष्ट है, तब तो तुम्हारे द्वारा किये गये शब्द संबन्धी अनित्यपनके प्रतिषेधकी भी असिद्धि हो जायगी। क्योंकि उस प्रतिषेधकी भी वादीके प्रतिषेध्यपक्षके साधर्म्य करके प्रवृत्ति हो रही है। तुम प्रतिवादी करके यही तो साधा जाता है कि कृतकत्वहेतु (पक्ष) शब्दमें अनित्यत्वका साधक नहीं है (साध्य), घट दृष्टान्तके साधर्म्यरूप होनेसे (हेतु) सत्त्व, प्रमेयत्व आदिके समान (अन्वय दृष्टान्त) इस प्रकार प्रतिषेध कर रहे अनुमानमें दिया गया तुम्हारा हेतु जैसे तुम्हारे प्रतिषेध्य हो रहे मेरे हेतु कृतकपन और सत्त्वके साथ साधर्म्यरूप है, तिसी प्रकार यह अभी कहा गया हेतु भी हेतुपनसे साधर्म्य रखता हुआ साधक नहीं हो सकेगा। ऐसी दशामें तुम्हारा प्रतिषेध करना ही विपरीत (उलट) पडा। पीछे विमुख (उल्टा मुख) कर दी गयी तोपके समान यह प्रतिवादीका प्रयास स्वपक्षघातक हुआ। अतः प्रतिवादीका अनित्यसम जाति उठाना न्याय उचित नहीं है।

पक्षस्य हि निषेध्यस्य प्रतिपक्षोभिलष्यते ।
निषेधो धीधनैरत्र तस्यैव विनिवर्तकः ॥ ४३० ॥
प्रतिज्ञानादियोगस्तु तयोः साधर्म्यमिष्यते ।
सर्वत्रासंभवात्तेन विना पक्षविपक्षयोः ॥ ४३१ ॥
ततोसिद्धिर्यथा पक्षे विपक्षेपि तथास्तु सा ।
नो चेदनित्यता शद्बे घटवन्नाखिलार्थगा ॥ ४३२ ॥

न्यायभाष्यकार कहते हैं कि प्रतिवादी द्वारा निषेध करने योग्य वादीके पक्षका निषेध करना तो यहां बुद्धिरूप धनको रखनेवाले विद्वानों करके प्रतिपक्ष माना जाता है, जो कि उस प्रतिवादीके पक्ष ही की विशेषरूपसे निवृत्ति करनेवाला चाहा गया । उन दोनों पक्ष प्रतिपक्षोंका साधर्म्य तो प्रतिज्ञा, हेतु, आदि अवयवोंका योग हो जाना है । यानी वादीके अनित्यत्व साधक अनुमानमें प्रतिज्ञा, हेतु आदिक विद्यमान हैं । और प्रतिवादीके इष्ट प्रतिपक्षमें भी प्रतिज्ञा आदिक अवयव वर्त रहे माने गये हैं । अनुमानके अवयव प्रतिज्ञा, हेतु आदिके उस सम्बन्ध विना सभी स्थलोंपर पक्ष और विपक्षके हो जानेका असम्भव है । तिस कारण जैसे प्रतिवादीके विचार अनुसार वादीके प्रतिज्ञादियुक्त पक्षमें असिद्धि हो रही है, उसी प्रकार प्रतिवादीके प्रतिज्ञादियुक्त अभीष्ट विपक्षमें भी वह असिद्धि हो जाओ । क्योंकि प्रतिषेध्यके साधर्म्य हो रहे प्रतिज्ञादियुक्तताका सद्भाव प्रतिवादीके प्रतिषेधमें भी समान रूपसे पाया जाता है । यदि तुम प्रतिवादी यों अपने इष्टकी असिद्धि होनेको नहीं मानोगे यानी पक्ष और प्रतिपक्षका प्रतिज्ञादियुक्ततारूप साधर्म्य होते हुये भी वादीके पक्षकी ही असिद्धि मानी जायगी, मुझ प्रतिवादीके इष्ट प्रतिपक्षकी असिद्धि नहीं हो सकेगी । यों माननेपर तो हम सिद्धान्ती कहते हैं कि तब तो उसी प्रकार घटके साथ साधर्म्यको प्राप्त हो रहे कृतकत्व आदि हेतुओंसे शद्बका अनित्यपना हो जाओ, किन्तु तिस सत्त्व करके कोरा साधर्म्य हो जानेसे सम्पूर्ण अर्थोंमें प्राप्त होनेवाली अनित्यता तो नहीं होओ । यह न्यायमार्ग बहुत अच्छा प्रतीत हो रहा है । क्या विशेष व्यक्तियोंमें देखे गये मनुष्यपनके साधर्म्यसे सभी दीन, रोगी, मूर्ख,दरिद्र, पुरुषोंमें महत्ता, निरोगीपन, विद्वत्ता, धनाढ्यता धर दी जाती है ? अतः यह अनित्यसमा जाति दूषणाभास है । प्रतीतिके अनुसार वस्तुव्यवस्था मानी जाती है । तभी प्रामाणिक पुरुषोंमें बैठनेका अधिकार मिलता है । मिथ्यादूषण उठा देनेसे प्रभावना, पूजा, ख्याति, लाभ और जय नहीं प्राप्त हो सकते हैं ।

दृष्टांतेपि च यो धर्मः साध्यसाधनभावतः ।
प्रज्ञायते स एवात्र हेतुरुक्तोर्थसाधनः ॥ ४३३ ॥

तस्य केनचिदर्थेन समानत्वात्सधर्मता ।
केनचित्तु विशेषात्स्याद्वैधर्म्यमिति निश्चयः ॥ ४३४ ॥
हेतुर्विशिष्टसाधर्म्यं न तु साधर्म्यमात्रकं ।
साध्यसाधनसामर्थ्यभागयं न च सर्वगः ॥ ४३५ ॥
सत्त्वेन च सधर्मत्वात् सर्वस्यानित्यतेरणे ।
दोषः पूर्वोदितो वाच्यः साविशेषसमाश्रयः ॥ ४३६ ॥

" दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात्तस्य चोभयथाभावान्नाविशेषः " इस गौतम सूत्रका भाष्य यों है कि दृष्टान्तमें भी जो धर्म साध्य साधकपने करके भले प्रकार जाना जा रहा है, वही धर्म यहां हेतुपने करके साध्यरूप अर्थको साधनेवाला हेतु कहा गया है । और वह हेतु तो साधर्म्य, वैधर्म्य, इन दोनों प्रकारसे अपने हेतुपनकी रक्षा कर सकता है । देखिये, उस हेतुकी दृष्टान्तके किसी अर्थके साथ समान हो जानेसे साधर्म्य बन जाता है । और दृष्टान्तके किसी किसी अर्थ (धर्म) के साथ विशेषता हो जानेसे तो विधर्मापन बन जाता है । इस प्रकार अनुमानको माननेवाले विद्वानोंके यहां निश्चय हो रहा है । इस कारण विशिष्ट रूपसे हुआ साधर्म्य ही हेतुकी ज्ञापकताका प्राण है । केवल चाहे जिस सामान्य धर्मके साथ हो रहा विशेषरहित साधर्म्य तो हेतुकी सामर्थ्य नहीं है । जैसे कि केवल धातुपना होनेसे पीतल, तांबा, ये सुवर्ण नहीं कहे जा सकते हैं, किन्तु विशेष भारीपन, कोमलता, अग्निसे तपानेपर अपने वर्णकी परावृत्ति नहीं कर अधिक सुन्दर वर्णवाला हो जाना, औषधियोंका निमित्त मिलाकर भस्म कर देनेसे जीवन उपयोगी तत्त्वोंका प्रकट हो जाना आदिक गुण ही सुवर्णकी आत्मभूत सामर्थ्य है । वैसे ही साध्यको साधनेकी साधर्म्य विशेषरूप सामर्थ्यको धारनेवाला यह हेतु माना गया है । ऐसा हेतुसत्त्वके साधर्म्य मात्रसे सम्पूर्ण पदार्थोंमें प्राप्त हो रहा नहीं है । अतः सत्त्वके साथ सधर्मापनसे सबके अनित्यपनका कथन करनेमें सामर्थ्यवान् नहीं है । दूसरी बात यह भी है कि इस अनित्यसमा जातिमें पहिले कही गयी अविशेषसमा जातिके आश्रय (में) कहे जा चुके सभी दोष यहां कथन करने योग्य हैं । भावार्थ—अविशेषसमा जातिमें दृष्टान्त और पक्षके एक धर्म हो रहे प्रयत्नजन्यत्वकी उपपत्तिसे अनित्यपना साधनेपर सम्पूर्ण वस्तुओंके एकधर्म हो रही सत्ताकी उपपत्तिसे सबके अविशेषपनका प्रसंग दिया गया है । उसी ढंगका अनित्यसमामें प्रतिषेध उठाया गया है । अन्तर इतना ही है कि वहां सबका विशेषरहित हो जाना ही आपादन किया गया है । सर्व पदार्थोंके साध्यसहितपनका प्रसंग नहीं दिया गया है । और यहां अनित्यसमामें सबके अनित्यपन साध्यसे सहित हो जानेका प्रसंग उठाया गया है । फिर भी अविशेषसमामें सम्भव रहे दोषोंका सद्भाव अनित्यसमामें भी पाया जाता है ।

तेन प्रकारेणोक्तो यो निषेधस्तस्याप्यसिद्धिप्रसक्तेरसमंजसमशेषं स्यादित्यनित्यसमवादिनः कुत इति चेत्, पक्षेणासिद्धिं प्राप्तेन समानत्वात्प्रतिषेधस्येति । निषेध्यो ह्यत्र पक्षः प्रतिषेधस्तस्य प्रतिषेधकः कथ्यते धीमद्भिः प्रतिपक्ष इति प्रसिद्धिः तयोश्च पक्षप्रतिपक्षयोः साधर्म्यं प्रतिज्ञादिभिर्योग इष्यते तेन विना तयोः सर्वत्रासंभवात् । ततः प्रतिज्ञादियोगाद्यथा पक्षस्यासिद्धिस्तथा प्रतिपक्षस्याप्यस्तु । अथ सत्यपि साधर्म्ये पक्षप्रतिपक्षयोः पक्षस्यैवासिद्धिर्न प्रतिपक्षस्येति मन्यते तर्हि घटेन साधर्म्यात्कृतकत्वादेः शब्दस्यानित्यतास्तु सकलार्थगत्वनित्यता तेन साधर्म्यमात्रात् मा भूदिति समंजसं ।

उक्त आठ कारिकाओंका तात्पर्य यों है । प्रतिवादी कहता है कि न्यायसिद्धान्तीने जो यह कहा था कि यह अनित्यसमा जाति दूषणाभास है । क्योंकि प्रतिवादी करके तिस प्रकारसे जो प्रतिषेध कहा गया है । प्रतिवादी द्वारा पकडे गये कुमार्गके अनुसार तो उस प्रतिषेधकी भी असिद्धि हो जानेका प्रसंग आता है । अतः यह सब प्रतिवादीकी चेष्टा करना अनीतिपूर्ण कही जावेगी । मैं कहता हूं कि यह अनित्यसमा जातिको कहनेवाले मेरा वक्तव्य भला अनीतिपूर्ण कैसे है ? बताओ । यों प्रतिवादीके कह चुकनेपर न्यायसिद्धान्ती उत्तर कहते हैं कि प्रतिवादी द्वारा किया गया प्रतिषेध तो असिद्धिको प्राप्त हो रहे पक्षके समान है । इस कारण पक्षकी असिद्धिके समान प्रतिषेधकी भी असिद्धि हो जाती है । जब कि यहां तुम्हारे विचार अनुसार निषेध करने योग्य प्रतिषेध्य हो रहा अनित्यपन तो वादीका इष्ट पक्ष माना गया है । और बुद्धिमानों करके उसका प्रतिषेध करनेवाला निषेध तो प्रतिवादीका अभीष्ट प्रतिपक्ष कहा जाता है । बुद्धिशाली विद्वानोंके यहां इस प्रकार प्रसिद्धि हो रही है । और उन पक्ष, प्रतिपक्षोंका सधर्मपना तो प्रतिज्ञा, हेतु, आदिके साथ योग होना इष्ट किया गया है । उस प्रतिज्ञा आदिके सम्बन्ध बिना सभी स्थलोंपर या सभी विचारशीलोंके यहां उन पक्ष प्रतिपक्षोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । तिस कारण जैसे प्रतिज्ञादिके योगसे वादीके पक्षकी असिद्धि है, उसी प्रकार प्रतिवादीके अभिमत प्रतिपक्षकी भी असिद्धि हो जावेगी । अब यदि तुम प्रतिवादी यों मान लो कि थोडासा साधर्म्य होते हुये भी पक्ष,प्रतिपक्षोंमें से वादीके पक्षकी ही असिद्धि होगी, हमारे प्रतिपक्षकी तो असिद्धि नहीं हो सकती है । सिद्धान्ती कहते हैं कि तब तो इसी प्रकार घटके साथ साधर्म्य हो रहे कृतकपन, प्रयत्नजन्यत्व, आदि हेतुओंसे शब्दकी अनित्यता तो हो जाओ और सम्पूर्ण पदार्थोंमें रहनेवाले उस सत्व धर्मके केवल साधर्म्यसे सकल अर्थोंमें प्रसंग प्राप्त हो जानेवाली अनित्यता तो मत होओ, यह कथन नीतिपूर्ण बन रहा है ।

अपि च, दृष्टान्ते घटादौ यो धर्मः साध्यसाधनभावेन प्रज्ञायते कृतकत्वादिः स एवात्र सिद्धिहेतुः साध्यसाधनयोरभिहितस्तस्य च केनचिदर्थेन सपक्षेण समानत्वात्साधर्म्यं

केनचिद्विपक्षेणासमानत्वाद्वैधर्म्यमिति निश्चयो न्यायविदां । ततो विशिष्टसाधर्म्यमेव हेतुः साध्यसाधनसामर्थ्यभाक् । स च न सर्वार्थेष्वनित्यत्वे साध्ये संभवतीति न सर्वगतः । सर्वे भावाः क्षणिकाः सत्त्वादिति सम्भवत्येवेति चेत् न, अन्वयासंभवाद्व्यतिरेकानिश्चयात् । किं च, न सत्त्वेन साधर्म्यात्सर्वस्य पदार्थस्यानित्यत्वसाधने सर्वो अविशेषसमाश्रयो दोषः पूर्वोदितो वाच्यः । सर्वस्यानित्यत्वं साधयन्नेव शब्दस्यानित्यत्वं प्रतिषेधतीति कथं स्वस्थ इत्यादि । तन्नेयमनित्यसमा जातिरविशेषसमातो भिद्यमानापि कथंचिदुपपत्तिमतीति ।

एक बात यह भी है कि घट, विद्युत्, आदिक दृष्टान्तोंमें जो कृतकपन आदिक धर्म साध्यके साधकपन करके भले प्रकार जाना जाता है, वही धर्म तो यहां पक्षमें साध्यकी साधन द्वारा सिद्धि हो जानेका कारण कहा गया है । उसका किसी किसी सपक्ष अर्थके साथ समानपना होनेसे साधर्म्य हो रहा है । और किसी किसी विपक्ष हो रहे अर्थके साथ असमानपना हो जानेसे वैधर्म्य हो रहा है । यह न्यायवेत्ता विद्वानोंका निश्चय है । तिस कारणसे विशिष्ट अर्थके साथ हो रहा सधर्मापन ही हेतुकी शक्ति है । और साध्यके साधनेकी उस सामर्थ्यको धारनेवाला समीचीन हेतु होता है । वह समर्थ हेतु सम्पूर्ण अर्थोंमें सत्ता द्वारा अनित्यपनको साध्य करनेपर नहीं सम्भवता है । इस कारण सम्पूर्ण पदार्थोंमें ज्ञापक हेतु प्राप्त नहीं हो सका है । यदि कोई बौद्धमत अनुसार प्रतिवादीकी ओरसे यों कहे कि सम्पूर्ण भाव क्षणिक हैं । सत्पना होनेसे इस अनुमानमें क्षणस्थितिको साधनेके लिये सम्पूर्ण पदार्थोंमें सत्त्व हेतु सम्भव रहा ही है । यों कहनेपर तो हम न्यायसिद्धान्ती कहेंगे कि तुम उक्त कटाक्षको नहीं कर सकते हो । क्योंकि सबको पक्ष बना लेनेपर यानी सम्पूर्ण पदार्थोंका एक ही क्षण ठहरना जब विवाद ग्रस्त हो रहा है, तो पक्षके भीतर या बाहर साध्यके रहनेपर हेतुका रहना स्वरूप अन्वय नहीं बन सका है । अन्वयका असम्भव हो जानेसे व्यतिरेकका भी निश्चय नहीं हो सका है । दूसरी बात यह है कि सत्त्व करके साधर्म्य हो जानेसे सम्पूर्ण पदार्थोंके अनित्यपनका प्रतिवादी द्वारा साधन करनेपर अविशेषसमामें होनेवाले सभी पूर्वोक्त दोष अनित्यसमामें कह देने चाहिये । थोडा विचारो तो सही कि सम्पूर्ण पदार्थोंके अनित्यपनको साध रहा ही यह प्रतिवादी पुनः शब्दके अनित्यपनका प्रतिषेध कर रहा है । ऐसी दशामें यह स्वस्थ (होशमें) कैसे कहा जा सकता है ? यों तो शब्दका अनित्यपन स्वयं प्रतिज्ञात हुआ जाता है । अतः व्याघात दोष हुआ । व्यभिचार आदिक दोष भी इसमें लागू हो जाते हैं । तिस कारण यह अनित्यसमा जाति अविशेषसमा जातिसे कथंचित् भेदको प्राप्त हो रही संती भी कैसे भी उपपत्तिको प्राप्त नहीं हो सकी । इस कारण यह प्रतिवादीका प्रतिषेध दूषणाभास होता हुआ असमीचीन उत्तर है ।

अनित्यः शब्द इत्युक्ते नित्यत्वप्रत्यवस्थितिः ।
जातिर्नित्यसमा वक्तुरज्ञानात्संप्रवर्तते ॥ ४३७ ॥

नैयायिकोंके सिद्धान्त अनुसार नित्यसमा जातिका निरूपण किया जाता है कि कृतक होनेसे शब्द अनित्य है। इस प्रकार वादी द्वारा प्रतिज्ञावाक्यके कह चुकनेपर यदि प्रतिवादी शब्दके नित्यपन का प्रत्यवस्थान उठाता है, वह प्रतिवादीका असत् उत्तर नित्यसमा जाति है। प्रतिवादी वक्ताके अज्ञानसे यह नित्यसमा जाति सुकमतापूर्वक प्रवर्तजाती है। " नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः " यह गौतमसूत्र है।

शब्दाश्रयमनित्यत्वं नित्यं वा नित्यमेव वा।
नित्ये शब्दोपि नित्यः स्यात्तदाधारोऽन्यथा क तत् ॥ ४३८ ॥
तत्रानित्येप्ययं दोषः स्यादनित्यत्वविच्युतौ।
नित्यं शब्दस्य सद्भावादित्येतद्धि न संगतम् ॥ ४३९ ॥
अनित्यत्वप्रतिज्ञाने तन्निषेधविरोधतः।
स्वयं तदप्रतिज्ञानेप्येष तस्य निराश्रयः ॥ ४४० ॥

नित्यसमा जातिका उदाहरण यों है कि शद्बको अनित्य सिद्ध करनेवाले वादीके ऊपर प्रतिवादी प्रश्न उठाता है कि शद्बके आधारपर ठहरनेवाला अनित्यपना धर्म क्या नित्य है ? अथवा क्या अनित्य है ? अर्थात्-शद्बस्वरूप पक्षमें अनित्यपन साध्य क्या सदा अवस्थायी है ? अथवा क्या शब्दमें अनित्यपना सर्वदा नहीं ठहरकर कभी कभी ठहरता है ? बताओ। प्रथमपक्षके अनुसार यदि शद्बमें अनित्यपन धर्मको सदा तीनों कालतक ठहरा हुआ मानोगे तब तो उस अनित्यपनका अधिकरण हो रहा शद्ब भी नित्य हो जायगा। अपने धर्मको तीनों कालतक नित्य ठहरानेवाला धर्मी नित्य ही होना चाहिये। अन्यथा यानी शद्बको कुछ देरतक ही ठहरनेवाला यदि माना जायगा तो सर्वदा ठहरनेवाला अनित्यपन धर्म भला कहां किसके आधार पर स्थित रह सकेगा ? शद्बको नित्य माननेपर ही अनित्यपन धर्म वहां सदा ठहर सकता है। अन्यथा नहीं। तथा उन दो विकल्पोंमेंसे द्वितीय विकल्प अनुसार शद्बमें रहनेवाले अनित्यपन धर्मको यदि कभी कभी ठहरनेवाला मानोगे तो उस अनित्यपन धर्मके सर्वदा नहीं ठहरकर कदाचित् स्थित रहनेवाले अनित्य पक्षमें भी यही दोष शद्बके नित्य हो जानेका आ पडेगा। क्योंकि जब शद्बमें रहनेवाला अनित्यपन धर्म अनित्य है, तो अनित्यपन धर्मका नाश हो जानेपर शद्बके नित्यपनका सद्भाव हो जानेसे शद्ब नित्य हुआ जाता है। यह नियम है कि जिस वस्तुका अनित्यपन नष्ट हो जाता है, वह वस्तु विना रोक टोकके नित्य बनी बनाई है। दोनों हाथ लड्डू हैं। इस न्यायसे दोनों विकल्प अनुसार शद्बका नित्यपना सिद्ध हो जाता है। यह जातिभाषी प्रतिवादीका अभि-

निवेश है। सिद्धान्ती कहते हैं कि इस प्रकार यह प्रतिवादीका कुत्सित अभिमानपूर्वक भाषण पूर्व अपर संगतिको रखनेवाला नहीं है। प्रतिवादीका असंगत कथन समीचीन उत्तर नहीं है। इसकी परीक्षा यों करनी चाहिये कि प्रतिवादीने शद्बका अनित्यपन तो स्वीकार कर लिया दीखता है। तभी तो वह अनित्यपन नित्य है ? अथवा क्या अनित्य है ? यह विकल्प उठाया गया है। वादीके मन्तव्य अनुसार जब प्रतिवादी शद्बके अनित्यपनकी प्रतिज्ञाको मान चुका है, तो शद्बमें उस अनित्यपनके निषेध करनेका विरोध पडता है। कोई भी विचारशील पण्डित शद्बमें अनित्यपनको स्वीकार कर पुनः उस अनित्यपनका निषेध नहीं कर सकता है। अतः प्रतिवादीका कथन व्याघात दोषवाला होता हुआ पूर्वापर संगतिसे शून्य है। हमारे प्रकरण प्राप्त शद्बके अनित्यपनकी सिद्धिमें यह कथन प्रतिबन्धक नहीं है। उत्पन्न हो चुके पदार्थका ध्वंस हो जाना ही अनित्यपन कहा जाता है। उसको अंगीकार कर लेनेपर उसका निषेध नहीं कर सकते हो। यदि तुम प्रतिवादी उस शद्बके अनित्यपनको स्वयं स्वीकार नहीं करोगे तो भी यह उस अनित्यपनका निषेध करना आश्रय रहित हो जायगा अर्थात्—शद्बके अनित्यपनकी प्रतिज्ञाको नहीं माननेपर ये विकल्प किसके आधारपर उठाये जा सकते हैं कि शद्बमें रहनेवाला अनित्यपन क्या नित्य है ? अथवा क्या अनित्य है ? अतः विकल्पोंका उत्थान नहीं होनेसे प्रतिवादी द्वारा शद्बके अनित्यपनका निषेध करना अवलम्ब-विकल हो जाता है। प्रतिषेध करनेके लिये षष्ठी विभक्तिवाले प्रतियोगीकी आवश्यकता होती है। " संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् " अखंडपद द्वारा कहे गये घटके बिना घटका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है। " प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः " इस सूत्र द्वारा गौतमऋषिने उक्त अभिप्राय प्रदर्शित किया है।

> सर्वदा किमनित्यत्वमिति प्रश्नोप्यसंभवी ।
> प्रादुर्भूतस्य भावस्य निरोधश्च तदिष्यते ॥ ४४१ ॥
> नाश्रयाश्रयिभावोपि व्याघातादनयोः सदा ।
> नित्यानित्यत्वयोरेकवस्तुनीष्टौ विरोधतः ॥ ४४२ ॥
> ततो नानित्यता शद्बे नित्यत्वप्रत्यवस्थितेः ।
> परैः शक्या निराकर्तुं वाचालैर्जयलोलुपैः ॥ ४४३ ॥

न्यायभाष्यकार कहते हैं जब कि प्रकटरूपसे उत्पन्न हो चुके पदार्थका ध्वंस हो जाना ही वह अनित्यपन माना जाता है, ऐसी दशामें क्या शब्दका अनित्यपना सर्वदा स्थित रहता है ?

अथवा क्या कुछ देरतक ही अवस्थित रहता है ? इस प्रकार प्रश्न उठाना भी असम्भव दोष युक्त है । अर्थात्-स्वकीय कारणकूटसे पदार्थ जब उत्पन्न हो जायगा, तभीसे अवस्थान कालतक उसके धर्म उस पदार्थमें प्रतिष्ठित रहते हैं । किन्तु जो वस्तु अनादिसे अनन्तकालतक स्थित रहती है, उसीके कुछ धर्म भले ही सर्वदा अवस्थित रहें । उपादान कारण और निमित्तकारणोंसे उत्पन्न हो रहे शब्दमें धर्मोंके सर्वकालतक ठहरनेका प्रश्न उठाना ही असम्भव है । दूसरी बात यह भी है कि जातिवादीके यहां इस प्रकार उनका आधार आधेयभाव भी नहीं बन सकता है । क्योंकि नित्य पदार्थमें अनित्यपनेका व्याघात है । और अनित्यमें नित्यपनका व्याघात है । तीसरी बात यह भी है कि एक ही वस्तुमें सर्वदा नित्यपन और अनित्यपन धर्मोंको अभीष्ट करनेपर न्यायसिद्धान्त अनुसार विरोध दोष लग जाता है।एक धर्मीमें नित्यपन और अनित्यपन दो धर्मोंके रहनेका विरोध है । अतः तुम जातिवादीने जो कहा था कि अनित्यपन धर्मका नित्य सद्भाव बना रहनेसे शब्द नित्य ही है । वह तुम्हारा कथन दूषणाभासरूप है । तिस कारणसे निर्णय किया जाता है कि व्यर्थ ही जीतनेकी अत्यधिक तृष्णा रखनेवाले अवाच्य वाचाल दूसरे जातिवादियों करके शब्दमें प्रतिष्ठित हो रही अनित्यताका नित्यपनके प्रत्यवस्थान उठानेसे निराकरण नहीं किया जा सकता है । " न हि भेकरवमात्रेण्कानुवर्ति " । असंगत, विरुद्ध, व्याघातयुक्त और असदुत्तर ऐसे अवाच्य वचनोंकी झडी लगा देनेसे किसीको जय प्राप्त नहीं हो सकता है । अतः प्रतिवादीद्वारा नित्यसमारूप प्रतिषेध उठाना असदुत्तररूप जाति है । प्रतिवादीने शब्दके अनित्यत्वमें सर्वदा स्थित रहने और सदा नहीं स्थिर रहने इन दोनों पक्षोंमें जैसे शब्दके नित्यपनका आपादन किया है, उसी प्रकार दोनों पक्षोंमें शब्दका अनित्यपन भी साधा जा सकता है । बात यह है कि सर्वकाल इसका अर्थ जबसे शब्द उत्पन्न होकर जितनी देरतक ठहरेगा, उतना समय है, अतः सर्वदा शब्दमें अनित्यपन धर्म रखने पर भी शब्दका अनित्यपन अक्षुण्ण रहता है, और कदाचित् उत्पन्न हो रहे शब्दमें कभी कभी अनित्यत्वके ठहर जानेसे भी अनित्यपन धर्म अविकल बन जाता है । धर्मीके अनित्य होनेपर धर्मोंमें अनित्यपना सुलभ सिद्ध है । अतः नित्यसम जातिवादीका पराजय अवश्यम्भावी है । असदुत्तरोंसे केवल मूर्खता प्रकट होती है ।

अथ कार्यसमा जातिरभिधीयते ।

नित्यसमा जातिके अनन्तर न्यायसिद्धान्त अनुसार अब चौबीसवीं कार्यसमा जातिका उदाहरणसहित लक्षण कहा जाता है ।

प्रयत्नानेककार्यत्वाज्जातिः कार्यसमोदिता ।
नुप्रयत्नोद्भवत्वेन शब्दानित्यत्वसाधने ॥ ४४४ ॥

प्रयत्नानंतरं तावदात्मलाभः समीक्षितः ।
कुंभादीनां तथा व्यक्तिर्व्यवधानव्यपोहनात् ॥ ४४५ ॥
तद्बुद्धिलक्षणात् पूर्वं सतामेवेत्यनित्यता ।
प्रयत्नानन्तरं भावान्न शद्धस्याविशेषतः ॥ ४४६ ॥

" प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः " जीवके प्रयत्नसे सम्पादन करने योग्य कार्य अनेक प्रकारके होते हैं । इस ढंगसे प्रतिषेध उठाना कार्यसमा नामक जाति कही गयी है । उसका उदाहरण यों है कि मनुष्यके प्रयत्न द्वारा उत्पत्ति होनेसे शद्धके अनित्यपनकी वादी विद्वान् सिद्धि करता है कि कार्यका अर्थ अभूत्वाभवन है । पूर्व कालोंमें शद्धका सद्भाव नहीं होकर पुनः जीवप्रयत्नके अनन्तर शद्धका आत्म लाभ हो रहा है । जैसे कि घटादिक कार्य पहिले होते हुये नहीं हो रहे हैं । किन्तु पहिले नहीं होकर अपने नियत कारणों द्वारा नवीन रूपसे उपज रहे हैं । उसी प्रकार कण्ठ, तालु, आदि कारणोंसे नवीन उपज रहा शद्ध अनित्य है । इस प्रकार वादी द्वारा व्यवस्था कर चुकनेपर दूसरा प्रतिवादी प्रत्यवस्थान उठाता है कि प्रयत्नके अनेक कार्य हैं । प्रथम तो कुलाल आदिके प्रयत्न किये पीछे घट आदि कार्योंका आत्मलाभ हो रहा भले प्रकार देखा गया है । दूसरे व्यवहित पदार्थोंके व्यवधायक अर्थका प्रयत्न द्वारा-पृथक्करण कर देनेसे उनकी तिस प्रकार अभिव्यक्ति होना भी देखा जाता है । जैसे कि पाषाणको छैनी द्वारा उकेर देनेसे प्रतिमा व्यक्त हो जाती है । मट्टी निकाल देनेसे कुआ (आकाशस्वरूप) प्रकट हो जाता है । किवाडके काठको छील देनेसे गर्भ कील प्रकटित हो जाती है । जो कि दो तख्तोंको जोडनेके लिये भीतर प्रविष्ट की गयी थी । अतः द्वितीय विचार अनुसार संभव है कि शद्ध भी पुरुष प्रयत्नसे उत्पन्न किया गया नहीं होकर नित्य सत् हो रहा व्यक्त कर दिया गया होय प्रयत्न द्वारा शद्धकी उत्पत्ति हुई अथवा अभिव्यक्ति हुई है । इन दोनों मन्तव्योंमेंसे एक अनित्यपनके आग्रहको ही रक्षित रखनेमें कोई विशेष हेतु नहीं है । उन शद्धोंका श्रावणप्रत्यक्ष होना इस स्वरूपसे पहिले भी विद्यमान हो रहे शद्धोंका सद्भाव ही था । ऐसी दशामें प्रयत्नके अनन्तर शद्धकी उत्पत्ति हो जानेसे अनित्यपना कहते रहना ठीक नहीं है । जब कि शद्धके उत्पादक और अभिव्यंजक कारणोंसे शद्धकी उत्पत्तिमें और अभिव्यक्ति में कोई विशेषता नहीं दीखती है । इस प्रकार कार्यकी अविशेषतासे कार्यसम प्रत्यवस्थान उठाया जाता है । वृत्तिकार कार्यसम जातिके लक्षणसूत्रका अर्थ यों भी करते हैं कि प्रयत्नोंके कर्तव्य यानी करने योग्य तिस प्रकारके प्रयत्नोंके अनेक भेद हैं । अतः पूर्वमें कही गयी तेईस जातियोंसे न्यारी असत् उत्तररूप अन्य भी जातियां हैं । आकृतिगण होनेसे इस कार्यसमाके द्वारा सूत्रमें नहीं कही गयी अन्य जातियोंका भी परिग्रह हो जाता है । जैसे कि प्रतिवादी यों विचार करता रहे कि

तुम्हारे (वादी) पक्षमें कोई न कोई दूषण होवेगा। इस प्रकारकी शंका उठाना पिशाचीसमा जाति है। कार्यकारणभाव सम्बन्धसे जुडे हुये कुलाल घट, या अग्नि धूम, आदि पदार्थोमें यह इसका कार्य और यह इसका कारण है, इस व्यवस्था को नियत करनेके लिये उपकारक कारणकी ओरसे उपकृत कार्यमें आया हुआ उपकार कल्पित किया जायगा। भिन्न पडा हुआ वह उपकार भी इस कार्य या कारणका है ? इस सम्बन्ध व्यवस्थाको नियत करनेके लिये पुनः अन्य उपकारोंकी कल्पना करना बढता चला जायगा। ऐसी दशामें अनवस्था हो जायगी। उपकारकी समीचीन व्यवस्था नहीं होनेसे प्रतिवादीद्वारा यह अनुपकारसमा जाति उठायी जाती है। तिसी प्रकार विपर्ययसमा, भेदसमा, अभेदसमा, आकांक्षासमा, विभावसमा आदि जातियां भी गिनायी जा सकती है। ये चौबीस जातियो तो उपलक्षण हैं। असंख्य जातियां बन सकती हैं। अप्रशस्त उत्तर अनेक हैं।

तत्रोत्तरमिदं शब्दः प्रयत्नानंतरोद्भवः।
प्रागदृष्टिनिमित्तस्याभावेप्यनुपलब्धितः ॥ ४४७ ॥
सत्त्वाभावादभूत्वास्य भावो जन्मैव गम्यते।
नाभिव्यक्तिः सतः पूर्वं व्यवधानाव्यपोहनात् ॥ ४४८ ॥

अब न्यायसिद्धान्ती कार्यसमा जातिका असत् उत्तरपना साधते हैं। " कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः " शब्दको यदि कार्य पदार्थोंसे भिन्न माना जायगा, तो पुरुषप्रयत्न उसका हेतु नहीं हो सकेगा। यदि अभिव्यक्ति पक्षमे आवारक वायु आदिके दूर करनेके लिये पुरुष प्रयत्नकी अपेक्षा करोगे तो उच्चारणसे पहिले विद्यमान हो रहे शब्दकी अनुपलब्धिके कारण सिद्ध करना चाहिये। जहां प्रयत्नके अनन्तर किसी पदार्थकी अभिव्यक्ति होती है, वहां उच्चारणके पहिले अनुपलब्धिका कारण कोई व्यवधायक पदार्थ मानना पडता है। व्यवधानको अलग करदेनेसे प्रयत्नके अनन्तर होनेवाले अर्थकी ज्ञप्ति हो जाना स्वरूप अभिव्यक्ति हो जाती है। किंतु वहां उच्चारणसे पहिले शब्दको यदि विद्यमान माना जाय तो उसकी अनुपलब्धिके कारण कुछ भी नहीं प्रतीत होते हैं, जिनका कि पृथक्करण कर शद्बकी उपलब्धिस्वरूप व्यक्ति मान ली जाय। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि शद्ब स्वकीयकारणोंसे उत्पन्न ही होता है। प्रकट नहीं होता है। इस न्यायभाष्यका अनुवाद करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि उस कार्यसमाको जाति सिद्ध करनेमें हमारा यह उत्तर है कि शद्ब (पक्ष) प्रयत्नके अनन्तर उत्पन्न हुआ है (साध्य)। क्योंकि उच्चारणके पूर्वमें शद्बकी अनुपलब्धिके निमित्तका अभाव होते हुये भी उस समय शद्बकी अनुपलब्धि हो रही है (हेतु)। जैसे कि घटकी उत्पत्तिके पूर्व समयोंमें घटकी अनुपलब्धि होनेसे घटका उत्पन्न होना माना जाता है (अन्वय दृष्टान्त)। " अभूत्वाभावित्वं कार्यत्वम् "। पहिले नहीं होकर पुनः कार-

णोंसे उपज जाना ही पदार्थोंका जन्म है। उच्चारणसे पहिले शद्बका सद्भाव नहीं होनेसे निर्णीत कर लिया जाता है कि इस शद्बका पहिले नहीं होकर पुनः कारणोंसे हो जाना ही जन्म है। पहिले विद्यमान हो रहे शद्बकी अभिव्यक्ति नहीं हुई है। क्योंकि कारणों करके किसी व्यवधायक पदार्थका पृथक् करण नहीं किया गया है। जैसे कि वायु द्वारा बादलोंके पृथक् कर देनेसे चन्द्रमा प्रकट हो जाता है। घर्षण करके काथी या निःसारभागको हटा देनेसे चक्कूका पैनापन व्यक्त हो जाता है। (व्यतिरेक दृष्टान्त), वैसा शद्ब नहीं हैं। अतः शद्बके नित्यपन साधनेको उदरमें रखकर प्रतिवादीका कार्यसम जाति उठाना निंद्य उत्तर है। उक्त जातियोंका उपलक्षण माननेपर आकृतिगण पक्षमें वृत्तिकारके कथनानुसार उक्त सूत्रका अर्थ यों करना चाहिये कि कार्य यानी जातियोंका अन्यत्र यानी नाना प्रकार माननेपर यह उत्तर है कि प्रयत्नका यानी तुम्हारे दूषण देनेके प्रयत्नको अहेतुपना है। अर्थात्-प्रतिवादीके प्रयत्नद्वारा वादीके हेतुके असाधकपनकी सिद्धि नहीं हो पाती है। क्योंकि उपलब्धिके कारण हो रहे प्रमाण यानी निर्दोष वाक्यकी जो उपपत्ति है, यानी प्रतिवादी द्वारा निर्दोष वाक्यके अधीन होकर अपने पक्षका साधन करना है, उसका अभाव है। भावार्थ— प्रतिवादीका वाक्य स्वयं अपने पक्षका व्याघातक है। जितने भी पिशाचीसमा, एकसमा, आदिक असत् उत्तर उठाये जायंगे, ये सब उल्टे प्रतिवादीके पक्षका ही विघात कर देंगे। वादीके प्रकरण प्राप्त साधनका उन करके प्रतिबन्धन नहीं हो सकता है।

अनैकांतिकता हेतोरेवं चेदुपपद्यते ।
प्रतिषेधोपि सा तुल्या ततोऽसाधक एव सः ॥ ४४९ ॥
विधाविव निषेधेपि समा हि व्यभिचारिता ।
विशेषस्योक्तितश्चायं हेतोर्दोषो निवारितः ॥ ४५० ॥

यदि प्रतिवादीका यह अभिप्राय होय कि पुरुषप्रयत्नके अनन्तर आवारकोंके दूर हो जानेसे पूर्वकालमें विद्यमान हो रहे कितने ही पदार्थोंकी अभिव्यक्ति हो जाती है और बहुतसे पदार्थोंकी प्रयत्नद्वारा उत्पत्ति भी हो जाती है। अतः शद्बका अनित्यपना सिद्ध करनेमें दिया गया प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु व्यभिचारी है। इस प्रकार अनैकान्तिक होनेसे प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु शद्बके अनित्यपनका साधक नहीं हो सकता। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार हेतुका अनैकान्तिकपना यदि लाओगे तब तो हे प्रतिवादिन्! तुम्हारे द्वारा किये गये निषेधमें भी वह अनैकान्तिक दोष समानरूपसे लग जाता है, जैसे विधिमें लगा दिया है। तिस कारणसे वह तुम्हारा जाति उठाना भी स्वपक्षका साधक नहीं है। न्यायसूत्र है कि " प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः " तुम प्रतिवादीका प्रतिषेध भी किसी शद्बके अनित्यपनका तो निषेध कर देता है। और किसी किसी घटके अनित्यपनका निषेध

नहीं कर देता है । अतः विधिके समान निषेधमें भी व्यभिचार दोष समान है । विशेष करनेवाले हेतुके कथनसे यह दोष निवारित किया जा सकता है । जिस प्रकार तुम अपने ऊपर आये हुये व्यभिचारका वारण करोगे, उसी ढंगसे हम भी व्यभिचारदोषका निवारण कर देंगे । अर्थात्-- जिस प्रकार तुम प्रतिवादी यों कह सकते हो कि शब्दको अनित्यपनके पक्षमें प्रयत्नके अनन्तर शब्दका उत्पाद है, अभिव्यक्ति नहीं है, नैयायिकोंके पास इसका निर्णायक कोई विशेष हेतु नहीं है । उसी प्रकार हम नैयायिक भी प्रतिवादीके ऊपर यह भर्त्सना उठा सकते हैं कि तुम्हारे शब्दके नित्यपक्षमें भी प्रयत्नके अनन्तर शब्दकी अभिव्यक्ति है,' उत्पत्ति नहीं है, इसमें भी निर्णयजनक कोई विशेषक नहीं है । अतः दोनों पक्षोंमें विशेष हेतुके नहीं होनेसे व्यभिचार दोष बन बैठता है ।

एवं भेदेन निर्दिष्टा जातयो दिष्टये तथा ।
चतुर्विंशतिरन्याश्चानंता बोध्यास्तथा बुधैः ॥ ४५१ ॥
नैताभिर्निग्रहो वादे सत्यसाधनवादिनः ।
साधनाभं ब्रुवाणस्तु तत एव निगृह्यते ॥ ४५२ ॥

इस प्रकार भिन्न भिन्नपने करके ये चौबीस जातियां शिष्योंके उपदेशके लिये दिङ्मात्र (इशारा) कथन कर दी गयी हैं । तिसी प्रकार अन्य भी अनन्त जातियां विद्वानोंकरके समझा देनी चाहिये । जितने भी संगतिहीन, प्रसंगहीन, अनुपयोगी, असत्, उत्तर हैं । वे सब न्यायसिद्धान्त अनुसार जातियोंमें परिगणित हैं । श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि इन चौबीस या असंख्यों जातियोंकरके वादमें समीचीन हेतुको बोलनेवाले वादीका निग्रह (पराजय) नहीं हो पाता है । नैयायिकोंने वादमें जाति प्रयोग करना माना भी नहीं । हां, जो वादी स्वपक्षसिद्धिके लिये हेत्वाभासको कह रहा है, उस वादीका तो उस हेत्वाभासका उत्थापन कर देनेसे ही निग्रह कर दिया जाता है । अतः जातियोंके लिए इतना घटाटोप उठाना उचित नहीं है । असमीचीन उत्तरोंका कहांतक प्रत्याख्यान करोगे ।

निग्रहाय प्रकल्प्यंते त्वेता जल्पवितंडयोः ।
जिगीषया प्रवृत्तानामिति यौगाः प्रचक्षते ॥ ४५३ ॥
तत्रेदं दुर्घटं तावज्जातेः सामान्यलक्षणं ।
साधर्म्येणेतरेणापि प्रत्यवस्थानमीरितम् ॥ ४५४ ॥

साधनाभप्रयोगेपि तज्जातित्वप्रसंगतः ।
दूषणाभासरूपस्य जातित्वेन प्रकीर्तने ॥ ४५५ ॥
अस्तु मिथ्योत्तरं जातिरकलंकोक्तलक्षणा ।
साधनाभासवादे च जयस्यासम्भवाद्धरे ॥ ४५६ ॥

नैयायिकोंने वीतराग पुरुषोंकी कथा (सम्भाषण) को वाद स्वीकार किया है । उस वादमें प्रमाण और तर्कसे साधन और उलाहने दिये जाते हैं । हां, जल्प और वितंडारूप भाषणमें जातियोंका प्रयोग किया जाता है । अतः परस्परमें जीतने की इच्छासे प्रवर्त रहे वादी प्रतिवादियोंके जल्प और वितण्डा नामक शास्त्रार्थमें उक्त जातियां निग्रह (पराजय) करानेके लिये समर्थ हो रही मानी गयीं हैं । इस प्रकार नैयायिक भले प्रकार स्वकीय सिद्धान्तको बखान रहे हैं । आचार्य कहते हैं कि उसमें हमको यह कहना है कि " साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः " साधर्म्य और उससे इतर वैधर्म्य करके उलाहना देना प्रतिषेध उठाना यह प्रत्यवस्थान जो जातिका सामान्य लक्षण कहा गया है, सो यह तो दुर्घट है । यानी अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषोंसे रहित हो कर यह लक्षण अपने लक्ष्योंमें नहीं घटित होता है । देखिये, इस लक्षणके अनुसार हेत्वाभासका प्रयोग करनेमें भी वादीको उस जातिपनेका प्रसंग हो जावेगा । वहां भी साधर्म्य और वैधर्म्य करके प्रत्यवस्थान उठाया गया है । अतः जातिके लक्षण करनेमें अतिव्याप्ति दोष आया । नैयायिकोंने हेत्वाभासको सोलह मूल पदार्थोंमें गिनाया है । निग्रहस्थानोंमें भी हेत्वाभासका पाठ है । अतः वे जातिका लक्षण करते समय अलक्ष्य हैं । अलक्ष्यमें लक्षणका चला जाना अतिव्याप्ति है । यदि तुम नैयायिक जातिका दूसरा निर्दोष लक्षण दूषणाभास रूप कथन करोगे तो हेत्वाभासमें पूर्व कथित लक्षणके वर्त जानेसे आयी हुई अतिव्याप्तिका अब निवारण हो जायगा । क्योंकि हेत्वाभास तो समीचीन दूषण हैं । वस्तुतः दूषण नहीं होते हुये दूषणसदृश दीखनेवाले दूषणाभास नहीं है । अतः इस लक्षणमें अतिव्याप्ति नहीं है । फिर भी इस लक्षणमें अव्याप्ति दोष आ जावेगा । जिसको कि ग्रन्थकार स्वयं अभी अग्रिमग्रन्थमें स्पष्ट कर देवेंगे । हां, " मिथ्योत्तरं जातिः " मिथ्या उत्तर देना ही जाती है, यह श्री अकलंक देवकरके कहा गया जातिका लक्षण निर्दोष होकर श्रेष्ठ मान किया जाओ । चूंकि वादी द्वारा स्वपक्षसिद्धिके लिये हेत्वाभासका कथन करनेपर तो वादीको जयप्राप्ति होना असम्भव है । अतः नैयायिकोंका मन्तव्य समीचीन नहीं जचता है ।

युक्तं तावदिह यदनंता जातय इति वचनं तथेष्टत्वादसदुत्तराणामानंत्यप्रसिद्धेः । संक्षेपतस्तु विशेषतस्तु विशेषेण चतुर्विंशतिरित्ययुक्तं, जात्यंतराणामपि भावात् । तेषामास्वेवांतर्भावाददोष इति चेत् न, जातिसामान्यलक्षणस्य तत्र दुर्घटत्वात् । साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां

प्रत्यवस्थानं जातिरित्येतद्धि सामान्यलक्षणं जातेरुदीरितं यौगैस्तच्च न सुघटं, साधनाभासप्रयोगेपि साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य जातित्वप्रसंगात् ।

आचार्य कहते हैं कि हमको यहां पहिले यह कहना है कि नैयायिकोंने जो कथित जातियोंको उपलक्षण मानकर अनन्त जातियां स्वीकार की हैं, यह उनका कथन युक्त है, हमको भी तिस प्रकार जातियां अनन्त हैं, ऐसा इष्ट है । क्योंकि जगत्में असमीचीन उत्तरोंका अनन्तपना प्रसिद्ध हो रहा है । गाली देना, अवसर नहीं देखकर अन्ट सन्ट बकना, अनुपयोगी चर्चा करना, इत्यादिक सब असमीचीन उत्तर हैं । किंतु संक्षेपसे नैयायिकोंने विशेषरूपसे गणना कर जो चौवीस जातियां कहीं हैं, यह उनका कथन युक्तिरहित है । यही हमारे खण्डनका विषय है । जब कि अन्य असंख्य जातियोंका भी सद्भाव है, तो चौवीस ही जातियां क्यों गिनायी गयीं हैं ? बताओ ! यदि तुम नैयायिक यों कहो कि उन अनन्त जातियोंका इन गिनायी गयीं चौवीस जातियोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है । अतः कोई अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष नहीं हैं, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि तुम्हारे दर्शनमें कहे गये जातिके सामान्यलक्षणकी वहां घटना नहीं हो पाती है । अतः सामान्य लक्षणके घटित नहीं होनेसे अनन्तजातियोंका चौवीसमें ही गर्भ नहीं हो सकता है । देखिये, साधर्म्य और वैधर्म्य करके प्रत्यवस्थान देना जाति है । नैयायिकोंने यही जाति का सामान्यलक्षण न्यायसूत्रमें कहा है । किंतु वह लक्षण तो समीचीन गढा हुआ नहीं है । अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, दोष आते हैं । चौवीस जातियोंमेंसे कई जातियोंमें वह लक्षण नहीं वर्तता है । संकोच कर या विस्तार कर जैसे तैसे बौद्धिक परिश्रम लगाकर अहेतुसमा, अनुपलब्धिसमा आदिमें सामान्यलक्षणको घटाओगे तो यह क्लिष्ट कल्पना होगी तथा जातिके सामान्य लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष भी है । हेत्वाभासके प्रयोगमें भी साधर्म्य और वैधर्म्य करके प्रत्यवस्थानके सम्भव जानेसे जातिपनेका प्रसंग हो जायगा। अतः नैयायिकोंके यहां जातिका सामान्यलक्षण प्रशस्त नहीं है, जो कि अनन्त जातियोंमें घटित होकर उनको चौवीस जातियोंमें ही गर्भित कर सके ।

तथेष्टत्वान्न दोष इत्येके । तथाहि—असाधौ साधने प्रयुक्ते यो जातीनां प्रयोगः सोनभिज्ञतया वा साधनदोषः स्यात्, तद्दोषप्रदर्शनार्थम्वा प्रसंगव्याजेनेति । तदप्ययुक्तं । स्वयमुद्योतकरेण साधनाभासे प्रयुक्ते जातिप्रयोगस्य निराकरणात् । जातिवादी हि साधनाभासमेतदिति प्रतिपद्यते वा न वा ? यदि प्रतिपद्यते य एवास्य साधनाभासत्वहेतुदोषोऽनेन प्रतिपन्नः स एव वक्तव्यो न जातिः प्रयोजनाभावात् । प्रसंगव्याजेन दोषप्रदर्शनार्थमिति चायुक्तं, अनर्थसंशयात् । यदि हि परेण प्रयुक्तायां जातौ साधनाभासवादी स्वप्रयुक्तसाधनदोषं पश्यन् सभायामेवं ब्रूयात् मया प्रयुक्ते साधने अयं दोषः स च परेण नोद्भावितः किं तु जातिरुद्भावितेति, तदापि न जातिवादिनो जयः प्रयोजनं स्यात्, उभयो-

स्त्वानसिद्धेः। नापि साम्यं प्रयोजनं सर्वथा जयस्यासंभवे तस्याभिमेतत्वादेकांतपराजयाद्वरं सन्देह इति वचनात्।

यहां कोई एक पण्डित कह रहे हैं कि तिस प्रकार हमको अभीष्ट हो जानेसे कोई दोष नहीं आता है। अर्थात्–हेत्वाभासके प्रयोगमें भी साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा प्रत्यवस्थानरूप जातिपना इष्ट है। " उपधेयसंकरेऽपि उपाधेरसंकरात् " उपधियुक्त धर्मीके एक होनेपर भी कई उपाधियां वहां असंकीर्ण होकर ठहर सकती हैं। एक महा दुष्ट पुरुष अनेक झूंठ, हिंसा, व्यभिचार, कृतघ्नता सुरासेवन आदि न्यारे न्यारे दोषोंका आश्रय हो जाता है। एक अति सज्जन पुरुषमें अहिंसा, ब्रह्म-चर्य, सत्यव्रत, कृतज्ञता, स्वार्थत्याग आदि अनेक गुण युगपत् विराजमान हो सकते हैं। हेत्वाभा-सका प्रयोग करनेपर भी निग्रहस्थानपना, जातिपना या अनुमिति और उसके कारण इनमेंसे किसी एकका विरोधीपना ये दोष एकत्रित अभीष्ट हैं। इस प्रकार कोई एक विद्वान् कह रहे हैं। उन्होंने अपने मन्तव्यका समर्थन इस ढंगसे प्रसिद्ध किया है। सो सुनिये। असमीचीन हेतु यानी हेत्वाभासके प्रयोग किये जा चुकनेपर जो जातियोंका प्रयोग किया गया है, वह हेतुके दोषोंकी अनभिज्ञतासे किया गया है। अतः जातियोंका प्रयोग करना हेतुका दोष समझा जायगा अथवा प्रसंगके छल (बहाना) करके उस हेतुके दोषका प्रदर्शन करनेके लिये जातियोंका प्रयोग किया गया है ! दोनों ढंगोंमेंसे जाति-योंका प्रयोग होना सम्भव जाता है। पहिला मार्ग अज्ञतापूर्ण है और दूसरा मार्ग चातुर्यपूर्ण है। यहांतक एक विद्वान्के कह चुकनेपर आचार्य महाराज कहते हैं कि एक विद्वान्का वह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि उद्योतकर पण्डितने हेत्वाभासके प्रयोग कर चुकनेपर पुनः उसके ऊपर जातिके प्रयोग करनेका निराकरण कर दिया है। अर्थात्–हेत्वाभासको कहनेवाले वादीके ऊपर प्रतिवादीद्वारा हेत्वाभास दोष उठा चुकनेपर पुनः असत् उत्तररूप जातिका उठाना निषिद्ध कर दिया है। जो मूर्खवादी अपने पक्षकी सिद्धिको समीचीन हेतुसे नहीं करता हुआ असमीचीन हेतुसे कर रहा है, उस वादीका खण्डन प्रतिवादीकरके विषप्रयोगसमान हेत्वाभास प्रयोगके उठा देनेसे ही हो जाता है। पुनः उसके ऊपर थप्पड, मारना घूंसा मारना आदिके समान जाति उठाना उचित नहीं है। हम पूंछते हैं कि जातिको उठानेवाला प्रतिवादी क्या वादीके हेतुको यह हेत्वाभास रूप है, इस प्रकार नियमसे समझता है। अथवा क्या वादीके हेतुको हेत्वाभास नहीं समझता है ? बताओ। प्रथम विकल्प अनुसार प्रतिवादी यदि वादीके प्रयुक्त हेतुको दोष इस प्रतिवादीने समझा है, वह हेत्वाभास ही इसको उठाकर कहना चाहिये। जातिका प्रयोग तो नहीं करना चाहिये। कारण कि जातिके प्रयोग करनेका कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। जब प्रतिवादी हेत्वाभासको उठाकर ही जय काम कर सकता है, तो जघन्य पंडितोंके प्रयोग व्यवहारमें आ रही जातिका प्रयोग क्यों व्यर्थ करेगा, दूसरे चातुर्यपूर्ण मार्ग अनुसार यदि यहां कोई विद्वान् यों कहे कि प्रसंगके छल करके हेतु

का दोष दिखलानेके लिये प्रतिवादीने वादीके ऊपर जातिरूप प्रत्यवस्थान उठाया है, आचार्य कहते हैं कि एक विद्वान्का यह कहना भी युक्तिरहित है। क्योंकि इसमें बडे भारी अनर्थ हो जानेका संशय (सम्भावना) है। दूसरे प्रतिवादी द्वारा जातिका प्रयोग किये जानेपर यदि हेत्वाभास द्वारा अपने पक्षकी सिद्धि करनेवाला वादी अपने प्रयुक्त किये गये हेतुके दोषको देखता हुआ सभामें इस इस प्रकार कह देवे कि मेरे द्वारा प्रयुक्त किये गये हेतुमें यह विरोध, व्यभिचार, असिद्ध, आदि दोष है। वह दोष तो इस दूसरे प्रतिवादीने मेरे ऊपर नहीं उठाया है। किन्तु जाति उठा दी गयी है। ऐसी दशामें अनर्थ हो जानेका खटका है। प्रतिवादी जयके स्थानमें पराजय प्राप्तिके लिये संशयापन्न हो जाता है। उस अवसरपर भी जातिको उठानेवाले प्रतिवादीकी जीत हो जाना प्रयोजन नहीं होगा। क्योंकि दोनों वादी प्रतिवादियोंके अज्ञानकी सिद्धि है। वादीको अपने पक्षकी सिद्धिके लिये समीचीन हेतुका ज्ञान नहीं है। और प्रतिवादीको दोष प्रयोग करनेका परिज्ञान नहीं है। ऐसी अज्ञान दशामें प्रतिवादीको जय नहीं मिल सकता है। तथा वादी और प्रतिवादी दोनों समान गिने जांय, जैसे कि मल्लको गिरा देनेपर भी नहीं चित्त कर सकनेवाले प्रतिमल्लको मल्लके समान मान लिया जाता है। इसी प्रकार मल्लप्रतिमल्लके समान दोनों वादी प्रतिवादियोंकी समानता हो जाना भी प्रयोजन नहीं सध पाता है। क्योंकि सभी प्रकारोंसे जयके असम्भव होनेपर उस साम्यको अभीष्ट किया गया है। एकान्तरूपसे पराजयका निर्णय हो जानेकी अपेक्षा पराजयका संदेह बना रहना कहीं बहुत अच्छा है। इस प्रकार अभियुक्तोंका नीतिकथन चला आ रहा है।

यदा तु साधनाभासवादी स्वसाधनदोषं प्रच्छाद्य परप्रयुक्तां जातिमेवोद्भावयति तदापि न तस्य जयः प्रयोजनं साम्यं वा पराजयस्यैव तथा संभवात् ।

और जब हेत्वाभासको कहनेवाला वादी अपने हेतुके दोषको छिपाकर दूसरेसे प्रयुक्त की गयी जातिका ही उत्थापनकर देता है, तब भी तो उस वादीका जय होना अथवा दोनोंका समान बने रहना यह प्रयोजन नहीं सध पाता है। तिस प्रकार प्रयत्न करनेपर तो वादीका पराजय होना ही सम्भवता है।

अथ साधनदोषमनवबुध्यमानो जातिं प्रयुक्ते तदा निःप्रयोजनो जातिप्रयोगः स्यात् यत्किंचन वदतोपि तूष्णींभवतोपि वा साम्यं प्राश्निकैर्व्यवस्थापनाद्वयोरज्ञानस्य निश्चयात् ।

पूर्वमें उठाये गये द्वितीय विकल्प अनुसार दूसरे विद्वान् अब यदि यों कहें कि वादीद्वारा प्रयुक्त किये गये हेतुके दोषको नहीं समझ रहा संता प्रतिवादी वादीके ऊपर जातिका प्रयोग कर रहा है, तब तो हम कहेंगे कि ऐसी दशामें जातिके प्रयोग करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। प्रतिभा बुद्धिको धारनेवाले विद्वानोंकरके जो कुछ भी मनमानी कह रहे भी अथवा चुप होकर बैठ

रहनेवाले पुरुषके भी समानपनका व्यवस्थापन किया है। दोनोंके अज्ञान हो रहेका निश्चय है। अतः हेत्वाभास प्रयोगके अवसरपर जातिका प्रयोग करना कैसे भी उचित नहीं है। तब तो जातिका लक्षण सदोष ही रहा।

एवं तर्हि साधुसाधने प्रयुक्ते यत्परस्य साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां दूषणाभासरूपं तज्जातेः सामान्यलक्षणमस्तु निरवद्यत्वादिति चेत्, मिथ्योत्तरं जातिरित्येतावदेव जातिलक्षणमकलंकप्रणीतमस्तु किमपरेण। "तत्र मिथ्योत्तरं जातिर्यथानेकांतविद्विषाम्" इति वचनात्।

नैयायिककी ओरसे कोई कहता है कि इस प्रकार व्यवस्था है, तब तो वादी द्वारा समीचीन हेतुके प्रयोग किये जा चुकनेपर जो दूसरे प्रतिवादीका साधर्म्य और वैधर्म्य करके प्रत्यवस्थान उठाना दूषणाभासरूप होता हुआ वह जातिका सामान्य लक्षण हो जाओ। क्योंकि दूषणाभास जाति है। इस जातिके निर्दोष लक्षणमें कोई अतिव्याप्ति आदि दोष नहीं आता है। इस प्रकार कहनेपर आचार्य कहते हैं कि जातिके इस लक्षणमें भी अव्याप्ति दोष है। हां, श्रीअकलंक देव महाराजके द्वारा बनाया गया जातिका लक्षण "मिथ्या उत्तर" इतना ठीक जचता है। अतः यही जातिका लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव, दोषोंसे रहित हो रहा मान लिया जाओ। अन्य दूसरे दूषित लक्षणों करके क्या काम होगा? वहां अकलंक शास्त्रमें इस प्रकारका कथन भी है कि मिथ्या उत्तर कहे जाना जाति है। जिस प्रकार कि अनेकान्तमतके साथ विशेष द्वेष करनेवाले नैयायिकोंके यहां मानी गयी। अतः जातिका लक्षण मिथ्या उत्तर कहना यही निष्कलंक सिद्ध हुआ समझो।

तथा सति अव्याप्तिदोषस्यासंभवान्निरवद्यमेतदेवेत्याह।

और तिस प्रकार होनेपर यानी जातिका लक्षण श्री अकलंक मतानुसार "मिथ्या उत्तर" कर देनेपर अव्याप्ति दोष होनेकी सम्भावना नहीं रहती है। अतः यह लक्षण ही निर्दोष है। इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्त्तिकों द्वारा कहते हैं।

सांकर्यात् प्रत्यवस्थानं यथानेकांतसाधने।
तथा वैयतिकर्येण विरोधेनानवस्थया ॥ ४५७ ॥
भिन्नाधारतयोभाभ्यां दोषाभ्यां संशयेन च।
अप्रतीत्या तथाऽभावेनान्यथा वा यथेच्छया ॥ ४५८ ॥
वस्तुतस्तादृशैर्दोषैः साधनाप्रतिघाततः।
सिद्धं मिथ्योत्तरत्वं नो निरवद्यं हि लक्षणम् ॥ ४६१ ॥

जिस प्रकार कि जैन सिद्धान्तीद्वारा सत्त्वहेतु करके सम्पूर्ण पदार्थोंमें अनेकान्त आत्मकपनेका साधन कर चुकनेपर प्रतिवादीद्वारा सांकर्यसे प्रत्यवस्थान उठाया जाना तथा व्यतिकरपनसे दूषणाभास उठाया जाना जाति है। विरोध करके, अनवस्था करके, विभिन्न अधिकरणपने करके, उभय दोष करके, संशय करके, अप्रतीति करके तथा अभावदोष करके प्रसंग उठाना भी जाति मानी गयी है, अथवा और भी अपनी इच्छा अनुसार दूसरे प्रकारोंसे चक्रक, अन्योन्याश्रय, आत्माश्रय, व्याघात, श्यालत्व, अतिप्रसंग आदि करके प्रतिषेधरूप उपालम्भ देना भी जातियां हैं। वास्तविक रूपसे विचारा जाय तो प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमानप्रमाण, आगमप्रमाणोंसे अनेक धर्मोंके साथ तदात्मक हो रही वस्तुकी सिद्धि बालगोपालोंतकमें हो रही है। अतः तिस प्रकारके सांकर्य आदि दोषों (दोषाभासों) करके इस अक्षुण्ण अनेकान्तकी सिद्धिका प्रतिघात नहीं हो पाता है। तिस कारणसे हमारे जैन सिद्धान्तमें स्वीकार किया गया मिथ्या उत्तरपना ही जातिका निर्दोष लक्षण सिद्ध हुआ। इनका विवरण यों है कि अनेकान्तवादी जैन विद्वानोंके ऊपर एकान्तवादी नैयायिक आदिक पण्डित आठ दोषोंको उठाते हैं। १ संशय २ विरोध ३ वैयधिकरण्य ४ उभय ५ संकर ६ व्यतिकर ७ अनवस्था ८ अप्रतिपत्तिपूर्वक अभाव, ये आठ दोष हैं। वैयाधिकरण्यमें अन्तर्भाव करते हुये कोई कोई उभयको दोषोंमें स्वतंत्र नहीं गिनाकर अप्रतिपत्ति और अभावको दोष गिन लेते हैं। " १ भेदाभेदात्मकत्वे सदसदात्मकत्वे वा वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्यत्वं संशयः चलितप्रतिपत्तिर्वा " २ " शीतोष्णस्पर्शयोरिव विधिनिषेधयोरेकत्र वस्तुन्यसंभवो विरोधः " ३ "युगपदनेकत्रावस्थितिर्वैयाधिकरण्यम्" भिन्नाधेयानां नानाधिकरणप्रसंगो वा ४ " मिथो विरुद्धानां तदीयस्वभावाभावापादनमुभय दोषः " ५ " सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः संकरः " अथवा " परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशः संकरः " ६ " परस्परविषयगमनं व्यतिकरः " ७ " उत्तरोत्तरधर्मापेक्षा विश्रामाभावोऽनवस्था " ८ अनुपलम्भोऽप्रतिपत्तिः" ९ "सद्भावे दोषप्रसक्तेः सिद्धिविरहान्नास्तित्वापादनमभावः" सम्पूर्ण पदार्थोंको अस्ति नास्तिरूप या भेद अभेद आत्मक स्वीकार करनेपर जैनोंके ऊपर नैयायिक संशय आदिक दोषोंको यों उठाते हैं कि किस स्वरूपसे अस्तिपन कहा जाय ? और किस तदात्मक रूपसे नास्तिपन कहा जाय ? वस्तुका असाधारण स्वरूप करके निश्चय नहीं किया जा सकता है। अतः अनेकान्तवादमें संशय दोष आता है। तथा जहां वस्तुमें अस्तित्व है, वहां नास्तित्वका विरोध है और जहां नास्तित्व है, वहां अस्तित्वका विरोध है, शीत स्पर्श और उष्णस्पर्शके समान दो विरुद्ध अस्तित्व, नास्तित्व, धर्मोंका एक वस्तुमें एक साथ अवस्थान नहीं हो सकता है। अतः अनेकान्तमें विरोधदोष खडा हुआ है। तथा अस्तित्वका अधिकरण न्यारा होना चाहिये और उसके प्रतिकूल नास्तित्वका अधिकरण न्यारा होना चाहिये। एक वस्तुमें एक साथ दो विरुद्ध धर्मोंके स्वीकार करनेसे अनेकान्तवादियोंके ऊपर यह वैयधिकरण्य दोष हुआ। तथा एकान्तरूपसे अस्तित्व माननेपर जो दोष नास्तित्वाभासरूप आता है, अथवा

नास्तित्वरूप माननेपर जो दोष अस्तित्वाभाव स्वरूप आता है, वे एकान्तवादियोंके ऊपर आनेवाले दोष अस्तित्वनास्तित्वात्मक अनेकान्तको माननेवाले जैनके यहां भी प्राप्त हो जाते हैं। यह उभय दोष हुआ। तथा जिस स्वभावसे अर्थका अस्तित्व धर्म व्यवस्थित किया है। उस हीसे अस्तित्व और नास्तित्व दोनों मान लिये जांय अथवा जिस स्वभावसे नास्तित्व माना गया है, उससे दोनों धर्म नियत कर लिये जांय, इस प्रकार सम्पूर्ण स्वभावोंकी युगपत् प्राप्ति हो जाना संकर है। तथा जिस अवच्छेदक स्वभावसे अस्तित्व माना गया है, उससे नास्तित्व क्यों न बन बैठे और जिस स्वभावसे नास्तित्व नियत किया है, उससे अस्तित्व व्यवस्थित हो जाय। इस प्रकार परस्परमें व्यवस्थापक धर्मोंका विषयगमन करनेसे अनेकान्तपक्षमें व्यतिकर दोष आता है। तथा जिस स्वरूपसे सत्त्व है, और जिस स्वरूपसे असत्त्व है, उन धर्मोंमें भी पुनः कथंचित् सत्त्व, असत्त्वके स्वीकार करते संते भी विश्राम नहीं मिलेगा। उत्तर उत्तर धर्मोंमें अनेकान्तकी कल्पना बढती बढती चली जानेसे अनवस्था दोष हो जायगा। तथा उक्त दोषोंके पड जानेसे उपलम्भ नहीं होनेके कारण अनेकान्त की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। जिसकी अप्रतिपत्ति है, उसका अभाव मान लिया जाता है। आचार्य कहते हैं कि सर्वथा अस्तित्व या नास्तित्व अथवा भेद या अभेद इत्यादि धर्मोंके मानने वाले एकान्तवादियोंके यहां ये दोष अवश्य आते हैं। किन्तु एक धर्मीमें स्यात्कार द्वारा कथंचित् अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनेक धर्मोंके माननेपर कोई दोष नहीं आ पाता है। देखिये! कुछ अंधकार कुछ प्रकाश होनेके अवसरपर ऊर्ध्वतामात्र सामान्य धर्मको अवलम्ब लेकर विशेष धर्मकी अनुपलब्धि होनेसे स्थाणु या पुरुष का संशय उपज जाता है। किन्तु अनेकान्तवादमें तो विशेष धर्मोंकी उपलब्धि हो रही है। स्वचतुष्टयसे वस्तुमें अस्तित्व और परचतुष्टयसे नास्तित्व ये दोनों धर्म एकत्र स्पष्ट दीख रहे हैं। वस्तुमें अस्तित्व ही माना जाय और नास्तिकत्व नहीं माना जाय तो वस्तु सर्व आत्मक हो जायगी तथा वस्तुमें नास्तित्व ही माना जाय अस्तित्व नहीं माना जाय तो काम नहीं करती हुयी वस्तु खरविषाणके समान शून्य बन बैठेगी। नैयायिकोंने भी पृथिवीत्व नामक सामान्य विशेषमें सत्त्व या द्रव्यत्वकी अपेक्षा विशेषपना और घटत्व, पटत्वकी, अपेक्षा सामान्यपना स्वीकार किया है। अतः प्रतीयमान अनेकान्तमें चलितप्रतिपत्ति नहीं होनेसे संशय दोष नहीं आता है। निर्णीत हो चुके में संशय उठाना युक्त नहीं है। अविरुद्ध अनेक कोटियोंको स्पर्शने-वाला ज्ञान संशय नहीं होता है। जैसे आत्मा ज्ञानवान् है, सुखी है इसी प्रकार सामान्य विशेष आत्मक वस्तुओंकी प्रतीति हो रही होनेसे संशय दोष बालाग्र भी प्राप्त नहीं होता है। वस्तुका अनेक धर्मोंके साथ तदात्मकपना माननेपर दूसरा विरोध दोष भी नहीं आपाता है। विरोध तो अनुपल-म्भसे साधा जाता है। उष्ण स्पर्शवान्के आजानेपर शीतस्पर्शका अनुपलम्भ हो जाता है। अतः शीतस्पर्श और उष्णस्पर्शका विरोध गढ लिया जाता है। किन्तु यहां अनेकान्तात्मक वस्तुमें जब विरुद्ध सदृश दीख रहे अस्तित्व नास्तित्व, भेद अभेद, आदि धर्मोंका युगपत् उपलम्भ हो रहा है,

ऐसी दशामें वध्यघातकभाव, सहानवस्थान ये दो विरोध कैसे भी नहीं आते हैं। परस्पर परिहारावस्थिति स्वरूप विरोध तो अनेकात्मक वस्तुको ही अधिकतया पुष्ट करता है। एक धर्मीमें अनेक धर्मोंके साथ रहनेपर ही परस्परमें एक दूसरेका परिहार करते हुये विरोधपना रहना रक्षित हो पाता है। जो ही पहिला उत्तम संहनन शुक्लध्यान द्वारा मोक्षका हेतु है, वही तीव्र रौद्रध्यान द्वारा सप्तम नरकका कारण बन बैठता है। बौद्धोंने ज्ञापक हेतुमें पक्षवृत्तित्व, सपक्षवृत्तित्व, विपक्षावृत्तित्व ये तीनों धर्म युगपत् स्वीकार किये हैं। पर्वतो वन्हिमान् धूमात् यहां नैयायिकोंने धूम हेतुमें अन्वयव्याप्ति, व्यतिरेकव्याप्ति ये दोनों प्रतिबन्ध युगपत् अभीष्ट किये हैं। विरोधक पदार्थकी ओरसे विरोध्य अर्थमें प्राप्त हो रहा विरोध तो सुलभतासे अनेकान्त मतको पुष्ट कर देता है। तीसरा वैयधिकरण्य दोष भी अनेकान्तसिद्धिका प्रतिषेधक नहीं है। जब कि बाधारहित ज्ञानमें भेद, अभेद, अथवा सत्त्व, असत्त्व, धर्मोंकी एक आधारमें वृत्तिपने करके प्रतीति हो रही है। अतः विभिन्न धर्मोंका अधिकरण भी विभिन्न होगा यह वैयधिकरण्य दोष अनेकान्तमें लागू नहीं होता है। चेतन आत्मामें रूपका रहना जड पुद्गलमें ज्ञानका ठहरना माननेपर रूप और ज्ञानका वैयधिकरण्य दोष समुचित है। किन्तु एक अग्निमें दाहकत्व, पाचकत्व, शोषकपन, स्फोटकत्व (चर्मपर फलक उठा देना) ये अनेक धर्म युगपत् एकाश्रयमें प्रतीति हो रहे हैं। अतः वैयधिकरण्य दोषकी अनेकान्तमें-सम्भावना नहीं है। चौथा उभयदोष भी प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि परस्पर एक दूसरेकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले भेद, अभेद, अथवा अस्तित्व, नास्तित्व, दोनों धर्मोंका सतुआ या खिचडीके समान एकपना हम जैन स्वीकार नहीं करते हैं। किन्तु दही गुडको मिलाकर नये उपजे तीसरे स्वादके समान या हल्दी चूनाको मिलाकर हुये तीसरे रंगके समान अनेकान्त आत्मक वस्तुकी जाति न्यारी है। जैनोंके यहां एक धर्मीमें ठहरे हुये अनेक धर्म परस्पर सापेक्ष माने गये हैं। नीली, हरी, लाल, पीली, अनेक कान्तियोंको धारनेवाले मेचक रत्नमें कोई उभय दोषकी सम्भावना नहीं है। बढिया चोर कभी परस्त्रीको बुरी दृष्टिसे नहीं देखता है। अच्छा डांकू (गुरुका सिखाया हुआ प्रशंसनीय डांकू) माता, बहिन, कहकर स्त्रियोंसे वस्त्राभूषण छीन लेता है। किन्तु उनके साथ रागचेष्टा नहीं करता है। तथा परदारसेवी (लुचा) पुरुष परस्त्रियोंके साथ काम चेष्टा भले ही करे, किन्तु उनके गहनों, कपडोंका अपहरण नहीं करता है। भले ही वह भूंका मर जायगा। किन्तु दान देने योग्य स्त्रियोंके द्रव्यका अपहरण नहीं करता है। हां, कोई तुच्छ चोर या जघन्य व्यभिचारी भले ही दोनों कार्योंको करता हुआ उभय दोषका भागी हो जाय। किन्तु जो सती मनुष्य है, वह परदारसेवन या चोरी उभय (दोनों) से रहित है। इसी प्रकार अनेक धर्मात्मक वस्तु उभयदोषरहित तिस प्रकार प्रतीत हो रही हैं। बौद्धों द्वारा माने गये एक चित्रज्ञानमें नील, पीत आदि अनेक आकार उभयरूप नहीं होते हुये सुखपूर्वक विश्राम ले रहे हैं। पांचवां दोष संकर भी अनेकान्तात्मक वस्तुमें नहीं लगता है। गर्दभ और घोडीके संयोगसे उपजे हुये

खिचरके समान सांकर्य दोष यहां संभवनीय नहीं है। प्रतीयमान हो रहे पदार्थमें यदि सांकर्य हो भी जाय तो वह दोष नहीं माना जाकर गुण ही समझा जायगा। एक हाथकी पांच अंगुलियोंमें छोटापन बडापन कोई दोष नहीं है। जब कि वह एकका छोटापन दूसरीका बडापन आंखोंमें बडाभारी दोष समझा जाता है। दोष भी क्वचित् गुण हो जाते हैं। पांचोंका अधिक बडा होना दोष है। सिरका समुचित बडापना लोकमें गुण माना गया है। बात यह है, एक आत्मा धर्मीमें कर्तापन, भोक्तापन, मरना, जन्म लेना, हिंसकपना, दातापन, एक विषयोंका ज्ञातापन, अन्य विषयका अज्ञान आदिक अनेक धर्म असंकीर्ण होकर ठहर रहे हैं। वस्तुका धर्मोके साथ कथंचिद् भेद, अभेद, माननेपर कथमपि सांकर्य दोषकी सम्भावना नहीं है। एक ही समयमें घटका नाश मुकुटका उत्पाद और सुवर्णकी स्थिति ये तीनों उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तदात्मक होकर वस्तुमें प्रतीत होते हैं। तथा छट्ठा दोष व्यतिकर भी अनेकान्तमें नहीं प्राप्त होता है। भिन्न भिन्न धर्मोंके अवच्छेदक स्वरूप स्वभाव इस वस्तुमें न्यारे न्यारे नियत हैं। एक देवदत्तमें नाना व्यक्तियोंकी अपेक्षा पितापन, भ्रातापन, भतीजापन, भानजापन आदिक धर्म व्यतिकररहित प्रतीत हो रहे हैं। महारोगीको एक रसायन उचित मात्रामें दी गयीं नीरोग कर सकती है। वही रसायन यदि नीरोग पुरुषके उपयोगमें आ जाय तो उष्णताको बढाकर उस पुरुषके प्राण ले सकती है। विशेष विष किसीको मारनेकी शक्ति रखता है। साथ ही वह चिर कुष्ठरोगको दूर भी कर सकता है। हारमें जडे हुये न्यारे न्यारे रत्नोंके समान अनेक धर्म भी देश, कालका भेद नहीं रखते हुये वस्तुमें अक्षुण्ण विराज रहे हैं। तथा अनवस्था दोष होनेका भी प्रसंग नहीं है। क्योंकि हम जैन एक धर्मीको अनेक धर्म आत्मक स्वीकार करते हैं। पुनः धर्मोंमेंसे एक एक धर्मको अनेक धर्मात्मक नहीं मानते हैं। धर्मोंमें अन्य धर्मोका सद्भाव नहीं है। वृक्षमें शाखायें पुष्प फल हैं। शाखाओंमें दूसरी वैसे ही शाखायें या फलोंमें दूसरे फल तथा फूलोंमें दूसरे फूल वर्त रहे नहीं माने गये हैं। एक ज्ञानमें मेय वेदक और वित्ति तीन अंश हैं। उन उन एक एक अंशमें पुनः तीन तीन अंश नहीं हैं। जिससे कि अनवस्था हो सके। वस्तु अभिन्न ही है। धर्म न्यारे न्यारे ही हैं, ऐसी दशामें अनवस्था प्राप्त नहीं होती है। शरीरमें अवस्थित रहना हड्डीका गुण है। और अनवस्थित रहना अस्थिका दोष है। किन्तु रक्तका अवस्थित रहना दोष है। अनवस्था गुण है। बीज, अंकुर, मुर्गी, अण्डा, आदिकी धाराके समान क्वचित् अनवस्था गुण भी हो जाता है। "मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्था हि दूषणं" जड मूलको नष्ट करनेवाली अनवस्था दूषण है। वस्तुके अनादि अनन्तपनको या अनेकान्तपनको पुष्ट कर रही अनवस्था तो भूषण है। धर्मोंमें पुनः धर्म और उनमें भी पुनः तीसरे धर्म माननेपर अनवस्था हो सकती थी। अन्यथा नहीं। अप्रतिपत्ति और अभाव दोष तो कथमपि नहीं सम्भवते हैं। जब कि सम्पूर्ण प्राणियोंको विद्यमान अनेक धर्मात्मक एक अर्थका स्पष्ट अनुभव हो रहा है। जगत्में अनेकान्तात्मक वस्तुका दर्शन ज्ञान,

सुलभ हो गया है, जितना कि अपने हाथमें पांचों अंगुलियोंका दीखना है। अतः अनेकान्तमें दोष उठाना अपनी विचारशालिनी बुद्धिमें दूषण लगाना है। इन आठ, नौ, प्रत्यवस्थानोंके अतिरिक्त भी चक्रक अन्योन्याश्रय आदि इच्छानुसार दोषों करके भी अनेकान्तमें प्रतिषेध उठाना " मिथ्या उत्तर " होता हुआ जाति समझा जायगा। वस्तुतः इन दोषों करके अनेकान्तमें बाधा प्राप्त नहीं हो सकती है। " स्वस्मिन् स्वापेक्षत्वमात्माश्रयत्वं " स्वयं अपने लिये अपनी अपेक्षा बने रहना आत्माश्रय है। परस्परमें धारावाही रूपसे एक दूसरेकी अपेक्षा लागू रहना अन्योन्याश्रय है। पुनः पुनः घूमकर वहीं आजाना चक्रक है। अपने आत्मलाभमें स्वयं अपने आप व्यापार करना " स्वात्मनि क्रियाविरोध " है। इत्यादिक कोई भी दोष अनेकान्तमें नहीं प्राप्त होते हैं। यदि कथंचित् कोई दोष प्राप्त भी हो जाय तो वह गुणस्वरूप हो जायगा। वस्तुमें द्रव्यत्व धर्मकी व्यवस्था कभी अस्तित्व स्वभावकी अपेक्षासे करते हैं, और किसी दार्शनिकके प्रति अस्तित्व करके द्रव्यत्व समझाया जाता है। दोनोंमेंसे जिस एकको जो समझे हुये हैं, जाने हुये उससे दूसरे अज्ञात धर्मकी ज्ञप्ति करा दी जाती है। अस्तित्व, द्रव्यत्व दोनों धर्मोंको नहीं जानने वाले पुरुषके लिये वस्तुत्व हेतु का प्रयोग कर दोनों धर्मोंकी प्रतीति करा दी जाती है। इस ढंगसे ज्ञापक पक्षमें कोई अन्योन्याश्रय नहीं है। हम जैन वस्तुके एक गुणसे दूसरे गुणकी उत्पत्ति होना स्वीकार नहीं करते हैं। जिससे कि कारक पक्षमें अन्योन्याश्रय दोष सम्भव हो सके। किन्हीं किन्हीं वस्तुके स्वभावोंको नियत करनेके लिये यदि अन्योन्याश्रय हो भी जाय तो भी कोई अनिष्टापत्ति नहीं है। जो पुरुष वस्तुमें दोष देनेके लिये बैठ जाते हैं, उनको यह भी विचारना चाहिये कि दोषोंमें भी अनेक दोष प्राप्त हो जाते हैं। अतः क्वचित् वे गुणका रूप धारण कर लेते हैं। देखिये! अपनी मोक्ष अपने आप प्रयत्न करनेसे होती है। समाचार पत्रोंमें विज्ञापन देनेवाले सच्चे नहीं होते हैं, इस बातको विज्ञापन देकर समझानेसे आ रहा आत्माश्रय दोष अकिंचित्कर है। अन्योन्याश्रय दोषकी भी यही दशा है। दो लकडी एक दूसरेके अधीन होकर तिरछी खडीं रहती हैं। सौडमें गर्मी शरीरकी गर्मीके अधीन है। और शरीरकी गर्मी सौडकी उष्णताके अधीन है। पतिपत्नी सम्बन्धमें स्वामीकी कथंचित् स्वामिनी स्त्री हो जाती है। माताका दुग्ध बढाना वत्सके आधीन है। और बच्चेकी वृद्धि मातृदुग्धके अधीन है। रस्सेपर खडा हुआ नट बांसके अधीन है। और बांस नटके अधीन है। रातको अकेले अकेले किसी स्थानपर जानेसे छात्रोंको डर लगता है। दोनोंको साथ जानेपर नहीं भय रहता है। यों ये अन्योन्याश्रय हो रहे कार्य दोषवान् कहने योग्य नहीं है। तथा आकाश स्वयंको अवकाश देता है। प्रदीप स्वयंको प्रकाशता है, ज्ञान आप ही स्वयंको जानता है। निश्चय नयसे सम्पूर्ण पदार्थ अपनेमें अपना परिणमन करते हैं। यहां स्वात्मनि क्रियाविरोध कोई दोषास्पद नहीं है। प्रायः सभी गृहस्थ सहोदर भगिनीका विवाह हो जानेपर किसी न किसीके साले बन जाते हैं। इसमें दोषकी कौनसी बात है। अतः जैनोंके अनेकान्तमें उक्त दोष उठाना मिथ्या उत्तर है।

प्रत्यक्ष प्रमाणसे और अनेक युक्तियोंद्वारा अनेकान्त प्रसिद्ध हो रहा है। देवदत्त चलती हुई गाडीमें बैठा जा रहा है। यहां बैठना और जाना दोनों विरुद्ध सारिखे हो रहे धर्म एक समय देवदत्तमें दीख रहे हैं। तभी तो चलती हुई गाडीसे गिर जानेपर दौडते हुये पुरुषके पतनके समान आत्यधिक चोट लग जाती है। मीठे चिकने दूधमें भी खार है, तभी तो उससे खांड स्वच्छकर दी जाती है। चूरेमे भी क्षार भाग होनेसे आंखका कीचड उससे निकाल दिया जाता है। सुन्दर गहने, कपडे या खाद्य पदार्थ सभी सम्पत्तियां काल अनुसार कूडा रूप हो जाती हैं। कूडा भी खातरूपसे लाखों मन अन्न, फल, घास तरकारी आदिको उपजाकर महती सम्पत्ति बन जाता है। सभी स्थान दूर देशवर्तीकी अपेक्षा दूर हैं और निकट देशवर्तीकी अपेक्षा समीप हैं। "अणोरणीयान् महतो महीयान् लघोर्लघीयान् गुरुतो गरीयान्" इस वैदिक वाक्यसे भी अनेकान्तकी पुष्टि होती है। नदीकी उरली पार भी पर की पार और परलीपार भी उरली पार है। "ओस चाटनेसे प्यास नहीं बुझती है।" "डूबतेको तिनकेका सहारा अच्छा है।" इन दोनों लौकिक परिभाषाओंका यथायोग्य उपयोग हो रहा है। इसी प्रकार "बिन मागे मोती मिलें मांगे मिले न भीख" और "रोये (मागे) बिना माता भी बच्चोंको दूध नहीं पिलाती है।" इन दो लौकिक न्यायोंका भी समुचित सदुपयोग हो रहा है। सुरेंद्र बंगाली द्वारा सभी बंगालियोंके झूंठ बोलनेवाला ठहराने का विज्ञापन करनेपर उसका अर्थ बंगाली सब सच बोलनेवाले सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि सब बंगालियोंको असत्यवक्ता कहनेवाला सुरेंद्र भी तो बंगाली है। मेरुकी प्रदक्षिणा देनेवाले सूर्यके उदय अनुसार पूर्व दिशाको नियत करनेवालोंके यहां सूर्यका उदय पश्चिम दिशामें हो जाता है। अग्नि, जल, कदाचित् यथाक्रमसे शीत उष्ण उत्पादक संभव जाते हैं। इन लौकिक युक्तियोंसे और असंख्य शास्त्रीय युक्तियोंसे प्रत्येक पदार्थमें अनेक धर्मोंका सद्भाव प्रसिद्ध हो रहा है। अतः अनेकान्तमें दोष उठाना सूर्यपर थूकनेके समान स्वयं दोष उठानेवाले पुरुषका दूषण बनकर मिथ्या उत्तर है। अतः प्रकरणमें यही कहना है कि श्री अकलंक देवके मन्तव्य अनुसार नैयायिकोंको जातिका लक्षण "मिथ्या उत्तर ही" स्वीकार कर लेना चाहिये। इसमें कोई अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष नहीं आते हैं।

न चैवं परलक्षणस्याव्याप्तिदोषाभाव इत्याह।

जिस प्रकार श्री अकलंक देव द्वारा बनाये गये लक्षणमें कोई अव्याप्ति दोष नहीं आता है, इसी प्रकार दूसरे नैयायिकों द्वारा माने गये साधर्म्य वैधर्म्य द्वारा प्रत्यवस्थान देना इस लक्षणमें अव्याप्ति दोषका अभाव है, यह नहीं कह सकते हो। अर्थात्—नैयायिकों द्वारा किये गये जातिके लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है। इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा कहते हैं।

परोक्तं पुनरव्याप्तं प्रोक्तेष्वेतेष्वसंभवात् ।
ततो न निग्रहस्थानं युक्तमेतदिति स्थितम् ॥ ७६१ ॥

दूसरे नैयायिक विद्वानों करके कहा गया जातिका लक्षण तो फिर अव्याप्ति दोष युक्त है। क्योंकि भले प्रकार कह दिये गये इन सांकर्य, व्यतिकर, आदि द्वारा दिये गये प्रत्यवस्थानोंमें लक्षण घटना होनेका असंभव है। तिस कारणसे अबतक यह व्यवस्थित हुआ कि तिस जातिका उत्थापन करनेसे निग्रहस्थान देना उचित नहीं है। स्वपक्षसिद्धि और परपक्षनिराकरणसे ही दूसरेका निग्रह होना न्यायसंगत है। जो कि पहिले प्रकरणोंमें सिद्ध कर दिया गया है।

परोक्तं पुनर्जातिसामान्यलक्षणमयुक्तमेव, संकरव्यतिकरविरोधानवस्थावैयधिकरण्योभयदोषसंशयाप्रतिपत्त्यभावादिभिः प्रत्यवस्थानेषु तस्यासंभवात् । ततो न निग्रहस्थानमेतद्युक्तं तात्त्विके वादे, प्रतिज्ञाहान्यादिवच्छलवदसाधनांगदोषोद्भावनवच्चेति ।

दूसरे नैयायिकों द्वारा कहा गया जातिका लक्षण तो फिर अव्याप्तिदोष युक्त होनेसे अनुचित ही है। क्योंकि भले प्रकार कह दिये गये संकर, व्यतिकर, विरोध, अनवस्था, वैयधिकरण्य, उभय, दोष, संशय, अप्रतिपत्ति, अभाव, सर्वका एकात्मापादन आदि करके उठाये गये प्रत्यवस्थानोंमें जातिके उस लक्षणकी घटनाका असंभव है। तिस कारण तत्त्वोंका निर्णय करानेवाले वादमें उक्त प्रकारोंकी जाति द्वारा निग्रहस्थान हुआ, यह मानना समुचित नहीं है। जैसे कि प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर आदि करके निग्रहस्थान उठाना युक्त नहीं है। अथवा वाक्छल, सामान्यछल, उपचारछल इन छलोंका उत्थान कर देनेसे किसीका निग्रह नहीं हो जाता है। तथा बौद्ध मत अनुसार साध्य साधक अंगोंका कथन नहीं करना वादीका और दोषोंका नहीं उठाना प्रतिवादीका निग्रहस्थान नहीं हो जाता है। प्रतिज्ञाहानि आदि और छल तथा असाधनांग वचन, अदोषोद्भावन, इन तीन दृष्टान्तोंसे जाति द्वारा निग्रह हो जानेका खण्डन कर दिया गया है। " स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः " परपक्ष निराकरण पूर्वक स्वपक्षको साध देना ही सभ्य पुरुषोंमें दूसरेका निग्रह हो जाना माना जाता है। यहांतक " असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः न युक्तं निग्रहस्थानं संधाहान्यादिवत्ततः " इस पूर्वमें कही जा चुकी कारिकाका उपसंहार कर दिया गया है।

तथा च तात्त्विको वादः स्वेष्टसिध्यवसानभाक् ।
पक्षेयत्तात्वयुक्तैव नियमानुपपत्तितः ॥ ४६२ ॥

और तिस प्रकार व्यवस्था करनेपर तत्त्वोंको विषय करनेवाला वाद अपने अभीष्ट सिद्धिके पर्यन्तको धारनेवाला है। जगत्में अनेक वादी प्रतिवादियोंके विवादापन्न हो रहे पक्ष असंख्य हैं।

दश, सौ, सहस्र या लक्ष इतने पक्ष हैं, इत्यादिक रूपसे उन पक्षोंका यह नियत परिमाण करना अयुक्त ही है। क्योंकि संख्याका परिमाण करनेके नियमकी असिद्धि है। अतः उसी अवसरपर प्रकरण प्राप्त हो रहे एक ही पक्षकी सिद्धि कर देने पर्यन्त तात्त्विक शास्त्रार्थ होता है। " स्वपक्षसिद्धिपर्यन्ता शास्त्रीयार्थविचारणा " कहा गया था। इसीमें " तत्रेह तात्त्विके वादेऽकलंकैः कथितो जयः, स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः " यह जयपराजयव्यवस्थाका अकलंक सिद्धान्त निर्णीत किया जा चुका है।

एवं तावत्तात्त्विको वादः स्वाभिप्रेतपक्षसिद्धिपर्यंतभावावस्थितः पक्षेयत्तायाः कर्तुमशक्तेर्नियमानुपपत्तितश्च न सकलपक्षसिद्धिपर्यंतः कस्यचिज्जयो व्यवस्थितः।

जिस प्रकार विवादप्राप्त वस्तुकी प्राप्तितक लौकिक वाद (झगडा) प्रवर्तता है, इसी प्रकार तत्त्वनिर्णयसम्बन्धी वाद भी तो अपने अभीष्ट पक्षकी सिद्धिका पर्यन्त होनेतक व्यवस्थित हो रहा है। कोई नियम बना हुआ नहीं होनेसे पक्षोंकी इयत्ताका निर्णय नहीं किया जा सकता है, शब्द नित्य है ? यों अनित्य है ? व्यापक है, या अव्यापक ? एक है ? या अनेक है ? शब्द आकाश का गुण है ? या पौद्गलिक है ? जलकी लहरोंके समान चारों ओर फैलता है ? अथवा क्या कदम्बपुष्प या धत्तूर पुष्पके समान शब्दका प्रसार होता है ? । अनादिकालीन योग्यता द्वारा अर्थ प्रतिपादक है ? अथवा क्या सादिकालीन योग्यतावश वाच्यार्थप्रतिपादक है ? इत्यादिक विवादापन्न अनेक पक्ष सम्भव रहे हैं। इनमेंसे विचारणीय प्रकरण प्राप्त किसी एक पक्षकी सिद्धि हो जाने पर्यंत ही किसी विद्वान् का जय और अन्य पुरुषका पराजय व्यवस्थित कर दिया जाता है। सम्पूर्ण पक्षोंकी सिद्धि कर चुके तहांतक किसीका जय होय, यह व्यवस्था नहीं की गयी है। यहांतक महापण्डित श्रीदत्तके " जल्पनिर्णय " नामक ग्रन्थ अनुसार और श्री अकलंकदेव महाराजके सिद्धान्त अनुसार श्री विद्यानन्द आचार्य अभिमानप्रयुक्त हुये तात्त्विक वादके प्रकरणका उपसंहार कर चुके हैं।

सांप्रतं प्रातिभे वादे निग्रहव्यवस्थां दर्शयति।

अब जिगीषु वादीप्रतिवादियोंमें प्रवर्त रहे प्रतिभाबुद्धि सम्बन्धी वादमें होनेवाली निग्रहव्यवस्थाको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकोंद्वारा दिखलाते हैं। प्रतिभाद्वारा जान किये गये पदार्थोंमें होनेवाला शास्त्रार्थ " प्रातिभवाद " होता है। साहित्यवालोंने तो प्रतिभाका लक्षण यों किया है कि " प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी, स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी " प्रसादगुणयुक्त पदोंद्वारा नवीन अर्थोंकी योजनाके प्रबोधका विधान करानेवाली श्रेष्ठ कविकी बुद्धि प्रतिभा है। उस प्रतिभाका प्राकट्य दिखलानेके लिये हुये शास्त्रार्थमें निग्रहकी व्यवस्था इस प्रकार है, सो सुनिये।

यस्तूक्तः प्रातिभो वादः संप्रातिभपरीक्षणः ।
निग्रहस्तत्र विज्ञेयः स्वप्रतिज्ञाव्यतिक्रमः ॥ ४६३ ॥

प्रतिभासम्बन्धी चातुर्यकी भले प्रकार परीक्षणा करनेवाला तो जो वाद प्रातिभ कहा गया है। उस प्रतिभागोचर वादमें अपनी की गयी प्रतिज्ञाका उल्लंघन कर देना निग्रह हुआ समझ लेना चाहिये।

यथा पद्यं मया वाच्यमाप्रस्तुतविनिश्चयात् ।
सालंकारं तथा गद्यमस्खलद्रूपमित्यपि ॥ ४६४ ॥
पंचावयववाक्यं वा त्रिरूपं वान्यथापि वा ।
निर्दोषमिति वा संधास्थलभेदं मयोच्यते ॥ ४६५ ॥
यथा संगरहान्यादिनिग्रहस्थानतोप्यसौ ।
छलोक्त्या जातिवाच्यत्वात्तथा संधाव्यतिक्रमा ॥ ४६६ ॥
यथा द्यूतविशेषादौ स्वप्रतिज्ञाक्षतेर्जयः ।
लोके तथैव शास्त्रेषु वादे प्रातिभगोचरे ॥ ४६७ ॥

प्रातिभ शास्त्रार्थके पहिले यह प्रतिज्ञा कर ली जाती है कि जिस प्रकारका पद्य, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा शिखरिणी आदि छन्द प्रस्ताव प्राप्त अर्थका विशेष निश्चय होनेतक मुझ करके कहने योग्य हैं, उसी प्रकार अलंकारसहित छन्द तुमको भी कहने होंगे। तथा जिस प्रकार मैं अस्खलित स्वरूप धारावाही रूपसे ध्वनि, लक्षणा, व्यंजना, रस, रीति, अलंकार आदिसे युक्त हो रहे गद्यको कहूंगा, इसी प्रकार तुमको भी वैसा गद्य कहना पडेगा। अथवा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, इन पांच अवयव युक्त वाक्योंको मैं कहूंगा, वैसे ही तुमको भी अनुमानवाक्य कहने पड़ेंगे अथवा पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति इन तीन रूपवाले हेतुके वाक्यको जैसे मैं कहूं, उसी प्रकार तुमको भी वैसा हेतु कहना चाहिये अथवा जैसे दूसरे प्रकारोंसे दोषरहित प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, स्वरूप वाक्य मुझ करके कहे जाय, उसी प्रकार प्रतिज्ञावाक्य स्थलके भेदको लिये हुये निर्दोष वाक्य तुमको कहने पडेंगे। जिस प्रकार कि प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थानोंसे भी यह निग्रह माना जाता है, अथवा छल पूर्वक कथन करनेसे या जातिद्वारा वाच्यता प्राप्त हो जानेसे निग्रह प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार अपनी की गयी प्रतिज्ञाका व्यतिक्रमण कर देनेसे भी निग्रह हो जावेगा। जिस प्रकार कि लोकमें द्यूतविशेष (जूआ) फाटिका, सट्टा आदिमें अपनी ठहरी हुई

प्रतिज्ञाकी क्षति हो जानेसे दूसरे वादीका जय हो जाता है, तिस ही प्रकार शास्त्रोंमें भी प्रतिभाप्राप्त पदार्थको विषय करनेवाले वादमें अपनी प्रतिज्ञाकी हानि कर देनेसे पराजय और दूसरेकी जीत हो जाती है।

द्विप्रकारस्ततो जल्पस्तत्त्वप्रातिभगोचरात् ।
नान्यभेदप्रतिष्ठानं प्रक्रियामात्रघोषणात् ॥ ४६८ ॥

तिस कारण पूर्वमें कही गयी " द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम्, त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये " इस कारिकाके अनुसार तत्त्व और प्रतिभामें प्राप्त हो रहे पदार्थको विषय करनेवाला होनेसे जल्प नामका शास्त्रार्थ दो प्रकारका ही है। न्यारे न्यारे प्रकारों करके केवल प्रक्रियाकी घोषणा कर देने मात्रसे अन्य भेदोंकी प्रतिष्ठा नहीं हो जाती है। अर्थात्—" यथोक्तोपपन्नच्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः " यह नैयायिकोंका किया हुआ जल्पका लक्षण ठीक नहीं पडता है। तात्त्विक और प्रातिभ दो ही प्रकारका जल्प यथार्थ है।

सोऽयं जिगीषुबोधाय वादन्यायः सतां मतः ।
प्रकर्तव्यो ब्रुवाणेन नयवाक्यैर्यथोदितैः ॥ ४६९ ॥

अब श्रीविद्यानन्द आचार्य प्रारम्भ किये गये तत्त्वार्थाधिगमप्रकरणका उपसंहार करते हैं कि यह उक्त प्रकारका कहा गया न्यायपूर्वक वाद तो जीतनेकी इच्छा रखनेवाले विद्वानोंके प्रबोधके लिये सज्जन पुरुषोंके द्वारा मान्य हो चुका है। सर्वज्ञकी आम्नाय अनुसार यथायोग्य पूर्वमें कह दिये गये नयप्रतिपादक वाक्यों द्वारा कथन कर रहे विद्वान् करके यह जल्पस्वरूप शास्त्रार्थ भले प्रकार करना चाहिये, तभी स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष निराकरण कर देनेसे श्री अकलंक महाराजके कथनानुसार जय व्यवस्था प्राप्त हो सकेगी। यहांतक श्री विद्यानन्द आचार्यने नय प्रतिपादक सूत्रका विवरण करते हुये नय और नय वाक्योंकी प्रवृत्ति तथा तत्त्वार्थाधिगम भेद इन प्रकरणोंकी संगति जोड दी है।

एवं प्रपंचेन प्रथमाध्यायं व्याख्याय संगृण्हन्नाह ।

इस प्रकार परिपूर्ण विद्वत्तापूर्वक अधिक विस्तार करके प्रथम अध्यायका व्याख्यान कर इस प्रथम अध्यायमें कहे गये मूलतत्त्वोंका संग्रह करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य शिखरिणी-छन्दको कह रहे हैं।

समुद्दिष्टो मार्गस्त्रिवपुरभवत्वस्य नियमा- ।
द्विनिर्दिष्टा दृष्टिर्निखिलविधिना ज्ञानममलम् ।
प्रमाणं संक्षेपाद्विविधनयसंपच्च मुनिना ।
सुगृह्याद्येऽध्यायेऽधिगमनपथः स्वान्यविषयः ॥ ४७० ॥

नमस्करणीय आचार्योंके भी अभिवन्दनीय श्री उमास्वामी मुनि महाराजने इस प्रथम अध्यायमें सबसे पहिले संसाररहितपन यानी मोक्षका मार्ग नियमसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, इन तीनस्वरूप शरीरको धारनेवाला भले प्रकार कहा है। पश्चात् शब्दनिरुक्तिद्वारा अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति नहीं होनेसे दो प्रकार सम्पूर्ण भेदोंके साथ सम्यग्दर्शनका विशेष रूपसे निर्देश (लक्षण) किया है। उसके पीछे निर्दोष ज्ञानको प्रमाण कहते हुये सम्पूर्ण भेद प्रभेदोंके साथ संक्षेपसे सम्यग्ज्ञानका विधिपूर्वक निरूपण किया है। तथा उसके अनन्तर संक्षेपसे द्रव्यार्थ और पर्यायार्थ दो प्रकारकी नय सम्पत्तिका विस्तारसे सात प्रकार प्ररूपण किया है। इस प्रकार आदिके अध्यायमें रत्नत्रय और प्रमाण नयोंका भले प्रकार ग्रहण कर सूत्रण किया है। जगत्में समीचीन ज्ञप्ति करानेका मार्ग स्वयंको और उसी समय अन्यको विषय करनेवाला प्रमाण ज्ञान ही है। अथवा वन्द्यचरण श्री उमास्वामी महाराज द्वारा प्रतिपादित किया गया रत्नत्रय स्व और अन्य पुरुषोंमें ज्ञप्ति करानेका मार्गभूत होवे, इस प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्य आशीर्वादवचन या वस्तुनिर्देश आत्मक मंगलाचरण करते हैं। "आदौ मध्येऽवसाने च मंगलं भाषितं बुधैः। तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये" इस नियमके अनुसार अन्तमें या मध्यमें मंगलाचारण किया जाता है। रत्नत्रय और प्रमाण मंगलस्वरूप हैं।

इति प्रथमाध्यायस्य पंचममाह्निकं समाप्तम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार पहिले अध्यायका श्री विद्यानन्द स्वामी द्वारा निर्माण किया गया पांचवा आन्हिक (प्रकरणसमुदाय) समाप्त हुआ।

इस प्रकरणका सारांश।

इस तत्त्वार्थाधिगमके प्रकरणोंकी सूची संक्षेपसे इस प्रकार है कि नयोंका व्याख्यान करते हुये विद्वानोंके लिये नय वाक्यकी प्रवृत्तिको समझाकर अधिगमके उपायभूत प्रमाण नयोंका व्याख्यान पूर्व सूत्रोंमें कर दिया गया था। यहां तत्त्वोंका यथार्थनिर्णय करानेके लिये दुर्ग (किलाके) समान विशेष कथन किया है। ज्ञान आत्मक प्रमाण और नय तो अपने लिये होनेवाले तत्त्वार्थाधिगमके उपयोगी हैं। तथा शब्द आत्मक हो रहे प्रमाण और नय तो दूसरोंको प्रबोध करानेके लिये उपयोगी हैं। रागद्वेषरहित वीतराग पुरुषोंमें जो वचनों द्वारा परार्थाधिगम कराया जाता है, वह संवाद माना जाता है। और जो परस्पर जीतनेकी इच्छा रखनेवालोंमें परार्थ अधिगम प्रवर्तता है, वह वाद कहा जाता है। सम्वादमें चतुरंगकी आवश्यकता नहीं है। किन्तु वादमें वादी, प्रतिवादी, सभ्य, सभापति, इन चार अंगोंकी आवश्यकता पड जाती है। श्री विद्यानन्द आचार्यने उक्त चतुरंगके लक्षणोंका और आवश्यकताके बीजका निरूपण कर नैयायिकों द्वारा माने गये वीतरागोंमें होनेवाले वादका प्रत्याख्यान किया है। नैयायिकोंके अभीष्ट हो रहे वादके लक्षणका विचार कर अपनी ओरसे कुछ विशेषणोंको

मिलाकर उसका सुधार कर दिया है। नैयायिकोंके जल्प और वितण्डा तो तत्त्वका निर्णय नहीं करा सकते हैं। वितण्डावादीका तो स्वयं गांठका कोई पक्ष होता ही नहीं है। वह तो परपक्षका निराकरण ही करता रहता है। इस प्रकरणमें नैयायिकोंको बहुत बडी मुंहकी खानी पडी है। जल्प और वितण्डाद्वारा तत्त्वोंके निश्चयका संरक्षण मानना नैयायिकोंकी नीतिका नग्ननृत्य है। डोला ले जानेवाले छिनरा चोट्टा पुरुषोंको ही उसमें बैठी हुई सुन्दरी सालंकारा युवतिका रक्षाभार सौंपना भारी चूक है। दूसरोंको चुप करने मात्रमें प्रवर्त रहे जल्प वितण्डा, वादियोंद्वारा तत्त्वाध्यवसाय नहीं हो पाता है। जहां दूसरोंके निग्रह करनेके लिये सतत प्रयत्न किया जाता है, छल और जातियोंका उत्थापन किया जाता है, वहां तत्त्वनिर्णय की रक्षा नहीं हो सकती है। इसका अच्छा विचार किया गया है। वादी, प्रतिवादी, सभ्य, सभापति इनकी सामर्थ्यका प्रतिपादन कर उनकी स्थिति और कर्तव्योंका दिग्दर्शन करा दिया है। प्रतिपक्षके विघात का लक्षण कर अभिमान प्रयुक्त होनेवाले वादमें चारों अंगोंकी आवश्यकता बतलायी है। श्री दत्त महाराजके " जल्पनिर्णय " ग्रन्थका प्रमाण देते हुये अभिमानिकवादके तात्त्विक और प्रातिभ दो भेद किये हैं। तात्त्विक वादमें श्री अकलंक भगवानके कथनानुसार एकके स्वपक्षकी सिद्धिका होना दूसरे वादीका निग्रह हो जाना माना गया है। अपने पक्षकी सिद्धि होनेतक शास्त्रार्थ रुका रहता है। पश्चात् शास्त्रार्थका भंग कर दिया जाता है। यहां स्वपक्षका विचार कर उसकी सिद्धिका विवेचन किया है। वादीके पक्षकी भले प्रकार सिद्धि हो जाना ही प्रतिवादीका निग्रह है। अथवा प्रतिवादीके पक्षकी निर्दोषसिद्धि हो जाना ही वादीका निग्रह है। बौद्धोंके माने हुये असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन तो वादी प्रतिवादियोंके निग्रहस्थान नहीं हैं। उक्त रूपसे निग्रहस्थान उठानेपर गमारूपन आ जाता है। यहां बौद्धोंके आग्रहको विद्वत्तापूर्वक धर दबाया गया है। कई ढंगोंसे किये गये असाधनाङ्गवचनके व्याख्यानोंका प्रत्याख्यान कर दिया है। अदोषोद्भावनकी भी यही दशा हुई है। श्री विद्यानन्दी स्वामीका यह पाण्डित्य प्रशंसनीय है। बौद्धोंके इष्ट निग्रहस्थानोंके समान नैयायिकोंके निग्रहस्थानोंकी भी दुर्गति की गयी है। प्रतिज्ञाहानि आदिक निग्रहस्थान उठाना भी सभ्य पुरुषोंमें होनेवाला समीचीन व्यवहार नहीं है। वह अपाण्डित्य या ग्रामीणपनका प्रदर्शन मात्र है। साहित्यवाले कवि तो सभी वचनोंमें " वक्रोक्तिः काव्यजीवितं " अभीष्ट करते हैं। किन्तु शान्तिके अभिलाषुक दार्शनिक पुरुष दूसरेकी निन्दा, तिरस्कार, निग्रहव्यवस्था करनेमें साक्षात् अनिष्ट वचनोंके कथनके लिये संकोच करते हैं। रहस्य यह है कि अन्तमें सभी विचारशीलोंको आभिमानिक वादका परित्याग कर वीतरागोंमें होनेवाले सम्वाद द्वारा तत्त्वनिर्णयकी शरण पकडना आवश्यक पड जाता है। एक धर्मशाला या रेलगाडीमें आश्रय लेनेवाले यात्रियोंको परिशेषमें प्रेम सद्भाव अथवा शाश्वतशान्तिकी प्राप्ति करना अपरिहार्य है, तो प्रथमसे ही तदनुकूल व्यवहार अक्षुण्ण बना रहे यही सर्वोत्तम मार्ग है। हां, निर्दोष स्वपक्षका ग्रहण नहीं करनेवाले आग्रही पुरुषकी

कुत्सित मार्गसे परावृत्ति करानेके लिये मीठे तिरस्कारोंका अवलम्ब लेना आवश्यक पड जाता है। हम तो उसको भी एक जघन्य पदका ग्रहण करना समझते हैं। अतः नैयायिकोंका यदि तत्त्व निर्णयकी संरक्षणा करना लक्ष्य है, तो परस्पर एक दूसरेको प्रतिज्ञाहानि आदि द्वारा निग्रहस्थान प्राप्त करा देनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। इसके पश्चात् श्री विद्यानन्द स्वामीने नैयायिकों द्वारा माने गये प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थानोंका विचार किया है। निग्रहस्थानका सामान्य लक्षण विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति ही करना ठीक नहीं दीखता है। इसमें अतिव्याप्ति दोष है तथा प्रतिज्ञाहानि आदिकके विशेष लक्षण भी परीक्षा करनेपर सुघटित नहीं बैठते हैं। प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध और प्रतिज्ञासंन्यास इनमें अत्यल्प अन्तर होनेसे मूलभेद करके भिन्न भिन्न कथन करना उचित नहीं है। प्रतिज्ञाहानि या प्रतिज्ञान्तर करनेके जो कारण नियत किये हैं, उनसे न्यारे अन्य कारणोंसे भी प्रतिज्ञाहानि आदि होना सम्भव जाता है। इनके अनुचितपनका ग्रन्थकारने स्वयं निर्देश किया है। जिस प्रकार हेत्वन्तर न्यारा निग्रहस्थान माना है, उसी प्रकार दृष्टान्तान्तर उपनयान्तर भी न्यारे निग्रहस्थान मान लेने चाहिये। स्वपक्षसिद्धि कर देनेपर अर्थान्तरका कथन करना वादीका निग्रहक नहीं हो सकता है। अपने कार्यको पूरा कर भले ही कोई नाचे तो भी वह दोषास्पद नहीं है। वर्णक्रम निर्देशके समान निरर्थकको यदि निग्रहस्थान माना जाय तो वादके अनुपयोगी हो रहीं खखारना, हाथ फट करना आदि क्रियायें भी निग्रहहेतु बन बैठेंगी। अविज्ञातार्थ भी विचारनेपर निग्रह हेतु नहीं है। निरर्थकसे इसका भेद करना अनुचित है। पूर्वापरका सम्बन्ध नहीं होनेसे अपार्थकका स्वीकार किया जाना भी निरर्थकसे पृथक् नहीं होना चाहिये। वहां वर्ण निरर्थक हैं। यहां पद निरर्थक है। अन्यथा वाक्य निरर्थकको न्यारा निग्रहस्थान मानना पडेगा, जैसे कि छोटी लडकियां यों कह कर हाथोंपर क्रमवार अङ्गुली रखती हुई खेला करती हैं कि "अटकन बटकन दही चटाके,वर फूले बैरागिन सागिन,तुरईको फूक मकोईको डंका,जाडंका मैं सूआ सुपारी, ठठोराय तुम देव नगारी उण्डी धुंडी टूट पडी मुरगण्डी" इत्यादिक अनेक वाक्य पूर्वापर सम्बन्धरहित हैं। अप्राप्तकाल तो कथमपि निग्रहस्थान नहीं हो सकता है। जो प्रकाण्ड विद्वत्ताका समर्थक है, वह उसका विघातक नहीं है। संस्कृत शद्वसे पुण्य और असंस्कृत शद्वके उच्चारणसे पाप होता है ऐसा नियम मानना अनुचित है। यदि आत्मामें विशुद्धि है तो सभी शुद्ध अशुद्ध शद्व बोलना पुण्यहेतु है। आत्मामें संक्लेशका कारण उपस्थित होनेपर पापास्रव होता है। हीन और अधिक ये दो निग्रहस्थान भी ठीक नहीं हैं। प्रतिपाद्यके अनुसार अनुमान वाक्यका प्रयोग किया जाता है। कहीं केवल हेतुका प्रयोग कर देनेसे ही साध्यसिद्धि हो जाती है। और कहीं प्रतिपत्ति दृढ करनेके लिये दो हेतु दो दृष्टान्त भी कह दिये जाते हैं। प्रमाणसंप्लव माननेवालेके यहां कोई दोष नहीं आता है। पुनरुक्तोंमें अर्थपुनरुक्त ही मानना ठीक है, जो कि निरर्थकमें ही गतार्थ हो सकता है। सच पूछो तो यह पुनरुक्त भी कोई भारी दोष नहीं है। उद्देश, लक्षण, और परीक्षाओंके अवसरोंपर एक

प्रमेयको कई बार कहा जाता है । देखिये, श्री उमास्वामी महाराजने जो सूत्रोंमें गंभीर अर्थ कहा है, उसीको श्री विद्यानन्द आचार्यने वार्तिकोंमें बखाना है । पुनः वार्तिकोंका भी अनेक स्थलोंपर विवरण करना पड़ा है । देशभाषा करनेवालेको भाषानुवादमें अर्थ, भावार्थ दिखाते हुये पांच पांच छह छह बार एक ही प्रमेयका कई भंगियोंसे निरूपण हो गया दिखलाना पड़ा है । मन्दक्षयोपशम वालोंके लिये श्री वीर भगवानके उपदेशकी लम्बी आम्नाय रक्षित रहनेका अन्य क्या उपाय हो सकता है ? अननुभाषणकी भी यही दशा है । अज्ञान निग्रहस्थान तो अकेला ही मान लिया जाय तो कहीं अच्छा है । प्रतिज्ञाहानि आदिक भी तो अज्ञान ही हैं । इसी प्रकार पर्यनुयोज्योपेक्षण, अप्रतिभा, विक्षेप आदि निग्रहस्थानोंका ढंग भी अच्छा नहीं है । स्वपक्षकी सिद्धि करना ही दूसरेका निग्रह हो जाना है । यह अकलंक रीति ही प्रशस्त है । अन्यथा इन प्रतिज्ञाहानि आदिकसे कई गुने अधिक निग्रहस्थान माननेपर पूर्णता हो पाती है । और इनमेंसे पांच छहके स्वीकार कर लेनेसे ही नैयायिकोंका अभीष्ट प्रयोजन सध सकता है । देखो, बौद्धोंने एक वादीका दूसरा प्रतिवादीका यों इस ढंगसे असाधनाङ्ग वचन और अदोषोद्भावन, इन दो ही निग्रहस्थानोंसे निर्वाह कर लिया है, विचार करनेपर बौद्धोंके दो निग्रहस्थान भी ठीक नहीं बैठते हैं । श्री माणिक्यनन्दी आचार्यने जो व्यवस्था दी है, वह निरवद्य है । "प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च" । वादीने अपने पक्षकी सिद्धिके लिये स्वसिद्धान्त अनुसार प्रमाण वाक्य कहा, पुनः प्रतिवादीने उस प्रमाणवाक्यमें दोषयुक्तपना उठा दिया । पश्चात् वादीने उस दोषका परिहार कर दिया । ऐसी दशामें वादीका हेतु स्वपक्षसाधक होता हुआ जयका प्रयोजक है और प्रतिवादीका कथन दूषणरूप होता हुआ पराजयका नियामक है । तथा वादीने हेत्वाभासका प्रयोग किया है । प्रतिवादीने उसके ऊपर असिद्ध, विरुद्ध आदि हेत्वाभासोंको उठा दिया । यदि वादी उन दोषोंका परिहार नहीं करता है तो ऐसी दशामें वादीका उक्त हेतु हेत्वाभास होता हुआ पराजयका व्यवस्थापक है, और स्वपक्षसिद्धिको करते हुये प्रतिवादीका दूषण उठाना भूषण होता हुआ जयदायक है । इसी प्रकार छलको उठा देनेसे भी कोई जीत नहीं सकता है, जैसा कि नैयायिकोंने मान रक्खा है । प्रथम तो चतुरंगवादमें कोई पण्डित छलपूर्वक प्रयोग नहीं करता है । और कषायवश यदि कोई कपटव्यवहार भी करे तो अग्रिम विद्वान्को उस छलवाक्यको ज्ञात कर अपने पेटमें डाल लेना चाहिये । प्रायः उपस्थित हो रहे सभी विचारशालियोंको उसकी कपटनीतिका परिज्ञान हो जाता है । ऐसी बातको मुखसे उच्चारण करनेसे गम्भीर विद्वत्तामें बट्टा लग जाता है । तत्त्वज्ञानके विशेष अंशोंमें विचार करनेवाले विद्वानोंको अपने सम्यक्त्वके अंग उपगूहन और वात्सल्य भावोंकी रक्षा करना अत्यावश्यक है । लौकिकसभ्यता और शास्त्रीय सभ्यता दोनों ही के गालिका प्रदानसदृश छल उद्भावन का व्यवहार अनुकूल नहीं है । अतः " प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ " इस सिद्धान्तके अनुसार

जय पराजय व्यवस्था माननी चाहिये। नैयायिकोंने अर्थके विकल्पोंकी उपपत्ति करके वचनका विघात करना छल कहा है। न्यायभाष्यकारने छलके सामान्य लक्षणका उदाहरण दिखलानेके लिये अशक्यता प्रकट की है। किसी मद्र वैश्यने ज्योतिषीसे पूंछा कि मेरे घरमें लडका होगा या लडकी जन्मेगी ? धूर्त ज्योतिषीने उत्तर लिख दिया कि "कन्या न पुत्रः"। उसने मनमें विचार लिया कि यदि इसके कन्या उत्पन्न होगी तब तो नकारको पुत्र शद्वके साथ जोड दूंगा और यदि पुत्र हुआ तो न अव्ययको कन्याके साथ जोडकर कह दूंगा कि पुत्र उत्पन्न होगा, कन्या नहीं। किन्तु यह छल व्यवहार करना अनुचित है। नैयायिकोंने छलके वाक् छल, सामान्यछल, उपचारछल ये तीन भेद स्वीकार किये हैं। इनपर अच्छा विवेचन किया गया है। बात यह है कि न्यायपूर्वक कहनेवालोंको तत्त्वपरीक्षाके अवसरपर छलका प्रयोग नहीं करना चाहिये। अन्यथा पत्रवाक्योंके प्रयोगमें या शून्यवादीके प्रति प्रमाण आदिकी सिद्धि करानेमें भी नैयायिकोंका छल समझा जाकर पराजय हो जायगा। वस्तुतः स्वपक्षसिद्धिकरके ही स्वजय और परनिग्रह मानना चाहिये। तुच्छ व्यवहार करना उचित नहीं है। आगे चलकर चौबीस जातियोंका विचार चलाया है। गौतम न्यायसूत्र और न्यायभाष्य अनुसार साधर्म्यसमा आदि जातियोंका दूषणाभासपना भी नैयायिकोंने साधा है, जो कि यहां प्रेक्षणीय है। विचारनेपर जातिके सामान्य लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष आता है। हेत्वाभासमें भी जातिका लक्षण चला जाना इष्ट करनेपर तो नैयायिकोंको मारी मुहकी खानी पडी है। न्यायभाष्यकार और न्यायवृत्तिकारके विमर्श अनुसार पूर्वपक्ष करनेपर प्रमेयकमलमार्तण्डमें नैयायिकोंका अनैयायिकपन प्रकट कर दिया है। जातिके लक्षणमें अव्याप्ति दोष भी आता है। जैसे कि पढा हुआपन ब्राह्मणका लक्षण कर देनेसे अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोनों आती हैं। बहुतसे ग्रामीण कृषकब्राह्मण कुछ भी पढे हुये नहीं हैं। अन्य क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र भी बहुत पढे हुये मिलते हैं। अथवा धौलेरंगवाली, यों गायका लक्षण कर देनेसे दोनों दोष आ जाते हैं। दो दोष तो एकत्र संभव जाते हैं। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव इन तीनों दोषोंका एकत्र संभवना अलीक है। अतः तत्त्व-निर्णय करनेके लिये किये गये वादमें प्रतिज्ञाहानि आदि या छल अथवा असाधनाङ्ग वचन अदोषो-द्भावन इनसे जैसे निग्रह नहीं हो पाता है, उसी प्रकार मिथ्या उत्तर स्वरूप सैकडों जातियोंसे भी निग्रह नहीं होता है। स्वपक्षकी सिद्धि और उसकी असिद्धि करके ही जय, पराजय, व्यवस्था नियत है। छल, जाति, निग्रहस्थानों करके जिन जल्प, वितण्डा, नामक शास्त्रोंमें साधन और उलाहने दिये जाते हैं। उनसे तत्त्वनिर्णयकी रक्षा नहीं हो पाती है। इसके अनन्तर श्री विद्यानन्दस्वामीने संक्षेपसे प्रातिभ वादका निरूपण कर तत्त्वार्थाधिगम भेदके प्रकरणका पूर्वोक्त नयवाक्योंके साथ सन्दर्भ दिया है। यद्यपि मूल सूत्रकारने स्वयं " प्रमाणनयैरधिगमः " " निर्देशस्वामित्व, सत्संख्या " इन सूत्रोंसे तत्त्वार्थोंका अधिगम होना कह दिया है। किन्तु आग्रहपूर्वक एकान्तोंको बखान रहे नैयायिक

आदि वादियोंके साथ शास्त्रार्थ कर भिन्न भिन्न रूपसे उनको स्याद्वादियोंद्वारा तत्त्वार्थोंका अधिगम करानेके लिये उपयोगी हो रहा यह तत्त्वार्थाधिगम नामका प्रकरण श्री विद्यानन्द स्वामीने रचा है। प्रथम अध्यायमें किये गये श्री उमास्वामी महाराजके तत्त्वनिरूपणका प्रदर्शन कर स्वपरप्रबोधार्थ उसके विमर्षणकी सम्मति देते हुये श्री विद्यानन्द आचार्यने प्रथम अध्यायके विवरणकी समाप्ति कर पंचम आन्हिकको परिपूर्ण किया है।

वीरोमास्वाम्युपज्ञाध्वगमुनिपसमन्तादिभद्राकलंक-।
विद्यानन्दोक्तिभिर्द्राक् छलवितथवचो निग्रहस्थान् परीक्ष्य।
तत्त्वार्थज्ञप्तिभेदे जितविजितदशामाकलय्याप्तशास्त्र-।
श्चन्द्रार्कावध्यभिज्ञोऽनुभवतु शिवदां न्यायसाम्राज्यलक्ष्मीम्॥

—x—

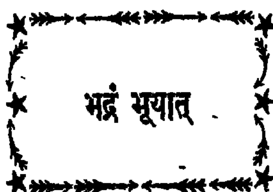
इति श्रीविद्यानंदि-आचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारे
प्रथमोऽध्यायः समाप्तः॥ १॥

इस प्रकार सम्पूर्ण दर्शनशास्त्रोंकी ज्ञप्तिको धारनेवाले श्रीविद्यानन्द आचार्य द्वारा विशेषरूपसे रचे गये "तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-अलंकार" टीका ग्रन्थमें प्रथम अध्यायका विवरण समाप्त किया गया।

—x—

नम्रामरेन्द्रमुकुटप्रभाः सम्रुद्योतयज्जिनश्चन्द्रः।
निर्दोषो विकलङ्कोऽज्ञानतमोभित् प्रबोधयेत्कुमुदं॥

इस प्रकार सर्वदर्शनज्ञचूडामणि श्री विद्यानन्द स्वामीविरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार बृहद् ग्रन्थकी चावली (आगरा) निवासी माणिकचन्द्र [न्यायाचार्य] कृत हिंदी भाषामय "तत्त्वार्थचिन्तामणि" टीकामें प्रथम-अध्याय पूर्ण हुआ।



न्यायशास्त्राणां महत्त्वं

शास्यन्ते शिष्या येन तच्छास्त्रमिति निरुक्त्या सिद्धान्तव्याकरणसाहित्यज्योतिषगणितप्रभृति-प्रकरणेषु सदृशपरिणामात्मकसामान्यतया शास्त्रत्वे प्रसिद्धेऽपि स्वमतव्यवस्थापनपरपक्षनिराकरणातिशय-प्रधानानां न्यायशास्त्राणां विशेषरूपेण दीप्यमानं प्रतिभासते शासनपटुत्वं विलक्षणविचक्षणमथितयत्र न केषांचित् प्रवादिनां विप्रतिपत्तिः।

चरमफलनिःश्रेयसप्रापकाध्यात्मतात्त्विकीं प्ररूपणामभिदधानानां राद्धान्तशास्त्राणां मोक्षोपयोगि-त्वेऽपि पारमार्थिकनिश्चयनयविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्नरत्नभण्डारपरिरक्षकदुर्गायमाण—तर्कग्रन्थाध्यवसायमन्तरान्वीक्षिकी व्यवस्था नास्थीयते विचारचतुरचेतसां प्रामाणिकानां पुरस्तात्। सार्वदिकः सार्वत्रिकश्चायमन्वयव्यतिरेकी नियमश्चकास्ति यदितरानर्गलप्रमन्तव्यप्रत्याख्यानपुरस्सरत्वेन स्वकीयेष्टसिद्धान्तपुष्टिमातन्वता पण्डिता एव विषयेऽस्मिन् शिरोमणीयन्ते वाग्मिनां संसदि। वस्तु-मिथिमवलम्ब्य पदार्थान्तरस्तत्प्रवेशे व्याचिख्यासवः—श्रीनिष्ठाधेयतानिरूपिताधारतावन्तोऽकलंक—देवा अपि स्वपरादानापोहनव्यवस्थापाद्यं हि खलु वस्तुनो वस्तुत्वमिति त्रिलोकत्रिकालाबाधितरहस्यमूचिरे धीमद्धृतिकरम्।

जगत्त्रितयोद्धारकार्हत्स्तुतिपरायणो जिष्णुरपि अष्टाधिकसहस्रनामसु "न्यायशास्त्रकृदि"-त्यभिधया साष्टसहस्रशुभलक्षणव्यञ्जनभूषितं कलशसाष्टसहस्राभिषिक्तं श्रीजिनेन्द्रमभिष्टौति स्म। दार्श-निकेष्वतीव वावदूकतया प्रसिद्धिं लभमानाः गौतमीया नव्यन्यायनिर्वृत्तिनिपुणा जगदीशमथुरानाथ-गदाधरप्रभृतयः प्राज्ञा अवच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगितानुयोगिताधारतादि निःसाराल्पसारकटुकाठिन्य-सम्पादकाभिधायकैः प्रमेयाल्पीयस्त्वं प्रलपन्तो नैव शान्तिसुखविधायिनीं शाश्वतसिद्धपदवीं प्रापयितुमल-माकर्ण्यताम् तावदेकं वृत्तमुपहासास्पदं तदनुयायिषु पण्डितगदाधरप्रशंसाया किंवदन्ती श्रूयते।

कस्त्वं ब्राह्मणवंशजः कुत इह श्री गौडभूमण्डलात्।
जाने यत्र गदाधरो निवसति ब्रूते स मां कीदृशम्॥
इत्येतद्वचनं बृहस्पतिमुखाच्छ्रीवर्कवादीश्वरो।
लज्जा नम्र उदन्वति प्रपतितो नाद्यापि विश्राम्यति॥

यत् सुरगुरुरपि गदाधरविदुषो भृशं बिभेतीति चित्रम्। सरस्वतीवरप्रसादतुष्टादपि वादेशो जिह्रेति इति कोऽन्यो ब्रूयात् अन्यत्र काव्यकलोल्लुण्ठितोक्तिभ्यो रागद्वेषसंकलितदेवतोपासिभ्यो मदाधीन-भगवद्वादिभ्यश्च वाचोयुक्तिपटुभ्यः।

एतेनालंकारध्वनिलक्षणाव्यञ्जनावक्रोक्तिसंचारिव्यभिचारिभावाद्यन्तःशून्यपरिग्रहग्रहलाभिलाष-गुम्फितसाहित्यग्रन्थानामपि न तादृक् मुमुक्षुविद्वन्मनस्सु हृदयोल्लासस्यादर इति चिन्तितम् बोद्धव्यम् । शब्दार्थान्यतरनिष्ठचमत्कृतिजनकतावच्छेदकत्वोपपत्तिमधिरूढैर्नायिकाभेदपरिगणनपटीयोभिः कविभिर्न पार्यते वस्तूदरान्तर्निहितानन्तानन्तस्वभावविभावनम् ।

कवि कालिदासभक्तेन तत्संस्तवनपरेण केनचित् कविनाऽभाणि यत् —

काव्येषु नाटकं प्रोक्तं नाटकेषु शकुन्तला ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥

वस्तुतस्त्वनयैव रीत्यैवं वक्तुं शक्नुयाम् — ।

विश्वशास्त्रेषु सम्यञ्चि न्यायशास्त्राणि भान्ति नः ।
तत्र स्याद्वादलक्ष्माणि तत्रापि श्लोकवार्तिकम् ॥

ननु न चान्तरा केवलमध्यात्मसिद्धान्तप्रमेयधृतिकुशलानां, सुदृढतत्त्वप्रतिपादकानां जैनन्याय शास्त्राणां हिताहितप्राप्तिपरिहारव्यवस्थानुष्ठाने श्लाघ्यमानत्वं प्रतीतिभूधरशिखरारूढतामियृयात् । यत्र समन्तभद्रपूज्यपादजिनसेनवादिराजप्रभृतिमहर्षीणां शब्दन्यायसाहित्याद्यनेकविषयकशास्त्रपारगामित्वं दरीदृश्यते । तत्रापि पारमार्थिकपदार्थप्ररूपणं न्यायविद्यस्यैवोच्चैरोरुच्यते खद्योततारकप्रभाभिभावकभास्करप्रकाशवत् । अतो बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्नतर्कशास्त्राणामेव निरपवादं प्रमितिजनकतावच्छेदकावच्छिन्नत्वमुररीकर्तव्यं निरारेकं परममहत्त्वप्रयोजकम् ।

अमीषामध्यापकाध्येतृव्यापारापन्नप्रमेयकाठिन्यगाम्भीर्यौदार्याण्यतिशेरतेऽखिलशास्त्रविन्यासमिति सर्वतान्त्रिकतन्त्रस्वतन्त्राणां । स्थूलमतिकुतीर्थ्यहृदयमस्तकोन्माथिनीं,सूक्ष्मार्थगवेषकाममंदमतिविद्वदाल्हादवर्द्धिनीं, परमोपादेयमोक्षशास्त्रप्ररूपणां व्याख्यातुमनसः श्रीवर्द्धमानमनुस्वामिसमन्तभद्रं न्याय्यपरमगुरुत्वेन मन्यमानाः परमपूज्यविद्यानन्द्याचार्याः प्रमाणनययुक्तिनिदर्शनपूर्वकमुमास्वाम्युपज्ञतत्त्वार्थशास्त्रालंकारभूतश्लोकवार्तिकमहाग्रन्थं प्रतिवादिभयंकरं नानाप्रमेयरत्नपरिपूर्णमहोदधिमिव व्यधुः ।

श्रीजिनेन्द्र, जिनवाणी, सद्गुरु, सपर्यानुरक्तचेतसाल्पमेधसा मया आगरामण्डलान्तर्गत चावलीग्रामनिवासि माणिक्यचन्द्रेण श्लोकवार्तिकीय हिंदीभाषाभाष्यं विन्यस्यता तदादिमध्यवसानेषु सुखशान्तिसम्पादकानि विघ्नध्वंसविधानदक्षाणि मंगलाचरणरूपेणोपन्यस्तानि कतिपयपद्यानि निबद्धानि संति ।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारांतर्गतश्लोकसूची

—चतुर्थ खंड—

समाप्तोऽयं-खंडः